श्रीविष्वक्सेनग्रन्थमालायाः अष्टाविंशतितमं प्रसूनम्

श्रीः

छान्दोग्योपनिषद्

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्तप्रवर्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु
भगवदनन्तपादीय-
श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यस्वामिप्रणीतया

"गूढार्थदीपिका"

समारुपया भाषाव्याख्यया समन्विता ।

●

श्रीपादसेवकश्रीसुदर्शनाचार्यब्रह्मचारिणः
रोहतासमण्डलान्तर्गत डेहरीश्रीविजयराघवमन्दिराध्यक्षस्य सत्प्रेरणया
भोजपुरमण्डलान्तर्गतसलेमपुरश्रीमहालक्ष्मीनारायण-
यज्ञसमित्या प्रकाशिता ।

सम्पादक :-
डा० सुदामा सिंह, एम० ए०, पी० एच० डी०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रम एवं समाज कल्याण विभाग
म० वि० वि०, बोधगया ।

द्वितीयावृत्ति] गुरु-पूर्णिमा सं० —२०५३ [मूल्य – ६०) रु०

श्रीत्रिदण्डिदेवग्रन्थमालायाः अष्टाविंशतितमं प्रसूनम्

श्रीः

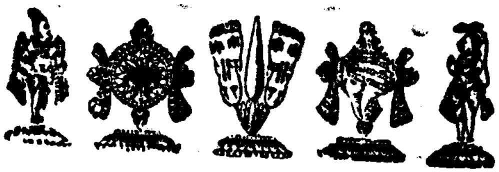

छान्दोग्योपनिषद्

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्तप्रवर्तकाचार्य

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु-

भगवदनन्तपादीय-

श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यस्वामिप्रणीतया

"गूढार्थदीपिका"

समाख्यया भाषाव्याख्यया समन्विता ।

श्रीपादसेवकश्रीसुदर्शनाचार्यब्रह्मचारिणः

रोहतासमण्डलान्तर्गत डेहरीश्रीविजयराघवमन्दिराध्यक्षस्य सत्प्रेरणया

भोजपुरमण्डलान्तर्गतसलेमपुरश्रीमहालक्ष्मीनारायण

यज्ञसमित्या प्रकाशिता ।

सम्पादक :-

डा० सुदाम्ना सिंह, एम० ए० पी० एच० डी०

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रम एवं समाज कल्याण बिभाग

म० वि० वि०, बोधगया ।

द्वितीयावृति] गुरु पूर्णिमा सं०-२०५३ [मूल्य—६०) रु०

॥ श्रियै नमः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः। श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः।

* विषय-सूची *

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अभिनन्दन पत्र	क-ऐ	दस विश्वेदेव देवताओं का नाम	२५५
१०१ उपनिषदों के नाम	२२	पुराण का लक्षण	२६३
असुर योनि	३१	अठारह उपपुराण	२६६
शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं का नाम	६०	उनचास मरुत् का नाम	२७६
छन्द का लक्षण	६३	बारह साध्य देवताओं का नाम	२८४
कप्यास श्रुति का अर्थ	८६	युग मान	२६७
दस प्रकार के ब्राह्मणों का लक्षण	१०६	शिष्य लक्षण	२६२
चक्राङ्कन श्रौत मत है	१२०	हृदय लक्षण	२६६
द्वादशादित्य का नाम	१३६	आहार भेद	३३७
धर्म का लक्षण	१५६	तप लक्षण और भेद	३३७
ग्राम्य और आरण्य पशु	१६७	दान का स्वरुप और भेद	३३८
मृतक श्राद्ध	१८०	आर्जव, अहिंसा, सत्यलक्षण	३४०
प्रपन्न लक्षण और उनके भेद	२१८	देवकी, श्रीकृष्ण परिचय	३४२
स्वरहीन वेद पाठ-निषेध	२१६	श्रद्धा-लक्षण और भेद	३५४
आचार्य लक्षण	२२७	हंस संन्यासी लक्षण	३५६
उर्ध्व पुण्ड्र प्रमाण	२३५	क्षत्रा जाति लक्षण	३५६
प्रणवार्थ	२४१	गौ लक्षण	३६४
आठ वसु और ग्यारह रुद्रों का नाम	२४४	भागवत लक्षण	३७५
		समिधा	३८५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
बिना ज्वाला की अग्नि		तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ	६५३
आहुति निषेध	४७१	इतिहास पुराण की	
जप लक्षण और भेद	४७७	प्राचीनता	६६६
समिति शब्द का अर्थ	४८३	पञ्चरात्र तन्त्र किसे	
गर्भ धारणादि समय		कहते हैं	७०३
और प्रकार	५०३	१०८ संहिताओं का नाम	७०७
इष्ट तथा पूर्त लक्षण	५१०	ध्यान विधि	७३६
ब्राह्मणादि कर्म विवेचन	५१८	सुख भेद	७७८
श्रोत्रिय लक्षण	५२६	विज्ञान और ध्यान लक्षण	७६१
यज्ञिय वृक्ष लक्षण	५३४	भक्ष्याभक्ष्य विचार	७६६
शरीर के देवता	५६५	दस प्रधान नाड़ियाँ	८३८
उच्छिष्ट लक्षण	५७४	बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख	
ब्रह्मचर्य लक्षण	५७७	दस हजार दस सौ एक	
वेद लक्षण	५७८	नाड़िया हैं	८४७
पिता गुरु हो सकते हैं	५८०	आचार्य का उच्छिष्ट	
अण्डजादि लक्षण	६०६	ग्रहण करना चाहिए	९०३
भोजन विधि	६१८	उपनिषद् शब्द की बिशद	
जल पीने की विधि	६२१	व्याख्या	९०५
सोलह कलाओं का नाम	६२८		

। श्रियै नमः ।

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।

॥ नम्र-निवेदन ॥

रामानुजमुनेरूर्ध्वं भद्रं भ्रामयते ध्वजम्
मंगलं योगिवर्य्याय श्रीयुतानन्तसूरये ।
मंगलं रामकृष्णार्यकृपाप्तगुणराशये ।
श्रीशाङ्ग्‍र्यब्जमधुज्ञाय विष्वक्सेनार्ययोगिने ।

अनन्तश्रीसमलङ्कृत भगवदनन्तचरणाम्बुजराजहंस पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज द्वारा की गयी 'छान्दोग्योपनिषद्' की 'गूढार्थ-दीपिका' के द्वितीय संस्करण रूपी महार्घ रत्न को भागवत समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। हजारों वर्ष पूर्व महाभागवतों के लिए भगवान् गोपाल ने उपनिषद्रूपी गायों को दूहा था—"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः"। आज पुनः आर्य-संतति के बीच उपनिषद्रूपी कामधेनुओं को दूहकर परमकारुणिक श्रीस्वामीजी महाराज ज्ञानामृत का वितरण कर रहे हैं। उपनिषद् ग्रन्थों में सँजोयी ब्रह्मविद्या ही जीव की परमहितैषिणी है।

यथा,

यद्वा सामीप्यमायातां सर्वभावेन वैनृणाम् ।
शिथिलयति दुःखानां समूहं प्रथमं यतः ॥
अविद्याहेतुकान् क्लेशान् निषादयति तत्क्षणात् ।
ततो गमयति ब्रह्म तेन सोपनिषन्मता ॥

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है, इनमें अतिप्राचीन दस हैं—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य तैत्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं वृहदारण्यकं दश ॥

इनपर अनन्तानन्तश्रीसमलङ्कृत भगवद्रामानुजाचार्य के महत्त्वपूर्ण भाष्य हैं; तथैव प्रातः स्मरणीय अस्मदाचार्य श्रीस्वामीजी महाराज ने 'ईशादिपञ्चोपनिषदः—गूढार्थदीपिका' में ईश, केन, कठ, प्रश्न एवं मुण्डकोपनिषद् की मञ्जुल भाषा-व्याख्या (३८४ पृष्ठों में), माण्डूक्याद्युपनिषत्त्रयी की गूढार्थदीपिका' में माण्डूक्य, तैत्तिरीय एवं ऐतरेयोपनिषद् की विशद व्याख्या (४४० पृष्ठों में) बृहदारण्यकोपनिषद् की गूढार्थदीपिका में इस महनीय उपनिषद की गहन भाव-प्रवण व्याख्या (१०२३ पृष्ठों में) तथा छन्दोग्योपनिषद् की 'गूढार्थदीपिका' में छान्दोग्योपनिषद् के अमूल्य मंत्रों की सुगम एवं मनोरम व्याख्या (६०८ पृष्ठों में) की है। हम आर्य जन आचार्य के इस महोपकार के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकते। यतिनायक की मानव-जाति के लिए यह वत्सलता ही तो मूलभूत कारण है कि 'ओमन-निवासी' यवन-सज्जन ने भी दर्शन की व्याकुलता निवेदित की है,—अभिनन्दन खण्ड में उनके अरबी में प्रेषित संवाद का भाव व्यक्त किया गया है। वस्तुतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में मुद्रित संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, अरबी एवं भोजपुरी में विरचित अभिनन्दन पत्रों की 'कुसुमाञ्जलि'— गम्भीर भाव सरोवर में प्रस्फुटित शतपत्र से भरी पुष्पाञ्जलि मानो त्रयतापहर श्रीचरणों के संस्पर्श की उत्कट उत्कंठा के साथ 'गूढार्थदीपिका' को मूर्त्तिमती ब्रह्मविद्या के द्वार पर सुगन्धि बिखेर रही है। जिस 'ब्रह्म-विद्या' की शुचितमा गंगा-लहरी महातपोधन मानववपुधारी वैकुण्ठसेनानायक के अनुपमेय कण्ठ-रव के माध्यम से 'गूढार्थदीपिका' में कलोल कर रही हो, उसका छवि-चित्र यह विषयान्धजन कैसे खींच सकता है। असमर्थता के साथ श्रीचरणों की ओर निहारने के सिवा और कौन रास्ता है ?

इस महनीय और बृहदाकार ग्रन्थ के प्रकाशन का भार बड़ी श्रद्धा के साथ श्रीमहालक्ष्मीनारायण-यज्ञ-समिति, वर्जा सलेमपुर, जि०-भोजपुर ने वहन किया है। अतः सलेमपुर एवं उसके पार्श्ववर्ती भागवतजनों के प्रति कोटिशः आभार व्यक्त करता हूँ। श्रीपादसेवक श्रीसुदर्शनाचार्य

ब्रह्मचारी स्वामीजी, अध्यक्ष श्रीविजयराघवमन्दिर, डेहरी की सत्प्रेरणा ने कारयित्री शक्ति का काम किया है, इसके लिए उनके श्रीचरणों में सदा अवनत हूँ। मेरे अज्ञान एवं असामर्थ्य के परिणाम स्वरूप जो त्रुटियाँ हैं, उनके लिए विज्ञजनों से सतत् क्षमा-प्रार्थी हूँ। मगध शुभंकर प्रेस एवं आकांक्षा प्रिन्टर्स दोनों के सहयोग से मुद्रण का कार्य सम्पन्न हुआ है; अतः दोनों प्रेसों के संचालकों को शत-शत धन्यवाद !

अन्ततः श्रीवैष्णवकुलकुमुदकलाधर श्रीमद्भगवदनन्तदेव की दिव्य सुमधुर नख-चन्द्रिका से आलोकित श्रीकाँचीपुरी की पावन वीथियों के मंगलमय रजकण को मस्तकाग्र पर धारण करते हुए यही याचना करता हूँ कि मुझ जैसे पतितों के आधार आचार्य-प्रभु का शत-शत मंगल हो और यह आश्रित जन अबोधशिशु-सा श्रीस्वामीजी महाराज के शुचितम पद-न्यास से पावित धूलि में सदा लोटता रहे।

श्रीचरणाश्रित :—

सुदामा सिंह

श्रीपादसेवक

श्री सुदर्शनाचार्य ब्रह्मचारी जी

अध्यक्ष—श्रीविजयराघव मन्दिर, डेहरी-ऑन-सोन

॥ श्रीमतेरामानुजाय नमः ॥

श्रियै नमः श्रीधराय नमः

अथ अभिनन्दनपत्राणि

ॐ

श्रीमद्वेमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्त - राद्धान्त - निर्धारण-सार्वभौम - श्रीमच्छठरिपु - परकाल - नाथ - यामुन - यतिवर वरवर-मुनीन्द्रादिप्रणीतसुदिव्य - निबन्धन - निबद्ध - मानस - जनन - मरण - संसरण - महापथबम्भ्रम्यमाण - जनिमत्कदम्ब - विमुक्ति - घन्टापथोप-देशदेशिक - शम - दम-दया - दाक्षिण्यसौशील्यवात्सल्यादिगुणगणविभू-षितानन्तश्रीसमलंकृतश्रीमज्जगद्गुरु - भगवदनन्तपादीयानामीशादि-दशोपनिषद्व्याख्यातृवर्य्याणांयोगचरमसोपानरूपसमाधिसमधिष्ठित - ब्रह्मसाक्षात्कृत वर्य्याणामष्टोतरसहस्रश्रीसमलंकृतानांश्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य-श्रीत्रिदण्डीस्वामिनां करकमलयोः भोजपुरमण्डलान्तर्गतसलेमपुरग्रामे श्रीमहालक्ष्मीनारायण यज्ञावसरे सादरसमर्पितानि अभिनन्दनपत्राणि ।

॥ १ ॥

राज्ये विहारसरसे नगरेप्रसिद्धे, वर्जासलेमपुरकर्ज सुमेध्यतीर्थे
धर्मावतीसहितगङ्गसुनीरतीरे, संशोभते ममगुरुर्यति योगिराजः ॥१॥
कुञ्जान्तपार्श्वसहकारविलासभूमौ, योमंचकार सततं विधिना सदा च ।
शैवाल गांगजलजं तव पादमूले वर्षतुं भावपरिपूरितशैवजातम् ॥२॥
स्वे देशे खुदबक्सदासयवनो श्रुत्वाखिलां कीर्तिजाम्
श्रीसेनेशयतेस्तवाङ्घ्रि सविधे चर्चाङ्कसौख्येन्दुलाम् ।
भास्वत्सद्गतिलोकजामपि मुदा वेदान्तसांख्यादिजाम् ।
श्रीमच्चित्रवरां प्रियां बुधवरैः संराध्यनीतामिह ॥३॥

संप्रेष्यापि खुदाननामकलिता प्रीत्या प्रियां पत्रिका-
मार्यावर्त विहारराज्यनिकटे दत्वा स्वकीयां निधिम् ।
लब्ध्वा दर्शनजं सुखं तव गुरो नत्वा पदं ते शुभम् ।
देशेऽस्मिन् खुदबक्सनामलसितो धन्यं गतो मानवः ॥४॥
मुल्लामौलिजनैः सुसेव्यचरणौ ध्यात्वा यतीन्द्रस्य च ।
पूतात्पूतनिजार्यवंश सकलो ज्ञानाय पादे पतन् ।
वैचित्र्यं खलु सौख्यदं वितनुते चित्रमिदं ख्यातिदम् ।
श्रुत्वा शान्तसुधासुविज्ञसुधयः काव्ये रताः देशजाः ॥५॥

श्रीमतां चरणाब्जरेणुरुषितः-
उपेन्द्राचार्यः (उमेश प्रसाद उपाध्यायः)
कर्मकाण्डरत्नः, साहित्याचार्यश्च
संस्कृताध्यापकः, उच्च विद्यालय बरिसवन,
भोजपुर ।

॥ २ ॥

श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धधर्मरूपिणंयतीश्वरं,
सुसिद्धयोगिविष्वगार्यमार्यवृतिराजितम् ।
सदाभिनन्देन नन्दयामि पूजयाम्यहम्,
भवेद् यतो मनोजलोभभीतिरप्यपासृता ॥१॥

सुपामरे जनेऽपि सत्कृपाकरं दयार्णवं,
प्रबुद्धशेमुषीजुषे रहस्यतत्त्ववर्षिणम् ।
दयाञ्चितं दृगञ्चलं वचश्च सिंहगर्जनम्,
तथाविधं निजं पितामहं यतिं नमाम्यहम् ॥२॥

पुरे सलेमनामके बिहारराज्यसंस्थिते
सुविप्रवर्गपूजितोऽकरोत्स्वकं व्रतंयतिः ।
गुणप्रकर्षवर्णनेऽक्षमोऽहमस्मि साम्प्रतम्
प्रणाममन्तरा न वेद्मि किञ्चिदप्युपासनम् ॥३॥

सदैव नित्यमुक्तभावभावितम्भवर्जितम्,
यशस्विनम्मनस्विनं तपस्विनम्प्ययोग्रतम् ।
नियामकं विधायकं शुचिस्मितं हृदि स्थितम्,
अवेद्यतत्त्ववेदिनं नमामियोगिनायकम् ।।४।।

जलस्थित ! स्थलस्थित ! नभस्थित ! प्रतिष्ठित !
पदद्वयप्रगम्ययाचनारतोऽस्मि साम्प्रतम् ।
अवन्तिकापदार्पणेन या कृपा कृता त्वया,
प्रयागराजकुम्भकालिकीं पुनश्च तां कुरु ।।५।।

श्रीमत्कपादपद्मपरागलोलुप :—

जगद्गुरुरामानुजाचार्य पदभाक् स्वामिवासुदेवाचार्यो,
विद्याभास्कर:, अयोध्याकोशलेशसदनस्थः ।

।। ३ ।।

जनानां सद्वर्गे निजपरिचयं गोपयति यः ।
सभायामात्मानं नरसुभगमूर्त्या प्रकटसन् ।
सदा ग्रामे ग्रामे विचरति भवान् योगनिपुणः ।
स्वकर्त्तव्यं सिद्धं ह्यनुभवति नित्यं गुरुवरः ।।१।।

परं याथार्थ्यन्ते हरिसुकृपयावेद्मि निखिलम् ।
भवान् शेष स्वामी स्वजनयन वर्षाणि सततम् ।
सुजीवानां मुक्तिं परिकलयितुं भारततले ।
हरेः सद्वैकुण्ठात् नरकचिरकल्पेऽवतरितः ।।२।।

विंशत्युत्तरशतंवर्षं भजित्वा क्षितिमण्डलम् ।
वैकुण्ठमगमन्नित्यं सोऽयं रामानुजोमुनिः ।।३।।
शीघ्रं पुनः समभवच्छ्री वरवरमुनिनायकः ।
षष्टि वर्षाण्ययञ्चापि सेवितोजगतीतलम् ।।४।।
संकल्पपूर्तिकामोऽयं श्रीसेमेशस्वरूपतः ।
वामनाश्रमभूमध्यां तेजसालङ्कृतोयतिः ।।५।।

शेषसंकल्प वर्षाणि पूरयित्वा ततोऽधिकम् ।
वर्षं स्थित्वास्वदासानामुपकारंकरोति वै ॥६॥

श्रीचरणाब्जभृङ्ग:

जगद्गुरुरामानुजाचार्य स्वामिराजनारायणाचार्य:

संस्थापकाध्यक्ष:

श्रीत्रिदण्डि देवलोकसेवासंस्थान

भक्ति-वाटिका, लच्छी राम पोखरा

कसया रोड, देवरिया, उ० प्र०

॥ ४ ॥

नमामि इन्दिरासुतं यतीन्द्रमौलि वन्दितम् ।
करे त्रिदण्डधारिणं त्रितापपापहारिणम् ॥१॥
नमाम्यनन्तसेवकं प्रपन्नतासुक्षिकम् ।
भवाम्बुधेः सुनाविकम्सदा त्रिदण्डिस्वामिनम् ॥२॥
प्रान्ते विहारजनपद-आरातिपुण्ये
ग्रामेसलेमपुरधर्मवतीसुनद्याः ।
सव्ये तटे चतुर्मासकृतञ्चयेन
तमहं नमामि शिरसा यतिसार्वभौमम् ॥३॥
सेनाधिपं यतिवरं करुणार्द्रचित्तं,
आर्त्तैकरक्षणपरमतिमानवं च ।
लोके प्रपन्न-जन-तारक-एकमात्रम्
तद्विष्वगार्यचरणौ शरणं मदीयम् ॥४॥

भवतो चरणाम्भोजपरागलिप्सु :–

स्वामिरामचन्द्राचार्य:

श्रीत्रिदण्डिदेवसेवाश्रम (रामकृष्ण मन्दिर) बेहटा-जंगल

जि०–शाहजहाँपुर (उ० प्र०)

॥ ५ ॥

तव पदं गुरोऽमितसुधासरः सुखसरोरुहं यत्र काशते
त्वयिकृतारति मोदमेदुरं दिशति जीवनं मंगलोज्ज्वलम् ॥१॥
मकरवाहन ! प्राणिमङ्गल ! स्मृतिपथप्रभ ! प्रीतिमञ्जुल !
भुजगजामृत ! क्ष्वेडनाशन ! प्रशमयाशमं नो जगद्विषम् ॥२॥
तव शमाश्रमे सान्द्रशाखिनां मुदिरकोटरे पक्षिणां तनौ
सुरगणो गुरो ! ते वचोऽमृतं श्रवणसुन्दरं गाहते भृशम् ॥३॥
भगवतीन्दिरा मङ्गलालया त्वयि सुतादरा त्वां प्रतीक्षते ।
वदति किं सुतः किञ्च वाञ्छति कथमिव द्रुतं प्रीयतामसौ ॥४॥
त्वयि नताञ्जनाँश्चापि सा हृदा सुतधिया मुदा वीक्षतेतमाम् ।
तव दयाश्रयो पद्मजाहृदं हरति जायते चाश्रयः सताम् ॥५॥
जलधिजारमापुत्रवत्सला भगिनिका सुधामिङ्गतेतमाम् ।
वस सुधेऽनिशं पुत्रकस्य मे भुवनपावने तत्कमण्डलौ ॥६॥
जलधिजासुतश्चीरचामरे वहति जीवनं गोपयोन्नते ।
वसति निर्जने जन्तुसङ्कुले तृणमयाश्रमे चिन्तनाजिरे ॥७॥
सुतविरागतां प्रेक्ष्य पद्मजा भवति चिन्तिता तत्प्रसादने ।
किमिव रोचतेपुत्रकाय मे झटिति वाञ्छितं योजयामितत् ॥८॥
सुतरुचिः: सदा वैष्णवोन्नतौ श्रुतिमताध्वनः सम्प्रसारणे ।
अतएवाब्धिजा सौख्यमङ्गलां दिशति सम्पदं त्वत्प्रियेजने ॥९॥
यमयमिन् ! यते ! बोधबन्धुरं मननमञ्जुलं सौख्यसिञ्जितम् ।
प्रतनुतं मनुं यो दिशेद्दिशां शमसुधोज्ज्वलां भुक्तिमुक्तदाम् ॥१०॥
तवकथामृतं विस्मयस्मितं यतिपतेर्पदं ते नुमो वयम् ।
तव तपोनुमस्ते मनुं नुमस्तव कुटीं नुमस्त्वां नुमोऽनिशम् ॥११॥

चरणरेणुरुषितः-

डॉ० कैलासपति त्रिपाठी, साहित्य-व्याकरण वेदान्ताचार्य,
एम० ए० पी० एच० डी०, आचार्य एवं अध्यक्ष-साहित्यविभाग
सङ्कायाध्यक्ष, साहित्य एवं संस्कृतिसङ्काय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय-वाराणसी

॥ ६ ॥

आराख्ये भुजपौर्वणजनपदे ग्रामोऽस्तिधन्यो महान् ।
पुण्योऽयं सुसलेमनामनगरो गंगातटे सुस्थितः ।
लक्ष्मीशाख्यमखोऽत्र वर्मसुखद. सञ्चाल्यते साम्प्रतम् ।
विष्वक्सेनयतीन्द्रवर्यगुरुणा लोकाय सौख्याय वै ।।१।।
चातुर्मास्यव्रतान्तमखसुषमामालोक्य श्रीस्वामिनाम् ।
ह्याश्चर्यान्वितमानसो गुरुवर मग्न भुवे पङ्किले ।
वाञ्छाम्येव अमृतान्तु सुखदां कारूण्यपूर्णां कृपाम् ।
स्वामिन् ! मे मम जीवनस्यतरणिः पारेभवः सम्भवेत् ।।२।।
अत्रत्यां सुषमां विलोक्य महतीं शोभाऽपे वैकुण्ठिका ।
लज्जां संदधती सती नतमुखी धारावती दुःखिता ।
तां दृष्ट्वा करुणां विधाय यतिना सन्धिर्द्वयोः कारिता ।
राजेते सुषमे शुभेऽत्र मिलिते सानन्दनीराऽन्विते ।।३।।
सूमेशश्च सुमाधवश्च कुरुतः ह्याचार्यब्रह्मात्मिकाम् ।
यज्ञेऽस्मिन् सुविधिसदासुमनसा सर्वार्थदात्रीं शुभाम् ।
तत्त्वं श्रावयते श्रुतेर्विदधते सर्वस्य पापापहम् ।
यज्ञेऽस्मिन् मजमानविप्रसगणः सेनेशशिष्यस्त्वसौ ।।४।।

अल्लाहेति समागतो हि यवनो दासो खुदावक्समो ।
श्रुत्वा स्वामियतीन्द्रकेन्द्रयशसः कीर्तिं जगत्ख्यातिगाम् ।
चित्रं प्रेष्य विधाय पत्रमिहसौख्यार्थं न जानाति यो ।
देशेऽस्मिन् खुदबक्सनामसहितोधन्यं गतोयञ्जनः ।।५।।

सत्यं त्विदं यत्तवकीर्तिगाने, शेषो महेशो न च शारदा च ।
वक्तुमशक्या यदिमेऽल्पबुद्धिरहं समर्थश्च कथं भवामि ।।६।।

तव पादरेणुं पथिसाधुकृत्वा, पद्मं प्रणेतुञ्च समुद्यतोऽस्मि ।
तवेदमस्मिन् सकलं प्रसूनं प्रेम्णा च पादाब्जयुगे ददामि ॥७॥

श्रीमतांपादपद्म-भृङ्गः-
दीनबन्धुर्दीनानाथ पाण्डेयः
व्या० सा० न्या० वेदान्ताचार्यः
उपाचार्यवरः शास्त्रचूडामणिः, शास्त्रार्थकेसरी
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयीयः
वाराणसी ।

॥ ७ ॥

रम्ये प्रान्ते विहारे मधुजलसरितो विष्णुपद्यास्तदान्ते,
धर्मावत्याः सुनद्याः प्रकृति विहसिते दक्षिणे तीरभागे ।
श्रीमद्भोजस्यनाम्ना प्रथितपुरवरे मण्डले रम्यमाणे,
वर्जा-सलेमपुर्य्यामुटजसुफलके राजते योगिराजः ॥१॥
विष्वक्सेनो मुनीन्द्रो यजतिप्रतिपलं मानसस्थं हृषीशम्,
चातुर्मास्याङ्गभूतं निगमसुखवरं लोककल्याणहेतोः ।
यस्मात्सर्वेकृतार्थाः वयमिह नितरां प्रान्तभूमिस्थितास्त्र
रोगैः शोकैश्चतापैर्विरहितमभयं विश्वदं जातमद्य ॥२॥
यत्पादाब्जपरागलिप्तहृदयाः पङ्क्तिं गताः श्रद्धया
भक्ताः मन्त्रविधानतः प्रतिदिनं नीराजनं कुर्वते ।
साष्टाङ्गप्रणिपातकर्मविधिना सत्कुर्वते स्वामिनाम्
सोऽयंश्रीयुतनायकः सकरुणः सन्मानसे राजताम् ॥३॥
श्रीनिवासस्य पद्यानि सेवाभूतानि सर्वदा
आचार्यस्य सपर्य्यायाम् शोभन्तां श्रेयसे मम ॥४॥

विनीतसमर्पकः—
श्रीनिवासाचार्यः (पं० शिवपूजन त्रिपाठी)
व्या० सा० आयुर्वेदाचार्यः, शास्त्रार्थमहारथी,
चौकशिकारपुर, जितूलाललेन, पटनासिटी ।

॥ ८ ॥

स्वामिँश्ते पदपादुकाङ्कितपदं संस्पर्शनोत्कण्ठया
या नित्यं सुरसेविता भगवती ह्यागत्य भागीरथी ।
स्पृष्ट्वा पर्णकुटीं पदश्च युगलं धन्याऽहृतां वै गता
तद् देवो प्रतिपूजितो यतिपतिर्योगी सदा राजताम् ॥१॥
चातुर्मास्यव्रती समाधिनिरतो ध्येयश्च नारायण:
श्रुत्याचारविचारसम्मतमत. श्रीसम्प्रदायादर: ।
श्रीरामानुजवैष्णवीयगगने विभ्राजमानो रविः
ब्रह्मानन्दरसस्य स्वादनपरो योगी सदा राजताम् ॥२॥
स्वामिँस्ते तपस: प्रभावमतुलम् दृष्ट्वैव सर्वेजना:
आश्चर्यादभवन् विभूतिचकिताश्चर्चन्ति भूयोयश:
साक्षाद्भातिच यत्र विष्णुमहिषी लक्ष्मीश्च स्मेरानना
धन्योऽयं जगतीतले यतिपतिर्योगी सदा राजताम् ॥३॥
कौपीनं कटिवस्त्रशोभितकटि: मात्रोत्तरीयम् द्वयम्
पार्श्वेनास्ति कपर्दिका पुनरपि यागो महान् साध्यते ।
ऋद्धि: सिद्धिसमाश्रिता ह्यतुलिता चक्षुष्मताम् गोचरा:
तेजोमूर्तिरुदारपूतचरितोयोगी सदा राजताम् ॥४॥
चन्द्रेषुखाक्षिमित विक्रमवत्सरेऽस्मिन्मासाश्विने दिवससौम्य सुपूर्णिमायाम्
ग्रामे सलेमपुर नाम्निद्विजप्रधाने, पूर्णाहुति: सुविधिना ह्यभवन्मखस्य ॥५॥
मदनो मोहनान्तोऽहं द्विवेदिपद सम्भृत: ।
अभिनन्दन् यतेरंघ्रि, प्रणतोऽस्मि पुन: पुन: ॥६॥

भवच्चरणचञ्चरीक :—

मदनमोहनद्विवेदी

व्याकरणाचार्य काव्यतीर्थ: साहित्यरत्नश्च
वलियाजनपदीय बाजिदपुर वास्तव्य: ।

॥ ६ ॥

भालेशुभ्रारुणसुरुचिरं भाति यस्योर्ध्वपुण्ड्रम्,
शुभ्रं सूत्रं लसति सततं गैरिकारक्तं सुवस्त्रम् ।
वामे पात्रं सलिलसुखदं दक्षिणे यस्त्रिदण्डो,
नागेशस्तं प्रणमति गुरुवरदासदासानुदासः ॥१॥

जित्वा कामान् भुवनविदितान् सर्वथानर्थमूलान्,
हित्वाऽत्मीयान्पुरपरिजनान् योगमार्गीयबन्धान् ।
त्यक्त्वा भोगान् भ्रमति भुवने भक्तभव्याय यस्तम्,
नागेशोऽयं प्रणमति गुरुवरदासदासानुदासः ॥२॥

कीर्तिं श्रुत्वा श्रवणसुखदां याज्ञिकीं दर्शनार्थम्,
आगच्छेयुर्जगजनगणाः यस्य आबालवृद्धाः ।
दृष्ट्वा धन्याश्चरणशरणं शान्तिदं यान्ति यन्तम्,
नागेशोऽयं प्रणमति गुरुवरदासदासानुदासः ॥३॥

सन्तप्ताः सन्ति त्रिविधतपनैः त्रायमाणास्तपोभिः
स्वात्मारामे रमणनिपुणाः गोपिताः गह्वरेषु ।
लोकत्राणे यजनवचनैरेक एवाद्भुतस्तम्,
नागेशोऽयं प्रणमति गुरुवरदासदासानुदासः ॥४॥

श्रीवत्सवंशभुविदीप्तदिवाकराय, श्रीभाष्यदाय जगतामुपकारकाय ।
यशङ्कराय वरदाय पयोव्रताय, प्रपन्नपालाय नमो नमस्ते ॥५॥

श्रीवत्सरत्नाकररत्नरत्नं यतीन्द्रमार्तण्डपदं दधानम्,
श्रीवैष्णवानां भुवि कर्णधारम्, नमामि रामानुजसम्प्रासारम् ॥६॥

योगेन यागेन तपश्चरेण यः पाति पादाम्बुजपांशुलुब्धान्,
शिष्यानशेषाननपिदूरसंस्थान् त्रिदण्डिनां श्रेष्ठतमन्तमीडे ॥७॥

मन्येऽग्रगण्यः सुधियां जगत्यां कुमार्गिणामेव अहं प्रधानः
दीनोऽनुकम्प्योऽस्मि न किं शरण्य शरणागतार्तः चरणप्रपन्नः ॥८॥

दासोऽधुना किमपि कामयते न नाथ वैधुर्यमयजीवनशेषभागे ।
त्वद्दासदासपरिसेवकदासदासदासस्यदास इति मां कुरु नाथनाथ ॥९॥

गुरुवरदासानुदास :—
नारायणरामानुजश्रीवैष्णवदासः,
(**डा० नागेशशास्त्री**, एम० ए० पी-एच० डी०
जी० ए० एम० एस०)
सेवानिवृतनिदेशकः देशीचिकित्सा स्वास्थ्य विभाग विहार,
शेखपुरा पटना ।

॥ १० ॥

विधुर्विकासक्षयभावखिन्नं तनुं सुपूर्णं न च प्राप्य सुस्थम्,
विरञ्चिसर्गं परिमुच्यनूनं यतीन्द्रपादाश्रयतां हि लेभे ॥१॥

सुपूर्णहस्ताङ्घ्रिमखस्वरूपं,
विधायस्वां विंशतिधामवाप ।
पुनः प्रभुं लिप्सुरतृप्तभावो
मुखारविन्दं श्रयते सुखेन ॥२॥

सूर्यो ब्रह्माण्डमध्यंभ्रमणपरवशो राहुग्रस्तो ह्यशान्तः,
श्रीविष्वक्सेनसूरेर्नयनशिर इति स्थैर्यवासं निविश्य ।
एकस्थानस्थितोऽसौ भुवनमखिलमश्रान्त एव प्रभाति,
चन्द्रस्तद्दीप्तिशान्त्यै निविशतिहृदये स्वामृतांशुं प्रदातुम् ॥३॥

साक्षादिन्द्रो यतीन्द्रोरविबुधविहितं स्वामृतं वारिराशिम्,
सर्वांल्लोकान् पुनातुं स्ववचनजलदैर्वर्षतिक्षेमशान्त्यै ।
लक्ष्मीनारायणाख्यं मखमखिलजगत्पावनं पावितेन ।
मार्त्तण्डेन्द्रेन्दुमूर्तिर्यतिबर सुखदाक्षेमशान्तिं प्रदातु ॥४॥

गंगा स्वयं स्वामिकुटीरमेत्य जह्नुं मुनिं सेवितुमागतेव
आप्लावयन्ती परितः सुभूमिं स्वयं कृतार्थामिव मन्यमाना ॥५॥

सतं लाति सल्लः इकारो हि लक्ष्मीः
मकारोऽस्ति जीवश्च तेषां सुपूश्च
इयंवर्यसल्लेमपूश्चास्ति पुण्या
लक्ष्मीशयागोऽत्र पूर्णो वभूव ॥६॥

अमेरिकादेशनिवासिनन्द-
कुमारजालानसुसेवकेन,
सहस्रमुद्राद्विदशात्मिकाश्च
दत्ताः स्वयं स्वामिपदाम्बुजेषु ॥७॥

चन्द्रवाणखयुग्मेब्दे वैक्रमे पूर्णिमातिथौ,
आश्विने पूर्णतां प्राप्तौ लक्ष्मीनारायणो मखः ॥८॥

गुरुचरणचञ्चरीको दासो लक्ष्मीनृसिंहवर्याणाम् ।
अभिनन्द्य योगिराजं स्वात्मानं पूर्णतांमन्ये ॥९॥

समर्पकः
गुरुचरणचञ्चरीकरामानुजदासः
(गुरुचरणमिश्रः)
व्या० सा० आयुर्वेदाचार्यः, प्राप्तस्वर्णपदकत्रयः
निवृत्तप्राचार्यः श्रीशतानन्दहरिहर संस्कृत महाविद्यालयस्य
बोधगयास्थस्य ।

॥ ११ ॥

ललाटोर्ध्वपुण्ड्रं सयज्ञोपवीतं, कषायेणसिक्तं सुवासो वसानम् ।
त्रिदण्डं सदा दारुपात्रं वहन्तं, नमामीदृशंसज्जनानां शरण्यम् ॥१॥
स्वकीयोपदेशामृतं पाययन्तं, सदाचारशिक्षां सदा शिक्षयन्तम् ।
सतः सत्पथं दर्शयन्तं, महान्तं, नतोऽहं नतोऽहं पदद्वन्द्वपद्मम् ॥२॥
सत्तर्ककर्कशरहस्यविचारदक्षं वादीभकुम्भदलदारणदत्तचित्तम् ।
सद्धर्मधारणकलाकुशलं प्रसन्नम्, भूतानुकम्पिनमकामममरंनतोऽहम् ॥३॥

महाराष्ट्रस्थितं सोलापुरमेकं शुभावहम् ।
तन्निवासिन आगत्य प्रार्थयन्ति पुनः पुनः ॥४॥

स्वामिन्निवेदनमिदं चालित्वास्मान् पुनीहि भोः ।
सहस्रत्रयमस्माभिर्दत्तं स्वीकुरू ते नमः ॥५॥

देशान्तरादागताश्च प्रार्थयन्ति जना अपि ।
नेतुं स्वकीयं देशं हि किं पुनः देशवासिनः ॥६॥

अतुलनीयगुरोर्हि निदेशतः
शुभसलेमपुरस्थितसज्जनाः ।
यजनकर्मरताः समबुद्धयः
गुरुशुभाशिषमाप्नुवतां वराः ॥७॥

इमानि पद्मपुष्पाणि दत्तानि पादपद्मयोः ।
गुरोः प्रीतिकराणिस्युर्दासेच्छास्ति पुनः पुनः ॥८॥

भावत्कश्चरणचञ्चरीक :-
चन्द्रकुमारत्रिपाठी, प्राचार्यः
राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयः, राँची ।

●

॥ १२ ॥

त्रिदण्डीस्वामीवै मुनिकुलवरिष्ठस्तु परमः,
हरेर्गीताख्यानं सरलमधुरं यो रचितवान् ।
मखानां सन्मूर्तिः हरिरुचिरमोदाय कुरुते,
मखं नित्यं सोऽसौ मम हृदयमध्ये विलसतात् ॥१॥

महर्षे वेदानां गुरुतरविधानेन चकितः,
भ्रमेण भ्रान्तो हि जडमतिरसूयः गतधियः ।
सुचित्तं ध्यानं वा नच मम वचोप्यस्त्यविकलम्,
यजाचे सान्निध्यात् यतिवर तवार्चां सुविमलाम् ॥२॥

कुशकाशपलालकुटिरचितम्,
परितः सुविभाति सदा कुसुमम् ।
फलकोपरिदेशिकध्यानरतम्
परितः तुलसी कुसुमं लसितम् ॥३॥

धर्मावतीदक्षिणतीरभागे पर्णासने सिद्धपदे विराजितः ।
व्यनीय मासान् चतुरः महर्षिः लक्ष्मीशयागं विधिना चकार ॥४॥

इमानि पद्यपुष्पाणि चत्वारिपादपद्मयोः ।
पुरे सलेमेदत्तानि, गुरोः प्रीतिकराणिवै ॥

भवदीयः—

रामसुरेश पाठकः

व्या० सा० धर्मशास्त्राचार्यः

छपरास्थ सोहं संस्कृतोच्च विद्यालयस्य प्रधानाध्यापकः ।

॥ १३ ॥

राज्येविहारविमले किल भोजपौरे,
वर्जायुते शुभसलेमपुरे मनोज्ञे ।
श्रीजाह्नविरुचिरदक्षपुनीत भागे,
संच्छादिते हरितपल्लवचूतवृक्षे ॥१॥

पुष्पान्विताः परिलषन्ति लतावितानाः,
मध्येमुदा तुलसिकाः परिवर्द्धमानाः ।
श्रीस्वामिनः चरणपद्म-सुसेवयन्ती,
धर्मावती वहति वै सुनदीकुमारी ॥२॥

यं सेवते निशिदिवं कमलेशदासः,
लक्ष्मीप्रपन्नसहितं विमलं मनोज्ञम् ॥
कैङ्कर्यमाचरति दाससुदर्शनोऽसौ,
तं स्वामिनं गुरुवरम् शरणं प्रपद्ये ॥३॥

चन्द्रेषु शून्ययुगसम्मितवैक्रमाब्दे,
मासे शुभाश्विनसिते शनिवारतश्च ।
एकादशी सुतिथिल: किल पौर्णिमान्तम्,
लक्ष्मीश्वरस्य मखकर्तृ गुरु प्रपद्ये ॥४॥

विख्याते बलियास्थिते सुबहुआरायामतिवाद्भुतम्,
वालं यः यमराजहस्तसुलभेआनीतवान्वैषभुः ।
दृष्ट्वा दृश्यमिदं प्रसन्नजनताश्चक्रुर्जयं स्वामिन.,
एवं श्रीयतिराजशेखरमणिम् वन्दे गुरुणांगुरुम् ॥५॥

विष्वक्सेनयतीन्द्रस्य त्रिदण्डीशभुते: प्रभोः ।
सेवायां पद्मपुष्पाणि अर्पयति भुवनेश्वरः ॥

श्रीस्वामी-पदपङ्कजालि:

भुवनेश्वर त्रिपाठी

व्याकरण साहित्याचार्यो विशारदश्च,
संस्कृताध्यापक:
राज्य सम्पो० श्रीरामनारायण संस्कृतोच्च विद्यालयः
बरडीहाँ, (रोहतास)

॥ १४ ॥

धन्यास्ति धर्मावति ! पुण्य भूमि
धन्याद्रुमाः वैष्णवरूपभूताः
धन्याः जनाः धन्यसुपण्डिताश्च ।
यत्र स्थितः स्वामिगुरुश्च साक्षात् ॥१॥

गंगादेवगृहाणियत्र विबुधा विष्णो समाराधनम्
साधूनां समवेत अत्रवसतिः लोकाधिका वैष्णवाः
विष्वक्सेनगुरोश्च यत्र विमला कीर्त्ति सदा राजते
मन्ये बक्सर दिव्यधामनगरं वर्यासलेमौपुरौ ॥२॥

ध्येयं सदा गुरुवरं विबुधैः प्रपूज्यं
पुण्ड्रातिराजतिविशालललाटरम्यम् ।
यज्ञादिकर्मनिरतं दययान्वितञ्च
वन्दे कषायवसनं भुवि योगिराजम् ॥३॥
यथा वै कौशिकी पूता विश्वामित्रतपस्यया
धर्मावति तथा पुण्या स्वामियज्ञप्रभावतः ॥४॥

स्वामिपादाब्जभृङ्गः ।
राजेन्द्र रामानुज श्रीवैष्णवदासः
(डॉ० राज किशोर मिश्र)
साहित्य व्याकरण सर्वदर्शनाचार्यः
एम० ए० पी-एच० डी० साहित्यरत्न
ग्राम + पो० ब्रह्मोरनपुर, भोजपुर ।

॥ १६ ॥

श्रीवेदान्ती वरीष्ठः कलिरिपुदमनः कृष्णपादावतारः
लोकाचार्यश्च शैलेशवरवरमुनी सुक्रमाचार्यवर्या: ।
श्रीवादीभट्ट वेङ्कटमुनिवरदः रामतोताद्रिनाथः,
श्रीस्वाम्याचार्यवर्षान् यतिवरबिमलान् नौमि वारानुवारम् ॥१॥
गंगादक्षतटे पवित्रसघने पर्णाश्रमं पावनम्
मौञ्जीरज्जुनिबन्धवंशसरला मालासुगन्धितयुता ।
आम्राच्छादितदूरवंशसरला तालेद्रुमाः सम्मुखे,
श्रीयोगीश्वर राजते तु सततं मोक्षप्रदोदेशिकः ॥२॥
श्रीआदित्यस्तु चक्षुषाभुवितले लोकान्सदापुष्टिदः
सैव ग्रीष्मसमागमे तु भुवने क्षारं विधते वनम् ।
त्वंश्रीभूषणसारवेदवचनैः पुष्णासि लोकत्रयम्,
वैचित्र्यं प्रतिभाति सूर्य सततं त्रैविध्यं एकस्सदा ॥३॥

श्रीचिन्तामणिभूषणे विरचितं टीकासुधासुन्दरम्
वेदार्थं सुगमं विभातिसरलं सर्वैः सुगम्यं सदा।
लक्ष्मीवैभवयुक्तियुक्तवचनैः स्वर्णे सुगन्धिः कृता,
वन्देऽहं करुणाकरं यतिवरं मोक्षप्रदं देशिकम् ॥४॥
वरदवल्लभाबालकोभाति सम्यक्
श्रीसम्प्रदायन्नितरां प्रकटीकरोति।
चक्रं सुदर्शनाख्यं वै भ्रमति त्रिकालम्
लक्ष्मीप्रपन्नकमलासहचारिणौ द्वौ ॥५॥
श्रीशाण्डिल्यकुले जातः, अम्बिकादाससेवकः
विविधविधिशास्त्रज्ञः स्तौति ते निर्मलं गुणम्।

श्रीमतांचरण-चञ्चरीकः—

पं० अम्बिका त्रिपाठी, सा० आयुर्वेदाचार्यः,
साहित्यविशारदः, दैवज्ञः, भूतपूर्वप्रधानाध्यापकः
गोड़ारी (रोहतास)

॥ १६ ॥

सौम्यं वपुश्चन्द्रकरेव भाति, मुखारविन्दे खलु मन्दहास्यम्।
सदा प्रसन्नं कलिकल्मषघ्नं त्रिदण्डिदेवं मनसा नमामि ॥१॥
शास्त्रेषु सर्वेषुचयस्यप्रज्ञा, निशान्तश्रोत्रेण सदा विभाति।
विमोहयन्तं मधुरैर्वचोभिः, त्रिदण्डिदेवं शिरसा नमामि ॥२॥
सदैव यस्य मुखे श्रुतिशारदा, सततचन्द्रप्रभेव विकासते।
विपुल भक्तजनाश्रय दीयते, गुरुवरं प्रणमामि निरन्तरम् ॥३॥

मानपत्रप्रणेता—यतिवरपादसेवकः—

श्रीधरनाथदूबे, एम० ए० (त्रय) बी० एड्०
भूतपूर्वप्राचार्य-मालाइन्द्राणीकालेज
चौसा, जिला-बक्सर।

॥ १७ ॥

गीतारहस्यं सततं विधाय,
मुक्तिपथं दर्शयति सदा नः ।
दिव्याम्बरं पर्णकुटीरवासी,
तं योगिराजं सततं नमामि ॥

शुभ्रं पवित्रं धवलं विचित्रं,
विश्वस्य रत्नं सुजनैः सुचिन्त्यम् ।
गायन्ति लोकाः विबुधाः प्रवीणाः,
तं योगिराजं सततं नमामि

काषायवस्त्रं सततं विभाति,
ज्योतिप्रभा भाति सुरम्यलोके ।
धन्याः वयं यस्य प्रकाशमध्ये,
तं योगिराजं सततं नमामः ॥

निगमनिखिलतत्त्वं शास्त्रवेदानुगम्यं,
सकलगुणवरीष्ठं भूजनोद्धारहेतुः ।
शमितभवविकारं रामनाम्नं जपन्तम्,
हर मम भवकष्टं दण्डधारी यतीन्द्रः ॥

भवच्चरणाब्जभृङ्गः—
डॉ० गौरी शंकर तिवारी
(संस्कृत-विभाग)
साहित्य व्याकरणाचार्य एम० ए०
(संस्कृत) पी-एच० डी० लब्धस्वर्णपदक
एच० डी० जैन कालेज, आरा

॥ १८ ॥

सलेमपुरग्रामेऽत्र, यज्ञो वेदविधानतः ।
पूर्णोभूतो विराडद्य, स्वामिन् तव प्रसादतः ॥१॥
अन्येऽपि सकला लोकाः, धन्याः सर्वे समागताः ।
पीत्वा सूक्तिसुधामत्र, स्वामिन् तव प्रसादतः ॥२॥
खगमृगादयो धन्याः, ये सन्त्यत्र निवासिनः ।
धन्यं चराचरं चैव, स्वामिन् तव प्रसादतः ॥३॥
अकथ्या महिमा तेऽस्ति, मान्यमूर्ते यतीश्वर ।
नमाम्यहम् गुरोदेव, स्वामिन् तव प्रसादतः ॥४॥
आश्विनस्य सितेपूर्णे, बुधवारे च वत्सरे ।
शशिबाण नमोनेत्रे, ह्यभिनन्दनमर्पितम् ॥५॥

श्रीमच्चरणरेणुरुषितः—
उपेन्द्राचार्यः (उपेन्द्र नारायण शुक्लः)
कर्मकाण्ड, साहित्याचार्यः पौरोहित्याचार्यश्च
श्री त्रिदण्डिदेव सत्संगाश्रमडेहरीस्थः ।

॥ १९ ॥

सलेमपुरवजर्यां भोजपुरे सुमण्डले ।
आजगाम यतीशोऽयं नारायणपरायणः ॥१॥
लक्ष्मीनारायणाख्यं वै यज्ञं कर्तुं मुनीश्वरः ।
चकार मनसा ध्यानं वैष्णवानां सुखाय च ॥२॥
यतीन्द्राय मुनीशाय नमः परमयोगिने ।
गङ्गातीरनिवासाय काषायाम्बरधारिणे ॥३॥
गीतामृतप्रदानाय पयः पानरताय च ।
वैष्णवानां विकासाय योगीन्द्राय नमो नमः ॥४॥

सम्पर्यते सुरेशेन पद्यपत्रचतुष्टयम् ।
दयां कृत्वा गृहाणेदं मम स्वामी दयानिधे ॥५॥

श्रीमतां चरणोपासकः
सुरेश त्रिपाठी,
व्या०, साहित्याचार्यः
तिवारीडीह ग्रामवास्तव्यः
रोहतास मण्डलस्थः ।

॥ २० ॥

भागीरथीनदीतीरे भोजपुरे सुमण्डले ।
सलेमपुरग्रामे च चातुर्मास्यं चकारवै ॥१॥
जनसंतापनाशाय लोककल्याणहेतवे ।
गीतोपदेशदानान्ते क्रतुञ्चक्रे यतीश्वरः ॥२॥
शंखचक्राङ्कितंदेवं निखिलज्ञानदायकम् ।
तं नौमिजगदाचार्यं साक्षात्ब्रह्मस्वरूपकम् ॥३॥
नमः पङ्कजनेत्राय त्रिदण्डधारिणे नमः ।
नमस्ते यज्ञरूपाय त्रिकालज्ञाय ते नमः ॥४॥
आश्विनेसिते पक्षे चतुर्दश्यांकुजेदिने ।
ददाति पद्यपुष्पाणि दासो विजयराघवः ॥५॥

श्रमतां चरणोपासकः-
विजयराघवपाण्डेयः
व्याकरणाचार्यः, एम० ए०
ग्राम-केथी (रोहतास)

॥ २१ ॥

शरीरे काषायं विलसति तथा चोर्ध्वपुण्ड्रम्,
गले शुभ्रामाला करकमलयोदण्डत्रितयम् ।

प्रशान्त्यर्थं लोके सजलविमलं काष्ठपात्रम्,
नमामि त्वां स्वामिन् ! जगति लसितं यस्य तेजः ॥१॥
भूसुरकुलवरीष्ठः व्यासरूपः स्वरूपः,
श्रुतिनिगम-सुसारं पाञ्चरात्रानुसारम् ।
वदतिजनसमूहे विष्णुदीक्षाप्रधानम्,
गमयति सुरधामं शंखचक्राङ्कितं वै ॥२॥

श्रीस्वामिचरणचञ्चरीकः—

पद्मनाभ त्रिपाठी साहित्याचार्यः, एम० ए० बी० एड०

ग्राम, पो० पेरहाप (भोजपुर)

॥ २२ ॥

अङ्काप्त वाणखकरान्वितपूर्णिमायाम्,
मासाश्विने बुधदिने बरजापूरेऽस्मिन्
मा माधवस्यमणिमण्डपमागताना-
मुधारकं गुरुवरं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥१॥
सुमनचन्दनचर्चितभालकं, कटितटे शुचिवासविराजितम् ।
करकमण्डलुदण्डयुतं शुभं, गुरुवरं प्रणतोऽस्मि यतीश्वरम् ॥२॥
कुमुदगन्धसुपद्मसरान्तिके, नदनदितटपुण्यजलान्विते ।
कनककान्तकुटीरनिकेतने, ह्यधिशयन्तमजं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥३॥
सुवरजावरजाहितकाँक्षया, बहुविधाम्रकदम्बसमाश्रितम् ।
कुसुमपर्णकुटीरसुशोभितम्, गुरुवरंप्रणतोऽस्म्यहमिष्टये ॥४॥
कृष्णलालाश्रितेनाद्य मिथिलेशद्विजन्मना ।
दीयन्ते पद्मपुष्पाणि श्रीगुरोः सुकराङ्घ्रिषु ॥५॥

भावत्कः—

मिथिलेश कुमार दूबे, व्याकरणवेदान्ताचार्यः,

साहित्य प्रतिष्ठा, छात्र-विद्या वारिधि

रा० सं० म० विद्यालय—राजेन्द्र नगर, पटना ।

॥ २३ ॥

सेनेशनामलसितो मुनिषुसुपूज्यः,
सम्राजते मम गुरुः यतियोगिराजः।
दृष्ट्वा पदं सुलसितं मम मानसे च,
चित्तं सदा विहरतु तव पादमूले ॥१॥
विद्याप्राप्तयेनित्यं चिन्तयामि मुहुर्मुहुः।
कामये नित्यकैङ्कर्यं प्रसादात् ते पदे नतः ॥२॥
शुभाभिनन्दनं कृत्वा पादमूलेसमर्प्य च।
सुखशान्तिप्रदानाय प्रार्थये स्तौति त्वां भरतः सदा ॥३॥

श्रीमतां चरणारविन्द सेवकः—

भरतद्विवेदी, व्याकरणाचार्यः

गाधिपुरमण्डलान्तरादिलावाद ग्रामवास्तव्या।

॥ २४ ॥

कृपापारावारं तपनमूर्ति तापशमनम्
श्रीलक्ष्मिपुत्रं भवभयहरं भक्तवरदम्।
नतोऽहं श्रद्धयापरया त्वां जगदेकशरणम्।
संयाचे पादभक्तिं, श्रीचरणयोः शुभदां गतिम् ॥

श्रीस्वामिचरणरजचञ्चरीकः—

डा० अरुण कुमार शास्त्री-प्रतिष्ठा, 'मानस-सुमधुर'

ग्राम–पौथू (औरंगाबाद)

॥ २५ ॥

स्वामीजी धन्य-धन्य हैं, धर्मावती भी धन्य।
धन्य सलेमपुर ग्राम तू, दर्शक को किया धन्य ॥
अगर आपको लोग जाने न होते,
तो सच है दरश के, दिवाने न होते ॥

ये विदित है कि जो श्री वैष्णव हैं बनते।
तुम्हारी बताई विधि पर हैं चलते॥
वे सुखी-सम्पदायुत, यशस्वी न होते?
तो सच है दरश के० ॥१॥

हकीकत तुम्हारी सबको है जाहीर।
जहाँ जानता तुम हो सब काम माहीर॥
सूखे पेड़ में गर न फल-फूल होते।
तो सच है दरश के० ॥२॥

सर्प, व्याघ्र नक्रादिभक्त हैं तुम्हारे,
हरि गंगा लक्ष्मी तेरे हैं सहारे॥
हजारों अलौकिक न गर कार्य होते।
तो सच है दरश के० ॥३॥

यज्ञादि सत्कार्य फिर से फैलाये।
अनेकों धर्मग्रंथ तू ने छपाये॥
शास्त्रार्थ जयी गर तुम नहीं होते।
तो सच है दरश के० ॥४॥

सिद्धेश्वर कहे जिसने तुमको है ध्याया।
रहा विश्व में क्या, जिसे वह न पाया?
दया सिन्धु, दया के न निर्झर तू होते।
तो सच है दरश के० ॥५॥

दासानुदास
सिद्धेश्वर पाठक
साहित्याचार्य एम० ए० बी० टी०
बुधुआ, जपला, पलामू

॥ २६ ॥

धर्म के रक्षक धर्म-धुरंधर धर्म हिते सब धर्म कराई।
धर्म हिते सत् यज्ञ करावत धर्म हिते नित ध्यान लगाई ॥

धर्म हिते धन धाम को त्यागहिं धर्म हिते कुटिया में रहाई।
धर्म हिते पयहार करें अरु धर्म हिते त्रिकाल नहाई ॥

धर्म हिते धरि धर्म के गठ्ठर धर्म रहे धरणी बिखराई।
धर्म हिते शास्त्रार्थ करावत, धर्म हिते धर्मग्रन्थ लिखाई ॥

धर्म बढ़े हित याग करें अरु धर्म हिते सब शास्त्र सुनाई।
आतप वर्षा शीत सहें, तन धर्म हिते नित देत तपाई ॥

शिष्य बनावत धर्म हिते, शंख चक्रहिं धर्म के हेतु लगाई।
दर दर घूमि के धर्म प्रचारत, धर्महिं हेतु समाधि लगाई ॥

धर्म जनेऊहिं धर्म सिखा अरु धर्म खड़ाऊहिं पाद सुहाई।
धर्म के वस्त्रहिं धर्म कमण्डल धर्म त्रिदंडहिं हाथ लगाई ॥

उठन बैठन ढंग सिखावत, धर्म विरुद्धक डांटत भाई।
धर्म बढ़ै हित लोग, जुटें, अरु धर्म हिते सब दान कराई ॥

धर्म मचान पर बैठ यति जनु धर्महिं रूप धरे मुनिराई।
धर्म को ठौर पै धर्म सभा जँह धर्म प्रशस्ति यतिवर को सुनाई ॥

धर्म न जानत और कछु, गुरु के चरणों मँह शीश झुकाई।
चरणों के सेवक 'शिवजी' हैं गुरु स्नेह, करें मुझ पै अधिकाई ॥

तव पाद-सेवक

शिवजी पाठक

(प्राध्यापक)

ग्रा०—नगवा

जिला—बलिया (उ० प्र०)

॥ २७ ॥

योगी, यतिराज की महिमा बखाने कौन ?
ऐसो योग साधक न जग में लखायो हैं।
बड़े-बड़े पंडित, विद्वान सब हारे, कहि,
नाना छंद कविता सों पार नहिं पायो हैं।
वर्तमान, भावी, भूत, समय के विज्ञ यति,
कलि के कुचाल षड्रिपु को भगायो हैं।
बाधक, त्रिविध-व्याधि आधि सब दूर करे,
बड़े-बड़े साधक को पीछहिं हटायो हैं।
कठिन, नियम-व्रत देखि के शतनु-मख
इन्द्र-इन्द्रासन सों भय उपजायो हैं॥
परम-प्रवीन, अति कोमल दयालु, यति,
सुन्दर-सुवचन शास्त्र सबको सुनायो हैं।
वाम, हस्त सुन्दर कमण्डल विमल जल,
जरत, जगत-जरताप को बुझायो हैं॥
अजब त्रिदन्ड खल मद को झरन हार,
काषाय वस्त्र देखि काम भी परायो हैं।
यतिवर दर्शन की महिमा अमित बाटे,
बड़े-बड़े पाप के पहाड़ को ढहायो हैं।
मायावादी-गजन कुंभस्थल विदीर्ण करि,
विशिष्टाद्वैत-सिंह का पताका फहरायो हैं॥
बरजा सलेमपुर जनपद भोजपुर में,
गंगा के किनारे चातुर्मास को रचायो हैं।
चरण-कमल तव बार-बार परि-परि,
अवध किशोर हम शीशवा झुकायो हैं॥

चरण-चंचरीक

अवध किशोर पाठक, नगवा, बलिया
(एम० ए०, एल० एल० बी० बी० एड०)
अध्यापक, मर्चेण्ट्स इण्टरमीडिएट कालेज
चितबड़ागाँव, बलिया (ऊ० प्र०)

॥ २८ ॥

त्रिदण्डी गुरुवर्यं विष्वक्सेनं । सदा शिव रूपं पुनीतं भजेऽहं ॥
महा मोह भंजक त्वदीयं स्वरूपं । नमामि प्रभो दिव्य रूपं अनूपं ॥
न ज्ञानं न ध्यानं न भक्ति न योगं । सदा लिप्यमानं कुरोगं सुभोगं ॥
यतिराज बन्धनउच्छेदनकारी । हरो पाप हर्ता हे कल्पान्तकारी ॥

विराजित वसन गैरिकं शुभ्र अंगं । ललाटोर्ध्व पुण्ड्रं लसत भाल ग्रीवं ॥
द्विनेत्रं विशालं अरुण रक्ताभं । भजन्तः नराणां लोकाभिरामं ॥
गोसेवितं दुग्धधारोष्णक्षीरं । महाज्ञानं मण्डित प्रभा श्री शरीरं ॥
सुना ज्ञान गीता हे माधव मुरारि । हरो भार जगती प्रभो मन्मथारि ॥

करालं कलिकाल पापं विनाशं । रमन्तीह जनानां भूताधिवासं ॥
प्रभुपाप पुंज विनाशं करंता । उभय वेद-वेदान्त गीता लगंता ॥
निखिल विश्व त्राता प्रभु लोकपालं । धराधन्य जातं प्रकट दिव्य मानं ॥
विष-व्याल भारी हे शोकापहारी । उबारो जगत नाथ विनती हमारी ॥

श्री सम्प्रदाय प्रियं सदा वन्दनीयं । प्रतिष्ठा विशिष्टद्वैतं वरीयं ॥
भयंकरप्रतिवादी घोषं करंतं । रामानुज ज्योतित प्रभा विचरंतं ॥
नरोत्तम महान्तं जगत् गुरु जातं । भवन्तं अजर यश प्राप्तं वरन्तं ॥
विरद पाये भक्तन के मोहापहारी । मिटा पार्थ चिन्ता हे गीता प्रचारी ॥

दिशा भ्रम जालं विषम अग्नि जालं । करालं कलि पाप भारं न पारं ॥
धरा कम्पिता भू जना लुण्ठिता । मृत्यु शय्या शयित जन अपारं ॥
न तावत् सुखं दुःख सन्ताप नाशं । न यावत् छिन्नं मोह संदोह पाशं ॥
जरा जन्म विपदा मिटा हे खरारि । सदा सज्जनानन्द-दाता पुरारि ॥

गुरु चरण-चंचरीक
(वैकुण्ठ वैष्णव रामानुजदास)
ब्रह्मेश्वर नाथ तिवारी,
एम० ए० बी० एड०
उच्च वि० बुढ़वल, रोहतास ।

॥ २६ ॥

तटे-तटे विराजते नमामि देव दुर्लभम्
करे धरे त्रिदण्डकम् अनूप रूप सुन्दरम्
दयालु शील कोमलं अनेक यज्ञ कारकम् ॥ तटे-तटे.......
अज्ञान दोष मोचनम् च दिव्य देव लोचनम्
सदा हरे प्रभावते विशालभालशोभते
दया यमी क्षमा गुरुं च धर्म-मार्ग-वर्द्धनम् ॥ तटे-तटे.......
सुमार्ग वेद भाषते कुमार्ग पश्य क्रुद्धते
विशुद्ध बोध दायकम् च पुष्पमाल शोभते
शताधियज्ञकारकम् च भक्त नित्य दर्शनम् ॥
कथा पुरान भावते च साधु सन्त आदरम्
अनेक बार वन्दनम् नमामिभक्तरक्षकम्

दोहा—कल्प वृक्ष हर दीनता चन्द्र हरत सन्ताप ।
सकल पाप गंगा हरत संत हरत त्रयताप ॥
गुरु उपदेश गुरु दर्शन गुरु पद नख की ज्योति ।
विद्या यश निर्भयता नित-नित बढ़हिंप्रतीति ॥१॥
पुनि-पुनि प्रभु से विनय यह सब भक्तन सन्देश ।
अजर-अमर आरोग्य नित देत रहे उपदेश ॥२॥
बार-बार वन्दन करत सकल भक्त सिर नाय ।
हरिकृष्ण कृत-कृत्यभे अस यतिवर के पाय ॥३॥

सो०—है सलेमपुर ग्राम, बस सुरसरि के तीर ।
वन में सुन्दर धाम, हुआ यग्य भोजपुर में ॥२॥

पद-रजधर

हरिकृष्ण यादव, अध्यापक
एम० ए० साहित्याचार्य
सवरूबाँध, बलिया (उ० प्र०)

॥ ३० ॥

तन पर काषाय वस्त्र, लसदुर्ध्व पुण्ड्र भाल,
कर में त्रिदण्ड गले, तुलसी नलिनाक्ष माल !
दूजे कर कमण्डल, पद पीठ वना काठ का,
सुखासीन शान्त वपु, आसन बना फलक का ॥

हरि यश गान करें, नित्य सान्ध्य वेला में,
भक्त भीड़ अटत नहीं, सम्मुख घेरा में।
लतिका फली फूली हैं, घवद सोहे केला में,
भक्त जन पावें, दरशन दुहुँ वेला में ॥

असन नित्य गो दुग्ध, वसन काषाय रहा,
अन्न फल रस आदि, कुछ भी न खाद्य रहा।
जल भी न पीवें पर, वास नदी कूल रहा,
स्वच्छ वायु नदी जल, माध्यम नहान रहा।

लोक वेद मर्यादा, रक्षित अहर्निश रहे,
कलियुग में सतयुग का वास सदा रहे।
हो जहाँ निवास, भक्तिधार भी बहती रहे,
स्वामी श्रीत्रिदण्डी का, यशगान भी सदा रहे ॥

श्री पदरेणुलोलुप

रामजी सिंह

परचेज आफिसर, रोहतास इण्डस्ट्रीज
डालमिया नगर, बिहार

॥ ३१ ॥

हे अखिल ब्रह्माण्ड नायक, पूतपावनहार यतिवर ॥
हे अनघ काषायधारी, विश्व वंदित पूज्य गुरुवर।
कर कमंडल तिलक शेखर, उर्ध्व पुण्ड्र त्रिदण्ड धर ॥

रामकृष्ण अनन्त अन्तेवासी विप्र वरेण्य वर।
हे तत्वदर्शी ज्ञानमय गीतार्थ गूढ़ प्रकाश कर ॥१॥
हे शताधिक यज्ञकर्ता मुक्तिदाता दिव्यनर।
हे त्रिदण्डी वैव अवतारो श्रीसर के विमल शत दल ॥
हे तिमिर नाशक दयार्णव. तेज पुंज प्रकाश कर।
हे पवन सुनू से सुरक्षित यज्ञमय हे वेद धर ॥२॥
पाखण्ड वारिमुच प्रभंजन दिव्यचक्षु सौम्यवर।
शास्त्र सम्मत नादकारी ब्रह्मज्ञानी तमिस्र हर ॥
है ज्ञानकर्म उपासनारत दुग्धपायी सूत्रधर।
जनविपुल दोष विकार हारी शुभमति दे पूज्यवर ॥
हे अखिल ब्रह्माण्ड नायक पूतपावनहार यतिवर ॥३॥

श्रीस्वामी पादाब्जभृंग
कृष्ण पाठक "मधुप"
साहित्याचार्य बी० ए० बी० टी०
विशारद
कन्या उच्च विद्यालय मदनपुर,
पो० मदनपुर (औरंगाबाद)

॥ ३२ ॥

परमवन्द्रनतमन शत्-शत् चरण-कमल नमामिहे।
गुरुवर्य विष्वक्सेन वैष्णव देव प्रभु प्रणमामिहे ॥
गीता प्रचारक वेद गायक संत तुम महिमामते,
उद्धारकर्त्ता तापहर्ता जगती के त्रिभुवन पते,
उस परम पावन तम नशावन संत-चरण स्मरामिहे।
श्री सम्प्रदाय निकाय सेवक-सहाय जिसकी नियतिहै।
भव यशोलिप्सा रहितमन जन-जागृति में विरतिहै।
इस परम द्वैत विशिष्ट मत के पथिक को संश्रयामिहे।

प्रतिवाद भयंकर गादी रामानुज जिनके सेव्यहैं
प्रतिक्षण जीवन के तत्वदर्शी काव्य ही उप जीव्य हैं
उस दिव्य ज्योति अखिल जीवन नाथ को पूजयामि हे।
हे नाथ करहू सनाथ बालक आन के चरणन पड़ा,
पद-धूलि सेवत निशिवासर चरण में नित-नित गड़ा,
संसार कष्ट अपार तारोनाथ मैं क्रन्दामि हे।

गुरुचरण-चंचरीक
रामचन्द्र तिवारी
ग्राम + पो० गोड़ारी
जिला-रोहतास

॥ ३३ ॥

हमें तुम्हारी आस हे गुरुवर।
एक तुम्हीं आधार हे गुरुवर॥

जब तक दर्शन हो न तुम्हारा।
समझा कि बिगड़ा भाग्य हमारा॥
बहुत दिनों तक घूम घूम के।
मिटा प्यास नहीं त्रासे मन के॥

भटक रहा संसार हे गुरुवर।
हमें तुम्हारी आस हे गुरुवर॥

बहुत तरह के साधन करके।
तृष्णा लोभ मिटा नहीं मन के॥
नहिं पाया विश्राम हौं तब तक।
मिला न स्नेह तुम्हारा जब तक॥

हो न सका भव पार हे गुरुवर।
हमें तुम्हारी आस हे गुरुवर॥

हे जगत् गुरु तू विविध रूपों में।
हमें बचाया अति संकट में।।
है अनुपम अवतार तुम्हारा।
फैल रहा जश-गान तुम्हारा।।

स्वामी त्रिदण्डी उदार हे गुरुवर।
हमें तुम्हारी आस हे गुरुवर।।

दबा हुआ परिवार बोझ से।
कृपा करें गुरु चहुँ ओर से।।
विष्वक्सेन सेना पति कर में।
सौंप रहा सब भार जगत् में।।

करत गोस्वामी पुकार हे गुरुवर।
हमें तुम्हारी आस हे गुरुवर।।

नगवाँ समीप में बास हमारा।
गंगा-तमसा जहँ पावन धारा।।
दर्दर-भृगु की तपो भूमि है।
मंगल-चित्तु की धरती है।।

पुनि आकर दर्शन दें गुरुवर।
हमें तुम्हारी आस हे गुरुवर।।

समर्पक
हवलदार गिरि 'गोस्वामी'
स० अ० जू० हा० स्कूल, बलिया
बलिया

॥ ३४ ॥

कामधेनु गईया के दूधवा देनिहार हईं ना।
जीव का तारे खातिर राउर अवतार भईल ना ॥टेक॥
"श्री बैष्णव" रूप कामधेनु ई रंगनाथ से बा चलल।
लक्ष्मी जी का दया से विष्वक् सेनसूरि के बा मिलल॥
लीला विभूति लीलाधारी के लीलाम मिलल ना ॥१॥

दूधवा त ई कामधेनु के नेहिया का भाव से विकेला।
बिना पानी के अमरित दूधवा, कवनों धरम में ना मिली।
त्याग-तपस्या गुरवर निहृन, ना पईब कहीं अईसन बोली॥
अनन्ताचार्य स्वामी के बगिया सुधर-सँवार दिहलीं ना ॥४॥

सजल सलेमपुर धरम का जगिया, दास घूमत-२ आईल।
मन बिगड़ल बा बहुत दिन से, अधिक कुकर्मी बा भईल॥
सब जानी अन्तर्यामी बोलल बेकार बाटे ना ॥५॥

धनि नगरी के पूर्वज लोगवा, जेकरा तपवा गुरुवर अईलीं।
श्री वैष्णव के सेवा मिलल, वेदवा व्यवहारिक समझवलीं॥
नास्तिक झूकलन आगे रउरा, जय-जयकार भईल ना ॥६॥

दासानुदास
रामजी पाठक, क० अभि०
समग्र योजना, पटना।

॥ २५ ॥

The brightest bloom—
Of the Showery spring of Sri Ramanuj Sect.,
Which ever blossoms,
Despite the all pervading gloom,
And drives away the invading doom.
Eternal be thy ffame,
Everbright thy glory,
Thou art Goddess Saraswati,
And wish-yielding Sri Lakshmi,
It is Salempur where the Ganges,
Came to greet thy wholy feet swirling,
It is the spot where Shankar's gems
Adorned thy cot, abode and surrounding
Dancing waves and swarming serpents
Made of Thee a shining shiva
Annihilation of the demons hell- bint,
Makes of Thee a gorgeous Girija.
Losing my self in thy Grace,
Mauling the Kali's menace,
Lying cosily in thy embrace
Enjoying Heaven's Solace,

Ever Thy Soliciting Suckling,—
Jagdish Prasad Pande, M. A.
Ex-Professor of English,
Veer Kunwar Singh University-ARA.

An Angel from Heaven has descended on earth.
To make it a place of virtuous mirth,
His name is Visvaksenacharya Tridandi Swami.
He has a fair and aged face
Seeing the earth full of troubles
He practised meditation horrible,
Till he found out the way of deliverance of mankind,
From his wise and noble sense.
To make the works of Swami Ramanujacharya,
He worked on his plans day and night,
He proclaimed to the world happiness for all,
Which on earth made happy each soul.
With all his agencies devine,
He started non-communal yajna
To bring into action his noble vision
Broad based on all right and justreson,
The world rejoices to see his services,
And likes to benefit itself and the masses,
We should all join this holy saint
And help him to succeed day and night.
May he leave on earth for centuries,
To help the people of all countries,
May his works be immortal,
And bless all and each mortal.

Bowed in reverence—

Sridharnath Dubey
ex-principal, Mata Indrani College,
Chausa, Distt. Buxar

॥ ३७ ॥

The angel of religion ! Sri Tridandi Swamí,
The sacred incarnation ! Whom myself namamí,
The wandering Tirathraj ! renowned as jagadacharya,
The eminent Muniraj ! famous as parivrajkacharya,

The greatest saint of the Century whom we regard all,
The peerless preacher of the country whom we respect all,
The unequalled scholar of scriptures whome we know all.
The pious and loving son of God whom we praise all.

The river of blessings ! the spring of virtues !
The destroyer of darkı ess, the home of happiness,
The unique maker of future and fate,
The glorious producer of the gentle and the great.

The heavenly prophet ! the glory of the land !
My supreme Deo ! the wonder of the world !

The virtous soul ! the sun of divine light !
The kind-hearted saint ! the store-house of divine might !

Your humble disciple–
Ramesh Kumar Singh
M. A. (English)
Vill–Jhawan, Distt. Bhojpur

॥ ३८ ॥

हे अकारण करुणावरुणालय महायोगिराज !

आज इस पुनीत अवसर पर गतवर्ष जैतपुरा (गढ़वा) में आयोजित आश्विन शुक्ल चतुर्दशी की 'अभिनन्दन सभा' के दृश्य हमारे मानस पटल पर उभर रहे हैं। लाखों श्रद्धालु भक्त गण पंडाल के भीतर-बाहर 'अभिनन्दन समारोह' को देखते हुए मौन भाव से यह जानने को उत्सुक थे कि स्वामी जी का आगामी चातुर्मासव्रत किस पुण्यभूमि पर सम्पन्न होगा और यह सौभाग्य किसे मिलने वाला है ? हम वर्जा सलेमपुर तथा निकटवर्ती ग्रामीणों की ओर से मात्र दो ही व्यक्ति निमंत्रित करने गये थे, लेकिन स्व० मोसद्दी दूबे, स्व० रामदहिन दूबे, स्व० बगला प्रसाद दूबे, स्व० राम व्यास दूबे की वीरता एवं संन्यासी स्व० राम विनोद दूबे की साधुता का स्मरण कर सलेमपुर दियारा में गंगा के पावन तट पर अगला चातुर्मास व्रत की उद्घोषणा करके 'विनु सेवा जो द्रवै दीन पर' की उक्ति चरितार्थ कर हमें आपने अनुगृहीत किया। हम दीन हीन प्राकृतिक संकटों से जूझते रहने वाले कठोर अनपढ़ असभ्य इस कृपा के योग्य कहाँ थे ? अभिनन्दन सभा विस्मित थी और हम भोजपुर के गंगातटवासी धन्य-धन्य !

हे यतिवर !

आपने कृपा करके हम मायामोह में फँसे पतित, निकृष्ट नित्य मार्ग भटक जानेवाले ग्राम वासियों को अहर्निश मन, वचन, क्रम से वेद पुराण निगमागम सम्मत साधु सन्तों के कथनों का अनुसरण करते हुए सही जीवन जीने की शिक्षा देते रहे और हम अज्ञानी, गँवार अपने 'प्रेम लपेटे अटपटे' वचनों तथा आचरण से आपको कष्ट ही देते रहे। हमारे अहंकार को तोड़ने के लिए हमें आपने कठोर वचनों से प्रताड़ित भी किया जैसा माता पिता गुरु सदा करते हैं। लेकिन हम कहाँ संभल सके और देखते-देखते चार मास बीत गए।

हे सनातन धर्म के मार्त्तण्ड !

आपने हमें बताया, इस भारत भूमि में सनातन धर्म इस सृष्टि के साथ ही अवतरित हुआ। धर्म में हिंसा, कलह, दंगा फसाद, टकराव का कोई स्थान नहीं है। सभी धर्म एक ही परमात्मा को मानते हैं, पूजते हैं, पूजन विधियाँ भिन्न हो सकती हैं। हमारा सनातन धर्म सदा से ही यहाँ है। जो धर्मावलम्बी मुसलमान और ईसाई बाद में इस देश में आए, वे हमारे अतिथि हैं, उन्हें अतिथि का सम्मान मिलना चाहिए। राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने का इससे अच्छा सिद्धान्त क्या हो सकता है ?

हे 'श्री' सम्प्रदाय के जगद्वंद्य मनीषी !

आज भारतवर्ष में कुछ लोग सम्प्रदाय और जाति की लुकाठी लेकर देश में आग बो रहे हैं। लेकिन आप प्रतिदिन भेरी निनाद पर उद्घोषणा करते रहे कि 'श्री' सम्प्रदाय में आकर वैष्णव दास बन जाओ। यहाँ सभी भगवान के दास हैं, सेवक हैं, कोई बड़ा छोटा नहीं। हमने प्रत्यक्ष देखा कि इस चातुर्मासव्रत पालन के कार्यक्रम में हर समय यही शिक्षा मिली कि जो बड़ा है, उसी को छोट की सेवा करनी है और यही प्रकृति का नियम है। हर पिता अपनी 'सन्तति' की सेवा करता है, पालन करता है।

हे ऋषिवर !

आज सारा विश्व भौतिकता एवं भोगवाद के स्वनिर्मित जाल में फँसकर दुःख और घोर अशान्ति में जी रहा है। इन चार महीनों में भारतीय ऋषि-परम्परा के अनुसार जीवन जीने की परम्परा को साकार होते हमने देखा। प्रकृति की गोद में, पर्णकुटी में, गंगा की मचलती उफनाती लहरों में, जलप्लावन की विभीषिका में भी इस पुण्यभूमि धर्मावती के अंचल में आम्रतरु के नीचे धर्मध्वज फहराता रहा, ज्ञानदीप जगमग जलता रहा। हे गुरुवर ! प्रकृति के आँचल में आनन्दमय स्वस्थ एव सुन्दर जीवन का एक प्रत्यक्ष दुर्लभ पाठ आपने हमें सीखाया है। हमारा जीवन धन्य हो गया।

हे गुरुवर स्वामी जी महाराज !

आज की अभिनन्दन-सभा हमारे लिए अत्यन्त ही दुःखदायी है। 'मिलत एक दारुण दुःख देहीं, बिछुड़त एक प्राण हरि लेहीं'—हमारा हृदय भावनाओं से भरा है, वाणी अवरुद्ध है—हम आपको अहर्निश सेवा करने का वचन देकर निमंत्रित करके लाये थे–लेकिन हम अपने विपरीत आचरण एवं उदण्ड व्यवहार से आपको कष्ट पहुँचाते रहे। इस चातुर्मास्यव्रत में भी पीड़ा ही पहुँचाते रहे और आज इस विदाई की वेला में हम दीन हीन ग्रामवासी आँखों में आँसू का अर्घ्य लिए खड़े हैं। हे स्वामी जी महाराज, हम अपनी गलतियों के लिए आपके चरणों में पड़े क्षमाप्रार्थी हैं। 'जो बालक कछु अनुचित करहीं'—मानकर गुरुदेव की नाईं कृपा करके हमें आशीर्वाद दीजिए की हमारा दोष दूर हो और हम आपके चरणों को न भूलें। हमें विश्वास है कि आपके चरणों के नित्य स्मरण कर हम भवसागर से अवश्य उबर जायेंगे।

हम हैं आपके—

चर्जा-सलेमपुर एवं पार्श्ववर्ती गाँवों के ग्रामीण

॥ ३९ ॥

परमात्मा-स्वरुप !

तपः पूत अमर साधक पूज्यपाद श्री १००८ श्री त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज साक्षात् ईश्वर स्वरूप हैं। क्षीनेपुण्ये मर्त्यलोके बिशन्ति से शापित जीव मृग मरीचिका में भटक रहा है। ऐसे में आपने निश्चय ही धरती के जीवों को उबारने में सहारा दिया है। जैसे आप कह रहे हों :—

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

तीर्थराज प्रयाग का पुण्य-प्रदाता !

आप जहाँ जाते हैं वह स्थान ही तीर्थराज प्रयाग बन जाता है।

प्रयाग में गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम है। यहाँ आपके द्वारा भगवान की भक्ति का उपदेश ही मानो गगा हैं। ब्रह्म का विचार ही मानो सरस्वती है तथा कर्म की कथा ही मानो यमुना है। गोस्वामी जी के विचार से भी ऐसे हो चलते फिरते तीर्थराज से मानव का कल्याण सम्भव है।

राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा।
विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रविनंदनि बरनी ॥

प्रबल पुरोधा !

आपने कार्लाइल की पंक्ति Work is Worship, रवि बाबू के 'एकला चलो रे तुमि' तथा गीता के निष्काम कर्मयोग के साथ हो "उत्तिप्टत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" का दिव्य दर्शन निरूपित किया है। आपने ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा की त्रिवेणी में त्रिपुर रहस्य का दिग्दर्शन कराया है। अतएव मैं धन्य हूँ इस अखण्ड आत्म विश्वास के साथ।

कर्म यज्ञ से जीवन के, सपनों का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन में मानस को आशा का कुसुम खिलेगा।

वैष्णव धर्म के रक्षक !

आपकी अमृत-वाणी से वैष्णवता की अमरता स्पष्ट लक्षित है। संस्कृति के अक्षयवट को मृदुल छाँह में आत्मा अंगड़ाई ले रही है। सनातन धर्म को आपसे विशेष बल मिला है।

धरती को आह्लाद दिया, अम्बर को सौरभ
अग्नि वरुण पवमान, सोम के वरदानों से
मानव का यह जीवन सुख का गीत बन गया।

भक्तों के आलम्बन !

भगवन् योगीन्द्र हैं, पद्मपत्रमिवाम्भसा' स्थित प्रज्ञ, किन्तु हम साधारण जीव माया की कुहेलिका में फँसे हुए हैं तथा भूमा के सुख

सौरभ की टकटकी लगाये हुए हैं। आशा है आप मुझे भव सागर से संतरण करा देगें।

सब जगह मैंने भटक कर ली शरण प्रभु आपकी
पार करना या न करना दोनो मर्जी आपकी।
नमः नमः गुरुदेव जी त्रिदण्डी महाराज
नत मस्तक वन्दन करु धन्य हुआ मैं आज।

श्रीचरणाश्रित—
शिवबचन सिंह
बी० ए० आनर्स, एम० ए० (हिन्दी) शिक्षक
श्री अम्बिका उच्च विद्यालय, आमी
ग्राम+पो० आमी, दिघवारा (सारण)

॥ ४० ॥

मर्यादा पुरषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र के प्रति गोस्वामी तुलसीदास जी की एक सूक्ति है—"एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन क ॥" कौन नहीं जानता कि जिसका कोई सहारा नहीं होता उसके एकमात्र सहारा श्रीमान् होते हैं।

बीसवीं शताब्दी के ऐतिहासिक महापुरुष !

जब बीसवीं शताब्दी के भारत का इतिहास लिखा जायगा तब उसके धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक अध्यायों में इतिहासकार श्रीमान् का नाम स्वर्णाक्षरों में रेखाङ्कित करेंगे। यही कारण है कि आपके सहस्रों भक्तों के कंठों से अनायास ही यह पद निकल पड़ता है—"है विष्वक्सेन वह नाम जिसे इतिहास समादर देता है; बढ़कर जिसके पद-चिह्नों को उर पर अंकित कर लेता है ॥"

श्रेष्ठत मानवतावादी परमहंस !

श्रीमान् मानव जाति की चेतना को संकीर्ण एवं क्षुद्र चिंतन से मुक्त करा कर उसे उदान्त बनाने वाले एक महान कर्म-योगी हैं। यह आपके

लिए केवल दर्शन या सिद्धान्त मात्र ही नहीं है, वरन् यह आपके अलौकिक व्यक्तित्व का अविभाज्य एवं स्वाभाविक अंग है।

आपकी निर्हेतुक दया का भिखारी—

जंगबहादुर पाण्डेय

एम० ए० (अँग्रेजी) डिप-इन-एड

अवकाश प्राप्त शिक्षक,

जिला स्कूल आरा, भोजपुर

॥ ४१ ॥

गुरुवर आपसे ज्ञान-प्रकाश और परमात्मा की ऊर्जा की ऐसी किरणें निकलती हैं जिसके समक्ष जाते ही अज्ञान का अंधकार दूर हो जाता है। आप विकास की उस स्थिति पर पहुँचे हैं जिसे गीता में 'स्थित प्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है। आप राग-द्वेष की समस्त स्थितियों से उपर उठे हुए हैं। आप पूर्ण विकसित मानवता का वह अंश हैं जहाँ पहुँचकर देवत्व मानवत्व के रूप में दृष्टिगोचर है। आप मनुष्य के रूप में अपने पूर्ण अंश के साथ अवतरित हैं। आप में परमात्मा के चिन्मय अंश का पूण विकसित रूप है, जिसमें अज्ञान और अंधकार का अंश नहीं है।

आपका व्यक्तित्व एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसमें कोई अभाव नहीं है। अपनी शीतल स्निग्ध किरणों से विश्व की अंधकारमयी रात्रि में ज्ञान और प्रकाश की किरणें बिखेरते हैं। आप ऐसे सद्‌गुरु हैं जो संसार के माया-मगर से बचाते हैं, वासना विकार को मिटाते हैं और संसार सागर को पार कराते हैं।

श्रीमान् ने जीवन काल के बहुमूल्य समय के एक-एक क्षण का उपयोग कर देश के कोने-कोने में घूम-घूम कर भारतीय संस्कृति की विशेषता, हिन्दुत्व की रक्षा, धर्म की महत्ता, गीता का उपदेश देते हुए ज्ञान की राशि बिखरने का भार अपने कंधे पर लिया है।

धर्म में तत्परता, वाणी में मधुरता, दान में उत्साह, गुरुजनों के

प्रति नम्रता, चित्त में गम्भीरता, आचार में पवित्रता, गुण ग्रहण में रसिकता, शास्त्र में विद्वता, रूप में सुन्दरता एवं हरिभजन में लगन आदि गुणों से युक्त आप महान् आत्मा हैं।

प्रो० त्रिपुरारि सहाय
विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र
जे० एस० कालेज,
डालटेनगंज, पलामू
राँची विश्वविद्यालय, राँची।

॥ ४२ ॥

दुनो कर जोरी करीं विनतिया, नइखे सूझत हमरो रहतिया।
ए स्वामीजी सुमतिया बताईंना, ज्ञान-दीप बतिया जलाईंना। टेक····
कर में कमण्डल, त्रिदण्ड विराजै,
चरण कमल युग पादुका राजै।
गेरुआ रंग में रंगल धोतिया, चम-चम चमके जइसे मोतिया
ए स्वामी जी जोतिया जगाईं ना, ज्ञान दीप बतिया जलाईं ना। टेक····
जगत प्रकाशन स्वामी जी पाप के विनाशन,
फुस के मड़ईया स्वामी जी कुसवा के आसन।
पूर्णिमा के चाँद जइसन सुरतिया, नजरी में बसल मुरतिया,
ए स्वामी जी विपतिया हटाईं ना ज्ञान-दीप बतिया जलाईं ना। टेक····
माया-मोह भँवरवा में पड़ल हमरी नइया,
दोसर केहू नइखे एकरो खेवइया।
"बच्चा पतित' के हरीं कुमतिया, दे दीं हरि चरणन को भगतिया,
ए स्वामी जी अफतिया हटाईं ना ज्ञान दीप बतिया जलाईं ना। टेक····

समर्पक:—
बच्चा सिंह
ग्राम झौंवा (भोजपुर)

॥ ४३ ॥

चल भइया चल भइया हमनि के मिलि जुलि,
सलेमपुर में स्वामी जी के करे दरशनवाँ।
जनम जनमवाँ के पुण्य जब जमा होला,
तब अईसन संत के मिलेला दरशनवाँ॥
भाले उर्ध्व पुण्ड्र अरु मध्य में श्री चूर्ण शोभे,
गात्र में काषाय वस्त्र शोभे नित दिनवा। टेक चल भईया......
स्वामी जी के दारुपात्र औरु त्रिदण्ड देखि,
कलि के कलुष सब भागे दूर देशवा।
हरे राम हरे कृष्ण कीर्त्तन प्रारम्भ करिके,
प्रति दिन स्वामी जी के होला प्रवचनवाँ।
प्रवचन सुन कर शंका सब दूर होला,
मिटेला अज्ञान के अनेक भ्रम जालवा। टेक, चल भईया......
गंगा जी के तट पर विप्र के प्रसिद्ध गाँव,
सलेमपुर नाम जासे जानत जहानवाँ।
स्वामी जी के चरण कमल पधारला से,
तीरथ प्रयागराज भइले एहि ठामवाँ।
अबले सलेमपुर के कुस्ती में सलामी मिलल,
अब ज्ञान यज्ञ के इहोगइले अखड़वा। टेक, चल भईया......
नाम भूप नारायण दास, ग्राम-पो०-रामाषाढ़
हर माह स्वामी जी से चाहीं दर्शनवाँ।

स्वामीचरण चंचरीक,

भूप नारायण यादव

ग्राम रामाषाढ़, सन्देश (भोजपुर)

॥ ४४ ॥

الفاضل/مهرارجي'

ارجو لرأك' انني يقيم الان في السلطنة عمان

رعاك من قبل ولم يستطيع لى لتفصيل

سروري لما رأيتك ارجو الان لرأيتك في

سرعة' وذالك كانت مهتة في حياتى

عيسى خدابخش

ص'ب : ١١٠

مسقط، سلطنة عمان

س'ت رقم : ٩٣٨٠

विद्वान् महाराजजी।

मैं आपके दर्शन की आशा रखता हूँ। सल्तनते ओमान में मैं हूँ। जब आपसे मुलाकात होगी तो वह हमारे जीवन का सबसे कीमती लम्हा यानी क्षण होगा।

इसा खुदाबख्श

॥ ४५ ॥

जय आम्र-तरु-तर-तप-निरत-शत-तपन-सम यतिराज की।
भगवदनन्त-पदाब्ज-मधुकन-लिप्त मधुकरराज की।
शशि-गर्वहर नखकान्ति की, पद-रेणु-अमृतराज की
भक्तों के तरुवर-कल्प की, जय जयति जय मुनिराज की ॥१॥

पद-कञ्ज-महामणि की महिमा केहि आनन नाथ ! कहौं हम गाई।
अणिमा लघिमा सब सिद्धि जहाँ नित नाचत आपन भाग मनाइ।
उर लागत में त्रय-ताप मिटे, सिर धारत ही यमराज लजाइ।
पद-कञ्ज-मधु-रस-लोलुप को शत इन्द्रपुरी भी न नाथ ! लुभाई ॥२॥

पद-युगल खिलल जनु कमल सुघर छवि निरखत आजु लौं तृप्ति न पाई।
मन-भँवर कहाँ विश्राम लहै, पद-पदुम-पराग हे नाथ ! विहाई॥
हे दानी-शिरोमणि याचत हौं, पद-कञ्ज-मधु करि आस दृढ़ाई।
ममतामयी मातु-साप्यार मिले, पद-धूलि मिले, जन जाय अघाई ॥३॥

हार्दं तमः विनश्यति यत्प्रसादात्,
सद्यः विकासमेति सुभक्तिपद्मम्।
उद्यद्दिनेशकान्तिसुतुल्यरागम्,
रूपं प्रभो ! तवास्तु सदेप्सितं मे॥

श्रीचरणाश्रित :—

प्रो० सुदाम्मा सिंह, एम. ए. पी. एच. डी.,
यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रम एवं समाज कल्याण विभाग
मगध विश्वविद्यालय-बोधगया।

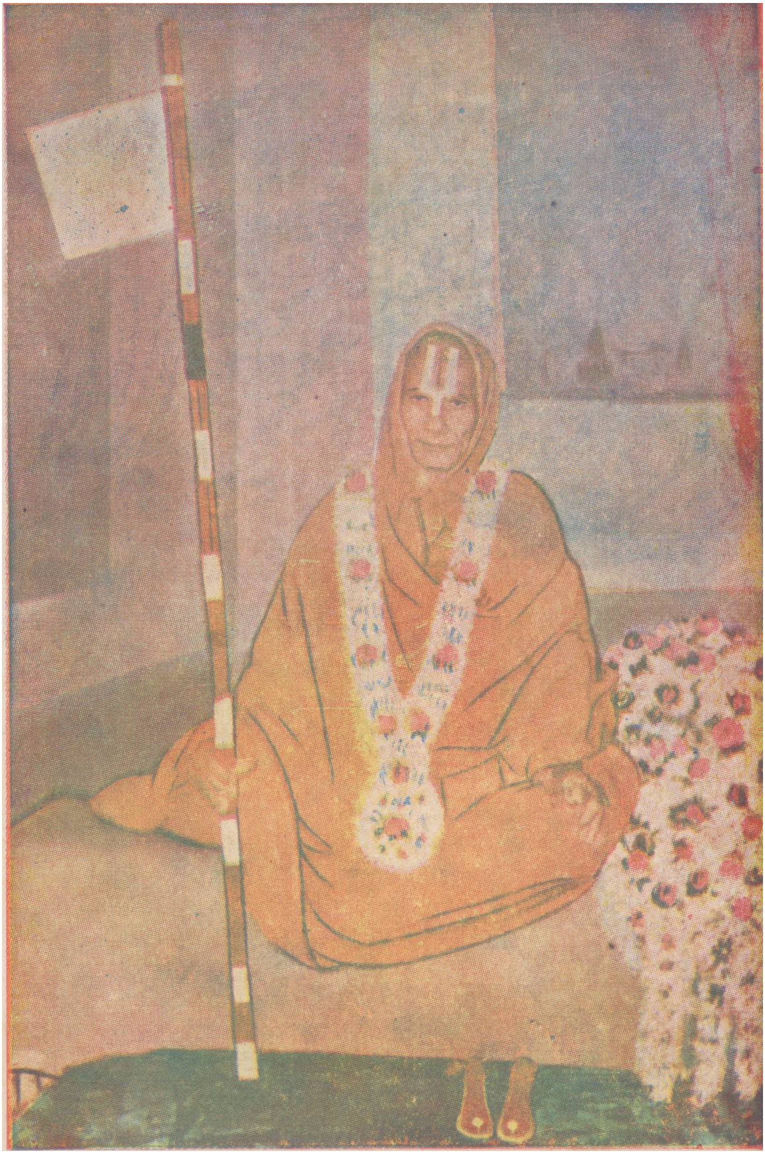

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्टापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-सत्संप्रदायाचार्य श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ट
जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य
श्रीत्रिदंडीस्वामी जी महाराज ।

ओं यतीन्द्रप्रवणाय नमः

सामवेदीया

छान्दोग्योपनिषद्

।। अथ प्रथमप्रपाठकः ।।

।। अथ प्रथमखण्डः ।।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।
ओमिति ह्युद्गायति । तस्योपव्याख्यानम् ।।१।।

गूढार्थदीपिका व्याख्या

।। मङ्गलाचरणम् ।।

मकरेऽर्के गुरौ दर्शे तीर्थे चैत्ररथे वने ।
सिद्धाश्रमे स्वयं जातं लक्ष्मीनारायणं भजे ।।१।।
छान्दोग्योपनिषद्व्याख्या श्रीभाष्याद्यनुसारिणी ।
गूढार्थदीपिकाभाषा क्रियते शिष्ययाञ्चया ।।२।।

अन्वयार्थ—(उद्गीथम्) उद्गीथभक्तिके अवयवभूत (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार के (एतत्) इस (अक्षरम्) विनाश रहित अक्षर को (उपासीत) उपासना करनी चाहिये (हि) क्योंकि यज्ञ में (ओम्) ओम् (इति) इस अक्षर को आरम्भ करके ही (उद्गायति) उद्गाता उद्गीथ-सामको उच्चस्वर से गान करता है (तस्य) उस ओम् अक्षर की

(उपव्याख्यानम्) निकटतम महिमा का विशेष रूप से व्याख्यान किया जाता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—सामवेद की तलवकार शाखा के अन्तर्गत "छान्दोग्य-ब्राह्मण" है। छान्दोग्यब्राह्मण भाग में कुल दस प्रपाठक हैं। उनमें से पहले और दूसरे प्रपाठकों को छोड़कर शेष आठ प्रपाठकों का नाम "छान्दोग्योपनिषद्" है। इस उपनिषद् में मुमुक्षु अधिकारियों के लिए पहले ब्रह्मविद्यौपयिक कर्माङ्ग विषयक प्रणव की उपासना प्रतिपादित की गई है कि—उद्गीथ सामोपासना के अवयवभूत ओम् इस अक्षर की उपासना करनी चाहिये। उद्गीथ के विषय में माता पिता से भी अधिक कल्याण चाहने वाली श्रुति ही साक्षात् आदेश देती है –

यः प्रणवः स उद्गीथः ॥(छान्दोग्यो० प्रपाठ० १ खं० ५ श्रु० १)

जो प्रणव है वही उद्गीथ है ॥१॥ क्योंकि यह अन्यत्र भी लिखा है—

अवयवः समुदायान्नातिरिच्यते ॥

अवयव समुदाय से अतिरिक्त नहीं होता है। इस न्याय से उद्गीथ का अवयवभूत प्रणव उद्गीथ है। उद्गाता ऋत्विज ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञ में सर्वप्रथम ओम् इस अक्षर को ही उच्चारण करके उद्गाथसाम का उच्च स्वर से गान करता है। क्योंकि लिखा है –

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (गी०अ० १७ श्लो० २४)

इसलिये वेदवादियों को शास्त्रोक्त यज्ञ,दान और तप की क्रियाएँ सदाओम् ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं ॥ २४ ॥ उस ओंकार की व्याख्या विशेष रूप से प्रारम्भ की जाती है। उस प्रणव के विषय में अन्यत्र भी लिखा है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति यइत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋग्वे० मण्डल० १ सूक्त० १६४ मं० ३९ ॥ श्वेताश्वतरो०अ० ४श्रु० ८)
जिस प्रणव में समस्तदेवगण भलीभाँति स्थित हैं उस परम व्योम प्रणव अक्षर में सम्पूर्ण वेद स्थित हैं। जो मनुष्य उस प्रणव को नहीं जानता है वह वेदों के द्वारा क्या सिद्ध करेगा ? परन्तु जो उस प्रणव को जानते हैं वे तो सम्यक् प्रकार से स्थित रहते हैं ॥ ३९ ॥ ८ ॥ इस श्रुति पर यास्काचार्य ने स्पष्ट लिखा है—

इति विदुष उपदिशति—कतमत्तदेतदक्षरमोमित्येषा वागिति-शाकपूणि "ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मंत्रेष्वेतद्धवा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रती" तिचब्राह्मणम् ॥

(निरुक्त अध्या० १३ पाद १ खं० १०)

जिस परम व्योम संज्ञक अक्षर में देवादि स्थित हैं वह अक्षर कौन है ? ओम् यह वाक् परम उत्कृष्ट सबकी रक्षा करनेवाला जो प्रणव है उसमें हीं सम्पूर्ण ऋग्वेदादि मंत्र अध्ययन किये जाते हैं और जो अनेक देवता हैं वे सब मंत्रों में स्थित हैं तथा मंत्रों में कारण होने से यह अक्षर व्याप्त है, क्योंकि सर्ववेदत्रयी विद्या के प्रति यह अक्षर व्याप्त है, ऐसा ब्राह्मण भी प्रतिपादन करता है। यह शाकपूणि नामक निरुक्तकार का मत है ॥१०॥

ओं खं ब्रह्म ॥ (शुक्लयजु० अध्या० ४० मं १८)
ओम् खं ब्रह्म पदवाच्य नारायण हैं ॥ १८ ॥

ओं क्रतो स्मर ॥ (ईशोप० श्रु० १७)

हे परब्रह्म नारायण हे ज्योतिष्टोमादिक्रतुस्वरूप भगवन् मुझ अकिंचन भक्त को आप स्मरण करें ॥ १७ ॥

सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यंचरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतदिति,॥
(कठोप० अ० १ व० २ श्रु १५)

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

समस्त वेद जिस प्राप्यस्वरूपपद को साक्षात् या परम्परा से बारंबार प्रतिपादन करते हैं और समस्त तपस्यायें जिस प्राप्यस्वरूप को कहती हैं तथा जिस प्राप्यस्वरूप की इच्छा करते हुए गुरुकुलवास स्त्रीसंगराहित्यादि ब्रह्मचर्य को पालन करते हैं उस प्राप्यस्वरूप पद को तेरे लिये संक्षेप से कहता हूँ । ओम् यह ब्रह्म का निर्देश है । इस प्रकार यह प्राप्यस्वरूप का वर्णन यहाँ पर समाप्त होता है ॥ १५ ॥

निश्चय करके यह ओम् ही अक्षर ब्रह्म प्राप्ति के साधन होने से ब्रह्म है। निश्चय करके यह प्रणव ही अक्षर सबवेदों में श्रेष्ठ है । निश्चय करके इस ओम् अक्षर की उपासना करके जो पुरुष जिस वस्तु की इच्छा करता है निश्चय करके उस उपासक को वही मिल जाता है ॥ १६ ॥

यह प्रणवरूप आलम्बन ब्रह्मोपासना के लिए सबसे श्रेष्ठ है । यह प्रणव-रूप आलम्बन सर्वोत्कृष्ट है, इस ओम् आलम्बन को आचार्य से भलीभाँति जानकर परब्रह्म के लोक में उपासक पूजित होता है ॥ १७ ॥

तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारः ।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ (प्रश्नो० प्र० ५ श्रु० २)
स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभि-

संपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते। सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते देवलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परमपुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। एतस्माज्जीवघ-नात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥ ५ ॥

उस प्रसिद्ध पिप्पलादमहर्षि ने उस सत्यकाम ऋषि के लिए कहा, हे सत्यकाम जो ओङ्कार है, यह निश्चय करके कारण और कार्यब्रह्म है। उस कारण से उपासक पुरुष इस प्रणवरूप मार्ग के अवलम्ब से ही कारण या कार्य किसी एक ब्रह्म की उपासना करता है और अपनी उपासना के अनुसार फल को पाता है ॥ २ ॥ जो उपासक एकमात्रा वाले अपरब्रह्म वाचक ह्रस्वप्रणव से अक्षर ब्रह्म की उपासना करता है, वह उपासक मरने के बाद उस एकमात्रा वाले अपरब्रह्मवाचक ह्रस्वप्रणव की उपासना से ही अपनी सत्ता को प्राप्त हुआ शीघ्र ही पृथ्वी में अत्यन्त श्रेष्ठ भारतवर्ष में उत्पन्न होता है। उस उपासक को ऋग्वेद की ऋचाएँ मनुष्य शरीर को प्राप्त करा देती हैं और वह उपासक उस मनुष्य शरीर में तपस्या ब्रह्मचर्य और आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धा से सम्पन्न हो जाता है। तदनन्तर वह पुरुष ऐहिक ऐश्वर्य कार्य का उपभोग करता हुआ कल्याण साधक परब्रह्म नारायण की उपासना का अनुष्ठान करता है ॥ ३ ॥ और जो उपासक दो मात्रा वाले अपरब्रह्मवाचक दीर्घप्रणव से मन में अपरब्रह्म की उपासना करता है, वह द्विमात्रोपासक मरने के बाद अन्तरिक्षलोक में स्थित चन्द्रदेव के लोक को यजुर्वेद के मंत्रों से ऊपर की ओर पहुँचाया

जाता है और वहाँ पर नाना प्रकार के आमुष्मिक ऐश्वर्य को भोग कर अपनी उपासना के पुण्य का क्षय हो जाने पर पुनः मृत्युलोक में ही आ जाता है ॥ ४ ॥ फिर जो कोई उपासक तीनमात्रावाले परब्रह्मवाचक प्लुत ओ३म् इस अक्षर के द्वारा परब्रह्म नारायण की उपासना करता है, वह उपासक मरने के बाद तेजोमण्डल सूर्यलोक में पहुँच जाता है। जैसे सर्प केंचुली से छूटता है वैसे ही वह उपासक सब पापों से मुक्त हो जाता है। इसके बाद उस उपासक को सामवेद के मंत्र भगवल्लोक वैकुण्ठ में सर्वोपरि पहुँचा देते हैं। वहाँ पर वह उपासक जीवसमुदायरूप चेतन तत्त्व से अत्यन्त श्रेष्ठ सबके शरीर में सोनेवाले सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण को देख लेता है ॥ ५ ॥

प्रणवोधनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥(मुण्डको० मु०२खं०२श्रु०४)
ओमित्येवं ध्यायथात्मानं स्वस्ति वः ॥ ६ ॥

प्रणव धनुष है और जीवात्मा वाण है, वह परब्रह्म नारायण लक्ष्य कहा जाता है। विषयान्तरविमुख एकाग्रचित करके वेधना चाहिये अर्थात् परब्रह्मैकशेषत्वेन ध्यान करना चाहिये जैसे लक्ष्य में निमग्न वाण लक्ष्य की अपेक्षा से भेदक आकार की स्फुरणा से रहित होता है वैसे ही परमात्मा में प्रणव से समर्पित प्रत्यगात्मा के परब्रह्म की समता लक्षणा मुक्ति को प्राप्त किया हुआ ज्ञानैकाकार जीवात्मा के देव मनुष्या दिलक्षण भेदक आकार की स्फुरणा से रहित हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥ ओम् इस नाम के द्वारा परब्रह्म नारायण का ध्यान करो, इस प्रकार के ध्यान के लिये प्रवृत्त तुमलोगों के लिये कल्याण हो ॥ ६ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥

(माण्डूक्यो० खं० १ श्रु० १ नृसिंहपूर्वतापिन्युप० उपनि० ४ श्रु० २)
नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० १ रामोत्तरतापिन्युप० श्रु० १ ॥)

ओम् इस प्रकार का जो यह विनाश रहित सत्य है ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप सब जगत् उस परब्रह्म नारायण की निकटतम महिमा का विशेष रूप से लक्ष्य कराने वाला है। अतीतकाल में विद्यमान तथा वर्तमान काल में निरन्तर रहनेवाला और आगामी काल में भी एक प्रकार से सर्वदा रहने वाला परमात्मा है। इस कारण से सब चिदचिदात्मक प्रपंच ओम् परब्रह्म नारायण से प्रतिपादित किया जाता है, इससे सब संसार ब्रह्मात्मक ही है और जो तीनों कालों से परे दूसरा कालत्रयकृत विकार रहित रूप है वह भी ओम् इससे उच्यमान विनाशरहित परब्रह्म नारायण निश्चय करके है ॥ १ ॥ २ ॥ १ ॥

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा। अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति॥

(तैत्तिरीयोप० व० १ अनुवा० ८ श्रु० १)

ओम् यह परब्रह्म नारायण का बड़ा नाम है। ओम् यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला समस्त जगत् है। ओम् यह अनुकरण सम्मतिसूचक संकेत है ऐसा प्रसिद्ध है। हे आचार्य मुझे सुनाइये इस प्रकार कहने पर ओम् ऐसा कहकर याज्ञिक लोग प्रतिश्रवण कराते हैं। ओम् ऐसा कहकर सामगायक विद्वान सामवेद का गान करते हैं। ओम् शोम् ऐसा कहकर शस्त्र शंसन करने वाले विद्वान शस्त्रों को यानी गायन रहित ऋचाओं को पढ़ते है। ओम् ऐसा कहकर यज्ञ का यजुर्वेदी ऋत्विक् प्रतिगर मंत्र को हर एक कथन के साथ बोलता है। ओम् ऐसा कहकर यज्ञ का ब्रह्मा अनुमति देता है। ओम् ऐसा कहकर अग्निहोत्र को करने के लिये आज्ञा देता है। अध्ययन करने के लिये उद्यत ब्राह्मण पहले ओम्

ऐसा उच्चारण करता है कि परब्रह्म नारायण को मैं प्राप्त करूँ ॥१॥

तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ (श्वे० उ० अ० १ श्रु० १३)
निश्चय करके देह में प्रणव द्वारा जीव और ब्रह्म इन दोनों को उपासना से भक्त जानता है ॥ १३ ॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डितः ॥(कैवल्यो०खं० १ श्रु०११)
पण्डित जन अपनी आत्मा को अरणि और प्रणव को उत्तरारणि करके ज्ञानरूप मन्थन के अभ्यास से माया के फाँस को जलाता है ॥११ ॥

ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत् ॥(आरुणिको० श्रु० ५)
निश्चय करके परब्रह्म नारायण के निकट प्राप्त कराने वाले ओम् इस अक्षर को विन्यास करे ॥ ५ ॥

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामति तस्मादुच्यते ओङ्कारः ।
अथ कस्मादुच्यते प्रणवः—यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः ॥ (अथर्वशिर उप० श्रु० ४)

ओङ्कार क्यों कहा जाता है जिसके उच्चारण करने से प्राणादिक ऊपर को जाते हैं इससे ओङ्कार कहा जाता है ? और प्रणव क्यों कहा जाता है ? जिसके उच्चारण करने से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ब्रह्मवेत्ताओं के लिये प्रणाम कराता है और नम्र कराता है, इससे प्रणव कहा जाता है ॥ ४ ॥

ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तम् ॥ (अथर्वशिखो० श्रु० १)
प्राणान्सर्वान्परमात्मनि प्रणानयतीत्येतस्मात्प्रणवः ॥ १ ॥
ओम् यह अक्षर सृष्टि के आदि में प्रयुक्त हुआ ॥ १ ॥ सब प्राणों को परमात्मा में लगाता है इससे ओम् प्रणव कहा जाता है ॥ १ ॥

तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्रमिति ॥(मैत्रायण्यु० प्रपा० ५ श्रु०४)
इससे प्रणव द्वारा सर्वदा परब्रह्म नारायण की उपासना करे ॥ ४ ॥

ओङ्कारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः ।। ध्यानविन्दूप० श्रु० १४।
ओङ्कारप्रभवा देवा ओङ्कारप्रभवाः स्वराः ।
ओङ्कारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।१६।

जो ओङ्कार को नहीं जानता है वह परब्रह्म का दास नहीं होता है ।। १४ ।। ओङ्कार से सब देवता उत्पन्न होते हैं तथा ओङ्कार से सब स्वर उत्पन्न होते हैं और ओङ्कार से चर, अचर के साथ समस्त तीनों लोक उत्पन्न होते हैं ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः ।। (ब्रह्मविद्योप० श्रु० २)
जो ब्रह्मवादियों से कहा गया है वह ओम् यह व्यापक प्रधान अक्षर है ।

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ।। (योगतत्वो० श्रु० ६३)
सर्वविघ्नहरो मंत्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।। ६४ ।।
इसके बाद एकान्त में बैठकर पूर्वजन्मार्जित पापों के नाश करने के लिये प्लुत मात्रा करके प्रणव को जपे ।। ६३ ।। सब विघ्न को और सब दोषों को नाश करने वाला प्रणव है ।। ६४ ।।

ओं प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम् ।। (आत्मप्रबोधो० श्रु० १)
ओम् प्रत्यक् आनन्द है तथा ब्रह्मपुरुष ओङ्कार स्वरूप है ।। १ ।।

भूतं भवद्भविष्यद्यत्त्रिकालोदितमव्ययम् । तदप्योङ्कारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ।। (नारदपरिव्रा० उपदेश ८ श्रु० ३)
भूत, भविष्य, वर्तमान यह जो कुछ त्रिकालोदित विकार रहित है वह भी ओङ्कार ही है इस प्रणव को मोक्ष देने वाला तुम जानो ।। ३ ।।

ओमित्यात्मानं युञ्जीत ।। (नारायणोप० श्रु० ७९)
प्रणव से अपनी आत्मा को समर्पण करे ।। ७९ ।।

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ।
प्रणवात्प्रभवोरुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ।। (योगचूडामण्यु० श्रु० ७७)
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। ८८ ।।
प्रणव से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, प्रणव से इन्द्र उत्पन्न होते हैं, प्रणव से रुद्र

उत्पन्न होते हैं, निश्चय करके प्रणव सब से श्रेष्ठ है ।। ७७ ।। जो पवित्र या अपवित्र सब समय में ओङ्कार को जपता है वह जैसे जल से कमल पत्र नहीं लिप्त होता है वैसे ही पाप से लिप्त नहीं होता है ।। ८८ ।।

प्रणवात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्म ।। (त्रिपाद्विभू० उ० श्रु० १)
प्रणवात्मक से कहा हुआ परब्रह्म नारायण है ।। १ ।।

त्रयः कालास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो वेदाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।।

(योगशिखो० अ० ६ श्रु० ५७)

तीन काल, तीन देवता, तीन लोक, तीन स्वर, तीन वेद जहाँ पर स्थित हैं वह ज्योति ओम् यह है ।। ५७ ।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ।। (सूर्योप० श्रु० १) ओम् यह एकाक्षरब्रह्म है ।।१।।

ओङ्कारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ।। (अक्ष्युप० श्रु० ४३)

विश्व, प्राज्ञ आदिक लक्षण सम्पूर्ण ओङ्कार मात्र है ।। ४३ ।।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यद्यच्चान्यत्तत्त्वमंत्रवर्णदेवताछन्दोऋक्कलाशक्तिसृष्ट्यात्मकमिति ।।

(तारसारो० पाद० २ श्रु० ५)

ओम् यह अक्षर यह सब संसार है उसी अक्षर के समीप में व्याख्या किया जाता है, भूत, भविष्य, वर्तमान और अन्य जो तत्व, मंत्र, वर्ण, देवता, छन्द, ऋचा, कला, शक्ति, सृष्ट्यात्मक हैं, सो ओङ्कार ही है ।। ५ ।।

अक्षरोऽहमोङ्कारोऽयम् ।। (गोपालोत्तरता० श्रु० ६)

यह ओङ्कार अक्षर मैं हूँ ।। ६ ।।

ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत् ।
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ।। (शाट्यायनीयो० श्रु० १६)

जो सावधान होकर प्रणवमंत्र द्वारा अपनी आत्मा को ब्रह्माग्नि में हवन करता है तो सब यज्ञों से उत्तमोत्तम वह ज्ञान यज्ञ है ऐसा जानना चाहिये ।१६।।

प्रणवः सर्ववेदेषु ।। (गी० अ० ७ श्लो० ८ ।। सब वेदों में मैं प्रणव हूँ ।। ८ ।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यःप्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गी० ८.१३)

ओम् इस अक्षर को उच्चारण करता हुआ और मुझ परब्रह्मको स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है वह परमगति को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

वेद्यं पवित्रमोङ्कारः ॥ (गी० ९। १७)

जानने योग्य पवित्र ओङ्कार मैं हूँ ॥ १७ ॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यते ॥ (मनु० अ० २ श्लो० ७४)

सर्वदा वेदाध्ययन के प्रारम्भ में और समाप्ति में प्रणव को उच्चारण करे । जिस वेदाध्ययन के प्रारम्भ में प्रणवोच्चारण नहीं किया जाता है वह शनैः शनैः नष्ट हो जाता है और जिस वेदाध्ययन की समाप्ति में प्रणवोच्चारण नहीं किया जाता है वह अवस्थिति को नहीं प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ (योगशा० अ० १ पा० १ सू० २७

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

उस परमात्मा का वाचक प्रणव है ॥ २७ ॥ प्रणव का जप करना चाहिये और प्रणव का अर्थानुसन्धान करना चाहिये ॥ २८ ॥

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं निर्भिद्य निर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥ नारदपुरा० ॥

ओङ्कार और अथ शब्द ये दोनों सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के कण्ठ को भेदन करके निकले हैं, इससे ये दोनों शब्द माङ्गलिक हैं ॥ इस प्रकार संक्षेप से प्रणव का वैभव प्रतिपादन किया गया है । "छान्दोग्योपनिषद्" की पहली श्रुति "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक चतुर्थ खण्ड के आदि में भी है । श्रीशेषावतार भगवद्रामानुजाचार्य ने- **न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ७) **तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्** (शारीरक मी० अ० ३ पा० ३ सू० ४१) **अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्**

शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ५३) **अङ्गेषु यथाश्रयाभावः** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ५६) इन चारों सूत्रों के श्री भाष्य में "छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की पहली श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है। श्रीवरदाम्बुप्रदायक भगवद्रामानुजाचार्य ने **अङ्गेषु यथाश्रयभावः** शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ५६) **शिष्टेश्च** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ६०) **न वा तत्सहभावाश्रुतेः** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ६३) **असार्वत्रिकी** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १०) उपर्युक्त चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की पहली श्रुति के **"उद्गीथमुपासीत"** इस खण्ड को उद्धृत किया है। श्री देवराज कृपालब्धषड्वाक्यार्थमहोदधि भगवद्रामानुजाचार्य ने **सर्ववेदान्त-प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १) **भावशब्दाच्च** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २२) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की पहली श्रुति के "उपासीत" इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग्रसः। वाच ऋग्रसः। ऋचः साम रसः। साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(एषाम्) इन (भूतानाम्) स्थावर जङ्गम जीवों का (पृथिवी) पृथ्वी (रसः) परायण आधार है (पृथिव्याः) पृथ्वी का (आपः) जल (रसः) आधार अथवा कारण है (अपाम्) जल का (ओषधयः) अन्नादिक (रसः) परिणामरूप सार है (ओषधीनाम्) अन्नादिक ओषधियों का (पुरुषः) परिणाम रूप मनुष्य का शरीर (रसः) सार है (पुरुषस्य) मनुष्य के शरीर का (वाक्) अत्युपकारक वाणी (रसः) रस है (वाचः) वाणी के (ऋक्) गम्भीरार्थक ऋग्वेद (रसः) सार है (साम्नः)

सामवेद के (उद्गीथः) उद्गीथ के अवयव ओङ्कार (रसः) रस यानी सार है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—इस समस्त चराचर जीवों का पृथ्वी आधार है। क्योंकि लिखा है—

आधारः सर्वभूतानां त्वं देवि वसुधे स्मृता ।

(तैत्तिरीयारण्य० प्रपाठ० १० अनुवा० १ श्रु० ३६)

हे भूदेवि सब चराचर जीवों के तू आधार कही गई हो ॥ ३६ ॥ पृथ्वी का जल कारण है। क्योंकि लिखा है—

अद्भ्यः पृथिवी ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० १ श्रु० १)

जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई ॥ १ ॥ पृथ्वी और जल के विषय में लिखा है—

रूपरसगन्धस्पर्शवती ॥ (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० १)

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाली जो हो वही पृथ्वी है ॥ १ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्चपञ्चमः ।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥

(महाभार० वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लो० ५)

शब्द १, स्पर्श २, रूप ३, रस ४ और गन्ध ५ ये सब से श्रेष्ठ पाँच गुण पृथ्वी के हैं ॥ ५ ॥

रूपरसस्पर्शवत्यः द्रवाः स्निग्धाः ॥ (वैशे० अ० २ आ० १ सू०२)

शुक्लरूप तथा रस और शीतस्पर्शवाला और द्रव तथा स्निग्ध जो हो वही जल है ॥ २ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्चापि द्विजोत्तम ।
अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत ॥

(महाभार० वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लो० ६)

हे सुव्रत ब्राह्मण ! शब्द १, स्पर्श २, रूप ३ और रस ४ ये चार गुण जल के तुझ से मैंने कहा ॥ ६ ॥ जल का ओषधि यानी अन्नादि रस है। ओषधि के विषय में लिखा है—

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ (मनु० अ० १ श्लो० ४६)

जो बहुत फूल फल से युक्त हों और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे ही धान, यव आदि औषधि हैं ।। ४६ ।। अन्नादिक ओषधियों का परिणाम रूप मनुष्य का शरीर रस है । मनुष्य के शरीर का अत्युपकारक वाणी रस है । क्योंकि वाणी द्वारा ही वेद प्रबन्ध, स्तोत्र आदि का पाठ और हरिनाम संकीर्तनादि होते हैं । वाणी का गम्भीरार्थक ऋग्वेद सार है । ऋग्वेद के विषय में लिखा है—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।। (पूर्व मी० अ० २ पा० १ सू० ३५)

जिसमें अर्थ वश से पाद की व्यवस्था होती है उसको ऋग्वेद कहते हैं ।

एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः (सीतोप०)

इक्कीस शाखाओं में ऋग्वेद कहा गया है ।

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।।

(मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२) ऋग्य वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं ।। १२ ।।

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा ।। (कूर्मपु० अ० ४६ श्लो० ५१)

सृष्टि के आदि में इक्कीस शाखाओं के भेद से ऋग्वेद को किया है ।। ५१ ।।

एकविंशतिधा बह्वृच्यः ।। (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १)

इक्कीस शाखाएँ ऋग्वेद की हैं ।। १ ।। ऋग्वेद का गीति सार सामवेद रस है । सामवेद के विषय में लिखा है—

वेदानां सामवेदोऽस्मि ।। (भगवद्गी० १०।२२ ।।

चारों वेदो में श्रेष्ठ जो सामवेद है, वह मैं हूँ ।। २२ ।।

गीतिषु सामाख्या ।। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६)

गान में सामवेद नाम होता है ।। ३६ ।।

साम्नः सहस्रशाखाः स्युः ।। (सीतोप०) सामवेद की हजार शाखाएँ हैं ।

सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ।। (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १३)

हे शत्रुतापन सामवेद से सहस्र शाखाएँ निकली हैं ।। १३ ।।

सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः ।। (कूर्मपु० अ० ४६ श्लो० ५१)

शाखाओं के भेद से सहस्र शाखावाला सामवेद को किया ।। ५१ ।।

सहस्रवर्त्मा सामवेदः ।। (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १)

एक हजार शाखाएँ सामवेद की हैं ॥ १ ॥ सामवेद के उद्गीथ का अवयव ओङ्कार रस है । ओङ्कार के विषय में लिखा है—

प्रणवः सर्ववेदेषु ॥ (भगवद्गी० ७।८) ॥ सब वेदों में मैं प्रणव हूँ ॥ ८ ॥

वेद्यं पवित्रमोङ्कारः ॥ (गी० ६।१७)
जानने योग्य पवित्र ओङ्कार मैं हूँ ॥ १७ ॥ प्रकृत छान्दोग्य की श्रुति में प्रणव को रसतमत्व प्रतिपादन किया गया है ॥ २ ॥

स एष रसानां रसतमः परमः ।
परार्ध्यो ऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (एषः) यह ओङ्कार (रसानाम्) पृथ्वी आदि उत्तरोत्तर संपूर्ण रसों में (रसतमः) अतिशय उत्कृष्ट रस है । अतः (परमः) सर्वश्रेष्ठ (परार्ध्यः) परब्रह्म नारायण के स्थान योग्य (अष्टमः) आठवाँ रस (यदुद्गीथः) जो उद्गीथ का अवयव ओङ्कार है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—चर, अचर जीवों का पृथ्वी रस है १ पृथ्वी का जल रस है २, जल का ओषधि रस है ३, ओषधि का पुरुष रस है ४, पुरुष का रस वाणी है ५, वाणी रस ऋचा का है ६, ऋचा का साम रस है ७, साम के उद्गीथ का अवयव प्रणव रस है ८, इनमें सबसे अन्तिम जो आठवाँ रस उद्गीथ का अवयव ओङ्कार है यह समस्त रसों में उत्कृष्ट रस है । अतः वह सर्व श्रेष्ठ एवं परब्रह्म नाराथण के स्थान के योग्य उपासना करने योग्य है । पर ब्रह्म के विषय में लिखा है—

रसो वै सः (तैत्तिरीयो० व० २ अनुवा० ७ श्रु० १)
वह सुकृत शब्द से निर्दिष्ट नारायण निश्चय ही आनन्द रस है ॥ १ ॥
श्रीरङ्गेश कैंकर्यरत भगवद्रामानुजाचार्य ने—

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् शारी०मी० अ०३पा० ४सू०२१)
के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की तृतीय श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ३ ॥

कतमा कतमर्क् । कतमत्कतमत्साम ।
कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(कतमा) कौन (कतमा) कौन (ऋक्) ऋचा है (कतमत्) कौन (कतमत्) कौन (साम) साम है (कतमः) कौन (कतमः) कौन (उद्गीथः) उद्गीथ के अवयव ओङ्कार है (इति) यह (विमृष्टम्) विचारित (भवति) होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की द्वितीय श्रुति में लिखा है कि "वाणी का रस ऋचा है, ऋचा का साम रस है, साम के उद्गीथ का अवयव ओङ्कार रस है" इस प्रस्तुत ऋक् साम उद्गीथ को जानने के लिये स्वतः करुणामयी श्रुति ॥ **परिप्रश्नेन** ॥ (भगवद्गी० ४।३४) जिज्ञासा से भली भाँति प्रश्न करने से ॥ ३४ ॥ ज्ञान प्राप्त होता है। इस नियमानुसार प्रश्न करती है कि—कौन कौन ऋचा है और कौन कौन साम है २, और कौन कौन उद्गीथ है ३, इस प्रकार के प्राचीन वेदपुरुषों ने विमर्श किया है। इस प्रकृत श्रुति में अत्यन्त आदर द्योतन करने के लिये "कतमा कतमा" इत्यादि पद दो-दो बार कहे गये हैं ॥ ४ ॥

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्च। ऋक् च साम च ॥५॥

अन्यवयार्थ—(वाक्) वाणी (एव) ही (ऋक्) ऋचा है (प्राणः) प्राण (साम) साम है (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार के (एतत्) यह (अक्षरम्) अक्षर ही (उद्गीथः) उद्गीथ है (तत्) वह (वै) प्रसिद्ध (एतत्) यह (मिथुनम्) जोड़ा है (यत्) जो (वाक्) वाणी (च) और (प्राणः) प्राण (च) भी है (च) और यही (ऋक्) ऋचा (च) और (साम) साम है ।५।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर साक्षात् श्रुति देती है कि - वाक् इन्द्रिय के उच्चारण साध्य होने से वाणी ही ऋचा है और सामगेन के प्राणनरुप श्वास साधारण साध्य होने से प्राण ही साम है और उद्गीथ भक्ति के अवयव होने से ओम् यह अक्षर ही उद्गीथ है। स्त्रीलिङ्ग शब्ज से "वाक्" स्त्री है और पुलिङ्ग शब्द-वाच्य होने से "प्राण" पुरुष है। इससे जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और साम हैं, यह एक ही जोड़ा है—दो नहीं ॥५॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते। यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह ऋचा और साम का (एतत्) यह (मिथुनम्) जोड़ा (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार के (एतस्मिन्) इस (अक्षरे) उद्गीथ के अवयवभूत अक्षर में (संसृज्यते) भलीभाँति संयुक्त किया जाता है (यदा) जब (वै) निश्चय करके (मिथुनौ) स्त्री और पुरुष दो मेल रखने वाले जोड़े (समागच्छतः) ग्राम्यधर्म के लिये आपस में प्रीति से मिलते हैं तब (वै) अवश्य ही (नौ) वे दोनों (अन्योन्यस्य) एक दूसरे की (कामम्) इच्छा को (आपयतः) पूरा करते हैं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—वाणी और प्राण का अथवा ऋचा और साम का यह जोड़ा ओम् इस अक्षर में भलीभाँति संयुक्त किया जाता है। जिस समय स्त्री और पुरुष आपस में प्रेमपूर्वक ग्राम्य धर्म के लिये मिलते हैं। उस समय वे अवश्य ही एक दूसरे की कामना पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार यह वाणी और प्राण का जोड़ा जब ओङ्कार में लगाया जाता है तब वह सदा के लिये पूर्णकाम कृतकृत्य हो जाता है। इस श्रुति में प्रणवोपासना के द्वारा समस्त कामाप्ति का प्रतिपादन किया गया है ॥ ६ ॥

आपयिता ह वै कामानां भवति।
य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥७॥

अन्वयार्थ - (यः) जो उपासक (एतत्) इस (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव (अक्षरम्) ओम् अक्षर को (एवम्) इस प्रकार कामाप्ति गुण वाला (विद्वान्) जानता हुआ (उपासते) उपासना करता है वह (ह) प्रसिद्ध (वै) निश्चय करके (कामानाम्) यजमान की कामनाओं का (आपयिता) प्राप्त कराने वाला (भवति) होता है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—जो उद्गाता ऋत्विक् इस उद्गीथ के अवयव ओंकार अक्षर को इस प्रकार कामाप्ति गुणवाला जानता हुआ उपासना करता है वह उपासक अवश्य ही यजमान की कामनाओं की प्राप्ति कराने में समर्थ

होता है। उच्चस्वर से गीत को ही "उद्गीथ" कहते हैं। उद्गाता सामवेदी ऋत्विक् अग्निष्टोम १, अत्यग्निष्टोम २, उक्थ ३, षोडशी ४, वाजपेय ५, अतिरात्र ६ और आप्तोर्याम ७ इस सात प्रकार के सोम यज्ञों में सामवेद के भाग उद्गीथ को ओम् से आरम्भ करके गाता है। इस प्रकृत श्रुति में यजमानगत कामाप्ति ही फल प्रतिपादन किया गया है ॥ ७ ॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरम्। यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाह। एषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा। समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥८॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय (तत्) वह (एतत्) यह (अक्षरम्) ओम् अक्षर (अनुज्ञा) अनुमति सूचक भी है (हि) क्योंकि (यत्) जो (किं—च) कुछ भी (अनुजानाति) मनुष्य अनुमति देता है (तदा) तब (ओम्) ओम् (इति) इस अक्षर को (एव) ही (आह) कहता है (यत्) जो (अनुज्ञा) अनुमति देना है (उ) निश्चय करके (एषा) यही (एव) अवश्य (समृद्धिः) समृद्धि परम ऐश्वर्य है (यः) जो उपासक (एतत्) इस प्रकार समृद्धिगुण विशिष्ट (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) उपासना करता है वह (ह) प्रसिद्ध (वै) निश्चय करके (कामानाम्) यजमान की कामनाओं के (समर्धयिता) भलीभाँति बढ़ानेवाला (भवति) होता है ॥ ८ ॥

विशेषार्थ—यह ओम् अक्षर अनुमतिसूचक भी है। क्योंकि मनुष्य जब किसी बात के लिये अनुमति देता है तब ओम् इस अक्षर का ही उच्चारण करता है। किसी को कुछ करने के लिये जो यह अनुज्ञा यानी अनुमति देता है वही समृद्धि परम ऐश्वर्य बड़पन का लक्षण है। अब समृद्धिगुण विशिष्ट ओंकार की उपासना का फल कहते हैं—जो उपासक इस उद्गीथ के अवयवभूत ओम् अक्षर को इस प्रकार समृद्धिगुण विशिष्ट जानता हुआ उपासना करता है वह अपनी और दूसरे यजमानादि की समस्त कामनाओं—भोग्यवस्तुओं को भलीभाँति बढ़ाने में समर्थ हो जाता है ॥ ८ ॥

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते। ओमित्याश्रावयति। ओमिति

शंसति । ओमित्युद्गायति । एतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥६॥

अन्वयार्थ—(तेन) उस उपास्य ओंकार से (इयम्) यह (त्रयी) तीन (विद्या) विद्या ऋक्, यजुः और साम अथवा तीनों वेदों में वर्णित यज्ञादि कर्म (वर्तते) प्रारम्भ होते हैं (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार कहकर (आश्रावयति) अध्वर्यु मंत्र सुनाता है (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार कह कर ही (उद्गायति) उद्गाता उद्गीथ का उच्च स्वर से गान करता है (रसेन) सारभूत कृपा से (महिम्ना) और महात्म्य से युक्त (एतस्य) इस (अक्षरस्य) ओम् अक्षर की (अपचित्यै) पूजा के लिये (एव) ही होती है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ ओंकार से ऋक्, यजु और साम ये तीनों वेद अथवा इन तीनों वेदों में वर्णित यज्ञादि कर्म प्रारम्भ होते हैं । क्योंकि लिखा है--

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (भगवद्गी०१७।२४)

इसलिये वेदवादियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ सदा ओम् ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं ॥ २४ ॥ त्रयी के विषय में लिखा है—

ऋग्यजुः सामरूपत्वात्त्रयीति परिकीर्तिता । लिङ्गादित्रितयं त्रयी ॥ (शीतोप०)

ऋक्, यजुः और सामात्मक होने से त्रयी कहा जाता है । देवत्वरूप वर्णन के मंत्र १, यज्ञ विधि निर्देश मंत्र २, तथा यज्ञ में गान के मंत्र ३ ये ही तीन प्रकार के मंत्र होने से वेदों को त्रयी कहते हैं । इस ओंकार रूप अक्षर की पूजा के लिये ही इसी की महिमा, प्रभाव एवं रस से ओम् इस प्रकार कहकर अध्वर्यु नामक ऋत्विक् "आश्रावण" करता है—मंत्र सुनाता है और ओम् यों कहकर ही होता नामक ऋत्विक् "शंसन" करता है—मंत्रों का पाठ करता है और ओम् यों कहकर ही उद्गाता नामक ऋत्विक् उद्गीथ का गान करता है । श्रीवेङ्कटाचलाधीशशंखचक्रप्रदायक भगवद्रामानुजाचार्य ने— **गुणसाधारण्यश्रुतेश्च** (शारी० मी० अ० ३)

पा० ३ सू० ६२) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की नवीं श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है ॥ ९ ॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। इति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥१० ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ— (च) और (यः) जो साधक (एतत्) इस अक्षर ओम् को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (च) और (यः) जो पुरुष (न) नहीं (वेद) जानता है (उभौ) दोनों (तेन) उस ओंकार से ही (कुरुतः) यज्ञादि कर्म करते हैं (तु) परन्तु (विद्या) विद्या (च) और (अविद्या) अविद्या (च) भी (नाना) भिन्न भिन्न विलक्षण फल वाली हैं (विद्यया) उपासना से (श्रद्धया) आस्तिक्य बुद्धि से (उपनिषदा) उपनिषज्जन्य ब्रह्मात्मक ज्ञान से (एव) निश्चय करके (यत्) जिस यज्ञादिकर्म को (करोति) करता है (तत्) वही कर्म (एव) निश्चय करके (वीर्यवत्तरम्) अधिक से अधिक सामर्थ्ययुक्त—बहुत फल देने वाला (भवति) होता है (इति) यही (खलु) निश्चय करके (एतस्य) इसी रसतमत्वादि गुणविशिष्ट (अक्षरस्य) ओम् अक्षर का (एव) ही उपव्याख्यानम्) निकटतम महिमा का विशेष रूप से व्याख्यान किया गया है ॥ १० ॥

विशेषार्थ जो साधक इस प्रणव को इस पूर्वोक्त प्रकार से जानता है और जो नहीं जानता है वे दोनों इस ओंकार से ही यज्ञादिकर्म करते हैं। परन्तु उपासना और कर्म ये दोनों अलग अलग विलक्षण फल वाले हैं। क्योंकि लिखा है— **विद्यया देवलोकः ।**

कर्मणा पितृलोकः ॥ (बृहदा० उ० अ० १ ब्रा० ५ श्रु० १६)

विद्या से देवलोक प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ जो साधक उपासना से और आस्तिक्यबुद्धि से तथा उपनिषज्जन्य ब्रह्मात्मक ज्ञान से जिस यज्ञादि कर्म को करता है। वही कर्म निश्चय

करके अधिक से अधिक सामर्थ्ययुक्त—बहुत फल देनेवाला होता है। श्रद्धा के विषय में लिखा है—

श्रद्धा हि—'स्वाभिमतं साधयति एतत्' इति विश्वासपूर्विका साधने त्वरा ॥ (रामानुजभाष्य० गी० अ० १७ श्लो० २)

'अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा' इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसी का नाम श्रद्धा है ॥ २ ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥(भगवद्गी० १७।२)
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसाजनाः ॥४॥

प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्विकी १, राजसी २, और तामसी ३ ऐसे तीन प्रकार की होती है उसको तू सुन ॥ २ ॥ सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं राजस यक्ष और राक्षसों को और तामस लोग प्रेत और भूतों के समुदायों को पूजते हैं ॥ ४ ॥ उपनिषद् के विषय में लिखा है—

ऋग्वेदादि विभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः ।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा ॥ (मु० अ० १ श्रु० ११)
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।
नवाधिकशतं शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ॥ १२ ॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥ १३ ॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता ।
तासामेकामृचं यश्च पठते भक्तितो मयि ॥ १४ ॥
स मत्सायुज्यपदवीं प्राप्नोति मुनिदुर्लभाम् ॥१५ ॥

श्रीरामजी ने कहा कि----वेद चार कहे गये हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। उन चार वेदों की अनेकों शाखाएँ हैं, उन शाखाओं की उपनिषद् भी अनेकों हैं ॥ ११ ॥ ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं, हे पवन-

तनय! यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं ॥ १२ ॥ और हे शत्रुतापन! सामवेद से हजार शाखाएँ निकली हैं, हे कपीश्वर, अथर्ववेद की शाखाओं के पचास भेद हैं ॥ १३ ॥ एक एक शाखा की एक एक उपनिषद् मानी गयीं है जो व्यक्ति उन उपनिषदों के एक भी मंत्र को भक्ति पूर्वक पाठ करता है ॥ १४ ॥ वह व्यक्ति मुनियों के लिये भी दुर्लभ मेरी सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ ॥ (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १६)

शरीर छोड़ने के बाद मुक्त होना चाहते हो तो एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषदों में से एक सौ आठ उपनिषदों का पाठ करो ॥ २६ ॥

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥ ३० ॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वोहंस आरुणिः ।
गर्भो नारायणो हंसो विन्दुर्नादशिरः शिखा ॥ ३१ ॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी ।
कालाग्निरुद्र मैत्रेयी सुबालक्षुरिमंत्रिका ॥ ३२ ॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम् ।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥ ३३ ॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम् ।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाह्वयम् ॥ ३४ ॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम् ।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षु महच्छारीरकं शिखा ॥ ३५ ॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका ॥ ३६ ॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम् ।
त्रिपुरातापनं देवी त्रिपुरा कठभावना ।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शकम् ॥ ३७ ॥

तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम् ॥ ३८ ॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम् ।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ॥ ३९ ॥
एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम् ।
ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम् ॥ ४० ॥

ईशोपनिषद् १, केनोपनिषद् २, कठोपनिषद् ३, प्रश्नोपनिषद् ४, मुण्डकोपनिषद् ५, माण्डूक्योपनिषद् ६, तैत्तिरीयोपनिषद् ७, ऐतरेयोपनिषद् ८, छान्दोग्योपनिषद् ९, और बृहदारण्यकोपनिषद् १० ॥ ३० ॥ ब्रह्मोपनिषद् ११, कैवल्योपनिषद् १२, जाबालोपनिषद् १३, श्वेताश्वतरोपनिषद् १४, हंसोपनिषद् १५, आरुणिकोपनिषद् १६, गर्भोपनिषद् १७, नारायणोपनिषद् १८, परमहंसोपनिषद् १९, अमृतबिन्दूपनिषद् २०, अमृतनादोपनिषद् २१, अथर्वशिरउपनिषद् २२ और अथर्वशिखोपनिषद् २३ ॥ ३१ ॥ मैत्रायण्युपनिषद् २४, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् २५, बृहज्जाबालोपनिषद् २६, नृसिंहतापिन्युपनिषद् २७, कालाग्निरुद्रोपनिषद् २८, मैत्रेय्युपनिषद् २९, सुबालोपनिषद् ३०, क्षुरिकोपनिषद् ३१, और मंत्रिकोपनिषद् ३२ ॥ ३२ ॥ सर्वसारोपनिषद् ३३, निरालम्बोपनिषद् ३४, शुकरहस्योपनिषद् ३५, वज्रसूचिकोपनिषद् ३६, तेजोविन्दूपनिषद् ३७, नादविन्दूपनिषद् ३८, ध्यानविन्दूपनिषद् ३९, ब्रह्मविद्योपनिषद् ४०, योगतत्त्वोपनिषद् ४१, आत्मप्रबोधोपनिषद् ४२ ॥ ३३ ॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद् ४३, त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् ४४, सीतोपनिषद् ४५ योगचूड़ामण्युपनिषद् ४६, निर्वाणोपनिषद् ४७ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ४८, दक्षिणामूर्त्युपनिषद् ४९, शरभोपनिषद् ५०, स्कन्दोपनिषद् ५१, और त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ५२ ॥ ३४ ॥ अद्वयतारकोपनिषद् ५३, रामरहस्योपनिषद् ५४, रामतापिन्युपनिषद् ५५, वासुदेवोपनिषद् ५६, मुद्गलोपनिषद् ५७, शाण्डिल्योपनिषद् ५८, पैङ्गलोपनिषद् ५९, भिक्षुकोपनिषद् ६०, महोपनिषद् ६१, शारीरकोपनिषद् ६२, और योगशिखोपनिषद् ॥ ६३ ॥ ३५ ॥ तुरीयातीतोपनिषद् ६४, संन्यासोपनिषद् ६५, परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् ६६, अक्षमालोपनिषद् ६७, अव्यक्तोपनिषद् ६८, एकाक्षरोपनिषद् ६९, अन्नपूर्णोपनिषद् ७०, सूर्योपनिषद् ७१, अक्ष्युपनिषद् ७२, अध्यात्मोपनिषद् ७३,

और कुण्डिकोपनिषद् ७४, ॥ ३६ ॥ सावित्र्युपनिषद् ७५, आत्मोपनिषद् ७६, पाशुपतोपनिषद् ७७, परब्रह्मोपनिषद् ७८, अवधूतोपनिषद् ७९, त्रिपुरतापिन्युपनिषद् ८०, देव्युपनिषद् ८१, त्रिपुरोपनिषद् ८२, कठरुद्रोपनिषद् ८३, भावनोपनिषद् ८४, रुद्रहृदयोपनिषद् ८५, योगकुण्डल्युपनिषद् ८६, भस्मजाबालोपनिषद् ८७, रुद्राक्षजाबालोपनिषद् ८८, गणपत्युपनिषद् ७९, और जाबालदर्शनोपनिषद् ९० ॥ ३७ ॥ तारसारोपनिषद् ९१, महावाक्योपनिषद् ९२, पञ्चब्रह्मोपनिषद् ९३, प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ९४, गोपालतापिन्युपनिषद् ९५, कृष्णोपनिषद् ९६, याज्ञवल्क्योपनिषद् ९७ और वराहोपनिषद् ९८ ॥ ३८ ॥ शाट्यायनीयोपनिषद् ९९, हयग्रीयोपनिषद् १००, दत्तात्रेयोपनिषद् १०१, गरुडोपनिषद् १०२, कलिसन्तरणोपनिषद् १०३, जाबाल्युपनिषद् १०४, सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १०५ सरस्वतीरहस्योपनिषद् १०६, बह्वृचोपनिषद् १०७ और मुक्तिकोपनिषद् १०८, ॥ ३९ ॥ ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्य के आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों तापों का नाश करती हैं और उनके पाठ तथा स्वाध्याय से ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती है तथा लोकवासना, शास्त्रवासना एवं देहवासना रूप त्रिविध वासनाओं का नाश होता है ॥ ४० ॥ एक सौ आठ उपनिषदों से अतिरिक्त मुद्रित अधोलिखित उपनिषदें प्राप्त होती हैं । अद्वैतोपनिषद् १, अद्वैतभावनोपनिषद् २, अनुभवसारोपनिषद् ३, अमनस्कोपनिषद् ४, अरुणोपनिषद् ५, अल्लोपनिषद् ६, आचमनोपनिषद् ७, आत्मपूजोपनिषद् ८, आथर्वणद्वितीयोपनिषद् ९, आयुर्वेदोपनिषद् १०, आरुणेय्युपनिषद् ११, आर्षेयोपनिषद् १२, आश्रमोपनिषद् १३, इतिहासोपनिषद् १४, ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् १५, कण्ठोपनिषद् १६, कठश्रुत्युपनिषद् १७, कात्यायनोपनिषद् १८, कामराजकीलितोद्धारोपनिषद् १९, कालिकोपनिषद् २०, कालीमेधादीक्षितोपनिषद् २१, कौलोपनिषद् २२, गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद् २३, गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् २४, गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् २५, गान्धर्वोपनिषद् २६, गायत्र्युपनिषद् २७, गायत्रीरहस्योपनिगद् २८, गुह्यकाल्युपनिषद् २९, गुह्यषोढान्यासोपनिषद् ३०, गोपीचन्दनोपनिषद् ३१, चतुर्वेदोपनिषद् ३२, चाक्षुषोपनिषद् ३३, चित्युपनिषद् ३४, छागलेयोपनिषद् ३५, जाबाल्युपनिषद् ३६, तारोपनिषद् ३७, तुरीयोपनिषद् ३८, तुलस्युपनिषद् ३९, त्रिपुरामहोपनिषद् ४०, त्रिसुपर्णोपनिषद् ४१, दत्तोपनिषद् ४२, दुर्वासोपनिषद् ४३, द्वयोपनिषद् ४४, नारदोपनिषद् ४५, नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद् ४६,

नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद् ४७ निरुक्तोपनिषद् ४८, नीलरुद्रोपनिषद् ४९, नृसिंहषट्चक्रोपनिषद् ५०, परमात्मिकोपनिषद् ५१, पारायणोपनिषद् ५२ पिण्डोपनिषद् ५३, पीताम्बरोपनिषद् ५४, पुरुषसूक्तोपनिषद् ५५, प्रणवोपनिषद् ५६, बटुकोपनिषद् ५७, बाष्कलमंत्रोपनिषद् ५८, बिल्वोपनिषद् ५९, भगवद्गीतोपनिषद् ६०, भवसंतरणोपनिषद् ६१, भाल्लवीयब्राह्मणोपनिषद् ६२, मठाम्नायोपनिषद् ६३, मल्लायुपनिषद् ६४, मृत्युलाङ्गलोपनिषद् ६५, यज्ञोपवीतोपनिषद् ६६, योगराजोपनिषद् ६७, योगोपनिषद् ६८, राजश्यामलारहस्योपनिषद् ६९, राधिकोपनिषद् ७०, राधोपनिषद् ७१, रुद्रोपनिषद् ७२, लक्ष्म्युपनिषद् ७३, लाङ्गूलोपनिषद् ७४, लिङ्गोपनिषद् ७५, वज्रपञ्जरोपनिषद् ७६, वनदुर्गोपनिषद् ७७, विश्रामोपनिषद् ७८, विष्णुहृदयोपनिषद् ७९, शिवोपनिषद् ८०, शिवसंकल्पोपनिषद् ८१, शौनकोपनिषद् ८२, श्यामोपनिषद् ८३, श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद् ८४, श्रीचक्रोपनिषद् ८५, श्रीविद्यातारकोपनिषद् ८६, षोढोपनिषद् ८७, सङ्कर्षणोपनिषद् ८८, सदानन्दोपनिषद् ८९, संहितोपनिषद् ९०, सन्ध्योपनिषद् ९१, सामरहस्योपनिषद् ९२, सिद्धान्तविट्ठलोपनिषद् ९३, सिद्धान्तशिखोपनिषद् ९४, सिद्धान्तसारोपनिषद् ९५, सुदर्शनोपनिषद् ९६, सुमुख्युपनिषद् ९७, सूर्यतापिन्युपनिषद् ९८, स्वसंवेद्योपनिषद् ९९, हंसषोढोपनिषद् १००, हेरम्बोपनिषद् १०१ ॥ इस खण्ड में जो जो कुछ कहा गया है वह निश्चय करके इसी रसतमत्वादिगुण विशिष्ट ओम् अक्षर का विशेष व्याख्यान है । श्रीवेङ्कटेशश्वशुर भगवद्रामानुजाचार्य ने—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू०६) **तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्** (शा०मी० अ० ३ पा० ३ सू० ४१) **अङ्गेषु यथाश्रयभावः** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ५९) **न वा तत्सहभावाश्रुतेः** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ६३) **तच्छ्रुतेः** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४) **असार्वत्रिकी** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १०) **आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४५) **ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्** शा० मी० अ० ३

पा० ४ सू० ५०) **यदेव विद्ययेति हि** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० १८) इन नवों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की अन्तिम दसवीं श्रुति के खण्डों को उद्धृत किया है। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के प्रथम प्रपाठक का प्रथम खण्ड समाप्त हो गया ॥ १० ॥

॥ अथ द्वितीयखण्डः ॥

देवसुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्याः तद्ध देव उद्गीथ माजह्रु रनेनैनानभिभविष्याम इति॥१॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध है (वै) निश्चय करके कि (प्राजापत्याः) प्रजापति के पुत्र (देवासुराः) देव और असुर (उभये) दोनों (यत्र) जब (संयेतिरे) परस्पर युद्ध करने के लिये प्रवृत्त हुए (तत्) तब (ह) प्रसिद्ध (देवाः) देवों ने (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना करने के लिए (आजह्रु) भलीभाँति ग्रहण किया कि (अनेन) इस उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना से (एनान्) इन (असुरान्) असुरों को (अभिभविष्यामः) हम लोग जीत लेंगे (इति) इस प्रकार के विचार किये ॥ १ ॥

विशेषार्थ उद्गीथ के अवयव ओंकार में मुख्य प्राण दृष्टि को करने के लिये देवासुर संग्राम की आख्यायिका को स्वतः श्रुति कहती है कि—यह प्रसिद्ध है कि प्रजापति की संतान—देवता और असुर दोनों जब आपस में लड़ रहे थे तब उसी समय देवताओं ने उद्गीथ के अवयव ओंकार को ध्येय बनाकर उसकी उपासना रूप यज्ञ किया। उनका उद्देश्य यह था कि "इस उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना द्वारा हमलोग इन असुरों को परास्त कर देंगे" बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः। त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त। ते ह देवा ऊचुः। हन्तसुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति। (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० १)

प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे—देव और असुर। उनमें देव थोड़े ही

थे और असुर अधिक थे। इन लोगों में वे परस्पर स्पर्धा डाह करने लगे। उनमें से देवताओं ने कहा कि "हम यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा असुरों को अतिक्रमण करें।" ॥ १ ॥ देवता के विषय में लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ असुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, उञ्चास मरुत्देव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव और वरुणदेव ॥ २० ॥

त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ।
बृहस्पतिपुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा ॥

(यजु० अ० २० मं० ११)

श्रेष्ठ धनवाले ब्रह्मादिक तीन देव, ग्यारह रुद्रदेव, तैंतीसदेव पुरोहित-बृहस्पतिदेव प्रभृति सब देव परब्रह्म नारायण की आज्ञा में वर्त्तमान होते हुये सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥

(यजु० अ० ३३ मं० ७)

तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं, उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा को आच्छादन करते हुये होता को होतृकर्म में नियुक्त किया ॥ ७ ॥ अथवा 'त्रीणि शतानि' ३०० तीन सौ "त्रीणि सहस्राणि" ३००० तीन सहस्र गुणित अर्थात् ९०००० "त्रिंशत् नव च" और उन्तालीस ९०००३९ नौ लाख उन्तालीस देव अग्नि की परिचर्या करते हैं ॥ ७ ॥ अथवा—

नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः ।
ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शक्तीनां वर्णभेदतः ॥

इस आगम प्रमाण से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की शक्तिरूप से ३३३३३३३३३

तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सो तैंतीस देवता होते हैं ॥ ७ ॥

मध्याहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि ॥

(शतपथ० अ० ११ प्र० ३ ब्रा० ८ कं० ८) शास्त्रदेवताओं की मध्यम आहुति है ॥ ८ ॥

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥

(अथर्व० कां० ११ प्रपा० अनु० १ मं० २४)

सब के अन्त में शेष रहने वाले श्रीमन्नारायण भगवान से ऋक्, साम, छन्द और यजुः के साथ पुराण तथा दिवलोक में रहनेवाले दिविश्रित समस्त देवगण उत्पन्न हुये ॥ २४ ॥

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥ (ईशो० श्रु० ४)

ब्रह्मा आदिक देवता पहले प्राप्त हुये इस परब्रह्म नारायण को नहीं प्राप्त कर सके ॥ ४ ॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये अथ तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥ (केनो० खं० ३ श्रु० १)

परब्रह्म नारायण ने निश्चित है कि देवताओं में प्रवेश कर देवताओं के लिये असुरों को विजय किया। विजय होने के बाद निश्चय करके उस देवाविष्ट परब्रह्म नारायण को विजय में इन्द्रादिक देवताओं ने पूजा या गौरव अथवा अपने में महत्व का अभिमान कर लिया ॥ १ ॥

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव ॥ (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० १)

इन्द्रादि सब देवताओं में पहले चतुर्मुख ब्रह्मा देव उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥

ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० ८ श्रु० २)

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवा-

नपि यन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥३॥

चिरस्थायी पितृलोक में रहनेवाले पितरों के जो एक सौ आनन्द हैं वह स्मार्तकर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होनेवाले आजानज नामक देवताओं का एक आनन्द है ॥ २ ॥ विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनन्द है । वे पूर्वोक्त जो स्मार्तकर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होने वाले आजानज नामक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वह अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि, इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुये कर्म देव नामक देवताओं का एक आनन्द है । जो वेदोक्त अग्निहोत्रादिक कर्मो से देवताओं को भी प्राप्त होते हैं और विषय भोग की कामना से रहित श्रोत्रियवेदवेत्ता पुरुष का तो वह स्वाभाविक आनन्द है । वे पूर्वोक्त जो अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि, इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्मदेव-नामक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वह यज्ञ में हविर्भाग लेनेवाले वसु, रुद्र आदिक देवताओं का एक आनन्द है और विषयभोग की कामना से रहित श्रोत्रियवेदवेत्ता पुरुष का तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है । वे पूर्वोक्त जो वसु, रुद्रादिक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वह देवराज इन्द्र का एक आनन्द है ॥ ३ ॥

परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ (ऐतरे० उ० अ० १ खं० ३ श्रु० १४)

निश्चय करके देवता लोग परोक्ष से प्रेम करने वाले के समान होते हैं ॥ १४ ॥

देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः ॥ (शतप० २।४।२।१)

देवता यज्ञोपवीती होकर दक्षिण जाँघ झुका कर बैठे तब प्रजापति ने कहा यज्ञ तुम्हारा अन्न, अमृत, तेज और सूर्य ज्योति होगा ॥ १ ॥

पूर्वाह्णो वै देवानाम् ॥ (शतप० २।४।२८)

पूर्वाह्ण काल देवताओं के भोजन का है ॥ २८ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥

(मनु० अ० १ श्लो० २२)

सब प्राणियों के प्रभु ने ब्रह्म कर्मात्मा इन्द्रादि देवगण को और सूक्ष्म साध्यगण को तथा सनातन यज्ञ को बनाया ॥ २२ ॥

यान्ति देवव्रता देवान् ॥ भ० गी० अ० ६ श्लो० २५)

इन्द्रादि देवताओं के पूजन - विषयक सङ्कल्पवाले इन्द्रादि देवताओं को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ।

आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वः आत्मायुध आत्मैष व आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥ (निरुक्त० दैवतकां० अ० ७ खं० ४)

देवताओं की आत्मा ही घोड़ा, हथियार, रथ, बाण होता है और सब ही उपकरण देवता की आत्मा ही है ॥ ४ ॥

तिस्रएव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥ (निरुक्त० दैवतकां० अ० ७ खं० ५)

ये तीन देवता हैं, अग्नि देवता पृथ्वी स्थान में, वायु देवता और इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में और सूर्य देवता द्युस्थान में, इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक एक के बहुत से नाम होते हैं ॥ ५ ॥

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः॥

(निरुक्त० दैवतकां० अ० ७ खं० १३)

यह जो देवता कहे हैं इनमें कोई सूक्तों को सेवन करते हैं कोई हविष्य को, कोई ऋग् को, कोई दोनों को सेवन करते हैं ॥ १३ ॥ व्याकरण में लिखा है—

सूर्याद्देवतायां चाप् वाच्यः ॥ (वार्तिक)

सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या ।

देवता जाति में उत्पन्न हुई जो सूर्य की स्त्री है कात्यायन महर्षि कहते हैं कि वहाँ पर सूर्य शब्द से आप् प्रत्यय होकर स्त्री प्रत्ययान्तपद सूर्या ऐसा

बनेगा । और यदि सूर्य की स्त्री मनुष्य जाति में पैदा हुई हो तो "सूर्या" ऐसा पद नहीं बनेगा किन्तु सूर्य शब्द से--

पुंयोगादाख्यायाम् (पा० व्या० अ० ४ पा० १ सू० ४८)

इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय हो कर ॥ **सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यान्मंय उपधायाः** (पा० व्या० अ० ६ पा० ४ सू० १४९) इस सूत्र से— **सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यांच** (वर्ति०) इस वर्तिका के नियम द्वारा य लोप होने से "सूरी" ऐसा स्त्री प्रत्ययान्त पद बनेगा ॥

देवादिवदपि लोके (शा० मी० अ० २ पा० सू० २५)

जैसे ब्रह्मादिक देवता अपने अपने लोक में संकल्पमात्र से अपनी अपेक्षित वस्तुओं को बनाते हैं वैसे ही परब्रह्म नारायण समस्तजगत् को संकल्पमात्र से बनाते हैं ॥ २५ ॥ असुरयोनि के विषय में लिखा है—

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव

(सामवे० प्रपाठ० २ अ० २ खं०७ मं० ५)

दूसरों से प्रतिकूल शब्दरहित इन्द्रदेव ने अथर्वण दधीच की पार्श्वशिरः सम्बन्धी हड्डियों से आठ सौ दस वृत्र असुरों को मारा ॥ ५ ॥

अपाम्फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । विश्वा यदजयः स्पृधः

(सामावे० छन्द आर्चिक० अ० २ खं० १० मं० ८)

हे इन्द्रदेव जलों के फेन से नमुचि असुर का शिर शरीर से पृथक् किया जब सब स्पर्धा करती हुई असुरसेना को जीता ॥ ८ ॥

न तद्राक्षांसि न पिशाचाश्चरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् यो बिभर्ति । दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः (यजु० अ० ३४ मं० ५१)

जो सुवर्ण को धारण करता है । उसको राक्षस, असुर और पिशाच अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं । यह देव गण का प्रथम उत्पन्न तेज है । यह दाक्षायण तेज जो धारणा करता है वह देवता और मनुष्य लोक में सर्वत्र ही दीर्घ आयु को प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

नैनं घ्नन्ति अप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः

सर्वा दिशो विराजन्ति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥

(अथर्व० काण्ड० ८ सू० ५ मं० १३)

जो इस मणि को धारण करता है उसको अप्सरा, असुर, गन्धर्व और मनुष्य बाधा नहीं पहुंचा सकते हैं और उसके लिये सब दिशाएँ प्रकाशित रहती हैं। ॥ १३ ॥

येषां पश्चात् प्रपदनानि पुरः पार्ष्णी पुरो मुखः खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मटमटाः कुम्भमुष्का अयाशवः तानस्या ब्रह्मणस्पतेः प्रतिबोधेन नाशय ॥ (अथर्व० कां० ८ सू० ६ मं० १५)

हे वेद के अधिपते, जिन भूत, पिशाच और असुर आदिकों को पीछे की और पैर के पंजे और अगाड़ी की ओर एड़ी और मुँह होता है और ये खलिहान में तथा शक के धूम से उत्पन्न होने वाले हैं तथा कुम्हारों की आवाओं से मटमट करते रहते हैं और जिनके कुम्भ के समान अण्डकोश होते हैं और जो सब से अधिक चल सकते हैं उन मनुष्यों से भिन्न आकृतिवाले भूत आदिक असुरों को मंत्र के प्रभाव से नाश कर दीजिये ॥ १५ ॥

अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता ॥ (शत० २।४।२।१५)

निश्चय करके अग्नि राक्षसों का नाश करने वाली है ॥ १५ ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ॥

(ईशो० श्रु० ३ तथा शुल्कयजु० अ० ४० मं० ३)

असुरों के निवास भूत अतिदारुण शास्त्र प्रसिद्ध अतिगाढ अन्धकार से ढके हुये वे नरक लोक हैं ॥ ३ ॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्च माना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥

(यजु० अ० २ मं० ३०)

पितरों का अन्न श्राद्ध में भक्षण करने की इच्छा से अपने रूपों को पितरों के समान करते हुये जो असुर पितृस्थान में विचरते हैं तथा जो असुर स्थूल और सूक्ष्म देहों को अपना अपना असुरत्व छिपाने के लिये धारण करते हैं उल्मुक रूप अग्नि उन असुरों को इस पितृयज्ञ स्थान से

हटा दे ।। ३० ।।

यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।

नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणांच पृथग्गणान् ।।

(मनु० अ० १ श्लो० ३७)

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, गरुड़ और पितृगणों को भी प्रजापति ने उत्पन्न किया ।। ३७ ।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु ।। (भगवद्गी० १६।१६)

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। २० ।।

उन मुझ से द्वेष करनेवाले क्रूर, अशुभ नराधमों को मैं संसार में निरन्तर असुर सम्बन्धी योनियों में डालता हूँ ।। १६ ।। हे अर्जुन ! आसुरी योनी को प्राप्त होकर वे मूढ़ लोग मुझ को न पाकर जन्म जन्म मे और भी नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ।। २० ।।

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ।

क्रव्यादानां च सर्वेषां माभूत् पुत्रक ते भयम् ।।

(वाल्मी० रा० अयो० २ स० २५ श्लो० १८)

हे पुत्र ! रौद्र क्रूर कर्म करने वाले असुर, राक्षसों से और पिशाचों से तथा समस्त क्रव्यादों से तुझको भय न हो ।। १८ ।।

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्ष क्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्यु-पसृष्टचेतसां शान्तिकर्मवलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ।।

(सुश्रुत सूत्रस्थान ११) भूतविद्या माने देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर पिशाच और नाग तथा ग्रह आदि करके व्याप्तचित्तवाले पुरुषों के आनन्द के लिए शान्ति कर्म करना, बलि देना और ग्रह को शमन करना आदि है ।। ११ ।। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य योनि से अलग देवयोनि और असुरयोनि हैं । श्री सम्पत्कुमारजनक भगवद्रामानुजाचार्य ने—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् (शा० मी० अ० ३ पा० सू० ६)

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् (शा० मी०अ० ३ पा० ३ सू० ७) **व्याप्तेश्च समञ्जसम्** (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ८) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तं हासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (ते) उन देवों ने (नासिक्यम्) नासिका में रहनेवाले (प्राणम्) घ्राणेन्द्रिय रूप प्राण को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव ओम् की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तम्) उस घ्राणेन्द्रिय को (ह) प्रसिद्ध (असुराः) असुरों ने (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (विविधुः) संयुक्त कर दिया (तस्मात्) उस पाप के संसर्ग होने के कारण (तेन) उस घ्राणेन्द्रिय से पुरुष (सुरभि) सुगन्धि (च) और (दुर्गन्धि) दुर्गन्धि (उभयम्) दोनों को (च) भी (जिघ्रति) सूँघता है (हि) क्योंकि (पाप्मना) राग-द्वेषरूप पाप से (एषः) घ्राणेन्द्रिय नामक प्राण (विद्धः) संयुक्त है ॥ २ ॥

विशेषार्थ प्रसिद्ध देवताओं ने असुरों को पराजय करने के लिये नासिका में रहनेवाले घ्राणेन्द्रिय रूप प्राण को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव प्रणव की उपासना की। तब उस घ्राणेन्द्रिय को असुरों ने राग-द्वेष-रूप पाप से संयुक्त कर दिया। घ्राणेन्द्रिय नामक प्राण रागद्वेष से संयुक्त है इसीलिये घ्राणेन्द्रिय के द्वारा यह जीव अच्छे और बुरे दोनों प्रकार की गन्ध को ग्रहण है। बृहदारण्यक में लिखा है—

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् स यः सः पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा।

(बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रुति ३)

इसके बाद देवताओं ने घ्राण रूप प्राण से कहा कि तुम हमारे लिये

उद्गान करो। तब प्राण रूप प्राण ने बहुत अच्छा ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। प्राण में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ गंध सूँघता है उसे अपने लिये गाया। असुरों को मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः असुरों ने उसके समीप जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। यह अनुचित सूँघता है यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥ ३ ॥ इस श्रुति में घ्राणेन्द्रिय को पाप से संयुक्त बतलाया गया है ॥ २ ॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तां हासुराः पाप्मना विविधुः। तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध है कि (वाचम्) वाणी को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव प्रणव की (उपासाञ्चक्रिरे) वे देव उपासना करने लगे (ताम्) उस वाणी को (ह) प्रसिद्ध (असुराः) असुरों ने (पाप्मा) रागद्वेष रूप से (विविधुः) संयुक्त कर दिया (तस्मात्) उस पाप के संसर्ग होने के कारण (तया) उस वाणी से मनुष्य (सत्यम्) सत्य (च) और (अनृतम्) झूठ (उभयम्) दोनों को (च) भी (वदति) बोलता है (हि) क्योंकि (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (एषा) यह वाणी (विद्धा) संयुक्त है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—घ्राणेन्द्रिय को पाप से विद्ध होने के बाद देवताओं ने वाणी को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की। तब उस वाणी को असुरों ने रागद्वेष रूप पाप से संयुक्त कर दिया। वाणी रागद्वेष से कलुषित है इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य सत्य और झूठ दोनों बोलता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्। स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ (बृह० उ० प्र० १ ब्रा० ३ श्रु० २)

उन देवताओं ने वाक् से कहा कि तुम हमारे लिये उद्गान करो। वाक् ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। उसने जो वाणी में भोग था उसे देवताओं के लिये आगान किया और जो शुभ भाषण करती थी उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उस के पास जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। यह वाणी जो अनुचित असत्य कटुवचनादि भाषण करती है वही वह पाप है, वही वह पाप है ॥ २ ॥ सत्य के विषय में लिखा है—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि।
सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥

(तैत्तिर.यारण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

वायु सत्य से चलती है, सूर्य सत्य से द्युलोक में प्रकाशित होता है, वाणी की प्रतिष्ठा सत्य ही है, सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं इससे सबलोग सत्य को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर।
तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥ (जाबा० उ० खं०१ श्रु० ६)

हे विप्र! नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया तथा सुना गया और सूँघा गया उसको ठ.क जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥ ६ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ॥ (विष्णु० स्मृ० ८)

हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥ ८ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योगद० अ० १ पा० २ सू० ३६)

सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता है ॥ ३६ ॥ इस श्रुति में वाणी को पाप से विद्ध बतलाया गया है ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना

विविधुः । तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध है कि (चक्षुः) आँख को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव ओंकार की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (ह) प्रसिद्ध है कि (तत्) उस नेत्र को (असुराः) असुरों ने (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (विविधुः) संयुक्त कर दिया (तस्मात्) उस पाप के संसर्ग होने के कारण (तेन) उस आँख से मनुष्य (दर्शनीयम्) देखने योग्य (च) और (अदर्शनीयम्) नहीं देखने योग्य अमेध्यादिक (उभयम्) दोनों को (च) भी (पश्यति) देखता है (हि) क्योंकि (एतत्) यह नेत्र (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (विद्धम्) संयुक्त है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—वाक् इन्द्रिय को पाप से विद्ध होने के बाद प्रसिद्ध देवताओं ने नेत्र को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की। उसे भी असुरों ने रागद्वेष रूप पाप से मलिन कर दिया। चक्षु-इन्द्रिय रागद्वेषरूप पाप से मलिन हो रही है इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य देखने योग्य और न देखने योग्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के दृश्य को देखता है। बृहदारण्यक में लिखा है—

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने तेविदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स ॥ पाप्मा ॥

(बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० ४)

फिर उन देवताओं ने नेत्र से कहा कि "तुम हमारे लिये उद्गान करो"। तब नेत्र ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। चक्षु में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ दर्शन करता है उसे अपने लिये गाया। असुरों को मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित निषिद्ध पदार्थों को

देखता है यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥ ४ ॥ इस श्रुति में नेत्र को पाप से संयुक्त बतलाया गया है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुः । तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (ह) कि (श्रोत्रम्) कान को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्)उद्गीथ के अवयव ओंकार की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (ह) प्रसिद्ध है कि (तत्) उस कान को (असुराः) असुरों ने (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (विविधुः) संयुक्त कर दिया (तस्मात्) उस पाप के संसर्ग होने के कारण (तेन) उस कान से मनुष्य (श्रवणीयम्) सुनने योग्य (च) और (अश्रवणीयम्) नहीं सुनने योग्य पाप-वचन (उभयम्) दोनों को (च) भी (शृणोति) सुनता है हि) क्योंकि (एतत्) यह कान (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (विद्धम्) संयुक्त है । ५ ॥

विशेषार्थ—नेत्रेन्द्रिय को पाप से संयुक्त होने के बाद प्रसिद्ध देवताओं ने अबकी बार श्रोत्र को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओम् इस अक्षर की उपासना की। उसे भी असुरों ने रागद्वेष से दूषित कर दिया। श्रोत्रेन्द्रिय रागद्वेष से दूषित है इसीलिये मनुष्य उसके द्वारा सुनने योग्य और नहीं सुनने योग्य दोनों प्रकार का शब्द सुनता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है--

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव स पाप्मा ॥

(बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० ५)

फिर देवताओं ने श्रोत्र से कहा कि "तुम हमारे लिये उद्गान करो" तब श्रोत्र ने "बहुत अच्छा" ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। श्रोत्र में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये आगान किया और वह जो

शुभ श्रवण करता है उसे अपने लिये गाया। असुरों ने जाना कि इस उद्‌गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पाप से विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित ईश्वर निन्दा परनिन्दा आत्मा प्रशंसा आदि श्रवण करता है। यही वह पाप है, यही वह पाप है ॥ ५ ॥ इस श्रुति में श्रोत्र को पाप से विद्ध बतलाया गया है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्‌गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः। यस्मात्तेनोभयं संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध है कि (मनः) मन को अधिष्ठान करके (उद्‌गीथम्) उद्‌गीथ के अवयव प्रणव की (उपासाञ्चक्रिरे) देवता उपासना करने लगे तब (ह) प्रसिद्ध (असुराः) असुरों ने (तत्) उस मन को (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (विविधुः) संयुक्त कर दिया (तस्मात्) उस पाप के संसर्ग होने के कारण (तेन) उस मन से मनुष्य (संकल्पनीयम्) संकल्प करने योग्य (च) और (असंकल्पनीयम्) नहीं संकल्प करने योग्य पाप (उभयम्) दोनों को (च) भी (संकल्पयते) संकल्प करता है (हि) क्योंकि (एतत्) यह मन (पाप्मना) रागद्वेष रूप पाप से (विद्धम्) संयुक्त है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—श्रोत्रेन्द्रिय को पाप विद्ध होने के बाद प्रसिद्ध देवताओं ने मन को अधिष्ठान करके उद्‌गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की। उसे भी असुरों ने रागद्वेष से अभिभूत कर दिया। मन रागद्वेष रूप पाप से अभिभूत है, इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य मन में लाने योग्य और मन में नहीं लाने योग्य दोनों प्रकार के संकल्प करता है। बृहदारण्यक में लिखा है—

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यो मन उदगायद्योमनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मा।

एवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन् । एवमेताः पाप्मानाविध्यन् ।

(बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० ६)

फिर देवताओं ने मन से कहा "तुम हमारे लिये उद्गान करो" मन ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर उनके लिये उद्गान किया । मन में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये आगान किया और यह जो शुभ संकल्प करता है उसे अपने लिये गाया । असुरों को मालूम हुआ कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे । अतः उसके पास जाकर उन्होंने उस मन को पाप से विद्ध कर दिया । यह जो अनुचित काम, क्रोध, लोभ, वैर और हिंसा आदि का संकल्प करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है । इस प्रकार निश्चय ही इन देवताओं को रागद्वेष रूप पाप का संसर्ग हुआ और ऐसे ही असुरों ने इन्हें पाप से विद्ध किया ॥ ६ ॥ इस श्रुति में मनको पाप से संयुक्त बतलाया गया है ॥ ६ ॥

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुः । यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेतैवम् ॥ ७ ॥

अन्यवयार्थ—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (यः) जो (एव) निश्चय करके (अयम्) यह (मुख्यः) मुख में होने वाला श्रेष्ठ (प्राणः) शरीरस्थ प्राण है (तम्) उस श्रेष्ठ प्राण को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव ओंकार को (उपासाञ्चक्रिरे) वे देवलोग उपासना करने लगे (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस मुख्य प्राण को (ऋत्वा) पाकर (असुराः) असुर गण (विदध्वंसुः) छिन्न भिन्न हो गये (यथा) जैसे (आखणम्) मिट्टी का ढेला (अश्मानम्) पत्थर को (ऋत्वा) पाकर (विध्वंसेत) चूर चूर हो जाता है (एवम्) इसी प्रकार होता है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—मन को पाप से विद्ध होने के अनन्तर देवताओं ने अबकी बार सबसे श्रेष्ठ मुख्य प्राण को अधिष्ठान करके उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की । उसे भी असुरों ने रागद्वेष से युक्त करना चाहा परन्तु उसके समीप जाते ही वह असुर उसी प्रकार छिन्न - भिन्न हो गये जैसे सुदृढ़ पत्थर से टकरा कर मिट्टी का ढेला चूर चूर हो जाता है । बृहदारण्यकोपनिषद्

में लिखा है—

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यः एष प्राण उद्गायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् स यथाश्मानमृत्वा लोष्ठो विध्वंसेतैवं हैव विध्वंसमानं विष्वञ्चो विनेशुः (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० ७)

फिर देवताओं ने अपने मुख में रहने वाले श्रेष्ठ प्राण से कहा कि "तुम हमारे लिये उद्गान करो" । तब बहुत अच्छा ऐसा कहकर मुख्य प्राण ने उनके लिये उद्गान किया । असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे । अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप से विद्ध करना चाहा । किन्तु जिस प्रकार पत्थर से टकरा कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वे विध्वस्त होकर अनेक प्रकार से नष्ट हो गये ।। ७ ।। श्रीसंपत्पुत्रविमोचक भगवद्रामानुजाचार्य ने—

चक्षुरादिवत्तु तत्सह शिष्ट्यादिभ्यः (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ६)

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ६)

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् (शा मी० अ० ३ पा० ३ सू० ७)

इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड की सातवीं श्रुति को उद्धृत किया है ।। ७ ।।

यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति । स एषोऽश्माखणः ।। ८ ।।

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (आखणम्) मिट्टी का ढेला (अश्मानम्) पत्थर को (ऋत्वा) पाकर (विध्वंसते) चूर चूर हो जाता है (एवम्) वैसे ही (सः) वह मनुष्य (विध्वंसते) नष्ट हो जाता) है (यः) जो (एवं विदि) इस प्रकार इस उद्गीथ विद्या को जानने वाले में (पापम्) पाप (कामयते) करना चाहता है (च) और (यः) जो (एनम्) इस उद्गीथ विद्यानिष्ठ को (अभिदासति) सताता है (सः) वह (एषः) यह पाप काम (अश्माखणः) पत्थर से प्राप्त मिट्टी का ढेला है ।। ८ ।।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त विद्या का फल श्रुति साक्षात् कहती है कि—जिस प्रकार पत्थर से टकरा कर मिट्टी का ढेला छिन्न भिन्न हो जाता है। ठीक वैसे ही वह मनुष्य भी विध्वस्त हो जाता है। जो उद्गीथ विद्या का रहस्य जानने वाले के विषय में अहित कामना करता है तथा जो उद्गीथ विद्यानिष्ठ को पीड़ा पहुंचाया है। उद्गीथ रहस्य जाननेवाले के विषय में अहत करनेवाला वह यह पाप काम पत्थर से टकराया हुआ मिट्टी का ढेला है। इससे उद्गीथ विद्यानिष्ठ को भूलकर भी अपमान न करे। नारायणप्रतिष्ठाता भगवद्रामानुजाचार्य ने—

अन्यथा त्वं शब्दादितिचेन्नाविशेषात् (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ६) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड की आठवीं श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ८ ॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि च विजानाति। अपहतपाप्मा ह्येषः। तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति। व्याददात्येवान्तत इति ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(एतेन) इस मुख्य प्राण से (एव) निश्चय करके (न) नहीं (सुरभि) सुगन्धि को (च) और (न) नहीं (दुर्गन्धि) दुर्गन्धि को (विजानाति) पुरुष जानता है (हि) निश्चय करके एषः) यह मुख्य प्राण (अपहतपाप्मा) पाप रहित है (तेन) उस कारण से (यत्) जो (अश्नाति) खाता है और (यत्) जो (पिबति) पीता है (तेन) उससे (इतरान्) अन्य (प्राणान्) घ्राणादि इन्द्रियों को (अवति) रक्षा करता है (उ) निश्चय करके (एतम्) उसी मुख्य प्राण को (एव) ही (अन्ततः) मरण समय में (अवित्त्वा) नहीं पाकर (उत्क्रामति) घ्राणादि प्राण-समुदाय शरीर से बाहर निकलता है (अन्ततः) मरण काल में (एव) निश्चय करके (व्याददाति) मुँह खुला हुआ रहता है यानी मुँह बा देता है (इति) इस प्रकार निश्चय किया जाता है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ— मुख्य प्राण के द्वारा मनुष्य न तो सुगन्ध का अनुभव करता है और न दुर्गन्ध का ही। यह मुख्य प्राण रागद्वेष रूप पाप से

रहित है क्योंकि इसके सम्पर्क में आकर तो रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। इसके द्वारा मनुष्य जो कुछ खाता और जो कुछ पीता है उससे वह मन इन्द्रियादि अन्य प्राणों की रक्षा करता है। अन्तकाल मुख्यप्राणाशितपीतलब्धसत्तावाले प्राणादि प्राण समुदाय मुख्य प्राण के भोजनादि के अभाव से इसको न पाकर शरीर को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। इसीलिये मरण समय में मनुष्य अपना मुँह अवश्य खोल देता है। यही प्राण की महिमा है। प्राण के विषय में लिखा है—

चक्षु श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते।

(प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ५)

मुख्य प्राण अपने आप मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित होता है॥ ५॥ इस श्रुति में स्पष्टतः मुख्य प्राण को पापरहित बतलाया गया है॥ ६॥

तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्रे। एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः॥ १०॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (अङ्गिरा) नामक महर्षि (उ) निश्चय करके (तम्) उस मुख्य प्राण को लक्ष्य करके (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव ओंकार की (उपासाञ्चक्रे) उपासना किया करते थे (अङ्गानाम्) अङ्गों का (यत्) जो (रसः) रस यानी सार है (एतम्) इसी को (अङ्गिरसम्) अङ्गिरस (एव) निश्चय करके (मन्यन्ते) वैदिक लोग मानते हैं॥ १०॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध अङ्गिरा नामक महर्षि ने मुख्य प्राण को ही लक्ष्य यानी प्रतीक बनाकर उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की थी। अतः वैदिक लोग इसी को "आङ्गिरस" अङ्गिरा का उपास्य मानते हैं क्योंकि यह समस्त अङ्गों का रस है। अथवा इस श्रुति के उत्तरार्ध में "अङ्गिरा" शब्द की व्युत्पत्ति साक्षात् श्रुति कहती है कि "जो अङ्गों का रस है इसी को ही अङ्गिरस लोग मानते हैं"। बृहदारण्यक में लिखा है—

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः। प्राणो वा अङ्गानां रसः। प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रा-

मति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः ॥

(बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० १६)

यह प्राण अयास्य आङ्गिरस है क्योंकि यह अंगों का रस-सार है। प्राण ही अङ्गों का रस है, निश्चय प्राण ही अङ्गों का रस है। क्योंकि जिस किसी अङ्ग से प्राण उत्क्रमण कर जाता है वह उसी जगह सूख जाता है। अतः यही अङ्गों का रस है ॥ १६ ॥ अङ्गिरा महर्षि के विषय में लिखा है—

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिरा पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥ (वायु पु० अ० ५६ श्लो०८६)
ब्रह्मणो मानसाह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः ।
प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान्महांस्तस्मान्महर्षयः ॥ ९० ॥

भृगु १, मरीचि २, अत्रि ३, अङ्गिरा ४, पुलह ५, क्रतु ६, मनु ७, दक्ष ८, वसिष्ठ ९ और पुलस्त्य १० ये दस महर्षि हैं ॥ ८९ ॥ ये सब ब्रह्मा के मन से स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं। चूँकि ऋषि ब्रह्मा जी से इन ऋषियों के रूप में स्वयं महान् पुरुष ही प्रकट हुये इसलिये ये दस महर्षि कहलाये ॥ ९० ॥ इस श्रुति में आङ्गिरस गुणवाला प्राणदृष्टि विशिष्ट उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना प्रतिपादित की गई है ॥ १० ॥

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्रे । एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥११॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (बृहस्पतिः) बृहस्पति नामक देवपुरोहित (उ) निश्चय करके (तेन) उस आङ्गिरस गुण से युक्त (तम्) उस मुख्य प्राण को लक्ष्य करके (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव ओंकार की (उपासाञ्चक्रे) उपासना किया करते थे (हि) निश्चय (वाक्) वाणी (बृहती) बृहती है (तस्याः) उस वाणी का (एषः) यह प्राण (पतिः) स्वामी है (एतम्) इसी को (बृहस्पतिम्) बृहस्पति (एव) निश्चय करके (मन्यन्ते) वैदिक लोग मानते हैं ॥ ११ ॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध बृहस्पति नामक देवपुरोहित ने उस आङ्गिरस

गुण से युक्त उस मुख्य प्राण को ही लक्ष्य यानी प्रतीक बनाकर उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की थी। अतः वैदिक लोग प्राण को ही "बृहस्पति" मानते हैं। क्योंकि वाणी का एक नाम बृहती भी है और उसका यह पति –रक्षक है। अथवा इस श्रुति के उत्तरार्ध में "बृहस्पति" शब्द की व्युत्पत्ति साक्षात् श्रुति कहती है—"वाणी को ही बृहती कहते हैं उस वाणी का यह प्राण पति है इस कारण से इसी को बृहस्पति लोग मानते हैं" बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

एष उ एव बृहस्पति र्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः।
(बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० २०)

निश्चय यही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है उसका यह प्राण पति है इसलिये यह बृहस्पति है ॥ २० ॥ बृहस्पति नामक देवपुरोहित के विषय में लिखा है—

बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०)
बृहस्पति देवता, इन्द्र देवता और वरुण देवता हैं ॥ २० ॥

बृहस्पतिपुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवै रवन्तु मा ॥
(यजु० अ० २० म० ११)

बृहस्पति हैं पुरोहित जिनके वे देवगण परब्रह्म नारायण देव की प्रेरणा से समस्त देवों के सहित मेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः ॥
(तैत्तिरीयो० व० २ अनुवा० ८ श्रु० ४)

देवराज इन्द्र के जो वे एक सौ आनन्द हैं वह देवपुरोहित बृहस्पति का एक आनन्द है ॥ ४ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतेरानन्दः ॥ (भगवद्गी० १०।२४)

हे अर्जुन ! पुरोहितों में श्रेष्ठ बृहस्पति तू मुझको जान ॥ २४ ॥
इस श्रुति में बृहस्पति की उपासना प्रतिपादन किया गया है ॥ ११ ॥

तेन तं हायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्रे ।
एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ–(ह) प्रसिद्ध (अयास्यः) अयास्य नामक ऋषि (उ) निश्चय करके (तेन) उस बृहस्पति गुण से युक्त (तम्) उस मुख्य प्राण को लक्ष्य करके (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव ओंकार की (उपासाञ्चक्रे) उपासना करते थे

(एतम्) इसी प्राण को (अयास्यम्) अयास्य (एव) निश्चय करके (मन्यन्ते) वैदिक लोग मानते हैं (यत्) जो (आस्यात्) मुख से (अयते) निकलता है वह अयास्य—प्राण है ।। १२ ।।

विशेषार्थ —प्रसिद्ध अयास्य नामक ऋषि ने उस बृहस्पति गुण से युक्त मुख्य प्राण को ही लक्ष्य यानी प्रतीक बनाकर उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की थी। अतः वैदिक लोग प्राण को ही "अयास्य" मानते हैं। क्योंकि यह प्राण मुख से निकलता है। इस श्रुति के अन्त में **"आस्यात् यदयते"** इस खण्ड में **"अयास्य"** शब्द की व्युत्पत्ति साक्षात् श्रुति कहती है "मुख से जो निकलता है" वह अयास्य—प्राण है। इस श्रुति में बृहस्पति गुण से युक्त मुख्य प्राण को लक्ष्य करके उद्गीथ के अवयव प्रणव की उपासना कही गई है ।। १२ ।।

तेन तं ह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार
स ह नैमिषीयाणामुद्गाता बभूव ।
स ह स्मैभ्यः कामानागायति ।। १३ ।।

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (दाल्भ्यः) दल्भ ऋषि का पुत्र (बकः) बक नामक ऋषि (तेन) उस पूर्वोक्त आङ्गिरस बृहस्पति और अयास्य आदि गुण से युक्त (तम्) उस मुख्य प्राण को लक्ष्य करके उद्गीथ के अवयव ओंकार की (विदाञ्चकार) उपासना किया करते थे (ह) प्रसिद्ध (सः) वे बक ऋषि (नैमिषीयाणाम्) नैमिषारण्य निवासी परम प्रसिद्ध यज्ञ करने वाले ऋषियों के (उद्गाता) उद्गाता नाम के ऋत्विक् (बभूव) हुए (ह) प्रसिद्ध (सः) वे बक नाम के ऋषि (एभ्यः) नैमिषारण्य में यज्ञ करनेवाले इन ऋषियों के लिये (कामान्) मनोरथों को (आगायति स्म) गाया करते थे अर्थात् विद्या के महात्म्य से गान द्वारा यजमान के मनोरथ को पूर्ण किया करते थे ।। १३ ।।

विशेषार्थ - प्रसिद्ध है कि दल्भ ऋषि का पुत्र बक नाम वाले ऋषि ने उस पूर्वोक्त आङ्गिरस बृहस्पति और अयास्य आदि गुण विशिष्ट प्राण को ही लक्ष्य बनाकर उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की थी। इस श्रुति में वेदन का

अर्थ उपासना है, क्योंकि लिखा है—

वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात् ॥ (बोधायनवृत्ति०)

वेदन उपासना ही है क्योंकि उपासना के विषय में वेदन छान्दोग्य की श्रुति में सुना जाता है ॥ वे प्रसिद्ध बक ऋषि नैमिषारण्य में यज्ञ करनेवाले ऋषियों के उद्गाता हुये थे और उन्होंने इन यज्ञ करने वाले नैमिषारण्य निवासी ऋषियों के लिये उनकी कामना पूर्ति के उद्देश्य से आङ्गिरस, बृहस्पति, अयास्य आदिक गुण विशिष्ट प्राण को लक्ष्य करके उद्गीथ का अवयव प्रणव का गान किया था यह प्रसिद्ध कहावत है। नैमिषारण्य के विषय में वाल्मीकीय रामायण में लिखा है–

यज्ञवाटश्च सुमहान्गोमत्या नैमिषे वने ।

(वाल्मी० रा० उत्तरकां० ७ सर्ग० ६१ श्लो० १५)

आज्ञाप्यतां महाबाहो तद्धि पुण्यमनुत्तमम् ।
शान्तयश्च महाबाहो प्रवर्तन्तां समन्ततः ॥ १६ ॥
शतशश्चापि धर्मज्ञाः क्रतुमुख्यमनुत्तमम् ।
अनुभूय महायज्ञं नैमिषे रघुनन्दन ॥ १७ ॥

हे लक्ष्मण गोमती नदी के किनारे नैमिषारण्य में यज्ञभूमि निर्माण की जाय ॥ १५ ॥ वह बड़ा पुण्य स्थान है। वहाँ के ऋषियों को निमंत्रण करो कि वे सब प्रकार से शान्ति पाठ करें ॥ १६ ॥ उन महात्माओं ने नैमिषारण्य में सैकड़ों श्रेष्ठ यज्ञ किये हैं, इस कारण से वे इस यज्ञ की विधि को सम्यक् प्रकार से जानते हैं ॥ १७ ॥

एवं सुविहितो यज्ञोह्यश्वमेधो ह्यवर्तत ।
लक्ष्मणेन सुगुप्ता सा हयचर्या प्रवर्तत ॥ (वा०रा०कां०७ स०९२ श्लो०६)
न शक्रस्य न सोमस्य यमस्य वरुणस्य च ॥ १७ ॥
ईदृशो दृष्टपूर्वो न एवमूचुस्तपोधनाः ।
सर्वत्र वानरास्तस्थुः सर्वत्रैव च राक्षसाः ॥ १८ ॥
ईदृशो राजसिंहस्य यज्ञः सर्वगुणान्वितः ।
संवत्सरमथो साग्रं वर्तते न च हीयते ॥ १९ ॥

इस प्रकार से विधि पूर्वक अश्वमेध यज्ञ आरम्भ होने लगा, लक्ष्मण जी घोड़े की परिचर्या और रक्षा में नियुक्त हुये ॥ १६ ॥ न इन्द्र, न चन्द्र, न यम, न वरुण ॥ १७ ॥ देवताओं के यहाँ भी ऐसा यज्ञ हमने नहीं देखा इस प्रकार वे सब तपस्वी कहने लगे सबही स्थानों में वानर और राक्षस ॥ १८ ॥ वस्त्र, धन, अन्न से पूर्ण दान करने के निमित्त खड़े दीखते थे इस सवगुणसंपन्न राजसिंह श्रीरामजी का यज्ञ वर्ष दिन से कुछ अधिक पर्यन्त होता रहा परन्तु किसी बात में कोई त्रुटि नहीं हुई ॥ १६ ॥ इस प्रकार अनेक यज्ञ नैमिषारण्य में हुए हैं इससे वह ऋषियों का निवास स्थान अत्यन्त पवित्र है ॥ १३ ॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षर-मुद्गीथमुपास्ते । इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

॥ इतिप्रथमप्रपाठके द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (विद्वान्) विद्वान् उपासक (एतत्) इस (उद्गीथम्) उद्गीथ के अवयव (अक्षरम्) ओम् अक्षर को (एवम्) इस प्रकार की (उपास्ते) उपासना करता है वह उद्गाता उपासक (ह) प्रसिद्ध है कि (वै) निश्चय करके (कामानाम्) यजमान की मनोवाञ्छित वस्तु को (आगाता) गान से भली भाँति पूर्ण करनेवाला (भवति) हो जाता है (इति) इस प्रकार (अध्यात्मम्) अध्यात्म-विषयक अर्थात् इन्द्रिय, मन, प्राणादि संघात रूप शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली उपासना का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में उद्गीथोपासन समाप्त करती हुई श्रुति उपासना के फल को कहती है—प्राण के महत्व को इस प्रकार जानने वाला जो उपासक इस उद्गीथ के अवयव ओम् अक्षर को इस प्रकार की उपासना करता है। वह उद्गाता निःसन्देह ओंकार के गान द्वारा यजमान की मनोवाञ्छित वस्तु को पूर्ण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार अध्यात्मविषयक शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली उद्गीथोपासना का प्रकरण समाप्त हुआ। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ १४ ॥

॥ अथतृतीयखण्डः ॥

अथाधिदैवतम्। य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत। उद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति। उद्यं स्तमो भममपहन्ति। अपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अध्यात्मविषय उद्गीथ की उपासना कहने के अनन्तर (अधिदैवतम्) देवताओं के विषय के उद्गीथ की उपासना कहते हैं (यः) जो (असौ) यह सूर्य (एव) निश्चय करके (तपति) तप रहा है उस सूर्य की दृष्टि से (तम्) उस (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासीत) उपासना करे (वै) निश्चय करके (एषः) यह सूर्य (उद्यन्) उदय होता हुआ (प्रजाभ्यः) प्रजा के लिये (उद्गायति) उच्च स्वर से गान करता है (उद्यन्) उदय होता हुआ सूर्य (तमः) रात्रि के अन्धकार को और (भयम्) अन्धकार जनित प्राणियों के भय को (अपहन्ति) दूर कर देता है (यः) जो मनुष्य (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह उपासक (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तमसः) अन्धकार के (भयस्य) और भय का (अपहन्ता) विनाशक (भवति) होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अध्यात्मविषय के उद्गीथ की उपासना कहने के बाद अब आधिदैविक उपासना का वर्णन किया जाता है। जो यह सूर्य तपता है उसी की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। यह सूर्य उदित होते ही मानो समस्त प्रजा के लिये अन्न आदि की उत्पत्ति के उद्देश्य से उद्गान करता है—उनकी उन्नति में कारण बनता है, इसीलिये यह उद्गीथ है। इतना हीं नहीं यह उदित होते अन्धकार और प्राणियों के अन्धकार से उत्पन्न भय का नाश कर देता है। अब इस उपासना के फल को श्रुति कहती है कि—जो इस प्रकार सूर्य के प्रभाव को जानता है वह स्वयं जन्म मृत्यु के भय एवं अज्ञान रूप अन्धकार का

नाशक बन जाता है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है—

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः।

(प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ८)

प्रसिद्ध निश्चय करके सूर्य बाहर का प्राण है, यही निश्चय इस चक्षुर्गोलकवर्ती इन्द्रिय सम्बन्धी प्राण के प्रति अनुग्रह करता हुआ बाहर सूर्यरूप से उदय होता है ॥ ८ ॥

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे ॥

(अथर्व कां० ७ सू० १३ मं० २)

जिस प्रकार उदित होता हुआ सूर्य सोये हुये के नेत्र को हर लेता है उसी प्रकार मैं शत्रुओं को हर लेता हूँ ॥२॥ श्रीकुरङ्गनगरीपूर्णमंत्र-रत्नोपदेशक भगवद्रामानुजाचार्य ने **आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः॥** (शा०मी० ४।१।६) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के तृतीय खण्ड की पहली श्रुति के **"या य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत"** इस खण्ड को उद्धृत किया है। इस श्रुति में ऋत्वङ्ग उद्गीथ में आदि-त्यादि दृष्टि करके उपासना का विधान है ॥१॥

समान उ एवायं चासौ च। उष्णोऽयमुष्णोऽसौ। स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम्। तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥२॥

अन्वयार्थ – (उ) अध्यात्म प्रकरण में प्रसिद्ध (एव) निश्चय करके (अयम्) यह प्राण (च) और (असौ) अधिदैवत प्रकरण में कहा हुआ वह सूर्य (समानः) समान हैं (अयम्) यह प्राण (उष्णः) उष्ण है (च) और (असौ) वह सूर्य (उष्ण.) उष्ण है (इमम्) इस प्राण को (स्वरः) स्वर यानि गन्ता (इति) ऐसा (आचक्षते) प्राणतत्त्व जानने वाले कहते हैं और (अमुम्) उस सूर्य को (स्वरः) स्वर यानी गमन करनेवाला (इति) ऐसा तथा (प्रत्यास्वरः) प्रत्यास्वर यानी फिर उसी स्थान पर आजाने-वाला (इति) ऐसा वैदिक पुरुष कहते हैं (तस्मात्) इसलिये (वै) निश्चय करके (इमम्) इस प्राण को (च) और (अमुम्) उस सूर्य को (एतम्)

एतादृशगुणविशिष्ट (उद्गीथम्) उद्गीथ में अध्यस्त की (उपासीत) उपासना करे ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अध्यात्म प्रकरण में कहा हुआ यह प्राण और अधिदैवत प्रकरण में कहा हुआ वह सूर्य दोनों समान ही हैं। क्योंकि यह मुख्य प्राण उष्ण है और सूर्य भी गर्म है। उच्छ्वास की गर्मी उपलब्ध होने से और प्राण के रहने पर देह गर्म रहता है तथा प्राण के न रहने से देह ठंढ़ा हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि प्राण उष्ण है और सूर्य में तो उष्ण सबके ही प्रत्यक्ष है। इस प्राण को लोग "स्वर" कहकर पुकारते हैं और उस सूर्य को "स्वर" एवं "प्रत्यास्वर" इन दोनों नामों से पुकारते हैं। भ्वादि पठित **"स्वृ शब्दोपतापयोः"** और चुरादिपठित **"स्वर आक्षेपे"** तथा भ्वादि पठित "सु" पूर्वक **"ऋसृगतौ"** इन धातुओं से "स्वर" गमन अर्थ में निष्पन्न होता है। प्राण रात दिन गतिमान रहता है और एक देह को छोड़कर दूसरे में जाता है। अतः प्राण स्वर है। अथवा नासिकाओं से सर्वदा प्राण वायु निकलता रहता है अतः प्राण स्वर है। अथवा प्राण के द्वारा शब्द का उच्चारण होता है। अतः प्राण स्वर है। प्राण एक शरीर से निकल कर पुनः उसी शरीर में नहीं आता है, इसलिये प्राण को प्रत्यास्वर नहीं कह सकते हैं। सूर्य रात दिन गतिमान् रहता है और उदयाचल से उदय लेकर नित्यप्रति अस्ताचल पर जाता है अतः सूर्य स्वर है। और सूर्य उदयाचल से अस्ताचल पर जाकर फिर उदयाचल पर ही आकर उदित होता है इससे सूर्य को प्रत्यास्वर भी कहते हैं। अर्थात् प्राण और सूर्य दोनों में उष्ण गुण तथा गमन क्रिया समान हैं। इसलिये निश्चय करके प्राण को और सूर्य को उष्णगुण तथा गमन क्रियाविशिष्ट उद्गीथ में अध्यस्त की उपासना करनी चाहिये। इस श्रुति में स्पष्ट "स्वर" सूर्य को कहकर श्रुति ने सूर्य का गमन सिद्ध किया है। अन्यत्र भी लिखा है—

हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् । (ऋग्वे०)
सूर्यदेव भुवनों को देखते हुए सुवर्ण के रथ से जाता है॥ सूर्य के

विषय में लिखा है—

पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः ।
सप्ताश्वरथसंस्थश्च द्विभुजः स्यात्सदा रविः ॥ (मत्स्यपु०)

कमलासन से कमल पर बैठा हुआ तथा हाथ में कमल का पुष्प लिया हुआ कमल गर्भ के समान कान्ति वाला सात घोड़ों के रथ में बैठा हुआ और दो भुजा वाला सर्वदा सूर्यदेव रहता है ।

जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम् ।
तमोऽरिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम् ॥ (नवग्रहस्तो० श्लो० १)

ओड़हुल के पुष्प के समान लाल काश्यपेय महाकान्ति वाले अन्धकार नाशक और सब पाप को नाश करने वाले सूर्यदेव को मैं साष्टाङ्ग प्रणिपात करता हूँ ॥ १ ॥

भास्वान्काश्यपगोत्रजोऽरुणरुचिर्यःसिंहराशीश्वरः
षट्त्रिस्थो दशशोभनो गुरुशशीभौमेषु मित्रं सदा ।
शुक्रो मन्दरिपुः कलिङ्गजनितश्चाग्नीश्वरौ देवते
मध्ये वर्तुलपूर्वदिग्दिनकरः कुर्यात्सदा मङ्गलम् ॥
(नवग्रहमङ्गलस्तो० श्लो० १)

प्रकाश करने वाले काश्यपगोत्रोत्पन्न अरुणकान्ति वाले सिंह राशि का स्वामी, छठवें, तीसरे और दशवें स्थान में स्थित कल्याण करनेवाले चन्द्रमा, मङ्गल और वृहस्पति का सर्वदा मित्र तथा शुक्र, शनि, शत्रु-वाले कलिङ्ग देश में उत्पन्न और अग्नि तथा ईश्वर देवता वाले मध्य में गोलाकार पूर्वदिशा में रहकर दिन करने वाले सूर्यदेव सर्वदा मंगल करें ॥१॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट सात घोड़ों से युक्त सोने के रंग वाले रथ से सूर्यदेव चलते हैं यह सिद्ध हो गया ॥ २ ॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत । यद्वै प्राणिति स प्राणः । यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः । यो व्यानः सा वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ - (अथ) अब (खलु) निश्चय करके (व्यानम्) व्यान (एव) ही (उद्गीथम्) उद्गीथ है, इस दृष्टि से उद्गीथ की (उपासीत) उपासना करे (यत्) जिस वायु को (वै) निश्चय करके (प्राणिति) मुख-नासिकाओं से मनुष्य बाहर निकलता है (सः) वह (प्राणः) प्राण नाम की वायु है तथा (यत्) जिस वायु को (अपानिति) मुख नासिकाओं से भीतर आकर्षण करता है (सः) वह (अपानः) अपान नाम की वायु है (अथ) और (यः) जो (प्राणापानयोः) प्राण तथा अपान की (सन्धिः) सन्धि – मिलाने वाला है (सः) वह (व्यानः) व्यान है (यः) जो (व्यानः) व्यान है (सा) वही (वाक्) वाणी है (तस्मात्) इस कारण से (अप्राणन्) श्वास को बिना निकाले तथा (अनपानन्) श्वास को बिना भीतर खींचे (वाचम्) वाणी को (अभिव्यारहित) मनुष्य व्यान वृत्ति से भलीभाँति बोलता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—इसके बाद अब दूसरे प्रकार की उपासना बतलायी जाती है। व्यान के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। मनुष्य जो श्वास के द्वारा भीतर की वायु को बाहर निकालता है वह प्राण है। और जो बाहर की हवा को भीतर ले जाता है वह अपान है। तथा जो प्राण और अपान की सन्धि हैं वह व्यान है। जो व्यान है वही वाणी है। इसीलिये मनुष्य श्वास को बाहर निकालने और भीतर खींचने की क्रिया न करते हुए ही वाणी का स्पष्ट उच्चारण करता है। अर्थात् समान्यतया बोलते समय श्वास प्रश्वास की क्रिया बन्द हो जाती है। इस श्रुति में व्यानत्वेन उद्गीथ की उपासना प्रतिपादित की गई है ॥३॥

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति। यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(या) जो (वाक्) वाणी है (सा) वही (ऋक्) ऋचा है (तस्मात्) इसलिये (अप्राणन्) श्वास को बिना निकाले और (अनपानन्) श्वास को बिना भीतर खींचे (ऋचम्) ऋचा को (अभिव्याहरति)

भलीभाँति उच्चारण करता है (या) जो (ऋक्) ऋक् है (तत्) वही (साम) सामवेद है (तस्मात्) इसलिये (अप्राणन्) श्वास को बिना बाहर निकाले तथा (अनपानन्) श्वास को बिना भीतर खींचे (साम) सामवेद को (गायति) उद्गाता गाता है (तत्) जो (साम) साम है (सः) वही (उद्गीथः) उद्गीथ है (तस्मात्) इसलिये (अप्राणन्) श्वास को बिना बाहर निकाले और (अनपानन्) श्वासको बिना भीतर खींचे (उद्गायति) उपासक उद्गीथ का उच्च स्वर से गान करता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जो वाणी है वही ऋचा है। क्योंकि लिखा है—

वाच ऋग्रसः ॥ (छां० उ० प्र० १ खं० १ श्रु २)

वाणी की ऋचा सार है ॥२॥ इसलिये मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करते हुए ही वेद की ऋचाओं का भलिभाँति उच्चारण करता है। जो ऋचा है वही साम है। क्योंकि लिखा है—

ऋचः साम रसः ॥ (छां० उ० प्र० १ खं० १ श्रु० २)

ऋचा का साम सार है ॥ २ ॥ इसलिये मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही साम का गान करता है। जो साम है वही उद्गीथ है। क्योंकि लिखा है—

साम्न उद्गीथो रसः ॥ (छां० उ० प्र० १ खं १ श्रु० २)

साम का उद्गीथ सार है ॥२॥ इसलिये मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही उद्गीथ का उच्च स्वर से गान करता है। अर्थात् तीनों में व्यान की ही प्रधानता है। इस श्रुति से व्यान ऋक् वाणी साम और उद्गीथ इन पाँचों की एकता प्रतिपादित की गई है ॥४॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानँस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥५॥

अन्वयार्थ—(अतः) इस पूर्वोक्त से अतिरिक्त (यानि) जो (अन्यानि) अन्य (वीर्यवन्ति) बलवाले (कर्माणि) कर्म हैं (यथा) जैसे लोक में (अग्नेः) आग का (मन्थनम्) मन्थन करना (आजेः) संग्राम भूमि से

(सरणम्) दौड़ना (दृढस्य दृढ़ (धनुषः) धनुष का (आयमनम्) चढ़ाना, खींचना, आकर्षण करना आदि (तानि) उन सब कर्मों को (अप्राणन्) श्वास को बिना बाहर निकाले तथा (अनपानन्) श्वास को बिना भीतर खींचे (करोति) मनुष्य करता है (एतस्य) इस (हेतोः) कारण से (व्यानम्) व्यान को (एव)ही(उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासीत) उपासना करे।५।

वियेषार्थ—इस पूर्वोक्त से अतिरिक्त जो विशेष सामर्थ्य की अपेक्षा रखने वाले कर्म हैं—जैसे काष्ठ मन्थन द्वारा अग्नि कोप्रकट करना, संग्राम में एक नियत सीमा तक दौड़ लगाना, कठोर धनुष को खींचना इत्यादि इन सबको मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया को रोक कर व्यान के बल से ही करता है। इस प्रकार व्यान की श्रेष्ठता सिद्ध हो जाने के कारण व्यान के रूप में ही उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये कर्म के विषय में लिखा है—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ (गी० १८।२३)

जो शास्त्र नियत कर्म कर्तापन के सम्बन्ध से रहित बिना रागद्वेष के ओर फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते वहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ (गी० १८।२४)

परन्तु जो कर्म फलाकाँक्षी पुरुष के द्वारा अहङ्कार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है वह राजस कहलाता है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ (गी० १८।२५)

अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और अपने सामर्थ्य को न देखकर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥ प्रकृत श्रुति में व्यान साध्य सब कर्म होने से व्यान को उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। यह प्रतिपादित किया गय है ॥ ५ ॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति। प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाग्गी र्वाचो ह गिर इत्याचक्षते। अन्नं थम्। अन्ने हीदं सर्वं स्थितम् ॥६॥

अन्वयार्थ--(अथ) उद्गीथ की उपासना के अनन्तर(खलु) निश्चय करके (उदगीथाक्षराणि) उद्गीथ शब्द में जो तीन अक्षर हैं उन अक्षरों की (उपासीत) उपासना करे (उद्गीथः) उत् १, गी २, थ ३ (इति) ये तीन अक्षर हैं (उत्) इस पहले अक्षर में (एव) निश्चय करके (प्राणः) प्राणबुद्धि करनी चाहिये (हि) क्योंकि (प्राणेन) प्राण से (उत्तिष्ठिति) जीव ऊपर उठता है (गीः) गी इस दूसरे अक्षर में (वाक्) वाक्बुद्धि करनी चाहिये (ह) प्रसिद्ध है कि (वाचः) वाणी को ही (गिरः) गिर (इति) ऐसा (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (थम्) थ इस तीसरे अक्षर में (अन्नम्) अन्न बुद्धि करनी चाहिये (हि) क्योंकि (इदम्) यह (सर्वम्) सब प्राणी समूह (अन्ने) अन्न में (स्थितम्) स्थित है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—उद्गीथ की उपासना करने के बाद अब "उद्गीथ" शब्द में जो उद् १, गी २, थ ३ ये तीन अक्षर हैं उनकी उपासना बताई जाती है कि "उत्" इस पहले अक्षर में प्राण बुद्धि करनी चाहिये क्योंकि मनुष्य प्राण से ही उत्थान करता है। और "गी" इस दूसरे अक्षर में वाणा बुद्धि करनी चाहिये क्योंकि वाणी को ही "गीः" इस नाम से विद्वान् जन पुकारते हैं। क्योंकि लिखा है—

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती ॥

(अमरको० कां० १ व० ६ श्लो० १)

ब्रह्मी, भारती भाषा, गीः/वाक्, वाणी सरस्वती है ॥ १ ॥ ये एक ही "वचन" के पर्याय वाचक शब्द हैं। और "थ" इस तीसरे अक्षर में अन्न बुद्धि करनी चाहिये क्योंकि यह सब प्राणी समूह अन्न के ही आधार पर स्थित है। अन्न के विषय में लिखा है—

अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥

(तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० २ श्रु० १)

प्राणियों के द्वारा खाया जाता है और प्राणियों को खाता है उससे वह अन्न कहा जाता है ॥ १ ॥

पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ (गी० १५।१४)

खाद्य, चोष्य, लेह्य और पेय रूप चार प्रकार के अन्न को पकाता हूँ ।१४। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत् । प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धम् । वागेव गीथा । उच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥

(बृह० उ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० २३)

यही उद्गीथ है । प्राण ही उत् है । क्योंकि प्राण से ही सभी प्राणी उत्थित होते हैं । वाणी ही गीथा है । वह उत् है और गीथा भी है इसलिये वह उद्गीथ है ॥ २३ ॥ प्रकृत श्रुति में उद्गीथ शब्द के उत् १, गी २, थ ३, इन तीन अक्षरों की उपासना बतायी गयी है ॥ ६ ॥

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थं सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थम् । दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम् । यो वाचो दोहः । अन्नवानन्नादो भवति । य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(उत्) उद्गीथ शब्द का पहला अक्षर "उत्" (एव) निश्चय करके (द्यौः) द्युलोक है । इससे 'उद्" अक्षर में द्युलोक बुद्धि करनी चाहिये (गीः) दूसरा अक्षर "गी" (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक है । इससे "गी" अक्षर में अन्तरिक्ष लोक बुद्धि करनी चाहिये । (थम्) तीसरा अक्षर "थ" (पृथिवी) पृथ्वी लोक है । अतः "थ" अक्षर में पृथ्वी लोक बुद्धि करनी चाहिये फिर (उत्) पहला अक्षर "उत्" (एव) निश्चय करके (आदित्यः) सूर्यदेव है । इससे "उद्" अक्षर में सूर्य बुद्धि करनी चाहिये (गीः) दूसरा अक्षर "गी" (वायुः) वायुदेव है । इससे "गी" अक्षर में वायु बुद्धि करनी चाहिये (थम्) तीसरा अक्षर "थ" (अग्निः) अग्निदेव हैं । इससे "थ" अक्षर में अग्नि बुद्धि करनी चाहिये

और (उद्) पहला अक्षर "उद्" (एव) निश्चय करके (सामवेदः) सामवेद है। इससे "उद" अक्षर में सामवेद बुद्धि करनी चाहिये (गीः दूसरा अक्षर "गी" (यजुर्वेदः) यजुर्वेद है। इससे "गी" अक्षर में यजुर्वेद बुद्धि करनी चाहिये (थम्) तीसरा अक्षर "थ" (ऋग्वेदः) ऋग्वेद है। इससे "थ" अक्षर में ऋग्वेद बुद्धि करनी चहिये (वाक्) वाणी (अस्मै) उस सकाम उपासक के लिये (दोहम्) दूध (दुग्धे) स्वयं अपने को दुहती है (यः) जो (वाचः) वाणी का (दोहः) दूध है (यः) जो उपासक (एतानि) इन (उद्गीथाक्षराणि) उद्गीथ के अक्षरों को (उद्गीथः) उद् १, गी २, थ ३, (इति) ये तीन अक्षर हैं (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) उपासना करता है वह (अन्नवान्) प्रचुर अन्नवाला और (अन्नादः) अन्न के खाने वाला दीप्ताग्नि (भवति) होता है ॥७॥

विशेषार्थ—फिर उद्गीथ शब्द में "उत्" "गी" "थ" ये तीन अक्षर हैं। इसके विषय में श्रुति कहती है कि—"उत्" ही स्वर्ग लोक है "गी" अन्तरिक्ष लोक है और "थ" भू लोक है। लाक के विषय में लिखा है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ योग० अ० १ पा० ३ सू० २४)

तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति। "ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥" (व्यास भाष्य)

सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥ २४॥ उस भुवन का विस्तार सात लोक है। अवीचि नाम के स्थल से लेकर सुमेरु पर्वत के पीठ तक भूलोक है १, और सुमेरु के पीठ से लेकर ध्रुवपर्यन्त नक्षत्र, तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्ष लोक है २, तथा उससे परे पाँच प्रकार के स्वर्गलोक हैं ३, और तृतीय माहेन्द्रलोक है तथा प्रजापति का

चौथा महर्लोक है ४, और तीन प्रकार के ब्रह्मलोक हैं—जनलोक ५, तपोलोक ६, और सत्यलोक ७ ॥ "उत्" ही सूर्यदेव है, "गी" वायुदेव है, और "थ" अग्निदेव है। देवता के विषय में लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता ॥ (यजु०अ० १४ मं० २०)
अग्निदेव. वायुदेव और सूर्यदेव ॥ २० ॥

त्रयो देवाः ॥ (यजु० अ० २० मं ११) तीन देव ॥११॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥ निरु०दैवतका० अ० ७ खं० ५)
ये तीन देवता हैं, अग्नि देवता पृथ्वी स्थान में, वायुदेवता तथा इन्द्र-देवता अन्तरिक्ष स्थान में. और सूर्यदेवता द्यु स्थान में हैं। इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक-एक के बहुतसे नाम होते हैं ॥५॥ "उत्" ही सामवेद है. "गी" यजुर्वेद है और "थ" ऋग्वेद है। यजुर्वेद के विषय में लिखा है—

शेषे यजु शब्दः ॥ (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३७)
शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ॥ ३७ ॥

शतं च नवशाखासु यजुषामेव जन्मनाम् ॥ (सोतोप०)
एक सौ नौ शाखा वाला यजुर्वेद प्रादुर्भूत हुआ है ॥

नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥ (मुक्तिको०अ० १ श्रु०१२)
हे पवनसुत महावीर, यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं ॥ १२ ॥

एकशतमध्वर्युशाखाः ॥ (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १)
महर्षि पतञ्जलि के समय में—एक सौ एक शाखाएँ यजुर्वेद की थीं ॥१॥

शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम् ।
शुक्लं वाजसनेयं तु कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम् ॥
(प्रतिज्ञासूत्रभाष्य)

शुक्ल और कृष्ण भेद से यजुर्वेद दो प्रकार का कहा गया है, उनमें वाजसनेय शुक्लयजुर्वेद है और तैत्तिरीय कृष्णयजुर्वेद है।

यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम् ।
शाखास्तत्र शिखाकारा दश पञ्चाथ शुक्लगाः ॥ (बृहन्नारदीय०)

यजुर्वेद महाकल्पतरु की एक सौ एक शाखाएँ हैं उनमें शुक्लयजुर्वेद की पन्द्रह शाखाएँ शिखाकार हैं. वे निम्नलिखित हैं "जाबाल १, बौधेय २, काण्व ३, माध्यन्दिन ४, शापेय ५, स्थापायनीय ६, कपोल७, पाण्डरवत्स ८ आवटिक ९, परमावटिक १०, पराशर ११, वैणेय १२, वैधेय १३, वैनतेय १४, वैजवस् १५।" ऋग्वेद और सामवेद के विषय में प्रथम खण्ड की द्वितीय श्रुति में ही मैं लिख चुका हूँ। अर्थात् उद्गीथ का का पहले "उत्" अक्षर में द्युलोक, आदित्य और सामवेद बुद्धि करनी चाहिये तथा दूसरे "गी" अक्षर में अन्तरिक्ष, वायु और यजुर्वेद बुद्धि करनी चाहिये और तीसरे "थ" अक्षर में पृथ्वी, अग्नि और ऋग्वेद बुद्धि करनी चाहिये। आगे मनुष्य की प्रवृत्ति के लिये उद्गीथ के अक्षरों की उपासना का फल श्रुति कहती है कि—वाणी उस सकाम उपासक के लिये दूध स्वयं अपने को दुहती है। जो वाणी का दूध है। जो उपासक उद्गीथ के "उत्" "गी" "थ" इन तीन अक्षरों को पूर्वोक्त रीति से जानता हुआ उपासना करता है वह प्रचुर अन्नवाला और अन्न को खानेवाला दीप्ताग्नि हो जाता है ॥ ७ ॥

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत ।
येन साम्ना स्तोष्यान् स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ - (अथ) उद्गीथ के अक्षर की उपासना के अनन्तर (खलु) निश्चय करके (आशीः) आशीर्वाद या कामना (समृद्धिः) की परमवृद्धि हेतुभूत (उपसरणानि) उपासना को (इति) इस प्रकार मानकर (उपासीत) उपासना करे (येन) जिस (साम्ना) सामवेद के मंत्र से (स्तोष्यन्) ऋत्विक् या यजमान को स्तुति करनी (स्यात्) हो (तत्) उस (साम) सामको (उपधावेत्) चिन्तवन करें—विचारे ॥ ८ ॥

विशेषार्थ - अब कामनाओं की उत्तम सिद्धि का निश्चित साधन बताया जाता है। इसके लिए उपासना के जो सात अंग आगे बताये

जाने वाले हैं उन्हें ध्यान में रखना चाहिये। उनमें से पहला अङ्ग यह है कि जिस सामवेदके मंत्रसे उपासक अपने इष्टदेवकी स्तुति करना चाहता हो उस साम के अर्थ आदि का सदा विचार करे। क्योंकि लिखा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
(निरुक्त० कां० १ अ० १ खं० १८)

जो वेद को पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता है वह स्थाणु भार ढोनेवाला है और जो पढ़ता हुआ उसके अर्थ को जानता है वह ज्ञान से पाप रहित होकर समस्त कल्याण को भोगता है तथा अन्त में स्वर्ग को प्राप्त करता है॥ १८॥

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १)

जो पढ़ा हो और अर्थ न मालूम होता हो तो वह केवल पाठ किया हुआ जैसे भस्म के ऊपर रखा हुआ सूखा ईन्धन नहीं जलता है वैसे ही पूर्ण फलदायक नहीं होता है॥ १॥ इससे श्रुति का अर्थ ज्ञान परमावश्यक है। इससे सामगान के अर्थ आदि पर पूरा पूरा विचार करे॥ ८॥

यस्यामृचि तामृचम्। यदार्षेयं तमृषिम्। यां देवतामभिष्टोष्यन् स्यात्तां देवतामुपधावेत्॥ ६॥

अन्वयार्थ—(यस्याम्) जिस (ऋचि) ऋचा में वह साम हो (ताम्) उस (ऋचम्) ऋचा को (उपधावेत्) चिन्तवन करे (यत्) जो (आर्षेयम्) उस साम का ऋषि हो (तम्) उस (ऋषिम्) ऋषि को चिन्तवन करे (याम्) जिस (देवताम्) मंत्रस्थ विषयक देवता को (अभिष्टोष्यन्) भलीभाँति स्तुति करनी (स्यात्) हो (ताम्) उस (देवताम्) देवता को चिन्तवन करे॥ ६॥

विशेषार्थ—उपासना का दूसरा अङ्ग यह है कि वह साम—गाये जाने वाला मंत्र जिस ऋचा में प्रतिष्ठित हो उस ऋचा को भी ध्यान में रखे। तीसरा अङ्ग यह है कि जिस ऋषि के द्वारा उस मंत्र का साक्षा-

त्कार किया गया हो उस ऋषि को स्मरण रखे। चौथा अङ्ग यह है कि उस साम गान के द्वारा जिस देवता की स्तुति करना उपासक को अभीष्ट हो या उस मंत्र का जो देवता हो उस देवता का भलीभाँति स्मरण रखे। ऋषि का लक्षण लिखा है—

येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता तु येन वै।
मंत्रेण तस्य स प्रोक्तो मुनिभावस्तदात्मकः ॥

(बृहत्पाराशरस्मृ० अध्या० २ श्लो० ४२)

जिस ऋषि ने आदि में जिस मंत्र को देखा है और निश्चय करके मंत्र से जिस ऋषि ने जो सिद्धि प्राप्त की है उस मंत्र का वही ऋषि कहा गया है ॥ ४२ ॥ देवता का लक्षण लिखा है—

यस्मिन्मंत्रे तु यो देवस्तेन देवेन चिह्नितम्। मंत्रं तद्दैवतं विद्यात्सन्ति तत्र तु देवताः ॥ (बृहत्पारा० स्मृ० अ० २ श्लो० ४१)

जिस मंत्र में जो देवता है उस देवता के नाम आदिक से चिह्नित जो मंत्र है उस मंत्र का वही देवता है, क्योंकि मंत्र में देवता रहते हैं ॥४१॥ क्योंकि लिखा है-

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः।

(निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० ४)

ये जो देवता कहे गये हैं इसमें कोई सूक्तों को सेवन करते हैं कोई हविष्य को, कोई ऋचा को, और कोई दोनों का सेवन करते हैं ॥४।६॥

येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात्तच्छन्द उपधावेत्।
येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तं स्तोममुपधावेत् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस (छन्दसा) गायत्री आदि छन्द से (स्तोष्यन्) स्तुति करनी (स्यात्) हो (तत्) उस (छन्दः) छन्द को (उपधावेत्) चिन्तवन करे (येन) जिस (स्तोमेन) त्रिवृत् पञ्चदशादि लक्षण ऋक् संख्याविशेष से (स्तोष्यमाणः) स्तुति करनी (स्यात्) हो (तम्) उस (स्तोमम्) त्रिवृत् पञ्चदशादि लक्षण ऋक्संख्याविशेष को (उपधावेत्) चिन्तवन करे ॥ १० ॥

विशेषार्थ—पाँचवाँ अङ्ग यह है कि जिस गायत्री १, उष्णिक् २, अनुष्टुप् ३, वृहती ४, पंक्ति ५, त्रिष्टुप् ६, जगती ७ आदि छन्द से उपासक स्तुति करना चाहता हो उस छन्द को स्मरण रखे। छठवाँ अङ्ग यह है कि जिस त्रिवृत् पञ्चदशादिलक्षण ऋक् संख्या विशेष से अर्थात् जिस सामवेद के स्तोत्र समूह से स्तुति की जानेवाली हो उस स्तुति समूह रूप स्तोम को भी ध्यान में रखे। छन्द का लक्षण लिखा है—

मृत्युभीतैः पुरा देवैरात्मनश्छादनाय च।
छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमराः॥

(बृहत्पारा० स्मृ० अ० २ श्लो० ३९)

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी कृत्तिरेव च।
छन्दोभिरावृतं सर्वं विद्यात्सर्वत्र नान्यतः॥४०॥

पुराकल्प में देवताओं ने मृत्यु के भयसे डरे हुये अपने को आच्छादित करने के लिये छन्दों को यहाँ स्मरण किया, इसके बाद वे देवता छन्दों से आच्छादित किये गये॥ ३९॥ आच्छादित करने से छन्द कहा गया है और कृत्ति ही वस्त्र है। सब देवगण सर्वत्र छन्दों से आच्छादित हैं दूसरे से नहीं, ऐसा विद्वान् जानें॥ ४०॥ उक्थ १, शस्त्र २, रथन्तर ३ और स्तोम ४ स्तोत्र सामवेद सम्बन्धी हैं॥ १०॥

यां दिशमभिष्टोष्यन् स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥११॥

अन्वयार्थ—(याम्) जिस (दिशम्) दिशा में मुँह करके (अभिष्टोष्यन्) भलीभाँति स्तुति करनी (स्यात्) हो (ताम्) उस (दिशम्) पूर्वादि दिशा को (उपधावेत्) चिन्तवन करे॥ ११॥

विशेषार्थ—सातवाँ अङ्ग यह है कि जिस ओर मुख करके स्तुति करने का विचार हो उस दिशा को भी ध्यान रखे। दिशा के विषय में लिखा है—

इत इदमिति यतस्तद् (दिश्यं लिङ्गम्)॥

(वैशेषि० अध्या० २ आह्नि० २ सू० १०)

यहाँ से यह है इस प्रकार के जो प्राच्यादि व्यवहार का हेतु उसको दिशा कहते हैं॥ १०॥

आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च (प्राची) ॥
(वैशेषि० अ० २ आह्नि० २ सू० १४) तथा
(दक्षिणा) (प्रतीची) (उदीची) च ॥ २।२।१५ ॥

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ (वै. अ. २ आह्नि. २ सू. १६)

उदयाचल के सन्निहित जो सूर्य से संयोग होनेवाली दिशा है वही पूर्व दिशा है ॥ १४ ॥ वैसे ही उदयाचल से दाहिने सूर्य से संयोग होने वाली जो दिशा है वही दक्षिण दिशा है। और अस्ताचल के सन्निहित जो सूर्य से संयोग हानेवाली दिशा है वही पश्चिम दिशा है। तथा उदयाचल से बायें जिधर ध्रुवतारा रहता है वही उत्तर दिशा है ॥१५। इससे अग्नि आदि कोण की भी व्याख्या हो गई ॥१६॥ अर्थात् पूर्वदिशा और दक्षिण दिशा का जो अन्तराल है उसको अग्निकोण कहते हैं तथा दक्षिण दिशा और पश्चिम दिशा का जो अन्तराल है उसको निर्ऋति कोण कहते हैं और पश्चिम दिशा तथा उत्तर दिशा का जो अन्तराल है उसको वायु कोण कहते हैं और उत्तर दिशा और पूर्व दिशा का जो अन्तराल है उसको ईशान कोण कहते हैं ॥ ११ ॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्ययान्नप्रमत्तः। अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत। यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥१२॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अन्ततः) पूर्वोक्त सात उपासनाओं के अङ्गों को चिन्तवन करके अन्त में (आत्मानम्) परब्रह्म नारायण के (उपसृत्य) ध्यान के द्वारा समीप जाकर (कामम्) अपने इष्ट वस्तु को (ध्यायन्) चिन्तवन करता हुआ (अप्रमत्तः) स्वर वर्ण आदि के विषय में सावधान हो आलस्यरहित (स्तुवीत) पवमानादि स्तोत्र प्रारम्भ करे (यत्) जिस (कामः) कामना के अभिलाषो होकर (यत्) जिस इष्ट वस्तु के लिये (इति) इस प्रकार (स्तुवीत्) स्तुति करेगा (ह) निश्चय करके (सः) वह (कामः) शुभ काम (अभ्याशः) शीघ्र (अस्मै) इस उपासक के लिये (समृध्येत) समृद्धि

को प्राप्त होता है (तत्) जिस (कामः) कामना का अभिलाषी होकर (इति) इस प्रकार (स्तुवीत) स्तुति करेगा वह समृद्धि को प्राप्त होगा ॥ १२ ॥

विशेषार्थ – पूर्वोक्त सात उपासनाओं के अङ्गों को स्मरण करते हुए अन्त में प्रमाद रहित अर्थात् सावधान होकर अपनी अभिलाषा को याद रखते हुये परब्रह्म नारायण के समीप में ध्यान के द्वारा जाकर ब्रह्मात्मक सबको चिन्तवन करके स्तुति करनी चाहिये। क्योंकि इस प्रकार स्तुति करनेवाला उपासक जिस कामना से स्तुति करता है उसकी वह कामना शीघ्र ही पूर्णतया सफल हो जाती है। इस श्रुति में— **"यत्कामः स्तुवीतेति"** इस वाक्य का दो बार उच्चारण प्रकृति विद्या की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ १२ ॥

॥ अथ चतुर्थखण्डः ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।
ओमिति ह्युद्गायति । तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(उद्गीथम्) उद्गीथ भक्ति के अवयवभूत (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार के (एतत्) इस (अक्षरम्) विनाशरहित अक्षर को (उपासीत) उपासना करे (हि) क्योंकि यज्ञ में (ओम्) ओम् (इति) इस अक्षर को आरम्भ करके ही (उद्गायति)उद्गाता ऋत्विक् उद्गीथ साम को उच्च स्वर से गान करता है (तस्य) उस ओम् अक्षर का (उपव्याख्यानम्) समीप में विशेष रूप से व्याख्यान किया जाता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ —बीच में उद्गीथ शब्द के अक्षर की उपासना से प्रारम्भ किया अक्षर के अन्तर पड़ जाने के कारण अप्रासङ्गिक दोष न होवे अतः पुनरपि अभयादि गुण सहित प्रकृत अक्षर को स्मरण करवा उसी की व्याख्या करने की इच्छा वाली श्रुति ओमित्यादि का आरम्भ करती हैं कि—उद्गीथ सामोपासना के अवयवभूत ओम् इस अक्षर की उपासना करें। जैसे ग्राम के एक देश अवयव जलने पर भी लोक में

"ग्रामो दग्धः" ग्राम जल गया यह व्यवहार होता है वैसे ही उद्गीथ का अवयव जो प्रणव है उसमें—

यः प्रणवः स उद्गीथः ॥ (छां० उ० प्रपा० १ खं० ५ श्रु० १)

जो प्रणव है वही उद्गीथ है ॥ १ ॥ इस प्रकार से उद्गीथ शब्द के द्वारा श्रुति प्रतिपादन करती है। उद्गाता ऋत्विक् ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में सर्वप्रथम ओम् इस अक्षर को ही उच्चारण करके उद्गीथ साम का उच्च स्वर से गान करता है। क्योंकि लिखा है—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यते ॥ (मनुस्मृ० अ० २ श्लो० ७४)

सर्वदा वेदाध्ययन के प्रारम्भ में और समाप्ति में प्रणव को उच्चारण करे। जिस वेदाध्ययन के प्रारम्भ में प्रणवोच्चारण नहीं किया जाता है वह शनैः शनैः नष्ट हो जाता है और जिस वेदाध्ययन की समाप्ति में प्रणवोच्चारण नहीं किया जाता है वह अवस्थिति को ही नहीं प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥ उस ओङ्कार की व्याख्या विशेष रूप से प्रारम्भ की जाती है। उस प्रणव के विषय में ऋग्वेद में लिखा है—

ओमासश्चर्षणी धृतो विश्वेदेवास आगत। दाश्वांसो दाशुषः सुतम्।

(ऋग्वेद मण्डल० १ सूक्त० १ मं० ६ (निरुक्त० अ० १२ खं० ४०)

हे ओम् के समीप बैठने वाले तथा मनुष्यों को अपने उपदेश से भरण पोषण करनेवाले और विज्ञान के देनेवाले तथा आदर करनेवाले विश्वेदेव देवताओं मेरे द्वारा प्रस्तुत निचोड़ा हुआ भोज्य सोम रस को ग्रहण करने के लिये आपलोग आवें ॥ ६ ॥ रक्षा आदि अर्थ में—

अवतेष्टिलोपश्च ॥ (पाद० १ सू० १४१)

इस उणादि के सूत्र से मन् प्रत्यय और टिलोप होकर "अव" धातु से शब्द सिद्ध होता है। **"आप्लृ व्याप्तौ"** इस धातु से भी ओम् शब्द की सिद्धि ब्राह्मण भाग मानता है।

को धातुरित्याप्लृ धातुः···तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः ॥

(गोपथब्रा० प्रपाठ० १ कां० २६)

ओम् में कौन धातु है, इस प्रश्न का उत्तर "आप्लृ" धातु है जो सर्वत्र व्यापक हो उसे ओङ्कार कहते हैं ॥२६॥ अकार, उकार, मकार इन तीन वर्णों से ओम् शब्द की सिद्धि है ऐसा श्रुति स्मृति पुराण में लिखा है—

मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥

(माण्डूक्यो० खं० ३ श्रु० १)

"अ" "उ" "म्" ये तीनों मात्राएँ पाद हैं ॥ १ ॥

अकार उकारो मकार इति ॥ (नारायणोप० श्रु० ४)

प्रणव में अ, उ, म् ये तीन अक्षर हैं ॥ ४ ॥

अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवम् ॥ (आत्मप्रबोधोप. श्रु.१)

अ तथा उ और म् ये तीन अक्षर प्रणव हैं ॥ १ ॥

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णाः ॥

(योगचूडामण्युनिषद्० श्रु० ७४)

प्रणव में अ, उ, म् ये तीन वर्ण हैं ॥ ७४ ॥

अकार उकारो मकर एते ॥ (वासुदेवोप०)

अ, उ, म् ये तीन अक्षर ओंकार में हैं ॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः । वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ (मनु० अ० २ श्लो० ७६)

प्रजापति ने ऋग्वेद से अ को और भूः को तथा यजुर्वेद से उ को और भुवः को तथा सामवेद से म् को और स्वः को दूहकर निकाला ॥७६॥

अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च ततः परम् । वेदत्रयात्मकं प्रोक्तं प्रणवं ब्रह्मणः पदम् ॥ (पाद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२६ श्लो० २२)

पहले अ उसके बाद उ और उसके बाद म् ये प्रणव में जो तीन अक्षर हैं वे ऋग्यजुः साम स्वरुप हैं तथा प्रणव ब्रह्म का पद है ॥ २२ ॥ श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य स्वामीजी ने "अष्टश्लोकी" के पहले श्लोक की व्याख्या में निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत किया है—

भूरिति ऋग्वेदादजायत भुवरिति यजुर्वेदात् सुवरिति सामवेदात् तानि शुक्राण्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयोवर्णा अजायन्त अकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेतदोमिति ।

"भूः" ऐसी व्याहृति ऋग्वेद से प्रकट हुई "भुवः" ऐसी व्याहृति यजुर्वेद से प्रकट हुई 'सुवः" ऐसी व्याहृति सामवेद से प्रकट हुई। निर्मल प्रकाशमान इन तीनों व्याहृतियों को परब्रह्म नारायण ने सत्यसंकल्प से भलीभाँति तपाया तब इन व्याहृतियों से अ, उ, म् ये तीन अक्षर प्रकट हुए इसके बाद इन तीन अक्षरोंको इकट्ठा किया तब यह ओंकार प्रकट हुआ। प्रणव का अर्थ "माण्डूक्योपनिषद्" की "गूढार्थदीपिका" व्याख्या में मैंने लिखा है। इससे जिसको जानना हो वह वहाँ पर देख ले। सुप्रतिष्ठित-गोविन्दराज भववद्रामानुजाचार्य ने-**सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्** (शा० मी० ३ ३।१) **न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत्** ॥ (शा० मी० ३।३।७) **तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्** ॥ (शा० मी० ३।३।४१) **अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्** ॥ (शा० मी० ३।३।५३) **अङ्गेषु यथाश्रयभावः** ॥ (शा०मी० ३।३।५९) **शिष्टेश्च** ॥ (शा०मी० ३।३।६०) **न वा तत्सहभावाश्रुतेः**॥ (शा. मी. ३।३।६३) **असार्वत्रिकी** ॥ (शा. मी. ३।४।१०) **भावशब्दाच्च** (शा०मी० ३।४।२२) इन नौ सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के चौथे खण्ड की पहली श्रुति के पूर्वार्धं के खण्डों को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। ते छन्दोभिरच्छादयन्। यदेभिरच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(देवाः) इन्द्र आदिक देव लोग (वै) निश्चय करके (मृत्योः) मरण के भय से (बिभ्यतः) डरते हुए (त्रयीम्) ऋग यजुः सामात्मक तीन (विद्याम्) विद्याओं में (प्राविशन्) पैठ गये (ते) उन देवों ने (छन्दोभिः) कर्मविनियुक्त वैदिक गायत्री आदिक मंत्रों से (अच्छादयन्) अपने को ढाँप लिया (यत्) जिस कारण (एभिः) इन छन्दों से देवता लोगों ने (अच्छादयन्) अपने को ढाँप लिया (तत्) वही (छन्दसाम्) वैदिक मंत्रों के (छन्दस्त्वम्) छन्दस्त्व है ॥ २ ॥

विशेषार्थ - वह प्रसिद्ध है कि मृत्यु से डरते हुए देवताओं ने ऋग्

यजुः साम रूप तीनों वेदों में प्रवेश किया अर्थात् वैदिक कर्म प्रारम्भ किया। उन्होंने गायत्री आदि भिन्न भिन्न छन्दों के मंत्रों से अपने को ढक लिया– उन्हें अपना कवच बनाया। देवताओं ने जो भिन्न भिन्न छन्दों से युक्त मंत्रों द्वारा अपने को आच्छादित कर लिया इसी से वे "छन्द" कहलाये। जो आच्छादन करे वही छन्द है यह "छन्दस्" शब्द की व्युत्पत्ति है। त्रयी विद्या के विषय में लिखा है–**तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं सर्वार्थदर्शनम्। ऋग्यजुः सामरूपत्वात्त्रयीति परिकीर्तिता॥** (सीतो०) **चातुर्होत्रप्रधानत्वाल्लिङ्गादित्रितयं त्रयी॥** वहाँ पर चन्द्रमा स्वरूप सर्वार्थ को प्रकट करने वाला आदि शास्त्र है उस आदि शास्त्र को ऋक् यजुः एवं सामात्मक होने से त्रयी कहा जाता है। यज्ञ कर्म में चातुर्होत्र प्रधान है और उसमें देवस्वरूप वर्णन के मंत्र तथा यज्ञ विधि निर्देशक मंत्र और यज्ञ में गान के मंत्र ये ही तीन प्रकार के मंत्र होने से वेदों को त्रयी कहते हैं॥ **ऋग्यजुः सामरूपाः तिस्रो विद्याः॥** (रामानुजभाष्य० गी० अ० ९।२०) ऋक् यजुः और साम रूप तीन विद्यायें॥२०॥ छन्द के विषय में बृहत्पाराशरस्मृति में भी लिखा है– **मृत्युभीतैः पुरा देवैरात्मनश्छादनाय च। छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमराः॥** पारा० स्मृ० अ० २ श्लो० ३९) **छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससीकृत्तिरेव च। छन्दोभिरावृतं सर्वं विद्यात्सर्वत्रनान्यतः॥४०॥** पहले देवताओं ने मरण के भय से डरे हुये अपने को आच्छादित करने के लिये छन्दों को यहाँ स्मरण किये उसके बाद वे देवता छन्दों से आच्छादित किये गये॥ ३९॥ आच्छादित करने से ही छन्द कहा गया है और कृति ही वस्त्र है। सब देवगण सर्वत्र छन्दों से आच्छादित हैं, दूसरे से नहीं ऐसा विद्वान् जान लें॥ ४०॥ देवता के विषय में लिखा है–**अयं देवानामसुरो विराजति॥** (अथर्व० कां० १ सू०१० मं०१) यह असुर इन्द्रादि देवों के मध्य में शोभित होता है॥१॥ **देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे॥** (शतपथ कां० १ अ० २ ब्रा० २ प्र० १) प्रजापति की सन्तान देवता और असुर दोनों परस्पर स्पर्धा करने लगे॥ १॥ इस श्रुति से स्पष्ट मनुष्य से अलग देवता सिद्ध होते हैं॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥३॥

अन्वयार्थ - (यथा) जैसे (मत्स्यम्) मछली को (उदके) जल में (परिपश्येत्) मत्स्यघाती भलीभाँति देखता है (एवम्) वैसे ही (मृत्युः) मृत्यु ने (उ) निश्चय करके (तान्) उन छिपे हुये देवों को (तत्र) उस (ऋचि) ऋग्वेद में (साम्नि) सामवेद में (यजुषि) यजुर्वेद में (पर्यपश्यत्) भलीभाँति देखा (नु) निश्चय करके (ते) वे देव (विदित्वा) मृत्यु के चिकीर्षितव्यापार को जानकर (ऋचः) ऋग्वेद से (साम्नः) सामवेद से (यजुषः) यजुर्वेद से (ऊर्ध्वाः) ऊपर होकर (स्वरम्) ओङ्कार में (एव) ही (प्राविशन्) प्रविष्ट हुये। अर्थात् प्रणव की उपासना करने के लिये प्रवृत्त हुए ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—जैसे मछली पकड़ने वाला मल्लाह जल के भीतर भी मछली को देख लेता है वैसे ही देवताओं को मृत्यु ने उन ऋक्, साम एवं यजुर्वेद के मंत्रों की ओट में भी देख लिया। वहाँ भी उसने इनका पिण्ड नहीं छोड़ा। वे देवता लोग भी इस बात को जान गये। अतः ऋक् साम और यजुर्वेद के मंत्रों से ऊपर उठ कर वे निर्मल अन्तःकरण वाले देवता ओङ्कार की ही उपासना करने के लिये प्रवृत्त हुये ॥ ३ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवं सामैवं यजुः। एष उ स्वरः। यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्यदेवा अमृता अभया अभवन् ॥४॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (वै) निश्चय करके (ऋचम्) ऋग्वेद को (आप्नोति) प्राप्त करता है, अर्थात् ऋग्वेद का प्रारम्भ करता है तब पहले (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार के (एव) निश्चय करके (अतिस्वरति) अतिशय आदर से उच्चारण करता है (एवम्) इसी प्रकार (साम, सामवेद को जब पढ़ता है तब पहले ओंकार का ही अतिशय आदर से उच्चारण करता है (एवम्) इसी प्रकार (यजुः) यजुर्वेद को जब प्रारम्भ करता है तब प्रथम ओंकार का ही अतिशय आदर से उच्चारण करता है

उस कारण से (एषः) यही ओम् (उ) निश्चय करके (स्वरः) स्वर है (यत्) जो (एतत्) यह (अक्षरम्) प्रणव अक्षर है (एतत्) यह (अमृतम्) मरणरहित है और (अभयम्) अभय है (तत्) उस प्रणव में (प्रविश्य) पैठ कर (देवाः) देव लोग (अमृताः) मरणरहित और (अभयाः) निर्भय (अभवन्) हुये ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—जब कोई ऋग्वेद के मंत्रों का पाठ प्रारम्भ करता है तब वह निःसन्देह ओम् इस प्रकार ही उच्चस्वर से उच्चारण करता है। इसी प्रकार सामवेद के मंत्रों का जब कोई गान प्रारम्भ करता है तब वह निश्चय करके ओंकार का ही पहले उच्चस्वर से गान करता है। इसी प्रकार जब कोई यजुर्वेद के मंत्रों का पाठ करता है तब वह निःसन्देह ओम् इस प्रकार ही उच्चस्वर उच्चारण करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो यह ओंकार है वही ऊपर बताया हुआ स्वर है। क्योंकि लिखा है— **यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।** (तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनुवा० १० श्रु० २३) जो ओंकार वेद के आदि में कहा गया है और वेद के अन्त में भी प्रतिष्ठित है ॥२३॥ वही प्रणव अमृत—मृत्यु से छुड़ाने वाला एवं भय रहित स्थान है। उसका आश्रय लेकर देवता लोग अमर और निर्भय हो गये। यह अन्यत्र भी लिखा है— **भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्ते च राज्ञो भयं, विद्यायां कलिभीस्तपे करणभी रूपाद्भयं योषिति इष्टे शोकभयं रणे रिपुभयं काये कृतान्ताद्भयं, चेत्थं जन्म निरर्थकं क्षितितले विष्णोः पदं निर्भयम् ॥** (पञ्चायुधस्तो० श्लो० ८) भोग में रोग होने का भय है, सुख में क्षय होने का भय है, धन में राजदण्ड और चोर आदि का भय है, विद्या में कलह होने का भय है, तपस्या में इन्द्रियों के विकल होने का भय है, स्त्री में रूप से भय है, इष्ट वस्तु में शोक होने का भय है, संग्राम में शत्रु का भय है, देह में कृतान्त से भय है, इस प्रकार से भूतल पर जन्म निरर्थक—भय युक्त है। व्यापक—विष्णु का प्राप्त करने योग्य पद यानी ओंकार निर्भय है ॥ ८ ॥ यही अमृत और अभय गुण विशिष्ट प्रणव पद उपास्य है ॥ ४ ॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरं स्वरममृतम-

भयं प्रविशति तत्प्रविश्य तदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥५॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनाशी ओम् अक्षर को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (प्रणौति) स्तुति करता है या उपासना करता है (सः) वह उपासक (एतत्) इस (एव) ही (अक्षरम्) अविनश्वर (अमृतम्) अमर (अभयम्) निर्भय (स्वरम्) स्वर यानी ओंकार में (प्रविशति) प्रविष्ट हो जाता है (यत्) जिस प्रणव को पाकर (देवाः) देवगण (अमृताः) अमर हुए (तत्) उस ओंकार में (प्रविश्य) पैठकर (तत्) वह प्रणवोपासक (अमृतः) अमर (भवति) हो जाता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जो उपासक ओंकार को इस प्रकार अमृत और अभय गुण विशिष्ट जानकर उसकी स्तुति एवं उपासना करता है तथा एकमात्र इसी अमृत रूप सर्वथा भयरहित एवं अविनाशी ओंकार में प्रविष्ट हो जाता है। वह उस प्रणव में प्रवेश करके उसी अमृत को प्राप्त कर लेता है। जिस अमृत को पूर्वोक्त प्रकार से देवताओं ने प्राप्त किया था। इस श्रुति में अमृत अभय गुण युक्त प्रणव की उपासना का फल अमर और निर्भय होना बताया गया है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का चौथा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ५ ॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति। असौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवः। ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (खलु) निश्चय करके (यः) जो (उद्गीथ) सामवेदी उद्गाताओं का उद्गीथ के अवयव ओंकार है (सः) वही (प्रणवः) ऋग्वेदी होताओं का प्रणव यानी ओंकार है और (यः) जो (प्रणवः) ऋग्वेदी होताओं का प्रणव ओंकार है (सः) वही (उद्गीथः) सामवेदी उद्गाताओं का उद्गीथ ये अवयव ओंकार है (इति) इस प्रकार परस्पर

एकता के अभ्यास करके उपासना करे (वै) निश्चय करके (असौ) वह (आदित्यः) सूर्य (उद्गीथ.) उद्गीथ है और (एषः) यह सूर्य (प्रणवः) ओंकार है (हि) क्योंकि (एषः) यह सूर्य (ओम्) कर्तव्यकर्मों के ओम् (इति) इस प्रकार से (स्वरन्) अनुज्ञा के शब्द का उच्चारण करता हुआ (एति) आता है यानी उदित होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ – अब करुणामयी श्रुति प्रणव और उद्गीथ के एकत्व विज्ञान से अनेक पुत्र प्राप्त होते हैं इस विषय का उपदेश देती है। निश्चय ही जो सामवेदियों का उच्चस्वर से गाने योग्य उद्गीथ का अवयव ओंकार है वही ऋग्वेदियों का प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। इस प्रकार प्रणव और उद्गीथ में परस्पर एकता अभ्यास करके उपासना करनी चाहिये। यह आकाश में विचरने वाला सूर्य ही उद्गीथ है और यही प्रणव भी है। क्योंकि यह सूर्य कर्तव्य कर्मों के ओम् इस अनुज्ञा के शब्द को उच्चारण करता हुआ उदय होता है। अथवा यहाँ "स्वरन् एति" उच्चारण करता हुआ गमन करता है इस प्रकार सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। प्रणव के विषय में लिखा है—**अथ कस्मादुच्यते प्रणवः, यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्रह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः।** (अथर्वशिर उप. श्रु. ४) प्रणव क्यों कहा जाता है—जिसके उच्चारण करने से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ब्रह्मवेताओं के लिये प्रणाम कराता है और नम्र कराता है इससे प्रणव कहा जाता है ॥४॥ **प्राणान्सर्वान्परमात्मनि प्रणानयतीत्येतस्मात्प्रणवः।** (अथर्वशिखो. श्रु. १) सब प्राणों को परमात्मा में लगाता है इससे प्रणव कहा जाता है ॥ १ ॥ **प्रणवः सर्ववेदेषु ॥** (भगवद्गी. ७।८) सब वेदों में मैं प्रणव हूँ ॥ ८ ॥ श्री प्रतिवादिभयङ्कराचार्य जी ने "अष्टश्लोकी" के प्रथमश्लोक के व्याख्यान की अवतारिका में प्रणव की महिमा के विषय में निम्नलिखित श्लोकों का प्रमाण दिया है-**प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः। वाङ्मयं प्रणवं सर्वं तस्मात्प्रणवमभ्यसेत् ॥ आद्यं तु त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यत्र प्रतिष्ठिता। स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदी यस्तं वेद स वेदवित् ॥** सब वेद प्रणव से उत्पन्न हुये हैं और प्रणव में ही स्थित हैं। सारा वाङ्-

मय प्रणव है इससे प्रणव का अभ्यास करे ॥ तीन अक्षर वाला प्रणव आदि में प्रकट हुआ है अथवा आदि कारण है। प्रणव में वेद प्रतिष्ठित रहता है। तीन अक्षर वाला प्रणव अन्यान्य वेदों से अत्यन्त विलक्षण तथा गोप्य है। उस प्रणव को सार्थक जो जानते हैं वे ही वेदार्थ तत्त्वज्ञ हैं॥ **यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति** ॥ (ऋग्वे. मण्डल. १ सूक्त. १६४ मं. ३९) जो पुरुष उस प्रणव को नहीं जानता है तो ऋचा क्या करेगी ॥ ३९ ॥ प्रकृत श्रुति में प्रणव में सूर्य दृष्टि करके उपासना कही गयी है ॥ १ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। रश्मीँस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्ति। इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(ह प्रसिद्ध (कौषीतकिः) कुषीतक के पुत्र कौषीतकि ऋषि ने (पुत्रम्) अपने पुत्र से (इति) इस प्रकार (उवाच) कहा कि (उ) निश्चय करके (एतम्) इस सूर्य को (एव) ही (अहम्) मैंने (अभ्यागासिषम्) उद्‌गीथ रूप से अच्छी तरह गाया था (तस्मात्) उस दोष के कारण (मम) मेरा (त्वम्) तू (एकः) एकही पुत्र (असि) हो, इससे (त्वम्) तू (रश्मीन्) बहुत किरणों से युक्त सूर्य को (पर्यावर्तयात्) बार बार अपने चारों ओर से उपासना करो उस बहुत किरण ज्ञान की महिमा से (ते) तेरे (वै) निश्चय करके (बहवः) बहुत पुत्र (भविष्यन्ति)होवेंगे (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) देवता विषयक उपासना कही गयी ॥ २ ॥

विशेषार्थ – एक बार प्रसिद्ध कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से इस प्रकार कहा कि—बेटा ! मैंने केवल इसी सूर्य को लक्ष्य करके ओंकार का भलीभाँति गान किया था इस दोष के कारण मेरे तू एक ही पुत्र है। तू सूर्य की किरणों का सब ओर से आवर्तन कर बार बार बहुत किरण विशिष्ट सूर्य की उपासना कर, उस बहुत किरणज्ञान के प्रभाव से निः सन्देह तेरे बहुत से पुत्र हो जायेंगे। इस प्रकार यह आधिदैदिक— देवता सम्बन्धी उपासना यहाँ पर कही गयी ॥ २ ॥

अथाध्यात्मम्। य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्‌गीथमुपा-

सीत । ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) देवता सम्बन्धी उपासना कहने के अनन्तर अब (अध्यात्मम्) शरीर विषयक उपासना वर्णन करते हैं (यः) जो (अयम्) यह (एव) निश्चय करके (मुख्यः) मुख में रहने वाला (प्राणः) प्राण है (तम्) उस प्राण को लक्ष्य करके (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासीत) उपासना करे (हि) क्योंकि (एषः) यह मुख्य प्राण वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के लिये (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार के (स्वरन्) अनुज्ञा के शब्दों को उच्चारण करता हुआ (एति) चलता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—देवता सम्बन्धी उपासना कहने के बाद अब आध्यात्मिक यानी शरीर से सम्बन्ध रखने वाली उपासना का प्रकार बताया जाता है। जो यह श्वास के रूप में चलनेवाला मुख्य प्राण है उसी को लक्ष्य करके उच्चस्वर से गाने योग्य उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यह मुख्य प्राण वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के लिये ओम् ऐसा अनुज्ञा सूचक शब्द को उच्चारण करता हुआ ही चलता है। अर्थात् हमारे प्राण के द्वारा निरन्तर ओंकार की ध्वनि हो रही है ऐसी भावना करते हुये उपासना करनी चाहिये ॥ ३ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्ममत्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच । प्राणाँस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥४॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (कौषीतकिः) कुषीतक के पुत्र कौषीतकि ऋषि ने (पुत्रम्) अपने पुत्र से (इति) इस प्रकार (उवाच) कहा कि (उ) निश्चय करके (एतम्) इस प्राण को (एव) ही (अहम्) मैंने (अध्यगासिषम्) उद्गीथ रूप से अच्छी तरह गाया था (तस्मात्) उस दोष के कारण (मम) मेरा (त्वम्) तू (एकः) एकही पुत्र(असि) हो इससे (त्वम्) तू (वै) निश्चय करके (मे) मेरे (बहवः) बहुत पुत्र (भविष्यन्ति) होवेंगे (इति) इस प्रकार की कामना करके (भूमानम्) बहुत्वयुक्त (प्राणान्) वागादि प्राणों को मुख्य प्राण के साथ अनुसन्धान करके (अभिगायतात्) अच्छी तरह से गाओ ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—एक बार प्रसिद्ध कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से यह

बात कही कि—हे पुत्र! मैंने केवल इस प्राण को ही लक्ष्य करके ओंकार का भलीभाँति गान किया था। इस दोष के कारण मेरा तू एकही पुत्र है। निश्चय ही मेरे बहुत से पुत्र होंगे इस संकल्प से तू अनेक रूप आश्रित वागादि प्राणों को मुख्य प्राण वायु के साथ अनुसन्धान करके भलीभाँति गाओ। ऐसी उपासना करने से अवश्य ही तेरे बहुत से पुत्र होंगे ॥४॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति। होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके पञ्चमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (खलु) निश्चय करके (यः) जो (उद्गीथः) सामवेदी उद्गाताओं के उद्गीथ का अवयव ओंकार है (सः) वही (प्रणवः) ऋग्वेदी होताओं का प्रणव है और (यः) जो (प्रणवः) ऋग्वेदी होताओं का प्रणव-ओंकार है (सः) वही (उद्गीथः) सामवेदी उद्गाताओं का उद्गीथ है (इति) इस प्रकार के प्रणव और उद्गीथ की एकता को जो जानता है वह उपासक (होतृषदनात्) होतृकर्तृक उद्गीथ और प्रणव की एकता के ज्ञान से अथवा होता के आसन से (एव) ही (ह) प्रसिद्ध (दुरुद्गीथम्) वेदनविहीन दुष्ट गीत को (अपि) भी (इति) इस प्रकार (अनुसमाहरति) पीछे से भलीभाँति ठीक पूर्ण कर देता है।

विशेषार्थ—अब प्रणव और उद्गीथ के एकत्व विज्ञान के फल को श्रुति कहती है कि जो निश्चय करके उद्गाता ऋत्विक् का उद्गीथ है वही होता ऋत्विक् का प्रणव है और जो होता ऋत्विक् का प्रणव है वही उद्गाता ऋत्विक् का उद्गीथ है। इस प्रकार दोनों की एकता को जो जानता है वह उपासक निःसन्देह होतृकर्तृक उद्गीथ और प्रणव की एकता के ज्ञान से उद्गाता द्वारा किया हुआ वेदन विहीन दोष युक्त उद्गान को प्रणव के उच्चारण से पीछे भलीभाँति ठीक सुधार कर पूर्ण कर लेता है। इस प्रकृत श्रुति का पूर्वार्ध इस खण्ड की पहली श्रुति में भी है। श्रीकूर्मनाथप्रकाशक भगवद्रामानुजाचार्य ने— **समाहारात्** ॥ (शा.मी. ३।३।६१,के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक

के पाँचवें खण्ड की पाँचवीं श्रुति के **"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति"** इस वाक्यको उद्धृत किया है। इस श्रुति में **अनुसमाहरतीति'** वाक्य का दो बार उच्चारण खण्ड समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का पाँचवां खण्ड समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथ षष्ठखण्डः ॥

इयमेवर्गग्निः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम। तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। इयमेव साग्निरमः तत्साम् ॥१॥

अन्वयार्थ - (इयम्) यह पृथ्वी (एव) ही (ऋग्) ऋचा है और (अग्निः) अग्नि (साम) सामवेद है इससे ऋचा में पृथ्वी दृष्टि और सामवेद में अग्नि दृष्टि करनी चाहिये (तत्) वह (एतत्) यह अग्नि नामक (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस पृथ्वी रूपी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर स्थित है (तस्मात्) उस कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर स्थित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (इयम्) यह पृथ्वी (एव) निश्चय करके (सा) साम शब्द में जो पहला आधा "सा" पद है सो है और (अग्निः) अग्नि (अमः) साम शब्द में जो अन्य आधा "अम" है वह है (तत्) वह दोनों "सा" और "अम" मिलकर (साम) लोक में साम व्यवहार होता है ॥१॥

विशेषार्थ—अब प्रकारान्तर से उद्गीथ की उपासना कही जाती है—यह पृथ्वी ही ऋग्वेद है और अग्नि सामवेद है, इससे ऋग्वेद में पृथ्वी दृष्टि और सामवेद में अग्नि दृष्टि करके उपासना करना चाहिये वह यह अग्नि रूप सामवेद इस पृथ्वी रूप ऋग्वेद में ऊपर भलीभाँति प्रतिष्ठित है। इसीलिये ये आजकल भी ऋगारूढ भी सामवेद का गान किया जाता है। "सा+अम" इन दोनों को मिलकर सामशब्द बनता है। पृथ्वी ही "सा" है और अग्नि "अम" है। इससे "सा" शब्द में पृथ्वी दृष्टि और "अम" शब्द में अग्नि दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलकर ही लोक में साम व्यवहार होता है ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । अन्तरिक्षमेव सा वायु रमः । तत्साम ॥२॥

अन्वयार्थ—(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक (एव) निश्चय करके (ऋग्) ऋग्वेद है और (वायुः) वायु (साम) सामवेद है इससे ऋग्वेद में अन्तरिक्ष दृष्टि और सामवेद में वायु दृष्टि करनी चाहिये (तत्) वह (एतत् यह वायु नाम (साम) सामवेद एतस्याम्) उस अन्तरिक्ष लोक रूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित है (तस्मात्) उस कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक (एव) ही (सा) साम शब्द में जो पहला आधा "सा" है वह है और (वायुः) वायु (अमः) साम शब्द में जो अन्य आधा "अम" है वह है (तत्) वह दोनों "सा" और "अम" मिलकर (साम) लोक में साम व्यवहार होता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अन्तरिक्ष ही ऋग्वेद है और वायु सामवेद है। पृथ्वी और द्युलोक के मध्य में जो दीख पड़ता है उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। वायु के विषय में लिखा है—**स्पर्शवान्** ॥(वैशेषि० अ० २ आह्नि० १सू०४) रूप न हो और स्पर्शवाला हो वही वायु है ॥४॥ **शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु** (महाभार. वनप. अ. २११ श्लो. ७) शब्द और स्पर्श ये दो गुण वायु में कहे गये हैं ॥ ७ ॥ ऋग्वेद में अन्तरिक्ष दृष्टि और सामवेद में वायु दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। वह यह वायुरूप सामवेद इस अन्तरिक्ष रूप ऋग्वेद में ऊपर भलीभाँति प्रतिष्ठित है। इसीलिये आज कल भी ऋगारूढ ही सामवेद का गान किया जाता है। "सा+अम" दोनों को मिलकर साम शब्द बनता है। अन्तरिक्ष ही 'सा' है और वायु 'अम' है। इससे "सा" शब्द में अन्तरिक्ष दृष्टि और "अम" शब्द में वायु दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलकर ही लोक मे साम व्यवहार होता है ॥ २ ॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम ।

तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। द्यौरेव सादित्योऽमः। तत्साम ॥३॥

अन्वयार्थ—(द्यौः) द्युलोक (एव) निश्चय करके (ऋग्) ऋग्वेद है और (आदित्यः) सूर्य (साम) सामवेद है इससे ऋग्वेद में द्युलोक दृष्टि और सामवेद में आदित्य दृष्टि करनी चाहिये (तत्) वह (एतत्) यह सूर्य रूप (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस द्युलोक रूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित है (तस्मात्) उस कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (द्यौः) द्युलोक (एव) ही (सा) साम शब्द में जो पहला आधा "सा" है वह है और (आदित्यः) सूर्य (अमः) साम शब्द में जो अन्य आधा "अम" है वह है (तत्) वह दोनों "सा" और "अम" मिलकर (साम) लोक में साम व्यवहार होता है ॥३॥

विशेषार्थ—द्युलोक ही ऋग्वेदहै और सूर्य सामवेदहै। इससे ऋग्वेद में द्युलोक दृष्टि और सामवेद में सूर्य दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। वह यह सूर्य रूप सामवेद इस द्युलोक रूप ऋग्वेद में ऊपर भलीभाँति प्रतिष्ठित है। इसीलिये आजकल भी ऋगारूढ ही सामवेद का गान किया जाता है। "सा+अम" दोनों को मिलकर साम शब्द बनता है। द्युलोक ही "सा" है और सूर्य "अम" है। इससे "सा" शब्द में द्युलोक दृष्टि और "अम" शब्द में सूर्य दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलकर ही लोक में साम व्यवहार होता है ॥३॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम। तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमः। तत्साम ॥४॥

अन्वयार्थ—(नक्षत्राणि) अश्विन्यादिनक्षत्रमण्डल (एव) निश्चय (ऋक्) ऋग्वेद है और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (साम) सामवेद है (तत्) वह (एतत्) यह चन्द्रमा रूप (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस नक्षत्र रूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित है (तस्मात्) उस कारण

से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (नक्षत्राणि) समस्त नक्षत्रमण्डल (एव) ही (सा) सामशब्द में पहला आधा जो "सा" है वह है और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (अमः) साम शब्द में अन्य जो आधा "अम" है वह है (तत्) वह दोनों "सा" और "अम" मिलकर (साम) लोक में साम व्यवहार होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ – अश्विनी १, भरणी २, कृत्तिका ३, रोहिणी ४, मृगशिरा ५, आर्द्रा ६, पुनर्वसु ७, पुष्य ८, अश्लेषा ९, मघा १०, पूर्वाफाल्गुनी ११, उत्तराफाल्गुनी १२, हस्त १३, चित्रा १४, स्वाति १५, विशाखा १६, अनुराधा १७, ज्येष्ठा १८, मूल १९, पूर्वाषाढ़ २०, उत्तराषाढ़ २१, श्रवण २२, धनिष्ठा २३, शतभिषा २४, पूर्वाभाद्रपद २५, उत्तराभाद्रपद २६, रेवती २७, आदिक समस्त नक्षत्र मण्डल ही ऋग्वेद है और चन्द्रमा सामवेद है। इससे ऋग्वेद में अश्विन्यादिक समस्त नक्षत्रमण्डल दृष्टि और सामवेद में चन्द्रमा दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। चन्द्रमा के विषय में लिखा है – **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥** (ऋग्वे०) चन्द्रमा हम सब ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों का राजा है॥ **चन्द्रमा देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) चन्द्रमा देवता है ॥२०॥ **नक्षत्राणामहं शशी** (भगवद्गी० १०।२१) नक्षत्रों का स्वामी जो चन्द्रमा है वह मैं हूं ॥२१॥ **श्वेतः श्वेताम्बरधरो दशाश्वः श्वेतभूषणः । द्विभुजश्च गदापाणिः कर्तव्यो वरदो शशी ॥** (मत्स्यपु०) सफेद स्वरूप सफेद वस्त्र पेन्हा हुआ सफेद दस घोड़े से युक्त सफेद भूषण पेन्हा हुआ दो भुजा वाला हाथ में गदा लिया हुआ वर देने वाला चन्द्रमा बनाने योग्य है ॥ **दधिशङ्खतुषाराभं क्षीरोदार्णवसम्भवम् । नमामि शशिनं सोमं शम्भोर्मुकुटभूषणम् ॥** (नवग्रहस्तो० श्लो० २) दधि, शंख और हिम के समान सफेद क्षीर समुद्र से उत्पन्न होने वाला तथा खरहा के चिह्नवाला शंकर जी के मुकुट का भूषण चन्द्रमा को साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ ।२। **चन्द्रः कर्कटकप्रभुः सितनिभश्चात्रेयगोत्रोद्भवश्चाग्नेयश्चतुरस्रवारुणमुखश्चापोऽप्युमाधीश्वरः । षट् सप्ताग्निदशैकशोभनफलोऽशौरि गुरोर्कप्रियः स्वामी यामुनदेशजो हिमकरः कुर्यात्सदा मङ्गलम् ॥**

(नवग्रहमङ्गलस्तो० श्लो० २) कर्कराशि के मालिक, सफेद कान्ति वाले और आत्रेयगोत्र में उत्पन्न अग्निकोण में चतुरस्र अधोमुख धनुष लिये हुए शंकर देवता वाले और पहले, तीसरे, छठवें, सातवें, दशवें स्थान पर सुन्दर फल देने वाले बुध शत्रु और सूर्य बृहस्पति मित्र वाले यामुन देश में उत्पन्न होनेवाले और हिम करनेवाले चन्द्रमा सदा मङ्गल करें ॥२॥ वही यह चन्द्रमा रूप सामवेद इस अश्विन्यादिनक्षत्र रूप ऋग्वेद में भलीभाँति प्रतिष्ठित है। इसीलिये आजकल भी ऋगारूढ़ ही सामवेद का गान किया जाता है। "सा+अम" दोनों को मिलकर साम शब्द बनता है। अश्विन्यादि नक्षत्रमण्डल ही "सा" है और चन्द्रमा "अम" है। इससे "सा" शब्द में अश्विन्यादि नक्षत्रमण्डल और "अम" शब्द में चन्द्रमा दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलकर ही लोक में साम व्यवहार होता है ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्क् । अथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यत्) जो (एतत्) यह (आदित्यस्य) सूर्य की (शुक्लम्) श्वेत (भाः) दीप्ति है (सा) वही (एव) निश्चय करके (ऋक्) ऋग्वेद है (अथ) और (यत्) जो (परः) पर (कृष्णम्) कृष्ण करके प्रसिद्ध (नीलम्) नील दीप्ति है (तत्) वही (साम) सामवेद है (तत्) वह (एतत्) यह अतिशय काष्र्ण्यरूप नील आभास्वरुप (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस सूर्य के श्वेत दीप्ति रूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) प्रतिष्ठित है (तस्मात्) उस कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ अब दूसरी उपासना कहते हैं कि–जो यह प्रत्यक्ष दीखनेवाली सूर्य की सफेद आभा है वही ऋग्वेद है और जो उसके भीतर छिपी हुई अतिशय काष्र्ण्य स्वरूर नील आभा है वही सामवेद है। इससे ऋग्वेद में सूर्य की श्वेत आभा दृष्टि और सामवेद में सूर्य के भीतर अतिशय काष्र्ण्य स्वरूप नील आभा दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये।

वही यह अतिशय काष्र्ण्यरूप नील आभा स्वरूप सामवेद इस सूर्य की श्वेत आभा रूप ऋग्वेद में भलीभाँति प्रतिष्ठित है। सूर्य के अतिशय काष्र्ण्य रूप समाहित दृष्टि से सूर्य मण्डल को देखने से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसीलिये आजकल भी ऋगारूढ सामवेद का गान किया जाता है ॥५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम। अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥६॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब (आदित्यस्य) सूर्य का (एव) निश्चय करके (यत्) जो (एतत्) यह (शुक्लम्) श्वेत (भाः) दीप्ति ज्योति है (सा) वही (एव) निश्चय (सा) साम शब्द में जो पहला आधा "सा" है वह है (अथ) और सूर्य का (परः) अतिशय पर (कृष्णम्) काष्र्ण्य स्वरूप (यत्) जो (नीलम्) नील आभा है (तत्) वही (अमः) साम शब्द में जो अन्य आधा "अम" है वह है (तत्) वह दोनों "सा" और "अम" मिलकर (साम) लोक में साम व्यवहार होता है। (अथ) अनन्तर (अन्तरादित्ये) सूर्यमण्डल के मध्य में (यः) जो (एषः) यह (हिरण्मयः) हिरण्मय रमणीय (पुरुषः) पुरुष—परब्रह्म नारायण (दृश्यते) योगियों से दिखायी देता है (हिरण्यश्मश्रुः) उसकी दाढ़ी सुवर्ण की यानी रमणीय है और (हिरण्यकेशः) केश भी सुवर्ण के यानी रमणीय है (आप्रणखात्) नख से लेकर चोटी तक (सर्वः) सब अवयव (एव) निश्चय करके (सुवर्णः) हिरण्मय परम सुन्दर है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ - यह जो सूर्य की श्वेत प्रभा—उज्ज्वल प्रकाश है वही साम शब्द का पहला आधा "सा" है और सूर्य का अतिशय काष्र्ण्य स्वरूप जो नील आभा है वही साम शब्द का दूसरा आधा "अम" है। इससे "सा" शब्द में सूर्य की श्वेत प्रभा दृष्टि और "अम" शब्द में सूर्य का अतिशय काष्र्ण्यस्वरूप नील आभा दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलकर ही लोक में साम व्यवहार होता है। यहाँ तक पाँचवीं श्रुति से सम्बन्ध इस श्रुति में समझना

चाहिये। अब दूसरी उपासना कहते हैं कि- जो यह सूर्यमण्डल के भीतर हिरण्मय—रमणीय परब्रह्म नारायण पुरुष योगियों से दिखाई देता है उसकी दाढ़ी सुवर्णकी अत्यन्त रमणीय है और उसके केश भी सुवर्ण के अत्यन्त रमणीय हैं तथा नख के अग्रभाग से लेकर चोटी तक सम्पूर्ण अवयव हिरण्मय परम सुन्दर है। इस श्रुति में हिरण्मय का अर्थ रमणीय है क्योंकि यास्काचार्य जी कहते हैं—**हृदयरमणं भवतीति** ॥ (नि० अ० २ खं० १०) हृदय रमण—हृदय विहारी आदि हिरण्य के अर्थ हैं ॥१०॥ योगी लोग परब्रह्म नारायण के परम सुन्दर दिव्य स्वरूप को देखते हैं, क्योंकि लिखा है—**यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि** ॥ (ईशो० श्रु० १६) तुम्हारा जो श्रुति प्रसिद्ध परम मङ्गलमय दिव्य स्वरुप है, तुम्हारे उस अतिशय कल्याणमय दिव्यस्वरूप को मैं देखता हूँ ॥ १६ ॥ **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः** ॥ (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० १२) सूक्ष्मतत्त्व दर्शनशील योगी पुरुषों के द्वारा एकाग्रता युक्त बाह्यान्तर व्यापार रहित अतिसूक्ष्म अर्थ को विवेचन करने वाली बुद्धि से देखा जाता है ॥१२॥ **पश्यते रुक्मवर्णम्** ॥ (मुण्डको० मु० ३ खं० १ श्रु० ३) मुमुक्षु योगी सुवर्ण के समान वर्ण वाले परमात्मा को देखता है ॥३॥ प्राकृत "छान्दोग्य" की श्रुति में स्पष्ट मङ्गलमय दिव्य आकार परब्रह्म नारायण का वर्णन किया गया है। और अन्यत्र भी लिखा है—**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्** ॥ (ईशो० श्रु० १५) **यत्ते रूपं कल्याणतमम्** ॥**१६**॥ ज्योतिर्मय पात्र से सत्य स्वरूप परब्रह्म नारायण का श्रीमुखारविन्द ढका हुआ है ॥ १६ ॥ जो तुम्हारा परम मङ्गलमय रूप है ॥१६॥ **या ते तनूः** ॥ (प्रश्नो०प्र० २ श्रु०१२) जो तुम्हारा शरीर है ॥ १२ ॥**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्** ॥ जिस समय में साधक हिरण्मयाकार नारायण को देखता है ॥ (मुण्डको. मु०३ खं० १ श्रु० ३) **तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः** ॥ हिरण्मय पुरुष है ॥ १ ॥ **तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकम्** ॥ (बृह० उ० अ० २ ब्रा० ३ श्रु० ६) उस परब्रह्म नारायण का रूप ऐसा है

जैसा हल्दी से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसा पाण्डु रंग का ऊनी वस्त्र हो, जैसा इन्द्रगोप हो, जैसी अग्नि की ज्वाला हो और जैसा पुण्डरीक कमल हो ॥६॥ **हस्ते बिभर्ष्यस्तवे** ॥ (श्वेताश्वतरो.अ. ३ श्रु. ६) **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**॥१४॥ **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**॥१४॥ हाथ में फेंकने के लिये वाण को धारण किये हो ॥ ६। । सूर्य के समान वर्ण वाले अन्धकार से अत्यन्त दूर नारायण हैं ॥ ८ ॥ वह परम पुरुष नारायण हजारों सिर वाला हजारों नेत्रवाला, हजारों पैरवाला है ।१४। प्रकृत श्रुति में "पुरुष" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है-- **सहस्रशीर्षा पुरुषः** ॥ (ऋग्वे० अष्टक० ८ मण्ड० १० अध्या० ४ अनुवा०७ सूक्त० ९० मं० १) हजारों शिर वाला पुरुष परब्रह्म नारायण है ॥१॥ **सहस्रशीर्षा पुरुषः** (यजु० अ० ३१ मं० १) अनन्त मस्तकवाला नारायण है। **सहस्रशीर्षा पुरुषः** (साम० पूर्वार्चिक प्रपाठ० ६ सूक्त०१३ मं० ३) हजारों शिर वाला परम पुरुष नारायण है ॥ ३ ॥ **सहस्रबाहुः पुरुषः** ॥ (अथर्व० काण्ड० १९ अनुवा० १ सूक्त० ६ मं०१) हजारों भुजा वाला परम पुरुष नारायण है ॥१॥ **योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि** ॥ (ईशो० श्रु० १६) जो प्राण या सूर्यमण्डल में यह परब्रह्म नारायण है वह मैं हूँ ॥१६॥ **पुरुषान्न परं किञ्चित्** ॥ (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० ११) परब्रह्म नारायण से श्रेष्ठ कोई नहीं है ॥ ११ ॥ **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनितिष्ठति** (कठो.अ. २ व. ४ श्रु. १२) **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** ॥१३॥ अंगुष्ठ परिणाम परब्रह्म नारायण आत्मा के मध्य में स्थित है ॥ १२ ॥ अंगुष्ठ परिणाम अन्तर्यामी नारायण धुएँ से रहित प्रकाश के समान देहमें स्थित है ॥ १३ ॥ **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः** ॥ (कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १७) अंगूठे के समान परिमाण वाला अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण सबके हृदय में सदा प्रविष्ट है ॥ १७ ॥ **इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति** ॥ (प्रश्नो० प्र० ६ श्रु० ५) **तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः** ॥ ६ ॥ परब्रह्म नारायण की ओर जानेवाली यह सोलह

कलाएँ नारायण को प्राप्त होकर विलीन हो जाती हैं ॥५॥ उस जानने योग्य परब्रह्म नारायण को जानो जिससे तुमको मृत्यु पीड़ा न दे ॥ ६ ॥ **येनाक्षरं पुरुषं वेद ॥** (मुण्डको०मु० १ खं० २ श्रु० १३) जिससे अविनाशी परब्रह्म नारायण को जानता है ॥१३॥ **उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥** (मुण्डको०मु० ३ खं० २ श्रु० १) **परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥** जो निष्काम बुद्धिमान् परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं वे निश्चय जन्म को लाँघ जाते हैं ॥१॥ पर से पर दिव्य परब्रह्म नारायण को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥ **य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते ॥** (छां०उ०प्रपा० १ खं० ७ श्रु०५) जो यह नेत्र के भीतर परब्रह्म नारायण देखा जाता है ॥ १ ॥ **य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते ॥** (छां०उ०प्रपा० ४ खं० १२ श्रु० १) जो यह चन्द्रमा में परब्रह्म नारायण देखा जाता है ॥ १ ॥ **योसावसौ पुरुषः ॥**(बृह० उ० अ० ५ ब्रा० १५ श्रु० १) जो सूर्यमण्डल में वह परब्रह्म नारायण है ॥१॥ **वेदाहमेतं पुरुषम् ॥** (श्वेता. उ. अ. ३ श्रु. ८) **तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।१३। सहस्रशीर्षा पुरुषः ।१४।** उस परब्रह्म नारायण को मैं जानता हूँ ॥ ८ ॥ उस परब्रह्म नारायण से यह समस्त जगत् पूर्ण है ॥ ९ ॥ अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण सब मनुष्यों के हृदय में सदा प्रविष्ट है ॥१३॥ हजारों सिर वाला परब्रह्म नारायण है ॥१४॥ **पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत** (नारायणो० श्रु० १) निश्चय करके परब्रह्म नारायण ने इच्छा की ॥१॥ **ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषम् ॥** (तैत्तिरीयारण्य० अनुवा० १२) ऋत सत्य परब्रह्म नारायण को ॥१२॥ **इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते योऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः ॥**(शतपथ. १३।६।२।१) इन लोकों में पूर्ण होने से और शयन करने से यह नारायण पुरुष है ।१। **पुरुषः पुरिषदः पुरिशयः पूरयतेर्वा ॥** (निरु०अ० २ खं० ३) शरीर में प्राप्त होने से तथा शरीर में शयन करने से तथा सर्वत्र पूर्ण होने से यह नारायण पुरुष कहा जाता है ॥ ३ ॥ **अनेन विधिना कृत्वा स्नपनं**

पुरुषस्य तु । दत्वा पायसमन्नं च शेषं परिसमापयेत् ॥(बोधायनसूत्र विष्णवाराधनप्रकरण) इस विधि से परब्रह्म नारायण का स्नपन करके और पायसान्न को निवेदन करके शेष क्रिया को समाप्त करे ॥ **स्वहृदयपद्मस्यावाङ्मुखस्य मध्ये दीपवत्पुरुषं ध्यायेत् ॥** (विष्णुस्मृ० अध्या० ६८) अवाङ्मुख अपने हृदय कमल के मध्य में दीप के समान परब्रह्म नारायण का ध्यान करे ॥६८॥ **एष वै पुरुषो विष्णुर्व्यक्त्याव्यक्तः सनातनः ॥** (शङ्खस्मृ०अध्या० ७) यह परब्रह्म नारायण निश्चय करके व्यक्ति से अव्यक्त सनातन है ॥७॥ **पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥** (गी० अ० १०।१२) सब ऋषिगण आपको–सनातन दिव्य सब देवों का आदिदेव अजन्मा सर्वव्यापी परब्रह्म नारायण कहते हैं ॥१२॥ **सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥** (गी० अ० ११।१८) **त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः ॥३८॥** आप सनातन परब्रह्म नारायण हैं ऐसा हमारा मत है ॥१८॥ आप आदिदेव सनातन परब्रह्म नारायण हैं ॥३८॥ **अव्ययः पुरुषः साक्षी ॥** (महाभार०अनुशा०विष्णुस०श्लो० २) अव्यय १, पुरुष २, साक्षी ३ ये नारायण के नाम हैं ॥ २ ॥ **महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ॥** (महाभार० शान्तिप० भीष्मस्तवरा० श्लो० ४३) बड़े अन्धकार से परे अतितेजस्वी परब्रह्म नारायण हैं ॥४३॥ **युगान्तशेषं पुरुषं पुराणं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥** (महाभार० शान्तिप० गजेन्द्रमोक्ष० श्लो० ७५) युगान्त में रहनेवाले सनातन सर्वव्यापी उस वासुदेव परब्रह्म नारायण की शरण मैं प्राप्त करता हूँ ॥७५॥ **पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वलोकपितामहः । धर्मसंस्थापनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु ॥** (महाभारत) **नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः । चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छति ॥** सब लोक के पितामह सबका कर्ता सर्वव्यापक वे परब्रह्म नारायण धर्मसंस्थापन करने के लिये अन्धक वृष्णिकुल में श्रीकृष्ण रूप से प्रगट हुये । विश्वरूप बड़ा प्रकाश वाला वह परब्रह्म नारायण वासुदेव १, संकर्षण २, प्रद्युम्न ३, और अनिरूद्ध ४ इन चार विभागों से विभक्त जैसी

इच्छा करता है वैसी ही क्रीड़ा करता है । **प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् । अमोघं वत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे॥ असौ रामो महाबाहुरतिमानुषचेष्टया । तेजो महत्तया चापि संस्मारयति पूरुषम्॥** (वाल्मीकिरामा.) प्राणायामसे जनार्दन परब्रह्म नारायण को ध्यान करती हुई । कमलनयन पुरुष में मेरी क्षमा अमोघ है । यह आजानु महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी अति मानुष की चेष्टा से और अपने श्रेष्ठ बड़ा तेज से परब्रह्म नारायण को भलीभाँति स्मरण कराते हैं ॥ **पुरुषस्यांशसंभूतं त्वां वयं निरणैष्महि ॥** (हरिवंश) हम परब्रह्म नारायण के अंश से उत्पन्न आपका निर्णय करते हैं ॥ **तत्र गत्वा जगन्नाथं वासुदेवं वृषाकपिम् । पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः** (श्रीमद्भागवत) वहाँ पर जाकर वृषाकपि अखिलब्रह्माण्डनायक सर्वव्यापक परब्रह्म नारायण को समाहित होकर पुरुषसूक्त से उपस्थान किये **अथवा पुरुषसूक्तेन पुरुषं नित्यमर्चयेत् ॥** (अग्निपुराण०) अथवा पुरुषसूक्त से नित्यप्रति परब्रह्म नारायण की पूजा करे॥ **सर्वलोकपतिः साक्षात्पुरुषः प्रोच्यते हरिः । तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक् ॥** (नरसिंहपु०) अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म नारायण साक्षात् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं । उस कमलनयन परब्रह्म के विना दूसरा कौन पुरुष शब्द से कहा जा सकता है॥ **पुंसंज्ञे तु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः । शकारस्य षकारोऽयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते ॥**(पाद्मपुराण) **यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्नास्ते स पुरुषो हरिः । यदि वा पुरवासीति पुरुषः प्रोच्यते हरिः ॥ यदि वा पूर्वमेवासमिहेति पुरुषं विदुः । यदि वा बहुदानाद्वै विष्णुः पुरुष उच्यते॥ पूर्णत्वात्पुरुषो विष्णुः पुराणत्वाच्च शार्ङ्गिणः। पुराणभजनाच्चापि विष्णुः पुरुष ईर्यते । यद्वा पुरुषशब्दोऽयं रूढ्या वक्ति जनार्दनम् ॥** पुम् नाम इस शरीर में सोने से नारायण भगवान पुरुष हैं । शकार का पुरुष शब्द में व्यत्यय से षकार प्रयोग किया जाता है, अथवा इस शरीर में नारायण भगवान् रहते हैं इससे पुरुष कहे जाते

हैं, या शरीर में निवास करते हैं इससे परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं, अथवा इस संसार में पहले से नारायण भगवान् थे इससे महर्षि लोग उनको पुरुष जानते हैं, या बहुत दान देने से ही विष्णु भगवान् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं। नारायण भगवान् के सर्वत्र पूर्ण होने से विष्णु पुरुष कहे जाते हैं, अथवा सबसे पुराने होने से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं, या पुराण के सेवन से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं, अथवा यह पुरुष शब्द रुढि से ही परब्रह्म नारायण को कहता है॥ **पुराणपुरुषो यज्ञः पुरुषः पुरुषोत्तमः** ॥ (अभिधानको०) पुराणपुरुष १, यज्ञ २, पुरुष ३, और पुरुषोत्तम ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं। "पुरुष" शब्द तुदादिपठित "पुरु अग्रगमने" धातु से –**पुरः कुषन्** ॥ (उणादि, पाद० ४) इस उणादि सूत्र से कुषन् प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से "पुरुष" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। भाषादत्तहयग्रीव भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्** ॥ (शा. मी. १।१।२१) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के छठवें खण्ड की छठवीं श्रुति के उत्तरार्ध को उद्धृत किया है॥ ६॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी। तस्योदिति नाम। स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदितः। उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (कप्यासम्) सूर्य की किरण से भलीभाँति खिला हुआ अथवा नाल पर स्थित अथवा जल में स्थित (पुण्डरीकम्) लाल कमल हो (एवम्) वैसे ही (तस्य) उस सूर्यमण्डल के भीतर रहने वाले नारायण के (अक्षिणी) दोनों नेत्र हैं (तस्य) उस परब्रह्म नारायण का (उत्) उत् (इति) यह (नाम) नाम है (सः) वह परम सुन्दर (एषः) यह परब्रह्म नारायण (सर्वेभ्यः) समस्त (पाप्मभ्यः) पुण्य पापरूप उभय विधि कर्मों से रहित (उदितः) उदय यानी प्रकट रहता है (ह) प्रसिद्ध है कि (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा हिरण्मय पुरुष को (वेद) जानता है या उपासना करता है वह भक्त (वै) निश्चय करके (सर्वेभ्यः) सब (पाप्मभ्यः) पापों से पृथक् होकर (उदेति) प्रकाशित होता है॥ ७॥

विशेषार्थ—"क + पि + आस" इस तीन शब्दों के मिलकर कप्यास

शब्द बनता है। वाक्यकार के सिद्धान्तानुसार इस के तीन अर्थ हैं— **कं जलं पिबतीति कपिः सूर्यस्तेनास्यते क्षिप्यते विकास्यत इति कप्यासम्"** "क" माने जल उसको "पि" माने पीनेवाला जो सूर्य, उस सूर्य की किरण से भलीभाँति खिला हुआ। यह कप्यास शब्द का एक अर्थ है। दूसरा अर्थ यह है कि **"कं जलं पिबतीति कपिर्नालं तस्मिन्नास्त इति कप्यासम्"** "क" माने जल उसको "पि" माने पीनेवाला जो नाल—कमल का दण्ड उस नाल के ऊपर लगा हुआ। जब तक नाल के ऊपर कमल रहता है तब उसकी अत्यन्त शोभा रहती है। इस आशय से यह दूसरा अर्थ समाप्त हुआ। **के जले प्यास्त इति कप्यासं सलिलस्थम्"** "क" माने जल में, इस विग्रह में "अपि" पूर्वक "आस उअवेसने" इस धातु से—**वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ॥** इस व्याकरण की कारिका के वचन से अपि उपसर्ग के अकार का लोप हुआ है। तब 'कप्यास' का जल में स्थित यह तीसरा अर्थ है। "कप्यासम्" यह पद "पुण्डरीकम्" पद का विशेषण है। इससे प्रकृत श्रुति का यह अर्थ हुआ कि—गम्भीर जलसे उत्पन्न सूर्य की किरण से विकसित सुन्दर नाल लगे हुये लाल कमल के निर्मल विस्तृत दल के समान उस सूर्यमण्डल के भीतर रहने वाले परब्रह्म नारायण के दोनों नेत्र हैं। यद्यपि अमरकोश में लिखा है—**पुण्डरीकं सिताम्भोजम् ॥** (अमरको० कां० १ वर्ग० १० श्लो० ४१) पुण्डरीक सफेद कमल है ॥४१॥ तौभी श्रुतियों में जहाँ पर परब्रह्म नारायण के स्वरूपकी उपमा में पुण्डरीक शब्द प्रयुक्त हुआहै वहां पर प्रायः रक्त कमल का ही वाचक होता है। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—**तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं ···यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकम् ॥** (बृ. उ. अ. २ ब्रा. ३ श्रु. ६) उस परब्रह्म नारायण का रूप ऐसा है जैसा इन्द्रगोप हो, जैसी अग्नि की ज्वाला हो और जैसा पुण्डरीक—लाल कमल हो ॥६॥ इस श्रुति में इन्द्रगोप तथा अग्नि की ज्वाला लाल होने से पुण्डरीक का लाल कमल ही अर्थ करना उचित है। पुण्डरीक का रक्तकमलही अर्थ करना यहाँ न्याय है। क्योंकि पूर्वमीमांसा के नवें अध्याय में शबरस्वामीने भी निम्नलिखित प्रकार से

निर्णय किया है—**"मौद्गं चरुं निर्वपेच्छ्रियै श्रीकामः"** श्रीकामना वाला मनुष्य श्री के लिये मूंग का चरु निर्वपन करे। इस विहित दृष्टि में **"पौण्डरीकाणि वर्हींषि भवन्ति"** यहाँ पर पुण्डरीक बर्हि होता है, इस प्रकार के आच्छादन के लिये विहित पुण्डरीक में अति देश से प्राप्त ॥ **दर्भैःस्तृणीत हरितैः** ॥ हरित दर्भों से आच्छादन करे ॥ इस मंत्र में स्थित दर्भ पद के स्थान में पुण्डरीक पद और हरित पद के स्थान में रक्त पद ऊहा करनी चाहिये। इस कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रक्ताम्भोज ही यहाँ पुण्डरीक शब्द से कहा गया है। और अन्यत्र भी लिखा है—**दह्नं विपापं वरवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम् ॥ तत्रापि दह्नं गगनं विशोकं तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्** ॥ (तैत्तिरीयारण्य.प्रपठा. १० अनुवा. १०श्रु. २२) शरीर के मध्य में स्थित श्रेष्ठ घर बना हुआ पापरहित दह्न जो लाल कमल 'कलेजा' है, वहाँ पर शोक रहित दहराकाश है, उसके भीतर जो परब्रह्म नारायण हैं वही उपासना करने योग्य हैं ॥ २२ ॥ इस श्रुति में भी रक्ताम्भोज के ही स्थान में पुण्डरीक शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रकृत श्रुति में "पुण्डरीक" का अर्थ लाल कमल है। कप्यास श्रुति में "क' का अर्थ जल है यह मैंने लिखा है। क्योंकि लिखा है—**कं जले च सुखे प्रोक्तं ब्रह्मणि च प्रकीर्तितम्** ॥ क शब्द जल में, सुख में और ब्रह्म में कहा गया है। **कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा** ॥ (निरुक्त०दै०अ० ४ खं० २२) क शब्द कमन, क्रमण, सुख, जल आदि का वाचक है ॥ २२ ॥ जलार्थक "क" शब्द का प्रयोग वेदव्यास मुनिने निम्नलिखित श्लोक में किया है—**के शवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः। रुदन्ति कौरवा सर्वे हा हा केशव केशव।** (महाभारत) जलमें मृतकको गिरा हुआ देखकर काक पक्षी हर्ष को प्राप्त किया और सब सियार रोतेहैं कि हा जल में मृतक हा जल में मृतक ॥ और **"के यूयं स्थल एव सम्प्रति वयम्"** जल में तुम सब हो इस समय स्थल पर ही हम सब हैं। इत्यादि लौकिक वाक्यों में भी जलार्थक "क" शब्द का प्रयोग आया है। इससे "क" शब्द का अर्थ जल होता है। और आम जनता जानती है कि कर-किरणों से जल को सूर्य खींचकर पीता है अर्थात् सुखाता है। इससे "कपि" शब्द का अर्थ

सूर्य होता है। इस प्रकार से संक्षिप्त श्रुति का अर्थ यह हुआ कि--सूर्य की किरण से भलीभाँति खिले हुए लाल कमल के समान परब्रह्म नारायण के नेत्र हैं। इसी श्रुति के आधार पर योगीन्द्र यामुनाचार्य कहते हैं- **प्रबुद्धमुग्धाम्बुजचारुलोचनम्** (स्तोत्रर० श्लो० ३८) विकसित अत्यन्त खिले हुये सुन्दर रमणीय लाल कमल के समान मनोहर नेत्र वाले।३८॥ श्रीभाष्यकार कहते हैं - **गम्भीराम्भस्समुद्भूतसुमृष्टनालरविकरविकसितपुण्डरीकदलामलायतेक्षणः॥** (वेदार्थसंग्रह) गम्भीर जल से उत्पन्न सुन्दर नाल पर लगे हुए सूर्य की किरण से अत्यन्त विकसित लाल कमल के निर्मल दल के समान विस्तृत नेत्र वाले परब्रह्म नारायण हैं। **कप्यासमिति वाक्यस्य वक्ष्याम्यर्थं शृणु द्विज। गम्भीराम्भसि जातस्य प्रोद्यत्भानुकरैस्तदा।सम्फुलदलपद्मस्य सदृशे लोचने हरेः॥** (प्रपन्नामृत) हे द्विजराज! कप्यास इस वाक्य का अर्थ मैं कहूँगा, तुम सुनो। गम्भीर जल में उत्पन्न और प्रातः काल के सूर्य की किरण से अच्छी तरह से खिले हुये लाल कमल के निर्मल विस्तृत दल के समान परब्रह्म नारायण के नेत्र हैं। **रक्ताम्भोरुहदर्पभञ्जनमहासौन्दर्यनेत्रद्वयम्॥** (जगन्नाथपञ्च०श्लो० १) लाल कमल के दर्प को भञ्जन करने वाले बड़े सुन्दर दोनों नेत्र परब्रह्म जगन्नाथ के हैं।।१॥ उस सूर्यमण्डलमध्यवर्ती परब्रह्म नारायण के सबसे ऊपर उठा हुआ "उत्" यह नाम है। वह यह परब्रह्म नारायण समस्त पुण्य पाप रूप उभयविध कर्मों से रहित ऊपर उठा हुआ है। क्योंकि लिखा है—**नैनं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते॥** (छान्दो० प्रपा० ८ खं० ४ श्रु० १) इस परब्रह्म नारायण रूप सेतु को दिन रात अतिक्रमण नहीं करते। इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक और न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण पुण्य पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं॥ १॥ अब उक्त उपासना के फल को श्रुति कहती है कि- जो कोई उपासक इसप्रकार 'उत्' नाम वाले परब्रह्म नारायण की उपासना करता है वह निश्चय ही सब पापों से पृथक् होकर ऊपर उठ जाता है। शारदाशोकनाशक भगवद्रामानुजाचार्य ने—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ (शा० मी० १।१।२१) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के छठवें खण्ड की सातवीं श्रुति को उद्धृत किया है ॥७॥

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ । तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता । स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च । इत्यधिदैवतम् ॥८॥

॥ इति प्रथमप्राठके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ऋक्) ऋग्वेद (च) और (साम) सामवेद (च) भी (तस्य) उस परब्रह्म नारायण के (गेष्णौ) गानरूप हैं (तस्मात्) इसलिये (उद्गीथः) उत् नामवाला वह नारायण उद्गीथ है (तस्मात्) उस कारण से (तु) तो (एव) निश्चय करके (उद्गाता) उच्चस्वर से गानेवाला सामवेदी उद्गाता है (हि) क्योंकि (एतस्य) इस "उत्" नामक परब्रह्म नारायण का (गाता) गानेवाला है (सः) वह (एषः) यह हिरण्मय परब्रह्म नारायण (ये) जो (च) कोई (अमुष्मात्) इस सूर्यमण्डल से (पराञ्च) ऊपर स्थित (लोकाः) लोक हैं (तेषाम्) उन महर्लोक, जनलोक, तपोलोक आदि लोकों के (च) और (देवकामानाम्) देवताओं की कामनाओं के अर्थात् देवताओं के भोग्य तथा भोगोपकरण और भोगस्थान के (च) भी (ईष्टे) नियन्ता स्वामी है (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) देवता देवता विषयक उपासना कही गयी ॥ ८ ॥

विशेषार्थ निश्चय करके प्राक् प्रस्तुत ऋग्वेद और सामवेद उस परब्रह्म नारायण के गुणगान रूप हैं। इसलिये 'उत्' नामवाला वही परब्रह्म नारायण गानरूप होने से उद्गीथ कहा जाता है। और इसी कारण से उच्चस्वर से गानेवाला सामवेदी उद्गाता वास्तव में उसी परब्रह्म नारायण का गान करनेवाला है। जो स्वर्गलोक से भी ऊपर के महर्लोक, जनलोक, तपोलोक आदि लोक हैं उन सब लोकों का और देवताओं की कामनाओं का अर्थात् देवताओंके भोग्य तथा भोगोपकरण और भोग स्थान के नियन्ता शासन करनेवाला वही हिरण्मय परम पुरुष नारायण हैं। इस प्रकार आधिदैविक उपासना समाप्त हुई। गोपिकामोक्षदायक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्** ॥ (शा०मी० १।१।२१)

श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के छठवें खण्ड की आठवीं श्रुति के **"तस्यर्क च साम च गेष्णौ । इत्यधिदैवतम्"** इन पदों को उद्धृत किया है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का छठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ८ ॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

अथाध्यात्मम् । वागेवर्क् प्राणः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥१॥

अन्वयार्थ--(अथ) आधिदैविक उपासना कहने के बाद अब (अध्यात्मम्) शरीर सम्बन्धी उपासना कही जाती है (वाक्) वाक् इन्द्रिय (एव) निश्चय करके (ऋक्) ऋग्वेद है और (प्राणः) प्राण (साम) सामवेद है (तत्) वह (एतत्) यह प्राणरूप (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस वाणी रूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित है (तस्मात्) इसी कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (वाक्) वाणी (एव) ही (सा) सामशब्द में पहला आधा जो "सा" है वह है और (प्राणः) प्राण (अमः) साम शब्द में अन्य जो आधा "अम" है वह है (तत्) वह दोनों "सा" और "अम" मिलकर (साम) साम व्यवहार होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ --आधिदैविक उपासना कहनेके बाद अब शरीर सम्बन्धी उपासना समझायी जाती है कि--वाक् इन्द्रिय ही ऋग्वेद है और प्राण सामवेद है। इससे ऋग्वेद में वाक् इन्द्रिय और सामवेद में प्राण दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। वाक् इन्द्रिय के विषय में लिखा है-- **कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात् ॥** (वराहोप. अ. १ श्रु. ३) वाक् १, पाणि २, पाद ३, पायु ४, उपस्थ ५, ये क्रम से पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥३॥ **श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी । पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥** (मनु. अ. २ श्लो. ९०) **बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः । कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥९१॥** श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३, जिह्वा ४

और नासिका ५, पायु ६, उपस्थ ७, पाणि ८, पाद ९, और दशवीं वाक् १० ये इन्द्रियाँ हैं ॥९०॥ इन सबों में श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३ जिह्वा ४ और नासिका ५ ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पायु १, उपस्थ २, पाणि ३, पाद ४ और वाक् ५ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं ॥९१॥ और प्राण के विषय में लिखा है—**आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि। प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ॥** (जावालद० उ० खं० ४ श्रु० २९) **निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राण कर्म हि साङ्कृते ॥३०॥** हे मुने इनमें से प्राणवायु मुख और नासिका के मध्यभाग में तथा नाभि के मध्य में और हृदय में नित्य निवास करता है ॥ २९ ॥ हे साङ्कृते! श्वास को भीतर ले जाना और बाहर निकालना तथा खाँसना ये प्राण-वायु के कार्य हैं ॥३०॥ वह यह प्राण रूप सामवेद इस वाक् इन्द्रिय रूप ऋग्वेद में भलीभाँति प्रतिष्ठित है। इसीलिये आजकल भी ऋगारूढ ही सामवेद का गान किया जाता है। "सा+अम" इन दोनों को मिलाकर साम शब्द बनता है। वाणी ही "सा" है और प्राण "अम" है। इससे "सा" शब्द में वाणी दृष्टि और "अम" शब्द में प्राण दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलाकर ही साम व्यवहार होता है। मूकमुक्तिप्रदायक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥** (शा० मी० १।१।२१) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के सातवें खण्ड की पहली श्रुति के "अथाध्यात्मम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम। तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। चक्षुरेव सात्मामस्तत्साम ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(चक्षुः) आँख (एव) निश्चय करके (ऋक्) ऋग्वेद है और (आत्मा) आँख की पुतली (साम) सामवेद है (तत्) वही (एतत्) यह आँख की पुतली रूप (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस नेत्ररूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित है (तस्मात्) इसी कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (चक्षुः) नेत्र (एव) ही (सा) साम शब्द

में पहला आधा जो 'सा' है वह है और (आत्मा नेत्रकी पुतली (अमः) साम शब्द में अन्य आधा जो 'अम' है वह है (तत्) वह दोनों 'सा' और 'अम' मिलकर (साम) व्यवहार होता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—नेत्र इन्द्रिय ही ऋग्वेद है और नेत्र के भीतर की काली पुतली सामवेद है। इससे ऋग्वेद में नेत्रेन्द्रिय और सामवेद में नेत्र के भीतर की काली पुतली दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। नेत्रेन्द्रिय के विषय में लिखा है—**ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः ॥** (वराहोप० अ० १ श्रु० २) श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३, घ्राण ४, रसना ५ ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥ २ ॥ वह यह आँख के भीतर की काली पुतली रूप सामवेद इस नेत्रेन्द्रिय रूप ऋग्वेद में भलीभाँति प्रतिष्ठित है। इसी लिये आजकल भी ऋगारूढ ही सामवेद का गान किया जाता है। "सा +अम" इन दोनों को मिलाकर साम शब्द बनता है। नेत्र ही 'सा' है और आँख की पुतली 'अम' है। इससे "सा" शब्द में नेत्र दृष्टि और "अम" शब्द में आँख की पुतली दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलाकर ही साम व्यवहार होता है ॥२॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम। तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽम-स्तत्साम ॥३॥

अन्वयार्थ—(श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रिय (एव) निश्चय करके (ऋग्) ऋग्वेद है और (मनः) मन (साम) सामवेद है (तत्) वह (एतत्) यह मन रूप (साम) सामवेद (एतस्याम्) इन श्रोत्रेन्द्रिय रूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित है (तस्मात्) इसी कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (श्रोत्रम्) श्रोत्रेन्द्रिय (एव) ही (सा) साम शब्द में पहला आधा जो "सा" है वह है और (मनः) मन (अमः) साम शब्द में अन्य जो आधा "अम" है वह है (तत्) वह दोनों "सा" और "अम" मिल कर (साम) साम व्यवहार होता है ॥३॥

विशेषार्थ—श्रोत्र इन्द्रिय ही ऋग्वेद है और मन सामवेद है। इससे ऋग्वेद में श्रोत्रेन्द्रिय और सामवेद में मन दृष्टि करके उपासना करनी

चाहिये। मन के विषय में लिखा है—**मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥** (वराहोप.अ १ श्रु. ४) मन १, बुद्धि २, अहङ्कार ३, और चित्त ४ ये अन्तःकरण चतुष्टय हैं ॥४॥ **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥** (शाट्यायनीयो. श्रु. १) मनुष्यों के बन्धन या मोक्ष में कारण मन ही है। विषयासक्त मन बन्धन के लिये और विषय रहित मन मोक्ष के लिये कहा गया है ॥१॥ वह यह मन रूप सामवेद श्रोत्र रूप ऋग्वेद में भली-भाँति प्रतिष्ठित है। इसीलिये आजकल भी ऋगारूढ ही सामवेद का गान किया जाता है। "सा+अम" इन दोनों को मिलाकर साम शब्द बनता है। श्रोत्र ही "सा" है और मन "अम" है। इससे "सा" शब्द में श्रोत्र दृष्टि और "अम" शब्द में मन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। "सा+अम" इन दोनों को मिलाकर साम व्यवहार होता है ॥३॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम। तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यत्) जो (एतत्) यह (अक्ष्णः) आँख की (शुक्लम्) सफेद (भा.) दीप्ति है (सा) वही (एव) निश्चय करके (ऋग्) ऋग्वेद है (अथ) और (यत्) जो (नीलम्) नील (परः) अतिशय (कृष्णम्) श्याम दीप्ति है (तत्) वह (साम) सामवेद है (तत्) वह (एतत्) यह अतिशय श्याम आभा रूप (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस नेत्र के श्वेत आभा रूप (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित है (तस्मात्) इसी कारण से आज भी (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) ऊपर प्रतिष्ठित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (अथ) और (यत्) जो (एव) निश्चय करके (एतत्) यह (अक्ष्णः) आँख की (शुक्लम्) सफेद (भाः) दीप्ति है (सा) वही (एव) निश्चय करके (सा) साम शब्द में पहला आधा जो "सा" है वह है (अथ) और (यत्) जो (नीलम्) नील तथा (परः) अत्यन्त (कृष्णम्) कृष्ण या श्याम दीप्ति है (तत्) वही (अमः) साम शब्द में अन्य आधा जो "अम" है वह है (तत्) वह दोनों

'सा' और 'अम' मिलकर (साम) साम व्यवहार होता है ॥४॥

विशेषार्थ—और जो यह नेत्र की श्याम आभा है वही ऋग्वेद है तथा जो नील एवं अतिशय श्याम आभा है वही सामवेद है। इससे ऋग्वेद में नेत्र की श्वेत आभा और सामवेद में नेत्र के नील एवं अतिशय श्याम आभा दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। वही यह श्याम आभा रूप सामवेद इस श्वेत आभा रूप ऋग्वेद में भलीभाँति प्रतिष्ठित है। इसी लिये आजकल भी ऋगारूढ ही सामवेद का गान किया जाता है। 'सा+अम' इन दोनों को मिलनेसे साम शब्द बनता है तथा यह जो नेत्र की श्वेत आभा है वही 'सा' है और जो नील तथा अतिशय श्याम आभा है वह 'अम' है। इससे 'सा' शब्द में नेत्र की श्याम आभा दृष्टि और 'अम' शब्द में नेत्र की नील तथा अतिशय श्याम आभा दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। 'सा+अम' इन दोनों को मिलाकर साम व्यवहार होता है ॥ ४ ॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणी पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुः तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) परब्रह्म नारायण (अन्तः) भीतर (अक्षिणी) नेत्र में (दृश्यते) दिखायी देता है (सः) वही पुरुष (एव) निश्चय करके (ऋक्) ऋग्वेद है (तत्) वही (साम) सामवेद है (तत्) वही (उक्थम्) उक्थ यानी सामवेद के स्तोत्र समूह है (तत्) वही (यजुः) यजुर्वेद है और (तत्) वही (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है (तस्य) उस (एतस्य) इस नेत्र के भीतर रहनेवाला परम पुरुष के (तत्) वही (एव) निश्चय करके (रूपम्) रूप है (यत्) जो (अमुष्य) आदित्य मण्डल में स्थित परम पुरुष का (रूपम्) रूप है और (यौ) जो ऋग्वेद तथा सामवेद (अमुष्य) आदित्यमण्डल में स्थित परब्रह्म नारायण का (गेष्णौ) गान स्वरूप हैं (तौ) वे दोनों ऋग्वेद और साम (गेष्णौ) नेत्र के अन्दर रहने वाले परम पुरुष का भी गान स्वरूप हैं और आदित्य मण्डल में स्थित परम पुरुष का (यत्) जो 'उत्' (नाम) नाम है (तत्) वही उत्' (नाम) नाम नेत्र के भीतर रहने वाला परब्रह्म नारायण का भी है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—यह जो नेत्र के भीतर पुरुष योगियों के द्वारा दिखाई देता है वही ऋग्वेद है, वही सामवेद है, वही यजुर्वेद है, वहीं उक्थ यानी सामवेद के स्तोत्र समूह है। यहाँ पर गोबलीवर्दन्याय से उक्थ का पृथक् परिगणन किया गया है। और वही आँखके अन्दर रहनेवाला पुरुष परब्रह्म नारायण है। ब्रह्म के विषय में लिखा है— **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति ॥** (तैत्ति०उ०व० ३ अनुवा० १) जिससे निश्चय ही यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुये सब भूत जिस करके जीवित रहते हैं और जिसमें प्रलय होते हैं तथा अन्त में जिस करके मुक्त हो जाते हैं उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ॥ २ ॥ **जन्माद्यस्य यतः** ॥ (शा० मी० १।१।२) इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् का जिससे उत्पत्ति, पालन, प्रलय, आदिक होता है वही ब्रह्म है ॥ २ ॥ जो इस उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के छठवें खण्ड में वर्णित आदित्यमण्डलमें स्थित परम पुरुष का हिरण्मय -- परम सुन्दर रूप है। वही रूप इस नेत्र के भीतर रहने वाले परम पुरुष का भी है। और सूर्यमण्डल मध्यवर्ती परब्रह्म नारायण के जो ऋग्वेद तथा सामवेद गुणगान है। इस आँख के अन्दर रहने वाले परम पुरुष के भी वही ऋग्वेद तथा सामवेद गुणगान है। आदित्यमण्डल में स्थित परमपुरुष क जो 'उत्' नाम है। इस नेत्र के भीतर रहने वाले परब्रह्म नारायण का भी वही 'उत्' नाम है। क्योंकि लिखा है— **तस्योदिति नाम** ॥ (छां० उ० प्रपाठ० १ खं० ६ श्रु० ७) उस आदित्य मण्डल में स्थित परम पुरुष का 'उत्' यह नाम है ॥ ७ ॥ प्रपीतत्रिषतीर्थोदक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्** ॥ (शा० मी० १। १।२१) **दर्शयति च** ॥ (शा० मी० ३।३।२२) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छांन्दोग्योपनिषद्' के प्रथम प्रपाठक के सातवें खण्ड की पाँचवीं श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ५ ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति। तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति।

तस्मात्ते धनसनयः ॥६॥

अन्वयार्थ—(च) और (ये) जो (एतस्मात्) इस नेत्र के स्थान से (अर्वाञ्चः) नीचे स्थित (लोकाः) लोक हैं (तेषाम्) उन समस्त लोकों के (च) और (मनुष्यकामानाम्) मनुष्य के भोग्य मनोरथों का (च) और (सः) वही (एषः) यह परब्रह्म नारायण(ईष्टे) शासन करने वाला नियन्ता है (इति) इस प्रकार (तत्) इस कारण से (ये) जो (इमे) ये लोग (वीणायाम्) वीणावाद्य में (गायन्ति) गाते हैं (ते) वे सब वीणागायक (एतम्) इसी परब्रह्म नारायण को (गायन्ति) गाते हैं (तस्मात्) इस कारण से (ते) वे वीणागायक (धनसनयः) धनलाभ करते हैं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—जो इस नेत्रसे नीचे शरीरावयव हैं या इस पृथ्वी से नीचे जो भी लोक हैं उन सब लोकों के शासन करने वाला नियन्ता यही परब्रह्म नारायण है। लोकके विषयमें लिखा है—**स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥** (ऐतरेयो.अ. १खं. १ श्रु. २) उस परब्रह्म नारायण ने अम्भ १, मरीच २, मर ३ और आप ४ इन लोकों को बनाया। स्वर्गलोकके ऊपर जो महर्लोक,जनलोक,तपोलोक और सत्यलोक हैं वे और उनका आधार द्युलोक ये पाँचों लोकों को अम्भलोक कहते हैं। जल यानी मेघों को धारण करने से वे अम्भलोक कहे जाते हैं। और अन्तरिक्षलोक ही मरीचिलोक है। सूर्य, चन्द्र, तारा आदि की किरणोंसे सम्बन्धित होने के कारण वह मरीचिलोक कहलाता है तथा भूलोक ही मरलोक है। पृथ्वी पर सब प्राणी मरते हैं इससे वह मरलोक कहलाता है। और पृथ्वी के नीचे जो पातालादि लोक हैं वे ही आपलोक हैं। पातालादि जल की अधिकता होने के कारण वे आप लोक कहे जाते हैं ॥ २ ॥ **महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त ॥** (योग०अ० १ पा० ३ सू० २४ के व्यासभाष्य) नीचे महातल १, रसातल २, अतल ३, सुतल ४, वितल ५, तलातल ६ और पाताल ७ ये सात लोक हैं। और मनुष्य के भोग्य मनोरथों को भी शासन करने वाला स्वामी वही परब्रह्म नारायण है। इसलिये जो लोग वीणा वाद्य में गाते हैं वे सब ही वीणागायक इसी परब्रह्म नारायण को गाते हैं। इसी से वे लोग धनलाभ करते हैं ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायत्युभौ स गायति। सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति देवकामाँश्च ॥७॥

अन्वयार्थ –(अथ) अब फल कहा जाता है (यः) जो उद्‌गाता (एवम्) इस प्रकार से (विद्वान्) जानता हुआ (एतत्) इस उद्‌गीथ (साम) सामवेद को (गायति) गाता है (सः) वह उद्‌गाता (उभौ) नेत्र स्थित तथा आदित्यमण्डल मध्यवर्ती दोनों ही पुरुषों को (गायति) गाता है (च)और (सः) वह उपासक (अमुना) उस आदित्य मण्डल मध्यवर्ती की उपासना से (एव) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह उपासना विशिष्ट मनुष्य (ये) जो (अमुष्मात्) इस सूर्यलोक से (पराञ्चः) ऊपर स्थित (लोकाः) लोक हैं (तान्) उन लोकों को (च) और (देवकामान्) देवता के भोगों को (च) भी (आप्नोति) प्राप्त करता है ।।७।।

विशेषार्थ– अब पूर्वोक्त उपासना के फल को श्रुति कहती है—जो उद्‌गाता इस रहस्य को इस प्रकार जानता हुआ उद्‌गीथ साम को गाता है वह नेत्र स्थित तथा आदित्यमण्डल मध्यवर्ती दोनों ही पुरुषोंको गाता है। आदित्यमण्डल मध्यवर्ती की उपासना से युक्त वह उपासक सूर्य लोक से ऊपर के लोकों को इन्द्रादि देवताओं के भोगों को भी परब्रह्म नारायण से ही प्राप्त कर लेता है ।। ७ ।।

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताँश्चाप्नोति मनुष्यकामाँश्च। तस्मादु हैवं विदुद्‌गाता ब्रूयात् ॥८॥

अन्वयार्थ –(अथ) इसके बाद (अनेन) इस नेत्र के भीतर रहने वाले परम पुरुष की उपासना से (एव) निश्चय करके (ये) जो (च) भी (एतस्मात्) इस मनुष्य लोक से (अर्वाञ्चः) नीचे स्थित (लोकाः) लोक हैं (तान्) उन लोकों को (च) और (मनुष्यकामान्) मनुष्य की कामनाओं को (च) भी (आप्नोति) प्राप्त करता है उपासक [तस्मात्] इस कारण से [उ] निश्चय करके [ह] प्रसिद्ध [एवं वित्] इसप्रकार ब्रह्मको जाननेवाला [उद्‌गाता] उद्‌गीथ का गान करने वाला सामवेदी उद्‌गाता ऋत्विक् [ब्रूयात्] यजमान से निम्नलिखित वचन कहे ।। ८ ।।

विशेषार्थ—आदित्यमण्डल मध्यवर्ती परम पुरुष की उपासना के

फल कहने के बाद अब नेत्र के भीतर रहने वाले परम पुरुष की उपासना के फल को श्रुति कहती है—जो उपासक इस नेत्र के भीतर रहने वाले परब्रह्म नारायण की उपासना करता है। वह नेत्र मण्डल मध्यवर्ती परम पुरुष की उपासना से निःसन्देह इस मनुष्य लोक से नीचे के समस्त लोकों को मनुष्यों के समस्त भोगों को भी परब्रह्म नारायण की कृपा से प्राप्त कर लेता है। इसलिये निःसन्देह इस प्रकार जाननेवाला सामवेदी उद्‌गाता यजमान निम्नलिखित वाक्य यों कहे ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीति। एष ह्येव कामगानस्येष्टे। य एवं विद्वान् साम गायति साम गायति ॥९॥

॥ इति प्रथमप्रपाटके सप्तमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ते) हे यजमान तेरे (कम्) किस (कामम्) मनुष्य की कामना को या देवता की कामना को लक्ष्य करके (आगायानि) मैं भलीभाँति सामवेद का गान करूँ (इति) इस प्रकार उद्‌गाता कहे (हि) क्योंकि (एषः) यही (एव) निश्चय करके (कामगानस्य) काम सम्पादक गान के (ईष्टे) सामर्थ्य है (यः) जो उद्‌गाता (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (साम) सामवेद को (गायति) गाता है (साम) सामवेद को (गायति) गाता है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—उद्‌गाता ऋत्विक् यजमान से कहे कि--हे यजमान मैं तेरे लिये कौन सी अभीष्ट वस्तु को अपने गान के द्वारा परिपूर्ण करूँ क्योंकि यह निश्चय कामसंपादकगान का सामर्थ्य है कि जिस कामना के के लिये गान किया जाता है वह अवश्य परिपूर्ण हो जाती है। जो उद्‌गाता इस रहस्य को इस प्रकार जानकर सामवेद का गान करता है वही यजमान के वाञ्छित भोगों को गान द्वारा परिपूर्ण करने में समर्थ होता है। इस श्रुति में "साम गायति" इस वाक्य का दो वार उच्चारण पूर्वोक्त उपासना और खण्ड समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ९ ॥

॥ अथाष्टमखण्डः ॥

त्रयो होद्‌गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चै

कितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति। ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥१॥

अन्वयार्थ - (ह) प्रसिद्ध है कि (उद्गीथे) उद्गीथ विज्ञान में (त्रयः) तीन ही सज्जन (कुशलाः) निपुण (बभूवुः) हुये हैं (शालावत्यः) शालावान् ऋषि का पुत्र (शिलकः) शिलक नाम का ऋषि तथा (चैकितायनः) चिकितायन ऋषि का पुत्र (दाल्भ्यः) दल्भ गोत्र का दाल्भ्य ऋषि और (जैवलिः) जीवल राजा का पुत्र (प्रवाहणः) प्रवाहण नामका राजा (इति) ये तीनों उद्गीथ विद्या में निपुण हुये (ह) प्रसिद्ध (ते) वे तीनों (इति) इस प्रकार (ऊचुः) परस्पर बोले कि (उद्गीथे) उद्गीथ विद्या में (वै) निश्चय करके (कुशलाः) निपुण (स्मः) हमलोग हैं (हन्त) यदि सबकी सम्मति हो तो प्रसन्नता से (उद्गीथे) उद्गीथ विद्या के सम्बन्ध में (कथाम्) बाद की कथा को (वदामः) विद्या की विशदता के लिये हम सब स्पष्ट कहें ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अब दूसरे प्रकार से उपासना का विधान करने के लिये परम करुणामयी श्रुति आख्यायिका को स्वतः कहती है कि है कि—यह प्रसिद्ध है कि तीन सज्जन उद्गीथ का तत्त्व जानने में अत्यन्त निपुण थे। एक तो शालावान् ऋषि का पुत्र शिलक ऋषि, दूसरा चिकितायन ऋषि का पुत्र दल्भगोत्र का दाल्भ्य ऋषि और तीसरा जीवल राजा का पुत्र प्रवाहण राजा। एक बार वे तीनों आपस में इस प्रकार कहने लगे कि—निश्चय ही हमलोग उद्गीथ विद्या में निपुण हैं इसलिये यदि सबकी सम्मति हो तो उद्गीथ विद्या के विषय में हम सब परस्पर विचार करें। इस श्रुति में "दाल्भ्य" ऋषि का वर्नन आया है। इनके विषय में लिखा है— **दाल्भ्यो विदाञ्चकार स ह नैमिषीयाणामुद्गाता बभूव** (छान्दो० प्रपा० १ खं० २ श्रु० १३) उस दाल्भ्य ऋषि ने उद्गीथ को जाना और वही प्रसिद्ध ऋषि नैमिषारण्य निवासी ऋषियों के यज्ञ में उद्गाता नाम का ऋत्विक् हुआ ॥ १३ ॥ और आगे भी इनके विषय में लिखा है— **तद्धबको दाल्भ्यः···स्वाध्यायमुद्वव्राज** ॥ (छान्दो० प्रपा० १ खं० १२ श्रु० १) वे प्रसिद्ध बक दाल्भ्य ऋषि स्वाध्याय करने के लिये गाँव से बाहर चले गये ॥ १ ॥ इन पूर्वोक्त श्रुतियों में कथित 'दाल्भ्य' ऋषि चक्राङ्कित हैं क्योंकि लिखा है— **प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरी-**

षशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् । रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्पुण्यानिमान्परमभागवतान् स्मरामि ॥ (पाण्डवगी० श्लो० १) प्रह्लाद १, नारद २, पराशर ३, पुण्डरीक ४, व्यास ५, अम्बरीष ६, शुकदेव ७, शौनक ८, भीष्म ९, दाल्भ्य १०, रुक्माङ्गद ११, अर्जुन १२, वसिष्ठ १३, विभीषण १४, आदिक पुण्य उत्कृष्ट इन भागवतों को स्मरण करता हूँ ॥ १ ॥ इस श्लोक में "दाल्भ्य" ऋषि परिगणित हैं इससे सिद्ध हो गया कि ऋषि "दाल्भ्य" भागवत हैं। और भागवत का लक्षण लिखा है—अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञाः पञ्चसंस्कारसंस्कृताः । आकारत्रयसंपन्नास्ते वै भागवताः स्मृताः ॥ (पराशरीयधर्मशा० उत्तरखं० अध्या० १० श्लो० ९) स्वस्वरूप, परस्वरूप, पुरुषार्थस्वरूप, उपायस्वरूप और विरोधिस्वरूप इन पाँच अर्थों के तत्वों को जो जाननेवाले हों और ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र और याग इन पाँच संस्कारों से जो संस्कृत हो तथा अनन्यर्हत्व, अनन्यभोग्यत्व, अनन्यशरणत्व रूप तीन आकारों से जो सम्पन्न हो उनको निश्चय करके भागवत कहते हैं ॥ ९ ॥ इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया की "दाल्भ्य" ऋषि चक्राङ्कित हैं। जीवल राजा का पुत्र प्रवाहण नाम के राजा के विषय में लिखा है—श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय । तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ॥ (छा० प्रपा० ५ खं० ३ श्रु० १) प्रसिद्ध आरुणि ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु नामक ऋषि पञ्चाल देश की सभा में आया। तब उससे जीवल राजा के पुत्र प्रवाहण राजा ने कहा ॥ १ ॥ और बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणम् ॥ (बृह० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १) प्रसिद्ध आरुणि ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु ऋषि पञ्चाल देश की सभा में आया। इसके बाद वह श्वेतकेतु भृत्यादिकों से सेव्यमान पञ्चालाधिपति जीवल राजा का पुत्र प्रवाहण नाम के राजा के निकट आया ॥ १ ॥ स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास ॥ (बृह० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० ४) वह गौतम जहाँ पर जीवल राजा का पुत्र प्रवाहण राजा का निवास स्थान था वहाँ पर आ गया ॥ ४ ॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जीवल राजा का पुत्र प्रवाहण राजा बड़ा ज्ञानी उपासक था ॥ १ ॥

तथेति ह समुपविविशुः । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति ॥२॥

अन्यवयार्थ—(तथा) ऐसा ही हो (इति) इस प्रकार कहकर (ह) प्रसिद्ध (समुपविविशुः) उद्गीथ विद्या में निपुण वे तीनों बैठ गये इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (सः) वह (जैवलिः) जीवल राजा का पुत्र (प्रवाहणः) प्रवाहण राजा (उवाच) बोला कि (अग्रे) पहले (भगवन्तौ) पूजनीय आप दोनों ब्राह्मण (वदताम्) उद्गीथ विद्या के विषय में विचार करें (वदतोः) परस्पर भाषण करते हुये (ब्राह्मणयोः) आप दोनों ब्राह्मणों की (वाचम्) वाणी को (श्रोष्यामि) मैं क्षत्रिय सुनूँगा (इति) यह मेरा मत है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—विद्या विषयक परस्पर संवाद करने से से विपरीत ग्रहण का विनाश, अपूर्वबोध की उत्पत्ति और अखिल शंकाओं की निवृत्ति होती है। इस कारण बहुत ठीक है ऐसा ही हो यों कहकर वे तीनों उद्गीथ विद्या को भलीभाँति जानने वाले एक स्थान पर सुख से बैठ गये। तब प्रसिद्ध राजर्षि जीवल के पुत्र प्रवाहण नाम के राजर्षि शेष दोनों ब्रह्मर्षियों से बोले कि पहले आप दोनों पूज्यपाद ब्राह्मण विद्या विषयक बातचीत प्रारम्भ करें। भाषण करते हुये आप दोनों ब्राह्मणों के वचनों को क्षत्रिय मैं सुनूँगा यही मेरा अभिमत है। ऐसा कहकर राजर्षि चुप हो गये। यहाँ पर शिलक और दाल्भ्य ऋषि के लिये औपचारिक "भगवन्तौ" पद का प्रयोग प्रवाहण राजर्षि ने किया है। क्योंकि विष्णुपुराण में लिखा है—**शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥** विष्णुपु० अंश० ६ अध्या० ५ श्लो० ७२) **संभर्तेति तथा भर्ता भकारोर्थद्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥ ७३॥ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥ ७४ ॥ वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि । स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥ ७५ ॥** हे मैत्रेय शुद्ध महाविभूति नाम वाले सब कारणों के कारण परब्रह्म नारायण में भगवत् शब्द कहा जाता है ॥ ७२ ॥ संभर्ता और

भर्ता ये दो अर्थ भगवत् शब्द में जो भकार है उसका है और हे मुने ! नेता गमयिता तथा स्रष्टा गकार के ये तीन अर्थ हैं ॥ ७३ ॥ अथवा समस्त ऐश्वर्य १, वीर्य २, यश ३, श्री ४, ज्ञान ५ और वैराग्य ६ इन छः वस्तुओं को भग कहते हैं ॥ ७४ ॥ उस अखिलात्मा नारायण में समस्त भूत बसते हैं और समस्त भूतों में जो बसता है वही भगवत् शब्द में जो वकार है उसका अर्थ है ॥ ७५ ॥ **ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः।** (विष्णु० अं० ६ अध्या० ५ श्लो० ७६) हेय गुणादिकों से रहित समस्त ज्ञान, शक्ति बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज भगवत् शब्द के वाच्य हैं ॥ ७६ ॥ **एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति। परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः॥** (विष्णु० अं० ६ अ०५ श्लोक ७६) **तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः॥ शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः॥ ७७ ॥** हे मैत्रेय इस प्रकार यह महान् भगवत् शब्द परब्रह्म वासुदेव का ही वाचक है दूसरे का नहीं ॥ ७६ ॥ उस परब्रह्म नारायण में ही लक्षण युक्त भगवत् शब्द का पूर्ण अर्थ है और दूसरे में औपचारिक है ॥ ७७ ॥ इससे सिद्ध हो गया कि शिलक और दाल्भ्य ऋषि में औपचारिक भगवत् शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्राह्मण के विषय में लिखा है— **सान्तपना इदं हविरित्येष ह वै सान्तपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणो यस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनयनाप्लवनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनि कृतानि भवन्ति स सान्तपनः॥** (गोपथब्रा० पूर्व भाग ब्राह्म० ३३) जिसका गर्भाधान १, पुंसवन २, सीमन्त ३, उन्नयन ४, जातकर्म ५, नामकरण ६, निष्क्रमण ७, अन्नप्राशन ८, गोदान ९, चूडाकरण १०, उपनयन ११, समावर्तन १२, अग्निहोत्र १३, व्रतचर्या १४ आदिक संस्कार हुये हैं वह ब्राह्मण जाति और गुणकर्म से यथार्थ है वह सान्तपन अग्नि है और निश्चय करकेउ सा को ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३३ ॥ और पाणिनि मुनि के निम्नलिखित इस सूत्र पर महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं— **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः॥** (पाणि० व्याक० अध्या० ५ पा० १) सू० ११५) **सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो**

वैश्यः शूद्र इति । अतश्च गुणसमुदाये एवं ह्याह ॥ तपः श्रुतं च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारकम् । तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥१॥ तथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलः कपिलकेश इति ॥

(महाभाष्य) सब यह शब्द गुण समुदायों में वर्तते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इससे गुण समुदाय में इस प्रकार कहे हैं कि तप करना वेद पढ़ना, श्रेष्ठ ब्राह्मणी कन्या में जन्म होना यह ब्राह्मण का लक्षण है । जो ब्राह्मण इन तपस्या और वेदाध्ययन से हीन है, केवल ब्राह्मण कुल में जन्म मात्र है वह भी जाति से ब्राह्मण है ॥ १ ॥ और गौरवर्ण पवित्राचरण पिङ्गलकेश कपिल होना ये भी ब्राह्मण के लक्षण हैं ।

शौचं मङ्गलमायासश्चानसूयाऽस्पृहा दमः । लक्षणानि च विप्रस्य तथा दानं दयापि च ॥ (अत्रिसंहिता० श्लो० ३३) शौच १, मङ्गल २, धर्म में परिश्रम ३, असूयारहित ४, स्पृहाहीन ५, दम ६, दान ७ और दया ८ ये आठ लक्षण ब्राह्मण के हैं ॥ ३३ ॥ **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ८८) वेद पढ़ना १, वेद पढ़ाना २, यज्ञ करना ३, यज्ञ कराना ४, दान देना ५ और दान लेना ६ यह कर्म ब्राह्मण के निमित्त प्रभु ने कल्पना की ॥ ८८ ॥ **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥** (गी० १८।४२) शम १, दम २, तप ३, शौच ४, क्षमा ५, आर्जव ६, ज्ञान ७, विज्ञान ८ और आस्तिकता ९ ये सब ब्राह्मण के स्वभाव से ही उत्पन्न कर्म हैं ॥ ४२ ॥ अत्रिसंहिता में दस प्रकार के ब्राह्मण कहे गये हैं— **देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः । पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः ॥** (अत्रिसंहि० श्लो० ३७३) **सन्ध्यां स्नानं जपं होमं देवतानित्यपूजनम् । अतिथिं वैश्वदेवं च देवब्राह्मण उच्यते ॥ ३७४ ॥ शाके पत्रे फले मूले वनवासे सदा रतः । निरतोऽहरहः श्राद्धे स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ ३७५ ॥ वेदान्तं पठते नित्यं सर्वसङ्गं परित्यजेत् । सांख्ययोगविचारस्थः स विप्रो द्विज उच्यते ॥ ३७६ ॥ अस्त्राहताश्च धन्वानः संग्रामे सर्वसंमुखे ।**

आरम्भे निर्जिता येन स विप्रः क्षत्र उच्यते ॥ ३७७ ॥ कृषिकर्मरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः । वाणिज्यव्यवसायश्च स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ ३७८ ॥ लाक्षालवणसंमिश्रं कुसुम्भं क्षीरसर्पिषः । विक्रेता मधुमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ ३७९ ॥ चौरश्च तस्करश्चैव सूचको दंशकस्तथा । मत्स्यमांसे सदा लुब्धो विप्रो निषाद उच्तते ॥ ३८० ॥ ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः । तेनैव स च पापेन विप्रः पशुरुदाहृतः ॥ ३८१ ॥ वापीकूपतडागानामारामस्य सरःसु च । निःशङ्कं रोधकश्चैव स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥ ३८२ ॥ क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः । निर्दयः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ ३८३ ॥

देव १, मुनि २, द्विज ३, राजा ४, वैश्य ५, शूद्र ६, निषाद ७, पशु ८, म्लेच्छ ९, और चाण्डाल १० ये दस प्रकार के ब्राह्मण कहे गये हैं ॥ ३७३ ॥ जो सन्ध्या, स्नान, जप, हवन, देवता की नित्यपूजा, अतिथिसेवा और वैश्वदेव करता है उसको देवब्राह्मण कहते हैं ॥ ३७४ ॥ शाक पत्र, फल, कन्दमूल खाता हुआ सदा जो बनवास में निरत है और नित्य प्रति श्राद्ध में निरत रहता है उसको मुनि ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३७५ ॥ जो नित्य वेदान्त को पढ़ता है तथा उसने सर्व सङ्ग का परित्याग कर दिया है और जो सांख्ययोग के विचार में स्थित रहता है उसको द्विज ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३७६ ॥ जो संग्राम में सबके सामने अस्त्र से मारे गये हैं तथा धनुषधारी हैं और प्रारम्भ में ही निर्जिय हैं उनको क्षत्रिय ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३७७ ॥ जो कृषिकर्म में निरत हो तथा गौ का रक्षक हो और व्यापार के व्यवसाय में लगा हो उसको वैश्य ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३७८ ॥ लाह, लवण, तेल, कुसुम्भ, क्षीर, दधि, घृत, मदिरा, मधु, मांस आदि को जो बेचता हो उसको शूद्र ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३७९ ॥ जो चोर हो, डाकू हो, सूचक हो, दाँत से काटने वाला हो और सर्वदा मछली के मांस को खाने के लिये चाहना करता हो उसको निषाद ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३८० ॥ जो ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानता है और ब्रह्मसूत्र मात्र से गर्वित रहता है उसी पाप से. वह पशु ब्राह्मण कहा गया है ॥ ३८१ ॥ जो वापी, कूप, तालाब, पोखरा आदि को भठवा देते हैं अथवा वापी आदि जल नहीं लेने देते हैं और बगीचा को कटवा देते हैं या बगीचा के फल को किसी को खाने नहीं

देते हैं उनको म्लेच्छ ब्राह्मण कहते हैं ।। ३८२ ।। जो क्रियाहीन हो, मूर्ख हो, सब धर्मों से रहित हो और सब प्राणियों में दयारहित हो उसको चाण्डाल ब्राह्मण कहते हैं । ३८३ ।। ये दश प्रकार के ब्राह्मण हैं । प्रकृत श्रुति में प्रवाहण राजर्षि ने रहस्य को कथा सुनने में निष्ठा प्रतिपादन किया है । क्योंकि श्रवण के विषय में लिखा है — **यः पठेच्छृणुयाद्वापि न मामेति स संशयः ।।** (मुक्तिको० अध्या० १ श्रु० ५०) जो उपनिषद् को पढ़ता है या सुनता है वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है इसमें सन्देह नहीं है ।। ५० ।। यह रहस्य के श्रवण का फल है ।। २ ।।

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच । हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ।। ३ ।।

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह (शालावत्य) शालावान् ऋषि का पुत्र (शिलकः) शिलक ऋषि (चैकितायनः) चिकितायन ऋषि का पुत्र (दाल्भ्यम्) दल्भ-गोत्र का दाल्भ्य ऋषि से (इति) इस प्रकार के (उवाच) बोला कि (हन्त) यदि आप अच्छा समझें तो (त्वा) आप से (पृच्छानि) मैं पूछूँ (इति) इसके बाद (ह) प्रसिद्ध दाल्भ्य ऋषि ने पृच्छ) पूछो (उवाच) ऐसा उत्तर दिया ।। ३ ।।

विशेषार्थ—श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है कि—**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** ।। (गी० ४।३४) उस ज्ञान को साष्टाङ्ग प्रणिपात करने से तथा जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने से और सेवा करने से तुम जानो ।। ३४ ।। इस गीता के वचनानुसार वह प्रसिद्ध शालावान् ऋषि का पुत्र मुमुक्षु शिलक ऋषि ने अनित्य संसार से निवृत्त होने की इच्छा से चिकितायन ऋषि के पुत्र दल्भ गोत्र के दाल्भ्य ऋषि से कहा कि कहिये तो मैं आपसे प्रश्न करूँ । इसके बाद दाल्भ्य ऋषि ने स्पष्ट कहा कि पूछो ।। ३ ।।

का साम्नो गतिरिति । स्वर इति होवाच । स्वरस्य का गतिरिति । प्राण इति होवाच । प्राणस्य का गतिरिति अन्नमिति होवाच । अन्नस्य का गतिरिति । आप इति

होवाच ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(साम्नः) सामवेद को (का) कौन (गतिः) आश्रय या प्राप्य है (इति) ऐसा शिलक ऋषि ने पूछा तब (ह) प्रसिद्ध दाल्भ्य ऋषि ने (स्वरः निषादादि सात स्वर हैं (इति) ऐसा (उवाच) उत्तर दिया (स्वरस्य) स्वर के (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा शिलक ऋषि ने पूछा इसके बाद (ह) प्रसिद्ध दाल्भ्य ऋषि ने (प्राण) प्राण है (इति) ऐसा (उवाच) कहा (प्राणस्य) प्राण के (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा शिलक ऋषि ने पूछा तब (ह) प्रसिद्ध दाल्भ्य ऋषि ने (अन्नम्) अन्न है (इति) ऐसा (उवाच) उत्तर दिया (अन्नस्य) अन्न के (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा शिलक ऋषि ने पूछा तदनन्तर (ह प्रसिद्ध दाल्भ्य ऋषि ने (आपः) जल है (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—यहाँ पर शिलक ऋषि पूछने वाले और दाल्भ्य ऋषि उत्तर देनेवाले हैं। शिलक ने पूछा सामवेद का आश्रय कौन है ? दाल्भ्य ने कहा निषाद आदि सात स्वर ही गीत्यात्मक सामवेद का आश्रय है। क्योंकि गान होने से स्वर के ही अधीन सम्पूर्ण सामवेद है। सात स्वर के विषय में लिखा है—

षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाश्चेति ॥ (गर्भोप० श्रु० १)

षड्ज १, ऋषभ २, गान्धार ३, मध्यम ४, पञ्चम ५, धैवत ६ और निषाद ७ ये सात स्वर हैं॥ १ ॥ ये सर्वगानविद्या के मूल हैं। फिर शिलक ने पूछा स्वर का आश्रय कौन है ? दाल्भ्य ने कहा प्राण ही स्वर का आश्रय है। क्योंकि प्राण के बिना स्वर का उच्चारण नहीं हो सकता है। फिर शिलक ने प्रश्न किया—प्राण का आश्रय कौन है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया अन्न ही प्राण का आश्रय है। क्योंकि अन्न बिना प्राण कभी नहीं रह सकता है। शिलक ने फिर प्रश्न किया—अन्न का आश्रय कौन है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया जल ही अन्न का आश्रय है। क्योंकि जल के बिना कोई अन्न नहीं हो सकता है। इस श्रुति में शिलक ऋषि के चार प्रश्नों का उत्तर दाल्भ्य ऋषि ने दिया है। साम, स्वर, प्राण, अन्न और जल के विषय में पहले मैं लिख चुका हूँ इस से यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से मैं नहीं लिखता हूँ॥ ४ ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच। अमुष्यलोकस्य का गतिरिति न स्वर्गंलोकमतिनयेदिति होवाच।

स्वर्गं वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसंस्तावं हि सामेति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(अपाम्) जलके (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा शिलक ऋषि ने पूछा तब (ह) प्रसिद्ध दाल्भ्य ऋषि ने (असौ) वह स्वर्ग (लोकः) लोक है (इति) ऐसा (उवाच) उत्तर दिया (अमुष्य) उस (लोकस्य) स्वर्गलोक का (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा शिलक ऋषि ने पूछा इसके बाद (ह) प्रसिद्ध दाल्भ्य ऋषि ने (स्वर्गम्) स्वर्ग (लोकम्) लोक को (न) नहीं (अतिनयेत्) कोई पुरुष अतिक्रमण करे (इति) ऐसा (उवाच) स्पष्ट कहा (वयम्) हमलोग (स्वर्गम्) स्वर्ग (लोकम्) लोक में (साम) सामवेद को (अभिसंस्थापयामः) भलीभाँति स्थापित करते हैं (हि) निश्चय करके (इति) क्योंकि (स्वर्गसंस्तावम्) स्वर्ग की स्तुति करने वाला (साम) सामवेद है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में शिलक ऋषि के दो प्रश्नों का उत्तर दाल्भ्य ऋषि ने दिया है। शिलक ने पुनः पूछा–जल का आश्रय कौन है ? दाल्भ्य ने कहा स्वर्गलोक ही जल का आश्रय है। शिलक ने फिर प्रश्न किया—उस स्वर्गलोक कहकर ही का आश्रय कौन है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया—स्वर्गलोक से आगे नहीं जाना चाहिये उसके परे की बात नहीं पूछनी चाहिये। हम स्वर्गलोक में ही साम की पूर्णतया स्थिति मानते हैं। क्योंकि लिखा है—**स्वर्गो वै लोकः सामवेदः ॥** (श्रुति) स्वर्गलोक ही सामवेद है ॥ इस श्रुति के द्वारा सामवेद को स्वर्गलोक सामवेद की स्तुति की जाती है। इस श्रुति में "स्वर्गलोक" शब्द मोक्ष स्थान का वाचक है। क्योंकि उपनिषदों में प्रायः मोक्षस्थान वाचक ही "स्वर्गलोक" शब्द मिलता है। **अपहत्य पाप्मानं अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ॥** (के० उ० खं० ४ श्रु० ६) समस्त पापों को नष्ट करके अनन्त सबसे श्रेष्ठ मोक्ष स्थान में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ६ ॥ **स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥** (कठो० अ० १ व० १ श्रु० १२) हे यमराज ! मोक्षस्थल में रोग आदि का भय नहीं है और मोक्षस्थान में आप किसी को भी नहीं मार सकते हैं तथा मोक्षस्थान में कोई बुढ़ापे से नहीं डरता। मोक्षस्थान में रहनेवाला

पुरुष भूख और प्यास को भी जीत कर शोक से रहित होकर सदा आनन्द भोगता है ॥ १२ ॥ **स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्** ॥ (प्रश्नो० प्र० ५ श्रु० ५) वह उपासक सामवेद के मंत्रों द्वारा भगवल्लोक वैकुण्ठ को ऊपर की ओर ले जाया जाता है ॥ ५ ॥ **अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः** ॥ (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० ८) विमुक्त ब्रह्मवेत्ता लोग इस से ऊपर मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ८ ॥ इससे सिद्ध हो गया कि यहाँ पर "स्वर्गलोक" का अर्थ मोक्षस्थान है ॥ ५ ॥

तं ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच । अप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (शालावत्यः) शालावान् ऋषि का पुत्र (शिलकः) शिलक ऋषि ने (वै) निश्चय करके (तम्) उस प्रसिद्ध (चैकितायनम्) चिकितायन ऋषि के पुत्र (दाल्भ्यम्) दाल्भ्य ऋषि से (उवाच) कहा (किल) कि (दाल्भ्य) हे दाल्भ्य (ते) तेरी (साम) साम विद्या यानी उद्गीथ विद्या (अप्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठा हीन है (यः) जो कोई साम की प्रतिष्ठा को जानने वाला (एतर्हि) इस समय में (इति) इस प्रकार (ब्रूयात्) कहे कि (ते) तेरा (मूर्धा) शिर (विपतेत्) गिर पड़े (तु) तो (इति) इस अपराध के कारण से (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—चिकितायन ऋषि का पुत्र दाल्भ्य ऋषि से शालावान् ऋषि का पुत्र सुप्रसिद्ध शिलक ऋषि ने कहा—हे दाल्भ्य ! तुम्हारा बताया हुआ साम निःसन्देह प्रतिष्ठा हीन है अर्थात् तुमने जो साम का अन्तिम आश्रय स्वर्ग बताया वह ठीक नहीं है । स्वर्ग का भी कोई और आश्रय अवश्य होना चाहिये । यदि कोई साम के तत्त्व को जानने वाला विद्वान् तुम्हारे इस अधूरे उत्तर पर झुँझलाकर तुम्हें यह कह दे कि तुम्हारा शिर गिर जायेगा तो उसके यों कहते ही तुम्हारा शिर गिर पड़ेगा, यह निश्चय समझो । मैं मित्रता से वैसा वचन नहीं कहा हूँ इसलिये तुम जीते हो ॥ ६ ॥

हन्ताहमेतद्भगवत्तो वेदानीति विद्धीति होवाच। अमुष्यलोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाच। अस्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच। प्रतिष्ठां वयं लोकं सामभिः संस्थापयामः प्रतिष्ठासंस्तावं हि सामेति ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ (हन्त) आप कृपा करें कि (अहम्) दाल्भ्य नाम का मैं (एतत्) इस साम गति परम्परा की विश्रान्त भूमिको (भगवत्तः) पूजनीय आपसे (वेदानि) जानूँ (इति) इस प्रकार शिलक ऋषि से प्रार्थना किया (ह) तब प्रसिद्ध शिलक ने (विद्धि) जानो (इति) ऐसा (उवाच) स्पष्ट कहा इसके बाद (अमुष्य) उस (लोकस्य) स्वर्गलोक के (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा दाल्भ्य ऋषि ने पूछा तब (ह) प्रसिद्ध शिलक ऋषि ने (अयम्) यह (लोकः) भूलोक है (इति) ऐसा (उवाच) उत्तर दिया (अस्य) इस (लोकस्य) भूलोक का (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा दाल्भ्य ऋषि ने पूछा तब (ह) प्रसिद्ध शिलक ऋषि ने (प्रतिष्ठाम्) धारण करने वाली पृथ्वी (लोकम्) लोक को (न) नहीं (अतिनयेत्) कोई पुरुष अतिक्रमण करे (इति) ऐसा (उवाच) स्पष्ट कहा (वयम्) हमलोग (प्रतिष्ठाम्) धारण करने वाली पृथ्वी (लोकम्) लोक को (सामभिः) सामवेद के गान से (संस्थापयामः) भलीभाँति स्थापित करते हैं (हि) निश्चय करके (इति) इस कारण से (प्रतिष्ठासंस्तावम्) धारण करनेवाली पृथ्वी की स्तुति करने वाला (साम) सामवेद है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—दाल्भ्य ने शिलक से निरुत्तर होकर निवेदन किया कि क्या मैं सामगति परम्परा की विश्रान्तिभूमि को पूज्य श्रीमान् से जान सकता हूँ ? शिलक ने कहा—हाँ जानो। तब दाल्भ्य ने पूछा—स्वर्गलोक का आधार कौन है ? शिलक ने स्पष्ट उत्तर दिया कि यह मनुष्यलोक ही स्वर्गलोक का आधार है। क्योंकि मनुष्यलोक के बिना स्वर्गलोक नहीं प्राप्त हो सकता है। फिर दाल्भ्य ने प्रश्न किया—मनुष्यलोक का आधार कौन है ? शिलक ने उत्तर दिया—जो सबकी प्रतिष्ठा है, उस मनुष्य लोक से आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये। सब की प्रतिष्ठारूप मनुष्यलोक में ही हम साम की भलीभाँति स्थिति मानते हैं। क्योंकि लिखा है—

इयं वै रथन्तरम् ॥ (श्रुति) यह पृथ्वी ही रथन्तर साम है ॥ इस श्रुति के द्वारा सामवेद को पृथ्वी ही कहकर उसकी स्तुति की जाती है । यहाँ पर शिलक ऋषि के लिये औपचारिक "भगवन्तः" पद का प्रयोग दाल्भ्य ऋषि ने किया है । क्योंकि विष्णुपुराण में लिखा है—**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥** (विष्णु० अं० ६ अध्या० ५ श्लो० ७४) **उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥ ७८ ॥** संपूर्ण ऐश्वर्य १, सम्पूर्ण धर्म २, सम्पूर्ण यश ३, सम्पूर्ण श्री ४, सम्पूर्ण ज्ञान ५ और सम्पूर्ण वैराग्य ६ इन छः का नाम "भग" है । ये जिस में हों उसे भगवान् कहते हैं ॥ ७४ ॥ उत्पत्ति और प्रलय को, भूतों के आने और जाने को, तथा विद्या को और अविद्या को जो जानता है उसे भगवान् कहना चाहिये ॥ ७८ ॥ यह अर्थ केवल परब्रह्म नारायण में ही है । इससे सिद्ध हो गया कि शिलक ऋषि में औपचारिक भगवत् शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ ७ ॥

तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति । हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाटकेऽष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (जैवलिः) जीवल राजा का पुत्र (प्रवाहणः) प्रवाहण राजा ने (वै) निश्चय करके (तम्) उस प्रसिद्ध शिलक ऋषि से (उवाच) कहा (किल) कि (शालावत्य) हे शालावान् के पुत्र शिलक (ते) तेरी (साम) सामविद्या यानी उद्गीथ विद्या (अन्तवत्) विनाशशील अन्त वाली है (यः) जो कोई साम की प्रतिष्ठा को जाननेवाला (एतर्हि) इस समय में (इति) इस प्रकार (ब्रूयात्) कहे कि (ते) तेरा (मूर्धा) शिर (विपतेत्) गिर पड़े (तु) तो (इति) इस अपराध के कारण से (ते) तेरा (मूर्धा) शिर (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा तत्पश्चात् (हन्त) आप कृपा करें कि (अहम्) शिलक नाम का मैं (एतत्) इस सामगति परम्परा को

विश्रान्तिभूमि को (भगवतः) पूजनीय आपसे (वेदानि) जानूँ (इति) इस प्रकार प्रवाहण राजा से निवेदन किया (ह) तब प्रसिद्ध प्रवाहण ने (विद्धि) तुम जान लो (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥ ८ ॥

विशेषार्थ - जीवल राजा का पुत्र प्रवाहण राजा ने सुप्रसिद्ध शालावान् ऋषि के पुत्र शिलक ऋषि से कहा कि—हे शालावान् ऋषि के पुत्र शिलक ! तुम्हारा समझा हुआ साम भी निःसन्देह विनाशशील अन्तवाला ही है । अतः यदि ऐसी स्थिति में कोई साम की प्रतिष्ठा को जानने वाला पुरुष तुम्हें शाप दे दे कि तुम्हारा शिर गिर जायेगा तो यह निश्चय समझो कि उसके यों कहते ही तुम्हारा शिर गिर सकता हैं । इसके बाद धर्मशील शिलक ऋषि ने कहा क्या मैं इस सामगति परम्परा की विश्रान्तिभूमि को पूजनीय श्रीमान् से जान सकता हूँ । प्रवाहण राजा ने स्पष्ट उत्तर दिया—हाँ जानलो । इस श्रुति में प्रवाहण राजा के लिये औपचारिक 'भगवत्तः' पद का प्रयोग शिलक ऋषि ने किया है । भगवत् शब्द साक्षात् परब्रह्म नारायण का ही वाचक है । इस विषय में पहले ही मैं लिख चुका हूँ । यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के प्रथम प्रपाठक का आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ८ ॥

॥ अथ नवमखण्डः ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् । आकाशः परायणम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अस्य) इस (लोकस्य) पृथ्वी लोक का (का) कौन (गतिः) आश्रय है (इति) ऐसा शिलक ऋषि ने पूछा तब (ह) प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने (आकाशः) आकाश यानी परब्रह्म नारायण है कि (इति) ऐसा (उवाच) उत्तर दिया (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध है कि (इमानि) ये (सर्वाणि) सभी ब्रह्मादिस्त-म्बपर्यन्त भोक्तृ भोग्य रूप (भूतानि) भूत यानी चिदचिदात्मक प्रपञ्च (आकाशात्) आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से (एव) निश्चय करके (समुत्पद्यन्ते) भली-भाँति उत्पन्न होते हैं और अन्त में (आकाशं+प्रति) आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में ही (अस्तम्) प्रलीन (यान्ति) हो जाते हैं (हि) क्योंकि (आकाशः)

आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण (एव) निश्चय करके (एभ्यः) इस समस्त स्थावर जंगम स्वरूप संसार से (ज्यायान्) सब कल्याणमय दिव्य गुणों के द्वारा निरतिशय निरुपाधिक उत्कर्ष से युक्त महत्तम है और (आकाशः) आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण ही (परायणम्) सबका परमगति परम प्राप्य आश्रय है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—शालावान् ऋषि के पुत्र शिलक ऋषि ने जीवल राजा के सुपुत्र प्रवाहण राजर्षि से पूछा कि—इस पृथ्वी लोक का आश्रय कौन है? इस प्रकार प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने उत्तर दिया कि—आकाश अर्थात् सम्पूर्ण भूतों को प्रकाशित करने वाला परब्रह्म नारायण ही इसका आश्रय गति है। निश्चय करके जिस आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त भोक्तृ भोग्य रूप स्थावर जंगम ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिस आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के आश्रय से ये सभी प्राणी जन्म लेने के अनन्तर जीवित रहते हैं तथा अन्त में विनाश काल उपस्थित होने पर आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में ही विलीन हो जाते हैं। क्योंकि आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण ही इस समस्त स्थावर जंगम स्वरूप संसार से समस्त कल्याणमय दिव्य गुणों के द्वारा निरतिशय निरुपाधिक उत्कर्ष से युक्त अत्यन्त बड़ा है और आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण ही सबकी परमगति—परम प्राप्य आश्रय है। इस श्रुति में **"आसमन्तात् काशते प्रकाशत इत्याकाशः"** जिसका सर्वत्र प्रकाश है उसे आकाश कहते हैं। अथवा **"आकाशयति विकाशयति सर्वाणि भूतानि यः सः"** जो संपूर्ण भूतों को प्रकाशित करे उसे आकाश कहते हैं अथवा **"आकाशन्ते प्रकाशन्ते अवकाशं लभन्ते सर्वाणि भूतान्यस्मिन्निति सः"** जिसमें समस्त स्थावर जंगम प्राणी अच्छी तरह अवकाश पावें उसे आकाश कहते हैं। इन व्युत्पत्तियों से "आकाश" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है और साक्षात् भी श्रुति कहती है **को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥** (तैत्तिरीयो० व० २ अनु० ७ श्रु० १) यह आकाश की भाँति व्यापक परब्रह्म नारायण अपरिच्छिन्न आनन्द रस नहीं होता तो कौन पुरुष निश्चय करके जीवित रह सकता या सांसारिक सुख को प्राप्त कर सकता

और कौन पुरुष प्राणों की चेष्टा कर सकता या आपवर्गिक सुख को प्राप्त कर सकता ॥ १ ॥ **सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता ॥** (तै० उ० व० ३ अनुबा० ६ श्रु० १) वह अन्न से प्रारम्भ हुई यह भृगु ऋषि की की जानी हुई और वरुण महर्षि की कही हुई विद्या सबसे उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित है ॥१॥ इस श्रुति में आकाशवाची "व्योमन्" शब्द परब्रह्म नारायण में प्रयुक्त हुआ है — **आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ॥** (छा० प्रपा० ८ खं० १४ श्रु० १) आकाश नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म नारायण नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। १ ॥ **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् ॥** (ऋग्वे० मण्डल १ सूक्त० १६४ मं० ३९ ॥ श्वेता उ० अ० ४ श्रु० ८) अविनश्वर सबसे उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण में सम्पूर्ण ऋचाएँ स्थित हैं ॥ ३९ ॥ ८ ॥ इस श्रुति में भी आकाशवाची "व्योमन्" शब्द परब्रह्म नारायण में प्रयुक्त हुआ है ॥ **ओं खं ब्रह्म ॥** (यजु० अ० ४० श्रु० १८) ओम्, खम् पद वाच्य परब्रह्म नारायण हैं ॥ १८ ॥ इस श्रुति में आकाशवाची "खम्" पद परब्रह्म नारायण में प्रयुक्त हुआ है। इससे यहाँ पर 'आकाश' शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। शेषरूपप्रदर्शक भगवद्रामानुजाचार्य ने — **आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥** (शा० मी० १।१।२३) **प्रसिद्धेश्च ॥** (शा० मी० अ० १।३।१६) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के नवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः । परोवरीयो हास्य भवति। परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति । य एतमेवं विद्वान् परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(सः) वही (एषः) यह आकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण (परोवरीयान्) सब उत्तरोत्तर श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ (उद्गीथः) उच्चस्वर से गीत— उद्गीथ ब्रह्म है (सः) वह उद्गीथ में अध्यस्यमान (एषः) यह आकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण (अनन्तः) अन्तरहित अर्थात् देशकाल वस्तु परिच्छेद रहित है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार उक्त लक्षण युक्त परब्रह्म नारायण को (विद्वान्) जानता हुआ (एतम्) इस आकाश शब्दित (परोवरीयांसम्)

उत्तरोत्तर सब श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ (उद्गीथम्) उद्गीथ परब्रह्म नारायण को (उपास्ते) उपासना करता है (ह प्रसिद्ध है कि (अस्य) इस उद्गीथ के विद्वान् का (परोवरीयः अत्यन्त श्रेष्ठ जीवन (भवति) होता है और (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (परोवरीयसः) उत्तरोत्तर सबसे उत्तम (लोकान्) लोकों को (जयति) जीत लेता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—प्रवाहण राजा ने कहा कि—हे शिलक ब्रह्मर्षि वह आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण ही बड़ों से बड़ा श्रेष्ठ और उद्गीथ—गाने योग्य है। वह उद्गीथ में अध्यस्यमान यह आकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण अनन्त है अर्थात् देश, काल, वस्तु, परिच्छेद रहित सर्वथा असीम है। अनन्त के विषय में लिखा है—

अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपालभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः ॥ (अथर्वशिर उप० श्रु० ४) अनन्त कैसे कहा जाता है—जिससे उच्चारण करने पर इसके ऊपर, नीचे, अगल, बगल आदिक कहीं पर भी अन्त नहीं प्राप्त होता है, इससे अनन्त कहा जाता है ॥ ४ ॥ **शाश्वतत्त्वादनन्तश्च ॥** (महाभार० उद्योगप० अध्या० ७० श्लो० ४) शाश्वतगुण तथा स्वरूप करके अन्त रहित होने से अनन्त कहा जाता है ॥ १४ ॥ **नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमुच्यते ॥** (स्मृति) गुणों का अन्त कोई नहीं पा सकते हैं इससे यह परब्रह्म नारायण अनन्त कहा जाता है ॥ अब सर्वोत्कृष्ट उद्गीथ की उपासना करने वाले सज्जन का फल आगे प्रतिपादन किया जाता है। जो कोई उपासक इस प्रकार समझ कर परोवरीयस्त्वादिगुण विशिष्ट उद्गीथ की उपासना करता है उसका जीवन निःसन्देह ऊंचा से ऊंचा हो जाता है और वह निश्चय करके बड़े से बड़े परोवरीयस्त्वादिगुणवाले समस्त लोकों को प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

तं हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच । यावन्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते । परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (शौनकः) शुनक ऋषि का पुत्र (अतिधन्वा) अतिधन्वा नाम के ऋषि ने (तम्) उस अति प्रसिद्ध (एतम्) इस उद्गीथ को (उदरशाण्डिल्याय) सन्ततिशाली शाण्डिल्य ऋषि के लिये (उक्त्वा)

उपदेश करके (उवाच) कहा कि (प्रजायाम्) तेरी सन्तति में (यावन्तः) जितने पुरुष (एनम्) इस सुप्रसिद्ध (उद्गीथम्) उद्गीथ की (वेदिष्यन्ते) उपासना करेंगे (ह) प्रसिद्ध उन उपासकों का (तावत्) तब तक (अस्मिन्) इस (लोके) मृत्युलोक में (एभ्यः) इन लौकिक जीवनों से (परोवरीयः) उत्कृष्ट – बहुत बड़ा (जीवनम्) जीवन (भविष्यति) होगा ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—प्रवाहण राजा ने अपने कहे हुये अर्थ की पुष्टि के लिये फिर से कहा कि—शुनक ऋषि का पुत्र अतिधन्वा ऋषि ने एक वार निज शिष्य सन्तति-शाली शाण्डिल्य ऋषि को इस सुप्रसिद्ध ऊपर बताये हुये उद्गीथ का रहस्य उपदेश करके कहा था कि – हे उदरशाण्डिल्य तेरी सन्तानों में जो लोग जबतक इस सुप्रसिद्ध उद्गीथ की उपासना करते रहेंगे तब तक इस लोक में उनलोगों का जीवन इन सब साधारण मनुष्यों से अवश्य ही अत्यन्त श्रेष्ठ बना रहेगा। इस प्रकृत श्रुति में वेदन का उपासना अर्थ है क्योंकि लिखा है–**मनो ब्रह्मेत्युपासीत ॥** (छा० प्रपा० ३ खं० १८ श्रु० १) मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे ॥ १ ॥ यहाँ उपासना से प्रारम्भ करके ॥ **भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥** (छा० प्र० ३ खं० १८ श्रु० ३) जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति तथा यश और ब्रह्मतेज से देदीप्यमान होता है और तपता है ॥ ३ ॥ इस श्रुति में पठित वेदन में उपसंहार किया है और **यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः ॥** (छा० प्र० ४ खं० १ श्रु० ४) जो बात यह रैक्व जानता है उसके बिषय में भी मुझ से यह कह दिया गया ॥ ४ ॥ यहाँ वेदन से प्रारम्भ करके— **अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से ॥** (छा० प्र० ४ खं० २ श्रु० २) हे भगवन्! आप मुझे उस देवता का उपदेश दीजिये जिसकी आप उपासना करते हैं ॥ २ ॥ इस श्रुति में पठित उपासना में उपसंहार किया गया है ॥ **वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात् ॥** (बोधायनवृत्ति) वेदन उपासना ही है क्योंकि उपासना के विषय में वेदन छान्दोग्य की श्रुति में सुना जाता है। इससे सिद्ध हो गया कि वेदन का अर्थ उपासना है ॥ ३ ॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति। स य एतमेवं विद्वानुपास्ते

परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति । तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके नवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ - (तथा) वैसे ही (अमुष्मिन्) उस (लोके) परलोक में भी (लोकः) बड़े से बड़ा स्थान होता है (इति) इस प्रकार अतिधन्वा ऋषि ने कहा (सः) सो (यः) जो कोई (विद्वान्) उपासक विद्वान् (एवम्) इस प्रकार आजकल भी (एतम्) इस उद्गीथ की (उपास्ते) उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक का (जीवनम्) जीवन (अस्मिन्) इस (लोके) मृत्युलोक में (परोवरीयः) उत्कृष्ट बहुत बड़ा (एव) निश्चय करके (भवति) होता है (तथा) वैसे ही (अमुष्मिन्) उस अदृष्ट (लोके) परलोक में भी (लोकः) उत्तम से उत्तम स्थान प्राप्त होता है (इति) इस प्रकार प्रवाहण राजा ने कहा (लोके) परलोक में भी (लोकः) बहुत बड़ा स्थान प्राप्त होता है (इति) इस प्रकार प्रवाहण राजा ने कहा ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—उद्गीथ की उपासना करनेवाले का जीवन जैसे इस लोक में बहुत बड़ा से बड़ा होता है वैसे ही मरने के बाद उन्हें परलोक में भी सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अतिधन्वा ऋषि ने उदरशाण्डिल्य ऋषि से कहा। अब आजकल उद्गीथ की उपासना करने वालों के फल को प्रवाहण राजा कहता है—आजकल भी इस रहस्य को जाननेवाला जो कोई उपासक उद्गीथ की उपासना करता है उसका जीवन इस मनुष्य लोक में निश्चय हो सर्वश्रेष्ठ हो जाता है तथा मरने के बाद यह निश्चित बात है कि—परलोक में उसे सर्वोपरि स्थान मिलता है। इस श्रुति में "लोके लोक इति" इन पदों का दो बार उच्चारण उद्गीथ विद्या और नवें खण्ड की समाप्ति सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के प्रथम प्रपाठक का नवम खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ दशमखण्डः ॥

मटचीहतेषु कुरुस्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(ह) परम प्रसिद्ध (चाक्रायणः) चक्र ऋषि का गोत्रापत्य

(प्रद्राणकः) कुत्सित–मलिनवेषधारी (उषस्तिः) उषस्ति ऋषि (मटचीहतेषु) ओलों से विनाश होने पर (कुरुषु) कुरुदेश के धान्यादि खेतों के (आटिक्या) युवावस्था में नहीं प्रवेश की हुई नई भ्रमण समर्था आटिकी नामवाली (जायया) अपनी धर्मपत्नी के (सह) साथ ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति के लिये अपने प्राणों की रक्षा करने की चाहना से (इभ्यग्रामे) महावतों के ग्राम में (उवास) रहते थे ।। १ ।।

विशेषार्थ – अब प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार विषयक उपासना को विधान करने के लिये आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है। एक बार ओले गिरने से कुरुदेश की खेती चौपट हो गयी थी। उन दिनों चक्र ऋषि के पुत्र उषस्ति ऋषि कुच पुष्प संभव से रहित नई - भ्रमण समर्था आटिकी नामवाली अपनी धर्मपत्नी के साथ ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति के लिये अपने प्राणों की रक्षा करने की इच्छा से बड़ी दीन अवस्था में पराश्रित होकर किन्हीं हाथीवानों के गाँव में रहते थे। इस श्रुति में चक्र ऋषि का गोत्रापत्य उषस्ति ऋषि का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि चक्रधारण मंत्रों का द्रष्टा चक्र ऋषि अति प्राचीन हैं और चक्राङ्कन श्रौततम है। क्योंकि लिखा है—**पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ।।** (ऋग्वे० अष्ट० ७ अध्या० ३ वर्ग० ८ मण्डल ९ अनुवा० ४ सूक्त ८४ मं० १) सामवेद० पूर्वार्चिक० प्रपा० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२ ।। सामवे० उत्तरार्चिक० प्रपा० २ द्वितीयार्ध० मं० १६ ।। कृष्णयजु० तैत्तरीयारण्य० प्रपा० १ अनुवा ११ मं० २) हे चतुर्मुख के रक्षक सबके स्वामी! आप संसार के देहों का अन्तर्यामी होकर व्याप्त करते हैं आपका चक्र–अङ्कन द्वारा सर्वत्र व्याप्त है। उस चक्र से अदग्ध देह अपरिपक्व उस परब्रह्म नारायण को नहीं प्राप्त होता है। उस तप्तचक्र को धारण करने वाले परिपक्व उस परब्रह्म नारायण को प्राप्त करते हैं ।। १ ।। १२ ।। १६ ।। २ ।। **चमूषच्छ्येनशशकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सचमानस्समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ।।** (ऋग्वे० अष्ट० ७ अध्या० ४ व० ११ मण्ड० ९ अनुवा० ६ सू० ९७ मं० १९ ।। सामवे० उत्तरार्चि० प्रपा० ५ प्रथमार्ध मं० ३) जलादिभूतों का विकारभूत संसार सागर या शरीर को प्राप्त होने वाला ईश्वर का अंश जीव, गोविन्द भगवान् के चक्रादि आयुधों को बाहुमूल में धारण करने वाला नित्य सूरियों के समूहों में प्रविष्ट

होकर भगवत्समीप गमनरूप प्रशंसनीय गमनशाली होकर अपने अपने को संसार से उद्धार करने में समर्थ होकर श्रेष्ठ मोक्षस्थान को सबका पूज्य बनकर प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ ३ ॥ **ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् । श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥** (ऋग्वे० अष्ट० ६ अध्या० ६६ व० ६ ॥ कृष्णयजु० तैत्तिरीयार० प्रपा० १ अनुवा० ११ मं० ३ ॥ नारायणोप० अनुवा० १० श्रु० ४) देवताओं के ब्रह्मा तथा कवियों का मार्ग और विप्रों के ऋषि तथा मृगों के महिष और गृधों के श्येन तथा वनों के परशु नारायण भगवान् संग्राम करते हुये सुदर्शन-चक्र को अधिक प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥ ३ ॥ **पवित्रवन्तः परिवाचमासते पितैषां प्रत्नो अभिरक्षति व्रतम् । महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम् ॥** (ऋग्वे० अष्ट० ६ अध्या० ७३ व० ३) चक्र धारण करने वाले सब प्रकार से वाणी को प्राप्त करते हैं । इन चक्रधारियों के अनन्य देव यजनरुप व्रत को पुराण पिता श्रीमन्नारायण सब प्रकार से रक्षा करते हैं । नारायणदेव महान् संसार सागर को आच्छादित करते हैं । धीर पुरुष जलों में इस परमैकान्त्य लक्षण यथोक्त व्रत को प्रारम्भ करने के लिये समर्थ होते हैं ॥ ३ ॥ यह श्रुति कृष्णयजु० तैत्तिरीयार० अनुवा० ११ मं० १ में भी थोड़े पाठ भेद से है ॥ **यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा । ब्रह्म तेन पुनातु मा ॥** (यजु० अ० १९ मं० ४१) हे अग्निदेव ! तुम्हारी ज्वाला के मध्य में जो ब्रह्म स्वरुप चक्र विस्तृत है उस तप्तचक्र से मुझ को अङ्कन द्वारा पवित्र करो ॥ ४१ ॥ **चरणं पवित्रं विततं पुराणं येनपूतस्तरति दुष्कृतानि । तेन पवित्रेण शुद्धेन पूताः अति पाप्मानमरातिं तरेम ॥** (कृष्णयजु० कठशाखा० अष्ठ० ३ प्रपा० ३ अनुवा० ३ मं० १ ॥ नारायणो० श्रु० ११ ॥ त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० अध्या० ७) परिशुद्ध करने वाला प्राचीन उत्तमगति का साधन सुदर्शन तप्तमुद्रा द्वारा संसार में व्याप्त है जिस तप्तचक्र से परिशुद्धजन पापों को नाश करते है । परिशुद्ध करने वाले समस्त दोषों से रहित उस तप्तचक्र से पवित्र होकर हम मोक्ष प्रतिबन्धक शत्रुरूप पाप को अत्यन्त तरण करें अर्थात् उस पाप से छूटें ॥ १ ॥ ११ ॥ ७ ॥

लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रं ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत् । अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितान्दधातु ॥ कृष्णयजुर्वे० कठशा० अष्ट० ३ प्रपा० ३ अनुवा० ३ मं० २ ॥ त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० अध्या० ७) भगवल्लोक की प्राप्ति के उपाय-ज्वालावाला किरणवाला, प्रकाशवाला परमतेजस्वी मोक्ष के अनुभव के प्रवाहों को बहुत प्रकार के दुहनेवाला परिशुद्ध करने वाला सुदर्शन हमको परमपद मोक्ष में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित करें ॥ २ ॥ ७ ॥ **त्वां पवित्रमृषयो भरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मात् ॥** (अथर्ववे० काण्ड० १६ अनुवा० ४ सूक्त० ३३ मं० ३) मरीच्यादिक ऋषि, सुदर्शन तुमको बाहुमूल में धारण करते हैं, तुम मेरे पापों को चक्राङ्कन द्वारा पवित्र करो यानी दूर करो ॥ ३ ॥ **हुत्वा ततस्तु देवेशं ध्यात्वा गुरुपरम्पराम् । शिष्यस्य दक्षिणं बाहुमूलं चक्रेण चाङ्कयेत् ॥** (ईश्वरसंहि० अध्या० २१ श्लो० २६१) **शङ्खेन प्रतपेत्सव्यबाहुमूलं मुनीश्वराः ॥ २६२ ॥** अग्नि में हवन करके तथा गुरुपरम्परा का अनुसन्धान कर उसके बाद श्रीमन्नारायण भगवान् का ध्यान करके आचार्य शिष्य के दक्षिण बाहुमूल को तप्त चक्र से अङ्कित करे ॥२६१॥ और हे मुनीश्वरों तप्त शङ्खसे बामबाहुमूल को तपावे ॥२६२॥ **ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो नारी तथेतरः चक्राद्यैरङ्कयेद्गात्रमात्मीयस्याखिलस्य च ॥** (भरद्वाजसंहि० अध्य० ३ श्लो० ६०) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्य वर्णसंकर आदि सब लोग समस्त आत्मीयों के शरीर को शङ्ख चक्र से अङ्कित करावे ॥ ६० ॥ **मुक्तिद्वारं त्वमेवाथ सहस्रार निशामय । श्रद्धया धारयिष्यन्ति मम चक्रं सुदर्शनम् ॥** (बृहद्ब्रह्मसंहि० अ० २ पा० १ श्लो० ८३) **ज्ञात्वा सर्वपदार्थेषु शुद्धिस्तेषां पदे पदे । शालायां भाजने वस्त्रे गृहोपकरणेषु च ॥८४॥ चमसोलूखले पीठे पक्वान्ने चक्रमुल्लिखेत् । पशुपुत्रकलत्रेषु यानवाहनभूमिषु ।८५।** हे चक्र ! तुम मुक्ति का द्वार हो ऐसा मुझसे जान लो, श्रद्धा से जोलोग मेरे चक्र सुदर्शन को धारण करेंगे ॥ ८३ ॥ उनलोगों के सब पदार्थों में पद पद में शुद्धि होवेगी ऐसा जानकर घर में, पात्र में, वस्त्र में, और घर की सब वस्तुओं में ॥ ८४ ॥ तथा चमस में, ओखल में, पीठ में, पक्वान्न में, पशु में पुत्र में,

स्त्री में, विमान में, वाहन में और भूमि में चक्र का उल्लेख करे ॥ ८५ ॥ **प्राङ्मुखं सुखमासीनं शिष्यं मंत्रजलाप्लुतम् । प्रतपेच्छंखचक्रादिहेतिभिः प्रयतो गुरुः ॥** (पराशरीयधर्मशा० उत्तरखण्ड० अध्या० १ श्लो० १६) **पवित्रेणाङ्कयेत्पूर्वं बाहुमूलं तु दक्षिणम् । शंखेन प्रतपेत्सव्यम्''''''॥ १७ ॥** मंत्र और जल से स्नान किया हुआ पूर्वाभिमुख सुख से बैठा हुआ शिष्य को श्रेष्ठ गुरु शङ्ख चक्र के चिन्हों से तपावे ॥ १६ ॥ पहले तप्तचक्र से दक्षिण बाहुमूल को गुरु अङ्कित करे इसके बाद आचार्य तप्त शङ्ख से बाम बाहुमूल को तपावे ॥ १७ ॥ **पशुपुत्रादिकं सर्वं गृहोपकरणानि च । अङ्कयेच्छंखचक्राभ्यां नामकुर्याच्च वैष्णवम् ॥** (शाण्डिल्यस्मृ० अ० ३ श्लो० ७७) पशु, पुत्र, स्त्री आदि को और सब गृह के उपकरणों को शङ्ख चक्र से अङ्कित करे तथा विष्णु सम्बन्धी नाम करे ॥ ७७ ॥ **तस्माच्चक्रं विधानेन तप्तं वै धारयेद्द्विजः । सर्वाश्रमेषु वसतां स्त्रीणां च श्रुतिचोदनात् ॥** (बृद्धहारीतस्मृ० अ० २ श्लो० ३३) उस से वेद की आज्ञा द्वारा सब आश्रमों में रहते हुये द्विज तप्त चक्र को धारण करें और स्त्री भी तप्त चक्र धारण करे ॥ ३३ ॥ **अग्निहोत्रं यथा नित्यं वेदस्याध्ययनं तथा । ब्राह्मणस्य तथैवेदं तप्तमुद्रादिधारणम् ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० ६७ श्लो ८१) जैसे ब्राह्मण के अग्निहोत्र और वेदाध्ययन करना सर्वदा वेदने कहाहै वैसेही तप्तमुद्राधारण भी कहा है ॥ ८१ ॥ **बाहुमूले लिखेच्चक्रं तप्तं तु ब्राह्मणस्य वै । तप्तेनैशङ्खनं कुर्याद्ब्राह्मणस्य विधानतः ॥** (पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२४ श्लो० ४८) **श्रौतस्मार्तादिसिद्ध्यर्थमेव च । हरेः पूजाधिकारार्थं चक्रं धार्यं विधानतः ॥ ४९ ॥** निश्चय करके अग्नि में तपाये हुए चक्र को ब्राह्मण के दक्षिणभुजमूल में आचार्य लिखे । निश्चय करके विधि से तपाये हुए चक्र से ब्राह्मण के भुजमूल को अङ्कित करे ॥ ४८ ॥ श्रौतस्मार्त आदि कर्मों की सिद्धि के लिये और ज्ञान की सिद्धि के लिये तथा श्रीहरि की पूजा के अधिकार के लिये विधान से चक्र धारण करने योग्य है ॥ ४९ ॥ **चक्राङ्कितैः पूजितः स्याद् गृहे रक्षेत्सदा नरैः ॥** (गरुडपु० पूर्वख० १ आचारकाण्ड १ अध्या० १२ श्लो० १६)

चक्राङ्कित नरों से पूजित श्रीविष्णु भगवान् चर में सर्वदा रक्षा करें ॥ १६ ॥ **यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा ब्रह्म तेन पुनातु मा ॥** (गरुडपु० पूर्वखं० १ कां० १ अध्या० २१४ श्लो० २६) हे अग्निदेव तुम्हारी ज्वाला के भीतर ब्रह्मस्वरूप जो चक्र विस्तृत है उस तप्त चक्र से मुझको पवित्र करो ॥ २६ ॥ **गन्धपुष्पाक्षतोपेतं पवित्रं चाखिलेऽर्पयेत् । पवित्रं वैष्णवं तेजो महापातकनाशनम् ॥** (अग्निपु० अ० ३५ श्लो० १०) **धर्मकामार्थसिद्ध्यर्थं स्वकेऽङ्गे धारयाम्यहम् । आसने परिवारादौ गुरौ दद्यात्पवित्रकम् ॥ ११ ॥** गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि से युक्त अर्थात् पूजित चक्र को सम्पूर्ण वस्तु में अर्पण करे । वैष्णव तेज सुदर्शन अङ्कन द्वारा महापातक को नाश करने वाला है ॥ १० ॥ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिये अपने शरीर में चक्राङ्कन को धारण करता हूँ और आसन परिवार आदि में तथा विद्यागुरु में सुदर्शन दे ॥ ११ ॥ **हुत्वा महाव्याहृतिभिश्चक्रादींस्तत्र तापयेत् । सह्यान्सुतप्तान्गुरुणा मंत्रवद्धारयेद्बुधः ॥** (स्कन्दपु० वैष्णवखं० २ वेङ्कटाचलमाहा० १ अ० ६ श्लो० ६३) **भुजद्वये शङ्खचक्रे ॥६४॥** महा व्याहृतियों से हवन कर उस अग्नि में शङ्खचक्र को तप्त करावे उसके बाद आचार्य द्वारा सहने योग्य तप्त शङ्ख चक्र को बुधजन मंत्र के समान धारण करें ॥ ६३ ॥ भक्तजन दोनों भुजाओं में शङ्ख चक्र को धारण करें ॥६४॥ **ब्राह्मणैश्च विशेषण वैष्णवैश्च विशेषतः । उपवीतं शिखा यद्वच्चक्रं लाञ्छनसंयुतम् ॥** (स्कन्दपु० खं० २ माहा० ५ अ० ३ श्लो० ५७) **दक्षिणे च भुजे विप्रो विभृयाद्वै सुदर्शनम् । सव्ये च शङ्खं विभृयादिति वेदविदो विदुः ॥६१॥** विशेष करके ब्राह्मणों से और विष्णु के भक्तों से जैसे यज्ञोपवीत तथा शिखाधारण करने योग्य है वैसे ही चक्र का चिह्न भी धारण करने योग्य है ॥५७॥ विप्र दक्षिण भुजमूल में चक्र को, बाम भुजमूल में शङ्ख को धारण करे ऐसा वेदवेत्ता लोग जानते हैं ॥६१॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि परमवैदिक तप्तमुद्रा धारण करना है । इस विषय में जिसको अधिक प्रमाण जानना हो वह मेरा बनाया हुआ

"तप्तचक्राङ्कनप्रकाश" ग्रन्थ को अवलोकन करे। यहां पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक प्रमाण मैं नहीं लिखता हूँ ॥१॥

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे। तं होवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥२॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह अन्नार्थी उषस्ति ऋषि ने (कुल्माषान्) कुत्सित उड़दों को (खादन्तम्) खाते हुये (इभ्यम्) महावत से (बिभिक्षे) भिक्षा माँगी (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस उषस्ति ऋषि से (उवाच) वह हाथीवान बोला (यत्) कि (ये) जो (इमे) ये कुत्सित उड़द (मे) मेरे भोजन के पात्र में (उपनिहिताः) सामने उच्छिष्ट रखे हुये हैं (इतः) इससे (अन्ये) अन्य (च) कुछ भी (न) नहीं (विद्यन्ते) हैं (इति) इस प्रकार के अगत्या मैं क्या करूँ ॥ २ ॥

विशेषार्थ—एक दिन अन्न के लिये भीख माँगते हुये प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि ने अत्यन्त निकृष्ट कोटि के उड़द खाते हुये एक महावत से याचना की। उन मरणापन्न प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि से वह हाथीवान इस प्रकार बोला कि—जो मेरे खाने के वास्ते मेरे भोजन के पात्र में ये कुत्सित उड़द रखे हुये हैं इनके अतिरिक्त मेरे निकट कुछ भी नहीं है जो आप को दूँ और पात्र का यह उच्छिष्ट उड़द आप महानुभाव के लिये देना अनुचित है। अतः अगत्या आपके वास्ते कुछ भी नहीं मैं दे सकता हूँ।।२।।

एतेषां मे देहीति होवाच। तानस्मै प्रददौ। हन्तानुपानमत्युच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(एतेषाम्) इन कुत्सित उच्छिष्ट उड़दों में से (मे) मेरे लिये भी (देहि) कुछ थोड़ा दो (इति) इस प्रकार के (ह) प्रसिद्ध (उवाच) मरणापन्न उषस्ति ऋषि ने कहा तत्पश्चात् (तान्) पात्र के उच्छिष्ट उन उड़दों को (अस्मै) इस मरणापन्न उषस्ति ऋषि के लिये (प्रददौ) वह महावत दे दिया (हन्त) करुणा या खेद की बात है (अनुपानम्) जल को भी पीने के लिये लीजिये (इति) ऐसा महावत ने कहा तब (वै) निश्चय करके (उच्छिष्टम्) जूठा (मे) मेरा (पीतम्)

जल पीना (स्यात्) होगा (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध (उवाच) उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध मरणापन्न उषस्ति ऋषि ने हाथीवान से कहा कि – इन्हीं उच्छिष्ट उड़दों में से मेरे लिए भी कुछ थोड़ा दे दो। इस वचन को सुनकर महावत ने अपने पात्र में बचे हुए सारे उड़दों को उषस्ति ऋषि के लिये दे दिया और देकर हाथीवान ने कहा कि—शोक की बात है कि इस जल को भी पी लीजिये। इस पर प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया - नहीं, ऐसा करने पर मेरे द्वारा तुम्हारा जूठा जल पिया जायेगा। अर्थात् तुम्हारा उस जल को लेकर यदि मैं पान करूँ तो मुझे निश्चय जूठा जल पीने का दोष होगा। यामुनाङ्घ्रिमोचक भगवद्रामानुजाचार्य ने **सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्** (शा० मी० ३।४।२८) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के दशवें खण्ड की तीसरी श्रुति के **"एतेषां मे देहि"** इस वाक्य को और **"उच्छिष्टं वै पीतं स्यात्"** इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥३॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति। न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच। कामो म उदकपानमिति ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(स्वित्) क्या (एते) ये मुझसे दिये हुये उड़द (अपि) भी (उच्छिष्टाः) जूठे (न) नहीं हैं (इति) ऐसा महावत ने पूछा तब (इमान्) इन कुत्सित उड़दों को (अखादन्) न खाता हुआ (वै) निश्चय करके (न) नहीं (अजीविष्यम्) मैं जीऊँगा (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध (उवाच) उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया (उदकपानम्) जलपान (मे) मेरे लिए (कामः) इच्छानुसार मिलता है (इति) इससे जल ग्रहण करना उचित नहीं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—ऋषि की उस असंगत बात को सुनकर उस महावत ने यों पूछा कि—क्या मुझसे दिये हुये ये उड़द जूठे नहीं हैं, जल ही जूठा है? इसको सुनकर प्रसिद्ध मरणापन्न उषस्ति ऋषि ने उतर दिया कि ये उड़द जल के समान नहीं हैं क्योंकि निश्चय करके इन उड़दों को न खाने पर अब मैं जीवित नहीं रह सकता हूँ। परन्तु पीने का जल तो मुझे इच्छा होती है तब मिल जाता है। अतः जल को

ग्रहण करना उचित नहीं है। ऐसा सन्तोष जनक आपद्धर्म को मरणापन्न उषस्ति ऋषि ने महावत से कहा, क्योंकि लिखा है—**धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः। तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम्॥** (हितोपदेश) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पदार्थ इस मनुष्य शरीर में जब प्राण हैं तभी मनुष्य शरीर से ही सिद्ध होते हैं। अतः चारों पदार्थों की संस्थिति के कारण प्राण हैं उन प्राणों को जिसने हनन किया उसने क्या नहीं हनन किया और प्राणों को जिसने रक्षा किया उसने क्या नहीं रक्षा किया। इससे ब्रह्मवेत्ता का कर्तव्य है कि प्राण की रक्षा अवश्य करें। पराभिप्रायतत्त्वज्ञ भगवद्रामानुजाचार्य ने **सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्** (शा० मी० ३।४।२८) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथमप्रपाठक के दशवें खण्ड की चौथी श्रुति के **न वा अजीविष्यमिमानखादन्...कामो म उदकपानम्** इन पदों को उद्धृत किया है॥४॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार। साग्र एव सुभिक्षा बभूव। तान् प्रतिगृह्य निदधौ॥५॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह मरणापन्न उषस्ति ऋषि (खादित्वा) उन उड़दों को खाकर (अतिशेषान्) बचे हुये जूठे उड़दों को (जायायै) स्त्री के लिये (आजहार) ले आये (सा) वह आटिकी स्त्री (अग्रे) ऋषि के आने के पहले (एव) निश्चय करके (सुभिक्षा) सुन्दर प्रचुर भिक्षा (बभूव) पा चुकी थी। इस कारण से (तान्) उन उड़दों को (प्रतिगृह्य) पति के हाथ से लेकर (निदधौ) रख दिया।॥५॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध मरणापन्न उषस्ति ऋषि ने महावत से दिये हुये उच्छिष्ट उड़दों को पाकर शेष भोजन से बचे हुए उड़दों को अपनी स्त्री के लिये ले आया। परन्तु ऋषि पत्नी उषस्ति ऋषि के आने से पहले ही सुन्दर प्रचुर भिक्षा पा ली थी। इसलिये उसने उन उड़दों को अपने पति के कर कमलों से लेकर रख दिया। ब्रह्मवेत्ताओं में अग्रणी उषस्ति ऋषि ने प्राण के विनाश उपस्थित होने पर हाथीवान के उच्छिष्ट उड़द को अनुयाग करके आपद्धर्मानुसार अपने प्राण की रक्षा की है। क्योंकि लिखा है—**अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्॥** (तैत्तिरीयो० व० ३ अनु० ७ श्रु० १) भगवदुपासक अन्न की नहीं निन्दा करे। वह भगवदुपासक

का व्रत है ॥१॥ **अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् ॥** (तैत्ति० व० ३ अनु० ८ श्रु० १) भगदुपासक भोजन के लिये प्राप्त अन्न का परित्याग नहीं करे। वह भगवदुपासक का व्रत है ॥१॥ **न ह वा एवं विदि किञ्चनानन्नं भवति ॥** (छा० प्र० ५ खं० २ श्रु० १) जो पुरुष अन्न के तत्त्व को इस प्रकार जानते हैं उनके लिए कोई पदार्थ अनन्न अभक्ष्य नहीं होता है ॥१॥ **सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ।** (बृ० उ० अ० २ ब्रा० २ श्रु० ४) जो महापुरुष इस प्रकार अन्न को जानता है उसके सब अन्न हो जाता है ॥४॥ **न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदन्नस्यान्नं वेद ॥** (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० १४) जो इस प्रकार प्राण के अन्न को जानता है उसके द्वारा अभक्ष्य भक्षण नहीं होता है और अभक्ष्य का प्रतिग्रह संग्रह भी नहीं होता है ॥१४॥ **जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥** (मनु० अ० १०) जो मरणापन्न ज्ञानी पुरुष जहाँ जहाँ से अन्न भोजन करता है तो जैसे आकाश पङ्क से लिप्त नहीं होता है वैसे ही वह पाप से लिप्त नहीं होता है ॥१०॥ महर्षि वेदव्यास ने भी इसी का अनुमोदन करते हुये निम्नलिखित सूत्र को रचा है-**सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥** (शा० मी० ३।४।२८) प्राण के विनाश उपस्थित होने पर ही सबों के अन्न भोजन करने की अनुमति—आज्ञा है क्योंकि वैसा प्राचीन काल के ब्रह्मवेताओं में देखा जाता है ॥२८॥ इन प्रमाणों के अनुसार ही उषस्ति ऋषि ने प्राण के विनाश प्राप्ति होने पर महावत के उच्छिष्ट उड़द को भोजन करके प्राण की रक्षा की है ॥५॥

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच । यद्बतान्नस्य लभेमहि । लभेमहि धनमात्राम् । राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥६॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह उषस्ति ऋषि (प्रातः) प्रातःकाल (सञ्जिहानः) निद्रा को त्यागता हुआ ही (इति) इस प्रकार (उवाच) अपनी स्त्री से कहा (यद्) यदि (बत) खेद के साथ कहना पड़ता है (अन्नस्य)

कुछ थोड़ा सा भोजन (लभेमहि) पावें तो (धनमात्राम्) कुछ धन (लभेमहि) पाऊँगा क्योंकि (असौ) यह समीपस्थ (राजा) राजा (यक्ष्यते) यज्ञ करता है (सः) वह राजा (मा) मुझको देखकर (सर्वैः) समस्त (आर्त्विज्यैः) ऋत्विक् कर्म के लिये (वृणीत) प्रार्थना करके वरेगा ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—दूसरे दिन प्रातःकाल शय्या त्याग करते ही उषस्ति ऋषि ने अपनी धर्मपत्नी से कहा—हाय ! यदि हमें थोड़ा सा भी अन्न भोजन के लिये मिल जाता तो हम कुछ धन कमा लाते । क्योंकि यह निकटवर्ती राजा यज्ञ करता है । वह धर्मात्मा राजा मुझको देखकर ऋत्विजों के सभी प्रकार के कर्मों को कराने के लिये प्रार्थना करके वरण कर लेगा । यज्ञ में होता १, अध्वर्यु २, ब्रह्मा ३, उद्गाता ४, प्रशास्ता ५, प्रतिप्रस्थाता ६, ब्राह्मणाच्छंसी ७, प्रस्तोता ८, अच्छावाक ९, नेष्टा १०, आग्नीध्र ११, प्रतिहर्ता १२, ग्रावस्तुत १३, नेता १४, होता १५ और सुब्रह्मण्य १६ ये सोलह ऋत्विक् प्रायः होते हैं ॥ ६ ॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति । तान् खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ॥७॥

अन्वयार्थ—(जाया) पतिव्रता आटिकी स्त्री (तम्) उस पति उषस्ति ऋषि से (इति) इस प्रकार (उवाच) बोली (हन्त) खेद की बात है (पते) हे स्वामिन् इसे आप सायंकाल में जिन उच्छिष्ट कुत्सित उड़दों को मेरे हाथ में दिये थे वे ही ये (एव) निश्चय करके (कुल्माषः) उड़द हैं (तान्) उन उड़दों को (खादित्वा) उषस्ति ऋषि खाकर (अमुम्) उस (विततम्) फैले हुये (यज्ञम्) राजा के यज्ञ में (एयाय) गये ॥ सू ॥

विशेषार्थ—पतिव्रता आटिकी स्त्री अपने पतिदेव उषस्ति ऋषि से बोली कि—हे स्वामिन् , लीजिये । कल जो उडद मुझे दिये थे वे ही मेरे पास बचे हुये हैं । बस उन उड़दों को भोजन कर **अनाहूतोऽध्वरं गच्छेत्** (महाभार०) बिना बुलाया हुआ यज्ञ में जाय ॥ इस नियमानुसार उषस्ति ऋषि उस राजा के विशाल यज्ञ में चले गये। यज्ञ के विषय में लिखा है--

यज्ञेन हि देवा दिवं गता यज्ञेनासुरानपानुदन्त । यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति । यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ॥

(तैत्ति० प्रपा० १० अनु० ६३) यज्ञ से ही देवता लोग स्वर्ग लोक को प्राप्त किये हैं

तथा यज्ञ से ही असुरों को पराजित किये हैं। यज्ञ से शत्रु मित्र हो जाते हैं। यज्ञ में सब प्रतिष्ठित है इस कारण से यज्ञ को सबसे श्रेष्ठ वेद कहते हैं ॥ ६३ ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ (गी० अ० १७।११)

फल कामना से रहित पुरुषों के द्वारा यज्ञ करना ही कर्तव्य है इस भाव से मन का समाधान करके जो शास्त्र विधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है वह सात्विक होता है। ११ ॥ **अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥** (गी० १७।१२) परन्तु हे भरतश्रेष्ठ जो फल को लक्ष्य बनाकर और दम्भ के लिये भी किया जाता है उस यज्ञ को तू राजस जान ॥ १२ ॥ **विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥** (गी० १७।१३) विधिहीन, शास्त्रविहित अन्न से रहित, मंत्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञ को तामस कहते हैं ॥ १३ ॥ देवता के उद्देश्य से वस्तु त्याग को ही यज्ञ कहते हैं ॥ ७ ॥

तत्रोद्गातॄ नास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश। स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥८॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (आस्तावे) जिस स्थान में ऋत्विक् लोग मिलकर परब्रह्म नारायण की स्तुति करते हैं उस स्तोत्र स्थान में (स्तोष्यमाणान्) स्तुति करने वाले (उद्गातॄन्) उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता के (उपोपविवेश) समीप में उषस्ति ऋषि बैठ गया। इसके बाद (ह) प्रसिद्ध (सः) उस उषस्ति ऋषि ने (प्रस्तोतारम्) प्रस्तोता से (उवाच) कहा ॥ ८ ॥

विशेषार्थ—उस यज्ञ में पहुँचकर जहाँ उद्गाता लोग स्तुति करते हैं उस स्तोत्र स्थान पर स्तुति करने के लिये उद्यत उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता ऋत्विक् के समीप वे उषस्थित ऋषि बैठ गये। फिर उन्होंने स्तुति करने वाले प्रस्तोता ऋत्विक् से कहा। प्रस्तोता के विषय में लिखा है—

स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात् तदेतानि जपेत्। असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय ॥

(बृ० अ० १ ब्रा० ३ श्रु० २८) वह प्रस्तोता नाम ऋत्विक् निश्चय करके

साम गान का प्रस्ताव करे। वह प्रस्तोता जिस काल में साम के प्रस्ताव का प्रारम्भ करे उस समय यह जपे कि— हे श्रीमन्नारायण! असत् से सत्य की ओर मुझको ले चलो, अन्धकार से ज्योति की ओर मुझको ले चलो और मृत्यु से अमृत की ओर मुझको ले चलो ॥ २८ ॥ इस प्रकार कहकर प्रस्तोता को स्तुति होनी चाहिए ॥ ८ ॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता। तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ--(प्रस्तोतः) हे प्रस्तोता ऋत्विक् (या) जो (देवता) (प्रस्तावम्) प्रस्ताव भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (ताम्) उस उपास्य देवता को (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानते हुए (प्रस्तोष्यति) तू प्रस्ताव या स्तुति करेगा तो (ते तेरा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) इस प्रकार उषस्ति ऋषि प्रस्तोता से बोले ॥ ६ ॥

विशेषार्थ - सुप्रसिद्ध उषस्ति ऋषि प्रस्तोता ऋत्विक् से बोले कि—हे प्रस्तोता जिस देवता का प्रस्ताव से सम्बन्ध है अर्थात् जिसकी तुम स्तुति करने जा रहे हो उसे जाने बिना यदि तुम स्तुति करोगे तो याद रखना तेरा मस्तक गिर जायेगा। यद्यपि लिखा है कि—**तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद ॥** (छां० प्रपा० १ खं० १ श्रु० १०)जो इस अक्षर को इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता है वे दोनों उस अक्षर की सहायता से कर्म करते हैं। ॥ १० ॥ इस श्रुति के अनुसार अज्ञानी भी ऋत्विक् का कर्म कर सकता है। परन्तु ज्ञानी की सन्निधि में अज्ञानी का अधिकार नहीं है यह प्रकृत श्रुति से सिद्ध होता है। कृपामात्रप्रसन्नार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अत एव प्राणः ॥** (शा० मी० १। १।२४) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के दसवें खण्ड की नवमी श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है ॥ ६ ॥

एवमेवोद्गातारमुवाच। उद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता। तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(एवम्) इसी प्रकार एव) निश्चय करके (उद्गातारम्) उद्गाता ऋत्विक् से भी (उवाच) उस प्रसिद्ध ऊषस्ति ऋषि ने कहा (उद्गातः) हे उद्गाता ऋत्विक (या) जो (देवता) देवता (उद्गीथम्) ऊद्गाथ भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (ताम्) उस उपास्य देवता को (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानते हुए (उद्गास्यसि) उच्चस्वर से गान करेगा तो (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) ऐसा तुम याद रखना ॥ १० ॥

विशेषार्थ—इसी प्रकार उषस्ति ऋषि ने उद्गाता ऋत्विक् से कहा कि—हे उद्गाता! जिस देवता का उद्गीथ से सम्बन्ध है अर्थात् जिसका तुम उद्गीथ द्वारा गान करने जा रहे हो उसे बिना जाने यदि तुम उद्गान करोगे तो निश्चय समझो तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा। साम का जो भाग उद्गाता गाता है उसे उद्-गीथ कहते हैं जो प्रस्तोता गाता है वह प्रस्ताव कहा जाता है और जो प्रतिहर्त्ता के गाने का है उसे प्रतिहार कहते हैं ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच। प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहार-मन्वायत्ता। तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति। ते ह समारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे॥११॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (प्रतिहर्त्तारम्) प्रतिहर्त्ता ऋत्विक् से भी (उवाच) उस प्रसिद्ध ऋषिने कहा (प्रतिहर्तः) हे प्रतिहर्ता ऋत्विक् (या) जो (देवता) देवता (प्रतिहारम्) प्रतिहार भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (ताम्) उस उपास्य देवता को (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानते हुए (प्रतिहरिष्यसि) प्रतिहार कर्म को करेगा तो तेरा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (ते) वे प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता ऋत्विक् (समारताः) अपने अपने कर्म से निवृत्त होकर (तूष्णीम्) चुप हो (आसाञ्चक्रिरे) बैठ गये ॥ ११ ॥

विशेषार्थ—तदनन्तर उषस्ति ऋषि ने प्रतिहर्ता ऋत्विक् से कहा—हे प्रतिहर्ता जिस देवता का प्रतिहार से सम्बन्ध है उसे न जानते हुये यदि तुम प्रतिहार क्रिया करोगे तो निश्चय समझ लो कि तुम्हारा सिर तुम्हारी गर्दन पर नहीं रहेगा।

इस प्रकार ऋषि के वचन को सुनकर वे सब प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता अपने अपने कार्य से उपरत होकर चुपचाप बैठ गये। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ११ ॥

॥ अथैकादशखण्डः ॥

अथ हैनं यजमान उवाच। भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीति। उषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) ऋत्विजों के अपने अपने कर्म परित्याग करने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (यजमानः) यजमान राजा ने (एनम्) इस उषस्ति ऋषि से (इति) इस प्रकार (उवाच) कहा कि— (भगवन्तम्) पूजनीय आपको (वै) निश्चय करके (विविदिषाणि) जानना चाहता हूँ इस प्रकार यजमान के पूछने पर (ह) प्रसिद्ध (चाक्रायण) चक्र ऋषि का गोत्रापत्य (उषस्तिः) उषस्ति ऋषि (अस्मि) मैं हूँ (इति) ऐसा (उवाच) ऋषि ने स्पष्ट उत्तर दिया ॥ १ ॥

विशेषार्थ—प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता ऋत्विजों के अपने अपने कर्म से निवृत्त होकर चुपचाप बैठ जाने के अनन्तर यह कोई उग्र तपस्वी ब्रह्मवेत्ता ऋषि दीख पड़ता है जिसके प्रश्न के उत्तर न देते हुए मेरे ये सब ऋत्विक् अपने कर्म से विरत होकर स्तब्ध से दीख पड़ते हैं। ऐसा विचार कर यजमान राजा ने उषस्ति ऋषि से कहा कि— मैं पूजनीय श्रीमान् का ठीक ठीक परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। इस पर ऋषि ने उत्तर दिया मैं सुप्रसिद्ध चक्र ऋषि का पुत्र हूँ और उषस्ति ऋषि मेरा नाम है। यहाँ पर उषस्ति ऋषि के लिए औपचारिक 'भगवन्तम्' पद का प्रयोग यजमान राजा ने किया है। क्योंकि विष्णुपुराण के अनुसार यह पद साक्षात् परब्रह्म नारायण का ही वाचक है ॥ १ ॥

स होवाच। भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषम्। भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह यजमान राजा (उवाच) बोला कि (वै) निश्चय करके [एभिः] इन (सर्वैः) समस्त [आर्त्विज्यैः]ऋत्विक् कर्म करने के लिये (अहम्) मैंने (भगवन्तम्) सब गुणों से युक्त पूजनीय आपको (पर्यैषिषम्) भली-

भाँति अन्वेषण किया (वै) निश्चय करके (भगवतः) पूजनीय आपके (अवित्त्या) अलाभ से (अहम्) मैंने (अन्यान्) दूसरे इन ऋत्विजों को (अवृषि) वरण किया ॥ २ ॥

विशेषार्थ - अहो क्या ही मेरा भाग्य है कि अन्वेषण करने पर भी जो न मिले थे वे सम्प्रति स्वयमेव समागत हुए हैं। इस घटना से विस्मित होकर यजमान राजा ने उषस्ति ऋषि से कहा कि—सच मानिये मैंने इन समस्त ऋत्विज् सम्बन्धी कर्मों के लिये पूजनीय सब गुणों से युक्त श्रीमान् की सब जगह खोज की थी। परन्तु मेरे अभाग्य के कारण आप न मिले। अतः श्रीमान् के न मिलने पर ही मैंने इन दूसरे ऋत्विजों का वरण किया। इस श्रुति में भी अत्यादर द्योतन करने के लिए बारम्बार औपचारिक "भगवत्" शब्द का प्रयोग चाक्रायण उषस्ति ऋषि के लिये राजा ने किया है ॥ २ ॥

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति। तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति। तथेति ह यजमान उवाच ॥३॥

अन्वयार्थ—(तु) फिर भी (भगवान्) पूजनीय आप (एव) ही (मे) मेरे (सर्वैः) समस्त (आर्त्विज्यैः) ऋत्विक् कर्म संपादन के लिये प्रधान आचार्य होवें [इति] इस प्रकार राजा ने प्रार्थना की तब (तथा) ऐसा ही हो (इति) ऐसा उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया (अथ) अनन्तर (तर्हि) अब तो (एते) आपसे पहले वरण किये हुये प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता ऋत्विक्गण (एव) निश्चय करके (समतिसृष्टाः) प्रसन्नतापूर्वक मुझसे अनुज्ञा पाकर (स्तुवताम्) यथार्थ देवता को समझकर स्तुति करें अर्थात् अपने अपने कर्मों को करें (तु) परन्तु (एभ्यः) इन ऋत्विजों के लिये (यावत्) जितना (धनम्) धन को (दद्याः) तुम देना (मम) मेरे लिये भी (तावत्) उतना धन (दद्याः) देना (इति) इस प्रकार उषस्ति ऋषि ने कहा (ह) प्रसिद्ध (यजमानः) यजमान राजा ने (तथा) ऐसा ही हो (इति) इस प्रकार (उवाच) कहा ॥ ३ ॥

विशेषार्थ— राजा ने उषस्ति ऋषि से निवेदन किया कि— हे परम पूजनीय आप ही अब भी मेरे सकल ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म के प्रधान

आचार्य होवें। उषस्ति ऋषि ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर यजमान के प्रस्ताव को अनुमोदन किया और फिर कहा कि— हे राजन्! अब मेरी आज्ञा पाकर ये पहले वरण किये हुए प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता ऋत्विक् ही स्तुति यज्ञशाला में प्रारम्भ करें। परन्तु एक बात है कि— जितना धन आप इन लोगों को दें उतना ही मुझे भी दें। यजमान राजा ने 'वही होगा' ऐसा कहकर अपनी स्वीकृति दे दी। इस श्रुति में भी उषस्ति ऋषि के लिये 'भगवान्' पद का औपचारिक प्रयोग राजा ने किया है॥ ३॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद। प्रस्तोतर्या देवता प्रस्ताव-मन्वायत्ता। तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि। मूर्धा ते विपतिस्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) यजमान राजा और उषस्ति ऋषि के भाषण के अनन्तर (प्रस्तोता) प्रस्तोता ऋत्विक् (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस उषस्ति ऋषि के (उपपसाद) समीप विनय पूर्वक आ गया और उसने कहा कि (प्रस्तोतः) हे प्रस्तोता ऋत्विक् (या) जो (देवता) देवता (प्रस्तावम्) प्रस्ताव भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (ताम्) उस उपास्य देवता को (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानते हुए (प्रस्तोष्यसि) तू प्रस्ताव करेगा तो (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) इस प्रकार के (भगवान्) पूज्य आपने (मा) मुझसे (अवोचत्) पूछा था। हे भगवन् (सा) वह (कतमा) कौन (देवता) देवता है (इति) ऐसा मुझे बतलावें॥ ४॥

विशेषार्थ – राजा और उषस्ति ऋषि के संवाद की समाप्ति होने के बाद प्रस्तोता ऋत्विक् उन प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि के समीप विनय पूर्वक आकर बोला कि – श्रीमान् ने मुझे यह कहा था कि— "हे प्रस्तोता जिस देवता की तुम स्तुति करने जा रहे हो उसे बिना जाने यदि तुम स्तुति करोगे तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जायगा" तो वह देवता कौन है — मैं यह जानना चाहता हूँ। यहाँ पर उषस्ति ऋषि के लिये औपचारिक "भगवान्" पद का प्रयोग प्रस्तोता ने किया है। प्रकृत श्रुति के आदि और अन्त के वाक्य को छोड़कर शेष भाग "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के दसवें खण्ड के नवें मंत्र में भी पठित है। कृमिकंठ-नृपध्वंसी भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अत एव प्राणः** (शा० मी० १।१।२४) के

श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की चौथी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ४ ॥

प्राण इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति । प्राणमभ्युज्जिहते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥५॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (प्राणः) प्राण यानी परब्रह्मनारायण प्रस्ताव में भक्ति अनुगत विद्यमान् देवता हैं (इति) ऐसा (उवाच) उषस्ति ऋषि ने कहा (वै)निश्चय करके (सर्वाणि) सब (इमानि) ये स्थावर जंगम (भूतानि)प्राणी समूह (प्राणम्)प्राण यानी परमात्मा में (एव) ही (अभिसंविशन्ति)भलीभाँति प्रवेश करते हैं(ह)यह बात लोकवेद में प्रसिद्ध है कि (प्राणम्) प्राण यानी परब्रह्म नारायण को (अभि) लक्ष्य करके (उज्जिहते) उत्पत्ति काल में सब प्राणी उत्पन्न होते हैं (सा) वही (एषा) यह वेदान्त में परम प्रसिद्ध (देवता) देवता (प्रस्तावम्) प्रस्ताव भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (चेत्) यदि (ताम्) उस प्रसिद्ध परब्रह्म नाराहण देव को (अविद्वान्) न जानते हुए (मया) मुझ से (तथा) वैसी पूर्वोक्त रीति से (उक्तस्य) निवारित होने पर भी (प्रस्तोष्यः) तू प्रस्ताव करता तो (इति) इस कारण से (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (व्यपतिष्यत्) गिर जाता ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—उषस्ति ऋषि उत्तर देते हैं कि—प्रस्ताव का देवता प्राण यानी परब्रह्म नारायण हैं। **"प्राणयति जीवयति आनन्दयति सर्वान् जीवान् यः स प्राणः"** जो सम्पूर्ण प्राणी को जीवित आनन्दित करे उसे प्राण कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से यहाँ प्राण शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है और शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है— **प्राणा वाव ऋषयः** (शतप० ६।१।१) निश्चय प्राण सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण हैं ॥ १ ॥ निःसंदेह ये समस्त प्राणी प्रलय के समय प्राण यानी परब्रह्म नारायण में विलीन हो जाते हैं और पुनः सृष्टिकाल में प्राण यानी परब्रह्म से ही प्रकट होते हैं। वही वेदान्त में परम प्रसिद्ध परब्रह्म

नारायण देव प्रस्ताव-भक्ति में अनुगत उपास्य देवता है। उस परब्रह्म नारायण को बिना जाने यदि तुम स्तुति प्रारम्भ कर देते तो मेरे यह कहने पर कि तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जाय वैसा अवश्य हो जाता। तूने बहुत अच्छा किया कि मेरे कहने पर अपने कर्म से उपरत हो गया। और समय पाकर प्रस्ताव सम्बन्धी उपास्य देवता को मुझ से प्रार्थना पूर्वक पूछ लिया। सर्वमंत्रमहोदधि भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अत एव प्राणः** (शा० मी० १।१।२४ **तथा प्राणाः** (शा० मी० २।४।१) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की पांचवीं श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ५ ॥

अथ हैनमुद्गातोपससाद। "उद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता। तां चेदविद्वानुद्गास्यसि। मूर्धा ते विपतिष्यतीति" मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥६॥

अन्वयार्थ - (अथ) प्रस्तोता के वचन की समाप्ति के अनन्तर (उद्गाता) उद्गाता ऋत्विक् (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस उषस्ति ऋषि के (उपससाद) समीप विनय पूर्वक आ गया और उसने कहा कि आपने कहा था कि (उद्गातः) हे उद्गाता ऋत्विक् (या) जो (देवता) देवता (उद्गीथम्) उद्गीथ भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (ताम्) उस उपास्य देवता को (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानते हुए (उद्गास्यसि) तू उद्गान करेगा तो (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) इस प्रकार के (भगवान्) पूज्य श्रीमान् ने (मा) मुझसे (अवोचत्) पूछा था। हे स्वामिन् (सा) वह (कतमा) कौन (देवता) देवता है (इति) ऐसा मुझे बतावें ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—प्रस्तोता के वचन की समाप्ति के अनन्तर उद्गाता ऋत्विक् उन प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि के समीप आकर विनय पूर्वक बोला कि— श्रीमान् ने मुझसे कहा था कि "हे उद्गाता जो उद्गीथ से सम्बन्ध रखने वाला देवता है उसे न जानकर यदि तुम उद्गान करोगे तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जायगा।" सो वह देवता कौन है? — यह मैं आप से जानना चाहता हूँ। यहाँ पर उषस्ति ऋषि के लिये औपचारिक "भगवान्" पद का प्रयोग उद्गाता ने किया है। प्रकृत श्रुति के आदि और अन्त के वाक्य को छोड़कर शेष भाग

"छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के दसवें खण्ड के दसवें मन्त्र में भी पठित है ॥ ६ ॥

आदित्य इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति। सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता। तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत् तथोक्तस्य मयेति ॥७॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (आदित्यः) अदिति देवमाता के पुत्र सूर्य उद्गीथ भक्ति में अनुगत विद्यमान देवता है (इति) ऐसा (उवाच) उषस्ति ऋषि ने कहा (वै) निश्चय करके (सर्वाणि) सब (इमानि) ये अधःस्थित (भूतानि) प्राणी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (उच्चैः) ऊपर आकाश में (सन्तम्) स्थित (आदित्यम्) अदिति देवमाता के पुत्र सूर्य का (गायन्ति) यशोगान करते हैं (सा) वही (एषा) यह सूर्य (देवता) देवता (उद्गीथम्) उद्गीथ भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (चेत्) यदि (ताम्) उस उपास्य सूर्य देवता को (अविद्वान्) न जानते हुए (मया) मुझसे (तथा) वैसी पूर्वोक्त रीति से (उक्तस्य) निवारित होने पर भी (उद्गास्य) तू उद्गान करता तो (इति) इस कारण से (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (व्यपतिष्यत्) गिर जाता ॥७॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि उत्तर देते हैं कि— उद्गीथ में अध्यस्त उपास्य अदिति देवमाता का पुत्र सूर्य देवता है। निश्चय ही ये सब नीचे भूलोक में स्थित प्राणी— मनुष्य प्रसिद्ध ऊपर आकाश में स्थित सूर्य का यशोगान किया करते हैं। वही यह सूर्य उद्गीथ से सम्बन्ध रखने वाला देवता है। उसे बिना जाने यदि तुमने उद्गान किया होता तो मेरे यह कहने पर कि "तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जाय" तो वैसा अवश्य हो जाता। प्रस्ताव में प्राण दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और उद्गीथ में आदित्य दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। हे उद्गाता तूने बहुत अच्छा किया कि मेरे कहने पर अपने कर्म से उपरत हो गया और समय पाकर उद्गीथ सम्बन्धी उपास्य देवता को प्रार्थना पूर्वक मुझसे पूछ लिया। आदित्य के विषय में लिखा है—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥ [महाभार० आदिपर्व १ अध्या० ६५ श्लो० १५]

एकादशस्तथात्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषां आदि-त्यानां गुणाधिकः ॥ १६ ॥ धाता १, मित्र २ अर्यमा ३, शक्र ४, वरुण ५, अंश ६, भग ७, विवस्वान् ८, पूषा ६ और दसवाँ सविता १० ॥ १५ ॥ तथा ग्यारहवाँ त्वष्टा ११ और बारहवाँ विष्णु १२ इन बारह अदिति के पुत्रों को द्वादश आदित्य कहते हैं । इनमें जो विष्णु-वामन हैं, वे अधिक गुण होनेसे अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥ आदित्य के पिता का नाम कश्यप ऋषि और माता का नाम अदिति है ॥ ७ ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद । "प्रतिहर्तर्या देवता प्रति-हारमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि । मूर्धा ते विपतिष्यतीति" मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥८॥

अन्वयार्थ—(अथ) उद्गाता के वचन की समाप्ति के अनन्तर (प्रतिहर्ता) प्रतिहर्ता ऋत्विक् (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस उषस्ति ऋषि के (उपससाद) समीप विनयपूर्वक आ गया और उसने कहा कि आपने कहा था कि (प्रतिहर्तः) हे प्रति-हर्ता ऋत्विक् (या) जो (देवता) देवता (प्रतिहारम्) प्रतिहार भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (ताम्) उस उपास्य देवता को (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानते हुए (प्रतिहरिष्यसि) तू प्रतिहार कर्म करेगा तो (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर जायगा इति) इस प्रकार के (भगवान्) पूज्य श्रीमान् ने (मा) मुझसे (अवोचत्) कहा था । हे प्रभो (सा) वह (कतमा) कौन (देवता) देवता है (इति) ऐसा मुझे आप कृपा कर कहें ॥ ८ ॥

विशेषार्थ—उद्गाता के वचन की समाप्ति के अनन्तर प्रतिहर्ता ऋत्विक् उन प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि के समीप आकर विनय पूर्वक यों कहने लगा कि—श्रीमान् ने मुझसे यह कहा था कि "हे प्रतिहर्ता जो प्रतिहार से सम्बन्ध रखने वाला देवता है उसे बिना जाने यदि तुम प्रतिहार की क्रिया करोगे तो तुम्हारा सिर गर्दन से अलग होकर गिर पड़ेगा ।" सो वह देवता कौन है । यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ । यहाँ पर उषस्ति ऋषि के लिये औपचारिक 'भगवान्' पद का प्रयोग प्रतिहर्ता ने किया है । प्रकृत श्रुति के आदि और अन्त के वाक्य को छोड़कर शेष भाग "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक के दसवें खण्ड के ग्यारहवें मंत्र में भी पठित है ॥ ८ ॥

अन्नमिति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति। सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता। तां चेदविद्वान् प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति। तथोक्तस्य मयेति ॥६॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके एकादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) प्रतिहार का देवता अन्न है (इति) ऐसा (उवाच) उषस्ति ऋषि ने कहा (वै) निश्चय करके (सर्वाणि) सब ही (ह) प्रसिद्ध (इमानि) ये (भूतानि) प्राणी (अन्नम्) अन्न को (एव) ही (प्रतिहरमाणानि) भक्षण करते हुए (जीवन्ति) जीते हैं (सा) वही (एषा) यह अन्न (देवता) देवता (प्रतिहारम्) प्रतिहार भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत विद्यमान है (चेत्) यदि (ताम्) उस उपास्य देवता को (अविद्वान्) न जानते हुए (मया) मुझसे (तथा) वैसी पूर्वोक्त रीति से (उक्तस्य) निवारित होने पर भी (प्रत्यहरिष्यः) प्रतिहार कर्म तू करता तो (इति) इस कारण से (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (व्यपतिष्यत्) गिर जाता (मया) मुझसे (तथा) वैसी पूर्वोक्त रीति से (उक्तस्य) निवारित होने पर भी (इति) यह समाप्त हो गया ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध उषस्ति ऋषि ने प्रतिहर्ता के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया कि—जिस देवता की बात तुमने पूछी है वह प्रतिहार का देवता अन्न है। इससे प्रतिहार में अन्न दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। निःसंदेह ये सब प्राणी अन्न का ही भक्षण करके जीवन धारण करते हैं। वही यह अन्न प्रतिहार से सम्बन्ध रखने वाला देवता है। उस अन्न को बिना जाने यदि तुम प्रतिहार की क्रिया करते तो मेरे यह कहने पर कि "तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जाय" तो वैसा अवश्य हो जाता। हे प्रतिहर्ता, तूने बहुत अच्छा काम किया कि मेरे वचन को सुनकर अपने काम से निवृत्त हो गया और समय पाकर प्रतिहार सम्बन्धी उपास्य देवता को विनय पूर्वक मुझसे पूछकर जान लिया। अन्न के विषय में लिखा है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

[सामवे० पूर्वा० प्रपा० ६ अर्धप्र० ३ सूक्त १० मं० ६] अन्न स्वयं कहता है

कि—देवताओं से पहले ही अवनीश्वर सत्यस्वरूप परब्रह्म नारायण का प्रथम उत्पन्न वस्तु मैं हूँ, यह बात प्रसिद्ध है कि जो विवेकी पुरुष मुझ अन्न को अभ्यागत के लिये देता है वही विवेकी पुरुष प्राणिमात्र की रक्षा करता है। जो लोभी पुरुष अभ्यागतों को अन्न न देकर स्वयं ही उस अन्न को खाता रहता है उस लोभी अन्न के खाने वाले को मैं अन्न खा जाता हूँ॥ ६॥ **य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिता। अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि॥** (यजु० अ० ३४ मं० ५८) जो परब्रह्म नारायण इस समस्त संसार की सृष्टि करने वाला है और सर्वत्र जिसके कर्म विख्यात हैं। हे अन्न के पालक परब्रह्म नारायण हमलोगों के लिये अन्न दो ॥५८॥ **अन्नेनैव जीवन्ति। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। जातान्यन्नेनवर्धन्ते। अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते॥** (तैत्तिरी० व० २ अनु० २ श्रु० १) अन्न से ही सबलोग जीते हैं। अन्न सब भूतों में प्रथम उत्पन्न हुआ है। उत्पन्न हुए सब प्राणी अन्न से बढते हैं। वह प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी खाता है उससे अन्न इस नाम से कहा जाता है॥१॥ **प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति॥** (छा० उ० १।८।४) प्राण की गति क्या है? अन्न है॥ ४॥ **शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्॥** (बृ० उ० अ० ५ ब्रा० १२ श्रु० १) अन्न के बिना प्राण शुष्क हो जाता है॥ १॥ इस श्रुति में "तथोक्तस्य मयेति" इस खण्ड का दो बार उच्चारण प्रकृत विद्या तथा खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया॥ ६॥

॥ अथ द्वादशखण्डः ॥

अथातः शौव उद्गीथः। तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) अन्न लाभ के बिना कष्ट होता है। इस बात को कहने के बाद अब (अतः) अन्न लाभ के लिये यहाँ से (शौवः) कुत्ते के रूप धारण करने वाले ऋषियों द्वारा प्रत्यक्ष किये हुए (उद्गीथः) उद्गीथ आख्यायिका के द्वारा

वर्णन किया जाता है (तत्) वह (ह) प्रसिद्ध (दाल्भ्यः) दल्भ ऋषि के पुत्र (बकः) बक ऋषि (वा) और (मैत्रेयः) मित्रा के पुत्र (ग्लावः) ग्लाव ऋषि (स्वाध्यायम्) स्वाध्याय करने के लिये (उद्वव्राज) गाँव से चले गये ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अन्नलाभ के बिना उच्छिष्ट पर्युषितभक्षण रूप बड़े कष्ट को कहकर अब अन्नलाभ होने के लिये यहाँ से कुत्ते के रूप धारण करने वाले ऋषियों द्वारा प्रत्यक्ष किये हुये सामवेद के उद्गीथ का वर्णन आख्यायिका द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। यह बात इस रूप में प्रसिद्ध है कि—दल्भ ऋषि के पुत्र बक ऋषि और मित्रा के पुत्र ग्लाव ऋषि ये स्वनाम धन्य दोनों ऋषि स्वाध्याय करने के लिये गाँव से बाहर किसी निर्जन स्थान में चले गये। स्वाध्याय के विषय में लिखा है— **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥** (यजुरा० प्रपा० २ अनुवा० १५) स्वाध्याय अध्ययन करने योग्य है ॥ १५ ॥ **स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपः ॥** (तैत्तिरीयो० व० १ अनु० ६ श्रु० १) मुद्गल ऋषि का पुत्र नाक ऋषि वेदों का पढ़ना पढ़ाना ही सर्वश्रेष्ठ है ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह पढ़ना पढ़ाना तप है ॥ १ ॥ **स्वाध्यायः सविभूतेः भगवतः तदाराधनप्रकारस्य च प्रतिपादकः कृत्स्नो वेदः, इति अनुसंधाय वेदाभ्यासनिष्ठा ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० २६ श्लो० १) समस्त वेद विभूतियों के सहित भगवान् का और उनकी आराधना के भेदों का प्रतिपादन करने वाले हैं यह समझकर वेदाभ्यास में निष्ठा करने का नाम 'स्वाध्याय' है ॥ १ ॥ **मध्याहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि विद्या वाको वाक्यमितिहासः पुराणं गाथा नाराशंस्यः एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते ॥** (शतप० अ० ११ प्रपा० ३ ब्रा० ८ काण्डिका० ८) शास्त्र देवताओं की मध्यम आहुति हैं। ब्रह्मविद्या आदि विद्याएँ उत्तर प्रत्युत्तर रूप ग्रन्थ, इतिहास, पुराण गाथा और नारशंसी ये शासन करने वाले हैं जो विद्वान् इनका स्वाध्याय करता है वह नित्य प्रति हव्यद्रव्य एवं कव्यद्रव्य से देव पितरादिकों को तृप्त करने का फल भागी होता है ॥ ८ ॥

अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषिसामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि

कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृताहुतिभिर्यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या यद्ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः स यावन्मन्येत तावदधीत्यैतया परिदधाति ॥ (आश्वलायनसूत्र अ० ३ पञ्चयज्ञप्रकरण) इसका आशय यह कि जो ऋग्वेदादि चारों वेदों को और ब्राह्मणादि ग्रन्थों को कल्प गाथादि सहित पढ़ते हैं उनके पितरों का स्वधा से अभिषेक होता है। ऋग्वेद पढ़नेवालों के पितरों को दूध की छोटी नदी, यजुर्वेद के पढ़ने वालों के पितरों को घी की, सामवेद पढ़नेवालों के पितरों को मधु की अथर्ववेद के पढ़ने वालों के पितरों को सोमरस की और ब्राह्मण कल्प गाथा नाराशंसी इतिहास पुराण के पढ़ने वालों के पितरों को अमृत की छोटी सी नदी प्राप्त होती है।३। स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च ॥ (मनु० अ० ३ श्लो० २३२) पितरों के कर्म में समस्त वेद और धर्मशास्त्र तथा आख्यान और इतिहास तथा पुराणों को सुनावें ॥ १३२ ॥ स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ (योगद० अ० १ पा० २ सू० ४४) स्वाध्याय से इष्ट देवता का संयोग होता है ॥ ४४ ॥ स्वाध्याय शब्द वाच्य वेद के अक्षर राशि का ग्रहण ॥ स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ (यजुरारण्य० प्रपा० २ अनु० १५) स्वाध्याय अध्ययन करने योग्य है ॥ १५ ॥ इस श्रुति से विधान किया गया है ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव। तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुः। अन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥२॥

अन्वयार्थ—(तस्मै) उस बक और ग्लाव ऋषि के अनुग्रह के लिये (श्वेतः) उन ऋषियों के स्वाध्याय से सन्तुष्ट कोई ऋषि सफेद (श्वाः) कुत्ता के रूप में (प्रादुर्बभूव) प्रकट हुआ तदनन्तर (अन्ये) दूसरे (श्वानः) छोटे-छोटे कुत्ते के रूप में कई ऋषि (तम्) उस पहले प्रकट हुये शुक्ल कुत्ते के रूप वाले ऋषि के

(उपसमेत्य) समीप आकर (ऊचुः) बोले (वै) निश्चय करके (अशनायाम) हमलोग बुभुक्षित हैं (इति) इस कारण से (भगवान्) पूजनीय आप (नः) हमलोगों के लिये (अन्नम्) अन्न को (आगायतु) उद्गीथ गान करके सम्पादन करें ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अकारण करुणा-वरुणालय परब्रह्म नारायण ने अपने भक्त के लिये जैसे श्री वराह रूप धारण किया है। वैसे ही बक ऋषि के और ग्लाव ऋषि के अनुग्रह के लिये उन ऋषियों के स्वाध्याय से सन्तुष्ट परम दयालु एक ऋषि श्वेत रंग का अलौकिक कुत्ता का रूप धारण करके जहाँ पर वे दोनों ऋषि स्वाध्याय करते थे वहाँ ही निर्जन स्थान में अचानक प्रकट हो गये। इसके बाद वहाँ पर और दूसरे भी कई छोटे-छोटे कुत्ते के रूप में ऋषि आ धमके और वे सभी पहले प्रकट हुये शुक्ल कुत्ते के रूप धारण करने वाले परम दयालु ऋषि के पास आकर विनय पूर्वक उनसे बोले कि—श्रीमान् उद्गीथ का गान करके हमलोगों के लिये अन्न प्रस्तुत करें, क्योंकि हमलोग निश्चित ही भूखों मर रहे हैं। इस श्रुति में कुक्कुर के रूप में धर्म रक्षक ऋषियों का वर्णन है। तभी तो महाभारत में साक्षात् कुत्ते के रूप में धर्म का वर्णन आया है॥ **भ्रातरः पञ्चकृष्णा च षष्ठी श्वा च सप्तमः। आत्मनो सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात्॥** (महाभार० महाप्रास्थानिकपर्व अध्या० १) अपने सहित पाँच भाई छठी द्रौपदी और सातवाँ एक कुत्ता इन सात साथियों के साथ महाराज युधिष्ठिर हस्तिनापुर से चले ॥१॥ आगे इसी पर्व में कहा गया है कि यह कुत्ता यथार्थ में धर्म था। हिमालय में प्रथम पतिव्रता द्रौपदी तत्पश्चात् नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम एक एक करके क्रमशः जब गिर गये तब युधिष्ठिर के साथ केवल एक कुत्ता ही रह गया॥ **श्वाप्येकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया॥** (महाभार० महाप्रास्था० पर्व० अ० २) एक कुत्ता ही युधिष्ठिर के साथ गया जिसके विषय में मैंने बहुत कुछ कहा है ॥२॥ आगे स्वर्ग के निकट पहुँचने पर इन्द्र ने कहा—हे राजन् आपने देवत्व मत्समत्व सम्पूर्ण लक्ष्मी सिद्धि और आज स्वर्गसुख पाया है। इस कुत्ते को छोड़ दो। इसके ऊपर दया नहीं करनी चाहिये ऐसे अपवित्र वान्ताशी अस्पृश्य पशु को साथी साधुजन नहीं बनाते हैं। इस प्रकार कहने पर राजा युधिष्ठिर ने कहा कि—जो कुछ भी हो इसको मैं नहीं त्याग सकता

हूँ यह मेरे साथ ही स्वर्ग जायेगा। **तद्धर्म राजस्य वचोनिशम्य धर्मस्वरूपी भगवानुवाच।** (महाभार० महाप्रास्था० पर्व अ० २) धर्मराज युधिष्ठिर के उस वचन को सुनकर धर्मरूपी वह कुत्ता बोला ॥२॥ यहाँ स्पष्ट ही धर्म को कुत्ते का वेष धारण करना वर्णित है। इससे धर्म रक्षक भागवत ऋषि का कुत्ता का देह धारण करना निन्दनीय नहीं हो सकता है। इस विषय में श्री शेषावतार भगवद्रामानुजापरावतार श्रवरवरमुनीन्द्रस्वामी जी ने **प्रादुर्भावैरित्यादि ॥** (श्रीवचनभूषण सू० २५०) प्रादुर्भावों से इत्यादिक ॥२५०॥ इस सूत्र की व्याख्या में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं— **प्रादुर्भावैः सुरनरसमो देवदेवस्तदीया जात्यावृत्तैरपि च गुणतस्तादृशो नात्र गर्हा ॥ किन्तु श्रीमद्भगवन् त्राणतोऽन्येषु विद्यावृत्तप्रायो भवति विधवाकल्पकल्पप्रकर्षः।**
देवदेव– परब्रह्म नारायण अवतारों से देवता और मनुष्य आदि के समान होते हैं तो जैसा निन्दनीय नहीं, वैसा ही भागवत लोग जाति आचार और गुणों से नीच जाति के सदृश होने पर भी निन्दनीय नहीं होते, किन्तु समस्त संसार के उत्पत्ति, पालन और संहार कर्त्ता में भक्ति रहित लोगों में ज्ञान और आचार विधवा स्त्री के भूषण समान गिने जाते हैं॥ इससे सिद्ध हो गया, भागवत ऋषि का कुत्ताका भी रूप निन्दनीय नहीं होता है। इस श्रुति में श्वेत कुक्कुर रूपधारी ऋषि के लिये औपचारिक 'भगवान्' पद का प्रयोग हुआ है ॥२॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति। तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ॥३॥

अन्वयार्थ—(तान्) उन छोटे छोटे कुत्ते का रूप धारण करने वाले ऋषियों से (ह) प्रसिद्ध (उवाच) वह श्वेत रंग के कुत्ता का रूप धारण करने वाले ऋषि बोले कि (इह) इसी निर्जन प्रदेश में (एव) निश्चय करके (प्रातः) प्रातःकाल (मा) मेरे (उपसमीयात) समीप तुमलोग आओ (इति) इस प्रकार वचन सुनकर (ह) प्रसिद्ध (दाल्भ्यः) दल्भ ऋषि के पुत्र (बकः) बक ऋषि (वा) और (मैत्रेयः) मित्रा के पुत्र (ग्लावः) ग्लावः ऋषि (तत्) उन श्वेत कुत्ता आदि के आगमन की प्रतीक्षा करके (प्रतिपालयाञ्चकार) वहाँ ही स्थित रह गये ॥३॥

विशेषार्थ - उन भूखे छोटे छोटे कुत्तों के रूप धारण करने वाले ऋषियों से वह प्रसिद्ध श्वेत रंग के कुत्ते का रुप धारण करने वाले परम दयालु ऋषि ने कहा कि—"प्रातःकाल इसी स्थान में तुमलोग मेरे पास आना" तब मैं तुमलोगों के लिये अन्न सम्पादन करूँगा। उनकी इस बात को सुनकर दल्भ ऋषि का पुत्र बक ऋषि और मित्रा पुत्र ग्लाव ये दोनों कौतूहल से भर गये और यह देखने के लिये कि यह श्वेत कुत्ता किस प्रकार अन्न जुटाता है, वहीं उन कुत्तों के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए ठहर गये। ऋषि कुत्तों के भाषण को समझ गये। क्योंकि लिखा है— **शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥** (योगद० अ० १ पा० ३ सू० १७) शब्द और अर्थ के ज्ञान के परस्पर अध्यास होने से संकर होता है और उसके बिभाग का संयम करने से सब जीवों के शब्द का अर्थ ज्ञान हो जाता है ॥१७॥ ऋषियों में बड़ी शक्ति होती है इससे वे जब जैसा रूप चाहें तब वैसा अपना रूप बना सकते हैं। सौभरि प्रभृति का इतिहास इसमें साक्षी रूप है।

ते ह यथैदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः संरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुः। ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥४॥

अन्वयार्थ—प्रातःकाल निर्दिष्ट समय पर (ह) प्रसिद्ध (ते) वे अलौकिक कुत्ते (यथा) जिस प्रकार (एव) निश्चय करके (इदम्) इस ज्योतिष्टोमादि यज्ञ कर्म में (वहिष्पवमानेन) वहिष्पवमान नाम के सामवेद के स्तोत्र से (स्तोष्यमाणाः) परब्रह्म नारायण की स्तुति करते हुये उद्गाता आदि ऋत्विक् (संरब्धाः) परस्पर सम्मिलित होकर एक दूसरे के वस्त्र को पकड़ कर (सर्पन्ति) चात्वाल देश के प्रति चलते हैं (एवम्) ठीक उसी प्रकार (इति) इस कारण से परस्पर सम्मिलित होकर (आससृपुः) एक दूसरे के पुच्छ को मुख में पकड़कर परिभ्रमण करने लगे और (ह) प्रसिद्ध (ते) वे अलौकिक श्वेत कुत्ता आदिक कुत्ते (समुपविश्य) एक जगह आराम से बैठकर (हिंचक्रुः) हिंकार प्रारम्भ किये अर्थात् "हिं" स्तोभ का प्रयोग करते हुये साम गान आरम्भ किये ॥४॥

विशेषार्थ—प्रातःकाल ठीक निर्दिष्ट समय पर वे छोटे छोटे चार कुत्ते और

एक श्वेत कुत्ता ये पाँचों दिव्य कुत्ते वहाँ निर्जन स्थान में एकत्र हुये और यज्ञ-शाला से बाहर ज्योतिष्टोमयज्ञ में प्रातःसवन के अनुष्ठान के समय में जिस प्रकार "बहिष्पवमान" नामक वैदिक स्तोत्र द्वारा परब्रह्म नारायण की स्तुति करते हुये उद्गाता १, प्रस्तोता २, प्रतिहर्ता ३, होता ४ ये चार ऋत्विक् और पाँचवाँ यजमान परस्पर सम्मिलित होकर एक दूसरे के पीछे के उत्तरीयवस्त्र को पकड़कर चात्वाल देश के प्रति चलते हैं। ठीक उसी प्रकार अलौकिक कुत्ते भी परस्पर सम्मिलित होकर एक दूसरे के पूँछ को मुँह में पकड़ कर परिभ्रमण करने लगे। और फिर वे अलौकिक कुत्ते एक जगह आराम से बैठकर हिंकार आरम्भ किये अर्थात् 'हिं' स्तोभ का प्रयोग करते हुये सामगान प्रारम्भ किये। 'हिं' प्रजापति रूप है और प्रजापति ही अन्न का स्वामी है। इसलिये अन्नार्थी उनकी प्रार्थना में 'हिं' का प्रयोग किये हैं। बहिष्पवमान नाम वैदिक स्तोत्र का है। जिसमें तीन ऋचाएँ हों वह तृच कहलाता है। और तीन तृचात्मक सूक्त कहे गये हैं उनमें **उपास्मै** (साम० उ० १।१।१) यह प्रथम तृच है॥ **दविद्युतत्या** ॥(साम० उ० १।१।२) यह द्वितीय तृच है॥ **पवमानस्य ते कवे** ॥ (साम० उ० १।१।३) यह तृतीय तृच है। ज्योतिष्टोम यज्ञ में प्रातः सवन के अनुष्ठान के समय इन तीनों सूक्तों में गायत्री छन्दोन्वित साम गान होता है। इन तीनों सूक्तों से बने हुए स्तोत्र का नाम "बहिष्पवमान" है। "बहिः+पवमान" इन दो शब्दों से यह बना है। बहिः माने बाहर। पवमान माने पवित्र करने वाला। यह स्तोत्र अन्य स्तोत्र सदृश मण्डप में नहीं पढ़ा जाता है किन्तु ऋत्विक् लोग मण्डप से बाहर ही इसको पढ़ते हैं, इससे इसका नाम 'बहिष्पवमान' हुआ है। इस श्रुति में हिंकार करने वाले कुत्ते के वेश में ऋषि ही थे। महाराज रन्तिदेव की कथा में सनकादिक ऋषियों का कुत्ते के रूप में स्पष्ट वर्णन आया है। **याते शूद्रे तमन्योऽगाददतिथिः श्वभिरावृतः। राजन् मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते॥** (श्रीमद्भाग० स्क० ९ अ० २१ श्लो० ८) **स आदृत्यावशिष्टं यद्बहुमानपुरस्कृतम्। तच्च दत्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः॥ ९॥** रन्तिदेव राजा की परीक्षा करने के लिये — दरिद्र, शूद्र के सन्तुष्ट होकर चले जाने पर विष्णु भगवान् ने सनकादिक चारों भागवतों को कुत्ते के वेष में अपने साथ लेकर स्वयं अतिथि

बनकर वहाँ रन्तिदेव के पास आकर कहा कि—हे राजन् मेरे ये कुत्ते और मैं भूखा हूँ भोजन दीजिये ॥ ८ ॥ हरिभक्त राजा ने उस अतिथि का बहुमान पूर्वक सत्कार किया और आदर पूर्वक बचा हुआ सारा अन्न कुत्तों सहित उस अतिथि को समर्पण करके उन कुत्तों के लिये और अतिथि भगवान् के लिये साष्टांग प्रणाम किया ॥ ६ ॥ और भी वहाँ ही स्पष्ट लिखा है कि— **तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् । आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः ॥** (श्रीमद्भा० स्कं० ६ अ० २१ श्लो० १५) फल की कामना करने वालों को फल देने वाले भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश और भागवत सनकादिक ही महाराज रन्तिदेव की परीक्षा लेने के लिये माया के द्वारा ब्राह्मणादि रूप धर कर आये थे। राजा का धैर्य और उसकी भक्ति देखकर वे परम प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपना अपना यथार्थ रूप धारण कर राजा को दर्शन दिया ॥ १५ ॥ इससे सिद्ध हो गया कि ऋषि लोग भक्त के लिये कुक्कुर भी हो जाते हैं ॥ ४ ॥

ओ ३ मदा ३ मों ३ पिबा ३ म । ओं ३ देवो वरुणः प्रजापतिः सविता २ न्नमिहा २ हरत् । अन्नपते ३ न्नमिहा २ हरा २ हरो ३ मिति ॥५॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक नारायण (अदाम) हमलोग भोजन करें (ओम्) हे परब्रह्म नारायण (पिबाम) हमलोग जल पान करें (ओम्) हे सर्व पालक भगवान् (देवः) आप सबके प्रकाशक होने से देव हैं (वरुणः) सबके स्वीकरणीय होने से वरुण हैं (प्रजापतिः) समस्त प्रजा का पालन करने से प्रजापति हैं (सविता) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जनक होने से सविता हैं (अन्नम्) अन्न को हम लोगों के लिये (इह) यहाँ पर (आहरत्) आप लाइये (अन्नपते) हे अन्न के स्वामी (अन्नम्) खाद्य वस्तु को (इह) यहाँ पर (आहर) हमलोगों के लिये दीजिये (आहर)। अवश्य दीजिये (ओम्) हे सर्वरक्षक परब्रह्म नारायण (इति) यह आप से प्रार्थना है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ— गान का प्रकार वर्णन यहाँ पर श्रुति दिखाती है—हे सबकी रक्षा करने वाले परब्रह्म नारायण आपकी कृपा से हमलोग भोजन करें और जलपान भी करें। हे भगवन् आप सब के प्रकाशक होने से देव हैं और सबके अभीष्ट वस्तु की वर्षा करने से या सबके स्वीकरणीय होने से वरुण हैं तथा समस्त प्रजा का पालन करने से प्रजापति हैं और समस्त अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के उत्पादक होने से सविता हैं। अतः हमलोगों के लिये यहाँ अन्न ला दीजिये। हे अन्न के स्वामी यहाँ अन्न लाइये, हे परमेश्वर यहाँ अन्न अवश्य प्रस्तुत कीजिये। यही हमलोगों की प्रार्थना है। इस श्रुति में आदि का ओम् गीत प्रारम्भ के लिये है क्योंकि लिखा है—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ॥ (मनु० अ० २ श्लो० ७४)

सर्वदा वेदाध्ययन के प्रारम्भ में और समाप्ति में प्रणव का उच्चारण करे ॥७४॥ और सब ओम् सम्बोधन के लिये हैं अथवा मध्य के सब ओङ्कार ॥ **प्रणवष्टेः** ॥ (पाणि० व्या० अ० ८ पा० २ सू० ८६) इस सूत्र से टि के स्थान में आदेश है। यहाँ पर अत्यन्त आदर द्योतन करने के लिये "आहर" पद का दो बार उच्चारण किया गया है और शौव उद्गीथ विद्या की समाप्ति के लिये अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का बारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथत्रयोदशखण्डः ॥

अयं वाव लोको हा उकारः। वायुर्हा इकारः। चन्द्रमा अथकारः। आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥१॥

अन्वयार्थ—(वाव) निश्चय करके (अयम्) यह (लोकः) पृथ्वी लोक (हा उकारः) हा उ नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे पृथ्वी लोक दृष्टि करके हा उ स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह स्तोभ रथन्तर साम में प्रसिद्ध है और (वायुः) वायुलोक (हा इकारः) हा इ नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे वायुलोक दृष्टि करके हा इ स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह स्तोभ वामदेव्य साम में प्रसिद्ध है तथा (चन्द्रमा) चन्द्रलोक (अथकारः) अथ नामका सामवेद में स्तोभ है। इससे चन्द्र लोक दृष्टि करके अथ स्तोभ उपासना करने योग्य है (आत्मा) प्रसिद्ध आत्मा (इहकारः) इह नाम का सामवेद में स्तोभ है। अतः आत्मा दृष्टि करके इह स्तोभ

उपासना करने योग्य है और (अग्निः) अग्नि ही (ईकारः) ई नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे अग्नि दृष्टि करके ई स्तोभ उपासना करने योग्य है ॥१॥

विशेषार्थ— अब साम के अवयवान्तर्गत स्तोभ के अक्षरों की उपासना श्रुति प्रतिपादन करती है। सामगान करते समय उसके स्वर और लय की पूर्ति के लिये जो "हा उ" आदि तेरह प्रकार के शब्द उपयोग में लाये जाते हैं उन्हें स्तोभ कहते हैं। निश्चय ही "हा उ" स्तोभ मनुष्यलोक का वाचक है। इससे मनुष्यलोक दृष्टि करके "हा उ" स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह स्तोभ रथन्तर साम में आता है, क्योंकि लिखा है— **इयं वै रथन्तरम्** ॥ (श्रुति) यह पृथ्वी ही रथन्तर साम है ॥ यह "हा उ" पहला स्तोभ है १ और "हा इ" स्तोभ वायुलोक है। इससे वायुलोक दृष्टि करके "हा इ" स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह स्तोभ वामदेव्य साम गान में आता है। यह "हा इ" दूसरा स्तोभ है २ तथा "अथ" स्तोभ चन्द्रलोक है। इससे चन्द्रलोक दृष्टि करके "अथ" स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह "अथ" तीसरा स्तोभ है ३ और "इह" स्तोभ आत्मा के प्रकाशनार्थ है। इससे आत्मा दृष्टि करके "इह" स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह "इह" चौथा स्तोभ है ४ तथा "ई" स्तोभ अग्नि रूप है। इससे अग्नि दृष्टि करके "ई" स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह "ई" पाँचवाँ स्तोभ है ५ इस श्रुति में पाँच स्तोभों का वर्णन है। १॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारः। विश्वेदेवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरः। अन्नं या। वाग्विराट् ॥२॥

अन्वयार्थ—(आदित्यः) सूर्यलोक (ऊकारः) ऊ नाम का स्तोभ सामवेद में है। इससे सूर्यलोक दृष्टि करके ऊ स्तोभ उपासना करने योग्य है और (निहवः) आह्वान का बोधक (एकारः) ए नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे आह्वान दृष्टि करके ए स्तोभ उपासना करने योग्य है तथा (विश्वेदेवाः) विश्वेदेव का वाचक (औहोयिकारः) औहोयि नाम का साम वेद में स्तोभ है। इससे विश्वेदेव दृष्टि करके औहोयि स्तोभ उपासना करने योग्य है और (प्रजापतिः) प्रजापति स्वरुप (हिंकार;) हिं नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे प्रजापति दृष्टि करके

हिं स्तोभ उपासना करने योग्य है तथा (प्राणः) प्राणस्वरूप (स्वरः) स्वर नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे प्राण दृष्टि करके स्वर स्तोभ उपासना करने योग्य है (अन्नम्) अन्नरूप (या) या नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे अन्न दृष्टि करके या स्तोभ उपासना करने योग्य है। और (विराट्) विराट् पुरुष वाचक (वाक्) वाक् नाम का सामवेद में स्तोभ है। इससे विराट् पुरुष दृष्टि करके वाक् स्तोभ उपासना करने योग्य है ॥२॥

विशेषार्थ—निश्चय करके 'उ' स्तोभ सूर्यलोक का वाचक है। इससे आदित्य दृष्टि करके 'ऊ' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह 'ऊ' छठवाँ स्तोभ है ६, और 'ए' स्तोभ आह्वान का बोधक है। इससे आह्वान दृष्टि करके 'ए' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह 'ए' सातवाँ स्तोभ है ७, 'औहोयि' स्तोभ विश्वेदेव का वाचक है। इससे विश्वेदेव दृष्टि करके 'औहोयि' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह 'औहोयि' आठवाँ स्तोभ है ८, और 'हिं' स्तोभ प्रजापति के प्रकाशनार्थ है। इससे प्रजापति दृष्टि करके 'हिं' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह 'हिं' नवाँ स्तोभ है ९ तथा 'स्वर' स्तोभ प्राण का प्रकाशक है। इससे प्राण दृष्टि करके 'स्वर' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह स्वर दसवाँ स्तोभ है १० और 'या' स्तोभ अन्नरूप है। इससे अन्न दृष्टि करके 'या' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह 'या' ग्यारहवाँ स्तोभ है ११ और 'वाक्' स्तोभ विराट् पुरुष वाचक है। इससे विराट् पुरुष दृष्टि करके 'वाक्' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह 'वाक्' बारहवाँ स्तोभ है १२। विश्वेदेव के विषय में लिखा है—

विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः। क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामोधुनिस्तथा ॥ (वायुपु० अ० ६६ श्लो० ३१) **कुरुवान् प्रभवांश्चैवरोचमानश्च ते दश ॥ ३२ ॥** (धर्म की पत्नी, दक्ष की कन्या विश्वादेवी से ये प्रसिद्ध दस विश्वेदेव उत्पन्न हुये। क्रतु १, दक्ष २, श्रव ३, सत्य ४, काल ५, काम ६ और धुनि ७ ॥३१॥ कुरुवान् ८, प्रभवान् ९ और रोचमान १० ये दस विश्वेदेव हैं ॥३२॥ प्रकृत श्रुति में सात स्तोभों का वर्णन किया गया है ॥२॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हुंकारः) हुं नाम के (त्रयोदशः) पूर्वोक्त बारहों से श्रेष्ठ तेरहवाँ (स्तोभः) स्तोभ है (अनिरुक्तः) वह ऐसा ही है इस प्रकार के कहने के

लिये अशक्य है। इससे (संचरः) भलीभाँति दोलायित है। इससे संचर यानी दोलायित दृष्टि करके हुं स्तोभ उपासना करने योग्य है ॥३॥

विशेषार्थ—'हा उ' आदिक पहले कहे हुए बारहों स्तोभों से अधिक श्रेष्ठ तेरहवाँ अन्तिम 'हुं' स्तोभ वह ऐसा ही है इस प्रकार के नहीं करने योग्य—अनिरुक्त है अतः दोलायित स्वरूप है। इससे संचर यानी दोलायित दृष्टि करके 'हुं' स्तोभ उपासना करने योग्य है। यह 'हुं' अन्तिम स्तोभ है १३। इस श्रुति में एक स्तोभ का वर्णन है। पूर्वोक्त रीति से यहाँ तेरह स्तोभों का वर्णन समाप्त हो गया ॥३॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति। य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥४॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके त्रयोदशखण्डः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकः समाप्तः ॥

अन्वयार्थ—(वाक्) वाणी (अस्मै) उस सकाम स्तोभाक्षर के उपासक के लिये (दोहम्) दूध (दुग्धे) स्वयं अपने को दुहती है (यः) जो (वाचः) वाणी का (दोहः) दूध है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (साम्नाम्) सामवेद सम्बन्धी (एताम्) इस स्तोभाक्षर (उपनिषदम्) उपासना को (वेद) जानता है (उपनिषदम्) उपासना को (वेद) जानता है (अन्नवान्) वह उपासक प्रचुर अन्नवाला और (अन्नादः) अन्न को खानेवाला दीप्ताग्नि (भवति) होता है ॥४॥

विशेषार्थ—अब स्तोभ के अक्षरों की उपासना का फल श्रुति कहती है कि—वाणी उस साम के अवयव स्तोभ के अक्षर के उपासक के लिये दूध स्वयं अपने को दुहती है। जो वाणी का दूध है। जो उपासक पूर्वोक्त रीति से इस प्रकार सामवेद सम्बन्धी इस स्तोभ के अक्षर की उपासना को अच्छी तरह जानता है, वह स्तोभाक्षर का उपासक प्रचुर भोग सामग्री से तथा उसे भोगने की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' के प्रथम प्रपाठक के तेरहवें खण्ड की चौथी श्रुति का पूर्वार्ध इस उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के तीसरे खण्ड की सातवीं श्रुति में भी पठित है। इस श्रुति में 'उपनिषदंवेद' इस वाक्य का दो बार उच्चारण तेरहवें खण्ड और प्रथम प्रपाठक की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' के प्रथम प्रपाठक के

पहले खण्ड में दस मन्त्र और दूसरे खण्ड में चौदह मन्त्र तथा तीसरे खण्ड में बारह मन्त्र और चौथे खण्ड में पाँच मन्त्र तथा पाँचवें खण्ड में पाँच मन्त्र और छठवें खण्ड में आठ मन्त्र तथा सातवें खण्ड में नौ मन्त्र और आठवें खण्ड में आठ मन्त्र तथा नवें खण्ड में चार मन्त्र और दसवें खण्ड में ग्यारह मन्त्र तथा ग्यारहवें खण्ड में नौ मन्त्र और बारहवें खण्ड में पाँच मन्त्र तथा तेरहवें खण्ड में चार मन्त्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस प्रथम प्रपाठक में एक सौ चार मन्त्र हैं। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के प्रथम प्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड और प्रथम प्रपाठक भी समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ द्वितीयप्रपाठः ॥

॥अथ प्रथमखण्डः ॥

समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु। यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते। यदसाधु तदसामेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चित रूप से (समस्तस्य) सम्पूर्ण पाञ्चविध्य युक्त अथवा साप्तविध्ययुक्त (साम्नः) सामवेद का (साधु) शोभन रूप से (उपासनम्) उपासना करने योग्य है (यत्) जो वस्तु (साधु) कल्याण कर मङ्गल (खलु) निश्चय करके है (तत्) उसको (साम) साम (इति) ऐसा (आचक्षते) वेदवेत्ता लोग कहते हैं और (यत्) जो (असाधु) अशोभन कर्म है (तत्) उसको निश्चय (असाम) असाम (इति) ऐसा व्यवहार करते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—साम के अवयव स्तोभ अक्षर की उपासना कहकर अब समस्त साम की उपासना श्रुति कहती है—निश्चित रूप से पाञ्चविध्य युक्त अथवा साप्तविध्ययुक्त सम्पूर्ण साम का कल्याणरूप से उपासना करने योग्य है। इस श्रुति में साधु का अर्थ कल्याण है क्योंकि लिखा है— **साधुभावे कल्याणभावे ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० १७ श्लो० २६) साधु भाव में कल्याण भाव में ॥२६॥ निश्चय करके जो कर्म कल्याणकर मङ्गल है उसको वेदवेत्ता लोग साम कहते हैं और जो कर्म अशोभन अकल्याणकर है उसको असाम ऐसा व्यवहार करते हैं। साम का लक्षण लिखा है— **गीतिषु सामाख्या ॥** (पूर्वमी० अ० २ पा० १

सू० ३६) गीति में साम ऐसी आख्या होती है ।।३६।। उपासना के विषय में लिखा है— **श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।।** (ऋग्वे० मण्ड० १० सू० १५१ म० ४) वायु और गो – इन्द्रिय के रक्षक देवता सब यजमान श्रद्धा की उपासना करते हैं ।।४।। **यां मेधा देवगणाः पितरश्चोपास्ते ।।** (यजु० अ० ३२ मं० १४) देवतागण और पितृगण जिस मेधा की उपासना करते हैं ।।१४।। **लोक इति त्वोपास्महे वयम् ।।** (अथर्व० कां० १३ अनु० ४ मं० ५३) हे भगवन् लोक में इस प्रकार हम सब आपकी उपासना करते हैं ।।५३।। इत्यादि प्रमाणों से उपासना करने योग्य है ।।१।।

तदुताप्याहुः । साम्नैनमुपागादितिसाधुनैनमुपागादित्येव । तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ।।२।।

अन्वयार्थ—(तत्) उस विषय में (उत्) और (अपि) भी (आहुः) सब लोग कहते हैं कि यदि कोई (साम्ना) साम द्वारा (एनम्) इस श्रीवैष्णव के (उपागात्) समीप गया (इति) तो (साधुना) साधु भाव से (एनम्) इस श्री वैष्णव के (उपागात्) समीप गया (इति) ऐसा (एव) निश्चय करके (तद्) उस विषय में (आहुः) सज्जन लोग कहते हैं और यदि (असाम्ना) असाम द्वारा (एनम्) इस वैष्णव के (उपागात्) निकट गया (इति) तो (असाधुना) असाधु भाव से (एनम्) इस वैष्णव के (उपागात्) समीप गया (इति) ऐसा (एव) निश्चय करके (तत्) उस विषय में (आहुः) सज्जन कहते हैं ।।३।।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त विषय में कहते हैं कि—जब कहा जाय कि अमुक पुरुष इस श्रीवैष्णव के पास साम द्वारा गया तो ऐसा कहकर सज्जन लोग यही कहते हैं कि वह अमुक पुरुष इस श्रीवैष्णव के पास साधु भाव से गया। और जब यों कहा जाय कि वह पुरुष इस श्रीवैष्णव के पास असाम द्वारा गया तो इससे सज्जन लोग यही कहते हैं कि वह अमुक पुरुष इस श्रीवैष्णव के पास असाधु भाव से प्राप्त हुआ। इस व्यवहार से स्पष्ट होता है कि 'साधु' को साम और 'असाधु' को असाम वैदिक तथा लौकिक जन कहते हैं ।।२।।

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति। साधु बतेत्येव तदाहुः। असाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (उत) और (अपि) भी (यत्) जो कर्म (साधु) शोभन-मङ्गल (भवति) होता है तो वह (नः) हमको (साम) साम (इति) ऐसा (बत) आश्चर्य से (आहुः) सबलोग कहते हैं (तत्) और उस साम कर्म को (साधु) शोभन है (बत) आश्चर्य से (इति) ऐसा (एव) निश्चय करके (आहुः) सबलोग कहते हैं और (यत्) जो कर्म (असाधु) अशोभन (भवति) होता है तो वह (नः) हमको (असाम) असाम (इति) ऐसा (बत) आश्चर्य से सबलोग कहते हैं और (तत्) उस असाम कर्म को (असाधु) अशोभन है (बत) आश्चर्य से (इति) ऐसा (एव) निश्चय करके (आहुः) सबलोग कहते हैं ।।३।।

विशेषार्थ—इसके अनन्तर और भी कहते हैं कि—जो कर्म हम से 'साधु' होता है तो सबलोग बड़ा आनन्द से कहते हैं कि 'साम' कर्म होता है। यहाँ पर 'साधु' शब्द के स्थान पर ही सबलोग 'साम' शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे सिद्ध हो गया कि जो 'साधु' है वही सचमुच साम है। और जो कर्म हमसे 'असाधु' होता है तो सबलोग बड़े आश्चर्य से कहते हैं 'असाम' कर्म होता है। यहाँ पर 'असाधु' शब्द के स्थान पर ही सबलोग 'असाम' शब्द का प्रयोग करते है। इससे सिद्ध हो गया कि वही सचमुच 'असाम' है जो कि 'असाधु' है। अतः समस्त साम का साधु रूप से उपासना करने योग्य है ।।३।।

स य एतदेवं विद्वान् साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनं साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥४॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ – (सः) वह (यः) जो भक्त (एतत्) इस समस्त (साधु) शोभन (साम) साम को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (इति) इस प्रकार साधु दृष्टि करके (उपास्ते) उपासना करता है (च) तो (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस समस्त सामोपासक के (अभ्याशः) अति शीघ्र ही (यत्) जो (साधवः) आने योग्य

उत्तम (धर्माः) धर्म हैं वे (आगच्छेयुः) आ जाते हैं (च) और (उपनमेयुः) समीप में विनम्र हो जाते हैं अर्थात् भोग्यता को प्राप्त कर लेते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—अब समस्त सामोपासना के फल को श्रुति कहती है कि जो भक्त इस समस्त साम को इस प्रकार साधु दृष्टि करके जानता हुआ उपासना करता है। उस समस्त साधु सामोपासक के समीप आने योग्य साधु धर्म अति शीघ्र ही आ जाते हैं और उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं अर्थात् भोग्यता को प्राप्त कर लेते हैं। धर्म के विषय में लिखा है— **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा ऊपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥** (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३) धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा है। लोक में सब जन धर्मिष्ठ के समीप जाते हैं। धर्म से सब लोग पाप को दूर करते हैं। धर्म में सब प्रतिष्ठित हैं। इससे सब लोग धर्म को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥ **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥** (पूर्वमी० अ० १ पा० १सू० २) चोदना लक्षण अर्थ धर्म है ॥२॥ **यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिस्सः धर्मः ॥** (वैशेषिक अ० १ आह्नि० १ सू० २) जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हो वह धर्म है ॥२॥ उस धर्म का स्वरूप दस प्रकार का लिखा है— **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।** (नारदपरिब्राजकोप० उपदे० ३ श्रु० २४ ॥ मनु० अ० ६ श्लो० ९२) धीरता १, क्षमा २, मनरोकना ३, अन्याय से दूसरे का धन न लेना ४ पवित्रता ५, इन्द्रियों को रोकना ६, बुद्धि ७, आत्मज्ञान ८, सत्य बोलना ९ और क्रोध नहीं करना १० ये दस धर्म के लक्षण हैं ॥२४॥ ॥९२॥ **ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे। धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥** (महाभार० स्वर्गारोहणप० अ० श्लो० ६२) **न जातु कामान्नभयान्नलोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥६९॥** ऊपर भुजा उठाकर जोर शोर से मैं चिल्लाता हूँ परन्तु कोई भी मेरे वाक्य को नहीं सुनता है। मेरा कहना यह है कि धर्म से ही अर्थ और काम प्राप्त होता है, इससे धर्म क्यों नहीं सेवन करते हो ॥६२॥ यह याद रखना कभी भी काम से या भय से या लोभ से

या जीने की इच्छा से धर्म को नहीं परित्याग करे ॥६३॥ यहाँ पर द्वितीय प्रपाठक का पहला खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ द्वितीयखण्डः ॥

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधन-मित्यूर्ध्वेषु ॥१॥

अन्वयार्थ—(लोकेषु) पृथ्वी आदि लोकों में (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४, और निधन ५ इस पाँच प्रकार के (साम) क्रत्वङ्गभूत साम की (उपासीत) उपासना करे अर्थात् अङ्गभूत साम में अनङ्गलोक दृष्टि करनी चाहिये (पृथिवी) पृथ्वी (हिंकारः) हिकार है। इससे हिंकार दृष्टि करके पृथ्वी की उपासना करनी चाहिये और (अग्निः) अग्नि प्रस्ताव है। इससे प्रस्ताव दृष्टि करके अग्नि को उपासना करनी चाहिये तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उद्गीथः) उद्गीथ है। इससे उद्गीथ दृष्टि करके अन्तरिक्ष की उपासना करनी चाहिये और (आदित्यः) आदित्य (प्रतिहारः) प्रतिहार है। इससे प्रतिहार दृष्टि करके आदित्य की उपासना करनी चाहिये तथा (द्यौः) द्युलोक (निधनम्) निधन है। इससे निधन दृष्टि करके द्युलोक की उपासना करनी चाहिये। (इति) इस प्रकार (ऊर्ध्वेषु) ऊपर के लोकों में साम की उपासना है ॥१॥

विशेषार्थ—पृथ्वी अन्तरिक्ष आदि लोकों में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ इस पाँच प्रकार के क्रत्वङ्गभूत साम गीति की उपासना करे। अर्थात् अङ्गभूत साम में अनङ्गलोक दृष्टि करनी चाहिये। पृथ्वी लोक हिंकार है। इससे पृथ्वी में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। पृथ्वी लोक के विषय में लिखा है— **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्** (योगद० अ० १ पा० ३ सू० १४) **अवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः॥** (व्यासभाष्य) अवीचि नाम के स्थल से लेकर सुमेरु पर्वत की पीठ तक भूलोक है। सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥२४॥ इस सूत्र के व्यासभाष्य में तीन ऋत्विक् मिलकर 'हिं' स्तोभ से युक्त जिस साम गान को करते हैं उसको हिंकार कहते हैं। हिंकार के विषय में लिखा है— **तिसृभ्यो हिं करोति सः**

प्रथमया । तिसृभ्यो हिं करोति स मध्यमया । तिसृभ्यो हिं करोति स उत्तमया (ताण्ड्यब्राह्म० अध्या० २) पहले तीन से वह 'हिं' करता है प्रथमा भक्ति से और दूसरे तीन से वह 'हिं' करता है मध्यमा भक्ति से तथा तीसरे तीन से वह 'हिं' करता है उत्तमा भक्ति से ॥२४॥ और अग्नि प्रस्ताव है। अग्नि में प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। प्रस्तोता ऋत्विक् जिस गेय साम को गाता है उसे प्रस्ताव कहते हैं। तथा अन्तरिक्ष उद्गीथ है। इससे अन्तरिक्ष लोक में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। अन्तरिक्ष लोक के विषय में लिखा है— **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्** (योग० अ० १ पा० ३ सू० २४ के व्यासभाष्य में लिखा है— **मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः** (व्यास०) सुमेरु पर्वत की पीठ से लेकर ध्रुवपर्यन्त नक्षत्र, तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्ष लोक है। उद्गाता ऋत्विक् जिस गेय साम को गाता है उसे प्रतिहार कहते हैं। आदित्य प्रतिहार है। इससे आदित्य में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। प्रतिहर्ता ऋत्विक् जिस गेय साम को गाता है उसे प्रतिहार कहते हैं। द्युलोक निधन है। इससे द्युलोक में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। स्वर्गलोक के विषय में **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्** (यो० अ० १ पा० ३ सू० २४) के व्यासभाष्य में लिखा है कि—**ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति** (व्यासभा०) अन्तरिक्ष लोक से परे यानी ऊपर पाँच प्रकार के स्वर्गलोक है और तृतीय माहेन्द्रलोक है तथा प्रजापति का चौथा महर्लोक है और तीन प्रकार के ब्रह्मलोक हैं—जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। सब ऋत्विक् मिलकर जिस गेय साम को गाते हैं उसे निधन कहते हैं। इस प्रकार ऊपर के लोकों में साम की उपासना है। पाँच प्रकार के साम की उपासना अथर्ववेद में भी स्पष्ट उल्लिखित है— **तस्मा उषा हिं कृणोति सविता प्रस्तौति** (अथर्ववे० कां० ६ अनु० ३ सू० ६ मं० १) **बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति । विश्वेदेवा निधनम् ॥ २ ॥ तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिं कृणोति सङ्गवः**

प्रस्तौति ॥४॥ मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्तं यन्निधनम् ॥ ५ ॥ तस्मा अभ्रो भवन् हिं कृणोति स्तनयन्प्रस्तौति ॥६॥ विद्योतमानः प्रतिहरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन्निधनम् ॥ ७ ॥

प्रातःकाल उस परब्रह्म नारायण के लिये 'हिं' को करता है और सूर्य प्रस्ताव करता है ॥१॥ तथा बृहस्पति परमज्योति से युक्त हो उद्गीथ कर्म करता है और त्वष्टा देव पुष्टि से प्रतिहार कर्म करता है तथा विश्वेदेव निधन साम गाते हैं ॥२॥ उस परब्रह्म नारायण के लिये उदय होता हुआ सूर्य हिंकार करता है और जिस समय गोचारक वत्सों को दूध पिलाकर चराने के लिये गायों को खोलता है वह सङ्गवकाल प्रस्ताव करता है ॥ ४ ॥ मध्याह्न उद्गीथ कर्म करता है और अपराह्ण प्रतिहार कर्म करता है तथा जो सूर्य अस्त होता है वही निधन है ॥ ५ ॥ उस परब्रह्म नारायण के लिये प्राथमिक मेघ हिंकार करता है और गर्जन करता हुआ प्रस्ताव करता है ॥ ६ ॥ विद्योतित होता हुआ प्रतिहार कर्म करता है तथा बरसता हुआ उद्गीथ कर्म करता है और अपने को उपसंहृत करता हुआ मेघ मानो निधन कर्म करता है ॥ ७ ॥ इस प्रपाठक के तीसरे और आठवें खण्ड में भी ऐसा ही वर्णन है । अङ्गीकृतान्ध्रपूर्णार्य भवगद्रामानुजाचार्य ने—

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् (शा० मी० ३।३।५३)

के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक के दूसरे खण्ड की पहली श्रुति के "लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) ऊपर के लोकों में सामोपासना करने के बाद अब (आवृत्तेषु, नीचे उतरते हुए लोकों के विषय में सामोपासना बतलाई जाती है (द्यौः) द्युलोक (हिंकारः) हिंकार है । इससे द्युलोक में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (आदित्यः) सूर्य (प्रस्तावः) प्रस्ताव है । इससे सूर्य में प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक (उद्गीथः) उद्गीथ है । इससे अन्तरिक्ष लोक में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये

और (अग्निः) अग्नि (प्रतिहारः) प्रतिहार है। इससे अग्नि में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (पृथिवी) पृथ्वी लोक (निधनम्) निधन है। इससे पृथ्वी लोक में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥

विशेषार्थ—ऊपर के लोकों में सामोपासना कहने के अनन्तर अब नीचे उतरते हुये लोकों के विषय में सामोपासना बतलाई जाती है। स्वर्गलोक ही 'हिंकार' है। इससे स्वर्गलोक में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और अदिति देवी का पुत्र सूर्य ही प्रस्ताव है। इससे सूर्य में प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा अन्तरिक्ष लोक ही उद्गीथ है। इससे अन्तरिक्ष लोक में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और पृथ्वीलोक निधन है। इससे पृथ्वीलोक में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार से पाँच प्रकार की सामोपासना लोक में वर्णित है ॥ २ ॥

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च। य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥३॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एतत्) इस (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकार के (साम) साम को (एव) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (लोकेषु) पृथ्वी आदिक लोकों में (उपास्ते) उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध (अस्मै) इस उपासक के लिये (ऊर्ध्वाः) ऊपर के मुख वाले (लोकाः) 'पृथ्वी १, अग्नि २, अन्तरिक्ष ३, आदित्य ४ और द्युलोक ५' लोक (च) और (आवृत्ताः) नीचे मुख वाले द्युलोक १, आदित्य २, अन्तरिक्ष ३, अग्नि ४ और पृथ्वीलोक ५ (च) भी (कल्पन्ते) उपासक के भोग निष्पादन समर्थ हो जाते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—अब लोक में पाँच प्रकार की सामोपासना करने वालों के फल को श्रुति कहती है कि—जो उपासक इस हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ रूप पाँच प्रकार के साम को इस प्रकार जानता हुआ पृथ्वी १, अग्नि २, अन्तरिक्ष ३, आदित्य ४ और द्युलोक ५ में उपासना करता है उस उपासक के लिये ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूप से निश्चय करके उपस्थित होते हैं। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ तृतीयखण्डः ॥

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत। पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥१॥

अन्वयार्थ—(वृष्टौ) वर्षा में (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४, और निधन ५ इस पांच प्रकार के (साम) ऋत्वङ्गभूत साम की (उपासीत) उपासना करे अर्थात् अङ्गभूत साम में अनङ्ग वृष्टि दृष्टि करनी चाहिये (पुरोवातः)पूर्वी हवा (हिंकारः) हिंकार है। इससे पूर्वी हवा में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (मेघः) आकाश में मेघ (जायते) उत्पन्न होता है (सः) वही (प्रस्तावः) प्रस्ताव है। इससे आकाश स्थित उत्पन्न मेघमें प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (वर्षति) जो बरसता है (सः) वही (उद्गीथः) उद्गीथ है। इससे जो बरसता है उसमें उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (विद्योतते)जो चमकता है तथा (स्तनयति) गरजता है (सः) वही (प्रतिहारः) प्रतिहार है। इससे चमक और गरज में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये ॥ १ ॥

विशेषार्थ—लोक में पाँच प्रकार की उपासना कहकर अब वर्षा में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ रूप पांच प्रकार के ऋत्वङ्गभूत साम की उपासना करे यह बतलाया जाता है। अङ्गभूत साम में अनङ्ग वृष्टि दृष्टि करनी चाहिये। पूर्वी हवा हिंकार है। इससे पूर्वी हवा में हिंकार दृष्टि करके उपासना करना चाहिये और आकाश में जो मेघ उत्पन्न होता है यह प्रस्ताव है। इससे आकाश स्थित उत्पन्न मेघमें प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। जो बरसता है वह उद्गीथ है। इससे जो बरसता है उसमें उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। जो चमकता है और गरजता है यह प्रतिहार है। इससे चमक और गरज में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। वृष्टि के विषय में लिखा है— **अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥** (मनु० अ० ३ श्लो० ७६) अग्नि में भलीभाँति दी हुई आहुति सूर्य के

समीप में धूम होकर किरण से पहुँच जाती है इसके बाद सूर्य से वर्षा होती है और वर्षा से अन्न होता है तथा अन्न से रज वीर्य होकर उसके द्वारा प्रजा उत्पन्न होती है ।।७६।। **यज्ञाद्भवति पर्जन्यः** (भगवद्गी. अ. ३ श्लो, १४) वर्षा यज्ञ से होती है ।। १४ ।। इस श्रुति में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३,और प्रतिहार ४ का वर्णन किया गया है। निधन का आगे श्रुति में प्रतिपादन किया है ।। १ ।।

उद्गृह्णाति तन्निधनम् । वर्षति हास्मै वर्षयति ह । य एतदेव विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते ।।२।।

।। इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयखण्डः ।।

अन्वयार्थ—(उद्गृह्णाति) जो वर्षाकी समाप्तिहै (तत्)वह (निधनम्) निधन है । इससे वर्षा की समाप्तिमें निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये । अब इस उपासनाके फल को श्रुति कहती है कि (यः) जो उपासक (एतत्) इस साम गान को (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (वृष्टौ) वृष्टि में (पञ्चविधम्)हिंकार १,प्रस्ताव २,उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ इस पाँच प्रकार के (साम) साम की (उपास्ते) आज भी उपासना करता है तो (ह) प्रसिद्ध (अस्मै) उस उपासक के लिये (वर्षति) मेघ स्वयं बरसता है और (ह) प्रसिद्ध वह उपासक इच्छा होने पर (वर्षयति) स्वयं भी दूसरों के लिये बरसाता है ।। २ ।।

विशेषार्थ—जो वर्षा की समाप्ति है यह निधन है । इससे वर्षा की समाप्तिमें निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये । यहाँ तक पहली श्रुति के साथ सम्बन्ध जानना चाहिये । अब इस उपासना के फल को श्रुति प्रतिपादन करती है कि-जो उपासक इस साम गान को इस प्रकार जानता हुआ वृष्टि में हिंकार १,प्रस्ताव २,उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ रूप पाँच प्रकार के साम की उपासना आज भी करता है तो निश्चय करके उस उपासक के लिये वर्षा होती है और जब चाहता है तब वह स्वयं भी वर्षा करा लेता है । यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ।।२।।

।। अथ चतुर्थखण्डः ।।

सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपासीत । मेघो यत्संप्लवते स

हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(सर्वासु) सब नद, नदी, तड़ाग, वापी, कूप आदि (अप्सु) जलों में (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ इस पाँच प्रकार के (साम) साम की (उपासीत) उपासना करे अर्थात् ऋत्वङ्गभूत साम में अनङ्गजल दृष्टि करनी चाहिये (मेघः) मेघ (यत्) जो (संप्लवते) घटा रूप में अच्छे प्रकार इधर उधर दौड़ता है (सः) वह (हिंकारः) हिंकार है। इससे घटारूप में घनीभूत इधर उधर दौड़नेवाले मेघ में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। (यत्) जो (वर्षति) बरसता है (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है। इससे जो बरसता है उसमें प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (याः) जो जल (प्राच्यः) पूर्व की ओर (स्यन्दन्ते) बहता है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है इससे पूर्व की ओर बहते हुये जलमें उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (याः) जो जल (प्रतीच्यः) पश्चिम की ओर बहता है (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है। इससे पश्चिम की ओर बहते हुये जल में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (समुद्रः) समुद्र (निधनम्) निधन है। इससे समुद्र में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये ॥१॥

विशेषार्थ—समस्त नद, नदी, तड़ाग, वापी, कूप आदि जलों में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ इस पाँच प्रकारके साम की उपासना करे। अर्थात् ऋत्वङ्गभूत साममें अनङ्ग जल दृष्टि करनी चाहिये। जो बादल घटा रूपमें घनीभूत होकर इधर उधर दौड़ता है वह हिंकार है। इससे घटारूप में घनीभूत इधर उधर दौड़ने वाले बादल में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। जो बरसता है वह प्रस्ताव है। इससे जो बरसता है उसमें प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। जो जल पूर्व की ओर बहता है वह उद्गीथ है। इससे पूर्व की ओर बहते हुए जल में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और जो जल पश्चिम की ओर बहताहै वह प्रतिहार है। इससे पश्चिम की ओर बहते हुये जल में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। समुद्र निधन है। इससे समुद्र में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। समुद्र के विषय में लिखा है —

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति ॥ (गी० २।७०) सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में नदनदियों के जल उस समुद्र में कुछ भी क्षोभ पैदा न करके समा जाते हैं ॥ ७० ॥ यहाँ जल में पञ्चविध साम की उपासना वर्णित की गई है ॥ १ ॥।

न हाप्सु प्रैति । अप्सुमान्भवति । य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (सर्वासु) सब नद, नदी, तालाब, वापी, कूप आदि (अप्सु) जलों में (एतत्) इस (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकारके (साम) साम की (उपास्ते) उपासना करता है (ह) तो प्रसिद्ध वह उपासक (अप्सु) जलों में (न) नही (प्रैति) मरता है और (अप्सुमान्) प्रचुर जल सम्पन्न (भवति) हो जाता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब समस्त जल में पांच प्रकार की सामोपासना जो विहित है उसके फल को श्रुति कहती है कि—जो उपासक इस प्रकार जानता हुआ समस्त नद, नदी, तालाब, वापी, कूप आदिक जलों में इस हिंकार १,प्रस्ताव २, उद्गीथ ३,प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है वह निश्चय करके जलमें नहीं मरता है। और प्रचुर जल सम्पन्न वह भक्त हो जाता है। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का चौथा खण्ड समात्प हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत । वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्॥१॥

अन्वयार्थ—(ऋतुषु) वसन्त आदिक ऋतुओं में (पञ्चविधम् हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ इन पाँच प्रकार के (साम) सामकी (उपासीत) उपासना करे अर्थात् ऋत्वङ्गभूत साममें अनङ्ग ऋतु दृष्टि करनी चाहिये (वसन्तः) वसन्त ऋतु (हिंकारः) हिंकार है। इससे वसन्त ऋतुमें हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु (प्रस्तावः) प्रस्तावहै। इससे ग्रीष्म ऋतुमें प्रस्ताव दृष्टि करके

उपासना करनी चाहिये तथा (वर्षा) वर्षा ऋतु (उद्गीथः) उद्गीथ है। इससे वर्षा ऋतु में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (शरत्) शरद् ऋतु (प्रतिहारः) प्रतिहार है। इससे शरद् ऋतु में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। (हेमन्तः) हेमन्त ऋतु (निधनम्) निधन है। इससे हेमन्त ऋतु में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये ।। १ ।।

विशेषार्थ—वसन्त आदि ऋतुओं में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४, और निधन ५ इस पाँच प्रकार की सामोपासना करे। अर्थात् ऋत्वङ्गभूत साम में अनङ्ग ऋतु दृष्टि करनी चाहिये। चैत्र और वेशाख मास को वसन्तऋतु कहते हैं। वसन्तऋतु हिंकार है। इससे वसंत ऋतु में हिंकारदृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। ज्येष्ठ और आषाढ़ मास को ग्रीष्मऋतु कहते हैं। ग्रीष्मऋतु प्रस्ताव है। इससे ग्रीष्मऋतु में प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। श्रावण और भाद्रपद मास को वर्षाऋतु कहते हैं। वर्षाऋतु उद्गीथ है। इससे वर्षाऋतु में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। आश्विन और कार्तिक मास को शरद्ऋतु कहते हैं। शरद्ऋतु प्रतिहार है। इससे शरद्ऋतु में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। अगहन और पूष मास को हेमन्त ऋतु कहते हैं। हेमन्तऋतु निधन है। इससे हेमन्तऋतु में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये ।। १ ।।

कल्पन्ते हास्मा ऋतवः। ऋतुमान्भवति। य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधं सामोपास्ते ।।२।।

।। इति द्वितीयप्रपाठके पञ्चमखण्डः ।।

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (ऋतुषु) वसन्त आदिक ऋतुओं में (एतत्) इस (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकार के (साम) सामकी (उपास्ते) उपासना करता है तो (ह) प्रसिद्ध (अस्मै) इस उपासक के लिये-(ऋतवः) वसन्त आदिक ऋतु सब (कल्पन्ते) भोग्य-निष्पादन समर्थ हो जाते हैं और (ऋतुमान्) वह उपासक ऋतुफल भोगशाली (भवति) होता है ।। २ ।।

विशेषार्थ—अब ऋतु में पाँच प्रकार की सामोपासना के फल को

श्रुति कहती है कि – जो उपासक इस प्रकार जानता हुआ वसन्तादिक ऋतुओं में इस हिंकार १, प्रस्ताव २ उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है। उस उपासक के लिये निश्चय करके वसन्त आदिक ऋतु सब भोग्य निष्पादन समर्थ हो जाते हैं और वह उपासक वसन्तादि ऋतु फल भोगशाली हो जाता है अर्थात् ऋतु सम्बन्धी भोगों से प्रचुर सम्पन्न हो जाता है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का पाँचवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।२।।

।। अथ षष्ठखण्डः ।।

पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत । अजाः हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ।।१।।

अन्वयार्थ—(पशुषु) पशुओं में (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २ उद्गीथ ३, प्रतिहार ४. और निधन ५ इस पाँच प्रकार के (साम) साम की (उपासीत) उपासना करे। अर्थात् ऋत्वङ्गभूत साम में अनङ्ग पशु दृष्टि करनी चाहिये (अजाः) बकरे (हिंकारः) हिंकार हैं इससे बकरे में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (अवयः) भेड़ (प्रस्तावः) प्रस्ताव है। इससे भेड़ों में प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (गावः) गायें (उद्गीथः) उद्गीथ हैं। इससे गायों में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (अश्वाः) घोड़ (प्रतिहारः) प्रतिहार हैं। इससे घोड़ों में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (पुरुषः) पुरुष (निधनम्) निधन है। इससे पुरुष में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये ।। १ ।।

विशेषार्थ – पशुओं में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ इस पाँच प्रकार के साम की उपासना करे। बकरे हिंकार हैं। इससे बकरों में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। और भेड़ प्रस्ताव हैं। इससे भेड़ोंमें प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। गायें उथ्गीथ हैं। इससे गायों में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। गा का लक्षण लिखा है— **विषाणी ककुद्मान्प्रान्ते बालधिस्सास्नावानिति (गोत्वे दृष्टं लिङ्गम्)** वैशे०अ०२आह्नि०१

सू० ८) सौंग डील प्रान्त में बालाधि और गर्दन में ललरी जिसको हो उसको गौ कहते हैं ।।८।। घोड़े प्रतिहार हैं। इससे घोड़ों में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। पुरुष निधन है। इससे पुरुष में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। पशु के विषय में लिखा है- **सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः** (श्रुति) सात ग्राम में होने वाले और सात वन में होनेवाले पशु प्रसिद्ध हैं। **गौरजाः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः। एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥** (विष्णुपु० अंश० १ अ० ५ श्लो० ५१)**श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षिपञ्चमाः। औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः ॥ ५२ ॥** गौ १, बकरा २, पुरुष ३, भेड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६ और गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझसे जान लो ।। ५१ ।। कुक्कुर १, दोखुर वाले हरिण २, हाथी ३, वानर ४, पक्षी ५, औदक जीव ६ और सरीसृप ७ ये सात वन में होने वाले पशु हैं ।। ५२ ।। प्रकृत श्रुति में ग्राम्य पशुओं को प्रतिपादित किया गया है ।। १ ।।

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति। य एतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ ५२ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (पशुषु) पशुओं में (एतत्) इस (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकार के (साम) साम की (उपास्ते) उपासना करता है तो (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक के (पशवः) प्रशस्त पशु (भवन्ति) प्राप्त होते हैं ओर (पशुमान्) वह उपासक प्रशस्त प्रचुर पशुवाला (भवति) होता है अथवा पशुफल भोगशाली होता है ।। २ ।।

विशेषार्थ अब पशु में पाँच प्रकार के साम की उपासना करने के फल को श्रुति कहती है कि-जो उपासक इस प्रकार जानता हुआ पशुओं में इस हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४, और निधन ५ पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है। उसे प्रशस्त पशु अवश्य

प्राप्त होते हैं और वह उपासक प्रशस्त प्रचुर पशुवाला या पशुफलभोगशाली हो जाता है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का छटवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । प्राणो हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम् । परोवरीयांसि वा एतानि ॥१॥

अन्वयार्थ—(प्राणेषु) प्राणों में (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार४ और निधन ५ इस पाँच प्रकार के (परोवरीयः) उत्तरोत्तर उत्कृष्ट श्रेष्ठ गुणविशिष्ट (साम) साम की (उपासीत) उपासना करे अर्थात् परोवरीयस्त्व गुण विशिष्ट प्राण दृष्टि करके साम की उपासना करनी चाहिये। (प्राणः) प्राण (हिंकारः)हिंकार है। इससे प्राण में हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। और (वाक्) वाणी (प्रस्तावः)प्रस्ताव है। इससे वाणीमें प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा(चक्षुः)नेत्र(उद्गीथः)उद्गीथ है इससे नेत्र में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (श्रोत्रम्) कान (प्रतिहारः) प्रतिहार है। इससे श्रोत्र में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। तथा (मनः) मन (निधनम्) निधन है। इससे मन में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। (वै) निश्चय करके (एतानि) ये प्राण आदिक (परोवरीयांसि) उत्तरोत्तरउत्कृष्ट श्रेष्ठ गुण विशिष्ट हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—प्राणों में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३,प्रतिहार ४ और निधन ५ इस पाँच प्रकार के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुण विशिष्ट साम की उपासना करे। अर्थात् परोबरीयस्त्वगुण विशिष्ट प्राण दृष्टि करके साम की उपासना करनी चाहिये। प्राण हिंकार है। इससे प्राणमें हिंकार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। वाणी प्रस्ताव है। इससे वाणी में प्रस्ताव दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। नेत्र उद्गीथ है। इससे नेत्र में उद्गीथ दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। श्रोत्र प्रतिहार है। इससे श्रोत्र में प्रतिहार दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। मन निधन है। इससे मन में निधन दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये।

निश्चय करके ये प्राणादिक वा ये उपासनाएँ उत्तरोत्तर उत्कृष्ट श्रेष्ठ गुण विशिष्ट हैं ॥ १ ॥

परोवरीयो हास्य भवति । परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति । य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्ते इति तु पञ्चविधस्य ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके सप्तमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्)जानता हुआ (प्राणेषु) प्राणों में (एतत्) इस (पञ्चविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २ उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकार के (परोवरीयः) उत्तरोत्तर उत्कृष्ट श्रेष्ठ गुण विशिष्ट (साम) साम की (उपास्ते)उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक के (परोवरीयः) जीवन सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ (भवति) होता है और (ह) प्रसिद्ध (परोवरीयसः) उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर श्रेष्ठ (लोकान्) लोकों को (जयति) वह जीत लेता है (इति) यह (तु) तो (पञ्चविधस्य) पाँच प्रकार की सामोपासना का वर्णन समाप्त हो गया ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब प्राण में पाँच प्रकार के साम की उपासना करने के फल को श्रुति कहती है कि-जो इसे इस प्रकार जानता हुआ उपासक प्राणों में हिंकार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ पाँच प्रकार के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट श्रेष्ठ गुण विशिष्ठ साम की उपासना करता है उसका जीवन निश्चय करके उत्तरोत्तर सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ हो जाता है और वह उपासक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकोंको जीत लेता है। लोक के विषयमें लिखा है-"**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्** (मनु० अ० १२ श्लो० ९७) चार वर्ण तीन लोक और चार आश्रम वेद-पुरूष से पृथक् पृथक् प्रसिद्ध हुए हैं ॥ ९७ ॥ यहाँ पाँच प्रकार की सामोपासना का वर्णन समाप्त हो गया। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथाष्टमखण्डः ॥

अथ सप्तविधस्य । वाचि सप्तविधं सामोपासीत । यत्किञ्च वाचो हिमिति स हिंकारः । यत्प्रेति स प्रस्तावो

यदेति स आदिः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) पाँच प्रकार के साम की उपासना निरूपण करने के अनन्तर (सप्तविधस्य) सात प्रकार के साम की उपासना का ब्याख्यान किया जाता है (वाचि) वाणी में (सप्तविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४, प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इससात प्रकार के (साम) साम की (उपासीत)उपासना करे अर्थात् सात प्रकार के साम में शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये (वाचः)शब्द के अवयवभूत (यत्) जो (किञ्च) कुछ भी (हिम्) हिम् (इति)ऐसा शब्द है (सः) वह (हिंकारः) हिंकार है। इससे हिंकार में हिं शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (यत्) जो (प्र) प्र (इति) ऐसा शब्द है (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है। इससे प्रस्ताव में 'प्र' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (यत्) जो (अ) अ (इति) ऐसा शब्द है (सः) वह (आदिः) सब का कारणभूत ओंकार है। इससे ओंकार में अ शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये ॥ १ ॥

विशेषार्थ–पाँच प्रकार के साम की उपासना निरूपण करने के बाद अब सात प्रकार के साम की उपासना का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है। शब्द में हिंकार१, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४, प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इन सात प्रकार के साम की उपासना करे। अर्थात् सात प्रकार के साममें शब्द दृष्टिकरके उपासना करनी चाहिये। शब्द के अवयवभूत जो 'हिं' ऐसा शब्द है वह हिंकार है। इससे हिंकार में 'हिं' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और जो 'प्र' ऐसा शब्द है वही प्रस्ताव है। इससे प्रस्ताव में 'प्र' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा जो 'अ' ऐसा शब्द है वह सब-का आदि ओंकार है। इससे ओंकार में 'अ' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। प्रणव आदि में प्रयुक्त हुआ है, अतः आदि है, क्योंकि लिखा है— **ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तम्** ॥ (अथर्वशिखो० श्रु० १) ओम् यह अक्षर सृष्टि के आदि में प्रयुक्त हुआ ॥ १ ॥ **आदिश्च भवति** ॥ (माण्डूक्यो० खं० ३ श्रु० २) और वह आदि यानी सबका प्रथान कारण होता है ॥ २ ॥ इससे आदि है ॥ १॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारः । यदुपेति

स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(यद् जो (उत्) उत् (इति) ऐसा शब्द है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है। इससे उद्गीथमें उत् शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (यत्) जो (प्रति) प्रति (इति) ऐसा शब्द है (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है। इससे प्रतिहार में प्रति शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा (यत्) जो (उप) उप (इति) ऐसा शब्द है (सः) वह (उपद्रवः) उपद्रव है। इससे उपद्रव में उप शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और (यत्) जो (नि) नि (इति) ऐसा शब्द है (तत्) वह (निधनम्) निधन है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जो 'उत्' ऐसा शब्द है वह उद्गीथ है। इससे उद्गीथ में 'उत्' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये और जो 'प्रति' ऐसा शब्द है वह प्रतिहार है। इससे प्रतिहार में 'प्रति' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये तथा जो उप ऐसा शब्द है वह उपद्रव है। इससे उपद्रव में उप' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। जो 'नि' ऐसा शब्द है वह निधन है। इससे निधन में 'नि' शब्द दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार वाणी में सात प्रकार के साम की उपासना है। ॥ २ ॥

दुग्धेऽस्मैवाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति। य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविधं सामोपास्ते ॥३॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठकेऽष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इसप्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (वाचि) वाणी में (एतत्) इस (सप्तविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४, प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इस सात प्रकार के (साम) साम को (उपास्ते) उपासना करता है तो (अस्मै) इस उपासक के लिये (वाक्) वाणी स्वयं (दोहम्) दूध को (यः) जो (वाचः) वाणी का [दोहः] दूध है [दुग्धे] उसे दुहती है। अर्थात् उपास्यमान वाणी वाक् साध्य फल को उस उपासक के लिये दे देती है और वह उपासक [अन्नवान्] बहुत अन्नवाला तथा [अन्नादः] अच्छे प्रकार भोजन करने वाला दीप्ताग्नि [भवति] होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ – अब वाणी में सात प्रकार की साम की उपासना करने के फल को श्रुति प्रतिपादित करती है—जो उपासक इस प्रकार जानता हुआ वाणी में हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४, प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इस सात प्रकार के साम को उपासना करता है तो उस उपासक के लिए जो वाणी का दूध है उसको स्वय वाणी दुहती है अर्थात् उपास्यमान वाणी वाक् साध्य फल को उस उपासक के लिये स्वयं देती है और वह उपासक प्रचुर अन्न से सम्पन्न तथा अन्न का भोक्ता दीप्ताग्नि हो जाता है। प्रकृत श्रुति का पूर्वार्ध 'छान्दोग्यपनिषद्' के प्रथम प्रपाठक के तीसरे खण्ड के सातवें मन्त्र में और तेरहवें खण्ड के चौथे मन्त्र में भी पठित है। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ नवमखण्डः ॥

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत। सर्वदा समस्तेन साम। मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब (खलु) निश्चय करके (अमुम्) इस (आदित्यम्) सूर्य की दृष्टि से (सप्तविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४, प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इस सात प्रकार के (साम) साम की (उपासीत) उपासना करे। अर्थात् सात प्रकार के गेय साम में आदित्य दृष्टि करनी चाहिये। वह आदित्य (सर्वदा) सदैव (समः) वृद्धि क्षय रहित सम परिमाण है (तेन) इस कारण से (साम) साम है और (माम्) मेरे (प्रति) प्रति (माम्) मेरे (प्रति) प्रति अभिमुख सूर्य वर्तमान है (इति) ऐसी प्रतीति होने से (सर्वेण) वह आदित्य सबके साथ (समः) सम है (तेन) इस कारण से (साम) साम है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—वाणी में सात प्रकार के साम की उपासना कहने के अनन्तर अब निश्चय ही इस आदित्य की दृष्टि से हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४ प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इस सात प्रकार के साम की उपासना करे। अर्थात् सात प्रकार के गेय साम में आदित्य दृष्टि करनी चाहिये। वह आदित्य सर्वदा वृद्धि क्षय रहित सम परिमाण है। इसलिए साम है और मेरे प्रति मेरे प्रति अभिमुख सूर्य

वर्तमान है। ऐसा ही सब लोगों की प्रतीति होने से वह आदित्य सब के साथ सम है इसलिए साम है ॥ १ ॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीतिविद्यात् । तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्ता-स्तस्मात्ते हिं कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥२॥

अन्वयार्थ—(तस्मिन्) उस आदित्य में (इमानि) ये (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (अन्वायत्तानि) अनुगत अधीन हैं (इति) ऐसा (विद्यात्)उपासक जाने। अर्थात् सब प्राणियों के उपजीव्यरूप से आदित्य की उपासना करे (तस्य) उस सूर्य के (उदयात्) उदय से (पुरा) पहले (यत्) जो रूप है (सः) वह (हिंकारः) हिंकार है। इससे हिंकार में तद्रूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये (अस्य) इस सूर्य के (तत्) उस हिंकार रूप को (पशवः) पशु सब (अन्वायत्ताः) अनुगत–आश्रय लेते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) सामरूप आदित्य के (हिंकारभा-जिनः)हिंकार लक्षणरूप को सेवन करने वाले पशु हैं (तस्मात्)इस कारण से (ते) वे पशु (हिं) हिं ऐसा शब्द (कुर्वन्ति) उषाकाल में करते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—उस सूर्य में ये समस्त अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, स्थावर प्राणी अनुगत—अधीन हैं इस प्रकार का उपासक जाने अर्थात् सब प्राणियों के उपजीव्यरूप से सूर्य की उपासना करे। प्राणियों के विषय में लिखा है—**चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि च** (एतरेयोप० अ० ३ खं० १ श्रु० ३) अण्डे से उत्पन्न होनेवाले और जेर से उत्पन्न होने वाले तथा पसीने से उत्पन्न होने वाले और जमीन फोड़ कर उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ॥३॥ **अण्डजा पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः। यानि चैव प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४४) पक्षी, साँप, नक्र, मछली, कच्छप और इसी प्रकार स्थल में होने वाले कृकलास आदिक और उदक में उत्पन्न होने वाले शङ्ख आदिक ये सब अण्डे से उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ॥ ४४ ॥ **पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४३) पशु, मृग और नीचे दाँत वाले व्याल तथा राक्षस और पिशाच तथा मनुष्य ये जेर से

उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ।। ४३ ।। **स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् । ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्** (मनु० अ० १ श्लो० ४५) डंस, मच्छर, जोंक, मक्खी, खटमल और इसी प्रकार पिपीलिका आदिक हैं ये सब पसीने से उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ।। ४५ ।। **उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।।** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) स्थावर के सब प्राणी दो प्रकार के होते हैं एक बीज से और दूसरे शाखा से उत्पन्न होते हैं, ये सब जमीन फोड़कर उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ।। ४६ ।। उस सूर्य का उदय से पहले जो रूप है वह हिंकार है । इससे हिंकार में तद्रूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये । इस सूर्य का जो हिंकार रूप है उसके पशु अनुगत—अधीन आश्रय लेते हैं । क्योंकि इस साम रूप सूर्य के हिंकार लक्षण रूप को सेवन करने वाले पशु हैं । इसी कारण से वे पशु "हिं" ऐसा शब्द उषा काल में करते हैं । सूर्योदय से पूर्वकाल के विषय में लिखा है- **पञ्च पञ्च उषः कालः सप्तसप्तारुणोदयः । अष्ट पञ्च भवेत्प्रातस्ततः सूर्योदयः स्मृतः ।। रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहुर्तो यस्तृतीयकः । स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने** (विष्णुपु०) सूर्योदय से पहले पचपन घड़ी उषाकाल और सन्तावन घड़ी पहले अरुणोदय काल तथा अण्ठावन घड़ी पहले प्रातःकाल कहा गया है इसके बाद सूर्योदय काल कहा गया है । रात्रि के पिछले पहर का तीसरा हिस्सा ब्राह्म मुहूर्त कहा गया है । इसलिये ब्राह्म मुहूर्त जागने के लिये विहित है ।। इससे सूर्योदय से पहले उषाकाल में पशु प्रायः अपनी बोली बोला करते हैं अर्थात् हिंकार के अनुष्ठाता पशु हैं ।। २ ।।

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्ताव स्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।३।।

अन्वयार्थ—(अथ) हिंकार के वर्णन के अनन्तर प्रस्ताव का वर्णन प्रारम्भ होता है (प्रथमोदिते) सूर्य के प्रथमोदय में (यत्) जो रूप है (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है (अस्य) इस सूर्य के (तत्) उस रूप को (मनुष्याः) मनुष्य सब (अन्वायत्ताः) अनुगत—आश्रय लेते हैं (तस्मात्) इस कारण

से (ते) वे मनुष्य (प्रस्तुतिकामाः) विशेष स्तुति की इच्छा वाले होते हैं और (प्रशंसाकामाः) प्रशंसा की इच्छा वाले होते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) साम रूप आदित्य के (प्रस्तावभाजिनः) प्रस्ताव लक्षण रूप को सेवन करने वाले मनुष्य हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ--हिंकार भक्ति के वर्णन के अनन्तर अब प्रस्ताव के प्रसङ्ग का आरम्भ होता है—सूर्य के पहले पहल उदय होने पर जो रूप होता है वह प्रस्ताव है। इससे प्रस्ताव में प्रथमोदय कालावच्छिन्न सूर्यरूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस सूर्य के उस प्रस्ताव लक्षण रूप को सब मनुष्य अनुगामी हैं। इसलिये वे मनुष्य विशेष स्तुति और प्रशंसा की इच्छा वाले होते हैं। क्योंकि वे मनुष्य इस सामरूप आदित्य की प्रस्ताव भक्ति का सेवन करने वाले हैं। अर्थात् प्रस्ताव के अनुष्ठाता मनुष्य हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्सङ्गववेलायां स आदि स्तदस्य वयांस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बाणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) प्रस्ताव भक्ति के वर्णन के अनन्तर (सङ्गववेलायाम्) सूर्य की किरणों के निकलने के समय में (यत्) जो सूर्य का रूप है (सः) वह (आदिः) ओंकार—आदि है (वयांसि) पक्षिगण (अस्य) इस सूर्य के (तत्) उस रूप को (अन्वायत्तानि) अनुगत—अधीन हैं (तस्मात्) इस कारण से (तानि) वे पक्षिगण (अनारम्बणानि) बिना सहारे के (आत्मानम्) अपने को (आदाय) आलम्बन लेकर (अन्तरिक्षे) आकाश में (परिपतन्ति) चारों तरफ उड़ते रहते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) साम रूप सूर्य के (आदिभाजीनि) आदि नामक ओंकार को सेवन करने वाले पक्षिगण हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—प्रस्ताव भक्ति के वर्णन के अनन्तर अब आदि यानी ओंकार के प्रसङ्ग का आरम्भ होता है। सब मन्त्रों के आदि में प्रणव का प्रयोग होने से ओंकार का ही 'आदि' नाम है क्योंकि लिखा है कि— **प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत** ॥ (याज्ञवल्क्यशिक्षा० अ० १ श्लो० २१) पहले सब मन्त्रों के आदि में ओंकार का प्रयोग करे ॥ २१ ॥ **ब्रह्मणः प्रणवं**

कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।।(मनु० अ०२ श्लो० ७४) सर्वदा वेदाध्ययन के प्रारम्भ में ओंकार और समाप्ति में ओंकार का उच्चारण करे ।।७४।। **तस्मादोमित्युदाहृत्य** (गी० अ० १७ श्लो० २४) इसलिये 'ओम्' ऐसा कहकर वेदपाठियों का सब कर्म होता है ।।२४।। जिस वेला में सूर्य की किरणें चारों ओर फैलने लगती हैं उस समय को संगव वेला कहते हैं। सूर्य की किरणों के निकलने के समय में अर्थात् सूर्योदय के तीन मुहूर्त पश्चात् काल में सूर्य का जो रूप रहता है वही आदित्य यानी ओंकार है। इससे ओंकार में संगव कालावच्छिन्न सूर्य रूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस सूर्य के उस ओंकार लक्षण रूप को अनुगत आश्रयण करने वाले पक्षिगण हैं। इसलिए वे पक्षिगण बिना सहारे के अपने को आलम्बन लेकर आकाश में चारों तरफ उड़ते रहते हैं। क्योंकि इस साम रूप सूर्य के आदि नामक ओंकार का भजन करने वाले पक्षिगण ही हैं। सूर्योदय के तीन मुहूर्त पश्चात् काल में पक्षी गर्म होकर इधर उधर उड़ने लगता है अर्थात् आदि—ओंकार के अनुष्ठाता पक्षी हैं ।।४।।

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उदगीथस्तदस्य देवा अन्वायत्ता स्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथ-भाजिनो ह्येतस्य साम्नः ।।५।।

अन्वयार्थ—(अथ) ओंकार भक्ति के वर्णन के अनन्तर (संप्रति) अब (मध्यन्दिने) ऋजु मध्याह्न समय में (यत्) जो सूर्य का रूप है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है (अस्य) इस सूर्य के (तत्)उस रूप को (अन्वा-यत्ताः) अनुगत आश्रयण करने वाले (देवाः) इन्द्र आदिक देवता लोग हैं (तस्मात्) इस कारण से (ते) वे देवता लोग (प्राजापत्यानाम्) प्रजापति की सन्तानों में (सत्तमाः) उत्तम हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) साम रूप सूर्य के (उद्गीथभाजिनः) उद्गीथ का सेवन करने वाले देवता लोग हैं ।।५।।

वियेषार्थ—ओंकार भक्ति के वर्णन के अनन्तर अब उद्गीथ का वर्णन किया जाता है—ऋजु मध्याह्न काल में जो सूर्य का रूप है वही उद्गीथ है। इससे उद्गीथमें मध्याह्न कालावच्छिन्न सूर्य रूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस सूर्य के उस उद्गीथ लक्षण रूप को अनु-

गत आश्रयण करने वाले देवता लोग हैं। इसीसे वे देवता लोग प्रजापति से उत्पन्न हुए प्राणियों में सर्व श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे देवता लोग इस साम रूप सूर्य की उद्गीथ भक्ति के भागी हैं। यहाँ पर मनुष्य से अलग देवता योनि को करुणामयी श्रुति माता ने बतला कर देवयोनि की सत्ता स्वतः सिद्ध किया है। और भी देवयोनि के विषय में लिखा है—**अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥**(यजु० अ० १४ मं० २२) अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्य देव, उञ्चास मरुत् देव, दस विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव हैं ॥२०॥ **त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। बृहस्पतिपुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा ॥** (यजु०अ० २० मं० ११) श्रेष्ठ धन वाले ब्रह्मादिक तीन देव, ग्यारह रुद्रदेव, तैंतीस देव पुरोहित बृहस्पति देव प्रभृति सब देव नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥ ११ ॥ **त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। औक्षन्घृतैरास्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥** (यजु० अ० ३३ मं० ७) तीन हजार तीन सौ उन्तालिस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं। उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा को आच्छादन करते हुए होता को होतृ कर्म में नियुक्त किया ॥ ७ ॥ अथवा **"त्रीणि शतानि?"** ३०० तीन सौ **"त्रीणि सहस्राणि"**३००० तीन सहस्र गुणित अर्थात् ९०००० और **"त्रिंशत् नव च"** उन्तालीस ९०००३९ अर्थात् नौ लाख उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं ॥ ७ ॥ अथवा—**नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः। ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शक्तीनां वर्णभेदतः ॥** (आगम) इस आगम प्रमाण से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की शक्ति रूप से तीन के अङ्क बायें से दाहिने नौ जगह लिखे और जितना संख्या में हो उतना ही देवता समझना चाहिये जैसे कि ३३३३३३३३३ तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस देवता होते हैं ॥ ७ ॥ देवता के विषय में जिसको अधिक जानना

हो वह मेरी बनायी हुई "पुरुषसूक्त" की "मर्मबोधिनी" टीका को देख ले। ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ अधिक नहीं लिखता हूँ। उद्गीथ के अनुष्ठाता तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस देवता हैं ॥ ५ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहार स्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥६॥

अन्वयार्थ—(अथ) उद्गीथ के वर्णन के अनन्तर (मध्यन्दिनात्) मध्याह्नकाल से (ऊर्ध्वम्) पश्चात् और (अपराह्णात्) अपराह्न से (प्राक्) पहले (यत्) जो सूर्य का रूप है (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है (अस्य) इस सूर्य के (तत्) उस रूप को (अन्वायत्ताः) अनुगत आश्रयण करने वाले (गर्भाः) स्त्री आदिक के गर्भ हैं (तस्मात्) इस कारण से (ते) वे गर्भ (प्रतिहृताः) योनि से ऊपर की ओर आकृष्ट किये जाने पर (न) नहीं (अवपद्यन्ते) नीचे गिरते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) सामरूप सूर्य के (प्रतिहारभाजिनः) प्रतिहार का सेवन करने वाले वे गर्भ ही हैं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—उद्गीथ भक्ति के वर्णन के अनन्तर अब प्रतिहार का वर्णन किया जाता है-मध्याह्नकाल से आगे और अपराह्नकाल से पहले जो सूर्य का रूप है वह प्रतिहार है। इससे प्रतिहार में तद्रूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस सूर्य के उस प्रतिहार लक्षण रूपको अनुगत आश्रयण करने वाले स्त्री आदिक के गर्भ हैं। इसी से वे गर्भ योनि से ऊपर की ओर आकृष्ट किये जाने पर द्वार पर रहते हुए भी नीचे नहीं गिरते हैं। क्योंकि इस साम रूप सूर्य के प्रतिहार का सेवन करने वाले वे गर्भ ही हैं। मध्याह्न के बाद और तीसरे पहर से पहले के समय में स्त्रियों को जो गर्भवती हैं सूर्य के प्रकाश में बैठकर समस्त शरीर और जहाँ गर्भ होता है वहाँ विशेषकर सूर्य की किरणों के लेने से गर्भ सुरक्षित रहता है। प्रतिहार के अनुष्ठाता गर्भ ही हैं।

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्सउपद्रव स्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं श्वभ्रमित्युपद्रव-

न्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥७॥

अन्वयार्थ—(अथ) प्रतिहार भक्ति के वर्णन के अनन्तर उपद्रव भक्ति का वर्णन प्रारम्भ होता है (अपराह्णात्) अपराह्ण काल के (ऊर्ध्वम्) बाद और (अस्तमयात्) सूर्यास्त होने से (प्राक्) पहले (यत्) जो सूर्य का रूप है (सः) वह (उपद्रवः) उपद्रव है (अस्य) इस सूर्य के (तत्) उस रूप को (अन्वायत्ताः) अनुगत आश्रयण करने वाले (आरण्याः) जंगली पशु हैं (तस्मात्) इस कारण से (ते) वे जंगली पशु (पुरुषम्) मनुष्य को (दृष्ट्वा) देखकर भय से (कक्षम्) वन को या (श्वभ्रम) अपनी गुफा को (इति) ऐसे ही (उपद्रवन्ति) भाग जाते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) सामरूप सूर्य के (उपद्रवभाजिनः) उपद्रव भक्ति का सेवन करने वाले वे जंगली पशु ही हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—प्रतिहार भक्ति के वर्णन के अनन्तर उपद्रव भक्ति का वर्णन प्रारम्भ होता है—अपराह्ण काल के बाद और सूर्यास्त होने से पहले जो सूर्य का रूप है वह ऊपद्रव है। इससे उपद्रव में तद्रूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस सूर्य के उस उपद्रव लक्षण रूप को अनुगत आश्रयण करने वाले वन्य पशु हैं। इसीसे वे जंगली पशु पुरुष को देखकर भयवश वन अथवा अपनी गुफा में भाग जाते हैं। क्योंकि इस साम रूप सूर्य के उपद्रव भक्ति का सेवन करने वाले वन्य पशु ही हैं। अर्थात् उपद्रव के अनुष्ठाता जङ्गली पशु हैं ॥ ७ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्ता स्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते ॥८॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठकेनवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) उपद्रव भक्ति के वर्णन के अनन्तर निधन भक्ति का वर्णन प्रारम्भ होता है (प्रथमास्तमिते) सूर्यास्त होने से पहले पहले (यत्) जो सूर्य का रूप है (तत्) वह (निधनम्) निधन है (अस्य) इस सूर्य के (तत्) उस रूप को (अन्वायत्ताः) अनुगत आश्रयण करने वाले (पितरः) पितृगण हैं (तस्मात्) इस कारण से (तान्) उन पितरों को या पितरों के लिये पिण्डाओं को (निदधति) श्राद्धकर्त्ता लोग श्राद्धकाल में

दर्भ पर स्थापित करते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) सामरूप सूर्य के निधनभाजिनः) निधन भक्ति का सेवन करने वाले वे पितृगण हैं (एवम्) इस प्रकार (खलु) निश्चय करके (अमुम्) इस (आदित्यम्) सूर्य रूप (सप्तविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४, प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ नामक सात प्रकार के (साम) साम की (उपास्ते) जो उपासना करता है ॥८॥

विशेषार्थ अब उपद्रव भक्ति के वर्णन के बाद निधन भक्ति का वर्णन प्रारम्भ होता है—सूर्यास्त होने से पहले जो सूर्य का रूप है वह निधन है। इससे निधन में सूर्यास्त से पूर्वकालावच्छिन्न सूर्य रूप दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। इस सूर्य के उस निधन लक्षण रूप को अनुगत आश्रयण करने वाले पितृगण हैं। इस कारण से श्राद्ध करने वाले उन पितरों को अथवा पितरों के लिये पिण्डाओं को श्राद्ध काल में दर्भ पर स्थापित करते हैं। क्योंकि इस साम रूप सूर्य के निधन भक्ति का सेवन करने वाले वे पितृगण ही हैं। अब पूर्वोक्त उपासना का उपसंहार श्रुति कहती है कि-जो उपासक इस प्रकार निश्चय करके इस सूर्य रुप हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, उद्गीथ ४, प्रतिहार ५, उपद्रव ६ और निधन ७ नामक सात प्रकार के गेय साम की उपासना करता है। वह सूर्य के समस्त तत्वों को जान लेता है। माता, पिता से सहस्रगुण करुणामयी श्रुति ने यहाँ पर मनुष्य से अलग पितृगण को बतलाकर पितृगण की सत्ता को स्वतः सिद्ध किया है। और भी पितरों के विषयमें लिखा है **आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥** (यजु० अ० १९ मं० ५८) सोम के योग्य अग्नि द्वारा स्वादित हमारे पितर देवताओं के गमन योग्य मार्गों से आवें। इस यज्ञ में स्वधा के अन्न से प्रसन्न होते मानसिक उपदेश दें तथा वे हमारी रक्षा करें ॥५८॥ **ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेता यथा वशन्तन्वङ्कल्पयाति ॥**(यजु० अ० १९ मं० ६०) जो पितर विधि पूर्वक अग्निदाह से औध्वंदेहिक कर्म को प्राप्त हुये हैं और जो पितर श्मशान कर्म को प्राप्त न हुये और द्युलोक के मध्य में स्वधा के अन्न से प्रसन्न रहते हैं राजा यम उन पितरों के निमित्त इच्छानुसार इस मनुष्य

सम्बन्ध वाले प्राण युक्त शरीर को देता है ॥६०॥ **आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥** (यजु० अ० १९ मं० ६२) हे पितरो तुम वाम जांघ को सब प्रकार झुकाकर दक्षिण मुख कर बैठकर इस यज्ञ को अभिनन्दन करो। किसी अपराधके होने से हमपर मत क्रोध करो कारण कि चलचित्त होने से तुम्हारा अपराध हम भूल से कर जाते हैं ॥६२॥ **आसिनासो अरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जन्दधात ॥** (यजु० अ० १९ मं० ६३) हे पितरो अरुणवर्ण उनके आसनों अथवा सूर्या की किरणों के ऊपर या गोद में बैठे हुये तुम हवि के दाता यजमान में धन को धारण करो उसके पुत्रों के लिये धन दो, वे तुम इस यज्ञ में रस को स्थापित करो ॥६३॥ **ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥** (अथर्ववे० कां० १८ अ० २ मं० ३४) जो गाड़े गये, जो जल में छोड़ दिये गये, जो जला दिये गये, और जो स्वर्ग चले गये, हे अग्निदेव उन सब को हवि भोजन करने के लिये पितृ कर्म में बुलाओ ॥३४॥ **ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥** (अथर्व० कां० १८ अ० २ मं० ४९) जो हमारे पिता के पितर हैं जो हमारे बाबा हैं, जो बड़े पितृलोक में प्रवेश कर गये हैं जो पृथ्वी को और द्युलोक को व्याप्त कर रहे हैं उन पितरों के लिये नमस्कार विधान करते हैं ॥४९॥ **यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥** (अथर्व० कां० १८ अ० ३ मं० १) जो मनुष्यों में पहले मरा है जो इस लोक को पहले ले जाता है उस सुख के लिये जनों के संगमन करने वाले सूर्य पुत्र यमराज को हविष्य से सत्कार किया जाता है ॥१॥ **ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः। तेभ्यो घृतस्य कुल्यैस्तु मधुधारा व्युन्दती ॥**(अथर्व०कां० १८ अ०४ मं० ५७) और जो जीवित हैं तथा जो मर गये जो जन्मे हैं और जो यज्ञ

के कराने वाले हैं उन सब के निमित्त घी की टपकती मधुर धारा की नदी प्राप्त हो ॥५७॥ **अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवोन्मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिः ॥** (शतप० २।४।२।२) पितर अपसव्य हो बायीं जाँघ कर बैठे, प्रजापति ने कहा महीने महीने यज्ञ तुम्हारा अन्न मन के समान वेग और चन्द्रमा जयोति होगी ॥२॥ **तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः** (शतप० २।१।४।२।१) पितर निश्चय करके मनुष्यों से अलग हैं ॥१॥ **तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥** (अथर्व० कां० १८ अ० २ मं० ४८) सबसे ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्यादि के प्रखर प्रकाश वाला होने से प्रद्यौ कहाता है यहाँ पितरों का लोक है जिसमें पितर रहते हैं ॥४८॥ **य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि । प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥**(कठोप० अ० १ व० ३ श्रु०१७) जो पुरुष सर्वथा शुद्ध होकर इस अत्यन्त गोपनीय ज्ञान को ब्राह्मणों के समाज में या श्राद्ध के समय भोजन करने वाले ब्राह्मणों के समीप में सुनाता है तो वह श्राद्ध अनन्त फल देने को समर्थ होता है ॥१७॥ **ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः ॥** (तैत्तिरीयो० व० २ अनु० ८ श्रु० १) जो देवगन्धर्वों के सैकड़ों आनन्द हैं वह चिर लोकवासी पितरों का एक आनन्द है ॥१॥ **प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा । पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥** (मनु० अ० ३ श्लो० २७६) दहिने कंधे पर यज्ञोपवीत रख के आलस्य रहित होकर दर्भ हाथ में ले अपसव्य होकर यथा शास्त्र मरण से लेकर सब कर्म पितृ सम्बन्धी समाप्ति पर्यन्त करे ॥२७६॥ **पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥**(गी०१।४२) उनके कुल में पिण्डा और जलदान की क्रिया लुप्त हो जाने के कारण उनके पितरों का पतन हो जाता है॥४२॥ **पितॄणामर्यमा चास्मि॥**(गी०१०।२९)पितरों में अर्यमा नामक पितर मैं हूँ।२९। **ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः। पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह ॥** (वाल्मीकिरा० अयोध्याकां०२ सर्ग०१०३ श्लो०२८)**ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे।**

न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥२९॥ इदं भुंक्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् । यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥ फिर मन्दाकिनी के किनारे आकर तेजस्वी श्रीराम जी भाइयों सहित राजा दशरथ जी के पिण्ड क्रिया करते हुए ॥ २८ ॥ इंगुदी और बदर मिश्रित पिण्याक के पिण्ड कुशाओं पर रखकर श्रीराम जी दुःख से रोते यह वचन बोले ॥ २९ ॥ हे महाराज जो वस्तु हम भोजन करते हैं उसका ही आप प्रसन्न हो भोग लगाइये, क्योंकि जो अन्न पुरुष खाते हैं वही अन्न उनके देवता खाते हैं ॥३०॥ पुत्राणामार्यकाणां च पतीनां च कुरुस्त्रियः । उदकं चक्रिरे सर्वा रुदन्त्यो भृशदुःखिताः ॥ (महाभार० स्त्रीपर्व० अ०२७ श्लो०३) सुहृदां चापि धर्मज्ञाः प्रचक्रुः सलिलक्रियाः ॥४॥ अत्यन्त दुखित रोती हुई सब कौरवों की स्त्रियों ने अपने श्रेष्ठ पति के और पुत्रों के मरने पर तर्पण किया ॥३॥ और धर्मज्ञ लोगों ने अपने मित्रों के भी मरने पर सलिल क्रिया की है ॥ ४ ॥ ततोऽवगाह्य सलिलं सर्वे ते नरपुङ्गवाः । युयुत्सुमग्रतः कृत्वा ददुस्तोयं महात्मने ॥ (महाभार० आश्रमवासिकप० अ० ३९ श्लो० १२) गान्धार्याश्च पृथायाश्च विधिवन्नामगोत्रतः ॥ १३ ॥ वे नरपुङ्गव युधिष्ठिर आदिक ने जल में स्नान करके महात्मा के लिये युयुत्सु को आगे करके जलाञ्जलि दी ॥१२॥ और शास्त्र की विधि के अनुसार गान्धारी और पृथा के नाम तथा गोत्र को उच्चारण करते हुए जल से तर्पण किया ॥१३॥ द्वादशेऽह्नि तेभ्यः स कृतशौचो नराधिपः । ददौ श्राद्धानि विधिवत् दक्षिणावन्ति पाण्डवः ॥ (महाभार० आश्रमवासिकप० अ० ३९ श्लो०१६)धृतराष्ट्रं समुद्दिश्य ददौ स पृथिवीपतिः । सुवर्णं रजतं गाश्च शय्याश्च सुमहाधनाः ॥१७॥ उस युधिष्ठिर राजा ने एकादशाह शौच हो जाने पर बारहवें दिन स्नानादिक करके उन मृतक पुरुषों के लिये शास्त्र की विधि से दक्षिणायुक्त श्राद्ध की ॥१६॥ और धृतराष्ट्र के उद्देश्य से राजा युधिष्ठिर ने सोना, चान्दी, गौ, पृथ्वी और शय्या आदिक ब्राह्मणों के लिये दान दिया ॥ १७ ॥ ततो वज्रप्रधानास्ते वृष्णवन्धकुमारका । सर्वेचैवोदकं चक्रुः स्त्रियश्चैव महात्मनः ॥

(मौसलपर्व महाभारत अ० ७ श्लो० २७) सब के नाश हो जाने पर वृष्णि और अन्धक वंश के सुकुमार कुमार ने प्रधान वज्र आदिक और श्रीकृष्ण भगवान् की स्त्रियों ने भी मरे हुए पुरुषों के उद्देश्य से उदक क्रिया की है ॥२॥ **भ्रातृभिः सह धर्मात्मा कृत्वोदकमतन्द्रितः। श्राद्धान्युद्दिश्य सर्वेषां चकार विधिवत्तदा ॥** (महाभारत महाप्रास्थानिकप० अ० १ श्लो० ११) तन्द्रारहित धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ मरे हुये पुरुषों के उद्देश्य से उदक क्रिया करके वेदविधि के अनुसार श्राद्ध कर्म को किया ॥ ११ ॥ और पितृगण के विषय में लिखा है— **कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा। अग्निष्वात्ता बर्हिषदस्त्रयश्चान्त्या ह्यमूर्तयः ॥** (शिवपु० धर्म० अ० ६३ श्लो० २) कव्यवाह १, अनल २, सोम ३, यम ४, अर्यमा ५, अग्निष्वात्त ६, और बर्हिषद् ७ ये सात पितृगण हैं। इनमें अन्त के तीन अमूर्ति हैं ॥ २ ॥ मृतक श्राद्ध के विषय में जिसको अधिक जानने की इच्छा हो वह मेरे बनाये हुये "वैदिक श्राद्धदर्पण" ग्रन्थ का अवलोकन करे। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का नवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ९ ॥

॥ अथ दशमखण्डः ॥

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपासीत। हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) अध्यस्त आदित्यभाव सात प्रकार के साम की उपासना के उपदेश होने के अनन्तर अब (खलु) निश्चय करके (आत्मसंमितम्) आत्मा के तुल्य (अतिमृत्यु) अतिक्रान्त आदित्यके (सप्तविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, प्रतिहार ४, उद्गीथ ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इस सात प्रकार के (साम) साम की (उपासीत) उपासना करे (हिंकारः) हिंकार (इति) यह शब्द (त्र्यक्षरम्) तीन अक्षरों का है और (प्रस्तावः) प्रस्ताव (इति) यह शब्द (त्र्यक्षरम्) तीन अक्षरों का है इस प्रकार (तत्) वे दोनो (समम्) बराबर हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अध्यस्त आदित्यभाव सात प्रकार के साम की उपासना का वर्णन होने के बाद अब निश्चय करके आत्मतुल्य अतिक्रान्त

आदित्य के हिंकार १, प्रस्ताव २, आदि ३, प्रतिहार ४, उद्गीथ ५, उपद्रव ६ और निधन ७ इस सात प्रकार के साम की उपासना करे। इस श्रुति में मृत्यु शब्द से आदित्य कहा जाता है। क्योंकि आदित्य ही दिन रात्रि रूप काल के आवर्तन से सम्पूर्ण जगत् के विनाश का कारण है। यहाँ पर ऐसा समझना चाहिये कि गेय साम के 'हिंकार' आदिक जो सात प्रकार के भेद हैं। इन सातों में परिगणन करने से बाईस अक्षर हैं और आदित्य से— **द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः** (श्रुति) बारह मास, पाँच ऋतु, ये तीन लोक और एक यह आदित्य, ये सब मिलकर इक्कीस लक्षण हैं। इस प्रकार उपासक जाने। अब आगे 'हिंकार' आदि भक्तियों के अक्षर गिना कर दोनों को तुल्य श्रुति प्रतिपादन करती है कि—हिंकार यह शब्द 'हिं' 'का' 'र' इन तीन अक्षरों का है। और प्रस्ताव यह शब्द भी 'प्र' 'स्ता' 'व' इन तीन अक्षरों का है। इसलिये वे दोनों तुल्य हैं। इस श्रुति में 'हिंकार' और 'प्रस्ताव' को बराबर बतलाया गया है ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरम्। तत इहैकं तत्समम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(आदिः) आदि (इति) यह शब्द (द्व्यक्षरम्) दो अक्षरों का है और (प्रतिहारः) प्रतिहार (इति) यह शब्द (चतुरक्षरम्) चार अक्षरों का है (ततः) उस प्रतिहार शब्द से (एकम्) एक अक्षर लेकर (इह) इस आदि शब्द में जोड़ने से (तत्) वे दोनों (समम्) समान हो जाते हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—आदि यह शब्द 'आ' 'दि' इन दो अक्षरों का है। और प्रतिहार यह शब्द 'प्र' 'ति' 'हा' 'र' इन चार अक्षरों का है। उस चार अक्षर वाला प्रतिहार शब्द से एक अक्षर निकालकर आदि शब्द में मिलाने से दोनों के तीन तीन अक्षर हो जाने से वे दोनों बराबर हो जाते है ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरम्। त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(उद्गीथः) उद्गीथ (इति) यह शब्द (त्र्यक्षरम्) तीन

अक्षरों का है और (उपद्रवः) उपद्रव (इति) यह शब्द (चतुरक्षरम्) चार अक्षरों का हैं (त्रिभिः) तीन (त्रिभिः) तीन अक्षरों से (समम्) वे दोनों समान (भवति) हो जाते हैं (अक्षरम्) उपद्रव शब्द में एक अक्षर (अतिशिष्यते) बाकी रह जाता है (त्र्यक्षरम्) तीन अक्षरों से (तत्) वे (समम्) तुल्य हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—उद्गीथ यह शब्द 'उद्' 'गी' 'थ' इन तीन अक्षरों का है। उपद्रव यह शब्द 'उ' 'प' 'द्र' 'व' इन चार अक्षरों का है। वे दोनों तीन तीन अक्षरों से तो समान हैं किन्तु उपद्रव शब्द में एक अक्षर अवशेष रह जाता है। अन्य तीन अक्षरों से वे दोनों सम हैं ॥ ३ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति। तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥४॥

अन्वयार्थ—(निधनम्) निधन (इति) यह शब्द (त्र्यक्षरम्) तीन अक्षरों का है (तत्) वह (समम्) अन्य तीन अक्षर वाले शब्दों के बराबर (एव) निश्चय करके (भवति) होता है (ह) प्रसिद्ध है (वै) निश्चय करके (तानि) वे (एतानि) ये (द्वाविंशति) बाईस (अक्षराणि) अक्षर हैं ॥४॥

विशेषार्थ—निधन यह शब्द 'नि' 'ध' 'न' इन तीन अक्षरों का है। यह अन्य तीन तीन अक्षर वाले शब्दों के समान ही होता है। निश्चय करके प्रसिद्ध सातो भक्तियों में यही बाईस अक्षर हैं। यहाँ सातो भक्तियों का अक्षर परिगणन समाप्त हो गया ॥४॥

एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकविंशो वा इतोऽसावादित्यः। द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(एकविंशत्या) इक्कीस अक्षरों से (आदित्यम्) सूर्य सालोक्य को (आप्नोति) प्राप्त करता है (वै) निश्चय करके (इतः) यहाँ से (असौ) वह (आदित्यः) अदिति के पुत्र सूर्य (एकविंशः) इक्कीसवाँ है (द्वाविंशेन) बाइसवें अक्षर से (आदित्यात्) सूर्य से (परम्) परे (तत्) उस (नाकम्) दुःखहीन और (तत्) उस (विशोकम्) शोकरहित लोक को (जयति) प्राप्त करता है ॥५॥

विशेषार्थ—'हिं+का+र' 'प्र+स्ता+व' 'आ+दि' 'उद्+गी+थ' 'प्र+ति+हा+र' 'उ+प+द्र+व' 'नि+ध+न' इन इक्कीस अक्षरों

द्वारा उपासक आदित्य सालोक्य को प्राप्त करता है। निश्चय करके इस लोक से आदित्य इक्कीसवाँ है। क्योंकि लिखा है—**द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः** ॥(श्रुति) बैशाख १, ज्येष्ठ २, आषाढ़ ३, श्रावण ४, भाद्रपद ५, आश्विन ६, कार्तिक ७, अगहन ८, पूष ९, माघ १०, फाल्गुन ११, चैत्र १२ ये बारह मास और वसन्त १, ग्रीष्म २, वर्षा ३, शरद् ४, हेमन्त ५, ये पाँच ऋतु तथा पाताल १, मर्त्य २, स्वर्ग ३, ये तीन लोक और इक्कीसवाँ यह आदित्य है॥ इस श्रुति के प्रमाण से इक्कीसवाँ सूर्य सिद्ध होता है। और 'न' इस बाइसवें अक्षर द्वारा वह उपासक आदित्य से परे उस दुःखहीन एवं शोकरहित लोक त्रिपाद्विभूति को प्राप्त करता है। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है—**ते ह नाकं महिमानः सचन्त** ॥ (ऋग्वे० अष्टक० ८ मण्ड० १० सू० ९० सू० १६॥ यजु० अ० ३१ मं० १६॥ अथर्व० कां० ७ अनुवा० १ सू० ५ मं० १) वे उपासक महात्मा प्रसिद्ध नित्य निरतिशयानन्दैकतान स्वरूप वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं॥१६॥१६॥१॥ प्रकृत श्रुति में बाईसवें अक्षरके द्वारा वैकुण्ठलोक की प्राप्तिका प्रतिपादन किया गया है॥५॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयम्। परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति। य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं सामोपास्ते सामोपास्ते ॥६॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस भूलोक में (आदित्यस्य) सूर्य की (जयम्) विजय को (आप्नोति) वह पुरुष प्राप्त करता है (यः)जो उपासक (एतत्) इस उपासना को (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (आत्मसंमितम्) आत्मा के तुल्य (अतिमृत्यु) अतिक्रान्त आदित्य के (सप्तविधम्) हिंकार १, प्रस्ताव २, ओंकार ३, प्रतिहार ४, उद्गीथ ५, उपद्रव ६ और निधन ७, इस सात प्रकार के (साम) गेय साम की (उपास्ते) उपासना करता है (साम) गेय साम की (उपास्ते) उपासना करता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) उस उपासक के (आदित्यजयात्) आदित्य की जय से (परः) सर्वोत्कृष्ट (जयः) जय (भवति) प्राप्त होती है॥६॥

विशेषार्थ- अब अतिक्रान्त आदित्यके सात प्रकार की सामोपासना

करने के फल को श्रुति कहती है—जो उपासक इस उपासना को इस प्रकार जानता हुआ आत्मा के समान अतिक्रान्त आदित्य के हिंकार १, प्रस्ताव २, आदि ३, प्रतिहार ४, उद्गीथ ५, उपद्रव ६ और निधन ७, इस सात प्रकार के गेय साम की उपासना करता है। वह इस लोक में आदित्य की विजय को प्राप्त करता है और उसे आदित्य विजय से सर्वोत्कर्ष प्राप्त होता है। इस श्रुति में मृत्यु शब्द से आदित्य कहा जाता है। क्योंकि आदित्य ही दिन रात्रि रूप काल के आवर्तन से सम्पूर्ण संसार के विनाश का कारण है। इस श्रुति में 'सामोपास्ते' इस वाक्य का दो बार उच्चारण खण्ड समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपासना की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ६ ॥

॥ अथ एकादशखण्डः ॥

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनम्। एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(मनः) मन इन्द्रियों का राजा (हिंकारः) हिंकार है और (वाक्) वाक कर्मेन्द्रिय (प्रस्तावः) प्रस्ताव है तथा (चक्षुः) नेत्र ज्ञानेन्द्रिय (उद्गीथः) उद्गीथ है और (श्रोत्रम्) श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय (प्रतिहारः) प्रतिहार है और (प्राणः) प्राण (निधनम्) निधन है (एतत्) यह (गायत्रम्) गायत्र नाम का साम (प्राणेषु) मन आदि प्राणों में (प्रोतम्) अध्यास और अधिष्ठानभावलक्षण सम्बन्ध से परे परस्पर सम्बद्ध है या आश्रित—प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—यज्ञ में प्रयुक्त साम के गायत्र १, रथन्तर २, वाम देव्य ३, बृहत् ४, वैरूप ५, वैराज ६, शक्वरी ७, रेवती ८, यज्ञायज्ञिय ९, राजन १०, ये दस भेद हैं। उनमें पहले गायत्र साम की उपासना का वर्णन किया जाता है—इन्द्रियों का राजा मन हिंकार है। इससे हिंकार भक्ति में मन दृष्टि करनी चाहिये। और कर्मेन्द्रिय वाणी प्रस्ताव है। इससे प्रस्ताव भक्ति में वाक् दृष्टि करनी चाहिये। ज्ञानेन्द्रिय नेत्र उद्गीथ है। इससे उद्गीथ भक्ति में नेत्र दृष्टि करनी चाहिये। ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र प्रतिहार है। इससे प्रतिहार भक्ति में श्रोत्र दृष्टि करनी चाहिये। प्रसिद्ध प्राण निधन है। इससे निधन भक्ति में प्राण दृष्टि करनी

चाहिये। यह गायत्र नाम का साम मन आदिक प्राणों में अध्यास तथा अधिष्ठान भाव लक्षण सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध है यानी आश्रित—प्रतिष्ठित है। क्योंकि लिखा है— **प्रोतम् आश्रितम्** ॥ (रामानुजभाष्य गी० अ० ७ श्लो० ७) प्रोत यानी आश्रित है ॥ ७ ॥ 'गाय' यानी प्राण उसका 'त्र' यानी रक्षक जो हो उसको गायत्र कहते हैं ॥ १ ॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद। प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके एकादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (प्राणेषु) मन आदि प्राणों में (प्रोतम्) अध्यास तथा अधिष्ठान भाव लक्षण सम्बन्ध से परस्पर आश्रित (एतत्) इस (गायत्रम्) प्राण रक्षक गायत्र नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह उपासक (प्राणी) प्राणवाला (भवति) होता है (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित (जीवति) जीवन लाभ करता है और (प्रजया) सन्तान तथा (पशुभिः) पशुओं से (महान्) महान् (भवति) होता है और (कीर्त्या) कीर्ति से (महान्) सब से बड़ा होता है (महामनाः) गायत्रोपासक उदार हृदय वाला (स्यात्) होवे (तत्) यही (व्रतम्) व्रत उनका है ॥ २ ॥

विशेषार्थ अब गायत्र साम की उपासना के फल को श्रुति कहती है—जो कोई उपासक मन आदि प्राणों में अध्यास तथा अधिष्ठान भाव लक्षण सम्बन्ध से परस्पर सम्बन्धित इस प्राण रक्षक गायत्र नाम के साम को इस प्रकार भली भाँति जानता है। वह उपासक शुद्ध प्राणवाला हो जाता है और पूर्ण आयु का उपभोग करता है तथा उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन लाभ करता। वह प्रजा तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा यानी महान् होता है। गायत्रोपासक का उदार हृदय होना चाहिये यही व्रत उनका है, कभी क्षुद्र हृदय होना नहीं चाहिये। यही एक महाव्रत है। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ द्वादशखण्डः ॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनं संशाम्यति तन्निधनम्। एतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अभिमन्थति) ऋत्विक् लोग अरणि में जो भलीभाँति मन्थन करते हैं (सः) वह (हिंकार्) हिंकार है और (धूमः) धुआँ (जायते) जो अग्नि से उत्पन्न होता है (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है तथा (ज्वलति) जो आग प्रज्वलित होती है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है और (अङ्गाराः) जो अग्नि में अङ्गार (भवन्ति) होते हैं (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है तथा [उपशाम्यति] जो आग धीरे-धीरे शान्त होना आरम्भ होता है (तत्) वह (निधनम्) निधन है अथवा [संशाम्यति] जो बिल्कुल आग शान्त हो जाती है [तत्] वह [निधनम्] निधन हैं [एतत्] यह (रथन्तरम्) रथन्तर नाम का साम (अग्नौ) अग्नि में [प्रोतम्] अध्यास तथा अधिष्ठान भाव लक्षण से परस्पर सम्बद्ध है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—गायत्र साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब रथन्तर साम की उपासना का वर्णन किया जाता है—ऋत्विक् लोग अरणि नाम के काष्ठ में जो भलीभाँति मन्थन करते हैं, वह हिंकार है। अग्नि से जो धुआँ निकलता है वह प्रस्ताव है तथा समिधाओं से जो आग प्रज्वलित होतो है वह उद्गीथ है। अग्नि में जो अङ्गारे होते हैं वह प्रतिहार है। तथा आग जो धीरे-धीरे शान्त होना आरम्भ होती है वह निधन है। अथवा जो बिल्कुल आग बुझ जाती है वह निधन है। यह रथन्तर नाम का साम अग्नि में अध्यास तथा अधिष्ठान भाव लक्षण सम्बन्ध से परस्पर सम्बन्ध रखने वाला है। अग्नि रूप रथ से संसार सागर को यजमान तैरता है इससे यहाँ अग्नि का रथन्तर नाम है ॥१॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद। ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या। न प्रत्यङग्निमाचामेन्ननिष्ठीवेत्त-

द्व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (अग्नौ) अग्नि में (प्रोतम्) ओतप्रोत (एतत्) इस (रथन्तरम्) रथन्तर नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (ब्रह्मवर्चसी)ब्रह्मतेज से सम्पन्न और (अन्नादः) अन्न भोजन करने वाला दीपाग्नि (भवति) होता है और (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित (जीवति) संसार में (जीवति) जीता है (प्रजया) और सन्तान तथा (पशुभि.) पशुओं से (महान्) महान् (भवति) होता है और (कीर्त्या) कीर्ति से (महान्) सबसे बड़ा होता है (अग्निम्) अग्नि के (प्रत्यङ्) सम्मुख हो (न) न (आचामेत्) आचमन करे और (न) न (निष्ठीवेत्) थूके (तत्) यही (व्रतम्) व्रत उनका है ॥२॥

विशेषार्थ—अब रथन्तर साम की उपासना के फल को कहा जाता है—जो उपासक पुरुष इस प्रकार इस रथन्तर साम को अग्नि में अनुस्यूत जानता है। वह भक्त ब्रह्मतेज से सम्पन्न और अन्न का भोक्ता दीप्ताग्नि होता है। वह पूर्ण जीवन का उपभोग करता है तथा संसार में उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। सन्तान तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है तथा कीर्ति के द्वारा भी सब से बड़ा यानी महान् होता है। रथन्तरोपासक अग्नि की ओर मुख करके भक्षण न करे अर्थात् आचमन न करे नहीं तो थूके। यही उनका व्रत है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का बारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ त्रयोदशखण्डः ॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः। स्त्रिया सहशेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सहशेते स प्रतिहारः। कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनम्। एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(उपमंत्रयते) स्त्री के साथ जो पुरुष संकेत करता है (सः) वह (हिंकारः) हिंकार है (ज्ञपयते) जो वस्त्र आदि से स्त्री को तोषण

करता है (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है और (स्त्रिया) अपनी स्त्री के (सह) साथ (शेते) एक पर्यङ्क पर जो आरोहण करता है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है तथा (स्त्रीम्) अपनी स्त्री के (प्रति) प्रति (सह) अभिमुख साथ (शेते) जो शयन करता है (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है (कालम्) मिथुन कर्म से जो समय (गच्छति) बीतता है (तत्) वह (निधनम्) निधन है अथवा (पारम्) मैथुन की निवृत्ति को (गच्छति) जो प्राप्त करता है (तत्) वह (निधनम्) निधन है (एतत्) यह [वामदेव्यम्] वामदेव्य नाम का साम (मिथुने) स्त्री पुरुष रूप जोड़ा में (प्रोतम्) पिरोया हुआ है ॥१॥

विशेषार्थ—रथन्तर साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब वामदेव्य साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। अपनी स्त्री के साथ जो पुरुष सकेत करता है वह हिंकार भक्ति है। और जो वस्त्र, पान तेल, इतर, माला आदि से अपनी स्त्री को तोषण करता है वह प्रस्ताव भक्ति है। अपनी स्त्री के साथ एक पलङ्ग पर जो स्थित होता है वह उद्गीथ भक्ति है और अपनी स्त्री के साथ अभिमुख जो शयन करता है वह प्रतिहार है तथा मिथुन कर्म के द्वारा जो समय व्यतीत होता है वह निधन है। अथवा मैथुन की जो समाप्ति है वही निधन भक्ति है। यह वामदेब्य नाम का साम स्त्री पुरुष रूप मिथुन यानी जोड़ा में सम्बन्ध रखने वाला है। वामदेब्य साम के विषय में लिखा है— **ये वामदेव्येन स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति ते सतः सदभ्युत्तिष्ठन्ति। पूर्णात् पूर्णामायतनादायतनम्। अन्तरिक्षायतना हि प्रजाः ॥** (ताण्ड्यब्रा० ४।८।१६) जो वामदेव्य साम से नारायण की स्तुति कर संसार से उठना चाहते हैं वे सत्य वामदेव्य साम से सत् परब्रह्म की ओर उठते हैं और पूर्ण आयतन परमात्मा से पूर्ण आश्रय पाते हैं क्योंकि सब प्रजा परब्रह्म नारायण का आश्रय है ॥१६॥ **पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि ॥** (ताण्ड्य० ७।९।१) निश्चय करके वामदेव्य साम पिता हैं और अन्य साम पुत्र हैं ॥१॥ **यद्धि पुत्रोऽशान्तं चरति पिता तच्छमयति ॥** (ताण्ड्य० ७।९।४)पुत्र जो कुछ अशान्त कर्म करता है पिता उसको शांत करता है ॥४॥ **कथमिव वामदेव्यं गेयमित्याहुः ॥**(ताण्ड्य० ७।९।१० कैसे वामदेव्य साम गाना चाहिये सो कहते हैं ॥१०॥ **यथांकुली पुत्रान् संदश्यासंभिन्दती। हरति यथा वातोऽप्सु शनैर्वाति ॥** (ताण्ड्य०

७।६।११) जैसे बिलारी अपने बच्चों को दाँतों से पकड़ कर दाँतों से असंभेद स्पर्श न करती हुई ले जाती है और जैसे वायु जल के ऊपर धीरे-धीरे बहता है वैसे ही वामदेव्य साम गाना चाहिये ।।११।। **अयं वै लोको मध्यमो वामदेव्यम् ॥** (ताण्ड्य० ७।६।५) यह मध्यम अन्तरिक्षलोक ही वामदेव्य साम है ।।५।। **अन्तरिक्षं वै वामदेव्यं ॥** ताण्ड्य० ७।६-६) अन्तरिक्ष ही वामदेव्य साम है ।। ६ ।। और भी लिखा है— **तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥** (अथर्व० कां० ८।१०।५) **बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ।।६।। औषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुह्र व्यचो बृहता ।।७।। अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ।।८।।** उस देववाणी रूपा धेनु का बछड़ा इन्द्र है और गायत्री छन्द दुग्ध पात्र है और अभ्र स्तनमण्डल है ।।५।। वृहत् साम और रथन्तर साम ये दो स्तन हैं तथा यज्ञायज्ञिय साम और वामदेव्य साम ये दो स्तन हैं ।।६।। देवता लोग रथन्तर साम रूप स्तन से औषधियों को दुहते हैं और वृहत् सामरूप स्तन से विविध प्रकार के शुद्ध पवित्र अन्नों को दुहते हैं ।।७।। तथा वामदेव्य सामरूप स्तन से जल को और यज्ञायज्ञिय सामरूप स्तन से यज्ञ नारायण को दूहते हैं ।।८।। **बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्ताम् । यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥** (अथर्व० १५।३।५) वृहत् साम और रथन्तर साम इसके उत्तर जानु हैं और यज्ञायज्ञिय साम तथा वामदेव्य साम इसके दक्षिण जानु हैं ।।५।। **यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥** (अथर्व० १५।४।५)यज्ञायज्ञिय साम और वामदेव्यसाम ये दोनों अनुष्ठान करने वाले हैं ।।५।। **वामदेव्यं दक्षिणेऽपिकक्षे तिष्ठन् गायेत् ॥** (लाट्यायनश्रौत १।५।१६) दक्षिण भाग में स्थित होकर वामदेव्य साम का गान करे ।।१६।। यह द्राह्यायण श्रौत सूत्र में भी ऐसा ही लिखा है— **वामदेव्येन स्तोष्यमाणः प्राग् स्तोमयोगाद्गावो अश्वा अजावयो व्रीहयो यवा इति मनसा ध्यायेत् ।।**(द्राह्यायनश्रौतसू० २।१०।१)वामदेव्य साम से स्तुति करने वाला पुरुष स्तोमयोग से पहले गाय, घोड़ा, बकरा, भेड़ा, व्रीहि और यव आदि की वृद्धि के लिये परब्रह्म नारायण का मन से

ध्यान करे ॥१॥ वामदेव्य शब्द **वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ** (पाणि०व्या०अ० ४ पा० २ सू० ६)इस सूत्र से 'ड्य' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इससे वामदेव ऋषि से जो देखा गया साम है उसको 'वामदेव्य साम कहते हैं। वामदेव ऋषि के विषय में भी लिखा है— **तदुक्तमृषिणा—"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीय" मिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥** (ऐतरेयोप० अ० २ खं० १ श्रु० ५) यह मंत्रद्रष्टा वामदेव ऋषि द्वारा कहा गया है-"अहो मैंने गर्भ में रहते हुए ही इन अग्नि आदि समस्त देवताओं के संपूर्ण जन्मों को भलीभाँति जान लिया। मुझको सैंकड़ों लोहे के समान कठोर शरीर ने अवरुद्ध कर रखा था। अब नीचे मैं बाजपक्षी के समान वेग से उनको छेदन करके बाहर निकल गया हूँ"माता के गर्भ में ही सोते हुये वामदेव ऋषि ने इस प्रकार यह बात कही ॥५॥ यहाँ पर 'गर्भे नु'यहाँ से लेकर निरदीयम्'इस पद पर्यन्त ॥ ऋग्वे० मण्ड० ४ सू० २७ मं० १ ॥ में भी पठित है ॥ **तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति ॥** (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० १०) उस परब्रह्म नारायण को देखते हुये वामदेव ऋषि ने ऐसा जाना "मैं मनु हुआ और सूर्य भी" हुआ ॥१०॥ इस श्रुति में "अहं मनुरभवम्" इत्यादि ॥ ऋग्वे० मण्डल ४ सू० २६ मं० १) में पठित है ॥ **अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः ॥** (ऋ०४। २६।१) मैं सम्पूर्ण पदार्थों का मनन करने वाला मनु हूँ और सब का प्रकाशक सूर्य मैं ही हूँ, सम्पूर्ण सृष्टि की कक्षा से युक्त कक्षीवान् ऋषि मैं ही हूँ और वेदपाठी विप्र भी मैं ही हूँ ॥१॥ **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ३१) प्रज्ञातजीयभाव वाला इन्द्र के अपनी आत्मा के उपास्य उपदेश वामदेव ऋषि के समान शास्त्र दृष्टि से है ॥ ३१ ॥ **वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ॥** (सांख्य० अ० १ सू० १५८) बामदेव आदिक ऋषि मुक्त हुये हैं इससे अद्वैत मत नहीं सिद्ध होता हैं ॥ १५८ ॥ इस प्रकार शास्त्रों में प्रतिपादित वामदेव ऋषि से देखा हुआ 'वामदेव्य' साम की उपासना सन्तान प्राप्ति पूर्वक परब्रह्म नारायण की प्राप्ति के लिये अपनी धर्मपत्नी में ही वामदेव्यो-

व्योपासकों को करना चाहिये ॥१॥

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद। मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते। सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या न कांचन परिहरेत् तद् व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके त्रयोदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (मिथुने) स्त्री पुरुष रूप जोड़े में (प्रोतम्) सम्बद्ध (एतत्) इस (वामदेव्यम्) वामदेव्य नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (मिथुनी + भवति) सर्वदा स्त्री से अवियुक्त होता है (मिथुनात्) स्त्री पुरुष रूप जोड़े से (मिथुनात्) स्त्री पुरुष रूप जोड़े से (प्रजायते) सन्तान उत्पन्न होती है अमोघरेता होता है और (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित (जीवति) संसार में जीता है और (प्रजया) सन्तान तथा (पशुभिः) पशुओं से (महान्) महान् (भवति) होता है और (कीर्त्या) कीर्ति से (महान्) सबसे बड़ा होता है (कां + चन) किसी भी पर स्त्री को (परि) सर्वतोभाव से अर्थात् किसी प्रकार कहीं से भी (न) न (हरेत्) अपहरण करे (यत्) यही (व्रतम्) वामदेव्य सामोपासक का व्रत है ॥२॥

विशेषार्थ—अब वामदेव्य साम की उपासना के फल को कहा जाता है—जो उपासक पुरुष इस प्रकार इस वामदेव्य साम को स्त्री पुरुष रूप मिथुन में संबद्ध स्थित जानता है। वह उपासक सदा जोड़े से रहता है। उसका कभी स्त्री से वियोग नहीं होता हैं। और मिथुनी भाव से उसको सन्तान उत्पन्न होती है। अमोघरेता वह हो जाता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है तथा उज्ज्वल रोग आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। सन्तान तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा—महान् होता है। वामदेव्य साम का उपासक किसी भी पर स्त्री का कभी कहीं से भी अपहरण न करे अर्थात् कदापि व्यभिचारी न हो। यही वामदेव्य सामोपासक का व्रत है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का

तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।२।।

॥ अथ चतुर्दशखण्डः ॥

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथः। अपराह्णः प्रतिहारः। अस्तं यन्निधनम्। एतद्बृहदादित्ये प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(उद्यन्) उदय होता हुआ सूर्य (हिंकारः) हिंकार है (उदितः) उदित सूर्य (प्रस्तावः) प्रस्ताव है और (मध्यन्दिनः) मध्याह्नकाल का सूर्य (उद्गीथः) उद्गीथ है (अपराह्णः) अपराह्णकाल का सूर्य (प्रतिहारः) प्रतिहार है और (अस्तम्) अस्त (यन्) होता हुआ सूर्य (निधनम्) निधन हैं (एतत्) यह (बृहत्) बृहत् नाम का साम (आदित्ये) अदिति पुत्र सूर्य में (प्रोतम्) ग्रथित है ।।१।।

विशेषार्थ—वामदेव्य साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब बृहत् साम की उपासना का वर्णन किया जाता है—उदय होता हुआ सूर्य हिंकार है और उदित सूर्य प्रस्ताव है तथा मध्याह्नकालीन सूर्य उद्गीथ है और अपराह्णकालिक सूर्य प्रतिहार है तथा अस्त होता हुआ सूर्य निधन है। यह बृहत् नाम का साम सूर्य में अनुस्यूत—ग्रथित है। और भी अथर्ववेद में लिखा है—**तस्मा उद्यन्सूर्यो हिङ् कृणोति सङ्गवः प्रस्तौति** (अथर्व० कां ९ अनु० ३ सू० ६ मं० ४) **मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्तं यन्निधनम् ॥५॥** उस परब्रह्म नारायण के लिये उगता हुआ सूर्य हिं करता है अर्थात् हिंकार है और संगव समय का सूर्य प्रस्ताव करता है अर्थात् सूर्य प्रस्ताव है ।। ४ ।। मध्याह्न काल का सूर्य, उच्चस्वर से गाता है। अर्थात् उद्गीथ है और अपराह्णकाल का सूर्य प्रतिहार कर्म करता है। अर्थात् प्रतिहार है तथा अस्त होता हुआ सूर्य निधन है ।। ५।। बृहत् साम के विषय में लिखा है— **बृहत्साम तथा साम्नाम् ॥** (गी० १०।३५) सामों में बृहत् साम नामक मैं हूँ ।। ३५ ।। बृहत्साम सूर्य सम्बन्धी है ।। १ ।।

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद। तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति

महान् कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्दशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(य.) जो उपासक (आदित्ये) अदिति के पुत्र सूर्य में (प्रोतम्) सम्बद्ध (एतत्) इस (बृहत्) बृहत् नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (तेजस्वी) तेजस्वी और (अन्नादः) अन्न का भोक्ता दीप्ताग्नि (भवति) होता है (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित (जीवति) संसार में जीता है और (प्रजया) सन्तान तथा (पशुभिः) पशुओं से (महान्) महान् (भवति) होता है और (कीर्त्या) कीर्ति से (महान्) सब से बड़ा होता है (तपन्तम्) तपते हुये सूर्य की (न) न (निन्देत्) निन्दा करे (तत्) यही (व्रतम्) बृहत् सामोपासक का व्रत है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब बृहत् साम की उपासना के फल को कहा जाता है- जो उपासक इस प्रकार इस बृहत् साम को सूर्य में आश्रित-स्थित जानता है। वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता दीप्ताग्नि होता है। वह पूर्ण आयु का भोग करता है तथा उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। सन्तान तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा होता है। बृहत् साम का उपासक तपते हुए सूर्य को निन्दा न करे यही उसका व्रत है। सूर्य जितना ही तपता है वर्षा भी उतना ही सुन्दर होती है, ऐसा अनुसन्धान करे। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का चौदहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ १४ ॥

॥ अथ पञ्चदशखण्डः ॥

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारः। मेघो जायते सः प्रस्तावो वर्षति स उद् गीथो विद्योतते स्तनयति सः प्रतिहार उद् गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ (अभ्राणि) बादल (संप्लवन्ते) जो संचार करके आकाश में इक्ट्ठे होते हैं (सः) वह (हिंकारः) हिंकार है (मेघः) मेघ (जायते) जो आकाश में उत्पन्न होता है (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है (वर्षति) जो जल बरसता है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है (विद्योतते)

जो चमकता है और (स्तनयति) गरजता है (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है (उद्गृह्णाति) और जो बरसना बन्द हो जाता है (तत्) वही (निधनम्) निधन है (एतत्) यह (वैरूपम्) वैरूप नाम का साम (पर्जन्ये) मेघ में (प्रोतम्) अनुस्यूत है ॥ १ ॥

विशेषार्थ - बृहत् साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब वैरूप साम की उपासना का वर्णन किया जाता है—आकाश में संचार करके जो बादल इकट्ठे होते हैं वही हिंकार है और जो अच्छे प्रकार से आकाश में मेघ उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है। जो जल बरसता है वह उद्गीथ है और जो बिजली चमकती और कड़कती है वह प्रतिहार है जो बरसना बन्द हो जाता है वह निधन है। यह वैरूप नाम का साम मेघ में पिरोया हुआ—ग्रथित है। अथर्ववेद में भी लिखा है—**तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन्प्रस्तौति ॥** (अथर्व० कां० ६ अनु० ३ सू० ६ मं० ६) **विद्योतमानः प्रतिहरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन्निधनम् ॥ ७ ॥** उस परब्रह्म नारायण के लिये बादल बनता हुआ प्राथमिक मेघ हिं करता अर्थात् हिंकार करता है और गर्जन करता हुआ प्रस्ताव कर रहा है अर्थात् जो गरजता है वही प्रस्ताव है ॥ ६ ॥ और चमकता हुआ प्रतिहार कर्म कर रहा है अर्थात् जो चमकता है वह प्रतिहार है तथा बरसता हुआ उच्चस्वर से गाता है अर्थात् जो बरसता है वह उद्गीथ है और जो बरसना बन्द हो जाता है वह निधन है ॥७॥ यह वैरूप साम मेघ सम्बन्धी है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद। विरूपाँश्च सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे। सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके पञ्चदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (पर्जन्ये) मेघ में (प्रोतम्) ग्रथित (एतत्) इस (वैरूपम्) वैरूप नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (विरूपवान्) विरुद्ध नाना रूप वाले (च) और (सुरूपान्) सुन्दर रूप वाले (पशून्) पशुओं को (च) भी (अवरुन्धे)

पाता है और (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित (जीवति) संसार में जीता है और (प्रजया) सन्तान तथा (पशुभिः) पशुओं से (महान्) महान् (भवति) होता है और (कीर्त्या) कीर्ति से (महान्) सब से बड़ा होता है (वर्षन्तम्) बरसते हुए मेघ की (न) न (निन्देत्) निन्दा करे (तत्) यही (व्रतम्) वैरूप सामोपासक का व्रत है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब वैरूप साम की उपासना के फल को कहा जाता है—जो उपासक इस प्रकार इस वैरूप साम को मेघ में स्थित जानता है। वह उपासक विरुद्ध नाना रूप वाले कुक्कुर, बाघ, बिलार आदि विरूप पशुओं को तथा सुन्दर रूप वाले गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि सुरूप पशुओं को प्राप्त कर लेता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है तथा उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। वह सन्तान तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा महान् होता है। वैरूप साम का उपासक बरसते मेघ की निन्दा न करे, यही उसका व्रत है। यहाँ पर "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ षोडशखण्डः ॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(वसन्तः) वसन्त ऋतु (हिंकारः) हिंकार है (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु (प्रस्तावः) प्रस्ताव है (वर्षा) वर्षा ऋतु (उद्गीथः) उद्गीथ है (शरत्) शरद ऋतु (प्रतिहारः) प्रतिहार है और (हेमन्तः) हेमन्त ऋतु (निधनम्) निधन है (एतत्) यह (वैराजम्) वैराज नाम का साम (ऋतुषु) ऋतुओं में (प्रोतम्) ग्रथित है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—वैरूप साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब वैराज साम की उपासना का वर्णन किया है—जो चैत्र वैशाख ये दो मास वसन्त ऋतु है यही हिंकार है। जो जेठ आषाढ़ ये दो मास ग्रीष्म ऋतु है यही प्रस्ताव है। जो सावन भादो ये दो मास वर्षा ऋतु है यही उद्गीथ है। जो क्वार कार्तिक ये दो मास शरद् ऋतु है यही प्रतिहार है तथा जो अगहन पूस ये दो मास हेमन्त ऋतु है यही निधन है। यह वैराज नाम का साम ऋतुओं में ओत-प्रोत है ॥ १ ॥

स य एवमेतद् वैराजमृतुषु प्रोतं वेद । विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ऋतून्न निन्देत्तद्-व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके षोडशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (ऋतुषु) ऋतुओं में (प्रोतम्) ग्रथित (एतत् इस (वैराजम्) वैराज नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (प्रजया) सन्तान तथा (पशुभिः) पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) और ब्रह्मतेज से (विराजति) सुशोभित होता है (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित (जीवति) संसार में जीता है और (प्रजया) प्रजा तथा (पशुभिः) पशुओं से (महान्) महान् (भवति) होता है और [कीर्त्या] कीर्ति से [महान्] सबसे बड़ा महान् होता है (ऋतून्) ऋतुओं का [न] न [निन्देत्] निन्दा करे [तत्] यही [व्रतम्] वैराज सामोपासक का व्रत है ॥ २ ॥

विशेषार्थ— अब वैराज साम की उपासना के फल को कहा जाता है—जो उपासक इस प्रकार इस वैराज साम को ऋतुओं में आश्रित—स्थित जानता है। वह उपासक प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से विशेष शोभित होता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है तथा उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। सन्तान तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा महान् होता है। वैराज साम के उपासक ऋतुओं की निन्दा न करे, यही उसका व्रत है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का सोलहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ सप्तदशखण्डः ॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥१॥

अन्वयार्थ—(पृथिवी) पृथ्वीलोक (हिंकारः) हिंकार है (अन्तरिक्षम्)

अन्तरिक्षलोक (प्रस्तावः) प्रस्ताव है, द्यौः द्युलोक (उद्गीथः) उद्गीथ है (दिशः) दिशायें (प्रतिहारः) प्रतिहार हैं और (समुद्रः) समुद्र (निधनम्) निधन है (एताः) यह (शक्वर्यः) शक्वरी नाम का साम (लोकेषु) पृथिव्यादि लोकों में (प्रोताः) प्रथित है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—वैराज साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब शक्वरी साम की उपासना का वर्णन किया जाता है—पृथ्वीलोक हिंकार है। और अन्तरिक्षलोक प्रस्ताव है। तथा द्युलोक उद्गीथ है। और पूर्व आदिक दिशायें प्रतिहार हैं। तथा समुद्र निधन है। यह शक्वरी नाम का साम पृथिव्यादि लोकों में अनुस्यूत—ग्रथित है। शक्वरी शब्द प्राय: बहुवचन में ही आता है ॥ १ ॥

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद। लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके सप्तदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ – (यः) जो उपासक (लोकेषु) पृथिव्यादिलोकोंमें (प्रोताः) आश्रित ग्रथित (एताः) इस (शक्वर्यः) शक्वरी नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (लोकी) लोक वाला (भवति) होता है (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित (जीवति) संसार में जीता है और (प्रजया) प्रजा तथा (पशुभिः) पशुओं से (महान्) महान् भवति होता है और (कीर्त्या) कीर्ति से (महान्) सबसे बड़ा महान् होता है (लोकान्) लोकों को (न) न (निन्देत्) निन्दा करे (तत्) यही (व्रतम्) शक्वरी सामोपासक का व्रत है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब शक्वरी साम की उपासना के फल को कहा जाता है - जो उपासक इस प्रकार इस शक्वरी साम को पृथिव्यादि लोकों में स्थित जानता है। वह उपासक लोक वाला होता है और वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, उज्ज्वल व्याधि आदिसे रहित जीवन व्यतीत करता है। और सन्तान तथा गौ हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है। तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा महान् होता है। शक्वरी साम के उपासक पृथिव्यादि लोकों की निन्दा न करे

यही उसका व्रत है। यहाँ पर छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का सतरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथाष्टादशखण्डः ॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेतारेवत्यः पशु प्रोताः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अजाः) बकरे (हिंकारः) हिंकारः हैं (अवयः) भेड़ें (प्रस्तावः) प्रस्ताव हैं (गावः) गौयें (उद्गीथः) उद्गीथ हैं (अश्वाः) घोड़ (प्रतिहारः) प्रतिहार हैं और (पुरुषः) पुरुष (निधनम्) निधन है (एताः) यह (रेवत्यः) रेवती नाम का साम (पशुषु) पशुओं में (प्रोताः) ग्रथित है ॥ १ ॥

विशेषार्थ— शक्वरी साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब रेवती साम की उपासना का वर्णन किया जाता है– बकरियाँ हिंकार हैं। और भेड़ियाँ प्रस्ताव हैं - तथा गायें उद्गीथ हैं। और घोड़ियाँ प्रतिहार हैं। तथा पुरुष निधन है। यह रेवती नाम का साम पशुओं में ग्रथित है। रेवती शब्द भी प्रायः बहुवचन में ही आता है ॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद। पशुमान् भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठकेऽष्टादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ– [यः] जो उपासक [पशुषु] पशुओं में [प्रोताः] ग्रथित [एताः] इस [रेवत्यः] रेवती नाम के साम को [एवम्] इस प्रकार [वेद] जानता है [सः] वह [पशुमान्] पशुवाला [भवति] होता है और [सर्वम्] सम्पूर्ण [आयुः] आयु को [एति] पाता है [ज्योक्] उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित [जीवति] संसार में जीता है और [प्रजया] प्रजा तथा [पशुभिः] पशुओं से [महान्] महान् [भवति] होता है और [कीर्त्या] कीर्ति से भी [महान्] सबसे बड़ा महान् होता है [पशून्] पशुओं की [न] नहीं [निन्देत्] निन्दा करे [तत्] वह [व्रतम्] रेवती सामोपासक का व्रत है। ॥२

विशेषार्थ—अब रेवती साम की उपासना के फल को कहा जाता है—जो उपासक इस प्रकार इस रेवती साम को पशुओं में अनुस्यूत जानता है। वह उपासक पशुवाला होता है। और वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है। तथा उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। और सन्तान तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है। तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा महान् होता है। रेवती साम के उपासक पशुओं को निन्दा न करे यही उसका व्रत है। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय प्रपाठक का अठारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथैकोनविंशखण्डः ॥

लोम हिंकारस्त्वक् प्रस्तावो मांसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—[लोम] रोवाँ [हिंकारः] हिंकार है [त्वक्] त्वचा [प्रस्तावः] प्रस्ताव है [मांसम्] मांस [उद्गीथः] उद्गीथ है [अस्थि] हड्डी [प्रतिहारः] प्रतिहार है और [मज्जा] मज्जा चरबी [निधनम्] निधन है [एतत] यह [यज्ञायज्ञीयम्] यज्ञायज्ञीय नाम का साम [अङ्गेषु] अङ्गों में [प्रोतम्] ग्रथित है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—रेवती साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब यज्ञायज्ञीय साम की उपासना का वर्णन किया जाता है—रोवाँ हिंकार है और चमड़ी प्रस्ताव है। तथा मांस उद्गीथ है। और हड्डी प्रतिहार है। तथा चरबी निधन है। यह यज्ञायज्ञीय नाम का साम अङ्गों में पिरोया हुआ है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेद। अङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्छति। सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके एकोनविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक [अङ्गेषु] अङ्गों में [प्रोतम्] अनुस्यूत

[एतत्] इस [यज्ञायज्ञीयम्] यज्ञायज्ञीय नाम के साम को [एवम्] इस प्रकार [वेद] जानता है [सः] वह [अङ्गी] समग्र अङ्गयुक्त [भवति] होता है और [अङ्गेन] हस्त, पाद आदि अङ्ग से [न] नहीं [विहूर्छति] कभी वह कुटिल होता है [सर्वम्] सम्पूर्ण [आयुः] आयु को [एति] पाता है [ज्योक्] उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित [जीवति] संसार में जीता है और [प्रजया] प्रजा तथा [पशुभिः] पशुओं से [महान्] महान् [भवति] होता है और [कीर्त्या] कीर्ति से भी [महान्] सबसे बड़ा महान् होता है [संवत्सरम्] वर्ष में कभी [मज्ज्ञः] मांस को [न] नहीं [अश्नीयात्] भोजन करे [इति] इस प्रकार [तत्] वह [व्रतम्] यज्ञायज्ञीय सामोपासक का व्रत है [वा] अथवा सर्वदा [मज्ज्ञः] मांस को [न] नहीं [अश्नीयात्] भोजन करे यही यज्ञायज्ञीय सामोपासक का व्रत है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब यज्ञायज्ञीय साम की उपासना के फल को कहा जाता है—जो उपासक इस प्रकार इस यज्ञायज्ञीय साम को अङ्गों में ग्रथित जानता है। वह उपासक समग्र अङ्गयुक्त प्रशस्त अवयव वाला होता है। और वह हांथ, पैर आदि अंगों से टेढ़ा मेढा नहीं होता है। तथा वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है। और उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। और सन्तान तथा गौ, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है। तथा कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा महान् होता है। वर्ष में कभी भी मांस भक्षण न करे अथवा सर्वदा मरण पर्यन्त कभी भी मांस भक्षण न करे यह यज्ञायज्ञीय सामोपासक का व्रत है— संवत्सरम्" यहाँ-**कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** ॥ [पाणि०व्या० अ० २ पा० ३ सू० ५] इस सूत्र से अत्यन्त संयोग में द्वितीया है जिसका भाव यह है कि कभी मांस न खाय। इस व्रत को जोर देकर परम कारुणिक रहस्य कहा है। इससे विदित होता है कि पशु हिंसा वेदविरोधियों की चलाई हुई है। अथर्ववेद में विस्पष्ट रूप से लिखा है—

मुग्धाऽदेवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त । य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणोवो चस्तमिहेह ब्रवः ॥ (अथर्व० कां० ७ सू० ५)

महामूढ़ अदेव असुर लोग कुत्ते से भी यज्ञ करते हैं और गौ के अंगों से भी बहुधा यज्ञ करते हैं जो पुरुष इस यजनीय परब्रह्म नारायण को मन से जानते वे हमलोगों के गुरु हैं ऐसा कह और उस यज्ञ नारायण को

यहाँ हो मुझको शिक्षा दीजिये ॥५॥ यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का उन्नीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ विंशखण्डः ॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ – (अग्निः) अग्निदेव (हिंकारः) हिंकार है (वायुः) वायुदेव प्रस्तावः) प्रस्ताव है (आदित्यः) सूर्यदेव (उद्गीथः) उद्गीथ है (नक्षत्राणि) तारागण (प्रतिहारः) प्रतिहार हैं और (चन्द्रमा) चन्द्रदेव (निधनम्) निधन है (एतत्) यह (राजनम्) राजन नाम का साम (देवतासु) देवताओं में (प्रोतम्) ग्रथित है ॥ १ ॥

विशेषार्थ – यज्ञायज्ञीय साम की उपासना का वर्णन करने के बाद अब राजन साम की उपासना का वर्णन किया जाता है—अग्निदेव हिंकार है। और वायुदेव प्रस्ताव है। तथा सूर्यदेव उद्गीथ है। और अश्विनी १, भरणी २, कृतिका ३ रोहिणी ४, मृगशिरा ५, आर्द्रा ६, पुनर्वसु ७, पुष्य ८, श्लेषा ९, मघा १०, पूर्वाफाल्गुनी ११, उत्तराफाल्गुनी १२, हस्त १३, चित्रा १४, स्वाती १५, विशाखा १६, अनुराधा १७, ज्येष्ठा १८, मूल १९, पूर्वाषाढ़ २०, उत्तराषाढ़ २१, श्रवणा २२ धनिष्ठा २३, शतभिषा २४, पूर्वाभाद्रपद २५, उत्तराभाद्रपद २६ और रेवती २७ ये नक्षत्रगण प्रतिहार हैं। तथा चन्द्रमा देवता निधन है। राजन् नाम का साम देवताओं में स्थित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानां सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके विंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ – (यः) जो उपासक (देवतासु) देवताओं में (प्रोतम्) सम्बद्ध (एतत्) इस (राजनम्) राजन नाम के साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (एव) निश्चय करके (एतासाम्) इन्हीं

[देवतानाम्] देवताओं के [सलोकताम्] समान लोकता को तथा [सार्ष्टिताम्] समान ऋद्धि धन सम्पत्ति को और [सायुज्यम्] समान भोग्य को [गच्छति] प्राप्त करता है [सर्वम्] सम्पूर्ण [आयुः] आयु को [एति] पाता है [ज्योक्] उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवति [संसार] में जीता है और [प्रजया] प्रजा तथा [पशुभिः] पशुओं से [महान्] महान् [भवति] होता है और [कीर्त्या] कीर्ति से [महान्] सब से बड़ा महान् होता है [ब्राह्मणान] ब्राह्मणों की (न) नहीं [निन्देत्] निन्दा करे [तत्] वह [व्रतम्] राजन सामोपासक का व्रत है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब राजन साम की उपासना के फल को कहा जाता है—जो उपासक इस प्रकार इस राजन साम को देवताओं में आश्रित—सम्बद्ध जानता है वह निश्चय करके इन देवताओं की सलोकता को पाता है तथा देवताओं के समान ऋद्धि, धन, सम्पत्ति—ऐश्वर्य को पाता है और देवताओं के समान भोग्य को भी पाता है। तथा वह अपने सम्पूर्ण आयु का उपभोग करता है। और उज्ज्वल व्याधि आदि से रहित जीवन व्यतीत करता है। और सन्तान तथा गौ. हाथी, घोड़ा आदि पशुओं द्वारा महान् होता है। तथा मठ मन्दिरादि कीर्ति के द्वारा भी सबसे बड़ा महान् होता है। ब्राह्मणादि दैवताओं की निन्दा न करे यही राजन सामोपासक का व्रत है। ब्राह्मण के विषय में लिखा है—**एते वै देवा प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः** ॥ (श्रुति निश्चय ये प्रत्यक्ष देवता हैं जो ब्राह्मण हैं ॥ **किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः** ॥ (गी० अ० ९ श्लो० ३३) फिर पुण्य योनि वाले ब्राह्मणों को कहना ही क्या है ॥ ३३ ॥ **ब्राह्मणानां शरीरेषु तिष्ठन्ति सर्वदेवताः । पादेषु सर्वतीर्थानि पुण्यानि पदधूलिषु** ॥ (ब्रह्मवैवतपुरा०) ब्राह्मणों के शरीर में सब देवता रहते हैं तथा चरणों में सब तीर्थ रहते हैं और ब्राह्मणों के चरण की धूलि में समस्त पुण्य रहते हैं ॥ **अहं प्राणो हि विप्राणां मम प्राणास्तु वै द्विजाः । तानेवद्वेष्टि यो मूढः मम नूनं तु हिंसकः** (स्कन्दपु०) निश्चय करके मैं ब्राह्मणों का प्राण हूँ। और ब्राह्मण भी मेरे प्राण हैं जो मूढ़ उन ब्राह्मणों से द्वेष करता है वह निश्चय करके मेरा हिंसक है ॥ **दैवाधीन जगत्सर्वं मत्राधीनं च दैवतम् तन्मंत्रं ब्राह्मणाधीनं तस्माद् ब्राह्मणदवता** ॥ (पद्मपुराण) सम्पूर्ण जगत् देवता के अधीन है और देवता मंत्र के अधीन

हैं तथा वह मंत्र वेदज्ञ ब्राह्मणों के अधीन है जिससे ब्राह्मण देवता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का बीसवां खण्ड समाप्त हो गया ।। २ ।।

॥ अथ एकविंशखण्डः ॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयांसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन् प्रोतम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(त्रयी) ऋक् यजुः और साम (विद्या) वेद (हिंकारः) हिंकार है (इमे) ये पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ (त्रयः) तीन (लोकाः) लोक हैं (सः) वह (प्रस्तावः) प्रस्ताव है (अग्निः) अग्निदेव (वायुः) वायुदेव (आदित्यः) सूर्यदेव (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है (नक्षत्राणि) अश्विनी आदिक नक्षत्रगण तथा (वयांसि) तोता, मैना, आदि पक्षिगण और (मरीचयः) किरणें हैं (सः) वह (प्रतिहारः) प्रतिहार है (सर्पाः) वासुकि आदि सर्प तथा (गन्धर्वा) चित्ररथ आदिक गन्धर्व और (पितरः) अर्यमा आदि पितृगण (तत्) वह (निधनम्) निधन है (एतत्) यह (साम) सामान्य साम (सर्वस्मिन्) सब ब्रह्माण्ड मे (प्रोतम्) ग्रथित है ।। १ ।।

विशेषार्थ—त्रयी विद्या हिंकार है। त्रयी के विषय में लिखा है—
ऋग्यजुः सामरूपत्वात्त्रयीति परिकीर्तिता। लिङ्गादि त्रितयं त्रयी ।। (सीतोप०) ऋक् यजुः एवं सामात्मक होने से त्रयी कहा जाता है। देव स्वरूप वर्णन के मंत्र तथा यज्ञ विधि निर्देशक मंत्र और यज्ञ में गान के मंत्र ये ही तीन प्रकार के मंत्र होने से वेदों को त्रयी कहते हैं। और भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक ये तीनों लोक प्रस्तावहैं। तथा अग्निदेवता वायुदेवता और सूर्यदेवता ये तीनों देवता उद्गीथ हैं। और अश्विनी १, भरणी २, कृतिका ३, रोहिणी ४, मृगशिरा ५, आर्द्रा ६, पुनर्वसु ७, पुष्य ८, श्लेषा ९, मघा १०, पूर्वाफाल्गुनी ११, उत्तराफाल्गुनी १२, हस्त १३, चित्रा १४, स्वाती १५, विशाखा १६, अनुराधा १७, ज्येष्ठा १८, मूल १९, पूर्वाषाढ़ २०, उत्तराषाढ़ २१, श्रवणा २२, धनिष्ठा २३, शतभीषा २४ पूर्वाभाद्रपद २५, उत्तराभाद्रपद २६, रेवती २७ ये नक्षत्रगण तथा गरुड,

हंस, मयूर, सारस, तोता, मैना, कोकिल आदि पक्षिगण और समस्त किरणें ये प्रतिहार हैं। और सरक कर चलने वाले एक सिर वाले वासुकि आदि सांप सब। सर्प के विषय में लिखा है— **सर्पाः एकशिरसः ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० १० श्लो० २८) एक सिर वालों का नाम सर्प है ॥ २८ ॥ चित्ररथ आदिक गन्धर्वगण। गन्धर्व के विषय में लिखा है— **ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥** (तैत्तिरीयो० व० २ अनु० ८ श्रु० १) **स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्यचाकाम हतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः ।२।** वे जो एक सौ मनुष्य सम्बन्धी आनन्द हैं ॥ १ ॥ वह मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द होता है। विषय भोग की कामना से रहित वेदवेत्ता पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनन्द है। वे पूर्वोक्त जो मनुष्य गन्धर्वों के एक सौ आनन्द हैं वह देवजातीय गन्धर्वों का एक आनन्द है ॥ २ ॥ **याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम ते पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहानैमतस्यासीद्दुहिता गन्धवगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् सुधन्वाङ्गिरस इति ॥** (वृह० उ० अ० ३ ब्रा० ३ श्रु० १) लाह्यायनि भुज्यु ने याज्ञवल्क्य से कहा कि—हे याज्ञवल्क्य! हम व्रताचरण करते हुये मद्रदेश में विचरते थे कि कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्जल के घर पहुचे उनकी पुत्री गन्धर्व गृहीत थी हमने उससे पूछा तू कौन है वह बोला मैं अङ्गिरस सुधन्वा हूँ ॥ १ ॥ **ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात् प्रत्यङ् चित्रा विभ्रदस्यायुधानि ॥** (ऋग्वे० अष्ट० ८ मण्ड० १० सू० १२३ मं० ७) श्रेष्ठ गन्धर्व इस श्रीमन्नारायण के पूजित आश्चर्य युक्त चक्रादिक आयुधों को बाहूमूल में धारण करता हुआ स्वर्ग लोक में ठहरा ॥ ७ ॥ **यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्। नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ३७) यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर नाग, सर्प, गरुड और पितृगणों को भी अलग अलग उत्पन्न किया ॥ ३७ ॥ **गन्धर्वाणां चित्ररथः ॥** (गी० अ० १० श्लो० २६) गन्धर्वों में चित्ररथ मैं हूं ॥ २६ ॥ **गन्धर्वाणां देवगायकानाम् ॥** (रामानुजभाष्य० गी० अ० १० श्लो० २६)

गन्धर्वों में यानी देवगायकों में ॥ २६ ॥ **भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ॥** (सुश्रुतसूत्रस्थान ११) यह भूतविद्या आठ प्रकार के आयुर्वेद के विभाग में से चौथी है। इससे देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग और ग्रह आदि करके व्याप्त चित्तवाले पुरुषों को शान्ति के लिये शान्ति कर्म बलि देना आदिक कर्मों को भूत विद्या कहते हैं ॥११॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट यह सिद्ध होता है कि सबसे पृथक् एक गन्धव योनि है। और कव्यवाह १, अनल २, सोम ३, यम ४, अर्यमा ५, अग्निष्वात्त ६, और वर्हिषद् ७ ये सात पितृगण हैं। ये सब निधन है। यह साम सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड में सम्बद्ध ग्रथित है॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥२॥

अन्वयार्थ - (यः) जो उपासक (सर्वस्मिन्) सब ब्राह्माण्ड में (प्रोतम्) सम्बद्ध (एतत्) इस साम) साम को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (सः) वह (ह) निश्चय (सर्वम्) सब काम्य वस्तुओं को (भवति) प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ - जो कोई उपासक इस साम को समस्त स्थावर जंगम रूप संसार में इस प्रकार सम्बद्ध पिरोया हुआ जानता है वह निश्चय करके सब काम्यमान वस्तु को पाता है ॥ २ ॥

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥३॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस पूर्वोक्त विषय में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है (यानि) जो (त्रीणि) तीन (त्रीणि) तीन अर्थात् त्रयी विद्या ये तीन लोक अग्नि, वायु सूर्य, ये तीन देव ये त्रिक (पञ्चधा) हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन भेद से पाँच प्रकार के कहे गये हैं (तेभ्यः) उन पाँच प्रकार के त्रिकों से (ज्याय) बड़ा और (परम्) उत्कृष्ट (अन्यत्) अन्य श्रेय (न) नहीं (अस्ति) है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—इस पूर्वोक्त विषय में यह निम्नलिखित मंत्र भी है—जो पांच प्रकार के तीन तीन इसी खण्ड के पहले मंत्र में बतलाये गये हैं।

अर्थात् ऋक् , यजु: और साम हिंकार है। और भूलोक, अन्तरिक्ष और स्वर्लोक प्रस्ताव है। तथा अग्निदेव, वायुदेव और आदित्यदेव उद्गीथ हैं। और नक्षत्रगण, पक्षिगण तथा किरणगण प्रतिहार हैं। तथा सर्प, गन्धर्व और पितृगण निधन है। ये पाँच प्रकार के जो तीन तीन कहे गये हैं। इनसे बड़ा श्रेष्ठ उत्कृष्ट अन्य श्रेय कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वम्। सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति। सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतम् ॥४॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके एकविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (तत्) उस पूर्वोक्त साम को (वेद) जानता है (सः) वह (सर्वम्) सब कुछ (वेद) जानता है (सर्वाः) सभी (दिशः) दिशायें अर्थात् समस्त दिग्वर्ती प्राणी (अस्मै) इस उपासक के लिये (बलिम्) उपहार भोग्यवस्तु (हरन्ति) समर्पण करते हैं। (सर्वम्) सब कुछ (अस्मि) मैं हूँ (इति) इस प्रकार (उपासीत्) उपासना करे (तत्) वह (व्रतम्) सामान्य सामोपासक का व्रत है (तत्) वह (व्रतम्) सामान्य सामोपासक का व्रत है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—जो कोई उपासक उस पूर्वोक्त साम को जानता है। वह सब कुछ जानता है। उस सर्वज्ञ उपासक के लिये सर्वदिग्वर्ती पुरुष उपहार भोग्यवस्तु समर्पण करते हैं। मैं सब कुछ हूँ इस प्रकार से उपासना करें सामान्य सामोपासक का यही व्रत है सामान्य सामोपासक का यही व्रत। इस श्रुति में 'तद्व्रतम्' इसका दो बार उच्चारण सामोपासना की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ इक्कीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ द्वाविंशखण्डः ॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमिति। अग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः। प्रजापतेर्निरुक्तः। सोमस्य मृदुश्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य। क्रौञ्चं बृहस्पतेः। अपध्वान्तं वरुणस्य। तान् सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥१॥

अन्वयार्थ- (पशव्यम्) पशुओं के हितकारी (विनर्दि) विशिष्टनर्द

स्वरों से युक्त विनर्दि नाम के (साम्नः) सामसम्बन्धी गान को (वृणे) मैं स्वीकार करता हूँ (इति) यह (अग्नेः) अग्निदेवता सम्बन्धी (उद्गीथः) उत्तम गान (अनिरुक्तः) अस्पष्ट होता है और (प्रजापतेः) प्रजापति देवता सम्बन्धी (निरुक्तः) स्पष्ट सुबोध गान होता है तथा (सोमस्य) सोम देवता सम्बन्धी साम गान (मृदु) कोमल और (श्लक्ष्णम्) चिकना-रसीला होता है और (वायोः) वायुदेवता सम्बन्धी साम गान (श्लक्ष्णम्) चिकना—रसीला होता है तथा (इन्द्रस्य) इन्द्रदेवता सम्बन्धी सामगान (बलवत्) बलवाला पुरुष के अधिक परिश्रम से होता है और (बृहस्पतेः) बृहस्पति देवपुरोहित सम्बन्धी सामगान (क्रौञ्चम्) क्रौञ्च पक्षी के शब्द के समान होता है तथा (वरुणस्य) वरुणदेवता सम्बन्धी सामगान (अपध्वान्तम्) फूटे हुये कांस्य के बर्तन के समान होता है (तान्) उन (सर्वान्) सभी गानों को (एव) निश्चय करके (उपसेवेत) उपयोग करे (तु) किन्तु (एव) निश्चय करके (वारुणम्) वरुण देवता के फूटे हुये कांस्य के बर्तन के शब्द के समान स्वर वाले साम गान को (वर्जयेत्) छोड़ दे ।। १ ।।

विशेषार्थ--पूर्वखण्डमें साम को उपासना समाप्त करके अब उद्गाता के साम सम्बन्धी गान विशेषों को श्रुति उपदेश देती है —जिस गान में विविध पशुओं के नाद के समान स्वर हो उसे 'विनर्दि' कहते हैं। अथवा जिस गान में से विशेष नाद होता हो उसे 'विनर्दि' कहते हैं अथवा साम गानों में से एक गान का नाम 'विनर्दि' सङ्गीत कुशल कहते हैं। गो, महिष, हय, गज, प्रमुख चतुष्पद पशुओं के कल्याण करने वाला विशिष्टस्वरों से युक्त 'विनर्दि' नाम के साम सम्बन्धी गान को मैं स्वीकार या वरण करता हूँ। यह अग्निदेवता सम्बन्धी अस्पष्ट गान विशेष है और अग्नि देवता की प्रीति में हेतु होता है। अग्नि के विषय में लिखा है:—**अग्निर्देवता ।।** (यजु० अ० १४ मंत्र २०) अग्नि देवता है ।२०।। **तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि। किमिदं यक्षमिति तथेति ।।** (केनो० खं० ३ श्रु० ३) **तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति। अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।। ४ ।। तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमिति। अपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ।। ५ ।।** वे इन्द्रादिक देवता अग्नि देवता से इस प्रकार बोले कि हे स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् अग्निदेव आप पास में जाकर इस बात को अच्छी तरह जानिये कि यह दिव्य यक्ष कौन है ? ऐसा सुनकर अग्नि देव ने कहा बहुत अच्छा ऐसा ही होगा ।।३।। अग्नि देवता उस दिव्य यक्ष के समीप

में दौड़कर गया उस अग्निदेव से वह दिव्य यक्ष कहता हुआ कि कौन तुम हो ऐसा सुनकर अग्निदेव ने कहा कि मैं निश्चय करके प्रसिद्ध अग्नि देव हूँ ऐसा और यह कहा कि मैं निश्चय करके स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् जातवेदा नाम वाला हूँ ऐसा प्रसिद्ध है ।। ४ ।। उसे उक्त नाम वाले तुझ अग्निमें क्या सामर्थ्य है यह बतादो तब अग्निदेव ने कहा कि यदि मैं चाहूँ तो पृथ्वी पर यह जो कुछ है इन सबको जला सकता हूँ ऐसा प्रसिद्ध है ।।५।। और प्रजापति देवता सम्बन्धी स्पष्ट सुबोध गान होता है । प्रजापति के विषय में लिखा है— **प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।।** (यजु० अ० ३१ मं० १९) प्रजापति गर्भ के भीतर चलता है और नहीं जन्म लेता हुआ अपनी इच्छा से बहुत प्रकार के प्रकट होता है ।। १९ ।। **सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।** (गी० ३।१०) प्रजापति ने पहले प्रजा को रचकर कहा था कि इस यज्ञ के द्वारा तुमलोग बढ़ो और यह यज्ञ तुम्हें इच्छित भोगों को देने वाला हो ।।१०।। तथा सोम देवता सम्बन्धी साम गान कोमल और चिकना होता है । **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।।** (ऋग्वेद) सोम हम सब ब्राह्मणों का राजा है ।। और वायुदेवता सम्बन्धी साम गान चिकना— रसीला होता है । वायु देवता के विषय में लिखा है— **वातो देवता ।।** (यजु० अ० १४ मं० २०) वायु देवता है ।। २० ।। **अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि । किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।** (केनो० खं० ३ श्रु० ७) **तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा । अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।। ८ ।। तस्मिँस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय । यदिदं पृथिव्यामिति ।। ९ ।।** अनन्तर वायु देवता से इस प्रकार इन्द्रादिक देवताओं ने कहा कि हे वायुदेव आप पास में जाकर इस बात को अच्छी तरह से जानिये कि यह दिव्य यक्ष कौन है ऐसा सुनकर वायु देव ने कहा बहुत अच्छा वैसा ही होगा ।।७।। वायुदेवता उस दिव्य यक्ष के समीप दौड़कर गया । उस वायुदेव से उस दिव्य यक्ष ने कहा कि कौन तुम हो ऐसा सुनकर वायुदेवने कहा कि मैं निश्चय करके प्रसिद्ध वायुदेव हूँ, ऐसा और यह कहा कि मैं निश्चय करके आकाश में विचरने वाला

मातरिश्वा नाम वाला हूँ ऐसा प्रसिद्ध है ।।८।। उस उक्त नाम वाले तुझ वायु में क्या सामर्थ्य है यह बतादो । तब वायु ने कहा कि यदि मैं चाहूँ तो पृथ्वी पर यह जो कुछ भी है इस सब को ग्रहण कर सकता हूँ ऐसा प्रसिद्ध है ।। ९ ।। **नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।।** (तैत्तिरीयो० व० १ अनु० १ श्रु० १) हे वायुदेव तेरे लिये नमस्कार है तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तुझको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा ।। १ ।। और इन्द्र देवता सम्बन्धी साम गान बलवाला होता है अर्थात् पुरुष के अधिक परिश्रम से होता है। इन्द्रदेवता के विषय में लिखा है – **इन्द्रो देवता** ।। (यजु० अ० १४ मं० २०) इन्द्र देवता है ।। २० ।। **इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव** (सामवे० प्रपा० २ अ० २ खं० ७ मं० ५) दूसरों से प्रतिकूल शब्द रहित इन्द्रदेव ने अथर्वण दधीच ऋषि को पार्श्वशिरः सम्बन्धी हड्डियों से आठ सौ दश वृत्र असुरों को मारा ।। ५ ।। **अपाम्फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रो दवर्तयः । विश्वा यदजयः स्पृधः ।।** (सामवे० छन्द आर्चिक० अ० २ खं० १० मं० ८) इन्द्रदेव जलों के फेन से नमुचि असुर का सिर शरीर से पृथक् किया जब सब स्पर्धा करती हुई असुर सेना को जीता ।। ८ ।। **तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् सह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श । स ह्येनत्प्रथतो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।।** (केनो० खं० ४ श्रु० ३) जिस कारण से उस इन्द्रदेव ने इस परब्रह्म नारायण को अत्यन्त समीप में स्थित श्रीदेवी से सुनकर मन के द्वारा सबसे पहले स्पर्श किया और निश्चय करके वह इन्द्रदेव इस दिव्य यक्ष को सब देवताओं से पहले परब्रह्म नारायण हैं ऐसा भलीभाँति जानता हुआ उस कारण से इन्द्रदेव निश्चय करके दूसरे अग्नि, वायु देवताओं की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ के समान हैं ।। ३ ।। **ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ।।** (तैत्तिरीयो० व० २ अनु० ८ श्रु० ३) जो वसुरुद्रादिक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वह देवराज इन्द्र का एक आनन्द है ।। ३ ।। बृहस्पति देव पुरोहित सम्बन्धी साम गान क्रौञ्च पक्षी के शब्द के समान होता है। क्रौञ्च नामके पक्षी प्रायः जलीय लघु जन्तुओंको खाया करता है।बृहस्पति देवता के विषय में लिखा है—**बृहस्पतिर्देवता** ।। (यजु० अ० १४ मं०

२०) बृहस्पति देवता हैं ॥ २० ॥ **बृहस्पति पुरोहितो देवस्य** ॥ (यजु० अ० २० मं० ११) देवता के बृहस्पति पुरोहित हैं ॥ ११ ॥ **ते ये सतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ८ श्रु० ४) जो देवराज इन्द्र के एक सौ आनन्द हैं वह देवपुरोहित बृहस्पति का एक आनन्द है ॥ ४ ॥ **जीवश्चाङ्गिरगोत्रजोत्तरमुखो दीर्घोत्तरे संस्थितः पीताश्वत्थसमिच्च सिन्धुजनितश्चापोथ मीनाधिपः । सूर्येन्दुक्षितिजप्रियो बुधसितौ शत्रू समाश्चापरे सप्ताङ्कद्विभवः शुभः सुरगुरुः कुर्यात्सदा मङ्गलम्** (नवग्रहमङ्गलस्तो श्लो० ५)अङ्गिरा गोत्र में उत्पन्न बृहस्पति देव उत्तर में उत्तराभिमुख पीतवर्ण के संस्थित हैं। पीपल वृक्ष की उनकी समिधा होती है। सिन्धु में उत्पन्न बृहस्पति धनुष और मीन राशि के स्वामी हैं और उनके सूर्य, चन्द्र मङ्गल ग्रह मित्र हैं। तथा बुध और शुक्र ग्रह शत्रु हैं। और शेष सब ग्रह सम हैं। सातवें नौवें और दूसरे स्थान में स्थित सुरगुरु शुभ करने वाले हैं। वे सुरगुरु बृहस्पति सर्वदा विश्व का मङ्गल करें ॥ ५ ॥ **देवानां च ऋषीणां च गुरुं काञ्चनसन्निभम् । बुद्धिभूतं त्रिलोकेशं तं नमामि बृहस्पतिम्**॥ नवग्रहस्तो श्लो० ५) देवता और ऋषियों के गुरु कांचन के समान पीला रङ्ग के सबके बुद्धिभूत तीनों लोक के स्वामी उस बृहस्पति देव को नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥ और वरुण देवता सम्बन्धी साम गान फूटे हुये कांस्य के पात्र के समान होता है। वरुण देवता के विषय में लिखा है **वरुणो देवता** । (यजु० अ० १४ मं० २०) वरुण देवता है ॥२०॥ **शं वरुणः** ॥ तैत्ति० उ० व० १ अनु० १ श्रु० १) जल के अधिष्ठाता वरुण देवता हमारे लिये कल्याणकारी हों ॥ १ ॥ **ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः** ॥ (ऋग्वेद) हे वरुणदेव आपके जो ये सौ या हजारों यज्ञ सम्बन्धी महान् श्रेष्ठ पाश विस्तृत हैं उन पाशों से आज हमको सवितादेव या विष्णु भगवान या सब मरुत् देव और सूर्यदेव छुड़ा दें ॥ पूर्वोक्त अग्नि १, प्रजापति २, सोम ३, वायु ४, इन्द्र ५, और बृहस्पति ६ सम्बन्धी उन सब ही गानों को यज्ञों में गावे।

किन्तु वरुण देवता सम्बन्धी फूटे हुये कांस्य के पात्र के शब्द के समान स्वर वाले साम गान को परित्याग करे। यहाँ अग्नि १ प्रजापति २, सोम ३, वायु ४, इन्द्र ५, बृहस्पति ६ और वरुण ७ देवता सम्बन्धी गान विशेष का वर्णन करके वरुण देवता सम्बन्धी गान को त्याग करने का आदेश श्रुति देती है ॥ १ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्। स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्य स्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्न प्रमत्तः स्तुवीत ॥२॥

अन्वयार्थ—(देवेभ्यः) ब्रह्मा आदि देवताओं के लिये (अमृतत्वम्) अमृतत्व प्राप्ति को (आगायानि अच्छी तरह से गान के द्वारा मैं साधन करूँ (इति) इस प्रकार नारायण से प्रार्थना करता हुआ आगायेत्) भक्त अच्छी तरह से साम गान करे (पितृभ्यः) अर्यमा आदि पितरों के लिये (स्वधाम्) स्वधा को (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (आशाम्) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा को (पशुभ्यः) गौ, महिष आदि पशुओं के लिये (तृणोदकम्) घास और जल को तथा (यजमानाय) यजमान के लिये (स्वर्गम्) स्वर्ग (लोकम्) लोक को और (आत्मने अपने लिये (अन्नम्) अन्न यानी खाद्य वस्तु को (आगायानि) अच्छी तरह से गान के द्वारा मैं साधन करूँ (इति, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ और (एतानि) इन पूर्वोक्त अमृतत्व स्वधा आदि फलों को (मनसा) मनसे (ध्यायन्) ध्यान करता हुआ (अप्रमत्तः) स्वर आदिक में सावधान हो कर (स्तुवीत) स्तोत्र करे ॥ २ ॥

विशेषार्थ—तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस ब्रह्मादिक देवताओं के लिये अमृतत्व प्राप्ति को भलीभाँति साम गान के द्वारा मैं साधन करूँ। इस प्रकार की प्रार्थना पर ब्रह्म नारायण से करते हुए सामग भक्त साम गान करे। और कव्यवाह १, अनल २, सोम ३, यम ४, अर्यमा ५, अग्निष्वात्त ६ और बर्हिषद् ७ इन सात पितृगणों के लिये स्वधा प्राप्ति को भलीभाँति गान के द्वारा मैं साधन करूँ इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना करते हुए सामगभक्त साम गान करे

तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदिक मनुष्यों के लिये इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा की प्राप्ति को भलीभाँति साम गान के द्वारा मैं साधन करूँ इस प्रकार परमेश्वर से प्रार्थना करते हुए भक्त स्तोत्र पाठ करे और गौ, महिष, भेड़, बकरा, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं के लिये तृण और जल की प्राप्ति को भलीभाँति साम गानके द्वारा मैं साधन करूँ इस प्रकार के प्रभु से प्रार्थना करते हुए सामग सावधानी से स्तुति करे। और यजमान के लिये सुखकर स्वर्गलोक प्राप्ति को भलीभाँति साम गान के द्वारा मैं साधन करूँ इस प्रकार के मन से ध्यान करते हुए स्वर आदिक में प्रमाद रहित होकर साम के स्तोत्र पाठ करे। और अपने लिये चतुर्विध अन्न प्राप्ति को भलोभाँति साम गान के द्वारा मैं साधन करूँ इस प्रकार से श्रीमन्नारायण भगवान से प्रार्थना करते हुए तथा मन से ध्यान करते हुए स्वर आदिक में प्रमाद रहित होकर स्तुति करे अर्थात् साम गान करे ॥ २ ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः। सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः। सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः तं यदि स्वरेषूपालभेत। इन्द्रं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ।३॥

अन्वयार्थ—(सर्वे) सब (स्वराः) स्वर (इन्द्रस्य) देवराज इन्द्र के (आत्मानः) आत्मा हैं (सर्वे) सब (ऊष्मानः) ऊष्म-संज्ञा वाले वर्ण (प्रजापतेः) प्रजापति देव के (आत्मानः) आत्मा हैं और (सर्वे) सब (स्पर्शाः) स्पर्श संज्ञा वाले वर्ण (मृत्योः) मृत्यु के (आत्मानः) आत्मा हैं (तम्) इस प्रकार जानने वाला उस उद्गाता को (यदि) यदि (स्वरेषु) कोई पुरुष स्वरों के उच्चारण में (उपालभेत) दोष प्रदर्शित करके निन्दा करे तो वह उद्गाता (एनम्) इस दोषारोपक को (इति) इस प्रकार (ब्रूयात्) उत्तर देवे कि (प्रपन्नः) प्रपन्न मैं [इन्द्रम्] देवराज इन्द्र की [शरणम्] शरण में [अभूवम्] आया हूँ [सः] वह इन्द्र देव [त्वा] तुम को [प्रतिवक्ष्यति] उत्तर देगा ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—सब स्वर देवराज इन्द्र के अपने अवयव सदृश प्रिय आत्मा हैं। स्वर के विषय में लिखा है—**अचः स्वराः** ॥ (सिद्धान्तकौ०

संज्ञाप्रक०) अच् प्रत्याहार को स्वर कहते हैं। और अ इ उ ण् ॥१॥ ऋ लृ क् ॥२॥ ए ओ ङ् ॥३॥ ऐ औ च् ॥४॥ (माहेश्वरसूत्र०) इन सबों के अन्त का व्यञ्जन नहीं परिगणन किया जाता है तो अ १, इ २ उ ३, ऋ ४, लृ ५, ए ६, ओ ७, ऐ ८, औ ९, इन नौ अक्षरों को अच् प्रत्याहार या स्वर कहते हैं। और सब ऊष्मा संज्ञावाले वर्ण प्रजापति देव के अपने अवयव सदृश प्रिय आत्मा हैं। ऊष्मा के विषय में लिखा है—**श ष स हा ऊष्माणः** ॥ (सिद्धान्तकौ० संज्ञाप्र०) श १, ष २, स ३, ह ४, इन चार अक्षरों को ऊष्मा कहते हैं। तथा सब स्पर्श संज्ञा वाले वर्ण मृत्युदेव के अपने अवयव सदृश प्रिय आत्मा हैं। स्पर्श के विषय में लिखा है—**कादयो मावसानाः स्पर्शाः** (सिद्धान्तकौ० संज्ञाप्र० १) 'क' से प्रारम्भ करके 'म' पर्यन्त वर्णों को स्पर्श कहते हैं— अर्थात् क १ ख २, ग, ३, घ ४, ङ ५, च ६, छ ७ ज ८, झ ९, ञ १० ट ११, ठ १२ ड १३, ढ १४, ण १५, त १६, थ १७, द १८, ध १९, न २०, प २१, फ २२, ब २३, भ २४, म २५ इन पचीस अक्षरों को स्पर्श कहते हैं। इन सबों के यथार्थ जानने वाला उद्गाता को यदि कोई पुरुष आकर कहे कि हे उद्गाता तुम अ १, इ २, उ ३, ऋ ४, लृ ५, ए ६, ओ ७, ऐ ८, औ ९ इन स्वरों का उच्चारण यथासंभव यथायोग्य नहीं करते हो। अतः तुम दोष के भागी होओगे और तेरे अपराध से यजमान का भी अनिष्ट होगा। तो इस प्रकार मिथ्या दोषारोपक उपालम्भक पुरुष से उद्गाता ऋत्विक् कहे कि—प्रपन्न मैं देवराज इन्द्र की शरण में प्राप्त हुआ हूँ। वे देवराज इन्द्र ही तुमको उत्तर इसका देवेंगे। प्रपन्न के विषय में लिखा है - **प्रपन्नो जायते कोपि ह्येकान्ती चक्रलाञ्छितः** ॥ (बृहद्ब्रह्मसंहि० पा० १ अ० १३ श्लो० २३) निश्चय करके चक्र से अङ्कित कोई एकान्ती पुरुष प्रपन्न होते हैं ॥ २३ ॥ यहाँ अत्यन्त शान्ति का उपदेश श्रुति दी है कि - व्यर्थ निन्दा करने वालों का उत्तर नहीं देना उसका उत्तर देवता लोग देंगे ॥ ३ ॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्। अथ यद्येनं

स्पर्शेषूपालभेत मृत्युं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ - (अथ) अनन्तर यदि यदि (एनम्) भलीभाँति जानने वाला इस उद्गाता को उष्मसु) कोई पुरुष श ष स ह इन ऊष्मा संज्ञक वर्णों के उच्चारण में (उपालभेत) दोष प्रदर्शित करके (निन्दा) करे तो वह उद्गाता (एनम्) इस दोषारोपक को (इति) इस प्रकार (ब्रूयात्) कहे कि (प्रपन्नः) प्रपन्न मैं (प्रजापतिम्) प्रजापतिदेवकी (शरणम्) शरण में (अभूवम्) प्राप्त हुआ हूँ (सः) वह प्रजापति देव (त्वा) तुमको (प्रतिपेक्ष्यति) अच्छी तरह से चूर्ण करेगा (अथ) अनन्तर (यदि) यदि (एनम्) भलीभाँति जाननेवाले इस उद्गाता को (स्पर्शेषु) कोई पुरुष स्पर्श संज्ञा वाले वर्णों के उच्चारण में (उपालभेत) दोष प्रदर्शित करके निन्दा करे तो वह उद्गाता (एनम्) इस दोषारोपक को (इति) इस प्रकार (ब्रूयान्) कहे कि (प्रपन्नः) प्रपन्न मैं मृत्युम् मृत्युदेव की (शरणम्) शरण में (अभूवम्) प्राप्त हुआ हूँ (सः) वह मृत्युदेव (त्वा) तुमको (प्रतिधक्ष्यति) अच्छी तरह से भस्म करेगा ॥ ४ ॥

विशेषार्थ - स्वर के विषय में उपदेश होने के अनन्तर सब वर्णों के यथार्थ जानने वाला उद्गाता को यदि कोई पुरुष आकर कहे कि हे उद्गाता तुम श १, ष २, स ३ ह ४ इन चार ऊष्मा नाम वाले अक्षरों का उच्चारण यथासंभव यथायोग्य नहीं करते हो अतः तुम दोषभागी होओगे और तेरे अपराध से यजमान को भी अनिष्ट होगा। तो इस प्रकार मिथ्या दोषारोपक उपालम्भक पुरुष से उद्गाता ऋत्विक् कहे कि— प्रपन्न मैं प्रजापति देव की शरण में प्राप्त हुआ हूँ। वे प्रजापति देव तुम को अच्छी तरह से चूर्ण करेंगे। प्रपन्न का लक्षण लिखा है— **प्रपन्नो जायते कोऽपि ह्येकान्ती चक्रलाञ्छितः** ॥ (बृहद्ब्रह्मसंहि० पा० १ अ० १३ श्लो० २३) निश्चय करके तप्त चक्र से अङ्कित कोई एकान्ती पुरुष प्रपन्न होते हैं ॥२३॥ प्रपन्नदृप्त और आर्तभेद से दो प्रकार के होते हैं। क्योंकि लिखा है **शरीरस्थितिपर्यन्तमाद्योऽत्रैव यथोचितम् । प्राप्तदुःखादिभुञ्जानः शरीरान्तेऽवसीय च । महाबोधोऽतिविश्वासो मोक्षसिद्धिमवस्थितः ॥ यहां पर जो दृप्त प्रपन्न है सो अपने शरीर की स्थिति पर्यन्त**

यथा उचित अपने प्रारब्ध कर्म करके प्राप्त हुए दुःख आदि को भोगता हुआ रहता है और जब उसके शरीर का नाश होता है तब मोक्ष की स्थिति का निश्चय करके महाज्ञानी और महाविश्वासी होकर स्थिति को प्राप्त करता है उसको दृप्त—प्रपन्न कहते हैं **अथान्त्योऽसहमानस्तत्क्षणमेव तु संसृतिम्। तथैव भगवत्प्राप्तौ सत्वरस्त्वार्त्त उच्यते ॥** इसके बाद दूसरा जो आर्त्त प्रपन्न है सो जन्म मरण को और जन्म मरण के दुःखों को क्षण मात्र भी सहन नहीं करता है और वैसे ही भगवान् की प्राप्ति के विषय में जिसका चित्त बहुत वेग वाला है उसको आर्त्त प्रपन्न कहते हैं ॥ इसके बाद सब अक्षरों के यथार्थ जानने वाले उद्गाता को यदि कोई पुरुष आकर कहे कि हे उद्गाता तुम क १ ख २ ग ३, घ ४, ङ ५, च ६, छ ७, ज ८, झ ९, ञ १०, ट ११, ठ १२, ड १३, ढ १४, ण १५, त १६, थ १७, द १८, ध १९, न २०, प २१, फ २२, ब २३, भ २४, म २५, इन पचीस स्पर्श संज्ञक अक्षरों का उच्चारण यथासंभव यथायोग्य नहीं करते हो अतः तुम दोषभागी होगे। क्योंकि लिखा है— **हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्। ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥** (पाणिनीयशि० श्लो० ५४) जो द्विज हस्तस्वर से रहित स्वर और वर्णसे हीन वेदको पढ़ताहै वह ऋग्वेद तथा यजुर्वेद और सामवेद से जला हुआ वियोनि को प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥ और तेरे अपराध से यजमान को भी अनिष्ट होगा। क्योंकि लिखा है— **मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥** पाणि० शि० श्लो० ५२) स्वर या वर्ण से ही मन्त्र ठीक ठीक प्रयोग न होने के कारण अभीष्ट अर्थ का वाचक नहीं होता है। इतना ही नहीं – वह वचन रूपी वज्र यजमान को मारता है। जैसे "इन्द्रशत्रु" शब्द में स्वर की अशुद्धि हो जाने के कारण वृत्रासुर स्वयं ही इन्द्र के हाथ से मारा गया। ५२ ॥ तो इस प्रकार मिथ्या दोषारोपक उपालम्भक पुरुष से उद्गाता ऋत्विक् कहे कि प्रपन्न मैं मृत्युदेव की शरण में प्राप्त हुआ हूँ। वे मृत्युदेव तुमको भस्म करेंगे। क्योंकि बिना दोष के मेरे साम गान में तुम मिथ्या दोषारोपण करते हो ॥ ४ ॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं

दहानीति । सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः । प्रजापतेरात्मानं परिददानीति । सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्याः । मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥५॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वाविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ –(सर्वे) सम्पूर्ण (स्वराः) स्वर (घोषवन्तः) उच्चनाद से युक्त और (बलवन्तः) अधिक बल से युक्त (वक्तव्याः) उच्चारण करने योग्य हैं (इन्द्रे) देवराज इन्द्र में (बलम्) बल को (ददानि) मैं प्रदान करूँ (इति) ऐसा चिन्तवन करे और (सर्वे) समस्त (ऊष्माणः) उष्मा संज्ञक वर्ण (अग्रस्ताः) अन्तर नहीं प्रवेश किये हुए तथा (अनिरस्ताः) बाहर में नहीं प्रक्षेप किये हुए (विवृताः) विवृत प्रयत्न से युक्त (वक्तव्याः) उच्चारण करने योग्य हैं (प्रजापतेः) प्रजापति देव से (आत्मानम्) आत्मा को (परिददानि) मैं भलीभाँति लाभ करूं (इति) ऐसा चिन्तवन करे तथा (सर्वे) समस्त (स्पर्शाः) स्पर्श संज्ञक वर्ण (लेशेन) अल्प अंश से (अनभिनिहिताः) एक दूसरे से मिलाये बिना धीरे धीरे (वक्तव्याः) उच्चारण करने योग्य हैं (मृत्योः) मृत्युदेव से (आत्मानम्) अपनी आत्मा को (परिहराणि) भलीभाँति बचा लूँ (इति) ऐसा चिन्तवन करे ॥ ५ ॥

विशेषार्थ - समस्त अ १, इ २, उ ३, ऋ ४ लृ ५, ए ६, ओ ७, ऐ ८ औ ९ ये नौ स्वर वर्ण घोष से युक्त और बल से युक्त उच्चारण करने योग्य हैं। क्योंकि स्वर घोष प्रयत्न वाले हैं। यह लिखा है **खयां यमाः खयः ॅक ॅपौ विसर्गः शर एव च । एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते ॥ कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः । अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः ॥** (सिद्धान्तकौ० संज्ञाप्रक०) खय प्रत्याहार के यम और खय प्रत्याहार तथा ॅक और ॅप तथा विसर्ग और शर प्रत्याहार ये सब ही श्वास १ अघोष २ और कण्ठ को खुलवाने वाला विवार ३ प्रयत्न वाले हैं। और अन्य स्वर तथा हश प्रत्याहार हैं ये सब घोष १, संवार २ और नाद ३, प्रयत्न वाले हैं और वर्गों के पहला दूसरा तथा तीसरा वर्ण और वर्ग के यमग तथा यण

प्रत्याहार ये सब अल्पप्राण प्रयत्न वाले कहे गये हैं। शेष सब वर्ण महाप्राण प्रयत्न वाले हैं। चकार से स्वर का उदात्त १, अनुदात्त २, और स्वरित ३ भी प्रयत्न हैं। इससे सिद्ध हो गया कि घोष वाले और उच्च नाद वाले स्वर होते हैं। और महाभाष्य में लिखा है - **न ह्यचं विना व्यञ्जनस्योच्चारणमपि संभवति**।। (महाभाष्य) स्वर के विना व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण भी नहीं हो सकताहै ।। इस प्रमाणसे मालूम होता है कि स्वर वर्ण बहुत ही बलवान हैं। अर्थात् स्वर के उच्चारण करते समय देवराज इन्द्र में बल को मैं प्रदान करूँ इस प्रकार के अनुसन्धान करे। और समस्त श १, ष २, स ३ ह ४ ये चार ऊष्मा संज्ञक वर्ण अन्तर नहीं प्रवेश किये हुये तथा बाहरमें नहीं प्रक्षेप किये हुये विवृत रूपसे उच्चारण करने योग्य हैं। इस उष्मा संज्ञक वर्णों के उच्चारण समय प्रजापति देव से मैं अपनी आत्मा को लाभ करूँ इस प्रकार के चिन्तवन करे। और समस्त क १, ख २, ग ३, घ ४ ङ ५, च ६, छ ७, ज ८, झ ९, ञ १०, ट ११, ठ १२, ड १३, ढ १४, ण १५, त १६, थ १७, द १८, ध १९, न २०, प २१, फ २२, ब २३, भ २४, म २५ ये पचीस स्पर्श संज्ञक वर्ण एक दूसरे से तनिक भी मिलाये बिना ही धीरे धीरे उच्चारण करने योग्यहैं। इससे स्पर्श संज्ञक वर्णों के उच्चारण समय मृत्युदेव से अपनी आत्मा को मैं भलीभाँति बचा लूँ इस प्रकार का अनुसन्धान करे। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक का बाईसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।५।।

।। अथ त्रयोविंशखण्डः ।।

त्रयो धर्मस्कन्धाः । यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः । तप एव द्वितीयः । ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ।।१।।

अन्वयार्थ – (धर्मस्कन्धाः) धर्म के स्कन्ध (त्रयः) मुख्य तीन हैं (यज्ञः) यज्ञ (अध्ययनम्) अध्ययन यानी वेदाभ्यास और (दानम्) दान (इति) इन तीनों से युक्त गृहस्थाश्रम (प्रथमः) पहला स्कन्ध है और (एव) निश्चय करके (तपः) तपस्या अर्थात् तप से युक्त बैखानस और संन्यासाश्रम ये दोनों (द्वितीयः)धर्मका दूसरा स्कन्ध है तथा (आचार्यकुलवासी)

आचार्यकुल में रहनेवाला (ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी (आचार्यकुले) आचार्य कुल में (आत्मानम्) अपने देह को विविध नियमों से (अत्यन्तम्) अत्यन्त (अवसादयन्) क्षीण करता हुआ रहता है वह ब्रह्मचर्याश्रम (तृतीयः) धर्म का तीसरा स्कन्ध है (एते) ये (सर्वे) सब ब्रह्मनिष्ठा वकल केवल आश्रमी (पुण्यलोकाः) पुण्यलोक के भागी (भवन्ति) होते हैं (ब्रह्मसंस्थः) परन्तु चारो आश्रमियों में जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह (अमृतत्वम्) मुक्ति को (एति) पाता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ – अब ओंकार से परब्रह्म नारायण की उपासना करने के लिये प्रस्ताव किया जाता है—धर्म के मुख्य तीन स्कंध हैं। धर्म के विषय में लिखा है **धर्मं चर। धर्मान्नप्रमदितव्यम्॥** (तैत्तिरीयो० व० १ अनु० ११ श्रु० १) धर्म को तुम करो। धर्म से नहीं असावधान होना चाहिये ॥ १ ॥ **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥** (तैत्ति० आर० प्रपा १० अनु० ६३) धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा है सब जन धर्मिष्ठ के समीप में जाते हैं धर्म से सब लोग पाप को दूर करते हैं धर्म में सब प्रतिष्ठित है इससे सब लोग धर्म को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥ **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥** (पूर्वमीमां०) अ० १ पा० १ सू० २ प्रेरणा लक्षण अर्थ हो धर्म है ॥ २ ॥ **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिस्सः धर्मः॥** (वैशेषि० अ० १ आह्नि० १ सू० २) जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हो वह धर्म है ॥ २ ॥ **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥** [नारदपरिव्राजकोप० उपदेश ३ श्रु० २४ ॥ मनु० अ० ६ श्लो० ९२) धीरता १, क्षमा २, मनरोकना ३, अन्याय से दूसरे का धन न लेना ४, पवित्रता ५, इन्द्रियों को रोकना ६, बुद्धि ७, आत्मज्ञान८, सच्चा बोलना ९ और क्रोध नहीं करना १० ये दश धर्म के लक्षण हैं ॥ २४ ॥ ९२ ॥ **धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत्॥** [मनु० अ० ८ श्लो० १५] **एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाश सर्वमन्यद्धि गच्छति॥** १७ ॥ नष्ट किया हुआ धर्म ही नाश कर देता [illegible] है इससे धर्म का त्याग नहीं

करना चाहिये। नाश किया हुआ धर्म हम सबों का बध न करे ॥ १६ ॥ धर्म ही एक मित्र है जो मरने पर भी अभीष्ट फल देने के लिये साथ में जाता है और अन्य स्त्री, पुत्र आदिक सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त कर लेते हैं ॥१७॥ पुत्रीकृतशठाराति भगवद्रामानुजाचार्य—ऊर्ध्व-रेतस्सु च शब्दे हि ॥ (शारी० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १७) परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ॥ ३।४ ॥ ८ ॥ अनुष्टेयं बादरा-यणस्साम्यश्रुतेः ॥ ३ ४।१९ ॥ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ (शारी० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४८) इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक के तेईसवें खण्ड की पहली श्रुति के त्रयो धर्मस्कन्धाः ॥ इस अंशको उद्धृत किये हैं। यज्ञ तथा अध्ययन यानी वेदाभ्यास और दान इन तीनों से युक्त गृहस्थाश्रम धर्म का पहला स्कन्ध है। यज्ञ के विषय में लिखा है- यज्ञेन हि देवा दिवं गता यज्ञे-नासुरानपानुदन्त । यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ॥ (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० ६३) देवता लोग यज्ञ ही से स्वर्ग लोक को प्राप्त किये हैं और असुरों को यज्ञ से पराजित किय हैं द्वेष करने वाले यज्ञसे मित्र हो जाते हैं। यज्ञ में सब प्रतिष्ठित है। इससे सबलोग यज्ञ को सब से श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥ अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ (गी० १७।११) फल कामना से रहित पुरुषों के द्वारा यज्ञ करना ही कर्तव्य है इस भाव से मन का समाधान करके जो शास्त्रविधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक होता है ॥ ११ ॥ अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः। इज्यते भारतश्रेष्ठ त यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ (गी० १७।१२) परन्तु हे भरतश्रेष्ठ जो फल को लक्ष्य बनाकर और दम्भ के लिये भी किया जाता है उस यज्ञ को तू राजस जान ॥ १२ ॥ विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्र-हीनमदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ (गी० १७।१३) विधिहीन शास्त्रविहित, अन्न से रहित, मंत्र हीन, दक्षिणा हीन और श्रद्धा रहित यज्ञ को तामस कहते हैं ॥ १३ ॥ यज्ञः फलाभि-सन्धिरहितभगवदाराधनरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम् ॥ (रामानुजभाष्य

गी० १६।१) फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधन के रूप में किये जाने वाले महायज्ञादि के अनुष्ठान का नाम 'यज्ञ' है ।। १ ।। अध्ययन के विषय में लिखा है— **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** ।। (यजुरारण्यक० प्रपा० २ अनु० १५) स्वाध्याय अध्ययन करने योग्य है ।। १५ ।। **स्वाध्यायः सविभूतेः भगवतः तदाराधनप्रकारस्य च प्रतिपादकः कृत्स्नो वेद इति अनुसंधाय वेदाभ्यासनिष्ठा** ।। (रामानुजभाष्य गी० १६।१) समस्त वेद विभूतियों के सहित भगवान् का और उनकी अराधन के भेदों का प्रतिपादन करने वाले हैं यह समझ कर वेदाभ्यास में निष्ठा करने का नाम 'स्वाध्याय' है ।। १ ।। **स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः** ।। योगद० अ० १ पा० २ सू० ४४) स्वाध्याय से इष्टदेवता का संयोग होता है ।। ४४ ।। अध्ययन के विषय में जिसको अधिक जानना हो वह मेरी बनाई हुई 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की गूढार्थदीपिका व्याख्या को अवलोकन करें । दान के विषय में लिखा है— **दान यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दातारं सर्वभूतान्युपजीवन्ति दानेनारातीरपानुदन्त । दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति** ।। (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० ६३) दान यज्ञों के वरूथ दक्षिणा है सब प्राणी लोक में दान देने वाले के समीप में जीते हैं । दान से शत्रुओं को दूर करते हैं और दान से द्वेष करने वाले मित्र हो जातेहैं । दान में सब प्रतिष्ठित है । इससे सबलोग दान को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ।। ६३ ।। **न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने । अन्यद्वा यत्प्रदीयेतत्तद्दानं प्रोच्यते मया** ।। (जाबालदर्शनो० खं० २ श्रु० ७) क्लेश में पड़े हुये वेदज्ञ पुरुषों को जो न्यायोपार्जित धन अथवा अन्य आवश्यक वस्तुयें दी जाती हैं उसी को मैं दान कहता हूँ ।। ७ ।। **दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्** ।। (गी० १७।२०) जो दान फलाभिसन्धि से रहित होता है और देना कर्तव्य है इस बुद्धि से श्रेष्ठ देश काल और पात्रादि में तथा जिसने कभी उपकार न किया हो ऐसे मनुष्य को दिया जाता है वह दान सात्त्विक बतलाया गया है ।। २ ।। **यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्** ।। [गी० १७।२१] जो दान उपकार का बदला चुकाने

के अभिप्राय से तथा फल की कामना पूर्वक दिया जाता है तथा जो परिक्लिष्ट –अशुभ द्रव्य से युक्त होता है वह राजस बतलाया गया है ॥ २१ ॥ **अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥** (गी० १७।२२) जो दान अयोग्य देश काल में अपात्र को दिया जाता है तथा पाद प्रक्षालनादि सम्मान के बिना और अपमान पूर्वक बिना उपचार के दिया जाता है वह तामस बतलाया गया है ॥ २२ ॥ **दानं न्यायार्जितधनस्य पात्रे प्रतिपादनम् ॥** रामानुजभाष्य गी० १६।१) न्यायोपार्जित धन को सत्पात्र के प्रति देने का नाम 'दान' है ॥१॥ शठजिद्गणमो क भगवद्रामानुजाचार्य ने–**अनुष्ठेयं बादरायणस्साम्यश्रुतेः ॥** (शारी० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १९) के श्रीभाष्य में छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक के तेईसवें खण्ड की पहली श्रुति के **यज्ञोऽध्ययनं दानम्** " प्रथम ॥ इस अंश को उद्धृत किया है। और तप से युक्त वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम धर्म का दूसरा स्कन्ध है। तप के विषय में लिखा है–**तप इति तपो नित्यः ॥ पौरुशिष्टिः ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ९ श्रु० १) पुरुशिष्ट ऋषि का पुत्र तपोनित्य ऋषि तप करना चाहिये ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥ **ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ।** (छा० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० १) और ये जो वन में श्रद्धा तथा तप इनकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥ **तपसा देवा देवतामग्र आयन्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन् । तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्तपः परमं वदन्ति ॥** (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ६३) देवगण तप से पहले देवत्व को प्राप्त किये हैं और ऋषि लोग तप से स्वर्गलोक को प्राप्त किये हैं, तप से बड़े बड़े शत्रुओं को देवता लोग मारे हैं, तप में सब प्रतिष्ठित है, इससे सब लोग तप को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥ **वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥** (जाबालदर्शनो० खं० २ श्रु० ३) वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुध जन तप कहते हैं ॥ ३ ॥ **देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमा-**

र्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ गी० १७।१४) देवता ब्राह्मण गुरु और ज्ञानियों का पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना यह शरीर सम्बन्धी तप कहलाता है ॥१४॥ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ (गी० १७।१५) जो दूसरे को उद्वेग न पहुँचाने वाले सच्चे प्रिय और हितकारक वचन है तथा स्वाध्याय का अभ्यास है यह वाणी सम्बन्धी तप कहलाता है ॥ १५ ॥ मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते । (गी० १७।१६ मन की प्रसन्नता सौम्यता, मौन, आत्म-विनिग्रह और भावसंशुद्धि यह मन सम्बन्धी तप कहलाता है ॥ १६ ॥ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकांक्षिभियुक्तैः सात्विक परिचक्षते। (गी० १७।१७) फल की आकांक्षा से रहित और यह तप परम पुरुष की आराधना ही ऐसा विचार धारा से युक्त पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा के साथ जो तीन प्रकार के तप शरीर वाणी और मन के द्वारा तपा जाता है उसे सात्त्विक तप कहते हैं ॥१७॥ सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् । (गी० १७।१८) जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये तथा दम्भ के साथ किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर तप यहाँ राजस कहलाता है ॥ १८ ॥ मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (गी० १७।१९) अविवेकियों के द्वारा किये हुये आग्रह से अपनी शक्ति आदि की बिना जांच पड़ताल किये अपनी आत्मा को पीड़ा पहुँचा कर जो तप किया जाता है तथा जो तप दूसरों का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥ तपः कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेः भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्य करणम् ॥ (रामानुजभाष्यगी० १६।१) भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करने वाले कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादशी उपवासादि व्रतों के करने का नाम "तप" है ॥ १ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ (योग० अ० १ पा० २ सू० ४३) तप से अशुद्धि के नाश के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥ विट्ठलेशप्रपूजित भगवद्रामानुजाचार्य ने—अनुष्ठेयं बादरायणस्साम्यश्रुतेः ॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १६) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीयप्रपाठक के तेईसवें खण्ड की पहली श्रुति के तप द्वितीयः ॥ इन पदों को उद्धृत किया है तथा आचार्यकुल में रहने वाला ब्रह्मचारी गुरुकुल में अपने शरीर को अनेक प्रकार के नियमों से अत्यन्त क्षीण करता हुआ रहता है वह ब्रह्मचर्याश्रम धर्म का तीसरा स्कन्ध है। आचार्य का लक्षण लिखा है—आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥ गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः। एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ (अद्वयतारकोपनि०) जो वेद पढ़ा हो तथा विष्णु भगवान का भक्त हो और मत्सर रहित हो तथा योग को जानने वाला हो और योगनिष्ठ हो तथा सर्वदा योगात्मक हो और पवित्र हो तथा अपने गुरु का भक्त हो और पुरुष को विशेष रूपसे जानने वाला हो तो इन लक्षणों के युक्त को आचार्य कहते हैं। गु कहते हैं अन्धकार को तथा रु कहते हैं प्रकाश को तो जो अविद्यारूप अन्धकार को ज्ञानरूप सदुपदेश के प्रकाश से दूर करता है उसको गुरु कहते हैं। सत्सम्प्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य ॥ (नारदपरिव्राजको० उपदेश २) सत्सम्प्रदाय में स्थित श्रद्धा वाले अच्छे कुल में उत्पन्न वेदपाठी शास्त्र वात्सल्य से युक्त दया आदि गुण वाले अकुटिल सद्गुरु का आश्रयण करके तत्त्वज्ञान प्राप्त करे ॥२॥ तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (मुण्डको० मुं १ ख० २ श्रु० १२) वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि लिये हुये उस परब्रह्म नारायण को जानने के लिये वेद वेदान्त को भलीभाँति जानने वाले और ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाले गुरु को शरणमें निश्चय करके विनय पूर्वक जाय ॥१२॥

वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो विद्यास्थानविचक्षणः। ऊहापोहविधानज्ञो दैवपित्र्यक्रियापरः ॥ १ । अवक्ता चापवादानामकर्ता पापकर्मणाम्। अमत्सरी परोत्कर्षे परदुःखे घृणापरः ॥ २ ।' दयावान्सर्वभूतेषु हृष्टः परसुखोदये। पुण्येषु मुदितायुक्त उपेक्षावान्कुबुद्धिषु ॥ ३ ॥ तपःसन्तोषशौचाढ्यो योगस्वाध्यायतत्परः। पाञ्चरात्रविधानज्ञस्तंत्रान्तरविचक्षणः ॥ ४ ॥ तंत्राणामन्तरज्ञश्च मंत्राणां कृत्यतत्त्ववित्। पदवाक्यप्रमाणज्ञो हेतुवादविचक्षणः ॥ ५ । सामान्यस्यापवादस्य वेत्ता यंत्रविचक्षणः। कुण्डमण्डपभेदज्ञः क्रियाकारविचक्षणः ।६॥ अध्यात्मज्ञानकुशलः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः। सदन्ववायसंभूत आचार्यो नाम वैष्णवः ॥ ७ ॥ (अहिर्बुध्न्यसंहि० अ० २० श्लो १—७)

जो वेद तथा वेदान्त के तत्त्व को जानने वाला हो तथा विद्या के स्थान का पंडित हो और ऊहा पोह के विधान को जानने वाला हो तथा देवता और पितरों की क्रियाओं में तत्पर हो ॥ १ ॥ तथा किसी के अपवाद को नहीं कहने वाला हो और पाप कर्मों का नहीं करनेवाला हो तथा दूसरेके उत्कर्ष में मत्सर नहीं करने वाला हो और दूसरे के दुःख का उदय होने पर दया युक्त हो ॥ २ ॥ सब प्राणियों में दया वाला हो तथा दूसरे के सुख के उदय होने पर प्रसन्न हो और पुण्य में मोद से युक्त हो तथा कुबुद्धियों में उपेक्षा वाला हो ॥ ३ ॥ तपस्या सन्तोष तथा शौच से युक्त हो तथा योगाभ्यास और स्वाध्याय में तत्पर हो तथा पाञ्चरात्र के विधान को जानने वाला हो और अन्य तन्त्रों का पण्डित हो ॥ ४ ॥ तथा सब तन्त्रों के अन्तर को जानने वाला हो और मन्त्रों के कृत्य के तत्त्व को जानने वाला हो तथा पद वाक्य और प्रमाणों का ज्ञाता हो और कारण वाद में विचक्षण हो ॥ ५ ॥ सामान्य अपवाद का जानने वाला हो और यंत्र का विद्वान् हो तथा कुण्ड और मण्डप के भेद को जानने वाला हो और क्रिया कराने में निपुण हो ॥ ६ ॥ त अध्यात्म ज्ञान में निपुण हो और शान्त हो तथा दान्त हो और जितेन्द्रिय हो तथा सुन्दर वंश में जन्म लिया हो और श्रीवैष्णव हो तो इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥७॥ स्वयं वा भक्तिसम्पन्नो ज्ञानवैराग्यभूषितः। स्वकर्मनिरतो नित्यमर्हत्याचार्यतां द्विजः॥ (भारद्वाजसंहि० अ० १)

श्लो० ४०) अथवा स्वयं भक्ति सम्पन्न हो और ज्ञान तथा वैराग्य से भूषित हो, नित्य ही अपने कर्म में निरत हो तो ब्राह्मण आचार्य हो सकता है ॥४०॥ **विश्वात्मन्यात्मनो न्यासं धिया वृत्तिं च शाश्वतीम् । मंत्रेणोच्चारयेद्यस्तु स आचार्यः परो मतः ॥** (भारद्वाजसंहि० अ० १ श्लो० ४५) जो ब्राह्मण भगवान विश्वम्भर के विषय में बुद्धि से मंत्रोच्चारण करते हुए अपने शिष्यों का आत्म-समर्पण कराता है और अपनी वृत्ति का सदा पालन करता है वही श्रेष्ठ आचार्य कहा गया है ॥ ४५ ॥ **आचार्य आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा** (निरुक्त० नैघण्टुककां० अ० १ पा० २ ख० २) जो आचार को ग्रहण करता है और शास्त्र के अर्थों को एकत्रित करता है तथा ज्ञानको सम्पादन करता है वही आचार्य है ॥ २ ॥ **उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥** (मनु० २।१४०) जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत करके कल्प और रहस्य सहित वेद को पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं ॥ १४० ॥ **आचार्यं समाश्रयेत्पूर्वमनवद्यं च वैष्णवम् । शुद्धसत्त्वगुणोपेतं नवेज्याकर्मकारकम् ॥ सत्सम्प्रदायसंयुक्तं मंत्ररत्नार्थकोविदम् ज्ञानवैराग्यसंपन्नं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥ ५ ॥ शासितारं सदाचारैः सर्वधर्मविदां वरम् । महाभागवतं विप्रं सदाचारनिषेविणम् ॥ ६ ॥ आलोक्य सर्वशास्त्राणि पुराणानि च वैष्णवः । तदर्थमाचरेद्यस्तु स आचार्य इतीरितः ॥७** (वृद्धहारीतस्मृ० अ० २ श्लो० ४-७) पहले अनवद्य वैष्णव शुद्ध सत्त्व गुणों से युक्त नवेज्या कर्म करने वाले आचार्य का आश्रयण करे ॥ ४ ॥ सत्सम्प्रदाय से युक्त और द्वयमन्त्र के अर्थ को जानने वाले ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त वेद और वेदाङ्ग को पार किये हुये ॥ ५ ॥ सदाचारों से शिक्षा देने वाले सम्पूर्ण धर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ महाभागवत सदाचारसेवी ब्राह्मण को आचार्य के लिये आश्रयण करे ॥ ६ ॥ जो वैष्णव सम्पूर्ण शास्त्र और पुराणों को देखकर भगवान के लिये आचरण करता है उसको आचार्य कहते हैं ॥७॥ नवेज्या के विषय में स्पष्ट वृद्धहारीतस्मृति में लिखा है -

अर्चनं मन्त्रपठनं ध्यानं होमश्च वन्दनम् । स्तुतिर्योगः समाधिश्च तथा मन्त्रार्थचिन्तनम् ॥ (वृद्धहा० अ० ११ श्लो० १५०) एवं नवविधा प्रोक्ता चेज्या वैष्णवसत्तमैः ॥ १५१ । श्रीमन्नारायण का अर्चन करना १, मंत्र पढना २, ध्यान करना ३, हवन करना ४, वन्दना करना ५, स्तुति करना ६, योगाभ्यास करना ७, समाधि करना ८ और मन्त्रार्थ का अनुसन्धान करना ९ ॥ १५० ॥ इस प्रकार से नौ प्रकार के यज्ञ वैष्णव सत्तमों ने कहा है ॥ १५१ ॥ कृष्णसारचरे देशे उत्पन्नश्च शुभाकृतिः। शौचाचारतो नित्य पाषण्डकुलनिस्पृहः ॥ (मत्स्यपु० अ० २६५ श्लो० २) समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । ऊहापोहार्थतत्त्वज्ञो वास्तुशास्त्रपरायणः ॥ ३ ॥ सर्वावयवसम्पूर्णो वेदमंत्रविशारदः । पुराणवेत्ता तत्त्वज्ञो लोभमोहविवर्जितः ॥ ४ ॥ आचार्यश्च भवेन्नित्यं सर्वदोषविवर्जितः ॥ ५ ॥ जो कृष्णसार मृग के विचरने वाला देश भारतवर्ष में जन्म लिया हो और सुन्दर आकार वाला हो तथा शौचाचार में निरत हो और सर्वदा पाखण्ड कुल की स्पृहा से रहित हो ॥ २ ॥ शत्रु, मित्र और मान अपमान में एक समान हो और ऊहापोह के अर्थ के तत्त्व को जानने वाला हो तथा वास्तुशास्त्र परायण हो ॥ ३ ॥ सब देह के अङ्गों से सम्पन्न हो और वैदिक मंत्रों का विशारद हो तथा पुराणों को जानने वाला हो और तत्त्वत्रय को जानने वाला हो तथा लोभ मोह से रहित हो ॥ ४ ॥ और सर्वदा दोषों से हीन हो तो वह आचार्य हो सकता है ॥ ५ ॥ स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि । आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते ॥ (ब्रह्माण्डपु० पूर्वाभ० आनुषङ्गिकपाद० अ० ३२ श्लो० ३२) शास्त्रानुसार स्वयं जो आचरण करता है और आचरण करवाता है तथा शास्त्रों को एकत्रित करता है उसे आचार्य कहते हैं ॥ ३२ ॥ आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः । मंत्रज्ञो मंत्रभक्तश्च सदा मंत्रात्मकः शुचिः । (पाद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२३ श्लो० ५०) सत्सम्प्रदायसंयुक्तो ब्रह्मविद्याविशारदः । अनन्यसाधनश्चैव तथानन्यप्रयोजकः ॥ ५१ ॥ ब्राह्मणो वीतरागश्च क्रोधलोभविवर्जितः । सद्वृत्तोपासिता चैव

मुमुक्षुः परमार्थवित् ॥ ५२ ॥ एवमादिगुणोपेत आचार्यः स उदाहृतः ॥ ५३ ॥ आचार्य वेद पढ़ा हो तथा विष्णु का भक्त हो तथा मंत्र जानने वाला हो और मंत्रों का भक्त हो तथा सर्वदा मन्त्र के अधीन रहता हो और पवित्र हो ॥ ५० ॥ सत्सम्प्रदाय से युक्त हो और ब्रह्मविद्या में निपुण हो तथा अनन्योपाय हो और अनन्य प्रयोजक हो ॥ ५१ ॥ और राग रहित ब्राह्मण हो तथा क्रोध और लोभ से रहित हो तथा शुद्ध आचार वाला हो और मोक्ष की इच्छा वाला हो तथा श्रेष्ठ तत्त्व को जानने वाला हो ॥ ५२ ॥ इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥ ५३ ॥ **यस्तु मन्त्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः । स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः ।** (पाद्मपु० ख० ६ अ० २२६ श्लो० ४) संसार के बन्धन को विनाश करने वाला जो श्रीवैष्णव द्वयमंत्र को अच्छे प्रकार से पढ़ाता है उसको आचार्य जानना चाहिये ॥ ४ ॥ **सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं सत्त्वस्थं सत्यवाचं समनियमतया साधुवृत्त्या समेतम् । दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत् ।** (न्यासविंशति० श्लो० १) श्रीमन्नारायण के शरणागत होने वाला पुरुष सत्सम्प्रदाय में निष्पन्न स्थिर बुद्धि वाला पापरहित वेदपाठी परब्रह्म को साक्षात् करने वाला सत्त्व गुण में स्थित सत्य भाषण करने वाला समय नियत होने से सर्वदा साधु की वृत्ति से युक्त रहने वाला दम्भ पाखण्ड असूया आदिक से रहित विषयगुणों को जीतने वाला दीर्घबन्धु वाला दयालु सन्मार्ग से स्खलित जनों के शासक और अपना तथा दूसरे का हित करने में तत्पर आचार्य को प्राप्त करने की इच्छा करे ॥ १ ॥ ब्रह्मचारी के विषय में लिखा है—**मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् । कटिसूत्रं च कौपीनं ब्रह्मचारी तु धारयेद् ॥** (पाञ्चरात्र०) मेखला, चर्म, दण्ड यज्ञोपवीत कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन को ब्रह्मचारी सदा धारण करे । **कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥** (मनु० अ० २ श्लो० ४१) ब्राह्मण ब्रह्मचारी

को कृष्ण मृग के चर्म उत्तरीय धारण करना चाहिये तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी को चित्रमृग के चर्म उत्तरीय धारण करना चाहिये और वैश्य ब्रह्मचारी को बकरे का चर्म उत्तरीय धारण करना चाहिये। और ब्राह्मण ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र सन का होना चाहिये तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र तिसी का बना हुआ होना चाहिये और वैश्य ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र भेड़ के केश का बना हुआ ऊर्णामय होना चाहिये ॥ ४१ ॥

वासांसि शाणक्षौमा विकानि ॥ १६ ॥ ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥ १७ ॥ रौरवं राजन्यस्य ॥ १८ ॥ आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥ १९ ॥ (पारस्करगृह्य० कां० २ कण्डि० ५ सू० १६—१९) ब्राह्मण ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र सन का बना हुआ होना चाहिये और क्षत्रिय ब्रह्मचारी का कटिबस्त्र तिसी के छिलके का बना हुआ होना चाहिये तथा वैश्य ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र भेड़ के केश का बना हुआ ऊर्णामय होना चाहिये ॥ १६ ॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी को कृष्ण मृग के चर्म का उत्तरीय होना चाहिये ॥ १७ ॥ क्षत्रिय ब्रह्मचारी के चित्रमृग के चर्म का उत्तरीय होना चाहिये ॥१८॥ वैश्य ब्रह्मचारीका बकरेका चर्म अथवा गौके चर्मका उत्तरीय होना चाहिये ॥ १९ ॥ **शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य माञ्जिष्ठं क्षौमं च क्षत्रियस्य पीतं कौशेयं वैश्यस्य ॥** (वसिष्ठसंस्काररत्नमाला) शुक्ल बिना फटा हुआ सुन्दर वस्त्र ब्राह्मण ब्रह्मचारी का होता है और माञ्जिष्ठ रङ्ग के तिसी के सूता से बना हुआ क्षत्रिय ब्रह्मचारीका कटिवस्त्र होता है तथा पीत वर्ण के कौशेय वस्त्र वैश्य ब्रह्मचारीका होता है ॥ **सर्वेषां कार्पासं वाऽविकृतम् ॥** (गौतम) अथवा विकार रहित सफेद कपास के सूते का बना हुआ वस्त्र सब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के ब्रह्मचारियों का होता है ॥ **तामसं नग्नमेकं तु राजसं वसनद्वयम् । कौपीनसहितं तत्तु सात्त्विकं मुनिभिः स्मृतम् ॥** (भारद्वाजसंहि० अ० ४ श्लो० ५५) केवल एक वस्त्र का धारण करना नग्न के समान तामस है और दो वस्त्रों का धारण करना राजस है तथा कौपीन कटिवस्त्र और उत्तरीय इन तीनों का धारण करना सात्विक है ऐसा मुनियों ने कहा है ॥ ५५ ॥ **अयुक् सूत्रैर्व्यतिस्यूतं धारयेत्कटिबन्धनम् । कौपीनं वस्त्रयुग्मं च यथार्हमितराणि च** (भारद्वाजसं० अ० ३ श्लो० ८०) दो सौ

चालिस चौवा के और यज्ञोपवीत के समान नौ सूत्र से बना हुआ कटि सूत्र तथा कौपीन को और कटिवस्त्र को तथा उत्तरीय को यथायोग्य धारण करे ॥८०॥ **मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला। क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ।** (मनु० अ० २ श्लो० ४२) **मुञ्जाभावे तु कर्तव्याकुशाश्मन्तकबल्वजैः । त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव च ॥४३॥** मुञ्ज की त्रिगुनी रस्सी की बनी हुई अत्यन्त चिक्कन ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला बनानी चाहिये और क्षत्रिय ब्रह्मचारी की स्नायुमयी यानी चर्म ताँत की मेखला बनानी चाहिये तथा वैश्य ब्रह्मचारी के सन की तांत की मेखला बनानी चाहिये ॥४२॥ यदि मुञ्ज का अभाव हो तो कुश की मेखला ब्राह्मण ब्रह्मचारी के बनाना चाहिये तथा यदि धनुष की ज्या का अभाव हो तो अश्मन्तक तृण की मेखला क्षत्रिय ब्रह्मचारी के बनाना चाहिये और यदि सन के सूत का अभाव हो तो बल्वज तृण की मेखला वैश्य ब्रह्मचारी के बनाना चाहिये। ये त्रिवृत मेखलायें एकग्रन्थि या तीन ग्रन्थि अथवा पाँच ग्रन्थि से युक्त होनी चाहिये ॥४३॥ **मौञ्जीरशना ब्राह्मणस्य ॥ २१ ॥ धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥ २२ ॥ मौर्वी वैश्यस्य ॥ २३ ॥ मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् ॥ २४ ॥** (पारस्करगृ० कां० २ कण्डि० ५ सू० २१—२४) मुञ्ज तृण की बनी हुई ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला होती है ॥ २१ ॥ धनुष की ज्या की स्नायुमयी क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मेखला होती है ॥२२॥ मुरुतृण की बनी हुई वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला होती है ॥२३॥ मुञ्ज के अभाव में कुश की मेखला ब्राह्मण ब्रह्मचारी की होती है। धनुष की ज्या के अभाव में अश्मन्तक तृण की मेखला क्षत्रिय ब्रह्मचारी की होती है। मुरु तृण के अभाव में बल्बज तृण की मेखला वैश्य ब्रह्मचारी की होती है ॥२४॥ **मेखला सप्तहस्ता स्यादजिनं तु द्विहस्तकम् ॥** ब्रह्मचारी की मेखला सात हाथ की होनी चाहिये और उत्तरीय वा चर्म दो हाथ का होना चाहिये। **वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः ॥** (परब्रह्मोप० श्रु०) **नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत्सुधीः ॥ ११ ॥** बायें कन्धा से लेकर

दाहिनी कटि पर्यन्त यज्ञोपवीत होता है ॥१०॥ नाभि से लेकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त प्रमाण वाला यज्ञोपवीत को सुधीजन धारण करे ॥ ११ ॥ **कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् । शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥** (मनु० अ० ३श्लो०४४) त्रिगुण किया ऊर्ध्ववृत दक्षिणा वर्तित कपास के सूता का बना हुआ यज्ञोपवीत ब्राह्मण का होता है तथा सन के सूता का क्षत्रिय का होता है और भेड़ के केश का ऊर्णामय वैश्य का यज्ञोपवीत होता है ॥४४॥ **असिरोडशविप्राणां क्षत्रियाणां असि दश । असि पञ्च तु वैश्यानां मानं तदिह कथ्यते ॥** (आगम) छानबे चौवा के यज्ञोपवीत ब्राह्मण के तथा नब्बे चौवा के यज्ञोपवीत क्षत्रिय के और पचासी चौवा के यज्ञोपवीत वैश्य का शास्त्र में कहा गया है ॥ **यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नवतन्तवः** (देवल०) नौ सूता के यज्ञोपवीत बनाना चाहिये। **एकैकमुपवीतं तु यतीनां ब्रह्मचारिणाम् । गृहिणां च वनस्थानामुपवीत द्वयं स्मृतम् ॥** (बृद्धहारीतस्मृ० अ० ८ श्लो०४४) **त्रयमूर्ध्वद्वयं तन्तु तन्तुत्रयमधोवृतम् त्रिवृच्च ग्रन्थिनैकेन उपवीतमिहोच्यते ॥४६॥ अर्ककार्पासकौशेयक्षौमशाणमयानि च । तन्तूनि चोपवीतानां योज्यानि मुनिसत्तमाः ॥४७॥ सर्वेषामप्यलाभे तु कुर्यात्कुशमयं द्विजः । ४८।** ब्रह्मचारी और संन्यासी के एक एक यज्ञोपवीत शास्त्र में कहा गया है और गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के दो यज्ञोपवीत कहा गया है ॥४४॥ छानबे चौवा के तीगुना हुआ सूता को ऊपर में दो बार नीचे में एक बार ले जाकर नौ ताग बनाकर ऐंठ देवे इसके बाद उसके त्रिवृत् करके प्रधान गांठ दे तो उसको यज्ञोपवीत कहते हैं ॥४६॥ हे मुनिसत्तम एकवन के छिलके का या कपास के सूते का या रेशम का या तिसी के छिलके का या सन का अथवा भेड़ के केश के तन्तु से यज्ञोपवीत बनाना चाहिये ॥४७॥ पूर्वोक्त कोई तागा यदि नहीं प्राप्त हो तो द्विज कुशा का यज्ञोपवीत बनावे ॥ ४ ॥ **ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ । पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥**(मनु० अ० २ श्लो० ४५)**केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः । ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको**

विशः ।४६। ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः। अनुद्वेगकरानृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ ४७॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी धर्मानुसार श्रीफल तथा पालाश के दण्ड को, क्षत्रिय ब्रह्मचारी वट तथा खैर के दण्ड को और वैश्य ब्रह्मचारी गूलर तथा पाकड़ के दण्ड को धारण करे ॥४५॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड केशान्त पर्यन्त और क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाट पर्यन्त तथा वैश्य ब्रह्मचारी का दण्ड नाक पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में होना चाहिये ॥४६॥ वे सब दण्ड कोमल, व्रणरहित देखने में अत्यन्त सुन्दर छिलका सहित अग्नि के दाह से रहित प्राणियों के नहीं उद्विग्न करने वाले शास्त्र में विधान किये गये हैं ॥४७॥ **पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ।** (पारस्करगृ० कां० २ कण्डि–५ सू० २५) **बैल्वो राजन्यस्य ॥२६॥ औदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥** ब्राह्मण ब्रह्मचारी के पालाश का दण्ड होता है ॥२५॥ क्षत्रिय ब्रह्मचारी के श्रीफल का दण्ड होता है ॥२६॥ वैश्य ब्रह्मचारी के गूलर का दण्ड होता है ॥२७॥ **गृहस्था ललाटादिद्वादशस्थलेष्वनामिकाङ्गुल्या वैष्णवगायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धारयेत्। ब्रह्मचारी वनस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णादिनामभिर्वा धारयेत् । यतिस्तर्जन्या शिरो ललाटहृदयेषु प्रणवेनैव धारयेत् । परमहंसो ललाटे प्रणवेनैकमूर्ध्वपुण्ड्रं वा धारयेत् ॥** (वासुदेवोप०) गृहस्थ ललाट आदिक बारह स्थलों में अनामिका अंगुली से वैष्णव गायत्री अथवा केशवादिक नामों करके ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करें तथा ब्रह्मचारी और वनस्थ ललाट हृदय कण्ठ और बाहुमूल में वैष्णव गायत्री से अथवा कृष्ण आदिक नामों से ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करें तथा कुटीचक बहूदक और हंस संन्यासी तर्जनी अंगुली से सिर ललाट और हृदय में प्रणव मंत्र से ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करें और परमहंस संन्यासी ललाट पर प्रणवमंत्र से एक ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करें ॥ **अग्निष्टोमसहस्राणि वाजपेयशतानि च । तेषां पुण्यमवाप्नोति ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणात् ॥** (ऊर्ध्वपुण्ड्रोप० खं० ५ श्रु० ११) ऊर्ध्वपुण्ड्र के धारण करने से हजार अग्निष्टोमयज्ञ करने का और सौ वाजपेय यज्ञ करने का पुण्य प्राप्त करता है

॥११॥ **सन्ध्याकाले जपेहोमे स्वाध्याये पितृतर्पणे । श्राद्धे दाने च यज्ञे च धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥** (पराशरीयधर्मशा० उत्तरखं० अ० २ श्लो० १४) सन्ध्या वन्दन समय में जप, में हवनमें, स्वाध्यायमें, पितृतर्पण में, श्राद्ध में दान में और यज्ञ में ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥ १४ ॥ **तथैव बिभृयाद्भाले पुण्ड्रं शुभ्रतरं मृदा । बिभृयादुपवीतं तु सव्यस्कन्धे विधानतः ॥** (वृद्धहारीतस्मृ० अ० ८ श्लो० ४१) जैसे बायें कन्धे पर विधान से यज्ञोपवीत को धारण करे वैसे ही ललाट पर सफेद मिट्टी से सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे ॥४१॥ **नासिकामूलमारभ्य ललाटान्तं तु विन्यसेत् । अङ्गुलं द्व्यङ्गुलं वापि मध्येच्छिद्रं प्रकल्पयेत् ॥** (वृद्धहा० अ० ८ श्लो० ७२) **पार्श्वे चाङ्गुलिमात्रं तु विन्यसेद् द्विजसत्तमः ।पुण्ड्राणामन्तरालेषु हरिद्रां धारयेच्छ्रियम्** ॥७२। **ललाटे पृष्ठयोः कण्ठेभुजयोरुभयोरपि । चतुरङ्गलमात्रं तु विभृयादायतं द्विजः** ।७४॥ **उरस्यष्टाङ्गुलं धार्यं भुजयोरायत तथा । उदरे पार्श्वयोर्नित्यमायतं तु दशाङ्गुलम्** ॥७५॥ नासिका के तृतीय भाग को नासिका मूल कहते हैं उस नासिका के मूल से प्रारम्भ करके ललाट के अन्त तक ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करके और दोनो रेखाओं के मध्य में एक अंगुल या दो अंगुल छिद्र कल्पना करे ॥७२॥ श्रेष्ठ ब्राह्मण छिद्र के पार्श्वमें एक अंगुलमात्र चौड़ा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे और दोनों पार्श्व के पुंड्र के मध्य में अन्तराल युक्त हल्दी से बना हुआ श्रीचूर्ण को धारण करे ॥७३॥ और द्विज ललाट १, पीठ २, गर्दन ३, कण्ठ ४, दाहिना कन्धा ५, वाम कन्धा ६, इन छः स्थानों पर चार चार अंगुल लम्बा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे ॥७४॥ तथा छाती १, दाहिना बाहु २, बायां बाहु ३, इन तीन स्थानों पर आठ आठ अंगुल लम्बा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण कर और पेट १, दाहिनी कुक्षि २, बायीं कुक्षि ३ इन तीन स्थनों पर दस दस अंगुल लम्बा उर्ध्वपुण्ड्र धारण करे ॥७५॥ **नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् । देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥** (मनु० अ० श्लो० १७६) **वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः । शुक्तानि यानि**

सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥ अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णो- रुपानच्छत्रधारणम् । कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥ द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् । स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९ ब्रह्मचारी स्नान करके पवित्र होकर देव ऋषि और पितृ के तर्पण तथा देवताओं की पूजा और समिदाधान नित्य प्रति करे ॥१७६॥ ब्रह्मचारी मधु और मांस का भोजन न करे कर्पूर, चन्दन, कस्तूरी, इत्र, तेल आदिक देह में न लगावे, माला न धारण करे, खाटा, तीता, कड़आ, गुड़ आदिक रसों का भोजन न करे स्त्री से रति न करे, सिरका आदि सेवन न करे और समस्त प्राणियों की हिंसा न करे ॥१७७॥ तेल या अबटन आदिक से देह मर्दन न करे दोनों नेत्रों में कज्जल या सुर्मा धारण न करे, जूता न पहने छाता न लगावे और काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना, बाजा आदि दुर्व्यसनों का परित्याग करे ॥१७८॥ जुआ खेलना, निरर्थक मनुष्यों से कलह करना, दूसरों के दोष को कहना, झूठ बोलना और मैथुन की इच्छा से अनुराग सहित स्त्रियों को देखना तथा आलिंगन करना और दूसरों का अपकार करना इत्यादि कर्मों को ब्रह्मचारी परित्याग करे ॥१७९॥ **अधः शय्यक्षाराल वणाशी स्यात् ॥**(पारस्करगृ० कां० २ कण्डि० ५ सू० १०) **दण्डधार- णमग्निचरणगुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥ मधुमांसमज्जनोपर्यासन स्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥१२॥** ब्रह्मचारी नीचे पृथिवी पर शयन करे, खारा और नमकीन वस्तु का भोजन न करे ॥१०॥ अपने वर्णानुसार दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत आदि सर्वदा धारण करे सुबह साँझ अग्नि में हवन कर सर्वदा गुरु की सेवा करे और नित्य प्रति भिक्षाटन करे ॥११॥ मधु और मांस का भोजन न करे ह्रद देवतीर्थ आदि में कूद कर स्नान न करे पलङ्ग के ऊपर या तोसक आदि के ऊपर आसन न लगावे, स्त्रियों के मध्य में न जावे, असत्य भाषण न करे, और बिना दिये हुये किसी वस्तु को न ग्रहण करे ॥ १२ ॥ द्वादशसहस्रकान्तिसेवित भगवद्रामानुजाचार्य **अनुष्ठेयं बादरायण- स्साम्यश्रुतेः ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० १९) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का तेईसवें खण्ड की पहलीश्रुतिके

तृतीयः ॥ इस पद को और **तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः**(शा०३।४।४०) केश्रीभाष्यमें **ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्** । इस अंश को उद्धृत किया है। ब्रह्मनिष्ठाविकल केवल आश्रमी ब्रह्मचारी या गृहस्थ या वानप्रस्थी अथवा संन्यासी ये सब पुण्यलोक यानी ब्रह्मा, इन्द्र, सोमादि लोक को प्राप्त करते हैं। परन्तु चारों आश्रमियों में जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह मुक्ति को पाता है। क्योंकि लिखा है —**ब्राह्मं संन्यासिनां स्मृतम् ॥** (बिष्णुपु० अं० १ अ० ६ श्लो० ३६) ब्रह्मनिष्ठाहीन संन्यासियों के मरने पर ब्रह्मा का लोक कहा गया है ॥३७॥ **एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तत्परम स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥** (विष्णुपु० अं० १ अ० ६ श्लो० ३६) निश्चय करके दिव्यसूरिलोग जिस जिस स्थान को सर्वदा देखते हैं उस श्रेष्ठ स्थान को सर्वदा परब्रह्म नारायण का ध्यान करने वाला एकान्ती ब्रह्मनिष्ठ योगी पुरुष प्राप्त करता है ॥३६॥ ब्रह्म के विषय में लिखा है—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ॥**(तैत्ति० उ० व० ३ अनु ०१ श्रु०१)जिससे निश्चय ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुये सब भूत जिस करके जीवित रहते हैं तथा जिसमें प्रवेश करते हैं और अन्त में जिस करके मुक्त हो जाते हैं उसके विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है ॥१॥**जन्माद्यस्य यतः ॥** (शा० मी० १।१।२) इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् के जिससे उत्पत्ति पालन प्रलय आदिक होता है वही ब्रह्म है ॥२॥ **ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते॥** (श्रीभाष्य जिज्ञासाधिकर०१) ब्रह्म शब्द से स्वाभाविक समस्त दोषों से रहित और सीमा रहित अतिशय असंख्य कल्याण गुणगण सम्पन्न पुरुषोत्तम नारायण कहे जाते हैं ॥११॥ सप्तशतयतिपूजित भगवद्रामानुजाचार्य ने **परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदतिहि ॥**(शा०मी० ३।४।१८ **अनुष्ठेयं बादरायणस्साम्यश्रुतेः ॥**(शा० मी० ३।४।१९) **अत एव चा**

ग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । (शा० मी० ३।४।२५) **मौनवदितरेषामप्युपदेशात्** (शा० मी ३।४।४८) इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक के तेईसवें खण्ड की पहली श्रुति के **ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति** ।। इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥१॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत् । तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥२॥

अन्वयार्थ- (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक नारायण ने (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों को (अभ्यतपत्) सारनिष्कर्ष के लिये पर्यालोचनरूप तप किया (अभितप्तेभ्यः) चारों ओर से तप्त (तेभ्यः) उन लोकों से (त्रयी) ऋग् यजुः साम रूपा (विद्या) वेद विद्या (संप्रास्रवत्) साररूप से निष्पन्न हुई (ताम्) फिर प्रजापति ने उस त्रयी विद्या को (अभ्यतपत्) ज्ञानमय तप से भलीभाँति तपाया (अभितप्तायाः) चारों ओर से तप्त (तस्याः) उस त्रयी विद्या से (भूः) भूः तथा (भुवः) भुवः और (स्वः) स्वः (इति) इस प्रकार के (एतानि) ये सार रूप (अक्षराणि) अक्षर निष्पन्न हुये ॥२॥

विशेषार्थ—प्रजाओं के रक्षक परब्रह्म नारायण ने समस्त लोकों को उद्देश्य करके सारनिष्कर्ष के लिये पर्यालोचन रूप तप किया। क्योंकि लिखा है— **यस्यज्ञानमयं तपः** ।। (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परमात्मा का ज्ञानमय तप है ॥ १० ॥ **चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्** । (मनु० अ० १२ श्लो० ९७) चारवर्ण तथा तीन लोक और चार आश्रम अलग अलग हैं ॥ ९७ ॥ चारो ओर से तप्त उन लोकों से ऋग् यजुः साम रुपा त्रयी विद्या सार रुप से निष्पन्न हुई। फिर परब्रह्म नारायण ने उस त्रयी विद्या को ज्ञानमय तप से भलीभाँति तपाया अनन्तर चारों ओर से अभितप्त त्रयी विद्या से साररूप "भू" तथा "भुवः" और "स्वः" ये अक्षर–अविनश्वर निष्पन्न हुये। इन व्याहृतियों का अर्थ बृद्धहारीतस्मृति में लिखा है— **भूरित्येव हि ऋग्वेदो भुव इति यजुस्तथा । स्वरिति सामवेदः स्यात्** ।। (वृद्धहारी० अ० ६ श्लो० ८९) **भूर्विष्णुश्च तथा लक्ष्मीर्भुव इत्यभिधीयते। तयोः स्वरिति ज वस्तु**

सुव इत्यभिधीयते ।। ६० ।। निश्चय करके 'भू:' का अर्थ ऋग्वेद है तथा 'भुव:' का अर्थ यजुर्वेद है और 'स्व:' का अर्थ सामवेद है ।। ८६ ।। अथवा 'भू:' का अर्थ विष्णु यानी नारायण भगवान है और 'भुवः' का अर्थ लक्ष्मी देवी कहा गया है और उन दोनों लक्ष्मी नारायण का शेष जीव 'स्व:' का अर्थ शास्त्र में कहा गया है ।। ६०।। इसका विशेष अर्थ 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की गूढार्थदीपिका, व्याख्या में मैं लिख चुका हूँ इससे वहाँ ही सज्जन लोग अवलोकन कर लें ।। २ ।।

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्तद्यथा-शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा-वाक् संतृण्णोङ्कार एवेदं सर्वमोङ्कार एवेदं सर्वम् ।। ३ ।।

।। इति द्वितीयप्रपाठके त्रयोविंशखण्डः ।।

अन्वयार्थ—(तानि) उन भूर्भुवः स्वः इन तीन अक्षरों को अभ्य-तपत् प्रजाओं के रक्षक नारायण ने सार निष्कर्ष के लिये पर्यालोचन रूप तप किया (अभितप्तेभ्यः) चारों ओर से तप्त (तेभ्यः) उन भूर्भुवः स्वः अक्षरों से (ओङ्कारः) साररूप ओंकार (सम्प्रास्रवत्) अच्छे प्रकार से निष्पन्न हुआ (तत्) सो (यथा) जैसे (शङ्कुना) पत्तों के नाल से (सर्वाणि) समस्त (पर्णानि) पत्ते (संतृण्णानि) व्याप्त हैं (एवम्) इसी प्रकार (ओङ्कारेण) ओंकार से (सर्वा) सम्पूर्ण (वाक्) वाणी (संतृण्णा) व्याप्त है। अतः ओंकार से परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये (ओङ्कारः) ओंकार (एव) ही (इदम्) यह (सर्वम्) सब वाङ्मय है (ओङ्कारः) ओंकार (एव) ही (इदम्) यह (सर्वम्) सब वाङ्मय है ।।३।।

विशेषार्थ—प्रजाओं के रक्षक परब्रह्म नारायण ने सारनिष्कर्ष के लिये उन 'भूः' तथा 'भुवः' और 'स्वः' इन अक्षरों को उद्देश्य करके फिर पर्यालोचन रूप तप किया। क्योंकि लिखा है— **यस्यज्ञानमयं तपः ।** (मुण्डको०मु०१खं०१श्रु० १०) जिस परमात्मा का ज्ञानमय तप है ।।१०।। चारों ओर से तप्त आलोचित उन 'भूः' 'भुवः' और 'स्वः' अक्षरों से साररूप ओंकार निष्पन्न हुआ। अब आगे ओंकार का वर्णन श्रुति करती है कि जिस प्रकार पत्तों के नाल से सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी

प्रकार ओंकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है । क्योंकि लिखा है— **ओंकारो वै सर्वा वाक्** (श्रुति) ओंकार ही सब वाणी है । ओंकार ही सब वाङ्मय है इससे ओंकार के द्वारा परब्रह्म नारायण की उपासना करनी चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण में भी लिखा — **तान्वेदानभ्यतपत्त-भ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्य जायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्यो-ऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति ॥** (ऐतरेयब्रा० पञ्चिका० ५ काण्ड ३२) प्रजापति ने उन वेदों को पर्यालोचन रुप तप किया अभितप्त उन वेदों से तीन निर्मल व्याहृतियाँ उत्पन्न हुई ऋग्वेद से 'भू:' यह व्याहृति उत्पन्न हुई तथा यजुर्वेद से 'भुवः' यह व्याहृति उत्पन्न हुई और सामवेद से 'स्वः' यह व्याहृति उत्पन्न हुई फिर प्रजापति ने उन निर्मल भू भुंवः स्वः इन तीनों को ज्ञानमय तप से तपाया उन अभितप्त व्याहृतियों से 'अ' 'उ' और 'म' ये तीन अक्षर उत्पन्न हुये इसके बाद उन तीनों अक्षरों को एक प्रकार के धारण किया वही यह ओम् है ॥३२॥ और ओंकार के विषय में लिखा है—**अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामति तस्मादुच्यते-ओङ्कारः ॥** (अथर्वशिर उप० श्रु० ४) ओङ्कार क्यों कहा जाता है-जिसके उच्चारण करने से प्राणादिक ऊपर को जाते हैं इससे ओङ्कार कहा जाता है ॥४॥ ओंकार का अर्थ बृद्धहारीत स्मृति में लिखा है-**अकारस्तु भवेद्विष्णुस्तदृग्वेद उदाहृतः । उकारस्तु भवेल्लक्ष्मीयजुर्वेदात्मको महान्।** (बृद्धहा० अ० ६ श्लो०६१ **मकारस्तु भवेज्जीवस्तयोर्दास उदाहृतः । पञ्चविंशाक्षरः साक्षात्साम वेदस्वरुपवान् । ६२ ॥ पञ्चविंशोऽयं पुरुष पञ्चविंश आत्मेति श्रुतिः । आत्मा च पञ्चविंशः स्यादिति तं मानसं स्मरेत् ॥ ६३ ॥ इत्यौपनिषदं ह्यर्थं विदित्वा स्वं निवेदयेत् । अवधारणमन्ये तु मध्य-माणं वदन्ति हि ॥ ६४ ॥ तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदपि चन्द्रमाः।**

इत्यवधारणश्रुतेरेवमेवोपबृंहितम् ॥ ६५ ॥ अकारेणैव श्रीशब्दः प्रोच्यते मुनिसत्तमैः। न्यायेन गुणशब्दस्तु तस्यैव श्रीपतेर्गशः॥६६॥ श्रीरस्येशाना जगतो विष्णुपत्नीति वै श्रुतिः। कल्याणगुणसिद्धिस्तु लक्ष्मीभर्तुश्चनेतरा ॥ ६७ ॥ सामानाधिकरण्यत्वात्कारणत्वं तदोच्यते। अकार एव सर्वेषामक्षराणां हि कारणम्। अकारो वै सर्वा वाक् इत्यादि श्रुतिवचस्था ॥ ६८ ॥ स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमानो नाना बहुविधोऽभवत्। कारणत्वं तथैवास्य विष्णोर्वै जगतां पतेः ॥ ६९ ॥ तस्मात्स्रष्टा च हर्ता च धाता च जगतां हरिः। रक्षिता जीवलोकस्य गुणवानेव सर्वगः॥ ७० ॥ अनन्या विष्णुना लक्ष्मीर्भास्करेण प्रभा यथा ॥ लक्ष्मीमनपगामिनीमिति श्रुतिवचो महत् ॥ ७१ । तस्मादकारो वै विष्णुः श्रीश एव जगत्पतिः। लक्ष्मीपतित्वं तस्यैव नान्यस्येति सुनिश्चितम्। ७२ ॥ नित्यैवैषा जगन्माता हरेः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवैषा जगन्मयी । ७३ ॥ तस्मादकारो वै विष्णुर्लक्ष्मीभर्ता जगत्पतिः ॥ ७३ ॥ प्रणाव में स्थित जो 'अ' है उस ऋग्वेद के साररूप अकार का अर्थ सर्व व्यापक परब्रह्म नारायण कहा गया है और यजुर्वेद के साररूप उकार का महान् अर्थ लक्ष्मी देवी होता है ॥ ६१ ॥ और सामवेद के साररूप पच्चीसवाँ अक्षर मकार का अर्थ पच्चीसवां तत्त्व जीव होता है जो कि लक्ष्मी नारायण के दास साक्षात् कहा गया है ॥ ६२ ॥ "पच्चीसवां तत्त्व जीवात्मा है" ऐसी श्रुति है कि इससे यह पुरुष यानी जीव पच्चीसवां तत्त्व है जीवात्मा पच्चीसवां तत्त्व है इस प्रकार उस को मानस स्मरण करे ॥ ६३ ॥ इस प्रकार से उपनिषद् प्रतिपाद्य अर्थ को जानकर निश्चय करके अपनी आत्मा को परब्रह्म नारायण के लिये निवेदन भक्त करे। अथवा अन्य प्रपन्न लोग मध्यम अक्षर उकार का अर्थ अवधारण कहते हैं ॥ ६४ ॥ 'वही अग्नि है, वही वायु है, वही सूर्य है और चन्द्रमा है', इन अवधारण श्रुति से इसी प्रकार निश्चय करके उकार का अर्थ अवधारण उपबृंहण किया गया है ॥ ६५ ॥ श्रेष्ठ मुनि लोग अकार से ही लक्ष्मी देवी को भी कहते हैं क्योंकि न्याय से वह गुणवाला श्रीशब्द उस पतिभगवान् के ही अंश

है ॥ ६६ ॥ "इस जगत् की स्वामिनी विष्णुपत्नी श्रीदेवी है" ऐसी श्रुति निश्चय करके है कल्याण गुणों की सिद्धि केवल लक्ष्मीपति नारायण का ही है दूसरों का नहीं ॥ ६७ ॥ समानाधिकरण होने से भी वह कारण कहा जाता है क्योंकि अकार ही सब अक्षरों के कारण है "अकार ही सब वाणी है" इत्यादि श्रुति वचन वैसे ही कहते हैं ॥ ६८ ॥ अकार ही स्पर्श संज्ञक और ऊष्मा संज्ञक आदि वर्णों से व्यज्यमान नाना रूप वाला और अनेक नाम वाला बहुत प्रकार हुआ है। वैसे ही जगत् पति इस विष्णु भगवान् की ही कारणता सिद्ध है ॥ ६९ ॥ इससे समस्त जगत् के बनाने वाला तथा पालन करने वाला और संहार करने वाला परब्रह्म नारायण है और दिव्य गुण वाला सर्वव्यापक वही नारायण जीवलोक का रक्षक है ॥ ७० ॥ जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य से अलग नहीं रहती है वैसे ही लक्ष्मी देवी विष्णु भगवान् से अलग नहीं रहती हैं 'लक्ष्मी कभी नारायण को नहीं त्यागकर जाने वाली' इस प्रकार के श्रेष्ठ श्रुतिका वचन है ॥ ७१ ॥ इस कारण से आकार का अर्थ जगत् के रक्षक लक्ष्मीकान्त सर्वव्यापक पर-ब्रह्म नारायण ही है। क्योंकि लक्ष्मी का पति वह नारायण ही है दूसरा कोई नहीं यह बात वेद से सुनिश्चित है ॥ ७२ ॥ और सर्वदा जगज्जननी लक्ष्मीदेवी नारायण भगवान् के साथ ही रहने वाली हैं। जैसे सर्वगत परब्रह्म नारायण हैं वैसे ही जगन्मयी यह लक्ष्मी देवी भी हैं ॥ ७३ ॥ इस कारण से अकार का अर्थ जगत् के पति लक्ष्मीकान्त सर्वव्यापक नारायण ही है ॥ ७४ ॥ इस प्रकार प्रणव का अर्थ प्रतिपादन किया गया। प्रकृत श्रुति में **'ओङ्कार एवेदं सर्वम्'** इस वाक्य का दो बार उच्चारण इस खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का तेईसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ चतुर्विंशखण्डः ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवेत्तालोग (वदन्ति) कहते हैं (यत्)

जो (प्रातः) प्रातःकाल के (सवनम्) सवन यानी यज्ञ का फल पृथ्वी लोक है (वसूनाम्) वह आठ वसु देवताओं का है (च, और (माध्यन्दिनम्) मध्याह्नकाल के (सवनम्) सवन यानी यज्ञ का फल अन्तरिक्षलोक है (रुद्राणाम्) वह ग्यारह रुद्रदेवताओं का है (च) और (तृतीयसवनम्) तृतीय सायंकाल के सवन यानी यज्ञ का फल स्वर्गलोक है (आदित्यानाम्) वह बारह आदित्य देवताओं का तथा (विश्वेषाम्) दस विश्वेदेव (देवानाम्) देवताओं का है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—ब्रह्मवेत्ता या वेदपाठी लोग कहते हैं कि जो प्रातःकाल के सवन यानो यज्ञ का फल पृथ्वीलोक है वह आठ वसु देवताओं का है। वसु देवता के विषय में लिखा है-**वसवो देवताः** । (यजु० अ० १४ मं २०) आठ वसु देवता हैं ॥ २०॥ **धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टविति स्मृताः॥**(महाभार० आदिप० १ अ० ६६ श्लो० १८) धर १, ध्रुव २, सोम ३, अहः ४, अनिल ५, अनल ६, प्रत्यूष ७, और प्रभास ८, इन आठों को वसु देवता कहते हैं। और मध्याह्न काल के सवन यानी यज्ञ का फल अन्तरिक्ष लोक है वह ग्यारह रुद्र देवताओं का है। रुद्र देवता के विषय में लिखा है—**रुद्रो देवता** ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०) ग्यारह रुद्र देवता हैं ॥ २० ॥ **मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः । अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तपः** । (महाभार० आदिप० १ अ० ६६ श्लो० २) **दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः । स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ३ ॥** मृगव्याध १, सर्प २, और महायशस्वी निर्ऋति ३, अजैकपाद् ४, अहिर्बुध्न्य ५, और परन्तप पिनाकी ६ ॥ २ ॥ दहन ७, ईश्वर ८, और महाद्युति कपाली १, स्थाणु १० और भगवान् भग ११ इन ग्यारहों को रुद्र देवता कहते हैं ॥ ३ ॥ और तृतीय सायकाल के सावन यानी यज्ञ का फल स्वर्गलोक है वह बारह आदित्य देवताओं का तथा दस विश्वेदेव देवताओं का है। आदित्य के विषय में लिखा है—**आदित्या देवताः** (यजु० अ० १४ मं० २०) बारह आदित्य देवता हैं ॥ २० ॥ **धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भागो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ।** (महाभार० आदिप० १

अ० ६५ श्लो० १५) **एकादशस्तथा त्वष्टाद्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ।१६॥** धाता १, मित्र २, अर्यमा ३, शक्र ४, वरुण ५ और अंश ६, भग ७, विवस्वान् ८, पूषा ९, और दशवां सविता १० ॥१५॥ तथा ग्यारहवां त्वष्टा ११, और बारहवां विष्णु यानी वामन १२ कहे जाते हैं इन समस्त बारह आदित्यों में सबसे अधिक गुण होने के कारण छोटा वामन भगवान् सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥ और विश्वेदेव देवता के विषय में लिखा है— **विश्वेदेवा देवताः ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) दस विश्वेदेव देवता हैं ॥ २० ॥ **विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः ॥** (वायुपुरा० अ० ६६ श्लो० ३१) **क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा । कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ॥ ३२ ॥** धर्म की पत्नी दक्षकन्या विश्वा से निम्नलिखित इन दस विश्वेदेव देवताओं की उत्पत्ति हुई थी वे विश्रुत हैं ॥ ३१ ॥ क्रतु १, दक्ष २, श्रव ३, सत्य ४, काल ५, काम ६, तथा धुनि ७, कुरुवान् ८, प्रभवान् ९ और रोचमान १० नाम के ये दस विश्वेदेव देवता हैं ॥ ३२ ॥ और भी लिखा है –**त्रयो वै देवाः । वसवो रुद्रा आदित्याः । तेषां विभक्तानि सवनानि । वसूनामेव प्रातः सवनम् । रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम् । आदित्यानां तृतीयं सवनम् ॥** (शतपथब्रा० काण्ड० ४) अथवा तीन ही देव हैं। वसुदेव तथा रुद्रदेव और आदित्य देव हैं। उन देवों के सवन विभक्त हैं । वसुदेवों का प्रातः सवन है तथा रुद्रदेवों का मध्याह्न सवन है और आदित्य देवों का तृतीय सायं सवन है ॥ ४ ॥ **गायत्री वै प्रातः सवनं वहति । त्रिष्टुप् माध्यन्दिनं सवनम् । जगती तृतीयसवनम् ॥** (शतप० ब्रा० कां० ४ अ० २) प्रातः सवन को विशेषरूप से गायत्री छन्द, माध्यन्दिन सवन को त्रिस्टुप् छन्द और तृतीय सवन को जगती छन्द वहन करते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार के समझना चाहिये ॥ १ ॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति । स य स्तं न विद्यात्कथं कुर्यात् । अथ विद्वान् कुर्यात् ।२॥

अन्वयार्थ—(तर्हि) तब (यजमानस्य) यजमान का (लोकः) लोक (क्व) कहाँ पर है (इति) यह जानने योग्य है (यः) जो यजमान (तम्) उस प्राप्य लोक को (न) नहीं (विद्यात) जानता हो (सः) वह अज्ञ (कथम्) किस प्रकार (कुर्यात्) यज्ञानुष्ठान करेगा (अथ) अनन्तर इस कारण से (विद्वान्) लोक स्वीकार को उपाय भूत वक्ष्यमाण सामगान और होममंत्रोत्थानलक्षण को जानता हुआ यजमान (कुर्यात्) यज्ञ कर्म करे ॥ २ ॥

विशेषार्थ— यह प्रसिद्ध है कि "लोकाय वै यजते यो यजते" जो यज्ञ करता है वह लोक के लिये ही यज्ञ करता है। तो तीनों लोक वसु आदि देवताओं के अधिकार की वस्तु बन गये और चौथा लोक है ही नहीं अतः प्रश्न होता है कि—यज्ञानुष्ठान करने वाला यजमान का लोक कहाँ पर है, यह जानने योग्य है। जो यजमान अपने किये हुये यज्ञ के फल स्वरूप उस प्राप्य लोक को नहीं जानता है वह अज्ञ यजमान कैसे यज्ञानुष्ठान कर सकता है। इससे लोक स्वीकार के उपायभूत वक्ष्यमाण सामगान और होममंत्रोत्थानलक्षण को जानता हुआ यजमान यज्ञ कर्म करे ॥ २ ॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवं सामाभिगायति ॥३॥

अन्वयार्थ—(प्रातरनुवाकस्य) प्रातरनुवाक के (उपाकरणात्) प्रारम्भ करने से (पुरा) पहले (गार्हपत्यस्य) गार्हपत्य अग्नि के (जघनेन) पीछे (उदङ्मुख) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठकर (सः) वह यजमान (वासवम्) वसुदेवता सम्बन्धी (साम) साम को (अभिगायति) भलीभाँति गान करे ॥ ३ ॥

विशेषार्थः—प्रातरनुवाक के प्रारम्भ से पहले ही वह यजमान गार्हपत्य अग्नि के पीछे की ओर उत्तराभिमुख बैठकर वसु देवता संबन्धी आगे के मंत्र में वक्ष्यमाण साम का भलीभाँति गान करे। जिसके द्वारा परब्रह्म नारायण की विभूति प्रशंसित हो उसको अनुवाक कहते हैं। ऋग् यजुः साम और अथर्व इन चारों से समग्र समय के लिये मन्त्र एकत्रित किये रहते हैं। यह बात प्रसिद्ध ही है कि—प्रातःकाल में जो अनुवाक—वैदिक स्तोत्र पढ़े जाते हैं उसको प्रातरनुवाक कहते हैं। गृहपति यजमान सम्बन्धी अग्नि को गार्हपत्य कहते हैं ॥ ३ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयंरा३३३३। हु३म् आ३३ ज्या ३ यो३ आ ३२१११ इति ॥४॥

अन्वयार्थ—(लोकद्वारम्) हे अग्निदेव इस पृथ्वी लोक के द्वार को (अपावार्णू) तुम खोल दो (वयम्) यज्ञ करने वाले हमलोग (त्वा) तुमको (राज्याय) राज्य प्राप्ति रूप फल के लिये (पश्येम) देख लें (हु३म्) हु३म् (आ ३३) आ ३३ (उइ३) और उ३ (आ ३२१११) आ ३२१११ यह गान के लिये है (इति) यह बसुदेवता सम्बन्धी साम गान समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—वसुदेवता सम्बन्धी साम गान को श्रुति कहती है कि— हे अग्निदेव पृथ्वीलोक की प्राप्ति के लिये तुम इस भूलोकका द्वार खोलदो जिससे कि यज्ञ करने वाले हमलोग राज्य प्राप्ति रूप फल के लिये तुम्हारा दर्शन कर लें। इस श्रुति में हु३म् और आ३३तथा उ ३ और आ३२१११ यह साम गान के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के बसुदेवता सम्बन्धी साम गान समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

अथ जुहोति । नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ।५।

अन्वयार्थ—(अथ) साम गान के अनन्तर (जुहोति) यजमान इस निम्नलिखित मंत्र से गार्हपत्य अग्नि में हवन करता है (पृथिवीक्षिते) पृथ्वी में निवास करने वाले (लोकक्षिते) लोक में निवास करने वाले (अग्नये) अग्निदेव के लिये (नमः) नमस्कार है। हे अग्निदेव (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) लोक को (विन्द) तुम प्राप्त कराओ (वै) निश्चय करके (एषः) यह (यजमानस्य) यज्ञ करने वाला यजमान का (लोकः) लोक है (एता) मरने के बाद इस लोक को प्राप्त करने वाले (अस्मि) मैं हूँ ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त वसुदेवता सम्बन्धी साम गान करने के अनन्तर यजमान इस निम्नलिखित मंत्र द्वारा गार्हपत्य अग्नि में हवन करता है। अब हवन करने का मंत्र कहा जाता है— पृथ्वी में रहने वाले लोक में रहने वाले अग्निदेव के लिये मेरा नमस्कार प्राप्त होवे। हे अग्निदेव! मुझ यज्ञ करने वाले यजमान के लिये तुम इस पृथ्वी लोक को प्राप्त कराओ

अग्नि के विषय में लिखा है—**अग्निर्देवता** ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्नि देवता है ॥ २० ॥ **अग्निः पृथिवीस्थानः** ॥ (निरु० दैवतकां० ३ अ० ७ खं० ५) पृथ्वी स्थान में अग्नि देवता है ॥ ५ ॥**अग्निः कस्मात् । अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति सन्नभमानः** ॥ (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० १४) अग्नि क्यों कहा जाता है - अग्रणी होता है यज्ञों में अग्र प्रणयन होता है और सत् अङ्ग को दीप्तिमान् होता है। इससे अग्नि कहा जाता है ॥ १४ ॥ निश्चय करके यज्ञ करने वाला यजमान का यह भूलोक है इसमें मरने के बाद इस लोक को प्राप्त करने वाला मैं हूँ ॥ ५ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति । तस्मै वसवः प्रातः सवनं संप्रयच्छन्ति । ६॥

अन्वयार्थ—(आयुषः) आयु के (परस्तात्) पीछे यानी मरने के बाद (अत्र) इस लोक में (यजमानः) यज्ञ करने वाला यजमान मैं प्राप्त करने वाला होऊँगा (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (परिघम्) इस लोक के द्वार की अर्गला को (अपजहि) तुम दूर करो (इति) इस मंत्र को (उक्त्वा) कहकर (उत्तिष्ठति) यजमान वहाँ से उत्थान करता है तब (वसवः) आठ वसु देवता (प्रातः) प्रातःकाल के (सवनम्) सवन यानी यज्ञ का फल पृथ्वी लोक को (तस्मै) उस साम गान और आहुति प्रदान करके उत्थान करने वाले यजमान के लिये (संप्रयच्छन्ति) सम्यक् प्रकार से देते हैं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—मरने के बाद यज्ञ करने वाला मैं यजमान इस लोक में प्राप्त होउँगा इस निमित्त यह आहुति देता हूँ—ऐसा कह कर यजमान हवन करता है। और हे भगवन् इस लोक के द्वार की अर्गला को तुम हटा दो इस मंत्र को कहकर यजमान वहाँ से उत्थान करता है तब धर १, ध्रुव २, सोम ३, अहः ४, अनिल ५, अनल ६, प्रत्यूस ७, और प्रभास ८, ये आठ वसु देवता प्रातःकाल के सवन यानी यज्ञ का फल पृथ्वीलोक को उस सामगान तथा आहुति प्रदान करके उत्थान करने वाला यजमान के लिये भलीभांति प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ् मुख उपविश्य स रौद्रं सामाभिगायति। ७ ॥

अन्वयार्थ– (माध्यन्दिनस्य) मध्याह्नकाल के सवसस्य सवन यानी यज्ञकर्म के (उपाकरणात्) प्रारम्भ करने से (पुरा) पहले ही आग्नीध्रीयस्य दक्षिणाग्नि के जघनेन पीछे उदङ् मुखः उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठकर (सः) वह यजमान रौद्रम् रुद्र देवता सम्बधी साम साम को अभिगायति भलीभाँति गान करे॥ ७॥

विशेषार्थ— मध्याह्नकाल के सवन यानी यज्ञ कर्म के प्रारम्भ से पहले ही वह यजमान दक्षिणाग्नि के पीछे की ओर उत्तराभिमुख बैठकर रुद्रदेवता सम्बन्धी आगे के मंत्र में वक्ष्यमण सामवेद का भलीभाँति गान करे। अग्नि को जो ऋत्विक् प्रज्वलित करे उसको संस्कृत में 'अग्नीत्, कहते हैं और 'अग्नीत्' स्थान का नाम आग्नीध्र है और 'अग्नीत्, ऋत्विक् को भी आग्नीध्र कहते हैं। क्योंकि ऋत्विक् होमीय अग्नि को स्थापन करते हैं। आग्नीध्र जिसमें हवन करें उस अग्नि को आग्नीध्रीय कहते हैं इसी को दक्षिणाग्नि और अन्वाहार्यपचन भी कहते हैं॥ ७॥

लो३ कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३ हु३म् आ ३३ यो ३ आ ३२१११ इति॥ ८॥

अन्वयार्थ—(लो३कद्वारम्) हे वायुदेव अन्तरिक्ष लोक के द्वार को (अपावा३र्णु) तुम खोल दो (वयम्) यज्ञ करने वाले हमलोग (त्वा तुमको (वैराज्याय) वैराज्य यानी अन्तरिक्षलोक फल प्राप्ति के लिये (पश्येम) देख लें (हु३म्) हु३म् (आ३३) आ३३ (उ३) उ३ और (आ३२१११) आ३२१११ इति यह रुद्र देवता सम्बम्धी सामगान समाप्त हो गया॥८॥

विशेषार्थ—रुद्र देवता सम्बन्धी साम गान को श्रुति कहती है कि—हे वायुदेव वैराज्य पद अन्तरिक्षलोक फल प्राप्ति के लिये तुम अन्तरिक्ष लोक के द्वार खोल दो जिससे कि यज्ञ करने वाले हम लोग वैराज्य पद अन्तरिक्षलोक फल प्राप्ति के लियें तुम्हारा दर्शन कर लें। इस श्रुति में हु३म् और आ ३३ तथा उ ३ और आ ३२१११ यह सामगान के लिये

प्रयुक्त हुआ है। "यो ३" यहां पर "य + उ" ऐसा पदच्छेद होकर **आद्गुणः** ॥ (पा० व्या० अ० ६ पा० १ सू० ८७) इस सूत्र से गुण हुआ

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ — अथ) सामगान के अनन्तर (जुहोति) यजमान इस निम्नलिखित मंत्र से दक्षिणाग्नि में हवन करता है (अन्तरिक्षक्षिते) अन्तरिक्ष में निवास करने वाले (लोकक्षिते लोक में निवास करने वाले (वायवे) वायुदेव के लिये (नमः) नमस्कार है। हे वायुदेव (मे मुझ (यजमानस्य) यजमान के लिये लोकम् अन्तरिक्ष लोक को (विन्द) तुम प्राप्त कराओ (वै) निश्चय करके (एषः) यह (यजमानस्य) यज्ञ करने वाले यजमान का लोकः) अन्तरिक्ष लोक है (एता मरने के बाद अन्तरिक्षलोक को प्राप्त करने वाला (अस्मि) मैं हूँ ॥ ९ ॥

विशेषार्थ —पूर्वोक्त रुद्र देवता सम्बन्धी साम गान करने के अनन्तर यजमान इस निम्नलिखित मंत्र द्वारा दक्षिणाग्नि में हवन करता है अब हवन करने का मंत्र कहा जाता है —अन्तरिक्ष में रहने वाले लोक में रहने वाले वायुदेव लिये मेरी नमस्कार प्राप्त होवे। हे वायुदेव मुझ यज्ञ करने वाले यजमान के लिये तुम अन्तरिक्षलोक को प्राप्त कराओ। वायु के विषय में लिखा है—**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** ॥ (श्रुति) वायु निश्चय उड़ाने वाले है—**वातो देवता** ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०) वायु देवता है ॥ २० ॥ **वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः** ॥ (निरु० दैवतकां ३ अ० ७ पा० २ खं० ५) वायु और इन्द्र अन्तरिक्षस्थान में देवता हैं ॥५॥ निश्चय करके यज्ञ करने वाले यजमान का यह अन्तरिक्ष लोक है। इससे मरने के बाद अन्तरिक्ष लोक प्राप्त करने वाला मैं हूँ । भूलोक और द्युलोक के मध्य भाग को अन्तरिक्ष कहते हैं ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनं सवनं संप्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(आयुषः) आयु के (परस्तात्) पीछे यानी मरने के बाद (अत्र) इस अन्तरिक्षलोक में (यजमानः) यज्ञ करने वाला यजमान मैं प्राप्त करने वाला होऊँगा (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (परिधम्) अन्तरिक्षलोक के द्वार की अर्गला को (अपजहि) तुम दूर करो (इति) इस मंत्र को (उक्त्वा) कहकर (उत्तिष्ठति) यजमान वहाँ से उत्थान करता है तब (रुद्राः) ग्यारह रुद्रदेवता (मध्यन्दिनम्) माध्याह्न काल के (सवनम्) सवन संबन्धी फल अन्तरिक्षलोक को (तस्मै) उस सामगान और आहुति प्रदान करके उत्थान करने वाले यजमान के लिये (संप्रयच्छन्ति) सम्यक् प्रकार से देते हैं ॥ १० ॥

विशेषार्थ—मरने के बाद यज्ञ करने वाला यजमान मैं अन्तरिक्ष लोक में प्राप्त होऊँगा इस निमित्त यह आहुति देता हूँ—ऐसा कहकर यजमान हवन करता है और हे भगवन् अन्तरिक्ष लोक के द्वार की अर्गला को तुम हटा दो, इस मंत्र को कहकर यजमान वहाँ से उत्थान करता है तब मृगव्याध १, सर्प २, निऋति ३, अजैकपाद ८, अहिर्बुध्न्य ५, पिनाकी ६ दहन ७, ईश्वर ८, कपाली ९, स्थाणु १०, और भग ११यें ग्यारह रुद्र देवता मध्याह्नकाल के सवन सम्बन्धी फल अन्तरिक्ष लोक को उस सामगान तथा आहुति प्रदान करके उत्थान करने वाले यजमान के लियै भलीभाँत्ति प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

पुरातृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयास्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यं स वैश्वदेवं सामाभिगायति ॥११॥

अन्वयार्थ—(तृतीयसवनस्य) तृतीय सायं काल के सवन यानी यज्ञ कर्म के (उपाकरणात्) प्रारम्भ करने से (पुरा) पहले ही (आहवनीयस्य) आहवनीय अग्नि के (जघनेन) पीछे (उदङ् मुखः) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठकर (सः) वह यजमान (आदित्यम्) आदित्य देवता सम्बन्धी और फिर (सः) वह यजमान (वैश्वदेवम्) विश्वेदेव देवता सम्बन्धी (साम) साम को (अभिगायति) भलीभाँति गान करे ॥ ११ ॥

विशेषार्थ—तृतीय सायंकाल के सवन यानी यज्ञकर्म के प्रारम्भ से पहले ही वह यजमान आहवनीय अग्नि के पीछे की ओर उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य देवता सम्बन्धी और पुनः विश्वेदेव देवता सम्बन्धी

आगे के मंत्रों में वक्ष्यमाण सामवेद का भलीभाँति गान करे ॥ ११ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३६ पश्येम त्वा वयं स्वारा३३३३३ हु३म् आ३३ ज्या ३ यो३ आ ३२१११ इत्यादित्यम् ॥१२॥

अन्वयार्थ (लो३कद्वारम्) हे सूर्यदेव स्वर्गलोक के द्वार को (अपावा३र्णू) तुम खोल दो (वयम्) यज्ञ करने वाले हमलोग (त्वा) तुमको (स्वारा३३३३३ज्या३य स्वाराज्य यानी स्वर्गलोक प्राप्ति के लिये (पश्येम) देख लें (हु३म्) हु३म् (आ३३) आ ३३ (उ३) उ ३ और (आ३२१११) आ३२१११ इति यह (आदित्यम्) आदित्य देवता सम्बन्धी साम गान समाप्त हो गया ॥ १२ ॥

विशेषार्थ—आदित्य देवता सम्बन्धी सामगान को श्रुति कहती है कि—हे सूर्यदेव स्वाराज्यपद स्वर्गलोक प्राप्ति के लिये तुम स्वर्गलोक का द्वार खोल दो जिससे कि यज्ञ करने वाले हमलोग स्वाराज्यपद स्वर्गलोक फल प्राप्ति के लिये तुम्हारा दर्शन कर लें। इस श्रुति में हु३म् और आ३३ तथा उ३ और आ३२१११ यह सामगान के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के यह आदित्य देवता सम्बन्धी साम गान समाप्त हो गया ॥१२।

अथ वैश्वदेवम्। लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं साम्रा३३३३३ हुम् आ३ ३३ ज्या३ यो आ३२१११ इति ॥१३॥

अन्वयार्थ-(अथ) आदित्यदेवता सम्बन्धी सामगान करने के अनन्तर अब (वैश्वदेवम्) विश्वेदेव देवता सम्बन्धी साम गान कहा जाता है हे विश्वेदेव (लो३कद्वारम्) स्वर्गलोक के द्वार को (अपावा३र्णू ३३) तुम खोल दो (वयम्) यज्ञ करने वाले हमलोग त्वा) तुम को (साम्रा३३३३३ ज्या३य) साम्राज्य यानी उत्तम स्वर्ग फल प्राप्ति के लिये (पश्येम) देख लें (हु३म्) हु३म् (आ३३) आ३३ (उ ३) उ ३ और (आ ३२१११) आ ३२१११ (इति) यह विश्वेदेवता सम्बन्धी सामगान समाप्त हो गया ॥ १३ ॥

विशेषार्थ— आदित्य देवता सम्बन्धी सामगान प्रतिपादन करने के

अनन्तर अब विश्वेदेव देवता सम्बन्धी सामगान को श्रुति कहती है कि—हे विश्वेदेव साम्राज्य पद प्राप्ति के लिये तुम स्वर्गलोक का द्वार खोल दो जिससे कि यज्ञ करने वाले यजमान हमलोग साम्राज्य यानी उत्तम स्वर्ग फल प्राप्ति के लिये तुम्हारा दर्शन कर लें। इस श्रुति में हु३म् और आ३३ तथा उ३ और आ ३२१११ यह सामगान के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के यह विश्वेदेव देवता सम्बन्धी सामगान समाप्त हो गया ॥१३॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥१४॥

अन्वयार्थ—(अथ) सामगान के अनन्तर (जुहोति) यजमान इस निम्नलिखित मंत्र से आहवनीयाग्नि में हवन करता है (दिविक्षिद्भ्यः) द्यु लोक में निवास करने वाले (लोकक्षिद्भ्यः) लोक में निवास करने वाले (आदित्येभ्यः) बारह आदित्य देवताओं के लिये (च) और [विश्वेभ्यः) दस विश्वेदेव (देवेभ्यः) देवताओं के लिये (च) भी (नमः) नमस्कार है (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) यज्ञकर्म जनितफलस्वरूप स्वर्गलोक को (विन्दत) तुम लोग प्राप्त कराओ ॥१४॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त आदित्य देवता सम्बन्धी और विश्वेदेव देवता सम्बन्धी सामगान करने के अनन्तर यजमान इस निम्नलिखित मंत्र द्वारा आहवनीयाग्नि में हवन करता है। अब हवन करने का मंत्र कहा जाता है—स्वर्ग में रहने वाले तथा लोक में रहने वाले बारह आदित्य देवताओं के लिये और दस विश्वेदेव देवताओं के लिये मेरा नमस्कार प्राप्त होवे। हे आदित्यगण और हे विश्वेदेवगण मुझ यज्ञ करने वाले यजमान के लिये यज्ञकर्मजनितफल—स्वर्गलोक को तुम लोग प्राप्त करा दो ॥१४॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहापहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥१५॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (एषः) यह (यजमानस्य) यज्ञ करनेवाले यजमान का (लोकः) स्वर्गलोक है (एता) मरने के बाद स्वर्ग लोक को प्राप्त करने वाला (अस्मि मैं हूँ (आयुषः) आयु के (परस्तात्) पीछे सामाप्त होने पर (अत्र) इस स्वर्गलोक में (यजमानः) यज्ञ करने

वाला यजमान मैं प्राप्त करने वाला हो सकूँ (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (परिघम्) स्वर्गलोक के द्वार की अर्गला को (अपहृत) तुम लोग दूर करो (इति) इस मंत्र को (उक्त्वा) कहकर (उत्तिष्ठति) यजमान वहाँ से उत्थान करता है ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—निश्चय करके यज्ञ करने वाला यजमान का यह स्वर्ग लोक है। क्योंकि लिखा है—**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥** (गी० अ०९ श्लो० २०) तीनों वेदों में निष्ठा रखने वाले, सोमरस पीने वाले, शुद्ध हुये पापों वाले पुरुष यज्ञों से मुझे पूजकर स्वर्ग प्राप्ति की याचना करते हैं, वे पुण्य रूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते है ॥ २० ॥ इसके अनुसार मरने के बाद यज्ञ करने वाला यजमान मैं स्वर्गलोक को प्राप्त होऊँगा इस निमित्त यह आहुति देता हूँ—ऐसा कहकर यजमान हवन करता है। और स्वर्गलोक के द्वार की अर्गला कोतुमलोग हटादो इस मंत्र को कहकर यजमान वहाँ से उत्थान करता है ॥ १५ ॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनं संप्रयच्छन्ति। एष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद। य एवं वेद य एवं वेद ॥१६॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्विंशंखण्डः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकः समाप्तः ॥

अन्वयार्थ—(आदित्याः) बारह आदित्य देवता (च) और (वश्वि) दस विश्वेदेव [देवा.) देवता (च) भी (तृतीयसवनम्) तृतीय सायंकाल के सवन सम्बन्धी फल स्वर्गलोक को (तस्मै) उस सामगान और आहुति प्रदान करके उत्थान करने वाले यजमान के लिये (संप्रयच्छन्ति) सम्यक् प्रकार से देते हैं [ह] प्रसिद्ध एष] यह यजमान [वै] निश्चय करके यज्ञस्य] यज्ञ के [मात्राम्] यथात्म्य यानी याथाथस्वरूपको [वेद] जानता हैं (यः) जो यजमान (एवम्) इस प्रकार करने के लिये वेद जानता है (यः) जो यजमान (एवम्) इस प्रकार करने के लिये (वेद) जानता है ॥ १६ ॥

विशेषार्थ—धाता १, मित्र २, अर्यमा ३, शक्र ४, वरुण ५, अंश ६, भग ७, विवस्वान् ८, पूषा ९, सविता १०, त्वष्टा ११, और विष्णु-वामन १२, ये बारह आदित्य देवता और ऋतु १, दक्ष २, श्रव ३, सत्य ४, काल ५, काम ६, ध्वुनि ७, कुरुवान् ८, प्रभवान् ९, और रोचमान १० ये दस विश्वेदेव देवता तृतीय सायंकाल के सवन सम्बन्धी फुल स्वर्गलोक को उस सामगान तथा आहुति प्रदान करके उत्थान करने वाले यजमान के लिये भलीभाँति प्रदान करते हैं। यही यजमान निश्चय करके प्रसिद्ध यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को जानता है। जो यजमान इस प्रकार करने के लिये जानता है। इस श्रुति में "य एवं वेद" इस वाक्य का दो बार उच्चारण "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक के चौबीसवें खण्ड और द्वितीय प्रपाठक की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। "छान्दोग्योपनिषद्" के द्वितीय प्रपाठक के पहले खण्ड और इक्कीसवें खण्ड में चार चार मंत्र हैं तथा दूसरे खण्ड में सात मंत्र हैं और आठवें खण्ड में तथा तेईसवें खण्ड में तीन तीन मंत्र हैं और नवें खण्ड में आठ मंत्र तथा दसवें खण्ड में छः मंत्र और बाईसवें खण्ड में पाँच मंत्र तथा चौबीसवें खण्ड में सोलह मंत्र हैं और शेष पन्द्रह खण्डों में दो दो मंत्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस दूसरे प्रपाठक में छियासी मंत्र हैं। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के द्वितीय प्रपाठक का चौबीसवाँ खण्ड और द्वितीय प्रपाठक समाप्त हो गया ॥१६॥

॥अथ तृतीयप्रपाठकः।

॥ अथ प्रथमखण्डः ।

असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशः। अन्तरिक्षमपूपः। मरीचयः पुत्राः॥१॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (असौ) यह (आदित्यः) अदिति के पुत्र सूर्य (देवमधु) वस्वादिक देवताओं के मोद का कारण होने से मधु है (तस्य) उस देवमधु का द्यौः) द्युलोक (एव) निश्चय करके (तिरश्चीन-वंशः) मधुमक्खियों का छत्ता है (मरीचयः) किरण में स्थित सूर्य से खिंचा हुआ पृथ्वी का जल (पुत्राः) पुत्र के समान पुत्र अर्थात् मधु के छत्ता के छिद्र में स्थित सूक्ष्म कीट हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अब मधु विद्या का प्रस्ताव किया जाता है—विप्रकृष्ट देशवर्ती यह आदित्य वसु आदिक देवताओं के मोद का हेतु होने से मधु है। क्योंकि लिखा है—**इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥** मनोरमा) सन्निकृष्ट अर्थ में 'इदम्' और समीपतरवर्ति अर्थ में 'एतत्' और दूरस्थ अर्थ में 'अदस्' तथा परोक्ष अर्थ में 'तत्' शब्द प्रयुक्त होता है ऐसा जाने। उस देवमधु का द्युलोक ही आधारभूत टेढ़ा बाँस है। जिस पर कि वह लटका हुआ है। अन्तरिक्ष ही मधु का छत्ता हैं। जैसे मधु के छत्ता टेढ़े बाँस में लगा हुआ लटकता है। वैसे ही द्युलोक में लगा हुआ अन्तरिक्ष लटकता है। और किरण में स्थित आदित्य से आकृष्ट भूमि के जल ही पुत्र के समान पुत्र हैं अर्थात् सूर्य की किरण में स्थित जल ही मधु के छत्तो के छिद्र में स्थित सूक्ष्म कीट हैं। इससे सूर्य में देवमधु दृष्टि करके उपासना करनी चाहिये। महापूर्णयलब्धसन्मंत्र भगवद्रामानुजाचार्य ने—**मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः।** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३०) **भावं तु बादरायणोऽस्ति हि॥** (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३२) इस दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के पहले खण्ड की पहली श्रुति के "असौ वा आदित्यो देवमधु" इस खण्ड को उद्धृत किया है और **कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥** (शा०मी०अ०१पा०४सू०१०) के भाष्य में भी पूर्वोक्त खण्ड को लिखा है॥ १॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयः। ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः ऋच एव मधुकृतः। ऋग्वेद एव पुष्पम्। ता अमृता आपः। ता वा एता ऋचः॥२॥

अन्वयार्थ-(तस्य) उस आदित्य की (ये) जो (प्राञ्च) पूर्वदिशाकी (रश्मयः) किरणें हैं (ताः)वे (एव) ही (अस्य)इस अन्तरिक्ष रूपछत्ते के (प्राच्यः) पूर्वदिशावर्ती (मधुनाड्यः) मधु यानी शहद के छिद्र हैं (ऋचः) ऋग्वेद के मंत्र (एव) निश्चय करके (मधुकृतः) शहद बनाने वाले भ्रमर हैं (ऋग्वेदः) ऋग्वेद विहित कर्म (एव) ही (पुष्पम्) पुष्प है (ताः) वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयोरूप (आपः) जल (अमृताः) अग्नि में

प्रक्षिप्तपाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं वै) निश्चय करके (ताः वे पूर्वोक्त (एताः) ये (ऋचः)ऋग्वेद के मंत्र रूप भ्रमर। यह आगे के मंत्र से सम्बन्ध रखता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ – उस प्रसिद्ध आदित्य की जो पूर्व दिशा की किरणें हैं वे ही इस अन्तरिक्ष रूप छत्ते के पूर्व दिशावर्ती मधु के छिद्र हैं और ऋग्वेद के मंत्र ही मधु बनाने वाले भ्रमर हैं तथा ऋग्वेद विहित कर्म ही पुष्प है और वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयोरूप जल अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं "ता वा एता ऋचः" इसके आगे के मंत्र से सम्बन्ध है–तब निश्चय करके वे पूर्वोक्त ये ऋग्वेद के मंत्र रूप भ्रमर पुष्पों से रस लेते हुये भ्रमर के समान ऋग्वेद सेविहित कर्म रूप पुष्प को अभिताप किं ऐसा अर्थ होता है ॥ २ ॥

एतमृग्वेदमभ्यपतन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ।३।

अन्वयार्थ—वे ऋग्वेद के मंत्र रूप भ्रमर (एतम्) इस (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद से विहित कर्म रूप पुष्प को (अभ्यतपन्) भलीभाँति तपायें (अभितप्तस्य) भलीभाँति तपाये हुआ (तस्य) उस ऋग्वेद से विहित कर्म रूप पुष्प से (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वीर्यम्) वीर्य (अन्नाद्यम्) खाद्य अन्न आदि रूप (रसः) रस (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

विशेषार्थ —जैसे फूलों के रस से भ्रमर मधु बनाते हैं वैसे ही ऋग्वेद के मंत्र रूप भ्रमर। ऋग्वेद का लक्षण लिखा है— **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३५) जहाँ पर अर्थ वश से पाद की व्यवस्था होती है उसे ऋग्वेद कहते हैं ॥ ३५ ॥ ऋग्वेद से विहित कर्म रूप फूल को अभितप्त करके उस अभितप्त ऋग्वेद से विहित कर्म रूप फूल से यश, तेज, इन्द्रिय या ऐश्वर्य, वीर्य और खाद्य अन्न आदि रूप रस को उत्पन्न करते हैं। तेज केविषय में लिखा है **तेजः दुर्जनैः अनभिभवनीयत्वम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लो० ३) दुष्ट पुरुषों के द्वारा न दबायेजा सकने वाली शक्ति का नाम 'तेज' है ॥ ३ ॥ अर्थात् उस अभितप्त श्रौत कर्म रूप पुष्प से मधु के

समान कीर्ति तेज इन्द्रिय पराक्रम अन्न आदि रूप फल उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

तद्व्यक्षरत्। तदादित्यमभितोऽश्रयत्। तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितं रूपम् ॥४॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—[तत्] वह यश तेज इन्द्रिय वीर्य आदि रस [व्यक्षरत्] विशेष रूप से गया [तत्] वह यश तेज आदि रस जाकर [आदित्यम्] आदित्य के [अभितः] सब ओर से [अश्रयत] आश्रय लिया [यत्] जो [एतत्] यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान [आदित्यस्य] आदित्य का [रोहितम्] लाल [रूपम्] रूप है [वै] निश्चय करके [तत्] वही [एतत्] यह यश आदि लक्षण रस है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—वह यश तेज इन्द्रिय वीर्य खाद्य अन्न आदि रूप रस विशेष रूप से बाहर निकल कर चला। और उस यश तेज इन्द्रिय वीर्य आदि रूप लक्षण रस ने वहाँ से जाकर आदित्य के ही चारो तरफ आश्रय लिया। जो यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान आदित्य का लाल रूप है निश्चय करके वही यश तेज इन्द्रिय वीर्य खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का पहला खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ द्वितीयखण्डः ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अन्वयार्थ—[अथ] और (अस्य) इस आदित्य की [ये] जो [दक्षिणाः] दक्षिण दिशा की [रश्मयः] किरण हैं [ताः] वे [एव] ही [अस्य] इसकी [दक्षिण] दक्षिण दिशावर्ती [मधुनाड्यः] मधु यानी शहद के छिद्र है [यजूंषि] यजुर्वेद के मंत्र [एव] निश्चय करके [मधुकृतः) शहद बनाने वाले भ्रमर हैं। (यजुर्वेदः) यजुर्वेद विहित कर्म [एव) ही [पुष्पम्] फूल है (ताः) वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयो रूप (आपः)

जल (अमृता:) अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—और प्रसिद्ध इस आदित्य की जो दक्षिण दिशा की किरणें हैं वे ही इसके दक्षिण दिशावर्ती मधु के छिद्र हैं। और यजुर्वेद के मंत्र ही मधु बनाने वाले भ्रमर हैं। यजुर्वेद का लक्षण लिखा है—**शेषे यजुः शब्दः** ॥ (पूर्वमी० अ० २ पा०१ सू० ३७] शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ॥ ३७ ॥ तथा यजुर्वेद विहित कर्म ही पुष्प है और वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयो रूप जल अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजूँष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपँस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (तानि) वे [एतानि) ये (यजूंषि) यजुर्वेद के मंत्र रूप भ्रमर [एतम्] इस (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद से विहित कर्म रूप पुष्प को (अभ्यतपन्) भलीभाँति तपाये (अभितप्तस्य] चारो तरफ से तपाए हुए (तस्य) उस यजुर्वेद से विहित कर्म रूप पुष्प से [यश:] यश (तेज:] तेज (इन्द्रियम्] इन्द्रिय [वीर्यम्] वीर्य (अन्नाद्यम्] खाद्य अन्न आदि रूप [रस:] रस [अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जैसे फूलों के रस से भ्रमर शहद बनाते हैं वैसे ही यजुर्वेद के मंत्र रूप भ्रमर यजुर्वेद से विहित कर्म रूप फूल को अभितप्त करके उस अभितप्त यजुर्वेद से विहित कर्म रूप पुष्प से यश, तेज, इन्द्रिय वीर्य और खाद्य अन्न आदि रूप रस को उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्। तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् ॥३॥

। इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—[तत्) वह यश तेज इन्द्रिय वीर्य आदि रस (व्यक्षरत्] विशेष रूप से बाहर चला [तत्] वह यश तेज आदि रस जाकर [आदित्यम्] आदित्य के [अभितः] सब ओर से [अश्रयत्] आश्रय लिया (यत्] जो [एतत्] यह प्रत्यक्ष दृश्यमान [आदित्यस्य] आदित्य के शुक्लम् शुक्ल-सफेद रुपम् रुप है (वै) निश्चय करके (तत्)

वही (एतत्) यह यश आदि लक्षण रस है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—वह यश तेज इन्द्रिय वीर्य खाद्य अन्न आदि रूप रस विशेष रूप से बाहर निकल कर चला और उस यश तेज इन्द्रिय वीर्य आदि रूप लक्षण रस ने वहाँ से चलकर आदित्य के ही चारों तरफ आश्रय लिया। जो यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान आदित्य का शुक्ल रूप है निश्चय करके वही यह यश तेज इन्द्रिय वीर्य खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ तृतीयखण्डः ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (अस्य) इस आदित्य की (ये) जो (प्रत्यञ्चः) पश्चिम दिशा की (रश्मयः) किरणें है (ताः) वे (एव) ही (अस्य) इस की (प्रतीच्यः) पश्चिम दिशावर्ती (मधुनाड्य) मधु के छिद्र हैं (सामानि) सामवेद के मंत्र (एव) निश्चय करके (मधुकृतः) शहद बनाने वाले भ्रमर हैं (सामवेदः) सामवेद विहित कर्म (एव) ही (पुष्पम्) फूल है (ताः) वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयो रूप (आपः) जल (अमृताः) अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—तथा प्रसिद्ध इस आदित्य की जो पश्चिम दिशा की किरणें हैं वे ही इसके पश्चिम दिशावर्ती मधु के छिद्र हैं। और सामवेद के मंत्र ही शहद बनाने वाले भ्रमर हैं। सामवेद का लक्षण लिखा है—**गीतिषु सामाख्या** ॥ (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेद नाम होना है ॥ ३६ ॥ तथा सामवेद विहित कर्म ही पुष्प है और वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयो रूप जल अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ॥ १ ॥

तानि वा एतानि सामान्येतं सामवेदमभ्यतपन्। तस्या-

भितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (तानि) वे (एतानि) ये (सामानि) सामवेद के मंत्र रूप भ्रमर (एतम्) इस (सामवेदम्) सामवेद से विहित कर्म रूप पुष्प को (अभ्यतपन्) भली भाँति तपाये (अभितप्तस्य) चारों तरफ से तपाए हुए (तस्य) उस सामवेद से विहित कर्मरूप पुष्प से (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वीर्यम्) वीर्य (अन्नाद्यम्) खाद्य अन्न आदि रूप (रसः) रस (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

विशेषार्थ- जैसे फूलों के रसों से भ्रमर शहद बनाते हैं वैसे ही सामवेद के मंत्र रूप भ्रमर सामवेद से विहित कर्म रूप फूल को अभितप्त करके उस अभितप्त सामवेद से विहित कर्म रूप पुष्प से यश तेज इन्द्रिय वीर्य और खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस को उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णं रूपम् । ३।

॥ इति तृतीयप्रपाठके तृतीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि रस (व्यक्षरत्) विशेष रूप से बाहर गया (तत्) वह यश, तेज आदि रस जाकर (आदित्यम्) आदित्य के (अभितः) सब ओर से (अश्रयत्) आश्रय लिया (यत्) जो (एतत्) यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान (आदित्यस्य) आदित्य के (कृष्णम्) कृष्ण-काला (रूपम्) रूप है (वै) निश्चय करके (तत्) वही (एतत्) यह यश, तेज आदि लक्षण रस है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—वह यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य अन्न आदि रूप रस विशेष रूप से बाहर झर कर गया और उस यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि रूप लक्षण रस ने वहाँ से जाकर आदित्य के ही सब ओर से आश्रय लिया। जो यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान सूर्य का कृष्ण यानी काला रूप है निश्चय करके वही यह यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ चतुर्थखण्डः ।

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः । इतिहासपुराणं पुष्पम् । ता अमृता आपः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ और (अस्य) इस आदित्य की (ये) जो (उदञ्चः) उत्तर दिशा की (रश्मयः) किरणें हैं (ताः) वे (एव) ही (अस्य) इस की (उदीच्यः) उत्तर दिशावर्ती (मधुनाड्यः मधु के छिद्र हैं (अर्थाङ्गिरसः) अथर्वा और अङ्गिरा ऋषि से देखे हुए अथर्ववेद के मंत्र (एव) निश्चय करके (मधुकृतः) मधु बनाने वाले भ्रमर हैं (इतिहासपुराणम्) श्री रामायण और महाभारत आदि इतिहास तथा विष्णुपुराण आदि पुराणों से विहित कर्म ही (पुष्पम्) फूल है (ताः) वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयो रूप (आपः) जल (अमृताः) अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ।। १ ॥

विशेषार्थ—और प्रसिद्ध इस आदित्य की उत्तर दिशाकी जो किरणें हैं वे ही इसके उत्तर दिशावर्ती मधु के छिद्र हैं और अथर्वा तथा अङ्गिरा ऋषि से देखे हुए अथर्ववेद के मंत्र हो शहद बनाने वाले भ्रमर हैं । अथर्ववेद के विषय में लिखा है—**निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्** ॥ (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३८) विशेष धर्म होने से निगद ही चतुर्थ अथर्ववेद है ॥ ३८ ॥ **अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे** ॥ (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १३) हे महावीर अथर्वेद की पचाश शाखाएँ हैं॥१३॥पतञ्जलि ऋषि के समय में नौ शाखाएँ मिलतीथीं इससे लिखा है—**नवधा अथर्वणः**। महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) नौ शाखाएँ अथर्ववेद की हैं ॥१॥ **अथर्वणमथो वेद विभेद नवकेनतु** (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५२) अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं ॥ ५२ ॥ और श्रीरामायण तथा महाभारत आदि इतिहास तथा विष्णुपुराण आदिक पुराणों से विहित कर्म ही पुष्प है । इतहास का लक्षण लिखा है—**पूर्वचरितसंकीर्तनमितिहासः** ॥ (प्रदीप० अ० १ पा० आह्नि० १)

"सप्तद्वीपा" इस महाभाष्य के प्रदीप टीका में लिखा हुआ है ॥ पूर्वचरित जिसमें संकीर्तन हो उसको इतिहास कहते हैं ॥ १ ॥ प्रधान इतिहास दो हैं, एक श्री वाल्मीकिय रामायण और दूसरा महाभारत इतिहास है। और पुराण के विषय में लिखा है—**सर्गोऽस्याथविसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च । वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतु रपाश्रयः** ॥ (श्रीमद्भा० स्कं० १२ अ० ७ श्लो० ९) **दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदोविदुः** ॥ १० ॥ सर्ग १, विसर्ग २, वृत्ति ३, रक्षा ४, मन्वन्तर वर्णन ५ और वंश ६ वंशानुचरित ७, संस्था ८, हेतु ९, अपाश्रय १० ॥ ९ ॥ इन दस लक्षणों से युक्त को महापुराण पुराणज्ञ लोग जानते हैं ॥ १० ॥ इन सर्गादिक दसों का लक्षण भी वहीं लिख हुआ है कि **अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोहमः । भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते** ॥ (श्रीमद्भा० स्कं० १२ अ० ७ श्लो० ११) विकृतिरहित मूल प्रकृति के गुणों के संक्षोभ से महत् तत्व और महत् तत्व से अहङ्कार तथा अहङ्कार से शब्द, रूप, रस गन्ध, स्पर्श इन पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पाँच महाभूत तथा वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय और श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन इन सबों को उत्पत्ति अर्थात् सूक्ष्म रचना को सर्ग कहते हैं ॥ ११ ॥ **पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः । विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम्** ॥ (श्रीमद्भा स्कं० १२ अ० ७ श्लो० १२) जीवों के अनुगृहीत सूक्ष्म रचना के वासनामय जो यह समाहार अर्थात् बीज से जैसे बीज उत्पन्न होता है वैसे ही चर और अचर सृष्टि की रचना को विसर्ग कहते हैं ॥ १२ ॥ **वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च । कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा** । (श्रीमद्भा० स्कं० १२ अ० ७ श्लो० १३ जो अपने आप इच्छा से या प्रेरणा से समस्त जीवों के लिये जो चर और अचर किया गया है इसी को वृति कहते हैं ॥ १३ ॥ **रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानुयुगे युगे । तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः** ॥ (श्रीमद्भा० स्क० १२ अ० ७ श्लो० १४) जो श्रीमन्नारायण भगवान् प्रतियुग में तिर्यक्, मनुष्य, ऋषि और देवयोनि में अवतार लेकर वेद विरोधियों को मारते हैं उस अच्युत भगवान् के अबतार की

जो चेष्टा है उसको रक्षा कहते हैं ॥ १४ ॥ **मन्वन्तर मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः। ऋषयोंऽशावताराश्च हरेःषड्विधमुच्यते ।** श्रीमद्भा०स्कं १२ अ० ७ श्लो० १५) मनु तथा देवता और मनुपुत्र तथा सुरेश्वर और ऋषि तथा अंशावतार ये जो श्रीहरि के छ. प्रकार कहा जाता है इसी को मन्वन्तर कहते हैं ॥ १५ ॥ **राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः। वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये** ॥ (श्रीमद्भा० स्कं० १२ अ० ७ श्लो० १६) ब्रह्म प्रसूत राजाओं का जो त्रैकालिक अन्वय है उसको वंश कहते हैं और वंश को धारण करने वाले प्रधान-प्रधान पुरुषों का जो चरित है उसको वंशानुचरित कहते हैं ॥ १६ ॥ **नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः। संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावतः** ॥ श्रीमद्भा०स्कं० १२ अ०७श्लो १७) नैमित्तिक १ प्राकृतिक २, नित्य ३, आत्यन्तिक ४ ये जो स्वभाव से चार प्रकार लय का वर्णन है इसको कवि लोग संस्था कहते हैं ॥१८॥ **हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्या कर्मकारकः। यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ।** (श्रीमद्भा० स्कं० १२ अ० ७ श्लो० १८) इस सृष्टि आदिक की अविद्या के द्वारा कर्म करने वाला जो जीव है उसको हेतु कहते हैं, जिस अनुशयी को और लोग अव्याकृत कहतेहैं ॥१८॥ **व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः** ॥ (श्रीमद्भा०स्कं० १२ अ० ७ श्लो० १९) मायामय जीवों की वृत्तियों में और जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में जिसका व्यतिरेकान्वय हो वह ब्रह्म है और उसी को अपाश्रय कहते हैं ॥ १९ ॥ **एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः। मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च** ॥ (श्रीमद्भा०स्कं० १२ अ० ७ श्लो० २२) इस प्रकार के दस लक्षण से युक्त को पुराणवेत्ता मुनियों ने पुराण कहा है। वे अठारह पुराण हैं और अठारह लघु यानी उपपुराण हैं ॥ २२ ॥ महापुराणों का नाम और संख्या भी श्रीमद्भागवत में लिखा है—**ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम्। नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कन्दसंज्ञितम्** ॥ (श्रीमद्भा०

स्कं० १२ अ० ७ श्लो०) **भविष्य ब्रह्मवैवर्त मार्कण्डेयं स वामनम् । वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥ २४ ॥** ब्रह्मपुराण १, पद्मपुराण २, विष्णुपुराण ३, शिवपुराण ४, लिङ्गपुराग ५, गरुडपुराण ६, नारदपुराग ७, श्रीमद्भागवतपुराण ८, अग्निपुराण ९, स्कन्दपुराण १०, ॥२३॥ भविष्यपुराण ११, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण १२, मार्कण्डेयपुराण १३, वामनपुराण १४, वाराहपुराण १५, मत्स्यपुराण १६, कूर्मपुराण १७, और ब्रह्माण्डपुराण १८ ये अठारह महापुराण हैं ॥२४॥

ब्राह्मं दश सहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्ठि च । श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशतिशैवकम्॥ श्रीमद्भा० स्कं० १२ अ० १३ श्लो० ४। **दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः । मार्कण्डेयं नव वाह्नं च दश पञ्च चतुः शतम् ॥५॥ चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्च शतानि च । दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गमेकादशैव तु ॥६॥ चतुर्विंशति वाराहमेकाशीति सहस्रकम् । स्कान्दं शत तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम् ॥७॥ कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दशं । एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु । ८॥** ब्रह्मपुराण दस हजार श्लोक हैं, १ पद्मपुराण पचपन हजार श्लाक है २, विष्णुपुराण तेईस हजार श्लोक है ३, शिवपुराण चौबीस हजार श्लोक है ४ ॥४॥ श्रीमद्भागवतपुराण अठारह हजार श्लोक है ५, नारदपुराण पचीस हजार श्लोक है ६, मार्कण्डेयपुराण नौ हजार श्लोक है ७, अग्निपुराण पन्द्रह हजार चार सौ श्लोक है ८, ॥ ५ ॥ भविष्यपुराण चौदह हजार पाँच सौ श्लोक है ९, ब्रह्मवैवतपुराण अठारह हजार श्लोक है १०, लिङ्गपुराण ग्यारह हजार श्लोक है ११ ॥६॥ वाराहपुराण चौबीस हजार श्लोक है, स्कन्दपुराण इकासी हजार एक सौ श्लोक है १३, वामनपुराण दस हजार श्लोक है १४ ॥७॥ कूर्मपुराण सतरह हजार श्लोक है १५, मत्स्यपुराण चौदह हजार श्लोक है १६, गरुडपुराण उन्नीस हजार श्लोक है १७ और ब्रह्माण्ड पुराण बारह हजार श्लोक है १८ ॥ ८ ॥ प्रकृत "इतिहासपुराणम्" इस पद में केवल पुराण शब्द पठित है तो— **त्यक्तानुबन्धग्रहणे सामान्यस्य ग्रहणम् ॥** त्यक्त अनुबन्ध के ग्रहण से सामान्य का ग्रहण होता है।

इस सिद्धान्तानुसार यहाँ महापुराण और उप पुराण इन समस्त का ग्रहण होता है जिस में अठारह महापुराणों को लिख चुका हूँ । अब जो अठारह उपपुराण गरुडपुराण में कहे हैं उन सबों का नाम दिखाता हूँ

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथापरम् । तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥ (गरुडपु० अ० २२७ श्लो० १) **चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमतः परम् ।२। कपिलं वामनं चैव तथैवोशनसेरितम् । ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च ॥ ३ ॥ माहेश्वर तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम् । पाराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ॥ ४ ॥**

सनत्कुमार का बनाया आदिपुराण १, और दूसरा नरसिंहपुराण २, तथा कुमार का बनाया हुआ तीसरा स्कन्दपुराण ३ ॥ १ ॥ साक्षात् नन्दीश का बनाया हुआ चौथा शिवधर्मपुराण ४, दुर्वासापुराण ५, और लघु नारद पुराण ६, ॥ २ ॥ कपिलपुराण ७, लघुवामनपुराण ८, आशनसपुराण ९, लघु ब्रह्माण्डपुराण १०, वारुणपुराण ११, और कालिकापुराण १२ ॥ ३ ॥ माहेश्वरपुराण १३, साम्बपुराण १४, सौरपुराण १५, पाराशरपुराण १६ मारीच पुराण १७ और भास्करपुराण १८ ये अठारह उपपुराण हैं ॥ ४ ॥ इन समस्त इतिहास पुराण विहित कर्म ही फूल है और वे कम में प्रयुक्त सोम आज्य पयोरुप जल अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ते) वे (एते) ये (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्वा और अङ्गिरा ऋषि से देखा हुआ अथर्ववेद के मन्त्र भ्रमर (एतत्) इस (इतिहासपुराणम्) इतिहास और पुराण से विहित कर्म रुप पुष्प को (अभ्यतपन्) भलीभाँति तपाये (अभितप्तस्य) चारो तरफ से तपाये हुए (तस्य) उस इतिहास और पुराण से विहित कर्म रुप पुष्प से (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वीर्यम्) वोर्य (अन्नाद्यम्) खाद्य अन्न आदि रुप (रसः) रस (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जैसे फूलों के रसों से भ्रमर शहद बनाते हैं वैसे ही अथर्ववेद के मंत्र रूप भ्रमर श्रीरामायणादि इतिहास और विष्णुपुराण आदिक पुराण से विहित कर्मरूप फूल को भलीभाँति तपाये और उस अभितप्त इतिहास और पुराण से विहित कर्म रूप पुष्प से यश, तेज इन्द्रिय, वीर्य और खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस को उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि रस (व्यक्षरत्) विशेषरूप से झरता हुआ बाहर गया (तत्) वह यह यश तेज आदि रस जाकर (आदित्यम्) आदित्य के (अभितः) सब ओर से (अश्रयत्) आश्रय लिया (यत्) जो (एतत्) यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान (आदित्यस्य सूर्य का (परम्) अत्यन्त (कृष्णम्) कृष्ण यानो काला (रूपम्) रूप है (वै) निश्चय करके (तत्) वही (एतत्) यह यश, तेज आदि लक्षण रस है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—वह यश, तेज इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि रस विशेष रूप से झरता हुआ बाहर गया और उस यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि रूप लक्षण रस ने वहाँ से जाकर सूर्य का ही सब ओर से आश्रय लिया। जो यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान सूर्य का अतिशय कृष्णरूप है निश्चय करके वही यह यश, इन्द्रिय, वीर्य खाद्य, अन्न आदि रूप लक्षण रस है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का चौथा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतः । ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (अस्य) इस आदित्य की (ये) जो (ऊर्ध्वाः ऊपर की (रश्मयः) किरणें हैं (ताः) वे (एव) ही (अस्य) इसकी (ऊर्ध्वाः)

ऊपर के (मधुनाड्यः) मधु के छिद्र हैं (गुह्याः) ब्रह्मविषयक उपनिषद् सम्बन्धी रहस्य का (आदेशाः) उपदेश (एव) ही (मधुकृतः) मधु बनाने वाले भ्रमर हैं (ब्रह्म) प्रणव—ब्रह्म से विहित कर्म (एव) निश्चय करके (पुष्पम्) फूल है (ताः) वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयोरूप (आपः) जल (अमृताः) अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ— प्रसिद्ध इस आदित्य की जो ऊपर की किरणें हैं वे ही इसकी ऊपर के मधु के छिद्र हैं । ब्रह्मविषयक औपनिषद रहस्य के उपदेश ही शहद बनाने वाले भ्रमर हैं तथा ब्रह्म यानी प्रणवसे विहित कर्म ही पुष्प है । इस श्रुति में 'ब्रह्म' यह पद प्रणव वाचक हैं, क्योंकि लिखा है—**ओमिति ब्रह्म ।** (तैत्तिरीयो० व० १ अनु० ८ श्रु० १) ओम् यह ब्रह्म है ॥ १ ॥ **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म** (ब्रह्मविद्योप० श्रु० २ सूर्योप० भगवद्गी०अ० ८ श्लो० १३) ओम् यह एकाक्षर ब्रह्म है ॥ २ ॥ १३ ॥ वे कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयोरूप जल अग्नि में प्रक्षिप्त पाक से निर्वृत्त अत्यन्त रस वाले अमृत हो जाते हैं ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥२॥

अन्वयार्थ —[वै] निश्चय करके [ते] वे [एते] ये [गुह्याः] परब्रह्म विषयक औपनिषद रहस्य के [आदेशाः] उपदेश रूप भ्रमर [एतत्] इस [ब्रह्म] ब्रह्म यानी प्रणव से विहित कर्म रूप पुष्प को [अभ्यतपन्] भली-भाँति तपायें [अभितप्तस्य] चारो तरफ तपाए हुए [तस्य] उस प्रणव से विहित कर्म रूप पुष्प से [यशः] यश [तेजः] तेज [इन्द्रियम्] इन्द्रिय [वीर्यम्] वीर्य [अन्नाद्यम्] खाद्य अन्न आदि रूप [रसः] रस [अजायत] उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जैसे फूलों के रसों से भ्रमर शहद बनाते हैं वैसे ही प्ररब्रह्म नारायण विषयक औपनिषद रहस्य के उपदेश रूप भ्रमर इस ब्रह्म यानी प्रणव विहित कर्म रूप फूल को अच्छी तरह से तपाए। और उस भलीभाँति तपाये हुए प्रणव से विहित कर्म रूप पुष्प से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस को उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्। तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥३॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि रस (व्यक्षरत्) विशेष रूप से झरता हुआ बाहर गया (तत्) वह यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि रस जाकर (आदित्यम्) आदित्य के (अभितः) चारों तरफ से (अश्रयत्) आश्रय लिया (यत्) जो (एतत्) यह प्रत्यक्ष परिदृश्यमान (आदित्यस्य) सूर्य का (मध्ये) मण्डल के बीच में (क्षोभते) समाहित चित द्वारा देखने से चलते हुये के (इव) समान ज्ञात होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—वह, यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदिक रस विशेष रूप से झरता हुआ बाहर गया और उस यश, तेज, इन्द्रिय वीर्य, खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस ने वहाँ से जाकर सूर्य का ही सब ओर से आश्रय लिया। जो यह सूर्यमण्डल के मध्य में समाहित चित्त करके देखने से कंपन सा स्फुरित होता है निश्चय करके वही यह यश, तेज, इन्द्रिय वीर्य, खाद्य अन्न आदि रूप लक्षण रस है ॥ ३ ॥

ते वा एते रसनां रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसाः। तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥४॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके पञ्चमखण्डः ।

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ते) वे पूर्वोक्त (एते) ये लोहित शुक्ल कृष्ण अतिशय कृष्ण मध्य में कंपन रूप (रसानाम्) लोक के सब रसों के (रसाः) सारभूत सर्वश्रेष्ठ रस हैं (हि) क्योंकि (वेदाः) ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद (रसाः) रस हैं। ये पहले कहे गये हैं (तेषाम्) उन रस रूप वेदों के (एते) ये लोहित आदि पाँचों रूप (रसाः) सारभूत सर्वश्रेष्ठ रस हैं (वै) निश्चय करके (तानि) वे पूर्वोक्त [एतानि] ये सूर्य का लाल, सफेद, काला अतिशयकृष्ण और बीच में कंपन सा रूप [अमृतानाम्] अमृतों के [अमृतानि] अमृत हैं [हि] क्योंकि [वेदाः] चारों वेद [अमृताः] अमृत हैं और [तेषाम्] उन अमृत चारों वेदों के [एतानि] ये लोहितादि रूप [अमृतानि] अमृत हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध सूर्य का पहले कहा हुआ जो लाल १, सफेद २,

काला, ३ अत्यन्त काला ४ और मण्डल के मध्य में कंपन सा रूप ५ हैं वे ये पूर्वोक्त लोहितादि रूप लोक के रसों के सारभूत सर्वश्रेष्ठ रस हैं। क्योंकि प्रथम वेद ही रस हैं। वेद के विषय में लिखा है— **मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** ॥ (आपस्त० श्रौ० सू० २४।१।३१) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ॥ ३१ ॥ **मंत्रब्राह्मणमित्याहुः** । (बौधा० गृ० सू० २।६।२) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं।२। **आम्नायः पुनर्मंत्राश्च ब्राह्मणानि च** ॥ (कौ० सू० १।३) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को आम्नाय यानी वेद कहते हैं ॥ ३ ॥ **तच्चोदकेषु मंत्राख्या** ॥ (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२) प्रेरणा लक्षण श्रुति ही का नाम मंत्र है ॥ ३२ ॥ **शेषे ब्राह्मणशब्दः** ॥ (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३३) मंत्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ॥ ३३ ॥ **चत्वारो वेदाः** ॥ (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) चार वेद हैं ॥ १ ॥ और चारों वेदों के भी ये लोहितादि पाँचों रूप सारभूत सर्वश्रेष्ठ रस हैं वे सूर्य के पाँच लोहितादि रूप ही अमृतों के अमृत हैं। क्योंकि अपौरुषेय होने से चारों वेद ही अमृत हैं और वेदविहित कर्म पुष्पों से वैदिक मंत्र रूप भ्रमर अभितप्त करके लोहितादि रूपों को तैयार किये हैं इससे पूर्वोक्त लाल १, सफेद २, काला ३, अतिशयकृष्ण ४, और कंपन सा ५, रूप वेद रूप अमृत के भी अमृत हैं। इस श्रुति में वेद के विषय में अधिक वक्तव्य पहले ही लिख चुका हूँ। पहले के पाँच खण्डों में मधु विद्या का वर्णन किया गया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का पाँचवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ षष्ठखण्डः ॥

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति । एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अन्वयार्थ—[तत्] उन पाँच अमृतों में से [यत्] जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण [प्रथमम्] पहला [अमृतम्] अमृत आदित्य का लोहित रूप है [तत्] उस लाल रूप को [वसवः]

आठ वसु देवता (अग्निना) अग्नि (मुखेन) मुख से (उपजीवन्ति) अपना जीवन धारण करते हैं (वै निश्चय करके (देवाः) देवगण (न) न तो (अश्नन्ति) भोजन करते हैं और (न) न तो (पिबन्ति) जल पीते हैं (एतत्) इसी प्रथम यश. तेज आदि लक्षण लोहित रूप (अमृतम्) अमृत को (एव) निश्चय करके (दृष्ट्वा) सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) वे देवगण तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अब प्रथम अमृत के वसु देवता के भोग्य और उसकी उपासना करने वाले को वसुत्व प्राप्ति पूर्वक परब्रह्म नारायण की प्राप्ति का प्रतिपादन किया जाता है—लोहित १, शुक्ल २, कृष्ण ३, अतिशयकृष्ण का ४, और कम्पन ५ इन पाँच अमृतों में से जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण पहला अमृत आदित्य का लोहित रूप है उससे "धर १, ध्रुव २, सोम ३, अहः ४, अनिल ५, अनल ६, प्रत्यूष ७ और प्रभास ८ (महाभार० आदिप० १ अ० ६६ श्लो० १८) के अनुसार ये आठ वसु देवता प्रधान अग्नि मुख से अपना जीवन धारण करते हैं। देवता लोग निश्चय करके और योनियों के समान न तो भोजन करते हैं और न तो जल ही पीते हैं। किन्तु इसी यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य अन्न आदि लक्षण आदित्य के प्रथम लोहित रूप अमृत को ही सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके देवता लोग तृप्त हो जाते हैं। गोष्ठीपूर्ण-कृपालब्धमंत्रराजप्रकाशक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भाक्तं वानात्मवित्वा-त्तथाहि दर्शयति** । (शा० मी० अ० ३ पा० १ सू० ७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक के छठवें खण्ड की पहली श्रुति के **न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति । एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।** इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्ति। एतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥२।

अन्वयार्थ—(ते) वे देवगण (एतत्) इस (रूपम्) लोहित रूप अमृत को (एव) निश्चय करके अनुभव करके (अभिसंविशन्ति) भोगा-नन्तर उदासीन हो जाते हैं और भोग के अवसर प्राप्त होने पर (एत-स्मात्) इस (रूपात्) लोहित रूप प्रथम अमृत के अनुभव के उद्देश्य से ही (उद्यन्ति) उत्साहित होते हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वे आठ वसु देवता इस आदित्य के लोहित यानी

लाल रूप पहले अमृत को ही अनुभव करके भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं। और फिर भोग के समय प्राप्त होने पर सूर्य के इस लालरूप पहले अमृत के अनुभव के उद्देश्य से उत्साह वाले हो जाते हैं। आठ वसु को पहले लिख चुका हूँ ॥ २ ॥

स य एतदेवमृतं वेद। वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखे नैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार के वसुतृप्त्याधायक दर्शनगोचरत्वलक्षण वसूपजीव्यत्व आदि करके (एतत्) इस सूर्य के लोहित रूप (अमृतम्) पहले अमृत को (वेद) जानता है (सः) वह उपासक (वसूनाम्) वसु देवताओं में (एव) निश्चय करके (एकः) एक (भूत्वा) होकर (अग्निना) अग्नि (मुखेन) मुख से (एव) ही (एतत्) इस लोहित रूप (अमृतम्) अमृत को (एव) निश्चय (दृष्ट्वा) देखकर (तृप्यति) तृप्त हो जाता है (सः) वह (एतत्) इस (रूपम् लोहित रूप प्रथम अमृत को (एव) निश्चय करके अनुभव करके (अभिसंविशति) भोगान्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग का अवसर प्राप्त होने पर (एतस्मात्) इस (रूपात्) लोहित रूप प्रथम अमृत के अनुभव के उद्देश्य से ही [उदेति] उत्साहवाला प्रकट होता है ॥३॥

विशेषार्थ—जो उपासक इस प्रकार के वसुतृप्त्याधायक दर्शन गोचरत्वलक्षण वसूपजीव्यत्व आदि करके आदित्य के इस लोहित रूप पहले अमृत को जानता है वह उपासक "तत्क्रतुन्यायसे" वसु देवताओं में ही कोई एक होकर अग्निमुख से सूर्य के इस लाल रूप अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वसु बना हुआ वह पुरुष सूर्य के लाल रूप इस प्रथम अमृत को ही अनुभव करके भोगानन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग के अवसर प्राप्त होने पर इस लोहित रूप प्रथम अमृत के अनुभव के उद्देश्य से ही उत्साह वाला हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता। वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ—आदित्यः) सूर्य (यावत्) जब तक (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (उदेता) उदय होता है और (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (अस्तम्) अस्त (एता) होता है (तावत्) तब तक (वसूनाम्) आठ वसु देवताओं के (एव) निश्चय करके (आधिपत्यम्) अप्रतिहत संकल्पलक्षण आधिपत्य को और (स्वाराज्यम्) स्वाराज्यको (स.) वह उपासक (पर्येता) चारो तरफ से प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—कितने काल तक उपासक वसु बन कर रहता है इसका उत्तर श्रुति देती है—सूर्य जबतक पूर्व दिशा में उदय होता रहेगा और पश्चिम दिशा में जबतक अस्त होता रहेगा तबतक निश्चय करके आठ वसु देवताओं के अप्रतिहतसंकल्पलक्षण आधिपत्य को और स्वाराज्य को वह उपासक चारों तरफ से प्राप्त होता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का छठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

अथ यद् द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥१।

अन्वयार्थ—(अथ) प्रथम अमृत के कहने के अनन्तर (यत्) जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण (द्वितीयम्) दूसरा (अमृतम्) अमृत आदित्य का शुक्ल रूप है (तत्) उस सफेद रूप को (रुद्राः) ग्यारह रुद्र देवता (इन्द्रेण) इन्द्र (मुखेन) मुख से (उपजीवन्ति) अपना जीवन धारण करते हैं (वै) निश्चय करके (देवाः) देवगण (न) न तो (अश्नन्ति) भोजन करते हैं और (न) न तो (पिबन्ति) जल पीते हैं [एतत्] इसी द्वितीय यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, आदि लक्षण शुक्ल रूप [अमृतम्] अमृत को [एव] निश्चय करके [दृष्ट्वा] सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके [तृप्यन्ति] तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—प्रथम अमृत के वर्णन करने के अनन्तर अब द्वितीय अमृत के रुद्रदेवता के भोग्य और उसकी उपासना करने वाले को रुद्रत्व प्राप्ति पूर्वक परब्रह्म नारायण की प्राप्ति प्रतिपादित की जाती है

लोहित १, शुक्ल, २, कृष्ण ३, अतिशय कृष्ण ४, और कम्पन ५ इन पाँच अमृतों में से जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण दूसरा अमृत सूर्यका सफेद रूप है उससे 'मृगव्याध' १, सर्प २, निर्ऋति ३ अजैकपाद ४, अहिर्बुध्न्य ५, पिनाकी ६, दहन ७, ईश्वर ८, कपाली ९, स्थाणु १० और भग ११ (महाभार० आदिप० १अ० ६६ श्लो० २।३) के अनुसार ये ग्यारह रुद्रदेवता प्रधान इन्द्रमुख से अपना जीवन धारण करते हैं। देवता लोग निश्चय करके और योनियों के समान न तो भोजन करते हैं और न तो जल पीते हैं। परन्तु इसी यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण अदित्य के द्वितीय शुक्ल रूप अमृत को ही सब इन्द्रियों से साक्षात् करके रुद्र देवता लोग तृप्त हो जाते हैं। श्रीशैलपूर्णकरुणालब्धरामायणार्थक भगद्रामानुजाचार्य ने-**भाक्तं वा-नात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति** । शा० मी० ३।१।७ के श्रीभाष्य में 'छान्दग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के सातवें खण्ड की पहली श्रुति के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्ति । एतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।२॥

अन्वयार्थ —[ते] वे ग्यारह रुद्रदेव [एतत्] इस [रूपम्] शुक्ल रूप अमृत को [एव] निश्चय करके अनुभव करके [अभिसंविशन्ति] भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं और फिर भोग का अवसर होने पर (एतस्मात्] इस [रूपात्] शुक्ल रूप द्वितीय अमृत के अनुभव के उद्देश्य से ही [उद्यन्ति] उत्साहित होते हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ —वे ग्यारह रुद्र देवता इस आदित्य के शुक्ल रूप दूसरे अमृत को ही अनुभव करके भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं और फिर भोग के अवसर प्राप्त होने पर सूर्य के सफेद इस दूसरे अमृत के अनुभव के उद्देश्य से उत्साह वाले हो जाते हैं। ग्यारह रुद्र को पहले लिख चुका हूँ ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद । रुद्राणामेवैकोभूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभि-संविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।।३।

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार के रुद्रतृप्त्याधायक दर्शन गोचरत्वलक्षण रुद्रोपजीव्यत्व आदि करके (एतत्) इस सूर्य के शुक्ल रूप (अमृतम्) दूसरे अमृत को (वेद) जानता है (सः) वह उपासक (रुद्राणाम्) रुद्र देवताओं में (एव) निश्चय करके (एकः) एक (भूत्वा) होकर (इन्द्रेण) इन्द्र (मुखेन) मुख से (एव) ही (एतत्) इस शुक्ल रूप (अमृतम्) अमृत को (एव) ही [दृष्ट्वा] देखकर [तृप्यति) तृप्त हो जाता है (सः) वह (एतत्) इस (रूपम्) शुक्ल रूप द्वितीय अमृत को (एव) निश्चय करके अनुभव करके (अभिसंविशति) भोगानन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग का अवसर प्राप्त होने पर (एतस्मात्) इसके (रूपात्) शुक्ल रूप द्वितीय अमृत के अनुभवके उद्देश्य से ही (उदेति) उत्साह युक्त उदय होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—जो उपासक इस प्रकार के रुद्रतृप्त्याधायक दर्शन गोचरत्वलक्षण रुद्रोपजीव्यत्व आदि करके आदित्य के इस शुक्ल रूप दूसरे अमृत को जानता है, वह उपासक 'तत्क्रतु न्यायसे' रुद्र देवताओं में से ही कोई एक होकर इन्द्र मुख से ही सूर्य के इस सफेद रूप अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। रुद्र बना हुआ वह पुरुष सूर्य के शुक्ल रूप इस द्वितीय अमृत को ही अनुभव करके भोग के अनन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग के समय प्राप्त होने पर इस शुक्ल रूप द्वितीय अमृत के उद्देश्य से ही उत्साह वाला होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता। द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता। रुद्राणामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके सप्तमखण्डः ॥

अन्वयार्थ —(आदित्यः) सूर्य (यावत्) जब तक [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में (उदेता) उदय होता है और (पश्चात्) पश्चिम दिशा में [अस्तम्) अस्त [एता] होता है [द्विस्तावत्] उससे दुगने समय में [दक्षिणतः] दक्षिण दिशा में (उदेता) उदय होता है और [उत्तरतः] उत्तर दिशा में [अस्तम्] अस्त [एता] होता है [रुद्राणाम्] रुद्रदेवताओं के [एव] निश्चय करके (आधिपत्यम्) अप्रतिहत संकल्प लक्षण

आधिपत्यको और (स्वाराज्यम्) स्वाराज्यको (सः) वह उपासक (तावत्) उतने काल तक (पर्येता) चारों तरफ से प्राप्त होता है ॥४॥

विशेषार्थ—कितने काल तक उपासक रुद्र बनकर रहता है इसका उत्तर श्रुति देती है—जितने समय तक सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है और जितने समय तक सूर्य पश्चिम दिशा में अस्त होता है। उससे दुगुने समय में सूर्य दक्षिण दिशा में उदय होता है और उत्तर दिशा में अस्त होता है। इतने समय पर्यन्त निश्चय करके ग्यारह रुद्रदेवताओं के अप्रतिहत सकल्प लक्षण आधिपत्य को और स्वाराज्य को वह उपासक चारों तरफ से प्राप्त हो जाता है । यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथाष्टमखण्डः ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति । एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अन्वयार्थ—अथ) द्वितीय अमृत कहने के अनन्तर (तत्) जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण (तृतीयम्) तीसरा (अमृतम् अमृत सूर्य का कृष्ण रूप है (तत्) उस काले रूप को (आदित्याः) बारह आदित्य देवता (वरुणेन) वरुण (मुखेन) मुख से (उपजीवन्ति) अपना जीवन धारण करते हैं (वै) निश्चय करके (देवाः) देवगण (न) न तो (अश्नन्ति) भोजन करते हैं (न) न तो (पिबन्ति) जल पीते हैं (एतत्, इस तृतीय यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि लक्षण कृष्ण रूप (अमृतम्) अमृत को (एव) निश्चय करके (दृष्ट्वा सब इन्द्रियो से साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ द्वितीय अमृत के वर्णन करने के अनन्तर अब तृतीय अमृत के आदित्य देवता के भोग्य और उसकी उपासना करने वाले का आदित्यत्व प्राप्ति पूर्वक परब्रह्म नारायण की प्राप्ति का प्रतिपादन किया जाता है—लोहित १, शुक्ल २, कृष्ण ३, अतिशयकृष्ण ४, और कम्पन ५ इन पाँच अमृतों में से जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण तीसरा अमृत रूप सूर्य का काला रूप है उससे "धाता १, मित्र २, अर्यमा ३, शक्र ४, वरुण ५, अंश ६, भग ७, विवस्वान् ८, पूषा ९,

सविता १०, त्वष्टा ११, वामनभगवान् १२ (महाभार० आदिप० १ अ० ६५ श्लो० १५।१६) के अनुसार ये बारह आदित्य देवता प्रधान वरुण मुख से अपना जीवन धारण करते हैं। देवता लोग निश्चय करके और योनियों के समान न तो भोजन करते हैं और न तो जल ही पीते हैं। परन्तु इस यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण आदित्य के तृतीय कृष्ण रूप अमृत को ही सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके आदित्य देवता लोग तृप्त हो जाते हैं। वररुच्यानुकम्पात्तद्राविडाम्नाय-पारग भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भाक्तं वानात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति ॥** (शा० मी० ३।१।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के सातवें खण्ड की पहली श्रुति के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्ति। एतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥२॥

अन्वयार्थ -(ते) वे बारह आदित्य देव (एतत्) इस (रूपम्) कृष्ण रूप अमृतको (एव) निश्चय करके अनुभव करके (अभिसंविशन्ति) भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं और फिर भोग के अवसर प्राप्त होने पर (एतस्मात्) इस (रूपात्) काला रूप तृतीय अमृत का अनुभव के उद्देश्य से ही (उद्यन्ति) उत्साहित होते हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वे बारह आदित्य देवता इस आदित्य के काला रूप तीसरे अमृत को ही अनुभव करके भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं। और फिर भोग के समय प्राप्त होने पर सूर्य के काला रूप इस तीसरे अमृत के अनुभव के उद्देश्य से उत्साह वाले हो जाते हैं। बारह आदित्य को पहले लिख चुका हूँ ॥ १२ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ।३॥

अन्वयार्थ – (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार के आदित्य तृप्त्यावायक दर्शन गोचरत्वलक्षण आदित्योपजीव्यत्व आदि करके ((एतत्) इस सूर्य के कृष्ण रूप (अमृतम्) तीसरे अमृत को [वेद] जानता है। (सः) वह उपासक (आदित्यानाम्) आदित्य देवताओं में (एव) निश्चय करके (एकः) एक (भूत्वा) होकर [वरुणेन] वरुण [मुखेन]

मुख से (एव) ही (एतत्) इस काला रूप (अमृतम्) तृतीय अमृत को [एव] निश्चय करके [दृष्ट्वा] देखकर [तृप्यति] तृप्त हो जाता है [सः] वह उपासक [एतत्] इस [रूपम्] कृष्ण रूप तृतीय अमृत को [एव] निश्चय करके अनुभव करके [अभिसंविशति] भोगानन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग के अवसर प्राप्त होने पर [एतस्मात्] इस [रूपात्] कृष्णरूप तृतीय अमृत का अनुभव करने उद्देश्य से ही [उदेति) उत्साहयुक्त उदय होता है ॥ ३॥

विशेषार्थ—जो उपासक इस प्रकार के आदित्यतृप्त्याधायक दर्शन गोचरत्वलक्षण आदित्योपजीव्यत्व आदि करके इस सूर्य के कृष्णरूप तीसरे अमृत को जानता है, वह उपासक 'तत्क्रतु न्यायसे' आदित्य देवताओं में से ही कोई एक होकर वरुण मुख से इस सूर्य के कालारूप तृतीय अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है और आदित्य बना हुआ वह पुरुष सूर्य के कृष्णरूप इस तृतीय अमृत को ही अनुभव करके भोग के अनन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है। फिर भोग के समय प्राप्त होने पर इस कलारूप तीसरे अमृत के उद्देश्य से ही उत्साह वाला हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता । द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता । आदित्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४ ।

। इति तृतीयप्रपाठके अष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(आदित्यः) सूर्य (यावत्) जबतक (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा में (उदेता) उदय होता है और (उत्तरतः) उत्तर दिशा में (अस्तम्) अस्त (एता) होता है (द्विस्तावत्) उससे दुगुने समय में (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (उदेता) उदय होता है और (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (अस्तम्) अस्त (एता) होता है (तावत्) उतने काल तक (सः) वह उपासक (आदित्यानाम्) आदित्य देवताओं के (एव) निश्चय करके (आधिपत्यम्) अप्रतिहत संकल्प लक्षण आधिपत्यको और (स्वाराज्यम्) स्वाराज्य को (पर्येता) चारों तरफ से प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—कितने काल तक उपासक आदित्य बनकर रहता है इसका उत्तर श्रुति देती है—जितने समय तक सूर्य दक्षिण दिशा में

उदय होता है और जितना समय तक सूर्य उत्तर दिशा में अस्त होता है। उससे दुगुने समय में सूर्य पश्चिम दिशा में उदय होता है और पूर्व दिशा में अस्त होता है। उतने समय पर्यन्त निश्चय करके बारह आदित्य देवताओं के अप्रतिहत्त संकल्प लक्षण आधिपत्य को और स्वाराज्यको वह उपासक चारों तरफ से प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ नवमखण्डः ॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) तृतीय अमृत कहनेके अनन्तर (यत्) जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण (चतुर्थम्) चौथा (अमृतम्) अमृत सूर्य का अतिशय कृष्ण रूप है (तत्) उस अतिशय कृष्ण रूप को (मरुतः) उनचास मरुद्गण [सोमेन] इन्द्र (मुखेन) मुख से (उपजीवन्ति) अपना जीवन धारण करते हैं (वै), निश्चय करके (देवाः) देवगण (न) न तो (अश्नन्ति) भोजन करते हैं (न) न तो (पिबन्ति) जल पीते हैं (एतत्) इस चतुर्थ यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, आदि लक्षण अतिशय कृष्ण रूप [अमृतम्] अमृत को (एव) निश्चय करके (दृष्ट्वा) सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ॥१॥

विशेषार्थ— तृतीय अमृत के वर्णन करने के अनन्तर अब चौथे अमृत का मरुत् देवता के भोग और उसकी उपासना का करने वाले को मरुत्देवत्व प्राप्ति पूर्वक परब्रह्म नारायण की प्राप्ति प्रतिपादन किया जाता है—लोहित १, शुक्ल २, कृष्ण, ३ अतिशयकृष्ण ४, और कम्पन ५, इन पाँच अमृतों में से जो यश, तेज, इन्द्रिय' वीर्य खाद्य, अन्न आदि लक्षण चौथा अमृत सूर्य का अतिशय कृष्ण रूप है उससे सत्त्वज्योति १, आदित्य २, सत्यज्योति ३, तिर्यग्ज्योति ४, सज्योति ५, ज्योतिष्मान् ६, हरित ७, ऋतजित् ८, सत्यजित् ९, सुषेणा १०, सेनजित् ११, सत्यमित्र १२, अभिमित्र १३, हरिमित्र १४, कृत १५, सत्य १६, ध्रुव १७, धर्ता १८ विधर्ता १९, विधाराय २०, ध्वान्त २१, धुनि २२, उग्र २३, भीम २४

अभियु २५, साक्षिप २६, ईदृक् २७, अन्यादृक् २८, यादृक् २९, प्रतिकृत ३०, ऋक् ३१, समिति ३२, संरम्भ ३३, ईदृक्ष ३४, पुरुष ३५, अन्यादृक्ष ३६, चेतस ३७' समिता ३८, समिदृक्ष ३९, प्रतिदृक्ष ४०, मरुति ४१, सरत ४२, देव ४३, दिश ४४, यजुः ४५, अनुदृक् ४६, साम ४७, मानुष ४८, और विश् ४९ (वायुपुरा० अ० ६७ श्लो० १२३ से १३० तक)इसके अनुसार ये उनचास मरुत् देवता प्रधान सोम मुख से अपना जीवन धारण करते हैं। देवता लोग निश्चय करके और योनियों के समान न तो भोजन करते हैं और न तो जल ही पीते हैं परन्तु इस यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण आदित्य के चतुर्थ अतिशय कृष्ण रूप अमृत को ही सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके मरुत् देवता लोग तृप्त हो जाते हैं। मरुत् के विषय में लिखा है कि—कश्यप ऋषि की पत्नी दिति ने बहुत पुत्रों के इन्द्र द्वारा वध हो जाने पर अपने पति कश्यप जी को अपने सेवा से प्रसन्न किया। उसकी सम्यक अराधना से सन्तुष्ट हो तपस्वियों में श्रेष्ठ कश्यप जी ने दिति से वर माँगने को कहा। उस समय दिति ने इन्द्र के वध करने में समर्थ एक अति तेजस्वी पुत्र वर माँगा। मुनि श्रेष्ठ कश्यप जी ने उसे अभीष्ट वर दिया। और उस अति उग्र वर को देते हुए वे उससे बोले—यदि तुम नित्य भगवान् के ध्यान में तत्पर रहकर शास्त्रानुसार सब आचारण करती हुई एक वर्ष पुंसवन व्रत करोगी तो तुम्हारा पुत्र इन्द्र को मारने वाला होगा। उस गर्भ को अपने वध का कारण जान देवराज इन्द्र भी विनय पूर्वक दिति की सेवा करने के लिये आगये। उसकी पवित्रता में कभी बाधा हो तो हम कुछ कर सकें प्रतीक्षा में इन्द्र वहाँ हर समय उपस्थित रहने लगे। **एकदा सा तु सन्ध्याया-मुच्छिष्टा व्रतकर्शिता। अस्पृष्ट्वार्यधौतांघ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता।** (श्रीमद्भाग० स्कं० ६ अ० १८ श्लो० ६० **लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः। दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया॥ ६१॥ चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम्। रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान्पुनः॥६२॥** अन्त में एक दिन पुंसवन व्रत से कर्शित दैववश सायंकाल में दिति बिना आचमन और चरण शुद्धि किये ही अपने बिछौने पर लेट गयीं॥ ६०॥ उसी समय में मौका पाकर निद्रा से सोई हुई दिति की कोख में योगेश इन्द्र हाथ में वज्र लेकर योग माया से प्रवेश

कर गये ॥ ६१ ॥ और उन्होंने उस सोने की प्रभा के समान महागर्भ को वज्र से सात टुकड़े कर डाला इस प्रकार वज्र से पीड़ित वह गर्भ जोर जोर से रोने लगा तब इन्द्र ने उससे बारम्बार कहा कि 'मत रोओ' किन्तु वह गर्भ रोना बन्द नहीं किया तो इन्द्र ने अत्यन्त कुपित हो फिर एक एक के सात सात टुकड़े कर डाला ॥ ६२ ॥ **मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकः** ॥ (श्रीमद्भा० स्कं० ६ अ० १८ श्लो० १९) दिति के उञ्चास मरुत् पुत्र हुये ॥ १९ ॥ इन्द्र ने जो उनसे कहा था कि "मा रोदीः' मत रोओ इसलिये वे मरुत् कहलाये। थोड़े भेद से यह मरुत् के वृतान्त (विष्णुपु० अंश १ अ० २१) में भी लिखा है। मालाधरार्यसुज्ञातद्राविडाम्नायतत्त्वधो भगवद्रामानुजाचार्य ने-**भाक्तं वानात्मवित्वात्तथाहिदर्शयति** (शा० मी० ३ पा० १ सू० ७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के नवें खण्ड की पहली श्रुति के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्ति । एतस्माद्रूपाद्यन्ति॥२॥

अन्वयार्थ—(ते वे उनचास मरुत् देव (एतत्) इस (रूपम्) अतिशय कृष्ण रूप अमृत को (एव) निश्चय करके अनुभव करके (अभिसंविशन्ति] भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं और फिर भोग करके अवसर प्राप्त होने पर (एतस्मात्] इस [रुपात्] अतिशय कृष्ण रूप चौथे अमृत के अनुभव के उद्देश्य से ही [उद्यन्ति] उत्साहित होते हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वे उञ्चास मरुत् देवता इस आदित्य के अत्यन्त कृष्ण रूप चौथे अमृत को ही अनुभव करके भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं। और फिर भोग के समय प्रप्त होने पर सूर्य के अत्यन्त कृष्ण रूप इस चौथे अमृत के अनुभव के उद्देशय से उत्साह वाले हो जाते हैं। उनचास मरुत् को पहले लिख चुका हूँ ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(सः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार के मरुत् तृप्त्याधायक दर्शन गोचरत्व लक्षण मरुदुपजीव्यत्व आदि करके (एतत्) इस सूर्य के अतिशय कृष्ण रूप (अमृतम्) चौथे अमृत को (वेद) जानता है (सः) वह उपासक (मरुताम्) मरुत देवताओं में (एव) निश्चय करके (एकः) एक (भूत्वा) होकर (सोमेन) सोम (मुखेन) मुख से (एव) (एतत्) इस (रूपम्) अतिशय कृष्ण रूप चौथे अमृत को (एव) निश्चय करके (दृष्ट्वा) देखकर (तृप्यति) तृप्त हो जाते है (सः) वह उपासक (एतत्) इस (रूपम्) अतिशय कृष्ण रूप चौथे अमृत को (एव) निश्चय करके अनुभव करके [अभिसंविशति] भोगानन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग के अवसर प्राप्त होने पर [एतस्मात्] इस [रूपात्] अत्यन्त कृष्ण रूप चौथे अमृत के अनुभव के उद्देश्य से [उदेति] उत्साहयुक्त उदय होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—जो उपासक इस प्रकार के मरुत् देव तृप्त्याधायक दर्शन गोचरत्व लक्षण मरुदुपजीव्यत्व आदि करके इस सूर्य के अत्यन्त कृष्ण रूप चौथे अमृत को जानता है। वह उपासक "तत्क्रतुन्यायसे" मरुत् देवताओं में से ही एक होकर सोममुख से इस सूर्य के अतिशय कृष्ण रूप चौथे अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। मरुत् बना हुआ वह पुरुष सूर्य के अत्यन्त कृष्ण रूप इस चौथे अमृत को ही अनुभव करके भोग के अनन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग के समय प्राप्त होने पर अतिशय कृष्ण रूप चौथे अमृत के उद्देश्य से ही उत्साह वाला हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता। मरुतामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके नवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(आदित्यः) सूर्य (यावत्) जबतक (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (उदेता) उदय होता है और (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (अस्तम्) अस्त (एता) होता है (द्विस्तात्) उससे दुगुने समय में (उत्तरतः) उत्तर दिशा में (उदेता) उदय होता है और (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा में (अस्तम् अस्त (एता) होता है [तावत्] उतने काल तक [सः] वह

उपासक (मरुताम्) मरुत् देवताओं में (एव) निश्चय करके (आधिपत्यम्) अप्रतिहत संकल्प लक्षण आधिपत्य को और (स्वाराज्यम्) स्वाराज्य को (पर्येता) चारों तरफ से पाता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—कितने काल तक उपासक मरुत् बनकर रहता है इसका उत्तर श्रुति देती है—जितने समय तक सूर्य पश्चिम दिशा में उदय होता है और जितने समय तक सूर्य पूर्व दिशा में अस्त होता है। उससे दुगुने समय में सूर्य उत्तर दिशा में उदय होता है और दक्षिण दिशा में अस्त होता है। उतने समय पर्यन्त निश्चिय करके उञ्चास मरुत् देवताओं के अप्रतिहत संकल्प लक्षण आधिपत्य को और स्वाराज्य को वह उपासक चारों तरफ से प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का नवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ दशमखण्डः ॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) चतुर्थ अमृत कहने के अनन्तर (यत्) जो यश तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण (पञ्चम्) पाँचवाँ (अमृतम्) अमृत आदित्य के मध्य में कम्पन सा है (तत्) उस कम्पन रूप को (साध्याः) बारह साध्य देवता (ब्रह्मणा) ब्रह्मा के (मुखेन) मुख से (उपजीवन्ति) अपना जीवन धारण करते हैं (वै) निश्चय करके (देवाः) देवगण (न) न तो (अश्नन्ति) भोजन करते हैं (न) न तो (पिबन्ति जल पीते हैं (एतत्) इन पाँचवें यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि लक्षण कम्पन रूप (अमृतम्) अमृत को (एव) निश्चय करके (दृष्ट्वा) सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके [तृप्यन्ति] तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—चौथे अमृत के वर्णन करने के अनन्तर अब पाँचवें अमृत के साध्य देवता का भोग्य और उसकी ऊपासना करने वाले को साध्य देवत्व प्राप्ति पूर्वक प्ररब्रह्म नारायण की प्राप्ति का प्रतिपादन किया जाता है—लोहित१, शुक्ल२, कृष्ण३, अतिशय कृष्ण४, और कम्पन ५, इन पाँच अमृतों में से जो यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण पाँचवाँ अमृत सूर्य के मध्य में कम्पन सा है उस कम्पन रूप को

बारह साध्य देवता प्रधान ब्रह्मा के चतुर्मुख से अपना जीवन धारण करते हैं। देवता लोग निश्चय करके और योनियों के समान न तो भोजन करते हैं और न तो जल ही पीते हैं। परन्तु इस यश, तेज, इन्द्रिय वीर्य, खाद्य, अन्न आदि लक्षण आदित्य के पाँचवें कम्पन रूप अमृत को ही सब इन्द्रियों से साक्षात्कार करके साध्य देवता लोग तृप्त हो जाते हैं। साध्य के विषय में लिखा है—**मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान्** ॥ (वायुपु० अ० श्लो० १५) **चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा। प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ॥१६॥** मन १, अनुमन्ता २, प्राण ३, नर ४ और वीर्यवाला यान ५॥१५॥ चित्ति ६, हय, ७ नय ८, हंस ९ नारायण १०, प्रभव ११ और विभु १२ ये बारह साध्य देवता धर्मकी पत्नी दक्षकन्या साध्यासे उत्पन्न हुये हैं॥ १६॥ पञ्चाचार्यपदाश्रय भगवद्रानुजाचार्य ने—**भाक्तं वानात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति** ॥ (शा० मी० ३।१।७) के श्री भाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के दसवें खण्ड की पहली श्रुति के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है॥ १॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्ति। एतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥२॥

अन्वयार्थ—(ते) वे बारह साध्य देव (एतत्) इस (रूपम्) सूर्य के कम्पन रूप अमत को (एव) निश्चय करके अनुभव करके (अभिसंविशन्ति) भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं और फिर भोग के अवसर प्राप्त होने पर (एतस्मात्) इस (रूपात्) कम्पन रूप पाँचवें अमृत के अनुभव के उद्देश्य से (उद्यन्ति) उत्साहित होते हैं॥ २॥

विशेषार्थ—वे बारह साध्य देवता इस आदित्य के मध्य में कम्पन रूप पाँचवें अमृत को ही अनुभव करके भोगानन्तर उदासीन हो जाते हैं और फिर भोग के समय प्राप्त होने पर इस सूर्य के कम्पन रूप पाँचवें अमृत के अनुभव के उद्देश्य से उत्साह वाले हो जाते हैं। बारह साध्यदेव को पहले मैं लिख चुका हूँ॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद। साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेव रूपम-

भिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

अन्वयार्थ—[यः] जो उपासक [एवम्] इस प्रकारके साध्यातृप्त्याधायकदर्शन गोचरत्व लक्षण साध्योपजीव्यत्व आदि करके [एतत्] इस सूर्य के कम्पन रूप [अमृतम्] पाँचवें अमृत को [वेद] जानता है [सः] वह उपासक [साध्यानाम्] साध्य देवताओं में [एव] निश्चय करके [एकः] एक [भूत्वा] होकर [ब्रह्मणा] ब्रह्मा के [मुखेन] चतुर्मुख से [एव] ही [एतत्] इस सूर्य के कम्पन रूप [अमृतम्) पाँचवें अमृत को (एव) निश्चय करके (दृष्ट्वा) देखकर (तृप्यति) तृप्त हो जाता है (सः) वह उपासक (एतत्) इस (रूपम्) कम्पनरूप पाँचवें अमृत को (एव) निश्चय करके अनुभव करके (अभिसंविशति) भोगानन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है और फिर भोग के अवसर प्राप्त होने पर (एतस्मात्) इस (रूपात्) सूर्य के कम्पन रूप पाँचवें अमृत के अनुभव के उद्देश्य से (उदेति] उत्साहयुक्त उदय होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—जो उपासक इस प्रकार के साध्यदेव तृप्त्याधायक दर्शन गोचरत्व लक्षण साध्योपजीव्यत्व आदि करके इस सूर्य के कम्पन रूप पाँचवें अमृत को जानता है। वह उपासक "तत्क्रतुन्यायसे" साध्यदेवताओं में से ही कोई एक होकर ब्रह्मा के चतुर्मुख से इस सूर्य के कम्पन रूप पाँचवें अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है और साध्यदेव बना हुआ वह पुरुष सूर्य के कम्पन रूप इस पाँचवें अमृत को ही अनुभव करके भोग के अनन्तर भलीभाँति उदासीन हो जाता है। फिर भोग के समय प्राप्त होने पर इस सूर्य के कम्पन रूप पाँचवें अमृत के अनुभव के उद्देश्य से उत्साह वाला हो जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेताऽर्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(आदित्यः) सूर्य [यावत्] जबतक [उत्तरतः] उत्तर दिशा में [उदेता] उदय होता है और [दक्षिणतः] दक्षिण दिशा में (अस्तम्) अस्त (एता) होता है (द्विस्तावत् उससे दुगुने समय में (ऊर्ध्वं)

ऊपर की दिशा में (उदेता) उदय होता है (अर्वाङ्) नीचे की दिशा में (अस्तम्) अस्त (एता) होता है (तावत्) उतने काल तक (सः) वह उपासक [साध्यानाम्] साध्यदेवताओं के [एव] निश्चय करके [आधिपत्यम्] अप्रतिहत संकल्प लक्षण आधिपत्य को और [स्वाराज्यम्] स्वाराज्य को [पर्येता] चारों तरफ पाता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—कितने काल तक उपासक साध्य बनकर रहता है इसका उत्तर श्रुति देती है—जितने समय तक सूर्य उत्तर दिशा में उदय होता है और जितने समय तक सूर्य दक्षिण दिशा में अस्त होता है। उससे दूने समय में सूर्य ऊपर को ओर उदय होता है और नीचे की ओर अस्त होता है। उतने समय पर्यन्त निश्चय करके बारह साध्यदेवताओं के अप्रतिहत संकल्प लक्षण आधिपत्य को और स्वाराज्य को वह उपासक चारों तरफ से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आदित्य शरीरक कार्यावस्थ परब्रह्म नारायण की उपासना कही गई। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया॥ ४॥

॥ अथैकादशखण्डः ॥

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य। नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता। तदेष श्लोकः ॥१॥

अन्वयार्थ—[अथ] ब्रह्मा के दिनरूप कल्प की समाप्ति के अनन्तर [ततः] उस उदय तथा अस्तमय प्राणी के अनुग्रह से [ऊर्ध्वं] ऊपर में [उदेत्य] उदित होने पर अर्थात् उदय तथा अस्तमय कृत्य प्रयुक्त प्राणी के अनुग्रह से रहित [न] न तो [एव] निश्चय करके [उदेता] उदय होता है और [न] न तो [अस्तम्] अस्त [एता] होता है किन्तु [एकलः] एक स्वभाव युक्त [एव] ही [मध्ये] मध्य में उदासीन रूप से [स्थाता] स्थित यानी वर्तमान रहता है (तत्) उस विषय में (एषः) देवताओं के प्रति किसी योगी से कहा हुआ यह आगे वक्ष्यमाण (श्लोकः) मंत्ररूप है ॥१॥

विशेषार्थ—अब नाम रूप कृत्य आदि रहित तथा कार्यावस्था रहित आदित्य जीव शरीरक परब्रह्म नारायण की उपासना का श्रुति प्रतिपादन करती है।—ब्रह्मा के दिन रूप कल्प की समाप्ति के अनन्तर उस उदय तथा अस्तमय प्राणी के अनुग्रह से ऊपर में उदित होने पर फिर निश्चय करके न तो उदय होता है और न तो अस्त ही होता है। बल्कि एक

स्वभाव वाला निश्चय करके मध्य में उदासीन रूप से वर्तमान रहता है। उसके विषय में देवताओं के प्रति किसी योगी से कहा हुआ यह वक्ष्यमाण श्लोक है। ब्रह्मा के दिन के विषय में लिखा है— **सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥** (गी० अ० ८ श्लो० १७) ब्रह्मा का जो दिन है उसे सहस्रयुग तक रहने वाला और रात्रि कोभी सहस्र युग तक रहने वाली जो जानते हैं वे लोग दिन रात को जानने वाले हैं॥ १७ ॥ यहाँ युग शब्द दिव्ययुग का वाचक है जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, और कलियुग चारों युगों के समय को मिलने पर होता है। यह देवताओं का युग है इसलिये इसको दिव्य युग कहते हैं। इस देवताओं के समय का परिमाण हमारे समय के परिमाण से तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है। अर्थात् एक वर्ष देवताओं का चौबीस घण्टे का एक दिन रात, हमारे तीस वर्ष देवताओं का एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षों का एक दिव्य युग होता है। इसे महायुग और चतुर्युगी भी कहते हैं। इस संख्या के जोड़ने पर हमारे ४३२०००० तेंतालिस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं। दिव्यवर्षों के हिसाब से बारह सौ दिव्य वर्षों का हमारा कलियुग, चौबीस सौ का द्वापर, छत्तीस सौ का त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षों का सत्ययुग होता है। कुल मिलाकार १२००० बारह हजार वर्ष होते हैं। यह एक दिव्य युग है। ऐसे हजार दिव्य युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने युगों की एक रात्रि होती है। इससे दूसरी तरह समझिये। हमारे युगों के समय का परिमाण इस प्रकार है—कलियुग ४३२००० चार लाख बत्तीस हजार वर्ष और कलियुग से दुगुना द्वापर ८६४००० आठ लाख चौसठ हजार वर्ष तथा कलियुग से तिगुना त्रेता १२९६००० बारह लाख छानबे हजार वर्ष और कलियुग से चौगुना सत्ययुग १७२८००० सतरह लाख अठाईस हजार वर्ष है। कुल जोड़ ४३२०००० तेंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होता है। यह एक दिव्य युग हुआ। ऐसे हजार दिव्ययुगों का अर्थात हमारे ४३२००००००० चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में चौसठ से तिहत्तरवें श्लोक तक इस विषय का विशद वर्णन है ब्रह्मा के दिन को 'कल्प' या 'सर्ग' और रात्रि को 'प्रलय' कहते हैं। ऐसे तीस दिन रात का ब्रह्मा का एक महीना, ऐसे बारह महीना

का एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षों की ब्रह्मा की पूर्णायु होती है। "अथ तत ऊर्ध्व उदित्त" इस श्रुति से आदित्य के अन्तरात्मतया अवस्थित कारणावस्थ परब्रह्म नारायण उपासना करने जोग्य हैं यह उपदेश दिया जाता है। भागिनेयत्रिदण्डक भावद्रामानुजाचार्य ने-**भावं तु बादरायणोऽस्ति हि** ॥ [शा० मी० १।३।३२] **कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः** ॥ [शा० मी० १।४।१०] इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥२॥

अन्वयार्थ—(देवाः) हे देवगण (तत्र) उस आदित्यभावमुक्ति काल में (वै) निश्चय करके (इसि) ऐसा (न) कोई द्वन्द्व नहीं है और (कदाचन कभी भी (न) नहीं (निम्लोच, मुक्तादि त्यान्तर्यामी वह परमात्मा वहाँ अस्त होता है और (न) न तो (उदियाय) उदय होता है (तेन) तादृश (सत्येन) सत्य-निर्विकार (ब्रह्मणा) परब्रह्म नारायण से (अहम्) मैं उपासक (मा) मत (विराधिषि) विरोधी होऊँ ॥२॥

विशेषार्थ—हे देवताओं वहाँ आदित्य भावमुक्ति समय में निश्चय करके कोई सुखदुःख द्वन्द्व नहीं है और मुक्तादित्यान्तर्यामी वह परमात्मा कभी भी वहाँ अस्त नहीं होता है, न तो कभी वहाँ उदय होता है। उस सत्य—निर्विकार परब्रह्म नारायण से भगवदुपासक में विरोध को प्राप्त न करूँ। यहाँ 'इति' शब्द मंत्र समाप्ति द्योतक है ॥२॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति । सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो पुरुष (एताम्) इस मधु विद्या रूप [ब्रह्मोपनिषदम्) ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस पूर्वोक्त प्रकार के (वेद) जानता है यानि अनुष्ठान करता है (ह) तो प्रसिद्ध है कि (है) निश्चय करके (अस्मै] इस ब्रह्मवेत्ता उपासक के लिये (न) न तो [उदेति) सूर्य उदय होता है और (न) न तो (निम्लोचति) सूर्य अस्त होता है (ह) प्रसिद्ध [अस्मै] इस ब्रह्मवेत्ता के लिये [सकृत्] सर्वदा [दिवा] दिन (एव)

(भवति) रहता है अर्थात् सर्वदा सब विषय को वह उपासक साक्षात्कार करता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—अब मधुविद्या की उपासना के फल को श्रुति कहती है—जो भक्त इस मधुविद्या रूप ब्रह्मविद्या को इस पूर्वोक्त प्रकार का जानता है यानी अनुष्ठान करता है तो प्रसिद्ध उस ब्रह्मवेत्ता उपासक के लिये न तो सूर्य का उदय होता है और न तो कभी अस्त होता है। अर्थात् सूर्य का उदय प्रकाश से उस उपासक का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि ब्रह्मवेत्ता उस उपासक के लिये सर्वदा दिन ही रहता है। अर्थात् सर्वदा सब विषय को वह उपासक साक्षात्कार करता रहता है। पवित्रीकृतकूरेश भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥** (शा० मी० १।३।३२) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की तीसरी श्रुति के उद्धृत किया है ॥ ३ ॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥४॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (ब्रह्मा) ब्रह्मा ने (तत्) उस (एतत्) इस मधु विज्ञान को [प्रजापतये) प्रजा के रक्षक कश्यप ऋषि के लिये (उवाच) उपदेश दिया (प्रजापतिः) प्रजा के रक्षक कश्यप ऋषि ने (मनवे) अपने पौत्र वैवस्वत मनु के लिये उपदेश दिया और (मनु) वैवस्वत मनु ने (प्रजाभ्यः] अपने इक्ष्वाकु आदि पुत्रों के लिये उपदेश दिया [ह] प्रसिद्ध (पिता] उद्दालक ऋषि के पिता अरुण ऋषि ने [आरुणये] अरुणनन्दन [उद्दालकाय) उद्दालक नाम के [ज्येष्ठाय] अपने ज्येष्ठ [पुत्राय) पुत्र के लिये [तत्] उस [एतत्] इस मधु विज्ञान रूप [ब्रह्म) ब्रह्म विज्ञान को (प्रोवाच) भलीभाँति उपदेश किया ॥४॥

विशेषार्थ—अब मधुविद्या के संप्रदाय को प्रतिपादन किया जाता है—यह विषय इतिहास में प्रसिद्ध है कि सुप्रसिद्ध ब्रह्मा ने इस मधुविद्या को प्रजा के रक्षक अपने पौत्र कश्यप ऋषि से कहा। ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचि हैं और महर्षि कश्यप मरीचि के पुत्र हैं। ब्रह्मा के विषय में लिखा है—**भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः** (अथर्ववे० कां० १९ सू० २३ मं० ३०) सब प्राणियों में ब्रह्मा सबसे पहले

उत्पन्न हुआ है इससे उसब्रह्मा सेस्पर्धा करने के लिये कौन समर्थ है॥३०॥ **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव ॥** (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १) इन्द्रादि सब देवताओं में सर्व प्रथम चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ॥** (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ४) जो परब्रह्म नारायण सृष्टि के आदि मैं ब्रह्मा को उत्पन्न करता है ॥ ४ ॥ **नारायणाद्ब्रह्मा जायते ॥** (नारायणो० श्रु० १) नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होता है ॥१॥ **तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ९) वह बीज सुवर्ण के सदृश पवित्र और सूर्य से समान प्रकाशित नारायण की इच्छा से अण्डाकार हो गया। उसमें स्वयं सर्वलोक के पितामह ब्रह्म उत्पन्न हुए ॥९॥ मरीचि के विषय में लिखा है—**मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥** (माहाभार० शान्तिप० अ० ३४ श्लोक० ६९) मरीचि १, अङ्गिरा २, अत्रि ३, पुलस्त्य ४, पुलह ५, क्रतु ६, और वसिष्ठ ७ ये सातों महर्षि ब्रह्मा जी के मन से रचे हुये हैं ॥ ६९ ॥ मरीचि के पुत्र कश्यप हैं। इनकी विस्तृत कथा विष्णुपुराण, पद्मपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण, स्कंदपुराण वायुपुराण, और महाभारत आदि में है । प्रजा के रक्षक कश्यप महर्षि ने अपने पौत्र वैवस्वतमनु से इस मधुविद्या को कहा। कश्यप महर्षि की धर्मपत्नी अदिति के पुत्र सूर्य हैं और सूर्य की पत्नी संज्ञा के गर्भ से वैवस्वतमनु उत्पन्न हुआ है। यह भविष्यपुराण, स्कन्दपुराण और पद्मपुराण में स्पष्ट लिखा है । वैवस्वतमनु ने अपने इक्ष्वाकु आदि पुत्रों से इस मधुविद्या को कहा। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा हैं— **विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥** (गी० अ० ४ श्लोक १) सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वतमनु से कहा और वैवस्वतमनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु राजा से इस योग को कहा ॥१॥ और अरुण ऋषि ने अपने बड़े पुत्र उद्दालक ऋषि से इस मधुविज्ञान रूप ब्रह्मविज्ञान को भलीभाँति उपदेश दिया। उद्दालक ऋषि के विषय में लिखा है—**उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ॥** (कठो० अ० १ श्रु० १) निश्चय करके

प्रसिद्ध है कि यज्ञ के फल की इच्छा वाले वाजश्रवा ऋषि के पुत्र उद्दालक महर्षि ने विश्वजित् यज्ञ में अपने सब धन को ब्राह्मणों के लिये दे दिया ॥ १ ॥ **औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः** । (कठो० अ० १ व० श्रु० ११) अरुण ऋषि के पुत्र तुम्हारा पिता उद्दालक महर्षि मेरा प्रेरणा किया हुआ ॥ ११ ॥ **उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच** ॥ (छा०उ० प्रपा० ६ खं० ८ श्रु० १) प्रसिद्ध अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु नामक पुत्र से कहा ॥ १ ॥ **तं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाच** ॥ (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० ७) प्रसिद्ध अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ऋषि ने उस इस मन्त्र का अपने शिष्य वाजसनेय यज्ञवल्क्य को उपदेश करके कहा था ॥ ७ ॥ **चित्रो ह वै गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय** ॥ (कौषीतकिब्राह्मणो०अ० १ श्रु० १)गर्ग ऋषि के प्रपौत्र सुप्रसिद्ध महात्मा चित्र यज्ञ करने वाले थे। इसके लिये उन्होंने अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ऋषि को प्रधान ऋत्विक् के रूप में वरण किया। परन्तु उन प्रसिद्ध उद्दालक मुनि ने स्वयं न पधार कर अपने पुत्र श्वेतकेतु को भेजा ॥ १ ॥ पुत्र का अर्थ लिखा है—**पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा** । (महाभार० आदिप० १ अ० ७४ श्लो० ३९) पुम् नाम नरक से सुत पिता की रक्षा करता है इससे स्वयं ब्रह्मा ने उसको पुत्र ऐसा कहा है ॥ ३९ ॥ इस प्रकार की मधुविद्या के संप्रदाय को संक्षेप से कहा गया ॥ ४ ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् । प्राणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥५॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस कारण से (पिता) पिता (वाव) निश्चय करके (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्रह्मविज्ञानको (ज्येष्ठाय) अपने ज्येष्ठ (पुत्राय) पुत्र के लिये (वा) अथवा (प्राणाय्याय) योग्य प्राण तुल्य (अन्तेवासिने) शिष्य के लिये (प्रब्रूयात्) भलीभाँति उपदेश देवे ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जैसे अरुण ऋषि ने अपने प्राणप्रियतम सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र उद्दालक ऋषि से इस मधुविज्ञानरूप ब्रह्मविज्ञान को उपदेश दिया था

वैसे ही पिता अपने प्राण प्रियतम सुयोग्य बड़े लड़के से इस मधुविज्ञान रूप ब्रह्मविज्ञान का उपदेश दे और जैसे ब्रह्मा ने अपने सुयोग्य प्राण तुल्य शिष्य प्रजापति से इस मधुविज्ञानरूप ब्रह्मविज्ञान का उपदेश किया था वैसे ही निश्चय करके आचार्य सुयोग्य प्राणप्रियतम अपने शिष्य को इस मधुविज्ञान रूप ब्रह्मविज्ञान का उपदेश देवे। शिष्य का लक्षण लिखा है— **उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय** । (मुण्डको० मुं० १खं० २श्रु० १३)भले प्रकार से परम शान्तचित्त वाला बाह्येन्द्रियों को नियमन करने वाला और शरण में आया हुआ ॥ १३ ॥ **विद्याश्रुतमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्** ॥(शाट्यायनीयो०श्रु०३४) विद्या अध्ययन किया हो, प्रमाद रहित हो, बुद्धिमान हो और ब्रह्मचर्य से युक्त हो तो शिष्य कहला सकता है॥ ३४ ॥ **परीक्ष्य तन्नियुक्तांस्तु ब्रह्मचर्यस्थितान् शुचीन् । दक्षान् जितेन्द्रियान्धीरान्गुरुदेवाग्नितत्परान्** ॥ (जयाख्यसंहि० पटल० १६ श्लो० ५१) **वर्णाश्रमगुणोपेतान् विनीतान् श्रद्धयान्वितान् । शिष्यांश्च भगवद्भक्तान् संसारानलखेदितान् ॥५२॥ दीक्षयेद्विधिना मंत्री मंत्रदीक्षादितः क्रमात् ॥५३॥** भलीभाँति परीक्षा करके उन नियुक्त ब्रह्मचर्य में स्थित पवित्र दक्ष इन्द्रिय दमन करने वाले धीर और गुरुदेव तथा अग्नि की परिचर्या करने में तत्पर ॥५१॥ वर्णाश्रम गुणों से युक्त अत्यन्त नम्र, श्रद्धा से युक्त और संसार रूप अग्नि से खिन्न भगवान् के भक्त शिष्यों को ॥५२॥ मंत्रवाला आचार्य पंचरात्र की विधि के द्वारा मंत्र दीक्षा आदि के क्रमसे दीक्षा दे ॥ ५३ ॥ **आचार्यमाश्रयेच्छिष्यः श्रोत्रियोऽर्थी समाहितः । विनयव्रतशाली च द्विजातिः संस्कृतः शुचिः** ॥ (अहिर्बुध्न्यसंहि० अ० २० श्लो० ८) **ब्रह्मचर्यपरो धीमान्स्वदारनिरतोऽथवा । अच्छलेन यथावत्स्वकृताकृतनिवेदकः । ६ ॥ संसाराङ्गारमध्यस्थः पच्यमानः स्वकर्मभिः । भवन्त शरणं प्राप्तः उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ १० ॥ इत्येवं प्रतिपद्येत शिष्य आचार्यसत्तमम् ॥ ११ ॥** वेद पढ़ने वाला अर्थी एकाग्रचित्त वाला और अत्यन्त नम्र तथा एकादशी आदि व्रत करने के स्वभाव वाला शिष्य आचार्य का आश्रयण करे। वह शिष्य

द्विजाति हो और गर्भाधानादि संस्कारों से संस्कृत हो तथा अत्यन्त पवित्र हो ॥ ८ ॥ ब्रह्मचर्यपालन में तत्पर बुद्धिमान् हो अथवा अपनी स्त्री से ऋतुकाल में मैथुन करने वाला हो और बिना कपट के अपने किये हुये तथा नही किये हुये कामों को यथार्थ निवेदन करने वाला हो ॥ ९॥ और संसार रूप अङ्गार के मध्य में स्थित अपने कर्मों से पकता हुआ मैं आप की शरण में आया हूँ, इससे हे भगवन् गुरुदेव शरणागत मेरे लिये परब्रह्म नारायण का स्मरण करा दो ॥१०॥ इस प्रकार विज्ञापन करके शिष्य सदाचार्य की प्रपत्ति करे ॥ ११ ॥ **शान्तोऽनसूयुः श्रद्धावान् गुर्वर्थात्मवृत्तिकः । शुचिः प्रियहितो दान्तः शिष्यश्चोक्तो मनीषिभिः** (भारद्वाजसंहि० अ० १ श्लो० ४६) अचलित शान्त चित्तवाला, असूयारहित, अनिन्दक श्रद्धावान् आस्तिक धन और अपना व्यापार अपने गुरु के चरण कमलों में अर्पण करने वाला शुद्ध आचार्य के सम्बन्ध में सदा एकान्त में आचार्य के हित की प्रिय बातें निवेदन करने वाला निषिद्ध विषयों की ओर से विरक्त और विहित विषयों की ओर भी उदासीन रूप से रहने वाला और प्रपत्ति की वृत्तियों के अतिरिक्त लौकिक व्यापार से रिक्त शुद्ध जो हो उसी को बुद्धिमान् लोग शिष्य कहते हैं ॥ ४६ ॥ **शरीरं वसु विज्ञानं वासः कर्म गुणानसून् । गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः ॥** (प्रपन्नामृ० अ० २० श्लो० ३०) शरीर द्रव्य विज्ञान वस्त्र कर्म गुण और प्राणों को जो गुरु के लिये धारण करता है वही शिष्य है अन्य शिष्य नही है ॥ ३० ॥ **सद्बुद्धिः साधुसेवी समुचितचरितस्तत्त्वबोधाभिलाषी शुश्रूषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकालप्रतीक्षः । शान्तो दान्तोऽनसूयुः शरणमुपगतः शास्त्रविश्वासशाली । शिष्यः प्राप्तः परीक्षां कृतविदभिमतस्तत्त्वतः शिक्षणीयः ॥** (न्यासविश०) सुन्दर बुद्धि युक्त साधु सेवी शास्त्रानुसार उचित आचरण करने वाला, तत्वबोध की अभिलाषा करने वाला, आचार्य की सूक्ति सुनने की इच्छावाला मान रहित साष्टाङ्ग प्रणिपात में तत्पर प्रश्न के योग्य समय की प्रतीक्षा करने वाला शान्त दान्त असूया रहित शरण में आया हुआ शास्त्र में विश्वास करने वाला परीक्षा करने से पास भया हुआ और किये हुये कर्म को जानने वाला अभिमत शिष्य यथार्थ रूप से शिक्षा करने योग्य है । इस प्रकार का शिष्य का लक्षण कहा गया ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन। यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततोभूय इत्येतदेव ततोभूय इति। ६॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके एकादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यद्यपि) यदि (अद्भिः) समुद्रों से (परिगृहीताम्) परिवेष्टित और (धनस्य) सब धन से (पूर्णाम्) परिपूर्ण (इमाम्) इस सारी पृथ्वी को (अस्मै) इस ब्रह्मवेत्ता आचार्य के लिये (दद्यात्) कोई दे दे तौ भी (अन्यस्मै) पुत्र और शिष्य से अन्य (कस्मैचन) किसी के लिये भी (न) इस मधुविद्या का उपदेश न देवे क्योंकि (ततः) उस पृथ्वी के दान की अपेक्षा से (एव) निश्चय करके (इति) इस प्रकार के (एतत्) यह मधुविज्ञान (भूयः) अधिकतर है (ततः) उस पृथ्वी के दान की अपेक्षा से (एव) निश्चय करके (इति) इस प्रकार का (एतत्) यह मधुविज्ञान (भूयः) अधिकतर है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—यद्यपि समुद्रों से परिवेष्ठित और समस्त भोगों के उपकरणों से परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी ब्रह्मवेत्ता आचार्य को कोई दे तौ भी अपने ज्येष्ठ पुत्र और सुयोग्य शिष्य से अन्य किसी दूसरे को इस मधुविद्या का कभी उपदेश न करे लोभवश होकर। क्योंकि समुद्रपरिवेष्टित और समस्त भोगोपकरण से परिपूर्ण सम्पूर्ण भूमिदान की अपेक्षा यह मधुविज्ञान अधिकतर फल देने वाला है। उसे समस्त पृथ्वी दान की अपेक्षा यह मधुविज्ञान अधिकतर फल देने वाला है। इस श्रुति में "एतदेव ततोभूय इति" इस खण्ड का दो बार उच्चारण मधुविद्या और इस खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ६ ॥

॥ अथ द्वादशखण्डः ॥

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च। वाग्वै गायत्री। वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥१॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (यत्) जो (किं+च) कुछ भी

(इदम्) (परिदृश्यमान यह स्थावर जङ्गमरूप संसार है (इदम्) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (सर्वम्) सब भोक्तृभोग्यरूप (भूतम्) प्राणिवर्ग (गायत्री) गान करने से और रक्षा करने से गायत्री शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण हैं क्योंकि (गायत्री गायत्री शब्दित गायत्री सदृश परब्रह्म नारायण (वै) निश्चय करके (वाक्) वाणी रूप विशिष्ट होता हैं (वाक्) वाणी रूप विशिष्ट परमात्मा (वै) ही (इदम्) इस स्थावर जङ्गम (सर्वम्) समस्त भोक्तृभोग्यरूप (भूतम्) प्राणि समूह को (गायति) नामोच्चारण करता है (च) और (त्रायते) हित अहित विधि निषेध मुख से रक्षा (च) भी करता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में गायत्री शब्द से पिङ्गलसूत्र में वर्णन किया हुआ चौबीस अक्षर का प्रसिद्ध गायत्री छन्द नहीं कहा जाता है । बल्कि सबके नामोच्चारण करने वाला और विधि निषेधके द्वारा सबका पालक परब्रह्म नारायण ही कहा जाता है । क्योंकि प्रसिद्ध गायत्री छन्द के भूत १, पृथ्वी २, शरीर ३ और हृदय ४ ये चार पाद नहीं होते हैं । और इस श्रुति में वर्णित गायत्री के आगे में भूत १, पृथ्वी २, शरीर ३ और हृदय ४ ये चार पाद वर्णित किये गये हैं । इससे यहाँ गायत्री शब्द से परमात्मा ही कहा जाता है । सबसे बड़ी बात यह है कि इस श्रुति में जो गायत्री है उसका **एतावानस्य महिमा** । (सामवे० पूर्वार्चि० प्रपा० ६ अर्धप्रपा० ३ सूक्त १३ मंत्र) इस पुरुषसूक्त के मंत्र से महिमा का प्रतिपादन किया गया है । अतः गायत्री शब्द से परब्रह्म नारायण कहा जाता है । प्रसिद्ध गायत्री छन्द के पुरुष सूक्त से मंत्र प्रतिपाद्यत्व का सर्वथा अभाव है, क्योंकि लिखा है—**अनुष्टुभस्य सूक्तस्य त्रिष्टुबन्तस्य देवता । पुरुषो यो जगद्बीजं ऋषिर्नारायणः स्मृतः** ॥ (बृहत्पाराशरस्मृ० अ० २ श्लो० ३८१) अन्त का मंत्र त्रिष्टुप् छन्द से युक्त और सब मंत्र अनुष्टुप् छन्द से युक्त जो पुरुष सूक्त है उस पुरुषसूक्त की देवता जगत् का कारण पुरुष-भगवान् हैं और उस के ऋषि परब्रह्म नारायण हैं ॥३८१॥ **अस्य श्री षोडशर्चस्य पुंसूक्तस्य महर्षयः** ।। (सनत्कुमारसंहि० उत्तरभाग अ० ७८ श्लो० ५१) **अन्तर्यामी च भगवानृषिर्नारायणः स्मृतः ॥ छन्दोऽनुष्टुप रमा भूमिः पुम् विष्णुर्देवता महान्** ॥५२॥ सूत ने महर्षियों से कहा कि—हे महर्षियों इस सुन्दर सोलह ऋचा वाले

पुरुषसूक्त के ॥ ५१ ॥ अन्तर्यामी भगवान् परब्रह्म नारायण ऋषि कहे गये हैं और त्रिष्टुबन्त अनुष्टुप् छन्द कहा गया है तथा रमा भूमि और महान् पुरुष विष्णु भगवान् देवता कहे गये हैं ॥ ५२ ॥ यहाँ परब्रह्म नारायण में गायत्री सादृश्यानुसन्धान फल के लिये उपदेश किया जाता है। "**इन्द्रः शचीपतिः। वलेन पीडितः। दुश्च्यवनोवृषा। समित्सु-सासहिः।**" (श्रुति) शचीकाँ पति इन्द्र है। वलसे वह पोड़ित हुआ। वह इन्द्र दुश्च्यवन है। इन्द्र समिधा को सुन्दर सहन करने वाला है। इस श्रुति में चार चरण वाली और छः छः अक्षरों के एक-एक पाद वाली गायत्री देखी जाती है। इससे गायत्री छः प्रकार की है। इसी प्रकार के परब्रह्म नारायण के सर्वभूत शब्दित आत्मवर्ग एक पाद है तथा कर्मार्जित भोगस्थानरुप पृथ्वी लोक एक पाद है। भोगोपकरणशरीर एक पाद है और आत्मस्थिति के अनुगुण प्रदेश विशेषरूप हृदय एक पाद है। अर्थात् परमात्मा के भूत १, पृथ्वी २, शरीर ३ और हृदय ४ ये चार पाद हैं। उसमें सर्वभूत लक्षण पाद के ब्रह्मात्मक वाक कर्तृक गान कर्मत्व त्राण कर्मत्व लक्षण दो प्रकार है और पृथ्वी लक्षण पाद के सर्वभूतप्रतिष्ठात्व सर्वभूतानतिवर्त्यत्व लक्षण दो प्रकार हैं। शरीर और हृदय लक्षण दोनों पादों के प्राणप्रतिष्ठात्व प्राणानतिवर्त्यत्व लक्षण दो प्रकार हैं। इससे गायत्री के समान चार पाद और छः प्रकार परब्रह्म नारायण में अनुसन्धान करना चाहिए। अब प्राकृत मन्त्र का अर्थ लिखा जाता है।—निश्चय करके जो कुछ भी परिदृश्यमान यह स्थावर जङ्गमरूप संसार है। यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सब भोक्तृभोग्यरूपप्राणिसमूह गान करने से और रक्षा करने से गायत्री शबदवाच्य परब्रह्म नारायण हैं। क्योंकि गायत्री शब्दित गायत्रीं सदृश परब्रह्म नारायण ही वाणीरूप विशिष्ट होते हैं। क्योंकि लिखा है— **शब्दमूर्तिधरस्यैतद्रूपं विष्णोर्महात्मनः॥** (पराशरस्मृ०) शब्दमूर्ति धारण करने वाले महात्मा विष्णु भगवान् का यह रूप है। वाणी रूप विशिष्ट नारायण ही इस जड़ चेतन समस्त भोक्तृभोग्यरूप प्राणिसमूह का नामोच्चारण करते हैं और हित अहित विधि निषेध मुख से रक्षा भी करते हैं। अर्थात—**सत्यं वद। धर्मंचर स्वाध्यान्माप्रमदः। आचार्यायप्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुंमा व्यवच्छेत्शीः॥**(तैत्तिरीयो० व० १ अनुवा० ११ श्रु० १) सत्यबोलो। धर्म

करो। वेदाध्ययन से तुम उदासीन नहीं होना। आचार्य के लिये दक्षिणा के रूप में उनकी रुचि के अनुरूप धन लाकर तुम प्रेम पूर्वक देना। आचार्य की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके स्वधर्म का पालन करते हुये सन्तान परम्परा को सुरक्षित रखना—उसका लोप नही करना॥ १॥ **मामेकं शरणं व्रज। मा शुचः॥** (गी० १८।६६) एक मेरी शरण में आजा। शोक मत कर॥ ६६॥ इत्यादि के द्वारा नारायण रक्षा करता है। यहाँ भूतपाद वाला परब्रह्म के गानकर्मत्व और त्राणकर्मत्वलक्षण दो प्रकार कहा गया है। कान्तिमत्यात्मज भगवद्रामानुजाचार्य ने—**छन्दोभि-धानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम्।** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २६) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक के बारहवें खण्ड की पहली श्रुति के "गायत्री वा इदं सर्वम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है॥ १॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी। अस्यां हीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम्। एतामेव नातिशीयते॥२॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (या) जो (सा) सर्वभूतरूप एकपाद से युक्त (गायत्री) गायत्री शब्दित गायत्री सदृश परब्रह्म नारयण है (सा) वह (वा) निश्चय करके (इयम्) यही है (या) जो (इयम्) यह प्रसिद्ध (पृथिवी) पृथ्वी है (हि) क्योंकि ब्रह्मात्मक होने से (इदम्) यह स्थावरजङ्गम (सर्वम्) सब भोक्तृभोग्यरूप (भूतम्) प्राणिवर्ग (अस्याम्) इस पृथ्वी पर (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है। केवल पृथ्वी को सब भूतों के धारण करने की शक्ति नहीं है (एव) निश्चय करके (एताम्) इस ब्रह्मात्मिका पृथ्वी को (न) नहीं (अतिशीयते) कोई प्राणिवर्ग अतिक्रमण कर सकता है॥ २॥

विशेषार्थ—अब पूर्वोक्त अर्थ का अनुवाद करता हुआ परब्रह्म नारायण का द्वितीय पाद कहा जाता है—निश्चय करके जो सर्वभूतरूप एकपाद से युक्त गायत्री शब्दित गायत्री सदृश परब्रह्म नारायण है। वह निश्चय करके यही है जो कि यह सुप्रसिद्ध पृथ्वो है क्योंकि पृथ्वी के ब्रह्मात्मक होने से ही यह स्थावर जङ्गम सब भोक्तृभोग्यरूप प्राण समूह इस पृथ्वी पर प्रतिष्ठत है। केवल पृथ्वी के सब भूतों के धारण

करने की शक्ति नहीं है। कोई भी प्राणी इस ब्रह्मात्मिका पृथ्वी को अतिक्रमण नहीं कर सकता है। अर्थात् पृथ्वीमय ब्रह्माण्ड के उदर में ही भोक्तृ वर्ग स्थित रहता है। यहाँ पृथ्वीपाद वाले परब्रह्म नारायण का सर्वभूतप्रतिष्ठात्व और सर्वभूतानतिवर्त्यत्व लक्षण दो प्रकार कहा गया है ॥ २ ॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरम्। अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ३।

अन्वयार्थ - (वै) निश्चय करके [या] जो [सा] वह [पृथिवी] पृथ्वीरूप द्वितीयपाद से युक्त परब्रह्म नारायण है [वाव] निश्चय [सा] वह [इयम्] यही है [यत्] जो [इदम्] यह [अस्मिन्] इस [पुरुषे] इस शरीर विशिष्ट जीव में [शरीरम्] शरीर है [हि] क्योंकि [अस्मिन्] इस ब्रह्मात्मक शरीर में [इमे] ये [प्राणाः] प्राण [प्रतिष्ठिताः] प्रतिष्ठित हैं [एव] निश्चय [एतत्] इस ब्रह्मात्मक शरीर को [न] नहीं [अतिशीयन्ते] प्राण अतिक्रमण कर सकते हैं, अर्थात् इस शरीर को छोड़कर प्राण नहीं रह सकते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ - अब द्वितीय पाद कहने के बाद परब्रह्म नारायण का तृतीय पाद कहा जाता है निश्चय करके जो पृथ्वी रूप द्वितीय पाद से युक्त गायत्री शब्दित गायत्री सदृश परब्रह्म नारायण है। वह निश्चय करके यही है। वह कौन है सो आगे कहते हैं—इसी शरीर विशिष्ट पुरुष में जो यह शरीर है। क्योंकि ब्रह्मात्मक इस शरीर में ही प्राण सब प्रतिष्ठित हैं। निश्चय करके इस ब्रह्मात्मक शरीर को कोई भी प्राण अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। अर्थात् इस शरीर को छोड़कर कभी प्राण नहीं रह सकते हैं। यहाँ शरीर पाद वाला परब्रह्म नारायण के सर्वप्राणि-प्राण प्रतिष्ठिता और सर्वप्राणानतिवर्त्यत्व लक्षण दो प्रकार कहा गया है ॥ ३ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयम्। अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ४॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (पुरुषे) शरीर विशिष्ट पुरुष में (यत्) जो (इदम्) यह (शरीरम्, शरीररूप तृतीयपाद से युक्त परब्रह्म नारायण है (वाव) निश्चय करके (तत्) वह (इदम्) यहीहै (यत्) जो (तत) वह (इदम्) यह (अस्मिन्) इस (अन्तःपुरुषे) शरीर के भीतर (हृदयम् ब्रह्मात्मक हृदय है (हि) क्योंकि (अस्मिन्) इस ब्रह्मात्मक हृदय में [इमे] ये [प्राणाः] प्राण आदिक और सब इन्द्रियाँ [प्रतिष्ठिताः] प्रतिष्ठित हैं [एव] निश्चय करके [एतत्] इस ब्रह्मात्मक हृदय को [न] नहीं (अतिशीयन्ते) प्राणादिक अतिक्रमण कर सकते हैं ।। ४ ।।

विशेषार्थ—तृतीय पाद कहने के बाद अब परब्रह्म नारायण का चतुर्थ पाद कहा जाता है—निश्चय करके शरीर विशिष्ट पुरुष में जो शरीर रूप तृतीय पाद से युक्त गायत्री शब्दित गायत्री सदृश परब्रह्म नारायण है। वह निश्चय करके यही है। वह कौन है सो आगे कहते हैं—इस शरीर के भीतर जो ब्रह्मात्मक यह हृदय है। हृदय के विषय में लिखा है—**पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्। अधो निष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरितिष्ठति। हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत् ॥** (तैत्तिरीयार० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० ८) नीचे मुखवाले लाल कमल के कोश के समान नाभि से उपर एक बीत्ते के भीतर अधोनिष्ठा से युक्त जो मांस का पिण्ड देह में स्थित है उसी को हृदय जानना चाहिये। वह हृदय सब प्राणादिक का बड़ा स्थान है ॥८॥ निश्चय करके इस ब्रह्मात्मक हृदय में हृदय सम्बन्धी नाड़ी के द्वारा प्राण १, अपान २, समान ३, उदान ४, व्यान ५, नाग ६, कूर्म ७, कृकल ८, देवदत्त ९ और धनंजय १० प्रतिष्ठित हैं। अथवा श्रोत्र १, चक्षुः २, घ्राण ३, रसना ४, त्वचा ५, वाक् ६, पाणि ७, पाद ८, पायु ९, और उपस्थ १० ये इन्द्रिय गण प्रतिष्ठित हैं। निश्चय करके इस ब्रह्मात्मक हृदय को छोड़कर ये पूर्वोक्त प्राणादिक नहीं रह सकते हैं। यहाँ हृदय पादवाले परब्रह्म नारायण का सर्वप्राणि प्राणप्रतिष्ठात्व और सर्वप्राणानतिवर्त्यत्व लक्षण दो प्रकार कहा गया है। तृतीय और चतुर्थ इन दोनों पादों के दोनों प्रकार समान हैं। इससे गानकर्मत्व १, त्राणकर्मत्व २, सर्वभूतप्रतिष्ठात्व ३, सर्वभूतानतिवर्त्यत्व ४, सर्वप्राणिप्राणप्रतिष्ठात्व ५ और सर्वप्राणानतिवर्त्यत्व ६ यह छः प्रकार इस प्रकरण में परब्रह्म नारायण का वर्णन किया गया है ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री । तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(सा) वह (एषा) यह (चतुष्पदा) चार चरण वाला (गायत्री) गायत्री शब्दित गायत्री सदृश परब्रह्म नारायण (षड्विधा) छः प्रकार का है (तत्) वह (एतत्) यह गायत्र्याख्य प्ररब्रह्म (ऋचा) वक्ष्यमाण सामवेद के मंत्र से (अभ्यनूक्तम्) अच्छा प्रकार कहा गया है ॥५॥

विशेषार्थ—जैसे "**इन्द्रश्शचीपतिः । बलेन पीडितः । दुश्च्यवनो वृषा । समित्सुसासहिः ।**" (श्रीभाष्य ज्योतिरधिकर० १०) यह गायत्री चौबीस अक्षरों की और छः छः अक्षरों का एक एक पाद होने से चार चरणों की तथा छः अक्षरों के पाद होने से छः प्रकार की होती है। वैसे ही गायत्री शब्दित गायत्री सदृश गायत्र्याख्य परब्रह्म नारायण के भूत १, पृथ्वी २, शरीर ३, और हृदय ४ ये चार चरण हैं और गानकर्मत्व १, त्राणकर्मत्व २, सर्वभूतप्रतिष्ठात्व ३, सर्वभूतानतिवर्त्यत्व ४, सर्वप्राणिप्राणप्रतिष्ठात्व ५ और सर्वप्राणानतिवर्त्यत्व ६ लक्षण ये छः प्रकार हैं। वह यह गायत्र्याख्य प्ररब्रह्म आगे कहे जाने वाले सामवेदीय-पुरुष सूक्त के छठे मंत्र के द्वारा भलीभाँति प्रकाशित किया गया है। केशवानन्दवर्धन भगवद्रामानुजाचार्य ने—**छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम्** (शा० मी० १।१।२६)**भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्** ॥ (शा० मी० १।१।२७) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक के बारहवें खण्ड की पाँचवीं श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ५ ॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥६॥

अन्वयार्थ—(तावान्) ऊपर पहले जो कुछ कहा गया है उतनी ही (अस्य) इस गायत्र्याख्य ब्रह्मकी (महिमा) महिमा यानी वैभव है (च) और (पुरुषः) परमात्मा (ततः) उस पूर्वोक्त महिमा की अपेक्षा से (ज्यायान्) अधिक महिमा शाली है (अस्य) इस परब्रह्म नारायण के (सर्वा) सम्पूर्ण (भूतानि) कार्य जगत् के अन्तर्गत अचित् संसृष्टचेतन (पादः) चतुर्थांश-

मात्र है और (अस्य) इस परब्रह्म नारायण का (त्रिपाद्) भोग्य भोगोपकारण भोगस्थान रूप त्रिपात् स्वरूप (अमृतम्) जरा मरणादि विनाश रहित (दिवि) समष्टि व्यष्टितत्त्व बहिर्भूत अप्राकृत परमपद स्थान विशेष में स्थित है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—ऊपर जो कुछ जितना कहा गया है वह सब नियाम्यवर्ग उतना ही इस गायत्र्याख्य ब्रह्म की महिमा है। अब शंका होती है कि यदि इसकी उतनी ही महिमा है तो उसका परिच्छेद हो जायेगा। इससे कहा गया है कि—उस पूर्वोक्त महिमा की अपेक्षा से अधिक श्रेष्ठ महिमाशाली परब्रह्म नारायण हैं। इस परब्रह्म नारायण का समस्त कार्य जगत् के अन्तर्गत अचित् संसृष्ट चेतनवर्ग चतुर्थांशमात्र है और इस परब्रह्म नारायण का भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान रूप त्रिपात् स्वरूप, जरा मरणादि विनाश रहित, समष्टि व्यष्टि तत्व बहिर्भूत अप्राकृत परमव्योम परमपद स्थान में स्थित रहता है। यह श्रुति "सामवे० पूर्वार्चिक० प्रपा० ६ अधप्रपा ३ सूक्त १३ मं० ६" में है॥ और थोड़े पाठभेद से "ऋग्वे० अष्ट० ८ मण्डल १० अ० ४ अनु० ७ सू० ९० मं० ३" में और "यजुर्वे० अ० ३१ मं० ३" में तथा "कृष्णयजु० आरण्य० प्रपा० ३ अनु० १२ श्रु० ३) में और "अथर्ववे० कां०१९अनु०१ सू० ६ मं० ३" में भी पठित है। हारीतगोत्रतिलक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**ज्योतिश्चरणाभिधानात्** ॥ (शा० मी० १।१।२५) **छान्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम्** ॥ (शा० मी० १।१।२६) **उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्** ॥ (शा० मी० १।१।२८) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के बारहवें खण्ड की छठवीं श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ६ ॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥७॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (यत्) जो पूर्वोक्त ऋचा के द्वारा वर्णित है (तत्) वही (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है (इति) ऐसा जानना चाहिये और (वाव) निश्चय करके (इदम्) यही (तत्) वह है (यः) जो (अयम्) यह (पुरुषात्) पुरुष से (बहिर्धा] बाहर (आकाशः) आकाश [वै] निश्चय करके [यः] जो [सः] वह [पुरुषात्] पुरुष से [बहिर्धा]

बाहर (आकाशः) आकाश है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—निश्चय करके जो छठवीं ऋचा के द्वारा वर्णित किया गया है वही परब्रह्म है। ऐसा जानना चाहिये और निश्चय करके यही वह है जो कि यह पुरुष से बाहर आकाश है। अब आगे के पदों का आठवें मंत्र के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। निश्चय करके जो वह पुरुष से बाहर आकाश है ॥ ७ ॥

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः। यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥८॥

अन्वयार्थ—(वाव) निश्चय करके (अयम्) यही (सः) वह है (यः) जो (अयम्) यह (अन्तःपुरुषे) शरीर के भीतर (आकाशः आकाश है (वै) निश्चय करके (यः) जो (सः) वह (अन्तपुरुषे) शरीर के भीतर (आकाशः) आकाश है ॥ ८ ॥

विशेषार्थ—निश्चय करके जो शरीर के बाहर आकाश है यही वह है जो कि यह शरीर के भीतर आकाश है। अब आगे के पदों के नवें मंत्र के साथ अन्वय करना चाहिये। निश्चय करके जो वह शरीर के भीतर आकाश है ॥ ८ ॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः। यो वै सोऽन्तर्हृदय आकाशः। तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति। पूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद ॥९॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—[वाव] निश्चय करके [अयम्] यही [सः] वह शरीर के भीतर रहने वाला आकाश [यः] जो [अयम्] यह [अन्तर्हृदये] हृदय के भीतर [आकाशः] आकाश है [वै] निश्चय करके [यः] जो [सः] वह (अन्तर्हृदये) हृदय के भीतर वर्तमान (आकाशः) आकाश है तादृश महिमाशाली गायत्र्याख्य ब्रह्म है (तत्) वह (एतत्) यह हृदयाकाश (पूर्णम्] सर्वत्रपरिपूर्ण यानी अपरिच्छिन्न और (अप्रवर्ति) परिवर्तन रहित यानी स्थिर है (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह (पूर्णाम्) सर्वदा परिपूर्ण (अप्रवर्तिनीम्) सदा स्थिर रहने वाली (श्रियम्) सम्पत्ति को यानी मुक्तों के ऐश्वर्य मुक्ति को (लभते) प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—निश्चय करके जो शरीर के भीतर रहने वाला आकाश है वही यह हृदय के भीतर भी रहने वाला आकाश है और निश्चय करके हृदय के भीतर वर्तमान जो वह हार्दाकाश है तथा तादृश महिमा शाली गायत्र्याख्य परब्रह्म नारायण है। इस हृदयाकाश की स्तुति से चतुर्थपादरूप जो हृदय है उसकी स्तुति होती है वह यह हृदयाकाश सर्वत्रपरिपूर्ण यानी अपरिच्छिन्न है और परिवर्तनरहित यानी स्थिर है। जो उपासक इस प्रकार के चार चरण और और छः प्रकार से युक्त गायत्री शब्दित गायत्री सदृश परब्रह्म नारायण को जानकर उपासना करता है, वह भगवदुपासक सदा परिपूर्ण और स्थिर रहने वाली संपत्ति को यानी मुक्तों के ऐश्वर्य मुक्ति को प्राप्त करता है। गायत्री शब्द का अर्थ लिखा है—**सर्वं भूतं गायति च त्रायते च** (छां० उ० प्रपा० ३ खं० १२ श्रु० १) जो सब प्राणी को गाता है और रक्षा करता है उस परब्रह्म नारायण को गायत्री कहते हैं॥ १॥ **प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रेतद्यत् गयांस्तत्रैतस्माद्गायत्री नाम॥** (बृह० उ० अ० ५ ब्रा० १४ श्रु० ४) प्राण ही गय हैं उन प्राणों यानी सर्वेन्द्रियोंका इसने त्राण किया। इसने प्राणों को रक्षा की थी. इससे नारायण का ही "गायत्री" नाम हुआ॥४॥ अर्थात् जो सब प्राणादि इन्द्रियों की रक्षा करता है उस नारायण को गायत्री कहते हैं और कोई आचार्य "गायन्तं" त्रायत इति गायत्री" ऐसी भी व्युत्पत्ति करते हैं तो यह अर्थ होता है कि—भगवद्विषय गाने वाले को जो रक्षा करता है उस परब्रह्म नारायण को 'गायत्री' कहते हैं। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक का बारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया॥ ९॥

॥ अथ त्रयोदशखण्डः॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः। स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत। तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ १॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उस (एतस्य) इस चतुर्थपाद से निर्दिष्ट प्रकृत (हृदयस्य) हृदय के (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (पञ्च) पाँच (देवसु-

षयः) देवता के अधिष्ठान भूत द्वार के छिद्र हैं [अस्य] इस हृदय का [सः] वह [यः] जो [प्राङ्] पूर्वदिशावर्ती [सुषिः] द्वार का छिद्र है [सः] वह [प्राणः] प्राण है [तत्] वह [चक्षुः] नेत्र है और [सः] वह [आदित्यः] आदित्य है [तत्] वही [एतत्] यह [तेजः] तेज है और [अन्नाद्यम्] अन्न का भोक्ता है [इति] इस प्रकार के [उपासीत] उपासना करे [यः] जो उपासक [एवम्] ऐसा [वेद] जानता है वह [तेजस्वी] तेजस्वी और [अन्नादः] अन्न का भोक्ता [भवति] होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अब गायत्र्याख्य परब्रह्म की उपासना के अङ्ग स्वरूप द्वारपालों की उपासना का प्रतिपादन किया जाता है—उस गायत्र्याख्य परब्रह्म नारायण के चतुर्थपाद से निर्दिष्ट इस हृदय भवन के निश्चय करके प्रसिद्ध देवता के अधिष्ठानभूत पाँच द्वार के छिद्र हैं। इस हृदय भवन का वह जो पूर्व दिशावर्ती द्वार के छिद्र नेत्र है और वही प्राण है तथा वही चक्षु है और वही आदित्य है। क्योंकि लिखा है कि—**आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्** (ऐतरेयो० अ० १ ख० २ श्रु० ४) सूर्य देवता ने नेत्र इन्द्रिय होकर आंखों के गोलकों में प्रवेश किया ॥ ४ ॥ **ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः** । (वराहोप० मं०१ श्रु०२) श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३, घ्राण ४, रसना ५ ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥ २ ॥ **श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी** ॥ (मनु० अ० २ श्लो० ९०) श्रोत्र १, त्वक् २, चक्षु ३, जिह्वा ४ और पाँचवी नासिका ५ ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥ ९० ॥ **दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः । तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः** ॥ (वराहोप०अ०१श्रु०१४) श्रोत्र इन्द्रिय के देवता दिशा १, प्राण के वायुदेवता २, नेत्र इन्द्रिय के देवता सूर्य ३, जिह्वा इन्द्रिय के देवता वरुण ४, घ्राण इन्द्रिय के देवता अश्विनी कुमार ५, वाक् इन्द्रिय के देवता अग्नि ६, पाणि इन्द्रिय के देवता इन्द्र ७ पाद इन्द्रिय के देवता उपेन्द्र ८, पायु इन्द्रिय के देवता मृत्यु ९, मन के देवता चन्द्रमा १०, उपस्थ इन्द्रिय के देवता प्रजापति ११, बुद्धि के ब्रह्मा देवता १२, अहङ्कार के रुद्र देवता १३, चित्त के क्षेत्रज्ञ देवता १४ ये सब देवता हैं ॥ १४ ॥ उस पूर्वद्वारपाल सूर्य को तेज और अन्न का भोक्ता है ऐसा जानता हुआ जो उपासक उपासना करता है। वह उपासक तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है ॥ १ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत । श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) पूर्व द्वारपाल की उपासना के अनन्तर (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (दक्षिणः) दक्षिणदिशावर्ती (सुषिः) द्वार का छिद्र है (सः) वह (व्यानः) व्यान है (तत्) वह (श्रोत्रम्) श्रोत्र है (सः) वह (चन्द्रमाः) चन्द्रमा है (तत्) वही (एतत्) यह श्रोत्र इन्द्रिय (श्रीः) शोभा सम्पत्ति है (च) और (यशः) कीर्ति [च] भी है (इति) इस प्रकार के [उपासीत] उपासना करे [यः) जो उपासक [एवम्] ऐसा [वेद] जानता है वह (श्रीमान्) श्रीमान् यानी शोभा संपत्ति वाला और [यशस्वी] यशस्वी प्रख्यात यश वाला [भवति] होता है ।। २ ॥

विशेषार्थ—पूर्व द्वारपाल की उपासना कहने के अनन्तर अब दक्षिण द्वारपाल की उपासना कही जाती है—इस हृदय भवन का वह जो दक्षिण दिशावर्ती द्वार का छिद्र श्रोत्र है वही व्यान है और वही श्रोत्र है तथा वही चन्द्रमा है, क्योंकि लिखा है—**दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्** । (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) दिशाओं के अभिमानी देवता श्रोत्र इन्द्रिय होकर दोनों कान के छिद्रों में प्रवेश किये ॥४॥ उस दक्षिण द्वारपाल चन्द्रमा को शोभा सम्पत्ति से युक्त श्रीमान् है 'और यशस्वी है ऐसा जानता हुआ जो भक्त उपासना करता है, वह उपासक श्रीमान् यानी शोभा सम्पत्ति वाला और यशस्वी प्रख्यात यश वाला होता है ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्नि स्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत । ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद । ३।

अन्वयार्थ—(अथ) दक्षिण द्वारपाल की उपासना के अनन्तर (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (प्रत्यङ्) पश्चिम दिशावर्ती (सुषिः) द्वार । छिद्र है (सः) वह (अपानः) अपान है (सा) वह (वाक्) वाणी है

(सः) वह (अग्निः) अग्नि है (तत्) वही (एतत्) यह (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज है और (अन्नाद्यम्) अन्न का भोक्ता है (इति) इस प्रकार के (उपासीत) उपासना करे (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्म तेजस्वी और (अन्नादः) प्रचुर अन्न का भोक्ता (भवति) होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—दक्षिण द्वारपाल की उपासना कहने के बाद अब पश्चिम द्वारपाल की उपासना कही जाती है—इस हृदय भवन का वह जो पश्चिम दिशावर्ती द्वार के छिद्र मुख है। वही अपना है और वही वाक् है तथा वही अग्नि है। क्योंकि लिखा है—**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्** ॥ (ऐत उ० अ० १खं० २श्रु० ४) अग्नि देवता ने वाक् इन्द्रिय होकर मुख छिद्र में प्रवेश किया ॥ ४ ॥ **कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्रयादयः क्रमात्** ॥ (वराहो० अ० १ श्रु० ३) वाक् १, पाणि २, पाद ३, पायु ४ और उपस्थ ५ ये क्रम से पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ ३ ॥ **पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता** ॥ (मनु० अ० २ श्लो० ९०) पायु १, उपस्थ २, पाणि ३, पाद ४ और दसवीं वाक् ५ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं ॥ ९० ॥ उस पश्चिम द्वारपाल अग्निदेव को ब्रह्मतेज से युक्त है और प्रचुर अन्न का भोक्ता है ऐसा जानता हुआ जो उपासक उपासना करता है वह उपासक ब्रह्मतेजस्वी और प्रचुर अन्न का भोक्ता होता है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत। कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) पश्चिम द्वारपाल की उपासना के अनन्तर (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (उदङ्) उत्तरदिशावर्ती (सुषिः) द्वार का छिद्र है (सः) वह (समानः) समान है (तत्) वह (मनः) मन है (सः) वह (पर्जन्यः) मेघ है (तत्) वही (एतत्) यह (कीर्तिः) कीर्ति है (च) और (व्युष्टिः) विशेष देह की कान्ति (च) भी है (इति) इस प्रकार के (उपासीत) उपासना करे (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है वह (कीर्तिमान्) बड़ी कीर्तिवाला और (व्युष्टिमान्) विशेष देह की

कान्तिवाला (भवति) होता है ।। ४ ।।

विशेषार्थ—पश्चिम द्वारपाल की उपासना कहने के बाद अब उत्तर द्वारपाल की उपासना कही जाती है। इस हृदय भवन का वह जो उत्तर दिशावर्ती द्वार का छिद्र है। वही समान है तथा वही मन है और वही मेघ है। मन के विषय में लिखा है— **मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्** ।। (वराहो० अ० १ श्रु० ४) मन १, बुद्धि २, अहङ्कार ३, और चित्त ४ ये अन्तःकरण चतुष्टय हैं ।। ४ ।। और वही यह बड़ी कीर्त्ति है तथा विशेष देह की कान्ति है। ऐसा जानता हुआ जो उपासक उत्तर द्वारपाल की उपासना करता है वह उपासक बड़ी कीर्ति वाला और विशेष देह की कान्ति वाला होता है ।। ४ ।।

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत । ओजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ।।५।।

अन्वयार्थ—(अथ) उतर द्वारपालकी उपासना के अनन्तर (अस्य) इस हृदय का (यः) जो(ऊर्ध्वः) ऊपर सुषिः) द्वार का छिद्र है (सः वह (उदानः) उदान है (सः) वह (वायुः) वायु है और (सः) वह (आकाशः) आकाश देवता विशेष है (तत्) वही (एतत् यह (ओजः) बल है वह (च) और (महः) महान् या तेज (च) भी है [इति] इस प्रकार के [उपासीत] उपासना करे [यः] जो उपासक [एवम्] ऐसा [वेद] जानता है वह (ओजस्वी) बलवान् और (महस्वान्) महान् तेजस्वी (भवति) होता है ।। ५ ।।

विशेषार्थ—उत्तर द्वारपाल की उपासना कहने के बाद अब ऊपर के द्वारपाल की उपासना कही जाती है—इस हृदयभवन का वह जो ऊपर के द्वार का छिद्र है वही उदान है तथा वही वायु है और वही आकाश देवता विशेष है और वही यह बल है और महान् तेज भी है। ऐसा जानता हुआ जो उपासक ऊपर के द्वार के रक्षक की उपासना करता है वह उपासक बड़ा बलवान् और महान् तेजस्वी हो जाता है ।। ५ ।।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः। स

य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते। प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद ॥६।

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ते) वे उक्त गुणविशिष्ट (एते) ये आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और आकाश [पञ्च] पाँचों (ब्रह्मपुरुषाः) ब्रह्म सम्बन्धी पुरुष [स्वर्गस्य) हृदयाकाश नाम के आनन्द भवन [लोकस्य] भगवान् के लोक के [द्वारपाः] द्वारपाल हैं अथवा भगवल्लोक के आतिवाहिक हैं [यः) जो कोई उपासक [एतान्] इन आदित्य १, चन्द्रमा २, अग्नि ३, पर्जन्य ४ और आकाश ५ [पञ्च] पाँचों [ब्रह्मपुरुषान्] ब्रह्म सम्बन्धी पुरुषों को [स्वर्गस्य] हृदयाकाश नाम के आनन्द भवन [लोकस्य] भगवान् के लोक के [द्वारपान्] द्वारपालों को [एवम्] इस प्रकार पूर्वोक्त गुण सहित वेद] जानता है तो [अस्य] इस ब्रह्मवेत्ता के [कुले] कुल में [वीरः] विद्यावीर्य सम्पन्न वीर पुत्र (जायते उत्पन्न होता है (यः) जो कोई उपासक (एतान्) इन आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और आकाश (पञ्च) पाँचों [ब्रह्मपुरुषान्] ब्रह्म सम्बन्धी पुरुषों को [स्वर्गस्य) हृदयाकाश नाम के आनन्दभवन [लोकस्य] भगवान् के लोक के [द्वारपान्] द्वारपालों को [एवम् इस प्रकार पूर्वोक्त गुण सहित [वेद] जानता है तो भगवल्लोक के द्वारपालों की उपासना से अनिवारित [सः] वह उपासक [स्वर्गम्] आनन्द भवन [लोकम्] भगवान् के लोक को [प्रतिपद्यते] प्राप्त कर लेता है ॥६॥

विशेषार्थ—निश्चय करके वे उक्त गुण विविष्ट ये आदित्य १, चन्द्रमा २, अग्नि ३, पर्जन्य ४ और आकाश ५ पाँचों ब्रह्म सम्बन्धी पुरुष हृदयाकाश नाक के सुखरूप प्रकाश स्वरूप भगवान् के लोक के द्वारपाल हैं। अथवा भगवल्लोक के आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और आकाश ये पाँचों आतिवाहिक हैं। अब द्वारपालों को उपासना का आनुषङ्गिक फल कहा जाता है—जो कोई उपासक इन आदित्य १, चन्द्रमा २, अग्नि ३, पर्जन्य ४ और आकाश ५ पाँचों ब्रह्म सम्बन्धी पुरुषों को हृदयाकाश नाम के सुख रूप प्रकाश स्वरूप भगवान् के लोक

के द्वारपालों को इस प्रकार का जानता हुआ उपासना करता है तो उस ब्रह्मवेत्ता उपासक के कुल में विद्यावीर्यसम्पन्न वीर पुत्र उत्पन्न होता है। इस प्रकार द्वारपालों का उपासना के आनुषङ्गिक फल को कहकर अब प्रधान फल कहा जाता है—जो कोई उपासक इन आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि' पर्जन्य और आकाश पाँचों परब्रह्म सम्बन्धी पुरुषों को हृदयाकाश नाम के सुखरूप प्रकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण के लोक के द्वारपालों को इस प्रकार का जानता हुआ उपासना करता है तो भगवल्लोक के द्वारपालों की उपासना से अनिवारित वह उपासक परब्रह्म नारायण के लोक मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेता है। इस श्रुति में स्वर्गलोक से पुनरावृत्ति रहित परब्रह्म नारायण के लोक का ग्रहण होता है क्योंकि लिखा है **अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति** ।। (केनो० खं० ४ श्रु० ९) त्रिविध परिच्छेद रहित अविनाशी असीम सब से श्रेष्ठ सुखरूप प्रकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण के लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ९ ॥ **स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥** कठो० अ० १ व० १ श्रु० १२ सुखरूप प्रकाश स्वरूप मोक्षस्थान में कुछ भी भय नहीं है। उस मोक्षस्थान में मृत्यु आप नही हैं और वहाँ पर कोई भी बुढ़ापे से नहीं डरता है। मोक्षस्थान में रहने वाले पुरुष भूख और प्यास इन दोनों को पार करके शोकरहित होकर आनन्द भोगते है ॥१२॥ इससे 'स्वर्ग' शब्द का अर्थ परमपुरुषार्थलक्षण मोक्ष ही होता है ॥६

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु । इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः । तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति। तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति। तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत। चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ७॥

इति तृतीयप्रपाठके त्रयोदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) पाँचों द्वारपालों की उपासना वर्णन करने के अनन्तर (अतः) इस (विश्वतः) व्यष्टितत्त्व से और (सर्वतः) समष्टितत्त्व से (परः) ऊपर श्रेष्ठ (दिवः) अप्राकृत स्थान विशेष द्युलोक के पृष्ठषु, व्यष्टि समष्टि बहिर्भूत (अनुत्तमेषु स्वावधिक उत्तमरहित (उत्तमेषु) उत्तम (लोकेषु) प्रकाश स्वरूप स्थान विशेषों में (यत्) जो प्राकृत त्रिपाद् ब्रह्म (ज्योतिः) ज्योति यानी प्रकाश दीप्यते) देदीप्यमान होरहा है (तत्) वह द्युलोक के ऊपर प्रकाशित त्रिपाद् ब्रह्म (यत्) जो (इदम्) यह है (वाव) निश्चय करके (इदम् यही (ज्योतिः) परमात्मा (अस्मिन्) इस (अन्तः पुरुष) शरीर के भीतर में कौक्षेय ज्योति है (तस्य उस परब्रह्म नारायण का (एषा) यह (दृष्टिः) साक्षात् दर्शन है (यत्र) जिस काल में (अस्मिन्] इस [शरीरे] शरीर में [संस्पर्शेन) स्पर्श द्वार [उष्णिमानम्] उष्णता को [विजानाति) मनुष्य जानता है [एतत्] यही जाठराग्निका दर्शन है [तस्य] उस जाठराग्निस्वरूप परब्रह्म नारायण का [एषा] यह [श्रुति] साक्षात् श्रवण है [यत्र] जिस समय में [कर्णौ दोनों कानों को [अपिगृह्य] हाथ के दोनों अंगूठों से अच्छे प्रकार मूँदकर [निनदम्] रथ के धोष के [इव] समान तथा [नदथुः] बैल के डकराने के [इव] समान और [ज्वलतः] जलती हुई [अग्नेः] अग्नि के शब्द के [इव] समान [उपश्रृणोति) मनुष्य सुनता है (एतत्) यही जाठराग्नि का श्रवण है (तत्) उस (एतत्) इस परमात्मा शरीरभूत कौक्षेय ज्योति को (दृष्टम्) उक्त रीति से प्रत्यक्ष देखा गया (च] और (श्रुतम्] प्रत्यक्ष सुना गया [च] भी है [इति] इस प्रकार [उपासीत] कौक्षेय ज्योति की उपासना करे (यः) जो उपासक [एवम्] इस प्रकार (वेद) जानता है यानी उपासना करता है (चक्षुष्यः) वह मनुष्यों में दर्शनीय और) श्रुतः) विख्यात कीर्तिवाला (भवति) होता है (यः) जो उपासक (एवम्] ऐसा [वेद] जानता है यानी उपासना करता है ॥७॥

विशेषार्थ—पाँचों द्वारपालों की उपासना वर्णन करने के अनन्तर अब कौक्षेय ज्योति की उपासना कही जाती है—इस विश्वशब्द वाच्य व्यष्टि तत्त्वसे क्योंकि लिखा है—**तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्** ॥ [मुण्ड० मु० १ खं० १ श्रु० ८] वैसे ही यहाँ इस सृष्टि में निमित्तान्तर निरपेक्ष उपादेय विलक्षण निर्विकार परमात्मा से परस्पर विलक्षण चेतनाचेतना-

त्मक व्यष्टि निखिल जगत् उत्पन्न होता है ॥ ८॥ इस श्रुतिमें जगदन्तर्वर्ती व्यष्टिजात में विश्व शब्द प्रयुक्त हुआ है इससे उसका अर्थ व्यष्टि तत्त्व होता है तो व्यष्टि तत्त्व से और समष्टितत्त्व से उपर श्रेष्ठ अप्राकृत स्थानविशेष द्युलोक के ऊपर में व्यष्टि समष्टि बहिर्भूत जिससे उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसा उत्तम प्रकाश स्वरूप परम व्योम शब्दित स्थान-विशेषों में जो परम ज्योति स्वरूप त्रिपाद्ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है। यहाँ सबका प्रकाशक परमात्मा ही "ज्योति" शब्द का अर्थ है क्योंकि लिखा है— **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ॥** (कठो० अ० २ व० १ श्रु० १३) अंगूठे के समान परिमाण वाला परम पुरुष परमात्मा धुएँ से रहित ज्योति के समान है ॥ १३ ॥ **तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः ॥** (मुण्डको०मुं० २खं० २श्रु० ९) **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति १०॥** वह अनवद्य सर्वथा विशुद्ध परब्रह्म प्रकाशकों का परम प्रकाशक ज्योति है ॥ ९ ॥ उसी परमात्मा के प्रकाश से यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है ॥ १० ॥ **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।** (छा० उ० प्रपा० ८ खं० १२ श्रु० २) पर ज्योति को प्राप्त होकर जोवात्मा अपने स्वरूप से स्थित हो जाती है ॥ २ ॥ **तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः ॥** (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० ४ श्रु० १६) देवता लोग प्रकाशकों के परम प्रकाशक ज्योति परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं ॥ १६ ॥ **यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥** (गी० १५।१२ जो सूर्यगत तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है उस तेज को तू मेरा ही जान ॥१२॥ इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ज्योति का अर्थ परब्रह्म नारायण है। सबसे ऊपर परम व्योम में जो त्रिपाद् ब्रह्म प्रकाशित होता है वही इस मनुष्य के शरीर के भीतर कौक्षेय ज्योति रूप से स्थित है, क्योंकि लिखा है—**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥** (गी० १५।१४) मैं ही समस्त प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानरजठराग्नि होकर और प्राण अपान के साथ युक्त होकर उन प्राणियों के द्वारा भोजन किये हुये खाद्य १, चोष्य २, लेह्य ३ और पेय ४ रूप चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ॥ १४ ॥ जिस समय में इस शरीर बीच हाथ

लगाने से स्पर्श के द्वारा मनुष्य गर्मी को जानता १ यह जाठराग्नि स्वरूप परब्रह्म नारायण का प्रत्यक्ष दर्शन है। और जिस समय में अपने दोनो कानों के छिद्रों को अपने हाथ के दोनों अंगूठों से भलीभाँति मूँद कर रथ के शब्द के समान तथा बैल के डकरने के समान और जलती हुई अग्नि के शब्द के समान मनुष्य अपने शरीर में शब्द सुनता है यह जाठराग्नि स्वरूप परब्रह्म नारायण का साक्षात् शब्द सुनता है। उस इस परब्रह्म नारायण के शरीरभूत कौक्षेय ज्योति को पूर्वोक्त रीति से प्रत्यक्ष देखा गया और प्रत्यक्ष उसका शब्द सुना गया, ऐसा समझ कर दृष्टत्व और श्रुतत्वगुण विशिष्ट कौक्षेय ज्योति की ऊपासना करे। अब कौक्षेय ज्योति की उपासना के फल को साक्षात् श्रुति कहती है कि—जो उपासक इस प्रकार कौक्षेय ज्योति की उपासना करता है वह उपासक सब ममुष्यों में दर्शनीय और विख्यात कीर्ति वाला होता है। त्रिपाद् ब्रह्म के विषय में लिखा है— **त्रिपादस्यामृतं दिवि** ॥ (यजु० अ० ३१ मं० ३) **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः ॥ ४ ।** इस परब्रह्म नारायण के भोग्य भोगोपकरण भोगास्थान रूप त्रिपात् स्वरूप जरा मरणादि विनाश रहित परमव्योम परमपद स्थान में स्थित है ॥ ३ ॥ अपरिच्छिन्न ज्ञान शक्त्यादिमान् संसार स्पर्श रहित त्रिपाद् परब्रह्म नारायण प्रकृति मण्डल से ऊपर परम व्योम परमपद स्थान में उदित होते हैं ॥ ४ ॥ इस श्रुति में 'य एवं वेद' इस वाक्य का दो बार उच्चारण विद्या समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश को निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। श्रीभूतपुरपालक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**ज्योतिश्चरणाभिधानात्** ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २५) **ज्योतिर्दर्शनात्** ॥ (शा० मी० १।१।४१) **ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके** ॥ (शा० मी० १।४।६) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के तेरहवें खण्ड की सातवीं श्रुति के "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इस अंश को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ७ ॥

॥ अथ चतुर्दशखण्डः ॥

सर्वँ खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति

तथेतः प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत । १ ।

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय करके (इदम्) यह (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण (सर्वम्) सर्व शरीरक यानी सर्वात्मक है क्योंकि (तज्जलान्) यह सम्पूर्ण संसार उस परब्रह्म नारायण से उत्पन्न होता है और उसी में लीन होता है तथा उसी में प्राण धारण करता है (इति) इन तीन कारणों से युक्त परब्रह्म नारायण है। अतः (शान्तः) शान्त रागद्वेषादिरहित भक्त (उपासीत) उपासना करे (अथ) अनन्तर (खलु) निश्चय करके (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोक में (पुरुषः) मनुष्य (यथाक्रतुः) जैसी उपासना करने वाला (भवति) होता है (तथा) वैसा ही (इतः) इस मृत्युलोक से (प्रेत्य) मरकर (भवति) परलोक में होता है। इस कारण से (पुरुषः) मनुष्य (क्रतुमयः) उपासना प्रधान है अर्थात् उपासना के हिततम होने से सर्वथा अनुष्ठान करना चाहिये [सः] वह उपासक [क्रतुम्] परब्रह्म नारायण की उपासना को [कुर्वीत] सर्वदा करे ॥ १ ॥

विशेषार्थ—जैसे गुणवान् और रक्षक पोषण आदि व्यापार में यथा शक्ति तत्पर मठ नायक को देख उसके बारे में इस मठ में 'यही सब कुछ है' ऐसे सब मनुष्यों के मुख से वचन निकलता है वैसे ही करने न करने अन्यथा करनेमें समर्थ परमेश्वर को देख 'यह ब्रह्म सब' है ऐसा कहा गया है जिसको भाषा में 'यह ब्रह्म सब शरीर वाला सर्वात्मक है' ऐसा कहते हैं। अथवा दाल में जैसे नमक रस अधिक होने पर सब लोग कहते हैं कि 'यह नमक सब है'ऐसा कहा गया है। अथवा 'तत्+ज+ल+अन्'इन चार शब्दों से 'तज्जलान्' यह बनता है। यह सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तिकाल में जिससे उत्पन्न होता है तथा अन्तकाल में जिसमें लीन होता है और स्थिति काल में जिससे प्राण धारण करता है इससे उसको 'तज्जलान्' कहते हैं। क्योंकि लिखा है— **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ॥** (तै० उ० व० ३ अनु० १) जिससे निश्चय ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुये सब भूत जिस करके जीवित रहते हैं और जिसमें प्रलय होते हैं तथा अन्त में जिस करके मुक्त हो जाते हैं उसको

विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वहां ब्रह्म है ॥ १ ॥ **जन्माद्यस्य यतः** (शा०मी० १।१।२) इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् का जिससे उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदिक होता है वही ब्रह्म है ॥ २ ॥ और प्रकृत श्रुति में 'इति' शब्द का हेतु अर्थ है। इस श्रुति से शाण्डिल्य-विद्या का प्रारम्भ किया गया। श्रुति के प्रथम वाक्य का संकलनार्थ यह होता है कि-ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त(भोक्तृ भोग्य रूप जगत्) उत्पत्ति समय में उसी परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं तथा स्थिति समय में उसी से प्राणधारण करते हैं और अन्त काल में उसी परब्रह्म से संहार प्राप्त करते हैं। इस कारण से निश्चय करके यह परब्रह्म नारायण सब शरीर वाला सर्वात्मक है। ऐसा मानकर उपासक शान्त यानी रागद्वेषादि रहित हो परब्रह्म नारायण की सर्वदा उपासना करे और शतपथ में लिखा है— **सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत** ॥ (शतप० कां० १० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० १) सत्य यानी निरुपाधिक सत्तायोगि परब्रह्म की भक्ति युक्त उपासना करे। यादवापादितापार्थवृक्षच्छेदकुठारक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा** ॥ (शा० मी० १।१।१) **सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्** ॥ शा० मी० १।२।१) **अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च** ॥ (शा० मी० १।२।७) **पत्यादिशब्देभ्यः** ॥ (शा०मी० १।३।४४) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्** ।।(शा० मी० १।४।२३)**तदनन्य-त्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ।। (शा० मी० २।१।१५) **विप्रतिषेधाच्च** ॥ (शा०मी० २।२।४२)**नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः**॥(शा.मी.२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः** ।(शा० मी० ३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथा-न्येष्विति जैमिनिः** ॥ शा०मी० ३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह-यन्ति च** ॥ (शा० मी० ४।१।३) **अविभागेन दृष्टत्वात्** ॥ (शा० मी० ४।४।४) इन बारह सूत्रों से श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के चौदहवें खण्ड की पहली श्रुति के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य को उद्धृत किया है। अब विहित उपासना की स्तुति की जाती है-- निश्चय करके उपासक इस मृत्युलोक में जैसी उपासना करने वाला होता है वैसा ही इस मृत्युलोक से जाकर परलोक में भी होता है। इस कारण

से पुरुष उपासना प्रधान है अर्थात् उपासना के हिततम होने से सर्वदा अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकार के विहित परब्रह्म नारायण की उपासना को मनोमयत्व आदिक गुणान्तर विधान करने के लिये अनुवाद किया जाता है कि—उपासक परब्रह्म नारायण की उपासना सर्वदा करे। और भी लिखा है—**तं यथा यथोपासते तथैव भवति ॥** (मुद्गला० ख० ३ श्रु० ३) जो उस परमात्मा को जैसा जैसा उपासना करता है वह मर कर वैसा ही होता है ॥ ३ ॥ **अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रेत्यैवं क्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसंभवति ॥** (शतप० कां० १ अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० १) निश्चय करके यह पुरुष उपासना प्रधान है। यह प्रसिद्ध है कि इस लोक में जो उपासक जैसी उपासना करता है। यहाँ से मर कर वह परलोक में वैसा ही हो जाता है ॥ १ ॥ **यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति। पापकारी पापो भवति ॥** (बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० ५) यहाँ पर जैसा कर्म करने वाला होता है जन्मान्तर में भी वैसा ही होता है। साधु आचरण करने वाला साधु होता है और पाप आचरण करने वाला पापी होता है ॥ ५ ॥ इससे सर्वदा सुन्दर प्रभु की उपासना ही करनी चाहिये। मायावादविच्छेत्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० १।१।१) **तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।** (शा० मी० १।१।७) **सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् ॥** (शा० मी० १।२।१) **अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥** (शा० मी० १।२।७) **ईक्षति कर्मव्यपदेशात्सः ॥** (शा० मी० १।३।१२) **व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥** (शा० मी० ३।३।५२) **एक आत्मनश्शरीरे भावात् ॥** (शा० मी० ३।३।५१) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** (शा० मी० ४।१।३) **अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॥**(शा० मी० ४।३।१४) इन नौ सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के चौदहवें खण्ड की पहली श्रुति के उत्तरार्ध को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशा·

त्मा । सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिद-मभ्यात्तः । अवाकी । अनादरः ॥२॥

अन्वयार्थ —(मनोमयः) विवेकादि साधन सप्तक से अनुगृहीत परमात्मा की उपासना से परिशुद्ध मनोमात्र ग्राह्य (प्राणशरीरः) जगत् में सब प्राणियों के धारक प्राण जिसका शरीर यानी आधेय विधेय शेषभूत हो उसको प्राण शरीर कहते हैं (भारूपः) अप्राकृत असाधारण निरतिशयकल्याणगुणगणयुक्त निरतिशयदीप्ति युक्त विग्रहशाली (सत्यसंकल्पः) अप्रतिहत संकल्प वाला (आकाशात्मा) आकाश के समान सूक्ष्म स्वरूप अथवा स्वयं भलीभाँति प्रकाशित होता है और दूसरों को प्रकाशित करता है। इससे नारायण आकाशात्मा हैं (सर्वकर्मा) सब जगत् है कर्म जिसका उसे सर्वकर्मा कहते हैं अथवा सब कर्म यानी क्रिया आराधन है जिसका उसे सर्वकर्मा कहते हैं (सर्वकामः) सब भोग्य भोगोपकरण आदिक परिशुद्ध दोष रहित हैं जिसके उसे सर्व काम कहते हैं [सर्वगन्धः] सब निरवद्य निरतिशय कल्याण स्वभोग्यभूत सुखकर गन्ध वाला [सर्वरसः] सब निरवद्य निरतिशय कल्याण स्वभोग्यभूत सुखकर रस हैं जिसके उसे सर्व रस कहते हैं [इदम्] इस [सर्वम्] सब कल्याण गुणगण को [अभ्यात्तः] परब्रह्म नारायण ने स्वीकार किया है [अवाकी] उक्ति इस परमात्मा की नहीं है इससे अवाकी है (अनादरः) अवाप्तसमस्त काम के द्वारा आदर्तव्यके अभाव होने से आदर रहित है। इससे अवाकी माने अजल्पाक है अर्थात् परिपूर्ण ऐश्वर्य होने से ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् को तृण के समान करके मौन होकर चुपचाप आसीन हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ --अब परब्रह्म नारायण के मनोमय आदिक नौ गुणों का वर्णन किया जाता है—मनोमय है अर्थात् परिशुद्ध एक मन से ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि लिखा है—**मनसा तु विशुद्धेन** (श्रुति) विशुद्ध मन से परमात्मा ग्रहण किया जाता है॥ विवेक १, विमोक २, अभ्यास ३, क्रिया ४, कल्याण ५, अनवसाद ६ और अनुद्धर्ष ७ इन सात साधनों से अनुगृहीत परब्रह्म नारायण की उपासना से निर्मल किया हुआ केवल मन से ही ग्रहण करने योग्य परमात्मा है १ । और प्राण शरीर है २। अर्थात् जगत् में सब प्राणों के धारक प्राण जिसका शरीर यानी आधेय

विधेय शेषभूत है उसे प्राण शरीर कहते हैं। क्योंकि लिखा है—**प्राणस्य प्राणः** ॥ [केनो० खं० १ श्रु०१] प्राण के प्राण है ॥ १ ॥ २. भारूप—भास्वररूप है ३ अथवा अप्राकृत असाधारण निरतिशय कल्याणगुणगणयुक्त निरतिशयदीप्तियुक्तविग्रहशाली है। क्योंकि लिखा है—**आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्** ॥ (यजु० अ० ३१ मं० १८ ॥ श्वे० उ० अ० ३ श्रु०८ ॥ गो० अ० ८ श्लो०६) अन्धकार से परे सूर्य के समान वर्ण वाला ॥ १८ ॥ ३ ॥ ६ ॥ **यत्ते रूपं कल्याणतमम्** ॥ [ईशो० श्रु० १६) जो तुम्हारा परम मङ्गलमय रूप है ॥ १६ ॥ **या ते तनूः** ॥ (प्रश्नो० प्र०२ श्रु० १२) जो तुम्हारा शरीर है ॥१२॥ **यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्** । (मुण्डको० मुं० ३ खं० १ श्रु० ३) जिस समय में मुमुक्षु पुरुष सुवर्ण के समान वर्णवाले परमात्मा को देखता है ॥ ३ ॥ **तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः** ॥ (तैत्ति०उ० व०१ अनु०६ श्रु१) उस दहराकाश में यह परब्रह्म नारायण मनोमय मरणधर्म रहित हिरण्मयाकार हैं ॥ १ ॥ **हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः** ॥ (छां० उ० प्रपा० १ खं० ६ श्रु० ६) जिस परमात्मा की दाढ़ी सुवर्ण सदृश है और सब केश भी सोने की ही भाँति हैं और नख के अग्रभाग से लेकर चोटी तक सब ही स्वर्णमय है ॥ ६ ॥ **तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविक यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकम्** ॥ [बृह० उ० अ०२ ब्रा०३ श्रु० ६] उस परब्रह्म नारायण का रूप ऐसा है जैसा हल्दी से रङ्गा हुआ वस्त्र हो, जैसा पाण्डु रङ्ग का ऊनी वस्त्र हो, जैसा इन्द्रगोप हो, जैसी अग्नि की ज्वाला हो और जैसा पुण्डरीक कमल हो ॥६॥ ऐसा भास्वरूप है ३। सत्यसङ्कल्प है ४ अप्रतिहत सङ्कल्प है अर्थात् कदापि मिथ्या नहीं होने वाला सङ्कल्प है ४। आकाशात्मा यानी आकाश के समान सूक्ष्म और स्वच्छ स्वरूप है। अथवा सकलेतर कारण भूत अव्याकृत आकाश के आमत्भूत है। या स्वयं भलीभाँति प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है इससे परब्रह्म नारायण आकाशात्मा है ५। सर्वकर्मा यानी सब जगत् जिसका कर्म है उसको सर्वकर्मा कहते हैं। अथवा सब कर्म यानी सब क्रिया आराधन है जिस

का उसको सर्वकर्मा कहते हैं तो नारायण सर्वकर्मा है ६। सर्वकाम है अर्थात् सब प्रकार के भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान आदिक उस परब्रह्म नारायण के परिशुद्ध दोषरहित हैं ७। सर्वगन्ध है अर्थात् अप्राकृत स्वासाधारण निरवद्य निरतिशय कल्याण स्वभोग्यभूत सुखकर सब गन्ध से युक्त है ८। और सर्वरस है अर्थात् अप्राकृत स्वासाधारण निर-वद्य निरतिशय कल्याण स्वभोग्यभूत सुखकर रस वाला है ९। इन सम्पूर्ण नौ कल्याणगुणगणों को सब ओर से व्याप्त होकर परब्रह्म नारायणने स्वीकार किया है। और उक्ति इस परब्रह्म नारायण की नहीं है इससे अवाकी है तथा अवाप्त समस्त काम के द्वारा आदर करने योग्य के अभाव होने से आदर रहित है। इसी से अवाकी यानी अजल्पाक है। अर्थात् परिपूर्ण ऐश्वर्य होने से ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त निखिल जगत् को तृण के समान करके मौन हो चुपचाप परमात्मा आसीन है। और भी लिखा है —**स आत्मानमुपासीत। मनोमयं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरुपिणम्। मनोजवसं सत्यसंकल्पं सत्यधृतिं सर्वगन्धं सर्वरसं सर्वा अनुदिशः प्रभूत सर्वमिदमभ्याप्तमवाक्कमनादरम्॥** [शतप०कां० १० अ० ६ ब्रा०३ श्रु०२] वह उपासक, मनोमय प्राणशरीर भास्वर रूप आकाश के तुल्य सूक्ष्म तथा स्वच्छस्वरूप स्वेच्छा से रूप धारण करने वाला मन के तुल्य वेग वाला सत्यसङ्कल्प सत्यधृति सर्वगन्ध सर्वरस सबदिशा तथा विदिशा में उत्पन्न होने वाला इस समस्त चराचर जगत् में व्याप्त उक्ति रहित और सब जगत् को तृण के तुल्य करके आदर रहित आसीन उस परमात्मा की उपासना करे ॥ २॥ **मनोमयः प्राणशरीरनेता॥** [मुण्डको० मुं०२ श्रु०७] परिशुद्ध केवल मन से ग्रहण योग्य और सबके प्राण तथा शरीर के नायक प्रभु हैं ॥७॥ **मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः तस्मिन्नन्तहृदये॥** [बृ० उ० अ० ५ ब्रा० ६ श्रु० १] यह मनोमय भास्वरस्वरूप निरुपाधिकसत्तायोगी परब्रह्म नारायण उस हृदय के भीतर स्थित है ॥१॥ **मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मेति॥** [मैत्र्युपनि०२) परिशुद्ध मनोमात्रग्राह्य प्राण शरीर भास्वरस्वरूप अप्रतिहतसंकल्प और आकाश के समान सूक्ष्म तथा स्वच्छ स्वरूप परमात्मा है ॥ २॥ भास्करापादितापार्थवृक्षच्छेकुठार भगवद्रामानुजाचार्य ने-

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ (शा० मी० १।२।१) **विवक्षितगुणोपपत्तेश्च** ॥ (शा० मी० १।२ २) **अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च** ॥(शा० मी० १।२।७ **सर्वोपेता च तद्दर्शनात्** ॥ (शा० मी० २।१।३०) **इयदामननात्** ॥ (शा० मी० ३३।३४) इन पाचों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के चौदहवें खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है ।। २ ॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा । एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय कमल के भीतर (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (ब्रीहेः) धान से (वा) और (यवात्) जौसे (वा) तथा (सर्षपात्) सरसों से (वा) और (श्यामाकात्) साँवा से (वा) तथा (श्यामाकतण्डुलात्) साँवाँ के चावल से (वा) भी (अणीयान्) अति सूक्ष्म है अर्थात् उपासना के लिये अति सूक्ष्म परमात्मा स्थित है और (मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय कमल के भीतर (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा (पृथिव्याः) पृथ्वी से (ज्यायान्) बहुत बड़ा हैं (दिवः) द्युलोक से (ज्यायान्) बहुत बड़ा है (एभ्यः) इन (लोकेभ्यः) सब लोकों से भी (ज्यायान्) बहुत बड़ा है । अर्थात् हृदय के भीतर रहता हुआ भी परमात्मा निरतिशय परिणाम है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—अब उपासना के लिये हृदय कमल में स्थित परब्रह्म नारायण का स्वरूप कहा जाता है—मेरे हृदय कमल के मध्य में यह परब्रह्म नारायण धान से,जौ से, सरसों से, साँवाँ से और साँवाँ के चावल से भी अति सूक्ष्म है । अर्थात् परम दयालु भगवान् उपासना के लिये हृदय कमल में अणुतर रूप से स्थित हैं । ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये । क्योंकि लिखा है—**अणोरणीयान्** ॥ (कठो० अ० १ व० २ श्रु० २० ॥ श्वे० उ० अ० ३ श्रु० २०) अणु से अणुतर अति सूक्ष्म परमात्मा है है ॥२० अब हृदय कमल के भीतर स्थित परमात्मा के प्राप्य आकार कहा जाता है । मेरे हृदय के भीतर यह परब्रह्म नारायण

पृथ्वी से अन्तरिक्ष लोक से द्युलोक से और इन सब लोक लोकान्तरों से भी बहुत बड़ा है। क्योंकि लिखा है—**महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्** ॥ (कठो० अ० १ व० २ श्रु० २० ॥ श्वे उ० अ० ३ श्रु० २०) महान् आकाशादि से भी अतिमहान् परमात्मा इस जीवात्मा के हृदय रूप गुफा में स्थित है ॥ २० ॥ अर्थात् हृदय कमल के मध्य में रहता हुआ भी परमात्मा निरतिशय परिमाण है—

यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वै वायमन्तरात्मन् पुरुषो हिरणमयो यथा ज्योतिरधूममेवं ज्यायान् दिवो ज्यायानाकाशात् ज्यायानस्यै पृथिव्यै ज्यायान्सर्वेभ्यो भूतेभ्यः ॥

(शतप० कां० १० अ० ब्रा० ६ ३ श्रु० २] जैसा धान या जौ या साँवाँ या साँवाँ का चावल छोटा होता है निश्चय करके उससे भी अधिक छोटा हृदय के भीतर रहने वाला परमात्मा है और जैसा कि बिना धूयें की अग्नि की ज्योति है वैसा ही हृदय के मध्य में हिरण्मयाकार परमात्मा है तथा द्युलोक से आकाश से इस पृथ्वी से और सब भूतों से भी यह हृदय के भीतर रहने वाला परमात्मा बड़ा है ॥२ ॥ पाषण्डद्रुमषण्डदावदहनभगवद्रामानुजाचार्य ने **शब्दविशेषात्** ॥ (शा० मी० १।२।१५) **अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च** ॥ (शा० मी० १।३।७) **दहर उत्तरेभ्यः** (शा० मी० १।३।१३] **सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः** ॥ [शा० मी० ३।३।२३) इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्" के तृतीय प्रपाठक के चौदहवें खण्ड की तीसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ३ ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्म। एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति। यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति। इति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः। ४ ॥

। इति तृतीयप्रपाठके चतुर्दशखण्डः ।।

अन्वयार्थ—(सर्वकर्मा) सब जगत् है कर्म जिसका उसे सर्वकर्मा कहते हैं, अथवा सब कर्म यानी क्रिया आराधन है जिसका उसे सर्वकर्मा कहते है (सर्वकामः) सब भोग्य भोगोपकरण आदिक परिशुद्ध दोषरहित हैं जिसके उसे सर्वकाम कहते हैं (सर्वगन्धः) सब निरवद्य निरतिशय कल्याण स्वभोग्यभूत सुखकर गन्ध है जिसके उसे सर्वगन्ध कहते है (सर्वरसः) सब निरवद्य निरतिशय कल्याण स्वभोग्यभूत सुखकर रस हैं जिसके उसे सर्वरस कहते हैं (इदम् इस (सर्वम्) सम्पूर्ण कल्याण गुण गणजात को (अभ्यात्तः) परब्रह्म नारायण ने भलीभाँति स्वीकार किया है (अवाकी) वाक् यानी उक्ति इस परमात्मा की नहीं है इससे अवाकी है (अनादरः) अवाप्त समस्त काम के द्वारा आदर्तव्य के अभाव होने से आदर रहित है। इससे अवाकीमाने अजल्पाक है। अर्थात् परिपूर्ण ऐश्वर्य होने से ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् को तृण के समान करके मौन होकर चुपचाप आसीन है (एतत्) इस पूर्वोक्तगुण से युक्त यह [ब्रह्म] परब्रह्म परमकरुण से (मे) मेरे अन्तर्हृदये) हृदय कमल के मध्य में हमलोगों के उज्जीवन की इच्छा से सन्निहित है [एषः] यह पूर्वोक्तगुण विशिष्ट [आत्मा] परमात्मा है [इति] इस प्रकार के परब्रह्म नारायण की उपासना करे [इतः] इस शरीर से [प्रेत्य] मरकर जाने पर [एतत] इस परब्रह्म नारायण को [अभिसंभविता] भलीभाँति प्राप्त होनेवाला [अस्मि] मैं हूँ इस प्रकार के [यस्य] जिस उपासक का [अद्धा] निश्चय [स्यात्] हो उस उपासक से भगवत् प्राप्ति में [विचिकित्सा] संशय [न] नहीं [अस्ति] है [इति] ऐसा [शाण्डिल्यः] महर्षि शाण्डिल्य ने (ह] प्रसिद्ध बात [आहस्म] अपने शिष्य से कही है (शाण्डिल्यः] महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है ।।४।।

विशेषार्थ—सर्वकर्मा यानी सब जगत् है कर्म जिसका उसे सर्वकर्मा कहते हैं। अथवा सब कर्म यानी क्रिया आराधन है जिसका उसे सर्वकर्मा कहते है तो नारायण सर्वकर्मा हैं। सर्वकाम यानी सब प्रकार के भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान आदिक उस परब्रह्म नारायण के परिशुद्ध दोष-रहित हैं। सर्वगन्ध यानी अप्राकृत स्वासाधरण निरवद्य निरतिशय-कल्याण स्वभोग्यभूत सुखकर सब गन्ध से युक्त परमात्मा हैं। सर्वरस यानी अप्राकृत स्वासाधारण निरवद्य निरतिशयकल्याण स्वभोग्यभूत

सुखकर सब रस से युक्त लक्ष्मीनाथ हैं। इस सम्पूर्ण कल्याणगुणजात को सब ओर से व्याप्त होकर परब्रह्म नारायण ने स्वीकार किया है। और वाक् यानी उक्ति इस परब्रह्म नारायण को नहीं है इससे अवाकी है। तथा अवाप्त समस्त काम के द्वारा आदर करने योग्य के अभाव होने से आदर रहित है। इसी से अवाकी यानी अजल्पाक है अर्थात् परिपूर्ण ऐश्वर्य होने से ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त निखिल जगत् को तृण के समान करके मौन हो चुपचाप नारायण आसीन हैं। वही परब्रह्म नारायण परमकरुणा से हमलोगों के हृदय कमल के भीतर चेतनों के उज्जीवन करने की इच्छा से सन्निहित हैं। क्योंकि लिखा है—**यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।** (मनु० ८।९२) यह सबके शासक वैवस्वत परमात्मा तेरे हृदय में स्थित ॥९२॥ **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥** (गी०१५।१५)मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मृतिज्ञान और अपोहन होता है ॥१५॥ **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥** (गी० १८।६१] हे अर्जुन! परमेश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है और यंत्रारुढ़ सभी प्राणियों को अपनी माया से घुमा रहा है ॥६१॥ जो हृदय में स्थित है वही मनोमय प्राणशरीर भास्वररूप आकाशात्मा परब्रह्म नारायण हैं, इस प्रकार के अनुसन्धान करता हुआ श्रीकान्त की उपासना करे। और यहाँ से मरकर परलोक में जाने पर मैं अवश्य परब्रह्म नारयण को प्राप्त करुँगा। इस प्रकार का जिस भगवदुपासक का निश्चय है उस उपासक को निश्चय परब्रह्म नारायण प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं है ऐसा प्रसिद्ध महर्षि शाण्डिल्य: ने अपने सुयोग्य शिष्य से स्पष्ट कहा है। इस श्रुति में "शाण्डिल्य:" पद का दो बार उच्चारण शाण्डिल्य विद्या और चौदहवें खण्ड की समाप्तिका सूचन करता हुआ महर्षि शाण्डिल्य के आदरार्थ प्रतिपादन करता है। महर्षि शाण्डिल्य श्रीवैष्णव हैं। इससे आदेश दिये हैं कि—**पशुपुत्रादिकं सर्वं गृहोपकरणानि च। अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम्।** (शाण्डियल्यस्मृ० ३।७७)पुशपुत्र, स्त्री, आदि को और सब गृहों के उपकरणों को शङ्ख चक्र से अङ्कित करे तथा विष्णु सम्बन्धी नाम करे ॥७७॥ इससे और शाण्डिल्यसूत्र तथा शाण्डिल्यसंहिता और शाण्डिल्यस्मृति के अवलोकन करने से

स्पष्ट ज्ञात होता है कि परम भागवत शाण्डिल्य महर्षि हैं। चार्वाकशैला-शनि भगवद्रामानुजाचार्य ने **सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्** ॥(शा० मी० १ २।१) **कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च** ॥ (शा० मी० १।२।४ **शब्दविशेषात्** । (शा०मी० १।३।५) **अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च** ॥ (शा० मी० १।२।७ **इयदामननात्** ॥ (शा० मी० ३।३।३४) इन पाँचों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्'के तृतीय प्रपाठककी चौर्थ श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्यपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का चौदहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ पञ्चदशखण्डः ॥

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति। दिशो ह्यस्य स्रक्तयः। द्यौरस्योत्तरं बिलम्। स एष कोशो वसुधानः। तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(अन्तरिक्षोदरः) मध्यवर्ती होने से अन्तरिक्ष जिसका उदर है (भूमिबुध्नः) पृथ्वी जिसका मूल है (हि) निश्चय करके (अस्य) इस कोश के (दिशः) दिशायें (स्रक्तयः) कोने है (अस्य) इसका (द्यौः) द्युलोक (उत्तरम्) ऊपर का (बिलम्) छिद्र है (कोशः) एक कोश है—वह चिरकालावस्थायी होने से (न) नहीं (जीर्यति) विनाश होता है (सः) वह (एषः) यह (कोशः) कोश के समान कोश (वसुधानः) कर्मफल नामक धन से पूर्ण है (तस्मिन्) उस कोश में (इदम्) यह परिदृश्यमान कर्मकर्तृफ-लात्मक (विश्वम्) सम्पूर्ण जगत् (श्रितम्) आश्रित—स्थित है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—पुत्र दीर्घायुष्यफलक त्रैलोक्यात्मककोशविज्ञान अब प्रारम्भ किया जाता है। मध्यवर्ती होने से अन्तरिक्षलोक जिसकोश का उदर है वह कोश पृथ्वी लोकरूप मूलवाला है। चिरकालावस्थायी होने से वह कोश जीर्ण नहीं होता है। दिशायें निश्चय करके इस कोश के कोण हैं। इस कोश का द्युलोक ऊपर का छिद्र है। ऐसे विलक्षण कोश के समान एक कोश है। यह कोश कर्म फल नामके धन से परिपूर्ण है। इससे यह 'वसुधान' कोश है। इसी कोश में कर्मकर्तृफलात्मक यह परिदृश्यमान समस्त् जगत् आश्रित है, अर्थात् स्थित है ॥ १ ॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिण राज्ञी

नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची । तासां वायुर्वत्सः । स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति । सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ (तस्य) उस वसुधान कोश के (प्राची) पूर्व दिक्) दिशा (जुहूः) जुहू (नाम) नाम वाली है और (दक्षिण) दक्षिण दिशा (सहमाना सहमाना नाम[नाम]वाली है तथा प्रतीची)पश्चिमी दिशा(राज्ञी) राज्ञी (नाम) नामवाली है और (उदीची) उत्तर दिशा (सुभूता सुभूता (नाम) नामवाली है (तासाम्) उन दिशाओं का (वायुः) वायु (वत्सः) बछड़ा है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (एतम्) इस (वायुम्) वायु को (दिशाम्) दिशाओं के (वत्सम्) बछड़े रूप से (वेद) जानता है (सः वह उपासक [पुत्ररोदम्] पुत्रनाशनिमित्तरोदन (न) नहीं (रोदिति) करता [सः) वह (अहम्) इसका उपदेष्टा मैं [एवम्] इस प्रकार (एतम्) इस [वायुम्) वायु को [दिशाम्] दिशाओं के [वत्सम्) बछड़े रूपसे[वेद)जानता हूँ । अर्थात् उपासना करता हूँ । इससे[पुत्ररोदम्] पुत्रमरण निमित्तरोदन (मा) नहीं (रुदम्] मैं करता हूँ ॥ २ ॥

विशेषार्थ—उस वसुधानकोश की पूर्वदिशा जुहू नामवाली है । क्योंकि विद्वगण पूर्वदिशा में सूर्योदय देख प्रातर्होम देना आरम्भ करते हैं । 'हु' धातु से 'जुहू' शब्द बनता है जिसका होम करना अर्थ है । दक्षिण दिशा सहमान नामवाली है क्योंकि पापकर्म करने वाले दक्षिण दिशा में स्थित यमपुरी में ही पापकर्मों केफलों को सहते हैं । सह धातु से 'सहमान' शब्द बनता है जिसका सहना यानी भोगना अर्थ है । पश्चिम दिशा राज्ञी नामवाली है क्योंकि राजा वरुण से अधिष्ठित होने से पश्चिम दिशा सुन्दर दीप्तिमती है । उत्तर दिशा सुभूता नामवाली है क्योंकि जिस दिशा में अच्छे प्रकार कुबेरादि प्राणी स्थित हो उसे सुभूता कहते है । उनचारों दिशाओं का वायु बछड़ा है क्योंकि दिशा से प्रसूत वायु है । जैसे माता के आश्रय में वत्स स्वच्छन्दता से विहार करता है वैसे ही दिशाओं के आश्रय में वायु भी निरवरोध बहती है । अतः इन दिशाओं का बछड़ा वायु है । जो उपासक इन प्रकार के

दिशाओं के बछड़ा इस वायु को समझकर उपासना करता है, वह भक्त पुत्रमरण निमित्त रोदन नहीं करता है। इस प्रकार पूर्वोक्त उपासना का फल कहकर आगे इसके उपदेष्टा स्वानुभूत इस बात को कहते हैं कि—मैं दिशाओं के बछड़ा रूप से इस वायु की उपासना करता हूँ। इससे पुत्रमरणनिमित्त रोदन मैं नहीं करता हूँ ॥२॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना । प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना । भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना । भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना । स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ।३॥

अन्वयार्थ—(अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अरिष्टम्) अविनाशी कोशम्। कोश को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त होता हूँ। (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (प्राणम्) प्राण को (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (भूः) भू को (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (भुवः) भुवः को (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ [अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से [अमुना] अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से (अमुना) अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से [स्वः] स्वः को (प्रपद्ये] प्राप्त होता हूँ ॥३॥

विशेषार्थ—अब पूर्वोक्त कोशविज्ञान के अङ्गभूत प्रपदन के मंत्रों को कहते हैं—अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से मैं अविनाशी कोश को प्राप्त होता हूँ। अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से मैं प्राण को प्राप्त होता हूँ। अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से मैं भू को प्राप्त होता हूँ। अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से मैं भुवः

को प्राप्त होता हूँ। अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से, अमुक नामवाले पुत्र के हेतु से मैं स्वः को प्राप्त होता हूँ। इसमें जहाँ जहाँ "अमुक" शब्द आया है वहाँ वहाँ अपने पुत्र के नाम को उच्चारण करना चाहिये ॥ ३ ॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति। प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च तमेव तत्प्रापत्सि ॥४।

अन्वयार्थ—[सः] वह मैं [प्राणम्] प्राण को [प्रपद्ये प्राप्त होता हूँ (इति] ऐसा [यत्] जो वचन (अवोचम्] पहले कहा था उसका यह भाव है [यत्] जो [किं+च] कुछ भी [इदम्] यह दृश्यमान वस्तु है (तत्] वह (इदम्] यह [सर्वम्] सब (भूतम्] भूतसमुदाय (वै) निश्चय करके [प्राणः] प्राणात्मक है (एव) निश्चय करके (तम्) उस प्राणात्मक समस्त जगत् को [प्रापत्सि] प्रपन्न मैं प्राप्त किया हूँ ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—अपने से कहे हुये मन्त्रों को स्वयं श्रुति व्याख्यान करती है—जो मैं पहले तृतीय मन्त्र में यह वाक्य कहा हूँ कि मैं प्राण को प्राप्त होता हूँ, इसका अभिप्राय यह है कि— यह जो कुछ दृश्यमान सम्पूर्णभूत समुदाय है वह सब भूत समुदाय निश्चय करके प्राणात्मक है। इससे प्रपन्न मैं उस प्राणात्मक समस्त् जगत को प्राप्त किया हूँ। यहाँ प्राणं प्रपद्ये' इस वाक्य की व्याख्या की गयी है ॥ ४ ॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति। पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) प्राण की व्याख्या के अनन्तर भू का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं भूः] भू को [प्रपद्ये) मैं प्रपन्न प्राप्त होता हूँ [इति] ऐसा (यत्) जो वचन [अवोचम्] पहले मैंने कहा था उसका अभिप्राय यह है [पृथिवीम्] पृथ्वी लोक को [प्रपद्ये] मैं प्राप्त करता हूँ तथा [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष लोक को [प्रपद्ये] मैं प्राप्त करता हूँ और [दिवम्] द्युलोक को [प्रपद्ये] मैं प्राप्त करता हूँ [इति] यही [एव] निश्चय करके [तत्] उस वचन से [अवोचम्] मैंने कहा था ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—प्राण की व्याख्या के अनन्तर अब भू की व्याख्या की जाती है—जो मैंने पहले तृतीय मंत्र में यह वाक्य कहा है कि मैं भू को प्राप्त होता हूँ तो इसका अभिप्राय यह है कि—मैं पृथ्वी लोक को प्राप्त करता हूँ तथा अन्तरिक्षलोक को प्राप्त करता हूँ और द्युलोक को प्राप्त

करता हूँ अर्थात् तीनों लोकों को प्राप्त करता हूँ। यही निश्चय करके पूर्वोक्त उस वाक्य से मैंने कहा था। यहाँ 'भूः प्रपद्ये' इस वाक्य की व्याख्या स्पष्ट की गई है ॥ ६ ॥

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्ये इति । अग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) भू की व्याख्या क अनन्तर भुवः का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं (भुवः) भुवः को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त करता हूँ (इति) ऐसा (यत्) जो वचन (अवोचम्) पहले मैंने कहा था उसका अभिप्राय यह है (अग्निम्) अग्निदेवको (प्रपद्य) मैं प्राप्त करता हूँ तथा (वायुम्) वायुदेव को (प्रपद्य) मैं प्राप्त करता हूँ और (आदित्यम्) सूर्यदेव को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त करता हूँ (इति) यही (एव) निश्चय करके (तत्) उस वचन से (अवोचम्) मैंने कहा था ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—भू की व्याख्या के अनन्तर अब भुवः की व्याख्या का जाती है—जो मैंने पहले तृतीय मंत्र में यह वाक्य कहा है कि मैं भुवः को प्राप्त करता हूँ तो इसका अभिप्राय यह है कि—मैं अग्निदेव को प्राप्त करता हूँ तथा वायुदेव को प्राप्त करता हूँ और सूर्यदेव को प्राप्त करता हूँ यही निश्चय करके पूर्वोक्त उस वाक्य से मैंने कहा था। अग्नि आदिक के विषय में लिखा है— **अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता ॥** (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्निदेव, वायुदेव और सूर्यदेव हैं ॥ २० ॥ **तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥** (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० ५] ये तीन देवता हैं अग्निदेवता पृथ्वी स्थाम में, वायुदेवता और इन्द्रदेवता अन्तरिक्षस्थान में तथा सूर्यदेवता द्युस्थान में, इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक एक के बहुत से नाम होते हैं ॥ ५ ॥ प्रकृत श्रुति में 'भुवः प्रपद्य' इस वाक्य की व्याख्या की गई है ॥ ६ ॥

अथ यदवोचं स्वः प्रपद्य इति । ऋग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥७॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके पञ्चदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) भुवः की व्याख्या के अनन्तर स्वः का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं (स्वः) स्वः को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त करता हूँ (इति) ऐसा (यत्) जो बचन (अवोचम्) पहले मैंने कहा था उसका अभिप्राय यह है (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त करता हूँ तथा (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद को (प्रपद्ये मैं प्राप्त करता हूँ और (सामवेदम्) सामवेद को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त करता हूँ (इति) यही (एव) निश्चय करके (तत्) उस वचन से (अवोचम्) मैं ने कहा था (तत्) उस वचनसे अवोचम्) मैंने कहा था ।७।

विशेषार्थ—भुवः की ब्याख्या करने के बाद अब स्वः की व्याख्या की जाती है जो मैंने पहले तृतोय मंत्र में यह वाक्य कहा है कि मैं स्वः को प्राप्त करता हूँ तो इसका अभिप्राय यह है कि—मैं ऋग्वेद को प्राप्त करता हूँ तथा यजुर्वेद को प्राप्त करता हूँ और सामवेद को प्राप्त करता हूँ यही निश्चय करके पूर्वोक्त उस वाक्य से मैंने कहा था। इस श्रुति में 'तदवोचम्' इस वाक्य का दो वार उच्चारण विद्या और खण्ड समाप्ति को सूचित करते हुए उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ७ ॥

॥ अथ षोडशखण्डः ॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः-सवनम् । चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः-सवनम् । तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः । प्राणा वाव वसवः । एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥१॥

अन्वयार्थ—(वाव) निश्चय करके (पुरुषः) पुरुष ही (यज्ञः) यज्ञ है (तस्य) उस मनुष्य की आयु के (यानि , आद्य जो (चतुर्विंशतिवर्षाणि) चौबीस वर्ष हैं (तत्) वही (प्रातःसवनम्) प्रातः सवन है (गायत्री) गायत्रीछन्द (चतुर्विंशत्यक्षरा) चौबीस अक्षरों की होती है और (गायत्रम्) गायत्रीछन्द से (प्रातःसवनम्) प्रातः सवन होता है (अस्य) इस उपासक के (तत्) वह प्रातः सवन (वसवः) वसुओं के (अन्वायत्ताः) स्वामित्व के अनुगत है (वाव) निश्चय करके (प्राणाः) प्राण ही (वसवः)

वसु हैं। (हि)क्योंकि (एते ये प्राण ही (इदम्) इस (सर्वम्) सब प्राणि समूह को (वासयन्ति) बसाते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ —अब दीर्घायु करने वाली पुरुषविद्या का प्रारम्भ किया जाता है—निश्चय करके पुरुष ही यज्ञ है, क्योंकि लिखा है — **तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरोवेदिर्लोमानि बर्हिः शिखा वेदः हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुः तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो** ब्रह्मा श्रोत्रम ॥ (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ६४) इस प्रकार के जानने वाला उस श्रौत पुरुष यज्ञ का आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर ईन्धन है, वक्षःस्थल वे दी है, लोम कुशा है, शिखा वेद है हृदय यूप है, काम घृत है, क्रोध पशु है, तप अग्नि है, दम षमयिता है, वाणी दक्षिणा है, प्राण होता है नेत्र उद्गाता है, मन अध्वर्यु है और श्रोत्र ब्रह्मा है ॥ ६४ ॥ इस प्रकार के वर्णन किये हुये मख में पुरुष यानी जीवात्मा ही यज्ञ है। मनुष्य की आयु का आद्य जो चौबीस वर्ष हैं वही प्रातः सवन है। क्योंकि प्रातः सवन में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है और वह गायत्री छन्द चौबीस अक्षरों का होता है। इससे मनुष्य की आयु का चौबीस वर्ष प्रातः सवन है। अग्निष्टोम आदि यज्ञ का प्रातः सवन में तो वसु देवता होते हैं यहाँ पुरुषरूप यज्ञ में वसु कौन हैं सो कहते हैं कि—प्राण ही वसु हैं। क्योंकि प्राण वसु कहलाते हैं सो कहते हैं—क्योंकि ये प्राण ही सब प्राणिसमूह को बसाये हुये हैं। सवन के विषय में लिखा है। **त्रया वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्याः तेषां विभक्तानि सवनानि। वसूनामेव प्रातः सवनम्। रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्। आदित्यानां तृतीयसवनम्।** (शतपथब्रा० ४।३।५।१०१)तीन देवता हैं। वसु, रुद्र, आदित्य। उनके पृथक् पृथक् सवन हैं। वसु देवताओं का प्रातः सवन तथा रुद्र देवताओं का माध्यन्दिन सवन और आदित्य देवताओं का तृतीय सायं सवन है ॥ १०१ ॥ **गायत्री वै प्रातःसवनं वहति। त्रिष्टुम्माध्यन्दिनं सवनम्। जगती तृतीयसवनम्** (शतपथब्रा० ४।२।२०) गायत्री छन्द ही प्रातः सवन को धारण करता है।

तथा त्रिष्टुप् छन्द मध्याह्न सवन को वहन करता है और जगती छन्द तृतीय सायं सवन को धारण करता है। **गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब जगत्यै** ॥ (अथर्व० कां०१९ अनु० ३ सूक्त२१ मं० १) गायत्री १, उष्णिक् २, अनुष्टुप् ३, बृहती ४, पङ्क्ति ५, त्रिष्टुप् ६ और जगती ७ ये सात श्रौत छन्दों के नाम हैं ॥ १ ॥ **अष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्** ॥ (बृह० उ० अ० ५ ब्रा० १४ श्रु० १) गायत्रीछन्द में आठ अक्षरों का एक पाद होता है ॥१॥ **गायत्र्या वसवः** ॥(पिङ्गलासू० ३।३) गायत्री छन्द का एक पाद आठ अक्षरों का होता है ॥ ३ ॥ और गायत्री छन्द प्रायः तीन ही पाद का होता है इससे सिद्ध हो गया कि चौबीस अक्षरों का गायत्री छन्द होता है । जैसे कि लिखा है— **अग्न आयाहि वीतये । गृणानो हव्यदातवे । निहोता सत्सि बर्हिषि** [सामवे० पूर्वार्चिक० प्रपा० १ सू० १ मं०१] यह सामवेद का पहला मंत्र और **अग्निमीडे पुरोहितम् । यज्ञस्यदेवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम्** [ऋग्वे० अष्ट० १ मण्ड०१ अ०१ अनु० १सू० १मं० १] यह ऋग्वेद का पहला मंत्र भी गायत्री छन्द है। इससे सिद्ध हो गया कि गायत्री छन्द में चौबीस अक्षर हैं। जिससे प्रात. सवन यज्ञ में होता है और यहाँ पुरुष रूप यज्ञ में मनुष्य की आयु का आद्य जो चौबीस वर्ष हैं वही प्रातः सवन है। बौद्धध्वान्तनिरासबासरपति भगवद्रामानुजाचार्य ने **पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात्** ॥ [शा० मी० ३।२।२४] के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड की पहली श्रुति के 'पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि' इन पदों को उद्धृत किया है ॥१॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् । स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातः सवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति उद्धैव तत एत्यगदो भवति ।२।

अन्वयार्थ [चेत्] यदि [तम्] उस पुरुष विद्यानिष्ठ महात्मा को

(एतस्मिन्) इस चौबीस वर्ष परिमित (वयसि) आयु के समय में (किञ्चित्) कोई रोगादिक (उपतपेत्) दुःख दे तो (सः) वह उपासक (इति) इस प्रकार के (ब्रूयात्) मंत्र को कहे कि (प्राणाः] हे प्राणरूप (वसवः) वसुगण (में) यज्ञरूप मेरी आत्मा का (इदम्) यह प्रथम आयु चौबीस वर्ष पर्यन्त (प्रातः सवनम्) प्रातः सवन है। इस प्रातः सवन का (माध्यन्दिनम्) मध्याह्न (सवनम्) सवन के साथ (अनुसंतनुत) अविच्छिन्न भलीभाँति विस्तृत करैं (इति) यही मेरी प्रार्थना है और (अहम्) यज्ञस्वरूप मैं (प्राणानाम्) प्रातः सवन के मालिक प्राणरूप (वसूनाम्] वसुओं के (मध्ये] मध्य में [यज्ञः) यज्ञ मैं (मा) नहीं (विलोप्सीय] विलुप्त हो जाऊँ (ह)प्रसिद्ध वह उपासक(एव)निश्चय करके (ततः) उस कष्ट से (उत्) ऊपर (एति) हो जाता है और ह) प्रसिद्ध वह पुरुषविद्यानिष्ठ उपासक (अगदः) नीरोग (भवति) हो जाता है ॥२॥

विशेषार्थ—यदि उस पुरुषविद्यानिष्ठ महात्मा को इस प्रातः सवन सम्पन्न चौबीसवर्षपरिमित आयु के समय में कोई रोगादिक संताप पहुँचावे तो वह उपासक इस प्रकार के मंत्र को कहे कि–'हे प्राणरूप वसुगण यज्ञरूप मेरी आत्मा को यह प्रथम आयु का भाग चौबीस वर्ष पर्यन्त प्रातः सवन है। इस प्रातः सवन को मेरे माध्यन्दिन सवन के साथ अविच्छिन्न भलीभाँति विस्तृत करैं, यही मेरी प्रार्थना है और यज्ञस्वरूप मैं प्रातः सवन के स्वामी प्राणरूप वसुओं के मध्य में विलुप्त न होऊँ' तब प्रसिद्ध वह उपासक निश्चय करके उस कष्ट से मुक्त हो जाता है और वह पुरुषविद्यानिष्ठ उपासक नीरोग हो जाता है ॥२॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्। तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः। प्राणा वाव रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥३॥

अन्वायार्थ—(अथ) पुरुष यज्ञ के प्रातः सवन कहने के पश्चात् अब क्रम प्राप्त माध्यन्दिन सवन को कहते हैं यानी] जो [चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि] चौबीस वर्ष के ऊपर मनुष्य के आयु की चौवालीस वर्ष हैं (तत्) वही [माध्यन्दिनम्) मध्याह्न (सवनम्) सवन (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्छन्द

(चतुश्चत्वारिंशदक्षरा) चौवालीस अक्षरों का होता है और (त्रैष्टुभम्) त्रिष्टुप् छन्दसे (माध्यन्दिनम्) मध्याह्न (सवनम्) सवन होता है (अस्य) इस उपासकके (तत्) वह माध्यन्दिनसवन रुद्राः रुद्रों के (अन्वायत्ताः) स्वामित्व से अनुगत है (वाव) निश्चय करके (प्राणाः) प्राण ही (रुद्राः) रुद्र हैं (ह) क्योंकि (एते) ये प्राण ही (इदम्) इस (सर्वम्) सम्पूर्ण प्राणि समुदाय को (रोदयन्ति) मरण समय में रुलाते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—पुरुषयज्ञ के प्रातः सवन कहने के अनन्तर अब क्रम प्राप्त माध्यन्दिन सवन को कहते हैं चौबीस वर्ष के बाद मनुष्य की आयु के जो चौवालीस वर्ष हैं वही माध्यन्दिन सवन है। और त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरों का होता है। तथा त्रिष्टुप् छन्द से माध्यन्दिन सवन होता है। इस उपासक का वह माध्यन्दिन सवन रुद्रों के स्वामित्व से अनुगत है। निश्चय करके प्राण ही रुद्र हैं क्योंकि ये प्राण इस समस्त प्राणिसमुदाय को मरण समय में रुलाते हैं इससे ये रुद्र हैं। माध्यन्दिन सवन के विषय में लिखा है—**रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्** । (शतपथ ४।३।५।१०१) रुद्रों का माध्यन्दिन सवन है ॥१०१॥ **त्रिष्टुम्माध्यन्दिनं सवनम्** । (शतप० ४।२।२०) त्रिष्टुप् छन्द से माध्यन्दिन सवन होता है ॥२०॥ **त्रिष्टुभो रुद्राः** ॥(पिङ्गलसू० ३।६) त्रिष्टुप् छन्द का एक पाद ग्यारह अक्षरों का होता है । और कि त्रिष्टुप् छन्द चार पाद का होता है । इससे सिद्ध हो गया कि त्रिष्टुप् छन्द में चौवालीस अक्षर होते हैं। जैसे कि लिखा है—**आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातो, वनस्पतिस्तव वृक्षोथ बिल्वः। तस्य फलानि तपसा नुदन्तु, मायान्तरायांश्च बाह्या अलक्ष्मीः** ॥ (ऋग्वे० अष्ट० ४ मण्ड०५ अ० ४ अनु० ६ श्रीसू० मं०६)यह श्रीसूक्त का छठवाँ मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द है। वहाँ पुरुष यज्ञ में मनुष्य की आयु का द्वितीय भाग चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन है ॥ ३ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् । स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति। उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४॥

अन्वयार्थ—[चेत्] यदि [तम्] उस पुरुषविद्यानिष्ठ महात्मा को [एतस्मिन्] इस आयु के द्वितीय [वयसि] चौवालीस वर्ष परिमित समय में अर्थात् पचीसवें वर्ष से लेकर अरसठवें वर्ष वयोवस्था में (किञ्चित्) कोई रोगादिक (उपतपेत्) दुःख दे तो (सः) वह उपासक (इति) इस प्रकार के (ब्रूयात्) मंत्र को कहे कि (प्राणाः) हे प्राणारूप (रुद्राः) रुद्रगण [मे] यज्ञरूप मेरी आत्मा को [इदम्] आयु का यह द्वितीय भाग [माध्यन्दिनम्] मध्याह्नकालिक [सवनम्] सवन है। इस माध्यन्दिन सवन को (तृतीयसवनम्) तृतीय सायं सवन के साथ (अनुसंतनुत) अविच्छिन्न भलीभाँति विस्तृत करें (इति) यही मेरी प्रार्थना है और (यज्ञः) यज्ञ स्वरूप (अहम्) मैं (प्राणानाम्) माध्यन्दिन सवन के मालिक प्राणरूप (रुद्राणाम्) रुद्रों के (मध्ये) मध्य में (मा) नहीं (विलोप्साय) विलुप्त हो जाउँ (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (एव) निश्चय करके (ततः) उस कष्ट से (उत्) उपर (एति) हो जाता है और (ह) प्रसिद्ध वह पुरुषविद्यानिष्ठ उपासक (अगदः) नीरोग (भवति) हो जाता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—यदि उस पुरुषविद्यानिष्ठ महात्मा को इस माध्यन्दिन सवन सम्पन्न पचीसवें वर्ष से लेकर अरसठवें वर्ष पर्यन्त चौवालीस वर्ष परिमित समय में कोई रोगादिक सन्ताप पहुंचावे तो वह उपासक इस प्रकार के मंत्र को कहे कि—हे प्राणरूप रुद्रगण ! यज्ञरूप मेरी आत्मा की आयु का यह द्वितीय भाग पचीसवें वर्ष से अरसठवें वर्ष पर्यन्त चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन है। इस माध्यन्दिन सवन को मेरे तृतीय सायं सवन के साथ अविच्छिन्न भलीभाँति विस्तृत करें यही मेरी प्रार्थना है और यज्ञरूप मैं माध्यन्दिन समय के स्वामी प्राणरूप रुद्रों के मध्य में विलुप्त न होऊँ" तब वह प्रसिद्ध उपासक निश्चय करके उस कष्ट से मुक्त हो जाता है और वह पुरुषविद्यानिष्ठ उपासक नीरोग भी हो जाता है ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम् । अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनम् । तदस्यादित्या अन्वायत्ताः । प्राणा वाव आदित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) पुरुषयज्ञ के माध्यन्दिन सवन कहने के अनन्तर अब क्रम प्राप्त तृतीय सवन को कहते हैं (यानी) जो अरसठ वर्ष के बाद

[अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि] मनुष्य के आयु की अड़तालीस वर्ष हैं (तत्) वही (तृतीयसवनम्) तृतीय सायं सवन है (जगती) जगती छन्द (अष्टाचत्वारिंशदक्षरा) अड़तालीस अक्षरों का होता है और (जागतम्) जगती छन्द से (तृतीय सवनम्) तृतीय सायं सवन होता है (अस्य:) इस उपासक के (तत्) वह तृतीय सायं सवन (आदित्याः) आदित्यों के (अन्वयत्ताः) स्वामित्व से अनुगत है (वाव) निश्चय करके (प्राणाः) प्राण ही (आदित्याः) आदित्य हैं (हि) क्योंकि [एते) ये प्राण ही (इदम्) इस (सर्वम्) सम्पूर्ण विषय को (आददते) ग्रहण करते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—पुरुषयज्ञ के माध्यन्दिन सवन कहने के अनन्तर अब क्रम प्राप्त तृतीय सायं सवन को कहते हैं। अरसठ वर्ष के बाद मनुष्य की आयु का जो अन्तिम अड़तालीस ४८ वर्ष हैं वही तृतीय सायं सवन है। और जगती छन्द अड़तालीस अक्षरों का होता है तथा जगती छन्द से ही तृतीय सायं सवन होता है। इस उपासक के वह तृतीय सायं सवन आदित्यों के स्वामित्व से अनुगत है निश्चय करके प्राण ही आदित्य है क्योंकि ये प्राण ही इस सम्पूर्ण विषयजात को ग्रहण करते हैं। तृतीय सवन के विषय में लिखा है— **आदित्यानां तृतीय-सवनम्** ॥ (शतपथब्रा० ४।३।५।१०१) आदित्यों का तृतीय सवन होता है॥ १०१ ॥ **आदित्यास्तृतीयसवनेन** ॥ (शतप १२।३।४।१) तृतीय सवन से आदित्य प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ **जगती तृतीयसवनम्** ॥ (शतप० ४।२।२०) जगती छन्द से तृतीय सवन होता है ॥ २० ॥ **जगत्या आदित्याः** ॥ (पिङ्गलसू० ३।४) जगती छन्द का एक पाद बारह अक्षरों का होता है ॥ ४ ॥ और जगती छन्द चार पाद का होता है। इससे सिद्ध हो गया कि जगती छन्द में अड़तालीस अक्षर हैं तथा त्रिष्टुप् में चौबालीस अक्षर हैं। इन तीनों छन्दों की अक्षर संख्यायें २४+४४+४८ मिलकर एक सौ सोलह होती हैं। सामान्य रीति से मनुष्य की आयु की वर्ष संख्या भी पुरुषयज्ञ के अनुसार एक सौ सोलह वर्ष ही प्रतिपादित की गयी है ॥ ५ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् । सब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति । माऽहं

प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति। उद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥६॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि [तम्] उस पुरुषविद्यानिष्ठ महात्मा को (एतस्मिन्] इस [वयसि] वयोवस्था में [किञ्चित्) कोई रोगादिक [उपतपेत्] दुःख दे तो [सः] वह उपासक [इति] इस प्रकार के (ब्रूयात्] मंत्र को कहे कि [प्राणाः] हे प्राणरूप [आदित्याः] आदित्यगण [मे] यज्ञरूप मेरी आत्मा की [इदम्] यह [तृतीय सवनम्] तृतीयसवनात्मक (आयुः) आयु है। इस आयु के समाप्त होने तक (अनुसंतनुत) अविच्छिन्न भलीभाँति विस्तृत करें (इति) यही मेरी प्रार्थना है (यज्ञः) यज्ञस्वरूप [अहम्] मैं [प्राणानाम्) तृतीयसवन के मालिक प्राणरूप [आदित्यानाम्] आदित्यों के [मध्ये] मध्य में [मा] नहीं [विलोप्सीय] विलुप्त हो जाऊँ [ह] प्रसिद्ध वह उपासक [एव] निश्चय करके (तत्) उस कष्ट से [उत्] उपर [एति] हो जाता है और [एव] निश्चय करके [ह] प्रसिद्ध वह पुरुषविद्यानिष्ठ उपासक (अगदः) नीरोग [भवति] हो जाता हूँ ॥६॥

विशेषार्थ—यदि उस पुरुषविद्यानिष्ठ महात्मा को इस तृतीय सवन सम्पन्न उतसठवें वर्ष से लेकर एक सौ सोलह वर्ष पर्यन्त अड़तालीस वर्ष परिमित समय में कोई रोगादिक संताप पहुंचावे तो वह उपासक इस प्रकार के मंत्र को कहे कि 'हे प्राणरूप आदित्यगण ! यज्ञरूप मेरी आत्मा की यह आयु के तृतीय भाग उनहतरवें वर्ष से लेकर एक सौ सोलह वर्ष पर्यन्त अड़तालीस वर्ष तृतीय सायं सवन है। इस तृतीय सवनात्मक आयु के समाप्त होने तक मेरी आयु को अविच्छिन्न भलीभाँति विस्तृत करें यही मेरी प्रार्थना है। और यज्ञस्वरूप मैं तृतीय सवन के मालिक प्राणरूप आदित्यों के मध्य में विलुप्त न हो जाऊँ" तब वह प्रसिद्ध उपासक निश्चय करके उस कष्ट से मुक्त हो जाता है और वह पुरुविद्या-निष्ठ उपासक नीरोग भी हो जाता है ॥ ६ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेस्यामीति । स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् । प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥७॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके षोडशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ह) ऐतरेयब्राह्मण में प्रसिद्ध (वै) निश्चय करके (ऐतरेयः) इतर ऋषि के पुत्र (महिदासः) महिदास नाम के महर्षि ने (तत्) उस [एतत्] इस पुरुषविज्ञानस्वरूप को (विद्वान्) जानता हुआ [आह+स्म] कहा था कि हे रोग [सः] वह तू [मे] मुझे [किम् क्यों [इति] इस प्रकार [एतत्] इस दुःख को [उपतपसि] देता है [यः] जो (अहम्) मैं (अनेन) इस तेरे उपताप प्रदान से (न) नहीं (प्रेष्यामि] मरूँगा (ह) प्रसिद्ध (सः) वह महिदास महर्षि (वर्षशतम्) एक सौ (षोडशम्) सोलह वर्ष (अजीवत्) जीता रहा था (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) इस सवन विद्या को जानता है (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (वर्षशतम्) एक सौ [षोडशम्) सोलह वर्ष (प्र , प्रकर्षरूप से (जीवति) निश्चय जीता है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—ऐतरेय ब्राह्मणग्रन्थ में सुप्रसिद्ध इतर ऋषि के पुत्र महिदास नाम के महर्षि ने उस इस पुरुषविज्ञानस्वरूप को जानता हुआ पहले कहा था कि— अरे रोग तू मुझे क्यों कष्ट देता है। मैं तेरे इस उपताप प्रदान से कभी नहीं मरूँगा। पुरुषविद्या को जानने वाला वह सुप्रसिद्ध ऐतरेय महिदास महर्षि एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा। जो उपासक इस प्रकार इस सवन विद्या को जानता है वह प्रसिद्ध उपासक निश्चय कर के एक सौ सोलह वर्ष जीता है। जैनेभकण्ठीरव भगवद्रामानुजाचार्य ने—**पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात्** ॥ (शा० मी० ३।२। २४) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड की सातवीं श्रुति के 'प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति' इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का सोलहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ७ ॥

॥ अथ सप्तदशखण्डः ॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥१॥

अन्वयार्थ—(सः) वह पुरुष (यत्) जो (अशिशिषति) भोजन करने की इच्छा करता है और (यत्) जो (पिपासति) पीने की इच्छा करता है

तथा [यत्] जो [न] नहीं (रमते) रमण करता है वह [अस्य] इस पुरुष यज्ञ के [ताः] वे ही [दीक्षाः] दीक्षायें हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ — अब पुरुष के यज्ञ सादृश्य निरूपण करते हैं—वह पुरुष जो भोजन करने की इच्छा करता है तथा जो पीने की इच्छा करता है तथा जो रममाण प्रसन्न नहीं होता है वही इस पुरुष की दीक्षा है। अर्थात् अशनाया तथा पिपासा और रत्यभाव में दुःखात्मक होने से दीक्षा दृष्टि करनी चाहिये ॥ १ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥२॥

अन्वयार्थ [अथ] और [यत्] जो [अश्नाति] वह पुरुष भोजन करता है तथा [यत्] जो [पिबति] पीता है और [यत्] जो [रमते] रति का अनुभव करता है [तत्) वह [उपसदैः] उपसद यानी कार्यकर्त्ता ऋत्विक की समानता को [एति] प्राप्त होता है ॥२॥

विशेषार्थ—और जो वह पुरुष भोजन करता है तथा जो पीता है और जो रति का अनुभव करता है वह सब, उपसद यानी कार्यकर्त्ता ऋत्विक् की समानता को प्राप्त करता है। आहार के विषय में लिखा है— **आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥** (गी० १७।८) आयु ज्ञान, बल और आरोग्य सुख तथा प्रीति के बढ़ाने वाले रसदार चिकने स्थायी और चित्त को रमणीय लगने वाले आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥ **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥**(गी० १७।९) कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम तीखे, रूखे, और जलन पैदा करने वाले तथा जो दुःख शोक और रोग उत्पन्न करने वाले हैं ऐसे आहार राजस पुरुषों को प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥ **यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥** (गी० १७।१०) जो बहुत देर का रखा हुआ रसहीन, दुर्गन्धित, बासो, जूठा और अमेध्य आहार है वह तामस मनुष्यों को प्रिय होता है ॥ १० ॥ इस प्रकार के भोजन के विषय में कहा गया है ॥ २ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यत्) जो (हसति) वह पुरुष हँसता है तथा (यत्) जो (जक्षति) वह भक्षण करता है और (यत्) जो (मैथुनम्) मैथुन (चरति) करता है (तत्) वह सब (एव) निश्चय करके (स्तुतशस्त्रैः) स्तोत्र और शस्त्र की समानता को (एति) प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—और जो वह पुरुष हँसता हैं तथा जो सात्विक भक्षण करता है और जो अपनी धर्मपत्नी से ऋतुकाल में मैथुन करता है वह सब ही स्तोत्र और शस्त्र की समानता को प्राप्त करता है। जिस ऋचाओं को सामगान वाले गाते हैं उन्हें स्तुत कहते हैं और जिन ऋचाओं को सामगान वाले नहीं गाते हैं, वे शस्त्र कहलाते हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यत्) जो (तपः) तप (दानम्) दान (आर्जवम्) आर्जव (अहिंसा) अहिंसा और (सत्यवचनम्) सत्यभाषण (इति) ये सब (अस्य) इस पुरुष के (ताः) वे (दक्षिणाः) दक्षिणा हैं ॥४॥

विशेषार्थ—और जो तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्यभाषण हैं वे ही इस पुरुष की दक्षिणा हैं। तप के विषय में लिखा है—**वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥** (जाबालद० उ० खं० २ श्रु० ३) वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुध जन तप कहते हैं ॥ ३ ॥ **तपः कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेः भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्य करणम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० १६।१) भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करने वाले कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादशी उपवासादि व्रतों के करने का नाम 'तप' है ॥ १ ॥ **कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥** (योग० अ० १ पा० २ सू० ४३) तपसे अशुद्ध के नाश के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥ और तप के भेद के विषय में मैं पहले लिख चुका हूँ। दान के विषय में लिखा है—**न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके**

जने । अन्यद्वा यत्प्रदीयेत तद्दानं प्रोच्यते मय ॥ (जाबा० द० उ० खं० २ श्रु० ७) क्लेश में पड़े हुये वेदज्ञ पुरुषों को श्रद्धा से जो न्यायोपार्जित धन अथवा अन्य आवश्यक वस्तुयें दी जाती हैं उसी को मैं 'दान' कहता हूँ ॥ ७ ॥ **दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दातारं सर्वभूतान्युपजीवन्ति । दानेनारातीरपानुदन्त दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति । दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति ।** (तै० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा ६३) यज्ञों का दान ही वरूथ है लोक में दक्षिणा देने वाले के पास में सब प्राणी जीवन धारण करते हैं। दान से धर्मात्मा लोगों ने शत्रुओं को पराजित किया है और दान से द्वेष करने वाले मित्र हो जाते हैं। दान में सब प्रतिष्ठित है। इससे सब लोग दान को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥ **दानं न्यायार्जितधनस्य पात्रे प्रतिपादनम् ॥** (रामानुज-भाष्य० गी० अ० १६ श्लो० १) न्यायोपार्जित धन को सत्पात्र के प्रति देने का नाम 'दान' है ॥ १ ॥ **दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥** (गी० १७।२०) देना कर्तव्य है ऐसा समझकर जो दान देश काल और पात्र में अनुपकारी को दिया जाता है वह दान सात्त्विक बतलाया गया है ॥ २० ॥ **यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥** (गी० १७।२१) पर जो प्रत्युपकार के लिये या पुनः फल के उद्देश्य से दिया जाता है तथा जो अशुभ द्रव्य से युक्त होता है वह दान राजस बतलाया गया है ॥ २१ ॥ **अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥** (गी० १७।२२) जो दान बिना देश काल के बिना सत्कार के और बिना आदर के अपात्रों को दिया जाता है वह दान तामस बतलाया गया है ॥ २२ ॥ **यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥** (गी० १८।५) यज्ञ, दान, और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं बल्कि वे तो करने योग्य ही हैं क्योंकि यज्ञ दान और तप बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं ॥ ५ ॥ आर्जव के विषय में लिखा है—
पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि सन्ततम् । एकरूपं मुने यत्त-

दार्जवं प्रोच्यते मया । (जाबालद० उ० खं० १ श्रु० १६) पुत्र, मित्र, स्त्री, शत्रु तथा अपनी आत्मामें भी सदा मनका एकसा भाव रखना ही मेरी दृष्टि में आर्जव है । हे मुनि-श्रेष्ठ ! सर्वत्र समतापूर्ण भाव को ही मैं आर्जव कहता हूँ ॥ १६ ॥ **आर्जवं मनो वाक्कायकर्मवृत्तीनाम् एकनिष्ठता परेषु** (रामानुजभाष्यगी० १६।१) दूसरों के प्रति व्यवहार करते समय मन, वाणी और शरीर के कर्मों की और वृत्तियों की एक निष्ठता का नाम 'आर्जव' है ॥ १ ॥ अहिंसा के विषय में लिखा है— **वेदोक्तेण प्रकारेण विना सत्यं तपोधन । कायेन मनसा वाचा हिंसाऽहिंसा न चान्यथा** (जाबालद० उ० ख० १ श्रु० ७) हे तपोधन वेद में बतायी हुई विधि के अतिरिक्त जो मन वाणी और शरीर द्वारा किसीको किसी प्रकार का कष्ट दिया जाता है या उसका प्राणों से वियोग कराया जाता है वही वास्तविक हिंसा है । इसके सिवा दूसरी कोई हिंसा नहीं है । इस हिंसा का सर्वथा त्याग ही अहिंसा है ॥ ७ ॥ **अहिंसा परपीडावर्जनम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० १६।२) दूसरों को पीड़ा न पहुँचाने का नाम 'अहिंसा' है ॥ २ ॥ **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।** (योग० अ० १ पा० २ सू० ३५) अहिंसा प्रतिष्ठा होने पर उसको सन्निधि में वैरत्याग हो जाता है ॥ ३५ ॥ और सत्य के विषय में लिखा है— **चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर । तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत्** (जाबालद०उ० खं० १ श्रु० ९) हे विप्र नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया तथा सुना गया और सूँघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥ ९ ॥ **सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि । सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥** (तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३) पवन सत्यसे चलता है, सूर्य सत्यसे द्युलोक में प्रकाशित होता है, वाणी की प्रतिष्ठा सत्य ही है, सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं इससे सबलोग सत्य को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥ **सत्यं यथादृष्टार्थगोचरभूतहितवाक्यम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० १६।२) देख सुनकर समझी हुई बात को ठीक वैसे ही बतलाने के लिये कहे जानेवाले प्राणियों के हितकर वचन का नाम 'सत्य' है ॥ २ ॥ **अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेध-**

सहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते । (विष्णुस्मृ० ८) हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेधयज्ञों की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥८॥ **सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥** (यो० अ० १ पा० २ सू० ३६) सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता हैं ॥३६॥ ये पूर्वोक्त सब ही पुरुष यज्ञ की दक्षिणा हैं ॥ ४ ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य । तन्मरणमेवावभृथः ॥ ५ ॥

अन्वायार्थ—(तस्मात्) इसी से (आहुः) सब मनुष्य कहते हैं कि (सोष्यति) माता उत्पन्न करेगी असोष्ट यह माता उत्पन्न कर चुकी है (इति) इस प्रकार (एव) निश्चय करके (अस्य) इस पुरुष के (पुनः) पुनः (उत्पादनम्) जन्म है और इस पुरुष का तत् वह (मरणम्) मरण (एव) निश्चय करके (अवभृथः) अवभृथ स्नान है ।५॥

विशेषार्थ—पुरुष के यज्ञरूप होने से जैसे कहा जाता है कि देवदत्त ऋत्विक् सोमरस बनावेगा वैसे ही कहा जाता है कि यह माता पुरुष को उत्पन्न करेगी और सोमरस तैयार हो जाने पर कहा जाता है कि देवदत्त ऋत्विक् सोमरस बना चुका, वैसे ही कहा जाता है कि यह मातापुरुष को उत्पन्न कर चुकी । वही यज्ञानुष्ठानलक्षण इस पुरुष का पुनजन्म है और पुरुष का मरण ही यज्ञ का अवभृथ स्नान है, क्योंकि वन्यत्र भी लिखा है—**यन्मरणं तदवभृथः ॥** (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ६४) जो पुरुष का मरण है वही अवभृथ स्नान है ॥ ६४ ॥ दोनों की सामाप्तिरूप साम्य है ॥ ५ ॥

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच । अपिपास एव स बभूव । सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत । अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति । तत्रैतेद्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (आङ्गिरसः) आङ्गिरागोत्र में उत्पन्न हुए (घोरः) घोर नाम के ऋषि ने (एतत्) इस पुरुषयज्ञदर्शन को (देवकी–

पुत्राय, देवकी देवी के पुत्र (कृष्णाय) श्रीकृष्ण भगवान् के (तत्) उस शेषभूत प्रेम की (इति)इस प्रकार के(उक्त्वा)अनुसन्धान करके (उवाच) कहा यानी अनुष्टान किया (एव) निश्चय करके (सः) वह अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न घोर ऋषि भगवच्छेषत्वानुसन्धान पूर्वक पुरुषयज्ञ की उपासना के अनुष्ठान से ब्रह्मविद्या को पाकर (अपिपासः) पिपसा रहित मुक्त (बभूव) हो गया और जो (अन्तवेलायाम्) मरणकाल में (एतत्) इस वक्ष्यमाण (त्रयम्) तीन मंत्रों को (प्रतिपद्येत) जपे तो (सः) वह उपासक मुक्त होता है ऐसा कहा, अब तीन मंत्र कहा जाता हैं। हे श्रीमन्नारायण भगवन् (अक्षितम्) क्षयशून्य (असि,)तू है (अच्युतम्) स्वरूप स्वभाव प्रच्युतिरहित (असि) तू है और (प्राणसंशितम्) जगत् के प्राण पिता होते हुये अति सूक्ष्मतत्त्व (असि) तू है (तत्र) उस परब्रह्म के विषय में (एते) ये (द्वे) दोनों आगे कहे जाने वाली (ऋचौ) ऋचाएँ (भवतः) प्रमाण होती हैं॥ ६॥

विशेषार्थ—अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न सुप्रसिद्ध घोर ऋषि ने इस पुरुष यज्ञ दर्शन को देवकी नन्दन श्रीकृष्ण भगवान् के उस शेषभूतप्रीति के अथ को इस प्रकार से अनुसन्धान करके अनुष्ठान किया। देवकी के विषय में लिखा है—**अजेया वैष्णवा माया जप्येन च सुता पुरा। देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते॥** (कृष्णोपनि० श्रु०५) जिसको जीतना किसी के लिये भी संभव नहीं है जिसे पूर्वकाल में ब्रह्मा जी भी पराजित न कर सके तथा देवता भी जपको स्तुति करते हैं वह ब्रह्मविद्यामयी वैष्णवी माया ही देवकी रूप में प्रकट हुई ऐसा सब वेद कहते हैं॥ ५॥ और श्रीकृष्ण भगवान् के विषय में लिखा है—**कृष्णं त एव रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषा भिदेकम्। यद् प्रवीता दधते ह गर्भं मद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः** (ऋग्वेद मण्डल४ सू०७मं०९) हे भूमन् आपका जो सच्चिदानन्द रूप है तथा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा है उस कृष्ण भारूप को हम प्राप्त होवें। जिस आपसे स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र जीव अनेक देहों में भोक्तृरूप से वर्तमान है और जो कृष्ण भावको निगडग्रस्तदेवकी देवी गर्भ रूप से धारण करती हुई हे भूमन् आप प्रसिद्ध ही गभ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुये॥९॥ **कृषिर्भू वाचकः शब्दो**

नश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ (गोपालपूर्वतापनीयोप० प्रथम उ० १ श्रु० १) **सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे। नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ २ ॥**

'कृष्' शब्द सत्ता का वाचक है और 'न' शब्द निर्वृत्ति का वाचक है इन दोनों की जहाँ एकता है वह सच्चिदानन्द परब्रह्म ही 'कृष्ण' इस नाम से प्रतिपादित होता है ॥ १ ॥ अनायास ही सब कुछ कर सकने वाले सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण को, जो वेदान्त द्वारा जानने योग्य सबकी बुद्धि के साक्षी तथा सम्पूर्ण जगत् के गुरु हैं सादर नमस्कार है ॥ २ ॥

श्रीशेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् ॥ (कृष्णो० श्रु० १२) श्रीशेषनाग श्रीबलराम बने और सनातन ब्रह्म ही श्रीकृष्ण बने ॥ १२ ॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च। जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ (पाण्डवगी० श्लो० ३३ गो ब्राह्मण के हित ब्रह्मण्य देव के लिये सादर नमस्कार है और जगत् के हित करने वाले गोविन्द श्रीकृष्णभगवान् के लिये सादर नमस्कार है ॥ ३३ ॥ वह अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न घोरऋषि भगवान् के शेषत्वानुसंधान पूर्वक पुरुष यज्ञ की उपासना के अनुष्ठान से ब्रह्मविद्या को पाकर अन्य विद्याओं के विषय में तृष्णाहीन पिपासारहित मुक्त हो गया और जो मरण काल में-हे श्रीमन्नारायण भगवन् आप क्षयशून्य हैं १ तथा आप स्वरूप स्वभावप्रच्युतिरहित हैं २ और जगत् के प्राणयिता होते हुये आप अति सूक्ष्मतत्त्व हैं ३ इन तीनों मंत्रों को जपता है वह उपासक मुक्त हो जाता है, ऐसा अङ्गिरागोत्रोत्पन्न घोरऋषि ने अपने शिष्यों से कहा था। इस परब्रह्म के विषय में ये आगे कहे जाने वाले दो ऋग्वेद के मंत्र प्रमाण होते हैं ॥६॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं तमसस्परि ज्योतिःपश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥७॥

॥ इति **तृतीयप्रपाठके सप्तदशखण्डः** ॥

अन्वयार्थ—(प्रत्नस्य) पुरातन प्राचीन [रेतसः] जगत् के बीजभूत अव्यक्त के (आदित्) आदिभूत कारण (तमसः) अन्धकार रूप प्रकृतिसे

(उत्) ऊपर परे (उत्तरम्) उत्कृष्ट (ज्योतिः) प्रकाश को (परि पश्यन्तः) भलीभाँति देखते हुये तथा (उत्तरम्) सबसे श्रेष्ठ (स्वः) स्वर्लोक यानो भगवान् के लोक को (पश्यन्तः) देखते हुये (वयम्) हम (इति) इस प्रकार के (देवत्रा) अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदिक सम्पूर्ण देवों में (उत्तरम्) श्रेष्ठ (देवम्) द्योतमान (उत्तमम्) उत्तम अर्चिरादिपर्वभूत (सूर्यम्) सूर्यरूप (ज्योतिः) ज्योति को (अगन्म) प्राप्त हुये हैं (इति) इस प्रकार (उत्तमम्) उत्तम अर्चिरादिपर्वभूत सूर्यरूप (ज्योतिः) ज्योति को हम प्राप्त हुये हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—इस सातवीं श्रुति में 'आदित्प्रत्नस्य रेतसः' यह प्रतीक दिया हुआ है। इसले यहाँ पहले इस सम्पूर्ण मंत्र को लिखकर इसका अर्थ कहा जाता है— **आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा ॥** (ऋग्वे० मण्ड० ८ सू० ६ मं० ३०) पुरातन प्राचीन जगत के बीजभूत अव्यक्त के आदिभूत कारण नित्यप्रकाशरूप संसार के अन्धकार के निवारक परब्रह्म नारायण को सर्वदा नित्य सूरि लोग देखते हैं जो परमप्रकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण निरतिशय दीप्ति युक्त विग्रह से युक्त भगवल्लोक में देदीप्यमान है ॥ ३० ॥ यह प्रथम ऋचा का अर्थ है। अब द्वितीय ऋचा का अर्थ कहा जाता है। अन्धकार रूप प्रकृति से परे ऊपर उत्कृष्ट प्रकाश स्वरूप ज्योति को देखते हुये और सबसे श्रेष्ठ दिव्यज्ञान से भगवान् के लोक को साक्षात्कार करते हुये हम सब उपासना करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदिक सब देवताओं में श्रेष्ठ द्योतमान उत्तम अर्चिरादिपर्वभूत सूर्य रूप ज्योति को प्राप्त होते हैं। यह प्रकृत श्रुति (ऋग्वे०मण्ड० १सू० ५० मं० १० । यजु० अ० २० मं० २१ । अथर्ववे० कां० ७ सू० ५३ मं० ७) में भी थोड़े पाठ भेद से पठित है। इस श्रुति में 'ज्योतिरुत्तममिति' यह खण्में दो बार उच्चारण करके यज्ञ कल्पना की समाप्ति सूचित करते हुए उक्त उपदेश की निश्चिता का भी प्रपिपादन किया गया है यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ७ ॥

॥ अथाष्टादशखण्डः ।

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यात्मं चाधिदैवतं च ॥१॥

अन्वयार्थ—(मनः) संकल्प विकल्पात्मक मन (ब्रह्म) परब्रह्म है (इति) इस प्रकार (उपासीत) भक्त उपासना करे (इति) यह (अध्यात्मम्) अध्यात्मविषयक विज्ञान है (च) और (अथ) इसके अनन्तर (आकाशः) शब्दगुणक आकाश (ब्रह्म) परब्रह्म है (इति) यह (अधिदैवतम्) देवता सम्बन्धी विज्ञान है। इस प्रकार (अध्यात्मम्) अध्यात्मविषयक विज्ञान (च) और (अधिदैवतम्) देवता सम्बन्धी विज्ञान (उभयम्) दोनों (आदिष्टम्) उपदेश दिया गया (भवति) है ॥ १ ॥

विशेषार्थ— मन में अध्यात्म और आकाश में अधिदैवत ब्रह्मदृष्टि का उपदेश किया जाता है कि—संकल्प विकल्पात्मक मन ही परब्रह्म नारायण हैं ऐसा समझकर भक्त उपासना करे। यह अध्यात्मविषयक विज्ञान है। और शब्दगुणक आकाश परब्रह्म नारायण है यह देवता सम्बन्धी विज्ञान है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत इन दोनों का उपदेश ऋषियों ने किया है। मायावादिभुजङ्गभङ्गगरुड भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (शा० मी० १।१।१) **न प्रतीके नहि सः** (शा० मी० ४।१।४) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठकके अठारहवें खण्ड की पहली श्रुति के 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुःपादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इति। उभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मम् चाधिदैवतं च ॥२॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह (एतत्) यह मन संज्ञक (ब्रह्म) वृहत् ब्रह्म (चतुष्पाद्) चार चरण वाला है (वाक्) वाणी (पादः) पहला चरण है (प्राणः) प्राण (पादः) दूसरा चरण है (चक्षु.) नेत्र (पादः) तीसरा चरण है (श्रोत्रम्) कान (पादः) चौथा चरण है (इति) यह (अध्यात्मम्) अध्यात्म विषयक वर्णन है (अथ) अनन्तर (अधिदैवतम्) देवता सम्बन्धी विषय वर्णन किया जाता है (अग्निः) अग्नि देवता (पादः) पहला चरण है (वायुः) वायु देवता (पादः) दूसरा चरण है (आदित्यः) सूर्य देवता (पादः) तीसरा चरण है और (दिशः) दिशाएँ (पादः) चौथा

चरण है (इति) यह अधिदैवत विषयक वर्णन है (एव) निश्चय करके (अध्यात्मम्) अध्यात्मविषयक विज्ञान (च) और (अधिदैवतम्) देवता सम्बन्धी विज्ञान (च) भी (उभयम्) दोनों (आदिष्टम्) उपदेश दिया गया (भवति) है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वह यह मन नाम वाला ब्रह्म चार पाद वाला है। मन से नियाम्य होने से मनोरूप ब्रह्म की वाणी पहला पाद है तथा प्राण दूसरा पाद है और नेत्र तीसरा पाद है तथा श्रोत्र चौथा पाद है यह अध्यात्मविषयक वर्णन है। अब अध्यात्मविषयकवर्णन के बाद अधिदैवत विषयक वर्णन किया जाता है—आकाशरूप ब्रह्म का अग्निदेव पहला पाद है और वायुदेव दूसरा पाद है तथा सूर्यदेव तीसरा पाद है और दिग्देवता चौथा पाद हैं यह अधिदैवत विषयक वर्णन है। इस प्रकार के अध्यात्मविषयक विज्ञान और अधिदैवत विषयक विज्ञान ये दोनों ही उपदेश दिये गये हैं। त्रैविद्यचूडामणि भगवद्रामानुजाचार्य ने-**परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः** ॥ (शा० मी० ३।२।३०) **बुद्ध्यर्थः पादवत्** । (शा० मी० ३।२।३२) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक के अठारहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के 'चतुष्पाद् ब्रह्म' और 'वाक् पादः प्राणः पादः चक्षुः पादः' इत्यादि पदों को उद्धृत किया है। इस प्रकृत श्रुति में ब्रह्म के वाक् आदि पाद व्यपदेश उपासक के लिये ही प्रतिपादन किया गया है ॥ २ ॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्म वर्चसेन य एवं वेद । ३॥

अन्वयार्थ—(वाक्) वाणी (एव) निश्चय करके (ब्रह्मणः) मनोरूप परब्रह्म के (चतुर्थः) पादत्रय की अपेक्षा से चौथा (पादः) चरण है (सः) वह वाक् रूप पाद (अग्निना) अधिदैवत आकाश सम्बन्धो अग्नि के (ज्योतिषा) प्रकाश से (भाति) प्रकाशित होता है (च) और (तपति) तपता (च) भी है अर्थात् स्वकार्योत्साही होता है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह उपासक (कीर्त्या) वितरणरूप कीर्ति से (च) और (यशसा) विक्रमरूपयश से (च) और (ब्रह्मवर्चसेन) वृत्ताध्ययनसमृद्धिरूप ब्रह्मतेज से (भाति) जगत् में प्रकाशित होता है और (तपति)

स्वकार्योत्साही होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—वाणी ही मनोरूप परब्रह्म के पादत्रय की अपेक्षा से चौथा पाद है। वह वाक्‌रूप पाद अधिदैवत आकाश सम्बन्धी अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित होता है और स्वकार्योत्साही होता है। क्योंकि लिखा है—**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्** । ऐतरेयो० अ० १ खं० २ श्रु० ४) अग्नि देवता ने वाक् इन्द्रिय होकर मुखछिद्र में प्रवेश किया॥४॥ जो उपासक इस प्रकार से जानता है वह उपासक वितरणरूप कीर्ति से और विक्रमरूप यश से तथा वृत्ताध्ययनसमृद्धिरूप ब्रह्मतेज से जगत् में प्रकाशित होता है और स्वकार्योत्साही होता है। अर्थात् सूर्य के समान देदीप्यमान होता है ॥ ३ ॥

प्राण एवब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुनाज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥४॥

अन्वयार्थ—(प्राणः) प्राण (एव) निश्चय करके (ब्रह्मणः) मनोरूप ब्रह्म के (चतुर्थः) पादत्रय की अपेक्षा से चौथा (पादः) चरण है (सः) वह प्राणरूप पाद [वायुना] अधिदैवत वायु के [ज्योतिषा] प्रकाश से [भाति] प्रकाशित होता है [च और [तपति] तपता है, अर्थात् स्वकार्योत्साही होता है [यः] जो उपासक [एवम्] इस प्रकार [वेद] जानता है, वह उपासक [कीर्त्या] वितरणरूपकीर्ति से [च] और [यशसा] विक्रमरूपयश से [च] तथा [ब्रह्मवर्चसेन] वृताध्ययनसमृद्धिरूप ब्रह्मतेज से [भाति] जगत् में प्रकाशित होता है [च] और (तपति) स्वकार्योत्साही होता है ॥ ४॥

विशेषार्थ—प्राण ही मनोरूप ब्रह्म के पादत्रय की अपेक्षा से चौथा पाद है। वह प्राणरूप पाद अधिदैवत वायु के प्रकाश से प्रकाशित होता है तथा स्वकार्योत्साही होता है। क्योंकि लिखा है—**वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) वायु देवता ने प्राण होकर नासिका के दोनों छिद्रों में प्रवेश किया ॥ ४ ॥ जो उपासक इस प्रकार से जानता है वह उपासक वितरणरूपकीर्ति से और विक्रम रूप यश से तथा वृत्ताध्ययनसमृद्धिरूप ब्रह्मतेज से जगत् में प्रकाशित होता है और स्वकार्योत्साही होता है या सूर्य के समान देदीप्यमान होता है ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥५॥

अन्वयार्थ—(चक्षुः) नेत्र (एव) निश्चय करके (ब्रह्मणः) मनोरूप ब्रह्म के (चतुर्थः) पादत्रय की अपेक्षा से चौथा (पादः) चरण है (सः) वह नेत्र रूप पाद (आदित्येन) अधिदैवत सूर्य के (ज्योतिषा) प्रकाश से (भाति) प्रकाशित होता है (च) और (तपति) स्वकार्योत्साही होता है (यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह उपासक (कीर्त्या) वितरण रूप कीर्ति से (च) और (यशसा) विक्रम रूप यश से (च) और (ब्रह्मवर्चसेन) वृताध्ययनसमृद्धिरूप ब्रह्मतेज से (भाति) जगत् में प्रकाशित होता है (च) और (तपति) स्वकार्योत्साही होता है ॥५॥

विशेषार्थ—नेत्र ही मनोरूप परब्रह्म के पादत्रय की अपेक्षा से चौथा पाद है। वह नेत्ररूप पाद अधिदैवत् सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है और स्वकार्योत्साही होता है क्योंकि लिखा है— **आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्** ॥ (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) सूर्य देवता ने नेत्र इन्द्रिय होकर दोनों आँखों के गोलकों में प्रवेश किया ।[४ ॥ जो उपासक इस प्रकार से जानता है वह उपासक वितरणरूपकीर्ति से और विक्रमरूप यश से तथा वृत्ताध्ययनसमृद्धिरूप ब्रह्मतेज से जगत् में प्रकाशित होता है और स्वकार्योत्साही होता है या सूर्य के समान देदीप्यमान होता है ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥६॥

॥ इति तृतीयप्रपाठकेऽष्टादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ - (श्रोत्रम्) कर्ण (एव) निश्चय करके (ब्रह्मणः) मनोरूप ब्रह्म के (चतुर्थः) पादत्रय की अपेक्षा से चौथा (पादः) चरण है (सः) वह श्रोत्ररूप पाद (दिग्भिः) दिशाओं के (ज्योतिषा) प्रकाश से (भाति) प्रकाशित होता है (च) और (तपति) स्वकार्योत्साही होता है (यः) जो उपासक

(एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (य:) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार [वेद] जानता है वह उपासक (कीर्त्या] वितरणरूप कीर्ति से [च] और [यशसा] विक्रमरूप यश से [च] तथा [ब्रह्मवर्चसेन) वृत्ताध्ययन समृद्धिरूप ब्रह्मतेज से [भाति) जगत् में प्रकाशित होता है (च) और (तपति) स्वकार्योत्साही होता है ।। ६ ।।

विशेषार्थ –श्रोत्र ही मनोरूप ब्रह्म का चौथा पाद है। वह श्रोत्ररूप पाद अधिदैवत दिशाओं के प्रकाश से प्रकाशित होता है और स्वकार्योत्साही होता है। क्योंकि लिखा है—**दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्** (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० ४) दिशाओं के अभिमानी देवता ने श्रोत्र इन्द्रिय होकर दोनों कान के छिद्रों में प्रवेश किया ।।४।। जो उपासक इस प्रकार से जानता है वह उपासक वितरणरूपकीर्ति से और विक्रमरूपयश से तथा वृत्ताध्ययन समृद्धि रूप ब्रह्मतेज से जगत् में प्रकाशित होता है और स्वकार्योत्साही होता है या सूर्य के समान देदीप्यमान होता है। इस श्रुति में 'य एवं वेद' इस वाक्य का दो बार उच्चारण उक्त उपासना की समाप्ति के लिये किया गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का अठारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।। ६ ।।

।। अथैकोनविंशखण्डः ।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्। तत्समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत। तन्निरभिद्यत। ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ।। १।

अन्वयार्थ– (आदित्य.) आदित्य [ब्रह्म] ब्रह्म है [इति) ऐसा [आदेश:] उपदेश किया जाता है [तस्य] उस आदित्य ब्रह्म के (उपव्याख्यानम्] समीप में तात्त्विक व्याख्यान किया जाता है [इदम्) यह दृश्यमान जगत् [अग्रे] सृष्टि से पहले [एव] निश्चय करके [असत्] अव्याकृत नामरूप [आसीत्] था [तत्] वह अव्याकृत नामरूप जगत् (सत्] ईषन्नामरूप कर्याभिमुख [आसीत्) हुआ [तत्] वह अल्पतर नामरूप अंकुरित बीज [समभवत्) क्रम से सब प्रकार द्वारा स्थूल हो गया। (तत्] वह बीज (आण्डम्] एक गोलाकर अण्डा (निरवर्तत] हो

गया (तत्) वह अण्ड (संवत्सरस्य) एकवर्ष (मात्राम्) परिमाण यानी पर्यन्त (अशयत) एकरूप से शयन करता रहा अर्थात् उसी प्रकार स्थित पड़ा रहा फिर एकवर्ष के बाद (तत्) वह अण्ड [निरभिद्यत] फटकर दो टुकड़ा हो गया [ते) वे दोनों (आण्डकपाले) अण्डकपाल (रजतम्) चाँदी (च) और (सुवर्णम्) सुवर्णरूप (च) ही (अभवताम्) हो गये ॥१॥

विशेषार्थ— पहले अठारहवें खण्ड के दूसरे मन्त्रमें 'ब्रह्मरूप आकाश का आदित्य पाद है, यह कहा गया है। उस सूर्य में सकलब्रह्मदृष्टि करने के लिये यह खण्ड प्रारम्भ किया जाता है— सूर्य बड़ा ब्रह्म है यह उपदेश किया जाता है। उस आदित्य ब्रह्म का तात्त्विक व्याख्यान किया जाता है। सृष्टि से पहले यह स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म नाम रूप के विभाग से रहित ही था। क्योंकि लिखा है— **असद्वा इदमग्र आसीत्** ॥ (तैत्ति० उ० व०२ अनु०७ श्रु० १) सृष्टि से पहले यह स्थूल चेतनाचेतन शरीर वाला परब्रह्म नारायण अनभिव्यक्त नाम रूप वाला ही था ॥ १ ॥ वह अव्याकृत नामरूप वाला जगत् ईषन्नाम रूप वाला कार्याभिमुख हुआ क्योंकि लिखा है-**ततो वै सदजायत** । (तैत्ति० उ० व० २ अनु ० ७ श्रु० १) उस अनभिव्यक्त नाम रूप वाले परब्रह्म नारायण से ही अभिव्यक्त नामरूप वाला यह स्थावर जङ्गम जगत् उत्पन्न हुआ है ॥१॥ वह अल्पतर नामरूप वाला अंकुरित बीज क्रम से सब प्रकार का स्थूल हो गया। वह बीज एक गोलाकार पक्षी के अण्डे के समान अण्डा हो गया। क्योंकि लिखा है—**तासु बीजमवासृजत्** (मनु० अ० १ श्लो० ८) **तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्** ॥ ६ । परब्रह्म नारायण ने उस जल में सत्यसंकल्प करके अपने सामर्थ्य शक्तिरूप बीज को आरोपित किया ॥ ८ ॥ वह बीज नारायण की इच्छा से सूर्य के समान प्रभावाले सोने के समान अण्डा हो गया ॥ ६ ॥ वह गोलाकार अण्डा एकवर्ष पर्यन्त उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर एक वर्ष के बाद वह अण्डा फटकर दो टुकड़ा हो गया और भी लिखा है— **ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम्** ॥ (महोप० अ० १ श्रु० १) उसके बाद हिरण्मय तेज के रूप में अण्ड उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ **यथाण्डम्** ॥ (ऐत० उ० अ०१ खं०१ श्रु० ४) जैसे पक्षी का अण्डा होता है ॥ १ ॥ वह अण्डा फट कर एकरूप हरा और दूसरा सुनहरा हो गया। जगत्त्रयगुरु भगवद्रामानुजाचार्य ने **कारणत्वेन**

चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ (शा०मी०१।४।१४)समाकर्षात् ॥ (शा० मी० १।४।१५] इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'असदेवेदमग्र आसीत्' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

तद्रजतं सेयं पृथिवी । यत्सुवर्णं सा द्यौः । यज्जरायु ते पर्वताः । यदुल्बं स मेघो नीहारः । या धमनयस्तानद्यः। यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ – [तत्] उन दोनों कपालों में से [यत्) जो [रजतम्) नीचे का खण्ड चान्दी का था [सा] वही [इयम्) यह (पृथिवी] पृथ्वी है अर्थात् पृथ्वी से उपलक्षित अधोभागस्थ अण्डकपाल है और [यत्) जो [सुवर्णम् ऊपर का खण्ड सोना का था [सा] वही [द्यौः] द्युलोक है अर्थात् द्युलोक से उपलक्षित ऊर्ध्वभागस्थ अण्डकपाल है तथा [यत्। जो [जरायु| स्थूलगर्भपरिवेष्टन की शिरा थे (ते| वे (पर्वताः] पहाड़ हैं और [यद्] जो [उल्बम्। सूक्ष्मगर्भपरिवेष्टन था [समेघः) वह मेघ के सहित (नीहारः] हिम या कुहरा है (याः) जो (वास्तेयम्] वस्ति यानो गर्भाशयस्थ (नद्यः' नदियां हैं तथा (तत्) जो (वास्तेयम्] वस्ति यानी गर्भाशयस्थ जाल सम्बन्धी (उदकम्] जल था (स.) वह (समुद्रः) समुद्र है ॥२॥

विशेषार्थ—ऊन दोनों खण्डों में से जो नीचे का खण्ड चाँदी का था वही यह पृथ्वी हुई है। अर्थात् पृथ्वो से उपलक्षित अधोभागस्थ अण्डकपाल हुआ है। और जो ऊपर का खण्ड सोने का था वही द्युलोक हुआ है। अर्थात् द्युलोक से उपलक्षित ऊर्ध्वभागस्थ अण्डकपाल हुआ है। क्योंकि लिखा है—**ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे। मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्** ।(मनु० अ०१ श्लो० १३) उस प्रजापति ने हैम अण्ड के दोनों टुकड़ों से पृथ्वी और द्युलोक को बनाया और अण्डे के मध्य में आकाश को और आठ दिशाओं को तथा जलों के शाश्वत स्थान समुद्र को बनाया ॥ १३ ॥ तथा उस अण्डे की जो स्थूलगर्भपरिवेष्टन-जेर-मोटी झिल्ली या शिरा थी वही पर्वत हुआ और जो सूक्ष्मगर्भपरिवेष्टन—पतली झिल्लो थी वहो बादल सहित हिम या कुहरा हुआ। जो धमनियाँ थीं वे नदियों हुई तथा जो बस्ति—गर्भाशयस्थ जाल सम्बन्धी जल था वही समुद्र हुआ है ॥ २ ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः । तं जायमानं घोषा-उलूलवोऽनूदतिष्ठन्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः। तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायतनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर दोनों कपालों के उस मध्य अण्ड में [यत् जो गर्भरूप (तत्) वह एक तेजोराशि [अजायत) उत्पन्न हुई [सः] वह (असौ] यह [आदित्यः] अदिति का पुत्र सूर्य है। [तत्) उस सूर्य के [जायमानम्] उत्पन्न होते ही (अनु) पीछे से [उलूलवः] महाध्वनियुक्त [घोषाः] शब्द (च) और (सर्वाणि) सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम (भूतानि) प्राणी [च] और [सर्वे) समस्त [कामाः] सुत वित नारी आदि भोग की कामनायें [उदष्ठिन्) होती हैं। (तस्मात्)इसी कारण से (तस्य) उस सूर्य के (उदयम्) उदय के (प्रति) समय (च) और (प्रत्यायनम) सूर्यास्तके (प्रति) समय (अनु) पीछे से (उलूलवः) बहु विस्तीर्ण ध्वनियुक्त (घोषाः) पक्षियों का शब्द [च) और (सर्वाणि) सम्पूर्ण स्थाबर जङ्गम (भूतानि) प्राणी (च) और (सर्वे) समस्त (कामाः) काम्यमानस्त्रीवस्त्रादिक भोग (उत्तिष्ठन्ति) उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ इस प्रकार जब दोनों कपालों से यह जगत् कार्योन्मुख होने लगा तब दोनों कपालों के उस मध्य अण्ड में जो गर्भ रूप वह एक तेज पुञ्ज उत्पन्न हुआ वह यह सूर्य हैं। उस सूर्य के उत्पन्न होते ही पीछे से बड़े जोरों का शब्द हुआ तथा उसी से सम्पूर्ण स्थावर जाङ्गम प्राणी और सारे सुत वित नारी आदि भोग हुए हैं। इसी कारणसे सूर्योदय और सूर्यास्त समय में दीर्घ शब्दयुक्त पक्षियों के शब्द उत्पन्न होते हैं तथा सम्पूर्ण स्थावर जाङ्गम प्राणी और सारे वनिता, पुरुष, चन्दन, तेल, इतर माला पर्यङ्क, खाद्य आदि भोग भी उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वनादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनं साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन् । ४ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके एकोनविंशखण्डः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकः समाप्तः ॥

अन्वयार्थ – (ह) प्रसिद्ध है कि (यः) जो उपासक (एतत्) इस सूर्य को (एवम्) इस प्रकार पूर्वोक्तगुण विशिष्ट (विद्वान्) जानता हुआ (आदित्यम्) सूर्य (ब्रह्म) बड़ा ब्रह्म है (इति) इस प्रकार (उपास्ते) उपासना करता है (यत्) तो (सः) यह आनन्द को प्राप्त करता है (च) और (एनम्) इस सूर्य ब्रह्म की उपासना करने वाले के (उप) समीप में (अभ्याशः) अतिशीघ्र (साधवः) सुन्दर (घोषाः) शब्द (आ) भलीभाँति (गच्छेयुः) प्राप्त होते हैं (च) और (निम्रेडेरन्) वे शोभन शब्द सुख देते हैं (निम्रेडेरन्) वे सुख देते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—अब आदित्य ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है- यह सुप्रसिद्ध है कि जो उपासक इस सूर्य को इस प्रकार पूर्वोक्तगुण विशिष्ट जानता हुआ सूर्य ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है तो वह आदित्य ब्रह्मोपासक बड़ा आनन्द को प्राप्त करता है। सूर्य ब्रह्म की उपासना करने वाले के समीप में शीघ्र ही सुन्दर घोष भलीभाँति प्राप्त होते हैं। तथा वे सुन्दर शब्द आदित्यब्रह्मोपासक के लिये सुख देते हैं। इस श्रुति में 'निम्रेडेरन्' पद का दो बार उच्चारण उन्नीसवें खण्ड और तृतीय प्रपाठक की समाप्ति का सूचना करता हुआ 'द्विबद्ध सुबद्ध' न्याय से उक्त उपदेश के अत्यादर से निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। 'छान्दोग्योपनिषद' के तृतीय प्रपाठक के पहले, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, चौदहवें और उन्नीसवें खण्ड में चार चार मंत्र हैं, दूसरे, तीसरे, और चौथे खण्ड में तीन तीन मंत्र हैं ग्यारहवें और अठारहवें खण्ड में छः छः मंत्र हैं, बारहवें, खण्ड में नौ मंत्र हैं, तेरहवें खण्ड में आठ मंत्र हैं, तथा पन्द्रहवें, सोलहवें और सतरहवें खण्ड में सात सात मंत्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस तृतीय प्रपाठक में पञ्चानबे मंत्र हैं। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के तृतीय प्रपाठक का उन्नीसबाँ खण्ड और तृतीय प्रपाठक भी समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ चतुर्थप्रपाठकः ॥

॥ अथ प्रथमखण्डः ॥

जानश्रुति र्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयोबहुदायी बहुपाक्य

आस । स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्ति ॥१॥

अन्वयार्थ –(बहुपाक्यः) अभ्यागतों के लिये अपने घर पर बहुत प्रकार के पाक कराने वाला तथा (बहुदायी) दीन याचकों के लिये बहुत दान देने वाला (श्रद्धादायी) देश काल पात्र में श्रद्धा पूर्वक दान देने वाला (पौत्रायणः) पौत्र के पुत्र (ह) अतिप्रसिद्ध (जानश्रुतिः) जानश्रुत राजा के पुत्र जानश्रुति नाम का राजा (आस) किसी देश में था (ह) सुप्रसिद्ध (सः) वह धर्मात्मा जानश्रुति राजा (सवतः) सब जगह (मे) मेरे (एव) ही (अन्नम्) अन्न को (अत्स्यन्ति) सब अभ्यागत लोग भोजन करेंगे इस अभिप्राय से (सर्वतः) सर्वत्र ग्राम, नगर, मार्ग, वन, आदिक में (आवसथान्) शीत, वात, वर्षा, आतप निवारक, अन्न, जल, शयन, आच्छादन आदि से परिपूर्ण धर्मशालाओं को (मापयाञ्चक्रे) बनवाया था ॥ १ ॥

विशेषार्थ अभ्यागतों के लिये अपने गृह पर विविध प्रकार के पाक कराने वाला दीन याचकों के लिये बहुत दान देनेवाला और देशकाल पात्र में श्रद्धापूर्वक दान देने वाला। श्रद्धा के विषय में लिखा है—

श्रद्धा हि"स्वाभिमतं साधयति एतत्"इति विश्वासपूर्विका साधनेत्वरा (रामानुजभाष्यगी० १७।२) "अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा" इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसका नाम श्रद्धा है ॥ २ ॥ **त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा । सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥** (गी० अ० १७श्लो०२) **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः । ३ ॥ यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः । प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥** प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है उसको तू सुन ॥ २ ॥ हे भारत अन्तःकरण के अनुरूप सब की श्रद्धा हुआ करती है। यह पुरुष श्रद्धामय है जो जिस श्रद्धावाला है वह वही होता है ॥ ३ ॥ सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसों को और तामस लोग प्रेतों और भूतों

के समुदायों को पूजते हैं ॥ ४ ॥ पौत्रायण यानी पौत्र के पुत्र अर्थात् जिसका पिता, पितामह, प्रपितामह ये तीनों जीवित थे ऐसा जनश्रुतराजा का पुत्र जानश्रुति नाम का एक राजा भारत वर्ष में सुप्रसिद्ध था। वह धर्मात्मा जानश्रुति राजा सब दिशाओं और देशों से आकर मेरे ही अन्न को सब अभ्यागत लोग भोजन करेंगे इस आशय से सर्वत्र ग्राम, नगर, मार्ग, जङ्गल, नदी आदिक स्थलों में शीत, वात, वर्षा, आतप निवारक और अन्न, जल, शयन, आच्छादन आदि से परिपूर्ण धर्मशालाओं को बनवाया था कि जिनमें सब प्रकार के आराम यात्रियों को प्राप्त होता था। इस श्रुति में 'बहुदायी' पद से दानपति और 'बहुपाक्यः' इत्यादि पद से बहुत पक्वान्नप्रदायित्व की प्रतीति जानश्रुति राजा की होती है। मेषार्द्र संजात भगवद्रामानुजाचार्य ने —**क्षत्रियत्वगतेश्च** ॥ (शा० मी० १।३।३४) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के प्रथम खण्ड की पहली श्रुति के 'बहुदायी बहुपाक्यः' 'सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्ति' इन पादों को उद्धृत किया है। इस श्रुति से आख्यायिका के द्वारा संवर्ग विद्या प्रारम्भ की गई है ॥ १ ॥

अथ ह हंसा निशायामतिपेतुः। तद्धैवं हंसमभ्युवाद। भो भोऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य सम दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति

अन्वयार्थ —(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध है कि (हंसाः) जानश्रुति राजा के अन्नदानादिगुणों से सन्तुष्ट कुछ हंसरूप महात्मा (निशायाम्) जिस समय ग्रीष्म ऋतु में राजा शयन कर रहे थे उस समय रात्रि में (अतिपेतुः) उस जानश्रुति के घर पर उस राजा के दृष्टिगोचर आगये (तत्) तब (हंसः) उनमें से एक पीछे चलने वाला हंस (हंसम्) आगे चलने वाले दूसरे हंस से (ह) स्पष्ट (एवम्) ऐसा (अभ्युवाद) भली-भाँति कहा (अयि) ए (भो) हे (भल्लाक्ष) मन्द दृष्टि (भो) हे (भल्लाक्ष) मन्दलोचन (पौत्रायणस्य) पौत्रायण (जानश्रुतेः) जानश्रुति राजा का (ज्योतिः) तेज (दिवा) स्वर्गलोक के या दिन के समम्) समान (आततम्) फैला हुआ है (इति) इस कारण से (तत्) उस तेज को (मा प्रसाङ्क्षीः)

तुम मत स्पर्श करो (तत्) वह जानश्रुति राजा का तेज (त्वा) तुमको (मा) मत (प्रधाक्षीत्) भस्म कर डाले ॥ २ ॥

विशेषार्थ—यह प्रसिद्ध है कि उस धार्मिकाग्रेसर जानश्रुति राजा के अन्नदानादिधर्मों से सन्तुष्ट कुछेक हंसरूप महात्मा लोग उस राजा को ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न कराने की इच्छा से जिस समय ग्रीष्म ऋतु में प्रसाद पर राजा शयन कर रहे थे ठीक उसी समय रात्रि में स्वेच्छानुसार आकाश मार्ग से उस जानश्रुति राजा के घर पर आ धमके और राजकुमार के दृष्टिगोचर हो गये। हंसरूप महात्मा के विषय में लिखा है— **त्यक्त्वा पुत्रादिकं सर्वं योगमार्गव्यवस्थितः। इन्द्रियाणि मनश्चैव कर्षन् हंसोऽभिधीयते ॥**(लघुविष्णुस्मृ० अ० ४ श्लो० १९) **कृच्छ्रैश्चान्द्रायणैश्चैव तुलापुरुषसंज्ञकैः। अन्यैश्च शोषयेद्देहमाकाङ्क्षन्ब्रह्मणः पदम् ॥ २० ॥ यज्ञोपवीतं दण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणम्। अयं परिग्रहो नान्योहंसस्य श्रुतिवेदिनः ॥ २१ ॥** संपूर्ण सुत, वित, नारी आदिक को परित्याग करके योगमार्ग में विशेषरूप से अवस्थित यति दसो इन्द्रियों को और मन को आत्मा में खिंचता हुआ हंस कहा जाता है ॥ १९ ॥ परब्रह्म नारायण के पद को चाहता हुआ हंस संन्यासी कृच्छ्रव्रत तथा चान्द्रायण व्रत और तुलापुरुष संज्ञक व्रत तथा अन्य एकादशी आदि व्रतों से अपने देह को सूखा देवे ॥ २० ॥ शुक्लयज्ञोपवीत तथा त्रिदण्ड और जन्तुनिवारण काषायवस्त्र तथा चकार से कमण्डलु यही वेद वेत्ता संन्यासी हंस का परिग्रह है दूसरा नहीं ॥ २१ ॥ अथवा हंस पक्षी के रूप में आकाश मार्ग से उड़ते हुये वे महात्मा जानश्रुति राजा के दृष्टि गोचर हो गये। क्योंकि लिखा है—**कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥**(योग१ अ० १ पा० ३) सू० ४२) शरीर और आकाश के सम्बन्ध के संयम से योगी लघु तूल के समान हो जाता है और उससे आकाश में गमन होता है ॥ ४२ ॥ इससे सिद्ध हो गया कि हंस योगी योग की क्रिया से आकाश में गमन कर सकता है। आकाश में चलने वाले उन हंसों में से पीछे चलने वाले एक हंस ने आगे चलने वाले दूसरों हंस से इस प्रकार से स्पष्ट कहा कि हे! हो! मन्ददृष्टि अयि मन्ददृष्टि! पौत्रायण जानश्रुति राजाका अभ्यागत की सवा स उत्पन्न तेज द्युलोक के समान या दिन के समान फैला हुआ

है तुम उस तेज का स्पर्श मत करो। देखना कहीं जानश्रुति राजा का तेज तुझको भस्म न कर दे। पुष्कराक्ष भगवद्रमानुजाचार्य ने **शुगस्य तदना-द्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि** ॥ (शा० मी० १।३।३३)के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के प्रथम खण्ड की दूसरी श्रुति के उत्तरार्द्ध को किया उद्धृतहै ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच। कं वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वान-मिव रैक्वमात्थेति। यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति ॥३॥

अन्वयार्थ—इस प्रकार जानश्रुति की प्रशसा को सुनकर (परः) अग्रगामी दूसरे हंसने (उ) निश्चय करके (तम्) उस पृष्ठगामी हंस से (ह) स्पष्ट(प्रत्युवाच)बोला कि (अरे)अरे मन्ददृष्टि प्रियमित्र (उ)निश्चय (कम्) किस (सन्तम्) महात्म्य से युक्त (एनम्) इस जानश्रुति राजा के प्रति (सयुग्वानम्) गाड़ी वाले (रक्वम्) रैक्व ऋषि के (इव) समान (इति) इस प्रकार के (एतत्) इस प्रशंसा वचन को (आत्थ) तुम कह रहे हो। इतना सुनकर वह पृष्ठगामी हंस पूछता है कि(नु)निश्चय करके(यः) जो (सयुग्वा) शकटवाला (रैक्वः) रैक्वऋषि आप से वर्णन किया गया है, वह कथम्) कैसा है (इति) यह मुझ से आप कृपा करके कहिये ॥३॥

विशेषार्थ—इस प्रकार जानश्रुति राजा की प्रशंसा सुनकर अग्रगामी दूसरे हंस ने निश्चय करके उस पृष्ठगामी हंस से स्पष्ट कहा कि—अरे मन्ददृष्टि प्रियमित्र! किस माहात्म्य से युक्त इस जानश्रुति राजा के प्रति गाड़ीवाले रैक्वऋषि के समान तुम इस प्रशंसावचन को कह रहे हो। अर्थात् यद्यपि जानश्रुति राजा अन्नदानादि महान धर्म से संयुक्त है तो भी ब्रह्मवेत्ता नहीं है तो इस वराक अज्ञानी राजा की ज्योति कभी मुझको नहीं भस्म कर सकती है। हाँ,ब्रह्मज्ञ गाड़ीवाले रैक्वऋषि! लोकमें सबसे गुणवत्तर श्रेष्ठ हैं। उनका तेज अनतिक्रमणीय अवश्य है। यदि मोहवश कोई उस को अतिक्रमण करे तो अवश्य भस्म हो जायगा। अतः रैक्वऋषि के समान ब्रह्मज्ञान रहित इस वराक राजा की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। इस बात को सुनकर पृष्ठगामी हंस ने पूछा कि – जिस गाड़ीवाले रैक्वऋषि को आपने बतलाया है वह कैसा है यह कृपा करके आप मुझ से कहिये। युग्य नाम बैल या घोड़ का है। बैल या घोड़ा जिस में जोता जाय उसे युग्या शकटी यानी गाड़ी कहते हैं। ऐसी गाड़ी के

साथ जो सदा रहे उसे 'सयुग्वा' कहते हैं। रैक्वऋषि सर्वदा गाड़ी पर ही यात्रा किया करते थे और सदा गाड़ी के साथ रहते थे इससे लोक में 'सयुग्वा' नाम इनका प्रसिद्ध हो गया। लीलामानुषविग्रह भगवद्रामानुजाचार्य ने **शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि** ॥ (शा० मी० १।३।३३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पहले खण्ड की तीसरी श्रुति के 'कं वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ ३ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेऽयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे द्युतक्रीडा में (कृतायविजिताय) कृत नाम के चार अङ्कवाले पासे के द्वारा जीतने वाले पुरुष के लिये (अधरे] नीचे के तीन, दो, एक अङ्कवाले [अयाः] सब पासे (संयन्ति] हो जाते हैं [एवम्] वैसे ही लोक में [प्रजाः] प्रजाएँ [यत्) जो [किं+च] कुछ भी (साधु] शोभन कर्म [कुर्वन्ति] करती हैं [तत्] वह [सर्वम्) सब शुभ कर्म (एनम्] इस रैक्वऋषि को [अभिसमेति] भलीभाँति प्राप्त हो जाता है (सः] वह रैक्व (यत्] जिस वेद्यतत्त्व को वेद) जानता है (यः) जो कोई [तत) उस वेद्यतत्त्व को (वेद] जानता है (सः) वह रैक्व ऐसा है (मया] मुझसे (एतत्) उसके विषय में इति) यह (उक्तः) कह दिया गया ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार द्युतक्रीडा में चार अङ्कवाले कृत नाम के पासे के द्वारा जीतनेवाले पुरुष के अन्तर्गत नीचे के तीन, दो एक अङ्क वाले सारे पासे हो जाते हैं। उसी प्रकार लोक में प्रजाएँ जो कुछ शुभ कर्म करती हैं वे सब सत्कर्म रैक्व के कर्म के अन्तर्गत होते हैं। अर्थात् रैक्व के ज्ञान में सब ज्ञान अन्तर्गत हो जाता है। इससे इसके तुल्य संसार में कोई नहीं है। अतः मैंने तेरे से कहा था कि—'गाड़ी वाले रैक्व के समान प्रशंसा वचन को तुम कह रहे हो' इस प्रकार के रैक्वऋषि हैं यह सच्ची बात मैंने तुझसे कह दी धनुर्धरमल्लोज्जीवनदाता भागवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा० मी० १।१।१) भाविस्तर-

सकृदुपदेशात् ॥ [शा० मी० ४।१।१) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पहले खण्ड की चौथी श्रुति के 'यस्तद्वेद यत्सवेद स मयैतदुक्तः' इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥४॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच । अङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति । यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति ॥५॥

अन्वयार्थ—(पौत्रायणः) पौत्रायण (जानश्रुतिः] जानश्रुति नाम के राजा ने (उ) निश्चय करके (तत्) ब्रह्मज्ञानहीन होने से अपनी निन्दा और ब्रह्मज्ञान सम्पन्न होने से रैक्व की प्रशंसायुक्त उस हंस के वचन को (ह] स्पष्ट [उपशुश्राव) समीप में सुना [सः] वह [ह) प्रसिद्ध जानश्रुति राजा किसी प्रकार से रात को बीताकर (संजिहानः) प्रातःकाल तल्प से उठता हुआ [एव] ह। [क्षत्तारम्] क्षत्ता जाति के अपने सारथि से [उवाच) कहा कि [अरे] हे (अङ्ग] प्रिय वत्स! खेद की बात है, मेरे बारे में हंसों ने [इति] इस प्रकार वार्तालाप रात्रि में किया है [ह) प्रसिद्ध [सयुग्वानम] गाड़ीवाले (रैक्वम्) रैक्वऋषि के [इव] समान [आत्थ) जानश्रुति राजा के प्रशंसा वचन तुम कह रहे हो ऐसाः अग्रगामी हंस ने कहा तब पृष्ठगामी हंस ने पूछा कि—[नु) निश्चय करके [यः) जो [सयुग्वा]. शकटवाले [रैक्वः] रैक्वऋषि आपसे वर्णन किया गया है वह (कथम्] कैसा है [इति] यह मुझसे आप कृपा करके कहिये ॥५॥

विशेषार्थ—पौत्रायण जानश्रुति नाम के राजा ने ब्रह्मज्ञानविधुर होने से अपनी निन्दा और ब्रह्मज्ञान संयुक्त होने से रैक्वऋषि की प्रशंसा अग्रगामी हंस के मुख से समीप में ही रात्रि के समय सुन लिया। पिता, पितामह, प्रपितामह ये तीनों जिसके जीवित हों ऐसे प्रपौत्र को पौत्रायण कहते हैं। वह प्रसिद्ध जानश्रुति राजा किसी प्रकार से उस रात को बिताकर प्रातःकाल पर्यङ्क से उठते ही क्षत्ता जाति वाले अपने सारथि से कहा। क्षत्ता के विषय में लिखा है—**शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम् वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः** [मनु० अ० १०।१२) शूद्र से वैश्यास्त्री में आयोगव तथा शूद्र से क्षत्रिया स्त्री में क्षत्ता और शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में मनुष्यों में नीच चाण्डल ये

वर्ण उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥ **क्षत्तास्यात्सारथौ द्वास्थः क्षत्रियागां च शूद्रजः** ॥ (अमरको०) क्षत्रिया स्त्री में शूद्र से उत्पन्न द्वार पर रहनेवाला क्षत्ता शब्द क्षत्रियों के सारथि में प्रयुक्त होता है। हे प्रियवत्स ! खेद की बात है, आज को रात में मुझे सुना कर हंसों ने जो बात की उसको मैं तुझको कहता हूँ 'मेरे तेज का देखकर पृष्ठगामी एक हंस ने कहा कि— ओ मन्दाक्ष ! जानश्रुति राजाका तेज द्युलोक के समान फैला हुआ है। इस तेज को तुम उलंघन नहीं करना नहीं तो तेज तुमको भस्म कर डालेगा' इस बात को सुनकर उसने दूसरे अग्रगामी हंस से कहा कि— अरे मन्ददृष्टि ! सुप्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानसे युक्त शकटवाले रैक्व महर्षिके समान इस ब्रह्मज्ञानरहित वराक जानश्रुति राजा की प्रशंसा तुम कर रहे हो, इस अज्ञानी राजा के तेज से कभी नहीं मैं जल सकता हूँ" इस वचन को सुनकर पुनः पृष्ठगामी हंस ने कहा कि—जो गाड़ीवाले रैक्वऋषि आप से वर्णन किये गये वह कैसे है, यह आप मुझ से अवश्य कहिये"। चेलाचलाम्बागृहभोक्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने **क्षत्रियत्वगतेश्च** ॥ (शा० मी० १।३।३४) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पहले खण्ड की पाँचवीं श्रुति के 'स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ ५ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेऽयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥६॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे द्युतक्रीडा में (कृतायविजिताय) कृत नाम के चार अङ्कवाले पासे के द्वारा जीतने वाले पुरुष के लिये (अधरे) नीचे के तीन, दो एक अङ्कवाले (अयाः) सबपासे (संयन्ति) हो जाते हैं (एवम्) वैसे ही लोक में (प्रजाः) प्रजाएँ (यत्) जो (किं—च) कुछ भी (साधु) शुभ कर्म (कुर्वन्ति) करती हैं (तत्) वह (सर्वम्] सब शुभ कर्म [एनम्) इस रैक्वऋषि को (अभिसमेति] भलीभाँति प्राप्त हो जाता है (सः] वह रैक्व (यत्) जिस वेद्यतत्त्व को (वेद) जानता है (यः) जो कोई (तत्) उस वेद्यतत्त्व को (वेद) जानता है (सः) वह रैक्व ऐसा है (मया) मुझसे (एतत्) उसके विषय में (इति) यह (उक्तः) कह दिया ॥६॥

विशेषार्थ—तब अग्रगामी हंसने रैक्व महर्षि का चिह्न कहा कि 'जिस प्रकार द्यूतक्रीडा में चार अङ्कवाले कृत नाम के द्वारा जीतने वाले पुरुष के अन्तगत नीचे के तीन, दो, एक अङ्कवाले सारे पासे हो जाते हैं उसी प्रकार लोक में प्रजाएँ जो कुछ शुभ कर्म करती हैं वे सब सत्कर्म रैक्व के कर्म में अन्तर्गत होते हैं और जो रैक्व जानता है वही सब लोग जानते हैं। अर्थात् रैक्व के ज्ञान में सब प्राणियों का ज्ञान अन्तर्गत हो हो जाता है। इससे रैक्व महर्षि के तुल्य इस समय संसार में कोई नहीं है इस प्रकार के रैक्व का लक्षण मैंने तुमसे कह दिया। हे प्रिय वत्स ! आप उस शकटवाले रैक्व महर्षि का पूरा पता लगाइये कि कहाँ पर हैं। ज्ञान के विषय के लिखा है— **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥** (गी० १८।२०) जिस ज्ञान से सब विभक्तभूतों में एक अविभक्त एक अविनाशी भाव को देखता है उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान॥ २०॥ **पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नाना भावान् पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषुतज्ज्ञानविद्धि राजसम्** (गी० १८।२१) परन्तु जो ज्ञान पृथक् पृथक् आकार के कारण सब भूतों में विभिन्न प्रकार के पृथक् पृथक् भावों को जानता है उस ज्ञान को तू राजस जान॥ २१॥ **यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहेतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥** (गी० १८।२२) जो ज्ञान एक कार्य में पूर्ण फल वाले के समान आसक्त हो तथा हेतु से रहित मिथ्या वस्तु को विषय करने वाला और अल्प हो वह ज्ञान तामस कहलाता है॥ २२॥ कर्म के विषय में लिखा है— **नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥** (गी० १८।२३) जो शास्त्र नियत कर्म कर्तापन के सम्बन्ध से रहित बिना रागद्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है॥ २३॥ **यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥** (गी० १८।२४) परन्तु जो कर्म फलाकाँक्षी पुरुष के द्वारा अहङ्कार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है वह राजस कहलाता है॥ २४॥ **अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य**

च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।। (गी० १८।२५) अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष को न देखकर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ।। २५ ।। भागिनेयत्रिदण्डक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ।। (शा० मी० १।१।१) **आवृत्तिरसकृदुपदेशात्** । (शा०मी० ४।१।१)इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पहले खण्ड की छठवीं श्रुति के 'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त.' इस खण्ड को उद्धृत किया है ।।६।।

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय । तं होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ।।७।

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह (क्षत्ता) क्षता जाति का सारथि (अन्विष्य) ग्राम नगर आदिक में खोजकर (न) नहीं (अविदम्) मैं शकटलक्षण रैक्वऋषि को पाया (इति) इस हेतु से (प्रत्येयाय) लौट आया इस प्रकार जानश्रुति से कहा तब (ह) प्रसिद्ध जानश्रुति राजा ने (तम्) उस क्षत्ता सारथि से (उवाच) बुझाकर फिर कहा कि (अरे) अरे प्रिय वत्स (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्ता महात्माओं की (यत्र) जहाँ विविक्त देश नदी-पुलिन पर्वताग्र अरण्य आदिक में (अन्वेषणा) खोज की जाती है (तत्) वहाँ उस रैक्व महर्षि के समीप जाकर (इति) इस प्रकार के (एनम्) इस रैक्व ऋषि को (अर्च्छ) अन्वेषण करो ।।७।।

विशेषार्थ—जानश्रुति राजा की आज्ञा पाकर सुप्रसिद्ध क्षत्ता जाति के उस सारथि ने गाँव, शहर, बाजार, मेला आदिक में खोजा परन्तु कहीं पर भी उस गाड़ीवाले रैक्वऋषि को नहीं पाया तब लौटकर राजा के पास में चला आया और राजा से स्पष्ट कहा कि—हे राजन् ! मैंने सब ग्राम, नगरों में खोजा परन्तु शकटवाले रैक्वऋषि का कहीं पर कुछ पता न चला । अतः लौटकर मैं आपके पास चला आया हूँ । अब दास के लिये क्या आदेश होता है ? इस बात को सुनकर सुप्रसिद्ध जानश्रुति राजा ने समझा कर प्यार से फिर भी क्षत्ता से कहा कि—अरे प्रियवत्स ! ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा विविक्तदेश, नदी के तट पर या पर्वत के शिखर पर या वन में रहते हैं । इससे वहाँ ही जाकर उस गाड़ीवाले रैक्वऋषि को खोजो विविक्तदेश में ही महर्षि रैक्व प्राप्त होगे ।। ७।।

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश। तं हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहं ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे। स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥८॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह क्षत्ता जाति का सारथि पुनः विजन देश में (शकटस्य) गाड़ी के (अधस्तात्) नीचे (पामानम्) दाद को (कषमाणम्) खुजलाते हुये एक व्यक्ति को देखकर (उप) उनके समीप में जाकर (उपविवेश) विनय और आदर से उनके निकट बैठ गया और (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस गाड़ीवाले से (इति) यह (अभ्युवाद) पूछाकि (भगवः) हे षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्यपाद भगवन् (नु) क्या (त्वम्) आप ही (सयुग्वा) गाड़ीवाले (रैक्वः) रैक्वऋषि हैं (अरे) अरे अबोद्धा मनुष्य (हि) निश्चय करके (अहम्) मैं ही गाड़ीवाला रैक्व हूँ (इति) ऐसा कहकर (ह) प्रसिद्ध रैक्वऋषि ने (प्रतिजज्ञे) स्वीकार किया तब (ह) प्रसिद्ध (सः) वह (क्षत्ता) क्षत्ता जाति का सारथि (अविदम्) मैं महर्षि रैक्व ऋषि को जान लिया (इति) इस कारण से (प्रत्येयाय) राजा के निकट लौट आया ॥८॥

विशेषार्थ—क्षत्ता जाति के उस सारथि ने पुनः विविक्त देश में छकड़े के नीचे खाज खुजलाते हुये एक व्यक्ति को देखा और देखकर वह विनय और आदर से उनके निकट बैठ गया और बैठकर उनसे उसने पूछा कि हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन्! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक्वऋषि कहलाते हैं—इस बात को सुनकर तब ऋषि ने अरे अबोद्धा मनुष्य! मैं ही शकटवाला रैक्व कहलाता हूँ इस प्रकार उत्तर दिया। तब वह सेवक यह समझकर कि मैंने उस महर्षि रैक्व को पहचान लिया इस हेतु से राजा के निकट लौट आया। और जानश्रुति राजा से गाड़ीवाले रैक्वऋषि का पूरा ठीक पता उस क्षत्ता ने कह दिया। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का पहला खण्ड समाप्त हो गया ॥ ८ ॥

॥ अथ द्वितीयखण्डः ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे। तं हाभ्युवाद ॥१॥

अन्वयार्थ —(तदा) तब तुरन्त ही (उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (पौत्रायणः) पौत्रायण (जानश्रुतिः) जानश्रुति नाम के राजा ने (षट्) छः (शतानि) सौ (गवाम्) गौएँ (निष्कम्) एक कण्ठ के आभरण और (अश्वतरीरथम्) खच्चरियों से युक्त रथ (तत्) इन पूर्वोक्त सब वस्तुओं को (आदाय) लेकर (प्रतिचक्रमे) रैक्वऋषि के समीप गया और (ह) प्रसिद्ध (तं) उस गाड़ीवाले रैक्वऋषि से (अभ्युवाद) जानश्रुति राजा ने वक्ष्यमाण बात को कहा ॥ १ ॥

विशेषार्थ —जब क्षत्ताके द्वारा रैक्वका ठीक पता राजाने जान लिया तब तुरन्त ही पौत्रायण जानश्रुति राजा—छः सौ गौएँ तथा एक कण्ठ का हार और खच्चरियों से जुता हुआ रथ लेकर रैक्व महर्षि के समीप गया और साष्टाङ्ग प्रणिपात करके सुप्रसिद्ध गाड़ीवाले रैक्व ऋषि से सविनय प्रणिपात करके वक्ष्यमाण बात को कहा। गौ के विषय में लिखा है— **विषाणी ककुद्मान्प्रान्ते बालधिस्सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम्** (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ८) सींग डील प्रान्त में बालाध और गर्दन में ललरी जिसको हो उसको गौ कहते हैं॥ ८ ॥ निष्क के विषय में लिखा है— **साष्टे शते सुवर्णानां हेम्न्युरोभूषणे दले। दीनारेऽपि च निष्कोऽस्त्री** ॥(अमरको०) एक सौ आठ सुवर्ण-मोहर का समूह, सुवर्णमात्र, उरोभूषण, एकपल और दीनार इन सब के अर्थ में निष्क शब्द का प्रयोग होता। और **असमासे निष्कादिभ्यः** ॥ (पाणि० व्या० अ० ५।१।२०) **द्वि त्रि पूर्वान्निष्कात्** ॥(पाणि० व्या० अ०५।१।३०)इन सूत्रों से विदित होता है कि निष्क एक सिक्काविशेष का नाम था। मालूम होता है कि जिस प्रकार आजकल रुपये का हयकल बनाकर उसे कण्ठ में लटका लेते हैं उसी प्रकार पूर्व समय में निष्क नाम के बहुमूल्य सिक्के का हयकल बनाकर कण्ठ में धारण करते थे वही पीछे उरोभूषण हो गया हो। अश्वा में गर्दभ आदि से जो पशु उत्पन्न हो उसे अश्वतर कहते हैं। जिसको भाषा में प्रायः खच्चर कहते हैं। और अश्वतर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में अश्वतरी शब्द बना है ॥ १ ॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो-ऽनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—[रैक्व] हे महर्षे रैक्व (इमानि) ये (षट्) छः (शतानि) सौ (गवाम्) गौएँ (अयम्) यह (निष्कः) कण्ठ का आभारण हार और (अयम्) यह (अश्वतरीरथः) खच्चरियों से युक्त रथ, मैं ने आपके लिये लाया है आप इस धन को स्वीकार कीजिये (अनु) पश्चात् (भगवः) हे षडैश्वर्यसंपन्न भगवन् (याम्) जिस (देवताम्) देवता की उपास्से) उपासना आप करते हैं (एताम्) उस (देवताम् देवता का (मे) मेरे लिये (शाधि) उपदेश दीजिये (इति) यही आप से मेरी प्रार्थना है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जानश्रुति राजा कहता है कि—हे रैक्व महर्षे ये छः सौ गौएँ तथा यह एक कण्ठका आभरण हार और यह खचिरियों से जुता हुआ रथ मैं आपके लिये लाया हूँ। आप इस धन को स्वीकार कीजिये और हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं उस देवता का उपदेश मुझे आप दीजिये। यही आपसे मेरी प्रार्थना हैं। इस श्रुति में **यथा देवे तथा गुरौ** ॥ (श्वे० उ० अ०६ श्रु०२३। शाट्या यनीयो० श्रु० ३७) जिस प्रकार परमात्मा देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी ॥२३॥३७॥ इस श्रौत सिद्धान्त को जनाने के लिये आचार्य रैक्व में 'भगवः' पद का प्रयोग हुआ है। यतिक्षितिपति भगवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥(शा० मी० १।१।१) **शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि** ॥ (शा० मी० १।३।३३) **आवृत्तिरसकृदुपदेशात्** (शा० मी० ४।१।१) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्'के चतुर्थ प्रपाठक के दूसरे खण्ड की दूसरी श्रुति के 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥२॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु। तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ।३॥

अन्वयार्थ—(अह आश्चर्ययुक्त योग का महिमा से तीन लोक को जाननेवाला (ह) प्रसिद्ध (परः) सबसे श्रेष्ठ मान्य रैक्व महर्षि ने (उ) निश्चय करके (तम्) ब्रह्मज्ञानविधुरतानिमित्त अनादरयुक्त हमके वाक्य श्रवण से शोकाविष्ट उस जानश्रुति राजा से (इति) इस प्रकार के (प्रत्युवाच) कहा कि (शूद्र) हे शोचनेवाला शूद्र (गोभिः) छः सौ गौओं के

(स) सहित (हारेत्वा) निष्कहारहार से युक्त गमन करने वाला रथ (तव) तेरे पास में (एव) निश्चय करके) अस्तु) रहे। क्योंकि स्त्री हीन और ग्राम गृहादि शून्य मैं कैसे गौओं की तथा रथादि की रक्षा करुँगा। और अल्पधन दान से कैसे तेरी ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होगी। इस वचनको सुनकर (तदा) तब तुरन्त ही(उ) निश्चय करके (तत्)उस रैक्वऋषि के अभिप्रायको जानता हुआ (ह) प्रसिद्ध(पौत्रायण:) पौत्रायण (जानश्रुति:) जानश्रुति नाम के राजा ने (सहस्रम्) एक हजार (गवाम्) गौएँ तथा (निष्कम्) एक निष्करूप कण्ठके आभरणहार और (अश्वतरीरथम्) खच्चरियों से जुता हुआ रथ तथा (दुहितरम्) रैक्व के विवाह करने के लिये अपनी कन्या को और निवास के लिये वहाँ के ग्राम के दानपात्र को (आदाय)लेकर (पुन:) फिर से (एव निश्चय करके (प्रतिचक्रमे)रैक्व ऋषि के निकट चला गया॥ ३॥

विशेषार्थ—आश्चर्य युक्त योग की महिमा से तीन लोक के जानने वाले प्रसिद्ध सबसे श्रेष्ठ मान्य रैक्व महर्षि ने निश्चय करके ब्रह्मज्ञान रहित होने से अनादरयुक्त अग्रगामी हंस के वचनसुनने से शोकाविष्ट उस जानश्रुति राजा से ऐसा कहा कि—हे शोचने वाला शूद्र! छ: सौ गौओं के सहित यह निष्करूप हार से युक्त गमन करने वाला रथ तेरे ही पास रहे। क्योंकि कलत्रहीन तथा ग्राम गृहादि शून्य मैं कैसे छ: सौ गौओं के साथ खच्चरियों से जुता हुआ रथादि की रक्षा करुँगा। और थोड़ा धन देनसे कैसे तेरी ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित होगी। इस बातको सुनकर तब तुरन्त ही उस रैक्व महर्षि के अभिप्राय को जानता हुआ राजा वहाँ से अपनी राजधानी में चला गया और फिर से वह सुप्रसिद्ध पौत्रायण जानश्रुति राजा एक सहस्त्र गौएँ तथा निष्करूप कण्ठ के आभरण हार और खच्चरियों से जुता रथ तथा रैक्वऋषि के विवाह करने के लिये अपनी कन्या को और आवासार्थ वहाँ के ग्राम के दानपात्र को साथ लेकर रैक्व महर्षि के पास चला गया। कृपामात्र प्रसन्नर्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि॥** (शा० मी०) १।३।३३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के दूसरे खण्ड की तीसरी श्रुति के 'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' इस वाक्य को उद्धृत कियाहैं॥ ३॥

तं हाभ्युवाद रैक्वेदं सहस्त्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वत-

ऽरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥४॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (तम्) उस गाड़ीवाले रैक्वऋषि से (अभ्युवाद) जानश्रुति राजा ने कहा कि (रैक्व) हे रैक्व महर्षि (इदम्) यह (सहस्रम्) एक हजार (गवाम्) गौएँ (अयम्) यह निष्कः) निष्करूप कण्ठाभरण हार (अयम्) यह (अश्वतरीरथः) खच्चरियों से जुता हुआ रथ (इयम्) यह (जाया) आपकी पत्नी होने के लिये मेरी कन्या और (यस्मिन्) जिस ग्राम में (आस्से) आप रहते हैं (अयम्) यह (ग्रामः) ग्राम आप के लिये है। इससे आप इन सबको कृपापूर्वक स्वीकार कीजिये (अनु) तत्पश्चात् (भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन् (एव) निश्चय) करके जिस देवता की उपासना आप करते हैं उस देवता के विषय में (मा) मुझको (शाधि) उपदेश कीजिये (इति) यही आप से मेरी प्रार्थना है ॥[४ ॥

विशेषार्थ—पौत्रायण जानश्रुति राजा ने उस सुप्रसिद्ध गाड़ीवाले रैक्वऋषि से कहा कि—हे रैक्व महर्षे यह एक सहस्र गौएँ तथा यह निष्करूप कण्ठाभरण हार और यह खच्चरियों से जुता हुआ रथ तथा यह आपकी धर्मपत्नी होने के लिये मेरी कन्या और जिस ग्राम में आप रहते हैं यह ग्राम आपके लिये है, इससे आप इन सबको कृपापूर्वक स्वीकार कीजिये। इसके बाद हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन् ! निश्चय करके जिस देवता की उपासना आप करते हैं उस देवता के विषय में मुझे उपदेश कीजिये यही आपसे मेरी प्रार्थना है। इस श्रुति में—

यथा देवे तथा गुरौ ॥(श्वे०उ०अ०६ श्रु०२३ ॥ शाट्या० उ० श्रु०३७
जिस प्रकार परमात्मा देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी ॥ २३ ॥ ३७ ॥
इस श्रौत सिद्धान्त को जानने के लिये आचार्य रैक्व में 'भगवः' पद का प्रयोग हुआ है ॥४॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच । आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथा इति । ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास । तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तस्याः) उस राजकन्या के (मुखम् मुख को (उपोद्गृह्णन्) प्यार करता हुआ अर्थात् यह उपायन रूप है ऐसा अङ्गीकार करता हुआ [ह) प्रसिद्ध [उवाच) रैक्व महर्षि ने कहा कि (शूद्र) हे शोचने वाला शूद्र (इमाः) ये गौ आदिक दक्षिणाएँ (आजहार) तू लाया है सो ठीक ही किया है इति] क्योंकि (एव) निश्चय करके (अनेन] इस विद्या ग्रहण के [मुखेन) उपाय से [आलापयिष्यथाः) मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेशक तू करोगे [यत्र] जिस ग्राम में [उवास] रैक्व महर्षि रहते थे [महावृषेषु] महावृष नाम के देश में [ति] वे [एते] ये ग्राम [रैक्वपर्णाः] रैक्वपर्णा [नाम] से [ह] प्रसिद्ध है। उन ग्रामों को [अस्मै] इस रैक्वऋषि के लिये जानश्रुति राजा ने दे दिया तब [तस्मै] उस दक्षिणा देनेवाले राजा से [ह] प्रसिद्ध शकटवाले रैक्व महर्षि ने [उवाच] अपने उपास्य देवता को भलोभाँति कहा ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जानश्रुति राजा की उस पुत्री के मुख को प्यार करता हुआ अर्थात् यह उपायनरूप है ऐसा अङ्गीकार करता हुआ प्रसिद्ध रैक्व महर्षि ने कहा कि-हे शोकाविष्ट शूद्र ! ये गौआदिक दक्षिणाएँ जो अपनी शक्ति के अनुसार तू ने लायीं है वह अच्छा ही किया है। क्योंकि निश्चय करके इस विद्या ग्रहण के मुख—उपाय से चिर काल तक बिना सेवा किये हुये ही मुझको ब्रह्मोपदेशरूप वाक्य को भाषण करनेवाला तू कराता है। इस प्रकार जिस ग्राम में रैक्व ऋषि रहते थे उन ग्रामों का नाम महावृषदेश में रैक्वपर्णा नाम का प्रसिद्ध हैं। जिस ग्राम में रैक्वऋषि रहते थे उस ग्राम को भी रैक्वऋषि के लिये जानश्रुति राजा ने दे दिया। तब दक्षिणा देनेवाले जानश्रुति राजा से प्रसिद्ध गाड़ीवाले रैक्वऋषि ने जिस देवता की उपासना करते थे उस अपने उपास्य देवता को भलीभाँति कहा हैं। इस श्रुति में शूद्र शब्द का रूढि से चतुर्थवर्णविशेष अर्थ नहीं है। क्योंकि चतुर्थवर्ण का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है। कृपा कूपापार भगवद्रामानुजाचार्य ने **शुगस्य तदानादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि**। (शा० मी० १।३।३३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थप्रपाठक के दूसरे खण्ड की पाँचवीं श्रुति के 'आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः, इस वाक्य को उद्धृत किया है। हाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ५ ॥

॥ अथ तृतीयखण्डः ॥

वायुर्वाव संवर्गः । यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

अन्वयार्थ (वायुः) वायु (वाव) निश्चय करके (संवर्गः) संवर्जन नाम के गुण के योग से संवर्ग है अर्थात् संवर्गगुण वाला वायु ध्यान करने योग्य है (यदा) जब (वै) निश्चय करके (अग्निः) अग्नि(उद्वायति) बुझती है तब (वायुम्) वायु में (एव) ही (अप्येति) लीन होती है और (यदा) जब (सूर्यः) सूर्य (अस्तम्) अस्त (एति) होता है तब (वायुम्) वायु में (एव) निश्चय करके (अप्येति) लीन होता है और (यदा) जब (चन्द्रः) चन्द्रमा (अस्तम्) अस्त (एति) होता तब (वायुम्) वायु में (एव) ही (अप्येति) लीन होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—वायु ही संवर्जन नाम के गुण के योग से संवर्ग है। संवर्जन यानी संग्रहण अर्थात् एक करके ग्रहण करना है अर्थात् संवर्ग गुण वाला वायु ध्यान करने योग्य है। इस श्रुति में वायु शब्द से वायु शरीरक परमात्मा कहा जाता है। परब्रह्म नारायण का वायु शरीर है क्योंकि लिखा—**यस्य वायुः शरीरम्** ॥ (बृहदा० उ० अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० ७) जिस परब्रह्म नारायण का वायु शरीर है ॥७॥ **यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद** ।. (सुबालोप० खं० ०) जिस नारायण का वायु शरीर है, जो परमात्मा वायु के भीतर रहता है, जिसको वायु नहीं जानती है ॥७॥ जब अग्नि बुझती है तब वायु में ही लीन होती है। तथा जब सूर्य अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है। अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के विषय में मैं पहले लिख चुका हूँ। यहाँ वायु शब्द वायु शरीरक परमात्मा का वाचक है ॥ १ ॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति । वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (आप:) जल (उच्छुष्यन्ति) सूखता है तब (वायुम्) वायु में (एव) ही अपियन्ति) लीन होता है (हि) क्योंकि (वायु:) वायु (एव) निश्चय करके (एतान्) इन (सर्वान्) सब अग्नि सूर्य, चन्द्र और जल को (संवृङ्क्ते) अपने में एक करके ग्रहण करती है (इति) यह (अधिदैवतम्) देवता सम्बन्धी संवर्ग है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जब जल सूखता है तब वायु में ही लीन होता है। क्योंकि निश्चय करके वायु ही इन अग्नि सूर्य, चन्द्र और सब जल को अपने में एक करके लीन कर लेती है। यह अधिदैवतसंवर्ग कहा गया है। इस श्रुति में वायु शब्द शरीरक परब्रह्म नारायण का वाचक है। परमात्मा का वायु शरीर है क्योंकि लिखा हैं—**यस्य वायुः शरीरम्** ॥ (बृह० उ० अ० ३ ब्रा०८ श्रु०७। सुबालोप० खं० ७) जिस नारायण का वायु शरीर है ॥ ७ ॥ ७ ॥ यहाँ देवता सम्बन्धी संवर्ग समाप्त हो गया ॥ २ ॥

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति। प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) अधिदैवत संवर्गोपासना के वर्णन के अनन्तर (अध्यात्मम्) अध्यात्मसंवर्गोपासना का वर्णन किया जाता है (प्राण:) शरीरान्तः संचारी प्राण (वाव) निश्चय करके (संवर्ग:) संवर्जन नाम के गुण के योग से संवर्ग है। इससे संवर्ग गुण वाले प्राण की उपासना करे (यदा) जब (स:) वह पुरुष (स्वपिति) सोता है तब (वाक्) वाणी इन्द्रिय (प्राणम्) प्राण में (एव) ही (अप्येति) लीन हो जाती है तथा (चक्षु:) नेत्र इन्द्रिय (प्राणम्) प्राण में ही लीन हो जाती है और (श्रोत्रम्) कर्ण इन्द्रिय (प्राणम्) प्राण में ही लीन हो जाती है तथा(मन:) दसों इन्द्रियों का राजा संकल्प विकल्पात्मक मन (प्राणम्) प्राण में लीन हो जाता है (हि) क्योंकि (प्राण:) प्राण (एव) निश्चय करके (इति) इस प्रकार के (एतान्) इन (सर्वान्) सब वाक्, नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को और मन को (संवृङ्क्ते) अपने में एक करके ग्रहण करता है ॥३॥

विशेषार्थ—अधिदैवत संवर्गोपासना कहने के बाद अब अध्यात्म

यानी शरीर सम्बन्धी संवर्गोपासना का वर्णन किया जाता है। निश्चय करके प्राण ही संवर्जन नामके गुण के योग से संवर्ग है। संवर्जन यानी संग्रहण अर्थात् एक करके ग्रहण करना है। इससे संवर्ग गुण वाला प्राण उपासना करने योग्य है। इस श्रुति में प्राण शब्द से प्राण शरीरक परमात्मा कहा जाता है। परब्रह्म नारायण का प्राण शरीर है, क्योंकि लिखा है—**यस्य प्राणः शरीरम्** ॥ (वृह० उ० अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० १६) जिस परब्रह्म नारायण का प्राण शरीर है ॥१६॥ जब यह पुरुष सोता है तब वाक् इन्द्रिया प्राण में ही लीन हो जाती है तथा श्रोत्र इन्द्रिय भी प्राण में ही लीन हो जाती है। इसी प्रकार नेत्र इन्द्रिय भी प्राण में ही लीन हो जाती है तथा श्रोत्रेन्द्रिय भी प्राण में ही लीन हो जाती है। इसी प्रकार दसों इन्द्रियों का राजा संकल्प विकल्पात्मक मन भी प्राण में ही लीन हो जाता है क्योंकि निश्चय करके प्राण ही इस प्रकार से इन सब वाक्, नेत्र, श्रोत्र आदिक इन्द्रियों को और दसों इन्द्रियों के राजा संकल्प विकल्पात्मक मन को भी अपने में एक करके ग्रहण करता है। यह अध्यात्म संवर्गोपासना का वर्णन है ॥ ३ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥४॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (तौ) वे (एतौ) ये (द्वौ) दो (संवर्गौ) संवर्ग हैं (देवेषु) देवताओं में (वायुः) वायु और [एव] निश्चय करके [प्राणेषु] वाक् आदि इन्द्रियों में [प्राणः) प्राण है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ - यहाँ कहे हुए अर्थ का उपसंहार करते हैं कि—निश्चय करके वे ये अधिदैवत और अध्यात्म भेद से संवर्ग दो प्रकार के हैं देवताओं में वायु शरीरक परमात्मा संवर्ग है। और वाक्, नेत्र, श्रोत्र आदिक इन्द्रियों में प्राण शरीरक परब्रह्म नारायण संवर्ग है। इस श्रुति में 'वायुः' और 'प्राणः' ये दोनो पद वायु और प्राण शरीर वाला परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है—**यस्य वायुः शरीरम्** ॥ (वृह० उ० अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० ७) **यस्य प्राणः शरीरम्** ॥ १६ ॥ वायु जिस नारायण का शरीर है ॥ ७ ॥ जिस परमात्मा का प्राण शरीर है ॥ १६ ॥ इस श्रुति से दो प्रकार का संवर्ग कहा गया है ॥४॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं

परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे। तस्मा उ ह न ददतुः ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध एक बार (कापेयम्) कपि गोत्र में उत्पन्न (शौनकम् शुनक का पुत्र शौनक (च) और (काक्षसेनिम्) कक्षसेन का पुत्र (अभिप्रतारिणम्) अभिप्रतारी नाम वाले से (च) निश्चय (परिविष्यमाणौ) जबकि उन्हें भोजनार्थ विविध अन्नादि सूपकार दे रहे थे उसी समय में (ब्रह्मचारी) एक संवर्गोपासक ब्रह्मचारी ने (बिभिक्षे) उन दोनों से भिक्षा माँगी परन्तु (उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध संवर्गविद्यानिष्ठ दुरभिमानी यह ब्रह्मचारी जो कहेगा उस भाषण को हम दोनों सुनेंगे इस बुद्धि से वे दोनों शौनक और अभिप्रतारी (तस्मै) उस संवर्गोपासक ब्रह्मचारी के लिये भिक्षा (न) नहीं (ददतुः) दिये ॥५॥

विशेषार्थ—संवर्गविद्या की स्तुति के लिये एक ब्रह्मचारी की आख्यायिका को स्वतः श्रुति कहती है कि—एक समय कपिगोत्र में उत्पन्न शुनक का पुत्र शौनक और कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी से जबकि उन्हें भोजन के लिये अनेक प्रकार के अन्नादिक पाचक परोस रहे थे उसी समय में एक संवर्गोपासक ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी। परन्तु सुप्रसिद्ध संवर्गविद्या-निष्ठ दुरभिमानी यह ब्रह्मचारी जो वचनामृत कहेगा उस उपदेश को हम दोनों सुनेंगे इस बुद्धि से दोनों शौनक और अभिप्रतारी ने उस संवर्गोपासक ब्रह्मचारी के लिये भिक्षा नहीं दी इस श्रुति में अभि-प्रतारी क्षत्रिया और कापेय शौनक और ब्रह्मचारी ब्राह्मण कहे गये हैं। क्योंकि अन्यत्र स्पष्ट लिखा—**एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन् ॥** (ताण्ड्यब्रा० २।१२।५)कपिगोत्रोत्पन्न शौनकादिक निश्चय करके इस वेद विधि से चैत्ररथ को यजन कराये ॥ ५ ॥ इस श्रुति के द्वारा कापेय सम्बन्धी चैत्ररथ सुना जाता है और **तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिर-जायत ॥** (शतपथ ११।५।३।१३) उससे चैत्ररथ नामका एक क्षत्रपति राजा उत्पन्न हुआ ॥१३॥ इस श्रुति से चैत्ररथ क्षत्रिय सुना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी क्षत्रिय है। और दो कापेय और ब्रह्मचारी ब्राह्मण हैं। कापेय ने यज्ञ कराया है अतः ब्राह्मण हैं क्योंकि लिखा है—**अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ८८)

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥८६ । वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान लेना, दान देना, यह कर्म ब्राह्मण के निमित्त प्रभु ने कल्पना किया ॥८॥ प्रजा की रक्षा दानयज्ञ, वेदपाठ विषयों में अनासक्ति यह कर्म संक्षेप से क्षत्रियों के निमित है ॥८६॥ ब्रह्मचारी की भिक्षा के विषय में लिखा है—**द्विजातिषु चरेद्भैक्षं भिक्षाकाले समागते । निवेद्यगुरवेऽश्नीयात् संमतो गुरुणा व्रती ॥** (लघुविष्णुस्मृ० अ० १ श्लो० २२)**सायं सन्ध्यामुपासीनो गायत्र्यष्टशतं जपेत् । द्विकालभोजनार्थं च तथैव पुनराहरेत्** ॥२३। भिक्षा के समय आने पर ब्रह्मचारी द्विजातियों के घर पर भिक्षा ग्रहण करे और उस भिक्षा को गुरु के लिये निवेदन करके गुरु की आज्ञा से ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाला भोजन करे ॥ २२ ॥ सायं सन्ध्या करता हुआ ब्रह्मचारी एक सौ आठ बार गायत्री मंत्र का जप करे तथा सायं काल में भी भोजन के लिये वैसे ही । फिर भी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्या के घर से भिक्षा माँगकर गुरु के लिये निवेदन करके गुरु की आज्ञा से भोजन करे ॥ २३ ॥ प्रणतार्तिनाशन भगवद्रामानुजाचार्य ने **उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्** ॥ (शा० मो० १।३।३५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के तीसरे खण्ड की पाँचवीं श्रुति के 'अथ ह शौनक च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ ५ ॥

स होवाच । महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तम् । यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥६ ।

अन्वयार्थ – (ह) प्रसिद्ध (सः) वह ब्रह्मचारी (उवाच) शौनक और अभिप्रतारी से बोला कि (भुवनस्य) सम्पूर्ण लोक का (गोपाः) रक्षक (सः) वह (एकः) एक ही (देवः) वायु प्राणरूपी देव (कः) प्रजापति ने चतुरः) चार अधिदैवत (महात्मनः) अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल रूप बड़े देवों का और चार अध्यात्मवाक्, चक्षु: श्रोत्र तथा मन रूप इन बड़ी इन्द्रियों

को (जगार) ग्रस लिया है (कापेय) हे कपिगोत्रोत्पन्न शौनक और (अभिप्रतारिन्) हे कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारिन् (मर्त्याः) अविद्या से मोहित मरणधर्मा अज्ञानी मनुष्य (बहुधा) बहुत रूप से (वसन्तम्) निवास करते हुए (तम्) उस एक प्रजापति देव को (न) नहीं (अभिपश्यन्ति) भलीभाँति जानते हैं (वै) निश्चय करके (एतत्) यह सम्पूर्ण जगत् (यस्मै) जिस संवर्ग प्रजापति के लिये (अन्नम्) अन्न है (तस्मै) उस ब्रह्मचारी के रूप में माँगने वाले भगवान् के लिये (एतत्) यह अन्न (न) नहीं (दत्तम् दिया गया (इति) इस प्रकार के उन दोनों के प्रतिनिन्दात्मक वचन कहा गया है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—वह सुप्रसिद्ध ब्राह्मण ब्रह्मचारी शौनक और अभिप्रतारी राजा से कहने लगा कि—महातल १, रसातल, अतल ३, सुतल ४, वितल ५, तलातल ६, पाताल ७, भूलोक ८, अन्तरिक्षलोक ९, स्वर्गलोक १०, महर्लोक ११, जनलोक १२, तपलोक १३, और सत्यलोक १४, इन चौदह भुवनों के रक्षक वह एक ही वायु प्राणरूपी देव सुखस्वरूप प्रजापति अधिदैवत अग्नि १, सूर्य २, चन्द्र ३, और जल ४, इन चारों को तथा अध्यात्म वाणी १, नेत्र २, श्रोत्र ३, और मन ४' इन चारों इन्द्रियों को खाया करता है। हे कपिगोत्रोत्पन्न शौनक ब्राह्मण और हे कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारिन् क्षत्रिय अविद्या से मोहित मरणधर्मा अज्ञानी मनुष्य बहुतरूप से निवास करते हुए उस प्रजापति दिव्यदेव को नहीं भलीभाँति जानते हैं। निश्चय करके यह समस्त जगत् जिस संवर्ग प्रजापति के लिये अन्न है उस ब्रह्मचारी के रूप से भिक्षा माँगने वाले चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्मनारायाण के लिये यह अन्न आप लोगों से नहीं दिया गया। इस प्रकार के उन दोनों के प्रति स्पष्ट ब्रह्मचारी ने कहा कापेय शौनक ऋषि ने चैत्ररथ राजा का यज्ञ करवाया है। क्योंकि लिखा है कि—**एतेन वै चैत्ररथ कापेया अयाजयन्** ॥ ताण्ड्यब्रा० २०।१२।५) निश्चय इस वेद विधि से कापेय शौनक ने चैत्ररथ राजा का यज्ञ करवाया ॥५॥ आचार्य शौनक ऋषि चक्राङ्कित हैं क्योंकि लिखा है—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि।

(पाण्डवगी० श्लो० १) प्रह्लाद १, नारद २, पराशर ३, पुण्डरीक ४, व्यास ५, अम्बरीष ६, शुकदेव ७, शौनक ८, भीष्म ९, दाल्भ्य १०,

रुक्म ११, अङ्गद १२, अर्जुन १३, वसिष्ठ १४, विभीषण १५, आदिक पवित्र इन श्रेष्ठ भागवतों को स्मरण करता हूँ ॥ १ ॥ इस श्लोक में पठित भागवतों के मध्य में आठवें नम्बर के शौनक हैं, और भागवत का लक्षण लिखा है— **अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञाः पञ्चसंस्कारसंस्कृताः । आकारत्रयसंपन्नास्ते वै भागवताः स्मृताः ॥** (पराशरीयधर्मशास्त्र०) उत्तरखण्ड अ० १० श्लो० ६) स्वस्वरूप १, परस्वरूप २, पुरुषार्थ स्वरूप ३, उपायस्वरूप ४ और विरोधिस्वरूप ५ इस पाँचों तत्त्वों के अर्थों के जो जानने वाले हों और ताप १, पुण्ड्र २, नाम ३ मंत्र ४, और याग ५ इन पाँच संस्कारों से जो संस्कृत हों तथा अनन्यार्हशेषत्व १, अनन्यभोग्यत्व २ तथा अनन्यशरणत्व ३ रूप तीन आकारोंसे जो सम्पन्न हों उनको निश्चय करके भागवत कहे हैं ॥१॥ **तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्या कर्मकारकः । अर्थपञ्चकविद्विप्रो महाभागवतः स्मृतः ॥**(पद्मपु० उत्तरखं०६) अ० २५३ श्लो० २७) तापादिक पाँच संस्कार वाले तथा नवेज्याकर्म को करने वाले और अर्थपञ्चक को जानने वाले विप्र को श्रेष्ठ भागवत कहे हैं ॥२७॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि शौनक ऋषि चक्राङ्कित हैं ॥ ६ ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयाय । आत्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥७॥

अन्वयार्थ—(उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (कापेयः) कपिगोत्रोत्पन्न (शौनकः) शुनक पुत्र शौनक ऋषि (तत्) ब्रह्मचारी के उस वचन को (प्रतिमन्वानः) मन से बार बार विचारता हुआ (प्रत्येयाय) ब्रह्मचारी के समीप आया और आकर वक्ष्यमाण रीति से बोला कि (देवानाम्) ब्रह्मा, इन्द्र आदिक देवताओं का (आत्मा) नियन्ता और (प्रजानाम्) समस्त प्रजाओं का (जनिता) उत्पत्तिकर्ता (हिरण्यदंष्ट्रः) कमनीय दाँत से युक्त अथवा हिरण्य विदारक दाँत से युक्त (बभसः भक्षणशील यानी संहारक (अनसूरिः) महा विपश्चित है (अस्य) इस नृसिंह परमात्मा की (महिमानम्) महिमा को (महान्तम्) महान् सबसे श्रेष्ठ (आहुः) ब्रह्म

वेत्ता लोग कहते हैं (यत्) जो (अनद्यमानः) स्वयं दूसरों से नहीं भक्षण होता हुआ (अनन्नम्) जो वस्तुतः अन्न नहीं है उस वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदिक को (अत्ति) भक्षण कर जाता है (इति) यह परमात्मा ही संवर्ग है (ब्रह्मचारिन्) हे ब्रह्मचारिन् (वै) निश्चय (वयम्) हमलोग (इदम्) इस परमात्मा की (आ) अच्छी तरह (उपास्महे) उपासना करते हैं। आप का कहा हुआ प्रजापति रूप संवर्ग की उपासना हमलोग नहीं करते हैं आप यथार्थ संवर्ग नहीं जानते हैं (इति) ऐसा ब्रह्मचारी से कहकर कापेय शौनक ने अपने परिचारकोंसे कहा कि हे किङ्करो(अस्मै)इस ब्रह्मचारी के लिये (भिक्षाम्) भिक्षा को(दत्त)दो, यह शौनक ऋषि का प्रवचन है ॥७॥

विशेषार्थ—निश्चय करके प्रसिद्ध कपि गोत्रोत्पन्न शौनक ऋषि ब्रह्मचारी के उस वचन को पुनः पुनः मन में विचारता हुआ उस ब्रह्मचारी के निकट आया और वक्ष्यमाण रीति से बोला कि—ब्रह्मा, रुद्र इन्द्र आदिक देवताओं के नियन्ता और समस्त प्रजाओं के उत्पन्न करने वाला कमनीय दाँत से युक्त अथवा हिरण्या विदारक दाँत से युक्त भक्षण शील यानी असुरसंहारक परमविज्ञानी महाविपश्चित् है। इस नृसिंह परमात्मा की महिमा को महान् सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। जो स्वयं दूसरों से भक्षण नहीं होता हुआ और जो वस्तुतः अन्न नहीं है उस वाणी, चक्षुः श्रोत्र आदिक को भक्षण कर जाता है। यह परमात्मा ही संवर्ग है। हे ब्रह्मचारिन् ! निश्चय करके हमलोग परमात्मा की अच्छी तरह उपासना करते हैं। आपका कहा हुआ प्रजापतिरूपसंवर्ग की उपासना हमलोग नहीं करते हैं। आप यथार्थ संवर्ग नहीं जानते हैं। इस प्रकार उस ब्राह्मण ब्रह्मचारी से कहकर कपिगोत्रोत्पन्न शौनक ब्राह्मण ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि हे किङ्करो ! इस अतिथि ब्रह्मचारी को भिक्षा दो। क्योंकि लिखा है—**वैश्वानरः प्रविशत्यतिथि र्ब्राह्मणो गृहान्। तस्मैतां शान्तिं कुर्वन्ति** (कठो० अ० १ श्रु० ७) **आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्। एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ।** साक्षात् अग्नि देवता की ब्राह्मणरूप अतिथि होकर घरों में पधारते हैं। उस अतिथि की साधु पुरुष ऐसे अर्घ्यपाद्य आदि के द्वारा शान्ति को किया करते हैं ॥७॥ जिस मन्दबुद्धि पुरुषके घर ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये निवास करता है उस अल्पप्रज्ञ पुरुष के काम और सङ्कल्प अथवा इच्छित पदार्थ

की प्रार्थनारूप आशा और जिस के मिलने का निश्चय हो चुका उसके पाने को इच्छारूप प्रतीक्षा तथा सत्पुरुषों के सङ्ग का फल और प्रिय मधुर वाणी-बोलने का फल तथा यज्ञादि शुभ कर्मों के और कूप मन्दिरादि निर्माण के फल और समस्त पुत्र और पशुओं को यह अतिथि का अनशन रूप पाप नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥ मनुस्मृति में भी लिखा है— **शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः । सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥** (मनु० अ० ३ श्लो० १००) कटे हुए खेत में जो पड़ा बाकी रह जाता है उसको शिल कहते हैं उस शिल से जीविका करने वाले और दक्षिणाग्नि १, गार्हपत्य २, आहवनीय ३, आवसथ्य ४ और सभ्य ५ इन पाँचों अग्नियों में हवन करते हुये पुरुषों के सब पुण्य को बिना पूजा अतिथि वसता हुआ ले लेता है ॥ १०० ॥ वेदमार्गप्रतिष्ठिपनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने— **उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्** ॥ (शा० मी० १।३।३५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थप्रपाठकके तीसरे खण्ड की सातवीं श्रुति के 'ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥७॥

तस्मा उ ह ददुः । तेवा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम् । तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतम् । सैषा विराडन्नादी । तयेदं सर्वं दृष्टम् सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (तस्मै) उसब्रह्मचारी के लिये (उ) निश्चय करके (ददुः) परिचारकों ने भिक्षा दे दी (ते) वे (वै) निश्चय करके (एते) ये अधिदैवत अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल और वायु (पञ्च) पाँच (अन्ये) वागादि से अन्य हैं और (पञ्च) अध्यातम वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन और प्राण ये पाँच (अन्ये) अग्न्यादि से अन्य हैं ये सब मिलकर (दश) दस (सन्तः) होते हैं (तत्) वह दस (कृतम्) कृत नाम के पासे से उपलक्षित द्यूत है (तस्मात्) उस हेतु से (दशकृतम्) संवर्गविद्या से

उपासना करने योग्य दस संख्या से युक्त कृताय रूप वह (सर्वासु) समस्त (दिक्षु) दसों दिशाओं में (अन्नम्) अन्न (एव) ही होता है (सा) वह (एषा) यह दस अक्षर वाला (विराट्) विराट् छन्द होता है और (अन्नादी) वही अन्नभक्षण करने वाला है (तया) उस विराट् की उपासना से (इदम्) यह (सर्वम्) सब दसों दिशावर्ती पदार्थजात (दृष्टम्) देखा जाता है अर्थात् उपासना किया जाता है (अस्य) इस संवर्ग के उपासक का (इदम्) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (सर्वम्) भोक्तृभोग्यरूप सब जगत् (दृष्टम्) देखा हुआ (भवति) होता है और (अन्नादः) अन्न भक्षण करने वाला अर्थात् ब्रह्मलक्षण अन्न को अनुभव करने वाला (भवति) होता है (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है (यः) जो उपासक (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥८॥

विशेषार्थ—जब कापेय शौनक ने अपने सेवकों को भिक्षा प्रदानार्थ आज्ञा दी तब उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी को उन सेवकों ने भिक्षा दी। अब संवर्गविद्या की स्तुति के लिये तत्सम्बन्धी पदार्थों को आगे कहा जाता है कि—ये अधिदैवत अग्नि १, सूर्य २, चन्द्र ३, जल ४ और वायु ५ वागादि पाँच से अन्य हैं और अध्यात्म वाक् १, नेत्र २, श्रोत्र ३, मन, ४ और प्राण ५ अग्नि आदिक पाँच से अन्य हैं। अग्नि आदिक पाँच तथा वाक् आदि पाँच ये सब मिलकर दस होते हैं। वह दस कृत नाम के पासे से उपलक्षित द्यूत है। अर्थात् प्राचीन काल में एक द्यूत क्रीडा होती थी जिसमें दस पासे होते थे चार पासे ऐसे होते थे जिनके ऊपर चार का अङ्क लिखा रहता था। उन चारों पासों का नाम 'कृत' होता था। और तीन पासों के ऊपर तीन का अङ्क रहता था। उन तीनों पासों का नाम 'त्रेता' होता था। तथा दो पासों के ऊपर दो का अङ्क रहता था। उन दोनों पासों का नाम 'द्वापर' होता था और एक पासा के ऊपर एक का अङ्क रहता था उस पासे का नाम 'कलि' होता था। इस प्रकार दस पासे होते हैं। इस पूर्वोक्त कृत के समान उस हेतु से संवर्गविद्या से उपासना करने योग्य दस संख्या से युक्त कृत रूप वह समस्त दसों दिशाओं में अन्न ही होता है क्योंकि लिखा है कि—"दशाक्षरा विराट्" विराट्छन्द दस अक्षर का होता है॥ **अन्नं विराट्** । (श्रुति) विराट् ही अन्न होता है। वह यह दस अक्षर वाला विराट् छन्द होता है। और वही अन्न भक्षण करने वाला होता है। उस विराट् की उपासना से यह सब दसों दिशावर्ती पदार्थ जात दशत्व संख्या साम्य होने से देखा जाता है अर्थात्

उपासना किया जाता है। अब आगे इस उपासना का फल कहा जाता है। जो उपासक इस प्रकार से जानता हुआ संवर्ग की उपासना करता है उस संवर्गोपासक का यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त भोक्तृभोग्यरूप सब देखा हुआ हो जाता है। और वह उपासक ब्रह्मलक्षणअन्न को अनुभव करने वाला हो जाता है। परब्रह्म अन्न है क्योंकि लिखा है कि— **अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्** ॥ (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १० श्रु० ६) मैं भोग्य अन्न हूँ, मैं भोग्य अन्न हूँ मैं भोग्य अन्न हूँ ॥ ६ ॥ प्रकृत श्रुति में 'य एवं वेद' इस वाक्य को दोबार उच्चारण संवर्गविद्या की समाप्ति का सूचना करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का प्रतिपादन करता है। उभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने—**छान्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम्** ॥ (शा० मी० १।१।२६) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थप्रपाठक के तीसरे खण्ड की अन्तिम आठवीं श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ८ ॥

॥ अथ चतुर्थखण्डः ॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे । ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोन्वहस्मीति ॥ १॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध यह इतिहास है कि (जाबालः) जबाला नाम की स्त्री के पुत्र (सत्यकामः) सत्यकाम नाम के एक कुमार ने (मातरम्) अपनी माता (जबालाम्) जबाला से (आमंत्रयाँचक्रे) भलीभाँति पूछा कि (भवति) हे परमपूजनीया माता (ब्रह्मचर्यम्) वेदाध्ययन करने के लिये आचार्य कुल में ब्रह्मचारी के व्रत को (विवत्स्यामि) पालन करता हुआ मैं निवास करना चाहता हूँ (इति) इस बात को (तु) निश्चय तू कह कि (अहम्) मैं किम्) किस (गोत्रः) गोत्र का (अस्मि) हूँ ॥१॥

विशेषार्थ—अब सोलह कला वाली ब्रह्मविद्या का प्रस्ताव प्रारम्भ किया जात है—जबाला नाम की किसी स्त्री के पुत्र सत्यकाम नाम के एक कुमार ने अपनी माता जबाला को सम्बोधित करके निवेदन किया कि हे परमपूज्ये ! मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करने के लिये आचार्य कुल में निवास करना चाहता हूँ ! बता मेरा कौन गोत्र है ? माता के विषय में

लिखा है—**मातृदेवो भव** ॥ (तैत्ति० उ० व० १अनु० ११श्रु० २) तुम माता में देवबुद्धि करने वाले बनो ॥ २ ॥ **उपाध्यान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्त्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।** (मनु० अ० २ श्लो० १४५) दस वृत्यर्थ पढ़ाने वाले उपाध्याय की अपेक्षा एक आचार्य श्रेष्ठ है और सौ उपनयन पूर्वक सावित्री मात्र पढ़ाने वाले आचार्य की अपेक्षा पिता श्रेष्ठ है तथा हजार गुणा पिता से गौरव करके अतिरिक्त श्रेष्ठ माता होती है ॥ १४५ ॥ **आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः । माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥** (मनु० अ० २ श्लो० २२६) **यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि । २२७ ॥ तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते । न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥ त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रयआश्रमाः । त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः । २३० । पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥ त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही । दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ । इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥** आचार्य परब्रह्म नारायण की मूर्ति हैं और पिता ब्रह्मा की मूर्ति हैं तथा माता पृथ्वी की मूर्ति हैं और सहोदर भ्राता जीवात्मा की मूर्ति है ॥ २२६ ॥ अपत्य उत्पन्न होने में जो क्लेश माता और पिता सहते हैं उसकी निष्कृति सौ वर्ष में भी अपत्य करने के लिये समर्थ नहीं है ॥ २२७ ॥ माता पिता और आचार्य की परिचर्या सबसे श्रेष्ठ तप कहा जाता है। बिना माता पिता, तथा आचार्य की अनुमति से दूसरा कोई धर्म भी न करे ॥२२९॥ वे माता, पिता और आचार्य निश्चय करके तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद और तीन अग्नि कहे गये हैं ॥ २३० ॥ पिता ही गार्हपत्य अग्नि है तथा माता ही दक्षिणाग्नि है और आचार्य ही आहवनीय अग्नि है । ये तीन माता, पिता, आचार्य सब अग्नियों से श्रेष्ठ हैं ॥ २३१ ॥ इन तीन माता, पिना, आचार्य के

विषय में प्रमाद नहीं करता हुआ गृहस्थ तीनों लोकों को जीत लेता है और अन्त में अपने शरीर से प्रकाशमान सूर्यादिदेव के समान द्युलोक में हर्ष पाता है ॥ २२२ ॥ माता की भक्ति से इस भूलोक को तथा पिता की भक्ति से अन्तरिक्षलोक को और आचार्य की भक्ति से ब्रह्मलोक को मनुष्य पा लेता है ॥ २३३ ॥ आचार्य लोग माणवक के प्रथम कुल गोत्र नाम शीलस्वभाव जान पश्चात् अध्ययन करवाया करते थे । इसी कारण सत्यकाम को निज गोत्र पूछना पड़ा । अथवा निज गोत्रमें प्रचलित विद्या का अध्ययन प्रथम होना चाहिये, अतः गोत्र जाने विना न तो मैं उसे पढ़ सकता हूँ न आचार्य जी ही पढ़ा सकते हैं, इस हेतु से सत्यकाम ने अपनी माता से जिज्ञासा की है ॥ १ ॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि । सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥२॥

अन्वयार्थ—(ह) इतिहास में प्रसिद्धा (सा) वह जबाला (एनम्) इस अपने सत्यकाम नाम के पुत्र से (उवाच) बोली (तात) हे प्रियपुत्र (त्वम्) तू (यद्गोत्रः) जिस गोत्र का (असि) है (अहम्) मैं (एतत्) इस को (न) नहीं (वेद) जानती हूँ क्योंकि (अहम्) मैं (बहु) पति के गृह पर अतिथि अभ्यागतों के लिये बहुत प्रकार की सेवा को (चरन्ती) करती हुई (परिचारिणी) गुर्वादिक की सेविका दासी ने (यौवने) युवावस्था में (त्वाम्) तुझको (अलभे) प्राप्त किया तब उसी समय में तेरे पिता मर गये । अनाथ शोकार्त मैंने आज तक किसी से कुछ भी गोत्रादिक नहीं पूछा है। इससे (सा) वह सेवा करने वाली (अहम्) शोकार्त मैं (एतत्) यह (न) नहीं (वेद) जानती हूँ (यद्गोत्रः) जिस गोत्र का (त्वम्) तू (असि) है (तु) परन्तु (जबाला) जबाला (नाम) नाम वाली (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ और (सत्यकामः) सत्यकाम (नाम) नाम वाला (त्वम्) तू (असि) है इससे गुरु के समीप में (एव) निश्चय करके (जाबालः) जबाला का पुत्र (सत्यकामः) सत्यकाम नामवाला हूँ (इति) ऐसा (ब्रुवीथाः) तू बतला देना ॥ २ ॥

विशेषार्थ—पुत्र के गोत्र पूछने पर इतिहास में सुप्रसिद्ध जबाला देवी ने अपने पुत्र सत्यकाम से सची बात कही कि—हे बेटा ! तू जिस गोत्र का है उस गोत्र को मैं नहीं जानती हूँ। क्योंकि पति के घर पर अतिथि अभ्यागतों के लिये अनेक प्रकार की सेवा को करती हुई गुरु आदिक की परिचर्या करने वाली मैंने युवावस्था में ही तुमको प्राप्तकिया और तेरे जन्म होने के बाद तुरन्त ही दुर्भाग्य से मेरे पतिदेव का परम पद हो गया। उस पति के वियोगसे पीड़ित दीन होन मैंने आजतक किसी से कुछ भी गोत्रादिक नहीं पूछा इससे शोकार्त मैं नहीं जानती हूँ कि तू किस गोत्रवाला है। परन्तु इतना मैं जानती हूँ किमेरा जबालानाम विश्वमें विख्यात है और तेरा प्रसिद्धसत्यकाम नाम है। इससे आचार्यके पूछनेपर सची बात यही तू कहना कि— जबाला का पुत्र सत्यकाम नामवाला मैं हूँ गोत्र को नहीं मैं जानता हूँ। इस प्रकार कहकर **सत्यं वद** ॥ (तैति०) उ० व० अनुवा० ११ श्रु० १ तुम सत्य बोलो ॥१॥ इस पाठ को यहाँ माता ने पुत्र को पढ़ाया है ॥२॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच। ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३॥

अन्वयार्थ—(सः) वह सत्यकाम (ह)प्रसिद्ध (गौतमम्) गौतम गोत्रमें उत्पन्न (हारिद्रुमतम्) हारिद्रुमत ऋषि के (एत्य) समीप जाकर (इति) इस प्रकार के (उवाच) बोला कि हे भगवन् (भगवति) षडैश्वर्य सम्पन्न परमपूज्य श्रीमान् के यहाँ (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचारी के व्रत को (वत्स्यामि पालन करता हुआ निवास करना चाहता हूँ इसी अभिप्राय से (भगवन्तम्) परमपूज्य आपको (उपेयाम्) शिष्यरूप हो मैंने प्राप्त किया है ॥३॥

विशेषार्थ—जबाला के सुकुमार कुमार वह सत्यकाम हारिद्रुमत महर्षि के समीप में पुष्प फल पत्र आदि हाथ में लेकर गया। क्योंकि लिखा है—**स गुरुमेवाभिगच्छेत्** ॥ (मुण्डको० मुं० १ खं०२ श्रु०१२) वह मुमुक्षु पुरुष गुरु के समीप में जाय ॥१२॥ और वह पुष्प आदिक भेंट उनको समर्पण कर श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके बोला कि हे परमपूज्य भगवन्! गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमतमहर्षे के यहाँ ब्रह्मचारी के व्रत को पालन करता हुआ निवास करना चाहता हूँ इसी

अभिप्राय से आपकी सन्निधि में शिष्यरूप से मैं आया हूँ। इस श्रुति में **यथा देवे तथा गुरौ** ॥ (श्वे० उ०अ० ६ श्रु० २३) जिस प्रकार परमात्मा देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी ॥ २३ ॥ इस श्रौत सिद्धान्त को जनाने के लिये आचार्य गौतमगोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत महर्षि में 'भगवद्' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥३॥

तं होवाच किं गोत्रो नु सोम्यासीति । स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीद् 'बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति' सोऽहंसत्यकामो जाबालोऽस्मिभो इति ॥४॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध महर्षि हारिद्रुमत ने (तम्) उस जबाला के पुत्र सत्यकाम से (उवाच) पूछा कि (सोम्य) हे सोमार्हप्रियदर्श ! तात (नु) निश्चय करके (किम्) तेरा क्या (गोत्रः) गोत्र (असि) है (इति) ऐसा पूछने पर (ह प्रसिद्ध (सः) उस सत्यकाम ने (उवाच) कहा (भो) हे पूज्य पाद भगवन् (अहम्) मैं (यद्गोत्रः) जिस गोत्र का (अस्मि) हूँ (एतत्) इसको (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (अहम्) मैंने (मातरम्) अपनी माता से (अपृच्छम्) गोत्र पूछा था (सा) उसने (मा) मुझ से (प्रत्यब्रवीत्) कहा कि (अहम्) मैं (बहु) पति के घर पर अतिथि अभ्यागतों के लिये बहुत प्रकार की सेवा को (चरन्ती) करती हुई (परिचारिणी) गुर्वादिक की सेवा परायणा दासी ने (यौवने) तरुणावस्था में (त्वाम्) तुझको (अलभे) प्राप्त किया तब उसी समय में तेरे पिता मर गये अनाथ शोकार्त मैं आजतक किसी से कुछ भी गोत्रादिक नहीं पूछी हूँ। इससे (सा) वह बहुत काम धन्धा करने वाली (अहम्) शोकार्त मैं (एतत्) यह (न) नहीं (वेद) जानती हूँ (यद्गोत्रः) जिस गोत्र का (त्वम्) तू (असि) है (तु) परन्तु (जबाला) जबाला (नाम) नाम वाली (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ और (सत्यकामः) सत्यकाम (नाम) नाम वाला (त्वम्) तू (असि) है (इति) इससे (भोः हे भगवन् गुरो) (सः) वह (अहम्) मैं (जाबालः) जबाला

का पुत्र (सत्यकामः) सत्यकाम नाम वाला (अस्मि) हूँ (इति) यही श्रीचरणों में मेरा सविनय निवेदन है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध गौतम गोत्रोत्पन्न महर्षि हारिद्रुमत ने उस जबाला के पुत्र सत्यकाम से पूछा कि हे सोमार्ह प्रियदर्शन तात ! तेरा गोत्र क्या है ! ऐसा पूछने पर प्रसिद्ध उस सत्यकाम ने सविनय हाथ जोड़कर उत्तर दिया कि हे पूज्यपाद भगवन् ! मैं यह नहीं जानता हूँ कि किस गोत्र का हूँ। मैंने अपनी माता से गोत्र पूछा था तब उसने मुझसे कहा कि 'मैं पति के गृह पर अतिथि अभ्यागतों के लिये अनेक प्रकार की सेवा को करती हुइ गुरु आदिक की सेवा परायण दासी ने युवावस्था में तुझको प्राप्त किया तब उसी समय में तेरे पिता मर गये, अनाथ शोकार्त मैं आजतक किसो से कुछ भो गोत्रादिक नहीं पूछी हूँ इससे बहुत काम धन्धा करने वाली शोकार्ता मैं नहीं जानती हूँ किस गोत्र का तू है। परन्तु विश्व में विख्यात जबाला नामवाली मैं हूँ और सत्यकाम नाम वाला तू है" इससे हेभगवन् गुरुदेव ! वह मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम नाम वाला हूँ, मैं अपना गोत्र नहीं जानता हूँ। यही श्रीचरणों में मेरा सविनय विज्ञापन है ॥ ४ ॥

तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति। तमुपनीय कृशानामबलानां चतुः शता गा निराकृत्योवाच। इमाःसोम्यानुसंव्रजेति। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणाऽऽवर्तयेति। स ह वर्षगणं प्रोवास। ता यदा सहस्रं संपेदुः ॥ ५ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (तम्) उस सत्यकाम से (उवाच) हारिद्रुमत ऋषि ने कहा कि(एतत्)ऐसा आर्जवयुक्तस्पष्ट भाषण (अब्राह्मणः) ब्राह्मणेतर शूद्र (विवक्तुम्) विशेषरूप से प्रकट करने के लिये (न) नहीं (अर्हति) समर्थ हो सकता है। इससे (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन तात (समिधम्) उपनयनसंस्कार के लिये समिधा को (आहर) तू ले जाओ

(त्वा) तेरा (उप—नेष्ये) मैं उपनयन संस्कार करूँगा क्योंकि (सत्यात्) सत्य से (न) नहीं (अगाः) तू पृथक् हुआ (इति) इतना कहकर (तम्) उस सत्यकाम का (उपनीय) हारिद्रुमत आचार्य उपनयन संस्कार करके (कृशानाम्) क्षीण (अबलानाम्) दुर्बल गौओं के मध्य में दुबली पतली और कमजोर (चतुःशताः) चार सौ (गाः) गाय (निराकृत्य) अलग निकाल कर (उवाच) सत्यकाम माणवक से वक्ष्यमाण वचन कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन तात (इमाः) इन गौओं के (अनुसंव्रज) चराने के लिये पीछे पीछे जाओ (इति) इसके बाद (ताः) उन गौओं को (अभिप्रस्थापयन्) वन में ले जाता हुआ सत्यकाम ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (असहस्रेण)हजार गायें हुये बिना [न) नहीं (आवर्तेय) मैं लौटकर आऊँगा (यदा] जबतक (ताः) वे गौएँ (सहस्रम्) एक हजार (संपेदुः) हुईं तबतक (ह) प्रसिद्ध (सः) वह सत्यकाम (वर्षगणम्) बहुत वर्ष (प्रोवास]. तृणोदकादि पूर्ण वन में निवास किया ॥ ५ ॥

विशेषार्थ प्रसिद्ध जबाला के पुत्र सत्यकाम से गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत महर्षि ने कहा कि ऐसा आर्जव युक्त स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर शूद्र विशेष रूप से प्रकट करने के लिये नहीं समर्थ हो सकता है। इससे हे सोमार्ह प्रियदर्शन तात ! उपनयन संस्कार के लिये समिधा को तू ले आओ। सत्संप्रदायाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने—**तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः** ॥ [शा० मी० १।३।३७] के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के चतुर्थ प्रपाठक के चौथे खण्ड की पांचवीं श्रुति में 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहर' इस वाक्य को उद्धृत किया है। समिधा के विषय में लिखा है— **नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित्स्थूलतया क्वचित् । न वियुक्तात्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥** (गोभिलस्मृ० प्रपा० १ श्लो० ११४) **प्रादेशान्नाधिकान्यूना न सशाखाविशाखिका । न सपर्णा ननिर्वीर्या होमेषु च विजानता ॥ ११५॥ प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् । एवं विधाभिरेवेह समिद्भिःसर्वकर्मसु ॥११६॥** अंगूठे से अधिक मोटी समिधा कभी भी नहीं ग्रहण करनी चाहिये। बिना छिलके की तथा कीट से युक्त और फारी हुई समिधा भी होम में नहीं ग्रहण करनी चाहिये ॥ ११४ ॥ एक वीता से अधिक या न्यून समिधा

नहीं हवन में ग्रहण करनी चाहिये और होम की विधि को जानने वाले शाखायुक्त तथा जिसमें कोई शाखा न निकली हो और पत्ता से युक्त तथा बिना वीर्य की समिधा को होम में नहीं ग्रहण करते हैं ॥११५॥ और ईन्धन के काठ का प्रमाण दो बीता लम्बा कहा गया है। इस प्रकार की समिधा से सब श्रौतकर्म में हवन करे ॥ ११६ ॥ **पलाशफल्गुन्यग्रोधाः प्लक्षाश्वत्थविकङ्कताः। उदुम्बरस्तथा विल्वश्चन्दनो यज्ञियाश्च ये ॥ सरलो देवदारुश्च शालश्च खदिरस्तथा। समिदर्थे प्रशस्ताः स्युरेते वृक्षा विशेषतः ॥ ग्राह्याः कण्टकिनश्चैव यज्ञिया एव केचन पूजिताः समिदर्थेषु पितॄणां वचनं यथा ॥** (वायुपुरा०, पलाश१, फल्गु २, वट ३, पाकड़ ४, पीपल ५, स्रुवावृक्ष ६, गूलर ७, श्रीफल ८, चन्दन ९, सरल १०, देवदारु ११, शाल १२, खैर १३ ये वृक्ष यज्ञ की समिधा के लिए विशेषरुप से प्रशस्त हैं। और भी यज्ञ में ग्रहण करने योग्य जो काँटे वाले सुन्दर वृक्ष हैं वे समिधा के लिए वैसे पूजित हैं कि जैसे पितरों के वचन पूजित हैं। ऐसा पितरों का वचन है ॥ **निवासा ये च कीटानां लताभिर्वेष्टिताश्च ये। अयज्ञिया गर्हिताश्च वल्मीकैश्च समावृताः ॥ शकुनीनां निवासाश्च वर्जयेत्तान् महीरुहान् अन्यांश्चैवं विधान् सर्वान् यज्ञियांश्च विवर्जयेत् ॥** (वायुपु०) जिस वृक्ष में कीट निवास करते हों तथा लताओं से जो वेष्टित हो और यज्ञिय जो न हो तथा गर्हित हो और जिस पर पंक्षी विशेष निवास करते हों तथा इस प्रकार के अन्य वृक्षों को समिधा के लिए यज्ञ में विशेषरुप से अवश्य बरा देना चाहिये। इसके अनुसार होम सामग्री समिधा आदि को तुम लाओ तेरा उपनयन संस्कार मैं करूँगा। जगद्गुरु भगवद्रामानुजाचार्य ने **संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च।** शा० मी० १।३।३६) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थप्रपाठक के चौथे प्रपाठ की पांचवीं श्रुति के 'उप त्वा नेष्ये' इस वाक्य को उद्धृत किया है। क्योंकि तू ने सत्य का परित्याग नहीं किया है। सत्य के विषय में लिखा है—
सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि। सत्य वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥ (तैत्तिरीवारण्य० प्रपा० १० अनु० ६३) वायु सत्य से चलती है: सूर्य सत्य से द्युलोक में

प्रकाशित होता है, वाणी की प्रतिष्ठा सत्य ही है, सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं इससे सब लोग सत्य को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥ **सत्यं च स्तवाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ६ श्रु० १) वाणी से यथार्थ बोलना और वेदों का पठन भी अवश्य करना चाहिये। रथीतर ऋषि का पुत्र सत्यभाषण करने वाला सत्यवचा नामक ऋषि सत्यभाषण करना चाहिये ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥ **चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥** (जाबा० दर्श० उ० खं० १ श्रु० ६) हे विप्र! नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया तथा सुना गया और सूँघा गया उसको ठीक जैसे-के-तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥६॥ **अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ॥** (विष्णुस्मृ० ८) हजार अश्वमेधयज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥८॥ **सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥** योग० अ० १पा० २सू० ३६) सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता है ॥३६॥ आचार्य की आज्ञा पाकर सत्यकाम ने समिधा आदिक को लाया तब हारिद्रुमत आचार्य ने उसका यज्ञोपवीत संस्कार किया और उस माणवक की परीक्षा के लिए क्षीण, दुर्बल गौओं के मध्य में से अत्यन्त दुबली, पतली, कमजोर चार सौ गौओं को अलग निकाल कर उस माणवक सत्यकाम से कहा कि — हे सोमार्ह प्रियदर्शन तात! इन कमजोर गौओं को चराने के लिए तू पीछे-पीछे जा। इस बात को सुन कर सहर्ष सत्यकाम ने अङ्गीकार किया और वन में उन गौओं को ले जाते समय माणवक ने कहा कि — एक हजार जब तक ये गायें नहीं हो जायेंगी तब तक मैं नहीं लौटूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा गुरु के सामने करके उस सत्यकाम ने तृण और जल आदि से परिपूर्ण जङ्गल में गौओं के साथ कई वर्षों तक निवास किया। इस के बाद जब वे गायें एक हजार हो गई। उपनयन संस्कार के विषय में लिखा है — **गर्भादि संख्या वर्षाणां तदष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत ॥** (बौधायनस्मृ० प्र० १ अ० २ श्लो० ७) **त्र्यधिकेषु राजन्यम् ॥८॥ तस्माद्द्व्येकाधिकेषु वैश्यम् ॥६॥ वसन्तो**

ग्रीष्मः शरदित्यृतवो वर्णानुपूर्व्येण ॥१०॥ गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीभिर्यथाक्रमम् ॥ ११ । आषोडशादाद्वाविंशादाचतुर्विंशादित्यनात्यय एषां क्रमेण । १२ । मौञ्जा धनुर्ज्या शाणीति मेखलाः ॥ १३ ॥ कृष्णरुरुबस्ताजिनान्यजिनानि ॥ १४ ॥ मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणा याज्ञिकस्य वृक्षस्य दण्डा विशेषाः पूर्वोक्ताः ॥ १५ ॥ भवत्पूर्वा ब्राह्मणो भिक्षेत भवमध्यां राजन्यो भवदन्त्यां वैश्यः सर्वेषु वर्णेषु ते ब्राह्मणाद्याः स्वकर्मस्थाः ॥ १८ । सदारण्यात्समिध आहृत्याद-ध्यात् ॥ १९ ॥ सत्यवादी ह्रीमाननहकारः पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी ॥ २० ॥ सर्वत्राप्रतिहतगुरुवाक्योऽन्यत्र पातकात् । २१ ॥ यावदर्थ संभाषी स्त्रीभिः ॥ २२ ॥ नृत्तगीत वादित्र गन्धमाल्योपानच्छत्रधारणाञ्जानभ्यञ्जनवर्जी ॥ २३ ॥ गर्भ से अथवा जन्म से आठवें वर्ष में ब्राह्मणा का उपनयन सस्कार करे ॥ ७ ॥ ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का उपनयन संस्कार करे ॥ ८ ॥ और बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन संस्कार करे ॥ ९॥ वसन्त ऋतु में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे, ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय का उपनयन संस्कार करे और शरद् ऋतु में वैश्य का उपनयन संस्कार करे ॥ १० ॥ गायत्री छन्द से ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे तथा त्रिष्टुप् छन्द से क्षत्रिय का उपनयन संस्कार करे और जगति छन्द से वैश्य का उपनयन संस्कार करे ॥ ११ ॥ ब्राह्मण का सोलह वर्ष तक तथा क्षत्रिय का बाईस वर्ष तक और वैश्य का चौबीस वर्ष तक उपनयन सस्कार करने का समय है ॥ १२ ॥ मुञ्ज तृण की बनी हुई ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला होती है तथा धनुष की ज्या की स्नायुमयी क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मेखला होती है, शन की बनी हुई वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला होती है ॥१३॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी के कृष्ण मृग का चर्म होता है तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी के चित्र मृग का चर्म होता है और वैश्य ब्रह्मचारी के बकरे का चर्म अजिन होता है ॥ १४ ॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी का मूर्धापर्यन्त पालाश या श्रीफल का दण्ड होता है तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी का ललाटपर्यन्त वट तथा खैर का दण्ड होता है और वैश्य ब्रह्मचारी का नासाग्रपर्यन्त गूलर और पाकड़ का दण्ड होता है। अथवा किसी भी याज्ञिक वृक्ष का सब ब्रह्मचारियों का दण्ड होता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मण ब्रह्मचारी भवत् शब्द का पूर्व में प्रयोग करके भिक्षा माँगे तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी भवत् शब्द का मध्य में प्रयोग करके भिक्षा माँगे और वैश्य ब्रह्मचारी भवत् शब्द का अन्त में प्रयोग करके सब वर्णों के यहाँ भिक्षा माँगे ॥ १७ ॥ वे ब्राह्मणादिक अपने कर्म में स्थित हों ॥ १८ ॥ सर्वदा वन से समिधा को लाकर अग्नि में हवन करे ॥ १९ ॥ ब्रह्मचारी सत्य बोले लज्जायुक्त तथा अहङ्कारसे रहित रहे,गुरुसे पहले उठ जाये और गुरु के पीछे बैठे ॥ २० ॥ पातक को वराकर कभी भी गुरु के वचन को उल्लंघन न करे ॥ २१ ॥ स्त्रियों से अपने प्रयोजनमात्र थोड़ा भाषण करे ॥ २२ ॥ नाच, गाना, बाजा, गन्ध, इत्र, फूलमाला, जूता, छाताधारण, नेत्र में अञ्जन और शरीर में अभ्यञ्जन को सर्वदा परित्याग ब्रह्मचारी कर दे ॥ २३ ॥ प्रकृत श्रुति में गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत आचार्य ने जबाला के पुत्र सत्यकाम ब्रह्मचारी को 'गो—त्र' यानी गोरक्षक बना दिया। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का चौथा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ५ ॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकामा३ इति । भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) एक हजार गौओं के होने के अनन्तर (ऋषभः) गौओं की रक्षा करने से प्रसन्न देवताविशेष से अधिष्ठित वलीवर्द यानी बैल (एनम्) इस सत्यकाम से (ह) स्पष्ट (सत्यकाम) हे सत्यकाम (इति) ऐसा (अभ्युवाद) जोर शोर से पुकारा तब (भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन् क्या है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम ने (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया तब पुनः बैल बोला कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम (सहस्रम्) एक हजार (प्राप्ताः) हमलोग प्राप्त (स्मः) हो गये हैं अब तेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई इससे (नः) हमलोगों को (आचार्यकुलम्) आचार्यकुल को (प्रापय) ले चलो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—वन में एक हजार गौओं के हो जाने के बाद सच्चीभक्ति से गौओं की सेवा करने से प्रसन्न देवताविशेष से अधिष्ठित सांड़ ने उस प्रसिद्ध सत्यकाम से हे सत्यकाम ! ऐसा बड़ेजोर शोर से पुकारा । तब

हे पूज्यपाद भगवन् ! क्या है ऐसा उस प्रसिद्ध सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया। तब पुनः साँड़ बोला कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम ! हम लोग एक हजार हो गये। अब तेरी प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई। इससे हम-लोगों को गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत आचार्यकुल में पहुँचा दो। आचार्य का लक्षण लिखा है—**यस्तुमंत्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः। स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः।** (पद्मपु० उत्तरखं० अ० २२६ श्लो० ४) जो श्री वैष्णव द्वयमंत्र को अच्छे प्रकार से पढ़ाता है, संसार के बन्धन को विनाश करने वाला है तो उसको ही ही आचार्य जानना ॥ ४ ॥ विशेष पहले लिख चुका हूँ ॥ १ ॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

अन्वयार्थ - सत्यकाम से पुनः साँड़ ने कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम (च) और प्रसन्न मैं (ते) तेरे लिये (ब्रह्मणः) ब्रह्म का (इति) यह (पादम्) एक पाद को (ब्रवाणि) बतलाऊँ तब सत्यकाम ने कहा कि (भगवान्) परमपूज्य आप (मे) मुझ जिज्ञासु शिष्यको (ब्रवीतु) उपदेश देवें (इति) यह सुनकर (ह) प्रसिद्ध वृषभ (तस्मै) उस सत्यकाम से (उवाच) कहा कि (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा (कला) पहली कला है (प्रतीची) पश्चिम (दिक्) दिशा (कला) दूसरी कला है (दक्षिणा) दक्षिण (दिक्) दिशा (कला) तीसरी कला है और (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा (कला) चौथी कला है (वै) निश्चय (एषः) यह (ब्रह्मणः) परब्रह्म का (प्रकाशवान्) प्रकाशवान् (नाम) नाम से प्रसिद्ध (चतुष्कलः) चार कलाओं वाला (पादः) पाद है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—सत्यकाम से साँड़ ने कहा कि हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम ! जैसे गौओं के चार पाद हैं वैसे ही परब्रह्म नारायण के चार पाद हैं। उनमें से यदि उपदेश सुनने की तेरी इच्छा हो तो प्रसन्न मैं तेरे लिये परब्रह्म नारायण के एक पादको कहूँ। तब सत्यकाम ने कहा कि हे

पूज्यपाद भगवन् ! आप मुझ जिज्ञासु शिष्य को अवश्य उपदेश दें। यह सुनकर साँड़ ने उस सत्यकाम से स्पष्ट कहा कि - पूर्वदिशा पहलीकला है और पश्चिम दिशा दूसरी कला है। तथा दक्षिण दिशा तीसरी कला है और उत्तर दिशा चौथी कला है। हे प्रियतात ! यह परब्रह्म नारायण के प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध चार कलाओं वाला पाद है ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति । प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥३॥

। इति चतुर्थप्रपाठके पञ्चमखण्डः ।

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) चार कलाओं वाले (पादम्) पाद को (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानता हुआ (प्रकाशवान्) प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोक में (प्रकाशवान्) प्रकाशवाला (भवति) होताहै और (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (प्रकाशवतः) प्रकाशवाले (लोकान्) लोकों को (जयति) जीत लेता है (यः) जो कोई उपासक (ब्रह्मणः) परब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) चार कलाओं वाले (पादम्) पाद को (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानता हुआ (प्रकाशवान्) प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझकर (उपासते) उपासना करता है ॥३॥

विशेषार्थ—जो कोई उपासक परब्रह्म नारायणके इस पूर्वादिक चार कलाओं वाले एक पाद को इस प्रकार के जानता हुआ प्रकाशवान् नाम से सुप्रसिद्ध ऐसा समझ कर उपासना करता है, वह उपासक इस पृथ्वी लोक में प्रकाश वाला होता है, और वह प्रसिद्ध उपासक प्रकाशवाले समस्त लोकों को जीत लेता है। जो कोई उपासक परब्रह्म नारायण के इस पूर्वादिक चार कलाओं वाले एक पाद को इस प्रकार के जानता हुआ प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध ऐसा समझकर उपासना करता है। इस श्रुति में "य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते" इस वाक्य को दो बार उच्चारण करके इस खण्ड की समाप्ति का सूचन करता

हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। यहाँ 'छान्दोग्यौपनिषद् के चतुर्थ प्रपाठक का पाँचवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ षष्ठखण्डः ।

अग्निष्टे पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार । ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेष ॥१॥

अन्वयार्थ—(अग्नि:) अग्निदेव (ते) तुमसे (पादम्) ब्रह्म के दूसरे पाद को (वक्ता) उपदेश देगा (इति) इतना वचन कहकर साँड़ मौन हो गया ह) प्रसिद्ध (सः) वह सत्यकाम (श्वभूते) दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यनैमित्तिक कर्म करके (गाः) गौओं को (अभिप्रस्थापयांचकार) आचार्यकुल की ओर ले चला (ताः) वे सब गायें (यत्र) जिस स्थान में (अभिसायम्) सायंकाल में (बभूवुः) एकत्रित हुईं (तत्र) वहाँ ही वह सत्यकाम (अग्निम्) अग्नि को (उपसमाधाय) समीप में प्रज्वलितकर (गाः) गौओं को (उपरुध्य) समीप में रोक कर सन्ध्यावन्दन करके (समिधम्) अग्नि में समिधा को (आधाय) रखकर ऋषभ के वचन को चिन्तवन करता हुआ (अग्ने: अग्नि के (पश्चात्) पीछे (प्राङ्) पूर्वाभिमुख होकर (उपोपविवेश) अग्नि के समीप बैठ गया ॥१॥

विशेषार्थ—सत्यकाम से वृषभ ने कहा कि हे सत्यकाम परब्रह्म के दूसरा पाद का उपदेश तुझे अग्नि करेगी। ऐसा कहकर साँड़ मौन हो गया। अग्निदेव के विषय में लिखा है—**अग्निर्देवता ॥** (यजु अ० १४ मं० २०) अग्नि देवता हैं ॥ २० ॥ **अग्निः पृथिवीस्थानः ॥** (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० ५) अग्नि देवता पृथ्वी स्थान में हैं ॥५॥ वह प्रसिद्ध जबाला का पुत्र सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यनैमित्तिक कर्म करके गौओं को आचार्य कुल की ओर ले चला। वे सब गायें जहाँ सायंकाल में एकत्रित हुईं वहीं वह सत्यकाम अग्नि को समीप में प्रज्वलित कर और गौओं को अपने समीप में छेक कर सन्ध्यावन्दन करके अग्नि में समिधाधान कर साँड़ के वचन को चिन्तवन करता हुआ

अग्नि के पीछे पूर्वमुख हो अग्नि के समीप ही बैठ गया। ब्रह्मचारी के विषय में लिखा है— **नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्। देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥** (मनु० अ० २ श्लो० १७६) ब्रह्मचारी स्नान करके पवित्र होकर देव, ऋषि और पितृ का तर्पण तथा देवताओं की पूजा और समिदाधान नित्य प्रति करे ॥ १७६ ॥ **तस्माद्ब्रह्मचारी यां रात्रिं समिधं नाहरत्यायुष एव तामवदाय वसति तस्माद्ब्रह्मचारी समिधमाहरेत् ॥** (बौधायनस्मृ० प्र० १ अ० २ श्लो० ५१) उससे ब्रह्मचारी जिस रात्रि में समिदाहरण नहीं करता है उस रात्रि में अपनी आयु को विनाश करके रहता है इससे ब्रह्मचारी रात्रि में अवश्य समिदाहरण करे ॥ ५१ ॥ इस नियमानुसार रात्रि में समिदाधान करके सत्यकाम पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥ १ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति । भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अग्निः) अग्निदेव ने (तम्) उस सत्यकाम से (सत्यकाम) हे सत्यकाम (इति) ऐसा (अभ्युवाद) जोर से पुकारा तब (भगव) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन् क्या है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम ने (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अग्निदेव ने उस सत्यकाम से हे सत्यकाम ! ऐसा बड़े जोर शोर से पुकारा। तब हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन् ! क्या है उस प्रसिद्ध सत्यकाम ने उत्तर दिया ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ - सत्यकाम से पुनः अग्निदेव ने कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम प्रसन्न मैं (ते) तेरे लिये (ब्रह्मणः) परब्रह्म का (इति) इस (पादम्) दूसरे पादको (ब्रवाणि) उपदेश करूँ। तब सत्यकाम

ने कहा कि (भगवान्) परमपूज्य आप (मे) मुझे जिज्ञासु शिष्य को (ब्रवीतु) उपदेश कृपाकर देवें (इति) यह सुनकर (ह) प्रसिद्ध अग्निदेव ने (तस्मै) उस सत्यकाम से (उवाच) कहा कि परब्रह्म की (पृथ्वी) पृथ्वी (कला) पहली कला है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक (कला) दूसरी कला है (द्यौः) द्युलोक (कला) तीसरी कला है और (समुद्रः) समुद्र (कला) चौथी कला है (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन (वै) निश्चय (एषः) यह (ब्रह्मणः) परब्रह्मका (अनन्तवान् अनन्तवान् (नाम) नाम से प्रसिद्ध (चतुष्कलः) चार कलाओं वाला (पादः) पाद है ॥३॥

विशेषार्थ—सत्यकाम से अग्निदेव ने कहा कि हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम जैसे गौओं के चार पाद होते हैं वैसे ही परब्रह्म नारायण के चार पाद हैं। उनमें से यदि उपदेश सुनने की तेरी इच्छा हो तो प्रसन्न मैं तेरे लिए परब्रह्म नारायण के इस दूसरे पाद का उपदेश करूँ। तब सत्यकाम ने कहा हे पूज्यपाद भगवन्! आप मुझे जिज्ञासु शिष्य को अवश्य कृपा करके उपदेश दें। यह सुनकर अग्नि देव ने उस सत्यकाम से स्पष्ट कहा कि पृथ्वी परब्रह्म नारायण की पहली कला है और अन्तरिक्ष लोक दूसरी कला है तथा द्युलोक तीसरी कला है और समुद्र चौथी कला है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन तात! यह परब्रह्म के अनन्तवान् नाम से प्रसिद्ध चार कलाओं वाला पाद है ॥३॥

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादंब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति। य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥४॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (ब्रह्मणः) परब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) चार कलाओं वाले (पादम्) पाद को (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानता हुआ (अनन्तवान्) अनन्तवान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझ कर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोक में (अनन्तवान्) अनन्त वाला (भवति) होता है और (हः) प्रसिद्ध वह उपासक (अनन्तवतः) अनन्त वाले (लोकान्) लोकों को (जयति) जीत लेता है (यः) जो कोई उपासक

(ब्रह्मणः) परब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) पृथ्वी, अन्तरिक्ष द्युलोक और समुद्ररूप चार कलाओं वाला (पादम्) पाद का (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानता हुआ (अनन्तवान्) अनन्तवान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझकर (उपास्ते) उपासना करता है ।।४।।

विशेषार्थ—अब दूसरे पाद की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक परब्रह्म नारायण के इस पृथिव्यादिक चार कलाओं वाले दूसरे पाद को इस प्रकार का जानता हुआ अनन्तवान् नाम से सुप्रसिद्ध ऐसा समझ कर उपासना करता है वह उपासक इस पृथ्वीलोक में अनन्तवाला होता है और वह प्रसिद्ध उपासक अनन्तवाले समस्त लोकों को जीत लेता है। जो कोई उपासक परब्रह्म नारायण के इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्ररूप चार कलाओं वाले दूसरे पाद को इस प्रकार से जानता हुआ अनन्तवान् नाम से प्रसिद्ध ऐसा समझकर उपासना करता है। इस श्रुति में 'य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते' इस वाक्य का दो बार उच्चारण खण्ड समाप्ति का सूचन करता हुआ उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का छठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।४।।

।। अथ सप्तमखण्डः ।।

हंसस्ते पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ।।१।।

अन्वयार्थ—(हंसः) हंस (ते) तुम से (पादम्) ब्रह्म के तीसरे पाद को (वक्ता) उपदेश देगा (इति) इतना वचन कहकर अग्निदेव मौन हो गया (ह) प्रसिद्ध (सः) वह सत्यकाम (श्वोभूते) दूसरे दिन प्रातःकाल नित्य नैमित्तिक कर्म करके (गाः) गौओं को (अभिप्रस्थापयांचकार) आचार्य कुल की ओर ले चला (ताः) वे सब गायें (यत्र) जिस स्थान में (अभिसायम्) सायंकाल में (बभूवुः) एकत्रित हुईं (तत्र) वहाँ ही वह सत्यकाम (अग्निम्) अग्नि को (उपसमाधाय) समीप में प्रज्वलित कर

(गाः) गौओं को (उपरुध्य) समीप में रोक कर सन्ध्यावन्दन करके (समिधम्) अग्नि में समिधा को (आधाय) रखकर अग्नि के वचन को चिन्तन करता हुआ (अग्नेः) अग्नि के (पश्चात्) पीछे (प्राङ्) पूर्वाभिमुख होकर (उपोपविवेश) अग्नि के समीप बैठ गया ।। १ ।।

विशेषार्थ—सत्यकाम से अग्निदेव ने कहा कि हे सत्यकाम ! परब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश तुझे हंस यानी आदित्यदेव करेगा । यहाँ हंस शब्द का अर्थ आदित्य है । क्योंकि—**हंसः शुचिषद्** ।। (यजु० अ० १० मं० २४ । कठोप० अ० २ व० २ श्रु० २) ग्रीष्म ऋतु में गमन करनेवाला तेजस्वी सूर्यदेव ।। २४ ।। २ ।। इस श्रुति में हंस शब्द का अर्थ सूर्य होता है । और अन्यत्र भी लिखा है—**असौ वा आदित्यो हंसः** । ब्राह्मण भा०) यह सूर्य ही हंस है । इससे सिद्ध होता है कि 'हंस' शब्द का अर्थ सूर्य होता है । अथवा 'हंस' शब्द का अर्थ हंस संन्यासी होता है क्योंकि लिखा है— **कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति । एते सर्वे विष्णुलिङ्गिनः शिखिन उपवीतिनः** ।। (शाट्यायनीयोप० श्रु० ११) कुटीचक १, बहूदक २, हंस ३ और परमहंस ४ भेद से चार प्रकार के संन्यासी होते हैं ये चारो विष्णुलिङ्ग यानी त्रिदण्ड धारण करने वाले और शिखा तथा यज्ञोपवीत धारण करने वाले होते हैं ।। ११ ।। **चतुर्विधा भिक्षवस्तु प्रख्याता ब्रह्मणो मुखात् कुटीचको बहूदकः हंसश्चैव तृतीयकः** ।। (भाल्लवीयब्रह्मणोप० अ० ३ श्रु० १) **चतुर्थो परमहंसश्च संज्ञाभेदैः पृथक् कृतः । वृत्तिभेदेन भिन्नास्ते नैव लिङ्गात्तु ते द्विजाः । २।। सर्वे भिक्षवः विप्राःप्रोक्ता वेदे त्रिदण्डिनः । लिङ्गं तु वैष्णवं तेषां सजलं च पवित्रकम्** ।। ३ ।। ब्रह्मा के मुख से प्रख्यात चार प्रकार के संन्यासी होते हैं । कुटीचक तथा बहूदक और तृतीय हंस ।। १ ।। तथा चौथा परमहंस, वृत्ति के भेद से चार नाम अलग किया गया है, लिङ्ग के भेद से नहीं ।। २ ।। वेद में सब संन्यासी ब्राह्मण जाति के तथा त्रिदण्डवाले कहे गये हैं । चारों संन्यासियों के त्रिदण्ड तथा काषायवस्त्र और पवित्रा सहित जलयुक्त कमण्डलु बाह्य लिङ्ग हैं ।। ३ ।। **यज्ञोपवीतं दण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणम् । अयं परिग्रहो नान्यो हंसस्य श्रुतिवेदिनः** ।। (लघुविष्णुस्मृ०अ० ४श्लो० १)

सफेद यज्ञोपवीत और वेणुके त्रिदण्ड तथा जन्तु निवारण काषायवस्त्र और च से जलयुक्त कमण्डलु वेदवेत्ताहस संन्यासी के लिये यही परिग्रह है दूसरा नहीं ॥ २१ ॥ इससे सिद्ध हो गया कि 'हंस' शब्द का अर्थ हंस संन्यासी होता है। अथवा हंस यानी हंसावतार धारी साक्षात् परब्रह्म नारायण। अथवा हंस माने प्रसन्न देवता विशेष से अधिष्ठित हंस पक्षी होता है। हंस तुझे तीसरा पाद बतावेगा ऐसा कहकर अग्निदेव मौन हो गया तब वह प्रसिद्ध सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यनैमित्तिक कर्म करके गौओं को आचार्य कुल की ओर ले चला। वे सब गायें जिस स्थान पर सायंकाल में एकत्रित हुई, वहाँ ही वह सत्यकाम अग्नि को अपने समीप में प्रज्वलित कर तथा गौओं को समीप में छेंक कर सन्ध्यावन्दन करके अग्नि में समिधा को डालकर अग्नि के वचन को चिन्तन करता हुआ अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर अग्निके अति समीप बैठ गया।१।

तं हंस उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति। भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

अन्वयार्थ—(हंसः) हंस (उपनिपत्य) सत्यकाम के समीप आकर (तम्) उस सत्यकाम से (सत्यकाम) हे सत्यकाम (इति) ऐसा (अभ्युवाद) जोर शोर से पुकारा तब (भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन् क्या है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम ने (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

विशेषार्थ—गो सेवा से प्रसन्न हंस सत्यकाम के समीप आकर उस सत्यकाम से हे सत्यकाम ! ऐसा जोर शोर से पुकारा। तब हे षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्यपाद भगवन् क्या आज्ञा होती है ऐसा उस सुप्रसिद्ध सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥३॥

अन्वयार्थ—सत्यकाम से पुनः हंस ने कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह

प्रियदर्शन सत्यकाम प्रसन्न मैं (ते) तेरे लिये (ब्रह्मणः) परब्रह्म का (इति) इस (पादम्) तीसरा पाद को (ब्रवाणि) उपदेश करूँ तब सत्यकाम ने कहा कि (भगवान्) परम पूज्य आप (मे) मुझे जिज्ञासु शिष्य को (ब्रवीतु) उपदेश कृपा कर देवें (इति) यह सुनकर (ह) प्रसिद्ध हंस ने (तस्मै) उस सत्यकाम से (उवाच) कहा कि परब्रह्म को (अग्निः) अग्नि (कला) पहली कला है (सूर्यः) सूर्य (कला) दूसरी कला है (चन्द्रः) चन्द्रमा (कला) तीसरी कला है और (विद्युत्) विद्युत् (कला) तीसरी कला है (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन (वै) निश्चय (एषः) यह (ब्रह्मणः) परब्रह्म का (ज्योतिष्मान्) ज्योतिष्मान् (नाम) नामसे प्रसिद्ध (चतुष्कलः) चार कलाओं वाला (पादः) पाद है ॥३॥

विशेषार्थ—सत्यकाम से हंस ने कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम जैसे गौओं को चार पाद होते हैं वैसे ही परब्रह्म नारायण के चार पाद हैं। उनमें से यदि उपदेश सुनने को तेरी इच्छा हो तो प्रसन्न मैं तेरे लिए परब्रह्म नारायण के तीसरे पाद को उपदेश करूँ। तब सत्यकाम ने कहा कि हे पूज्यपाद भगवन् आप मुझे जिज्ञासु शिष्य को अवश्य कृपा कर उपदेश दें। यह सुनकर हंस ने उस सत्यकाम से स्पष्ट कहा कि—अग्नि परब्रह्म नारायण की पहली कला है और सूर्य दूसरी कला है तथा चन्द्रमा तीसरी कला है और बीजली चौथी कला है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन तात! यह परब्रह्म नारायण के ज्योतिष्मान् नाम से प्रसिद्ध चार कलाओं वाला पाद है ॥३॥

स य यतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकञ्जयति। य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥४॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके सप्तमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (ब्रह्मणः) परब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) अग्नि आदिक चार कलाओं वाले (पादम्) तीसरे पाद को (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानता हुआ (ज्योतिष्मान्) ज्योतिष्मान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझकर (उपास्ते) उपासना

करता है (सः) वह उपासक (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोक में (ज्योतिष्मान्) ज्योतिष्मान् (भवति) होता है और (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (ज्योतिष्मतः) ज्योतिवाले (लोकान्) लोकों को (जयति, जीत लेता है (यः) जो कोई उपासक (ब्रह्मणः) परब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् रूप चार कलाओं वाले (पादम्) तीसरे पाद को (एवम्) इस प्रकार के विद्वान् जानता हुआ (ज्योतिष्मान्) ज्योतिष्मान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझकर (उपास्ते) उपासना करता है ॥४॥

विशेषार्थ—अब तीसरे पाद की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक परब्रह्म नारायण के इस अग्नि आदि चार कलाओं वाले तीसरे पाद को इस प्रकार के जानता हुआ ज्योतिष्मान् नाम से सुप्रसिद्ध ऐसा समझकर उपासना करता है, वह उपासक इस पृथ्वी लोक में ज्योतिष्मान् होता है और वह प्रसिद्ध उपासक ज्योतिष्मान् लोकों को जीत लेता है जो कोई उपासक परब्रह्म नारायण के इस अग्नि सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् रूप चार कलाओं वाले तीसरे पाद को इस प्रकार का जानता हुआ ज्योतिष्मान् नाम से प्रसिद्ध ऐसा समझकर उपासना करता है। इस श्रुति में 'य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते' इस वाक्य का दो बार उच्चारण प्रकृत खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश को निश्चितता को भी प्रतिपदित करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथाष्टमखण्डः ॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थयांचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

अन्वयार्थ—(मद्गुः) मद्गु नाम के एक प्रकार के जलचर पक्षी (ते) तुम से (पादम्) परब्रह्म के चौथे पाद को (वक्ता) उपदेश देगा (इति) इतना वचन कहकर हंस मौन हो गया (ह) प्रसिद्ध (सः) वह

सत्यकाम (श्वोभूते) दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यनैमित्तिक कर्म करके (गाः) गौओं को (अभिप्रस्थापयाञ्चकार) आचार्यकुल की ओर ले चला (ताः) वे सब गायें (यत्र) जिस स्थान पर (अभिसायम्) सायंकाल में (बभूवुः) एकत्रित हुईं (तत्र) वहीं वह सत्यकाम (अग्निम्) अग्नि को (उपसमाधाय) समीप में प्रज्वलित कर (गाः) गौओं को (उपरुध्य) समीप में रोक कर सन्ध्यावन्दन करके (समिधम्) अग्नि में समिधा को (आधाय) रख कर हंस के वचन को चिन्तन करता हुआ (अग्नेः) अग्नि के (पश्चात्) पीछे [प्राङ्] पूर्वाभिमुख होकर [उपोपविवेश] अग्नि के समीप बैठ गया ॥ १ ॥

विशेषार्थ – सत्यकाम से हंस ने कहा कि हे सत्यकाम परब्रह्म के चौथा पाद का उपदेश तुझे मद्गु नाम के एक प्रकार के जलचरपक्षी करेगा। ऐसा कहकर हंस मौन हो गया। तब वह प्रसिद्ध सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यनैमित्तिक कर्म करके गौओं को आचार्य कुल की ओर ले चला। वे सब गायें जिस स्थान पर सायंकाल में एकत्रित हुईं वहीं वह सत्यकाम अग्नि को समीप में प्रज्वलित कर गौओं को पास में रोककर सन्ध्यावन्दन करके अग्नि में समिधाधान करके हंस के वचन का चिन्तन करता हुआ अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर अग्नि के समीप में बैठ गया ॥ १ ॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति। भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

अन्वयार्थ – (मद्गुः) मद्गु नाम के एक प्रकार के जलचर पक्षी (उपनिपत्य) सत्यकाम के समीप आकर (तम्) उस सत्यकाम से (सत्यकाम) हे सत्यकाम (इति) ऐसा (अभ्युवाद) जोर शोर से पुकारा तब (भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन् क्या है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम ने (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

विशेषार्थ – गो सेवा से प्रसन्न मद्गुनाम के जलचर पक्षी सत्यकाम के समीप जाकर उस सत्यकाम से हे सत्यकाम, ऐसा बड़े जोर शोर से पुकारा। तब हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन्! क्या आज्ञा होती है ऐसा उस सुप्रसिद्ध सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानि-

ति। तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥३॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) सत्यकाम से पुनः मद्गुपक्षी ने कहा कि हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम (ते) तेरे लिये प्रसन्न मैं (ब्रह्मणः) परब्रह्म के (इति) इस (पादम्) चौथे पाद को (ब्रवाणि) उपदेश करूँ तब सत्यकाम ने कहा कि (भगवान्) परमपूज्य आप (मे) मुझ जिज्ञासु शिष्य को (ब्रवीतु) उपदेश कृपाकर देवें (इति) यह सुनकर (ह) प्रसिद्ध जलचर मद्गुपक्षी ने (तस्मै) उस सत्यकाम से (उवाच) कहा कि परब्रह्म के (प्राणः) प्राण (कला) पहली कला है (चक्षुः) नेत्र (कला) दूसरी कला है (श्रोत्रम्) श्रोत्र (कला) तीसरी कला है और (मनः) मन (कला) चौथी कला है (सौम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम (वै) निश्चय (एषः) यह (ब्रह्मणः) परब्रह्म नारायण के (आयतनवान्) आयतनवान् (नाम) नाम से प्रसिद्ध (चतुष्कलः) चार कलाओं वाला (पादः) पाद है ॥३॥

विशेषार्थ—सत्यकाम से मद्गु नाम वाले जलचर पक्षी ने कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम! जैसे गौओं के चार पद होते हैं वैसे ही परब्रह्म नारायण के चार पाद हैं। उनमें से यदि उपदेश सुनने की तेरी इच्छा हो तो प्रसन्न मैं तेरे लिये परब्रह्म नारायण के इस चौथे पाद का उपदेश करूँ। तब सत्यकाम ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवान् आप मुझ जिज्ञासु शिष्य को अवश्य कृपा करके उपदेश दें। यह सुनकर मद्गु नाम के जलचर पक्षी ने उस सत्यकाम से स्पष्ट कहा कि—प्राण परब्रह्म नारायण की पहली कला है, चक्षु दूसरी कला है, श्रोत्र तीसरी कला है और मन चौथी कला है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम यह परब्रह्म नारायण के आयतनवान् नाम से सुप्रसिद्ध चार कलाओं वाला पाद है ॥३॥

स य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति। य एतमेवं विद्वाँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण

आयतनवानित्युपास्ते ॥४॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठकेऽष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (ब्रह्मणः) परब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) प्राणादिक चार कलाओं वाले (पादम्) चौथे पाद को (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानता हुआ (आयतनवान्) आयतनवान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (अस्मिन्) इस (लोके) भू लोक में (आयतनवान्) आयतन वाला (भवति) होता है और (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (आयतनवतः) आयतन वाले (लोकान्) समस्त लोकों को (जयति) जीत लेता है (यः) जो कोई उपासक (ब्रह्मणः) परब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन रूप कलाओं वाले (पादम्) चौथे पाद को (एवम्) इस प्रकार के (विद्वान्) जानता हुआ (आयतनवान्) आयतनवान् नाम से प्रसिद्ध (इति) ऐसा समझकर (उपास्ते) उपासना करता है ॥४॥

विशेषार्थ—अब चौथे पाद की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक परब्रह्म नारायण के इस प्राण आदिक चार कलाओं वाले चौथे पाद को इस प्रकार से जानते हुए आयतनवान् नाम से प्रसिद्ध ऐसा समझकर उपासना करता है, वय उपासक इस पृथ्वी लोक में आयतन वाला होता है और वह प्रसिद्ध उपासक आयतन वाले सब लोकों को जीत लेता है। जो कोई उपासक परब्रह्म नारायण के इस प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन रूप चार कलाओं वाले चौथे पाद को इस प्रकार का जानता हुआ आयतनवान् नाम से सुप्रसिद्ध ऐसा समझकर उपासना करता है। इस श्रुति में "य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कल पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते" इस वाक्य का दो बार उच्चारण आठवें खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥अथ नवमखण्डः ॥

प्राप हाचार्यकुलम्। तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति। भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥१॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध वह सत्यकाम (आचार्यकुलम्) गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत नाम के अपने आचार्य के कुल में (प्राप) एक हजार गौओं के साथ पहुँचा तब (आचार्यः) हारिद्रुमत आचार्य ने (तम्) उस सत्यकाम से (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! (इति) ऐसा बड़ा प्रेम करके (अभ्युवाद) जोर जोर से पुकारा तब (भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन् क्या आज्ञा होती है (इति) इस तरह सविनय (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम ने (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया ॥ १ ॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध जबाला का पुत्र सत्यकाम गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत आचार्य के कुल में एक हजार गौओं के साथ पहुँचा। तब हारिद्रुमत आचार्य ने उस सत्यकाम को देखकर बड़े प्रेम से दूर से ही हे सत्यकाम ! हे सत्यकाम !! कहकर जोर से पुकारा। तब आचार्य के वचन को सुनकर तुरत ही नम्रतापूर्वक सत्यकाम ने उत्तर दिया कि हे पूज्यपाद भगवन् यह मैं हूँ, आपकी कृपा से आपके श्रीचरणमूल में प्राप्त हुआ हूँ, क्या आज्ञा होती है। आचार्य का लक्षण लिखा है कि— **उपनीयं तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥** (मनु० अ० २ श्लो० १४०) जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत करके कल्प और रहस्य सहित वेद को पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं। प्रकृत श्रुति में **'यथा देवे तथा गुरौ ॥'** (श्वेता० उ० अ० ६ श्रु० २३) जिस प्रकार परमात्मा देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी ॥ २३ ॥ इस श्रौत सिद्धान्त को जनाने के लिये आचार्य हारिद्रुमत में 'भगवः' पद का प्रयोग हुआ है ॥ १ ॥

ब्रह्मविदिव वै सौम्य भासि को नु त्वानुशशासेति। अन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे। भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥२॥

अन्वयार्थ - (सौम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत्यकाम (वै) निश्चय तुम (ब्रह्मविद्) ब्रह्मवेत्ता के (इव) समान (भासि) सुशोभित हो रहे हो (नु) निश्चय करके (कः) किसने (त्वा) तुझको (अनुशशास) परब्रह्म का उपदेश दिया है (इति) ऐसा आचार्य ने पूछा तब (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम ने (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों से अन्य भिन्न देवताओं ने मुझे ब्रह्म का उपदेश दिया है (इति) ऐसी (प्रतिजज्ञे) प्रतिज्ञा की (तु) परन्तु (कामे) इच्छा होने पर (मे) मुझे (भगवान्) षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद आप (एव) निश्चय करके (ब्रूयात्) ब्रह्म का उपदेश करें ॥ २ ॥

विशेषार्थ—स्मितानन प्रफुल्लितगात्र प्रसन्नचेता उस सत्यकाम को देखकर हारिद्रुमत आचार्य ने पूछा कि—हे सोमाई प्रियदर्शन सत्यकाम तू ब्रह्मवेत्ता के समान सुशोभित हो रहा है, तुझे किसने ब्रह्म का उपदेश दिया है। यह सुनकर सत्यकाम ने कहा कि हे पूज्यपाद भगवन्! आपके शिष्य मुझको कोई मनुष्य ब्रह्म का उपदेश देने के लिये समर्थ नहीं हो सकता है। इससे मनुष्यों से भिन्न देवताओं ने मुझे उपदेश दिया है। अब इच्छा होने पर पूज्यपाद आप ही मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। आचार्य रहते हुए दूसरे मनुष्य से क्यों मैं याचना करूँ। क्योंकि स्पष्ट लिखा है— **आचार्यवान् पुरुषो वेद ॥** (छां० उ० ६।१४।२) आचार्य वाला पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ॥ २ ॥ **आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः ॥** (मनु० अ० २ श्लो० २२६) आचार्य परब्रह्म नारायण की मूर्ति हैं ॥२२६॥ **आचार्यं मां विजानीयात् ॥** (श्रीमद्भा० स्कं ११ अ० १७ श्लो० २७) आचार्य को परब्रह्म नारायण समझे ॥ २७ ॥ इससे श्रीमान् ही मुझे ब्रह्म का उपदेश दें ॥ २ ॥

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति। तस्मै हैतदेवोवाच। अत्र ह न किञ्चन वीयायेति। वीयायेति ॥३॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके नवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(हि) क्योंकि (भगवद्दृशेभ्यः) भगवन् आपके समान आचार्यों से (मे) मेरा (एव) निश्चय करके (श्रुतम्) सुना हुआ है कि (ह) प्रसिद्ध (आचार्यात्) आचार्य से (एव) निश्चय (विदिता) जानी गयी (विद्या) विद्या (साधिष्ठम्) साधुमतत्त्व को (प्रापत्) प्राप्त होती है (इति) इस हेतु से हे भगवन् मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश देवें (ह) प्रसिद्ध हारिद्रुमत आचार्य ने (तस्मै) उस सत्यकाम नाम के शिष्य के लिये (एतत्) इस सोलह कलायुक्त ब्रह्मविज्ञान को (एव) न्यूनाधिकरहित ही (उवाच) उपदेश दिया (ह) प्रसिद्ध (अत्र) इस षोडशकला विद्या में (इति) इस प्रकार के (किञ्चन) कुछ भी (न) नहीं (वीयाय) वैविध्य को प्राप्त हुआ (इति) इस प्रकार के नहीं (वीयाय) वैविध्य को प्राप्त हुआ ॥३॥

विशेषार्थ—मैंने श्रीमान् जैसे महानुभाव आचार्यों से निश्चय करके सुना है

कि आचार्य से जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है। इससे मैं आपसे अन्य किसी मनुष्य से ब्रह्मविद्या को नही ग्रहण करना चाहता हूँ। आचार्य का लक्षण लिखा है कि— **स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि। आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते ॥** (श्रीब्रह्माण्डपु० पूर्वभा० अनुषंगपा० २ अ० ३२ श्लो० ३२) स्वयं जो आचरण करता है और आचरण करवाता है तथा शास्त्रों को एकत्रित करता है उसको आचार्य कहते हैं ॥ ३२ ॥ विद्या के विषय में लिखा है— **द्वे विद्ये वेदितव्ये। पराचैवापरा च ॥** (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० ४) **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रणीति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥** दो विद्याएँ जानने योग्य उपादेयभूत हैं उनमें एक परा विद्या है और दूसरी अपरा विद्या है ॥ ४ ॥ उन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, इतिहास, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये सब अपरा विद्या हैं और जिस विद्या से वह अविनाशी परब्रह्म नारायण यथार्थ जाना जाता है वह परा विद्या है ॥ ५ ॥ शिष्य के साष्टांग प्रणिपातपुरःसरसविनय निवेदन करने के अनन्तर प्रसिद्ध गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत आचार्य ने सत्यकाम नाम के उस गोसेवक शिष्य के लिये षोडश कला वाले ब्रह्मविज्ञान को न्यूनाधिकरहित ही उपदेश किया। निश्चय करके इस प्रसिद्ध षोडश कलायुक्त ब्रह्मविद्या में कुछ भी नहीं विवध प्रकार के भाव को प्राप्त हुआ है। इस श्रुति में 'वीयायेति' इस वाक्य का दो बार उच्चरण सोलह कलायुक्त ब्रह्मविद्या की और प्रकृत खण्ड की समाप्तिसूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। श्रीभट्टनाथमुखाब्जमित्र भगवद्रामानुजाचार्य ने— **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १५) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के चतुर्थ प्रपाठक के नवें खण्ड की तीसरी श्रुति के आचार्याद्धैव विद्याविदिता साधिष्ठं प्रापत्" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ छान्दोग्योपनिद्" के चतुर्थ प्रपाठक का नवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ दशमखण्डः ॥

उपकोशलो ह वै कमलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास । तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन्परिचचार । स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयँस्तँ ह स्मैव न समावर्तयति ॥१॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध है कि (कामलायनः) कमल ऋषि का पुत्र (उपकोशलः) उपकोशल ऋषि (वै) निश्चय करके (जाबाले) जबाला के पुत्र (सत्यकामे) सत्यकाम के यहाँ विद्या के लिये (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते हुए (उवास) निवास करता था (ह) यह प्रसिद्ध है कि (तस्य) उस आचार्य सत्यकाम को (द्वादश+वर्षाणि) बारह वर्ष तक (अग्नीन्) अग्नियों की (परिचचार) सेवा उपकोशल ने की (ह) प्रसिद्ध (सः) उस आचार्य सत्यकाम ने (अन्यान्) स्वाध्यायार्थी दूसरे (अन्तेवासिनः) ब्रह्मचारियों का (समावर्तयन्+स्म) समावर्तन संस्कार कर दिया (ह) प्रसिद्ध है कि (एव) निश्चय करके ब्रह्मविद्या के अर्थी (तम्) उस उपकोशल ऋषि को समझकर आचार्य सत्यकाम ने (न) नहीं (समावर्तयति+स्म) उपकोशल ऋषि का समावर्तन संस्कार किया क्योंकि चिर सेवा बिना ब्रह्मविद्या नहीं उपदेश करनी चाहिये ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अब उपकोशल विद्या कहने के लिये प्रारम्भ किया जाता है कि—यह प्रसिद्ध है कि कमल ऋषि का पुत्र उपकोशल ऋषि सुप्रसिद्ध जबाला के पुत्र आचार्य सत्यकाम ऋषि के यहाँ विद्या के लिये ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करके रहता था। ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा है-**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥** (अथर्व० कां० ११ प्र० २४ अ० ३ सू० ७ मं० १८) ब्रह्मचर्य से जवान हुये पति को कन्या प्राप्त होती है ॥१८। **ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम्** ॥(रामानुजभा० गी० १७।१४)स्त्रियों में भोग्य बुद्धि करके उनका दर्शन आदि न करना उसीको ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥१४॥ **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥** (योग० अ० १ पा० २ सू० ३८) ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्यलाभ होता है ॥ ३८ ॥ उपकोशल ने बारह वर्ष तक उस आचार्य सत्यकाम की सेवा की।

अग्नि के विषय में लिखा है— **अग्नयो वै त्रयीविद्यादेवयानः पन्था गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तरमन्वाहार्यपचनं यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः सामसुवर्गो लोको बृहत्तस्मादग्नीन्परमं वदन्ति ॥** (तैत्तिरी० आर० प्रपा० १० अनु० ६३) निश्चय करके अग्नियाँ त्रयीविद्या और देवयान मार्ग हैं। गार्हपत्य अग्नि ऋग्वेद तथा पृथ्वीलोक रथन्तर साम है। अन्वाहार्यपचन अग्नि यजुर्वेद अन्तरिक्ष लोक और वामदेव्य साम है तथा आहवनीय अग्नि, सामवेद, स्वर्लोक और बृहत्साम है। इससे अग्नियों को सबसे श्रेष्ठ सबलोग कहते हैं ॥ ६३ ॥ प्रसिद्ध उस आचार्य सत्यकाम ने स्वाध्याय करने वाले अन्य ब्रह्मचारियों का तो समावर्तन संस्कार कर दिया। परन्तु केवल उपकोशल ब्रह्मचारी को ब्रह्मविद्या के अर्थी समझकर इनका समावर्तन संस्कार नहीं किया। क्योंकि ब्रह्मविद्या का चिरकाल तक बिना सेवा किये हुये को नहीं उपदेश देना चाहिये। जैसा लिखा है— **यमेव विद्याश्रुतप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्यात् ॥** (शाट्यायनीयोपनि० श्रु० ३४) जो वेदाध्ययन किया हो तथा समाहित मनवाला हो और पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया हो तथा मेधावी हो और शास्त्र की विधि के अनुसार पास में आया हो उस भक्त अधिकारी के लिये भलीभाँति परीक्षा करके इस ब्रह्मविद्या को दे। ॥ ३४ ॥ इस नियमानुसार न्यूनता से युक्त उपकोशल ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार आचार्य सत्यकाम ने नहीं किया ॥ १ ॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् पर्यचारीन्मात्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति। तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥२॥

अन्वयार्थ—(जाया) आचार्य सत्यकाम की धर्मपत्नीने (तम्) उस अपने पति सत्यकाम से (इति) इस वक्ष्यमाण वाक्य को (उवाच) कहा कि (ब्रह्मचारी) यह उपकोशल ब्रह्मचारी (तप्तः) खूब तपस्या कर चुका है और इसने (कुशलम्) अच्छी तरह (अग्नीन्) अग्नियों की (पर्यचारीत्) सेवा की है (अग्नयः) उपकोशल की परिचर्या से प्रसन्न अग्नियाँ (त्वा) आपको (मा) मत (परिप्रवोचन्) निन्दा करें

इस कारण से (अस्मै इस उपकोशल ब्रह्मचारी के लिये (प्रब्रूहि) ब्रह्मविद्या का उपदेश कर दीजिये इस प्रकार भार्या के कहने पर भी (ह) प्रसिद्ध आचार्य सत्यकाम ने (तस्मै) उस कमलसुत उपकोशल के लिये (अप्रोच्य) ब्रह्मविद्या का उपदेश न देकर (एव) ही (प्रवासांचक्रे) बाहर विदेश को चला गया ॥ २ ॥

विशेषार्थ—आचार्य सत्यकाम से उनकी सुशीला धर्मपत्नी ने प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! यह ब्रह्मचारी खूब तपस्या कर चुका है। और इसने अच्छी तरह अग्नियों की भी सेवा की है। उपकोशल ब्रह्मचारी की परिचर्या से प्रसन्न अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें। इससे उपकोशल ब्रह्मचारी के लिये ब्रह्मविद्या का उपदेश कर दीजिये। इस प्रकार धर्मपत्नी के सविनय निवेदन करने पर भी प्रसिद्ध जबाला के पुत्र सत्यकाम देशिक उस कमलसुत उपकोशल को बिना ब्रह्मविद्या का उपदेश किये ही विदेश को चले गये। इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि किसी के कहने से तुरन्त ही ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ २ ॥

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे। तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति। स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मिनाशिष्यामीति ॥३॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) उस उपकोशल ब्रह्मचारी ने (व्याधिना) मानसिक दुःख से पीड़ित (अनशितुम्) अनशन करने के लिये (दध्रे) निश्चय किया तब (तम्) उस अनशन करने वाले उपकोशल से (आचार्यजाया) आचार्य सत्यकाम महर्षि की धर्मपत्नी (उवाच) बोली कि (ब्रह्मचारिन्) हे ब्रह्मचारिन् उपकोशल (अशान) तुम भोजन करो (नु) निश्चय करके (किम्) क्यों (न) नहीं (अश्नासि) तुम भोजन करते हो (इति) इस वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस उपकोशल ब्रह्मचारी ने (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (अस्मिन्) इस (पुरुषे) जीव में (कामाः) ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्त काम्यमान विषय (नानात्ययाः) नानाविध कामोपहति पूर्वक गर्भ जन्मजरा मरणादिभवभयलक्षणफलजनक [इमे] ये [बहवः] बहुत से मन में वर्तमान हैं [व्याधिभिः] विषयभयरूप मानसिक व्याधियों से (प्रतिपूर्णः) परिपूर्ण (अस्मि) मैं हूँ इसलिये (न) नहीं (अशिष्यामि) मैं भोजन करूँगा ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—उस सुप्रसिद्ध उपकोशल ब्रह्मचारी ने मानसिक विविध व्यथाओं के कारण अनशन करने का निश्चय किया। तब उस अनशन व्रतारम्भी उपकोशल ब्रह्मचारी से आचार्य सत्यकाम महर्षि की धर्मपत्नी बोली कि हे उपकोशल ब्रह्मचारिन्! तुम भोजन करो। क्यों नही तुम भोजन करते हो। इस वचन को सुनकर उस उपकोशल ब्रह्मचारी ने खेद के साथ स्पष्ट कहा कि—माता जी इस जीव में ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्त काम्यमान विषय नानाविध कामोपहतिपूर्वक गर्भजन्मजरामरणादि भवभयलक्षण फल जनक ये बहुत से विद्यमान हैं। भवविषयभयरूप मानसिक व्याधियों से परिपूर्ण मैं हूँ। इसलिये भोजन मैं नहीं करूँगा। परकालमुखाब्जमित्र भगवद्रामानुजाचार्य ने— **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** (शा० मी० १।२। १५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के दसवें खण्ड की तीसरी श्रुति के 'व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥३॥

अथ हाग्नयः समूदिरे। तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति। तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) उपकोशल ब्रह्मचारी के अनशन व्रत धारण करने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (अग्नयः) गार्हपत्य अन्वाहार्यपचन आहवनीय ये तीनों अग्नियाँ (समूदिरे) एकत्रित होकर दयमान मानस वाली बोलीं कि (ब्रह्मचारी) यह उपकोशल ब्रह्मचारी (तप्तः) खूब तपस्या कर चुका है और इसने (कुशलम्) अच्छी तरह (नः) हम सब अग्नियों की (पर्यचारीत्) सेवा की है (इति) इस कारण से (हन्त) यदि सबों की सम्मति हो तो (अस्मै) इस शुश्रूषु उपकोशल ब्रह्मचारी के लिये (प्रब्रवाम) हम सब भलीभाँति ब्रह्मविद्या का उपदेश देवें ऐसा निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध वे गार्हपत्य आदिक अग्नियाँ (इति) इस प्रकार के (तस्मै) उस उपकोशल ब्रह्मचारी से (उचुः) बोलीं कि (प्राणः) सकल जगत् के प्राणयितृत्व योग से प्राणशब्दवाच्य (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है (कम्) क यानी वैषयिक सुख शरीरक (ब्रह्म) परब्रह्म है (खम्) ख यानी आकाश शरीरक अपरिच्छिन्न (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—उपकोशलब्रह्मचारी के अनशनव्रत धारण करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध, गार्हपत्य तथा अन्वाहार्यपचन और आहवनीय ये तीनों अग्नियों ने उपकोशल ब्रह्मचारी की परिचर्या से प्रसन्न होकर एकत्रित होकर के दयमान मानस वाली आपस में बातचीत की कि— यह उपकोशल ब्रह्मचारी खूब तपस्या कर चुका है। इसने अच्छी तरह हम सब अग्नियों की सेवा भी की है। इस हेतु यदि सबकी सम्मति हो तो इस जन्म जरामरणादिभवभयभीत मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी के लिये हम सब भलीभाँत ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। अवश्य उपदेश देना चाहिये ऐसा सर्वसम्मत होने पर वे प्रसिद्ध गार्हपत्य आदिक अग्नियाँ उस शुश्रुष उपकोशल ब्रह्मचारी से इस प्रकार से बोली कि— "प्राण ब्रह्म है अर्थात् समस्त जगत् के प्राणयितृत्वयोग से प्राण शरीरक परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है— **स उ प्राणस्य प्राणः ॥** (केनो० खं० १ श्रु० २) वह परब्रह्म नारायण प्राण के प्राण हैं ॥ २ ॥ **यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयति ॥** (बृ० उ० अ० ब्रा० ७ श्रु० १६) जो प्राण में रहने वाला प्राण के भीतर है जिसे प्राण नहीं जानता प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राण को नियमन करता है ॥ १६ ॥ और 'क' ब्रह्म है। अर्थात् वैषयिक सुख शरीरक परब्रह्म नारायण है। यहाँ 'क' शब्द का अर्थ सुख होता है। और 'ख' ब्रह्म है। अर्थात् आकाश शरीरक अपरीच्छिन्न परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है— **खं ब्रह्म ॥** (यजु० अ० ४० मं० १८) आकाश शरीरक परब्रह्म नारायण है ॥१८॥ यहाँ 'ख' शब्द का अर्थ आकाश है ॥ **यस्याकाशः शरीरम् ॥** (बृ० उ० अ० ब्रा० ७ श्रु० १२) जिसका आकाश शरीर है ॥१२॥ **यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद** (सुबालोप० खं० ७) जिस परमात्मा का आकाश शरीर है, जो आकाश के भीतर रहता है जिसको आकाश नहीं जानता है ॥ ७ ॥ यह उपदेश अग्नियों ने दिया है। श्रीवत्सचिह्नशरण भगवद्रामानुजाचार्य ने — **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** (शा० मी० १।२।१५). **अत एव च स ब्रह्म** (शा० मी० १।२।१६) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के चतुर्थ प्रपाठक के दसवें खण्ड की चौथी श्रुति के 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इन पदों को उद्धृत किया है ॥ ४ ॥

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म । कं च खं च न विजनामीति । ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मैतदाकाशं चोचुः ॥५॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह जन्म जरा मरणादि भव भयभीति मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी ने (उवाच) कहा कि (यत्) जो (प्राणः) प्राण (ब्रह्म) ब्रह्म है ऐसा आपलोगों ने कहा है उसको (अहम्) मैं (विजानामि) अच्छी तरह से जानता हूँ परन्तु (कम्) क को (च) और (खम्) ख को (च) भी (इति) ऐसा (न) नहीं (विजानामि) मैं जानता हूँ तब (ह) प्रसिद्ध (ते) वे उपकोशल के अभिप्राय को जानने वाले गार्हपत्य आदिक अग्नियों ने (इति) इस प्रकार के विशेषण विशेष्यभाव युक्त अपने अभिप्राय को (उचुः) कहा कि (वाव) निश्चय करके (यत्) जो (कम्) क है (तत्) वही (एव) निश्चय करके (खम्) ख है और (एव) निश्चय करके (यत्) जो (खम्) ख है (तत्) वही (एव) निश्चय करके (कम्) क है ऐसा ही तुम जानो (च) और (प्राणम्) प्राणत्वविशिष्ट जो ब्रह्म है (तत्) वही (आकाशम्) अपरिच्छिन्न (च) सुख-स्वरूप ब्रह्म है (ह) प्रसिद्ध उन गार्हपत्य आदि अग्नियों ने (अस्मै) मुमुक्षु इस उपकोशल के लिये (उचुः) उपदेश किया ॥ ५ ॥

विशेषार्थ - 'प्राण' ब्रह्म है 'क' ब्रह्म है 'ख' ब्रह्म है, अग्नियों के इस उपदेश को सुनकर सुप्रसिद्ध उस जन्म जरा मरणादिभवभयभीत मुमुक्षु उपकोशल ने सविनय निवेदन किया कि—हे अग्नियों ! आपलोगों ने जो मुझे उपदेश दिया है कि 'प्राण ब्रह्म है' इसको मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि— सम्पूर्ण जगत् के प्राणयितृत्वयोग से प्राण शरीरक परब्रह्म नारायण है। यही आपलोगों ने उपदेश दिया है। क्योंकि लिखा है कि— **प्राणस्य प्राणः** ॥ (के० उ० खं० १ श्रु० २) परब्रह्म नारायण सब प्राणों के प्राण हैं ॥ २ ॥ **यस्य प्राणः शरीरम्** ॥ (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० १६) जिस परब्रह्म नारायण का प्राण शरीर है ॥ १६ ॥ इन श्रुतियों के द्वारा मैं जानता हूँ कि 'प्राण ब्रह्म है' यानी प्राण शरीरक परब्रह्म नारायण है। परन्तु जो आपलोगों ने मुझे उपदेश दिया है कि 'क ब्रह्म

है, ख ब्रह्म है' इसको मैं नहीं जानता हूँ। यद्यपि 'क' शब्द का सुख अर्थ है और 'ख' शब्द का आकाश अर्थ है तो वैषयिक सुख शरीरक और आकाश शरीरक ब्रह्म है यह आपलोगों के उपदेश का अर्थ है अथवा 'क' इससे सुख कहा जाता है और आकाशवाची 'ख' से अपरिच्छिन्नत्व कहा जाता है और 'क' तथा 'ख' इन दोनों के परस्पर विशेष्य विशेषणभाव होने से—अपरिच्छिन्नसुख ब्रह्म है। यह भी अर्थ होता है तो पूर्वोक्त अर्थ में से किस अर्थ में आप लोगों का तात्पर्य है यह मैं नहीं जानता हूँ। तब प्रसिद्ध वे मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी के अभिप्राय को जानने वाले गार्हपत्य आदिक अग्नियों ने 'क' और 'ख' इन दोनों परस्पर विशेष्य विशेषण भाव रूप अर्थ को ही कहा है कि— निश्चय करके जो 'क' है वही 'ख' है अर्थात् अपरिच्छिन्नसुख ब्रह्म है और दाढ्यार्थ या उपासना सिद्धि के लिये फिर से अग्नियों ने कहा कि निश्चय करके जो 'ख' है वही 'क' है अर्थात् अपरिच्छिन्न सुखस्वरूप परब्रह्म नारायण है। और प्राणत्वविशिष्ट जो ब्रह्म है वही अपरिच्छिन्न सुखस्वरूप ब्रह्म है। इस प्रकार प्रसिद्ध उन गार्हपत्य आदि अग्नियों ने मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी के लिये उपदेश दिया। परांकुशपादभक्त भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अत एव च स ब्रह्म ॥** (शा० मी० १।२।१६) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के दसवें खण्ड की पाँचवीं श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ५ ॥

॥ अथैकादशखण्डः ॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास। पृथिव्याग्निरन्नमादित्य इति। य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) प्राणत्वविशिष्ट अपरिच्छिन्नसुखस्वरूप परब्रह्म नारायण को कहकर अब (एनम्) इस उपकोशल ब्रह्मचारी को (ह) प्रसिद्ध (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि ने (अनुशशास) वक्ष्यमाण अग्निविद्या की शिक्षा दी (पृथिवी) पृथ्वी (अग्निः) अग्नि (अन्नम्) खाद्यवस्तु अन्न और (आदित्यः) आदित्य (इति) ये चार गार्हपत्य अग्नि के शरीर हैं (यः) जो (एषः) यह (आदित्ये) सूर्यमण्डल में

(पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) दिखाई देता है (सः) वह (अहम्) मैं गार्हपत्य अग्नि (अस्मि) हूँ (एव) निश्चय (सः) वही (अहम्) मैं गार्हपत्य अग्नि (अस्मि) हूँ [इति] इस प्रकार के गार्हपत्य अग्नि ने ब्रह्म-विद्या के अङ्ग स्वरूप अग्नि-विद्या को कहा ॥१॥

विशेषार्थ—प्राणत्वविशिष्ट जो ब्रह्म है वही अपरिच्छिन्नसुखस्वरूप है। इस प्रकार दसवें खण्ड में ब्रह्म का उपदेश देकर अब इस खण्ड में ब्रह्मविद्या के अङ्गभूत अग्निविद्या का उपदेश गार्हपत्य अग्नि के द्वारा दिया जाता है। अनन्तर प्रसिद्ध इस मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी को गार्हपत्य अग्नि ने शिक्षा दी। क्या शिक्षा दी, वह आगे कहते हैं। पृथ्वी १, अग्नि २, अन्न ३ और आदित्य ४, ये चार मेरे यानी गार्हपत्य अग्नि के शरीर हैं। जो यह सूर्यमण्डल में पुरुष दीखता है वह मैं गार्हपत्य अग्नि हूँ। निश्चय करके वह मैं गार्हपत्य अग्नि हूँ। इस श्रुति में 'सोऽहमस्मि' इस वाक्य का दो बार उच्चारण उक्त उपासना की दृढ़ता द्योतन करने के लिये किया गया है। शिष्टाग्रगण्य भगवद्रामानुजाचार्य ने—**सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** (शा० मी० १।२।१५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपपठक के ग्यारहवें खण्ड की पहली श्रुति के 'अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्याम्। लोकी भवति। सर्वमायुरेति। ज्योग्जीवति। नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते। उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके एकादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस गार्हपत्य अग्नि के उपदेश को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) इसकी उपासना करता है (सः) वह उपासक (पापकृत्याम्) ब्रह्मप्राप्तिविरोधिपाप कर्म को (अपहते) नाश करता है (लोकी) ब्रह्मलोक वाला (भवति) होता है अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और ब्रह्मोपासनसमाप्ति के लिये जितनी आयु की अपेक्षा होती है उतनी (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) प्राप्त होता है (ज्योक्) व्याधि आदि से

अनुपहत यावद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्त उज्ज्वल (जीवति) जीवन धारण करता है (अस्य) इस उपासक के (अवरपुरुषाः) शिष्य प्रशिष्य आदिक तथा पुत्र पौत्र आदिक पुरुष (न) नहीं (क्षीयन्ते) क्षय होते हैं बल्कि ब्रह्मवेत्ता होते हैं (च) और (यः) जो कोई उपासक (एतम्) उस गार्हपत्य अग्नि के उपदेश को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) इसकी उपासना करता है (वयम्) हम सब अग्नियाँ (तम्) उस उपासक को (अस्मिन्) इस लोक में (च) और (अमुष्मिन्) उस पर (लोके) लोक में (उपभुञ्जामः) ब्रह्मप्राप्ति के समस्त विघ्नों से अच्छी तरह पालन करती हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब ब्रह्मविद्या के अङ्गस्वरूप गार्हपत्य अग्नि विद्या की उपासना का फल कहा जाता है कि जो कोई उपासक इस गार्हपत्य अग्नि के उपदेश को इस प्रकार जानता हुआ गार्हपत्य अग्नि की उपासना करता है, वह उपासक ब्रह्मप्राप्तिविरोधिपापकर्म को नष्ट कर देता है। ब्रह्मप्राप्तिविरोधिपापकर्म के नष्ट होने पर परब्रह्म नारायण के लोक को प्राप्त करता है तथा ब्रह्मोपासन समाप्ति की जितनी आयु की अपेक्षा होती है, उतनी सम्पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है। व्याधि आदि अनुपहत ब्रह्मप्राप्ति पर्यन्त उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। इस उपासक का शिष्य प्रशिष्य आदिक शिष्य-परम्परा का तथा पुत्र-पौत्र आदिक कुल परम्परा का क्षय नहीं होता है। बल्कि इसके कुल में ब्रह्मवेत्ता होते हैं। क्योंकि लिखा है—**नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ॥** (मु० उ० मु० ३ खं० २ श्रु० ९) इस उपासक के कुल में परब्रह्म नारायण को न जानने वाला नहीं होता है ॥ ९ ॥ और जो कोई उपासक इस गार्हपत्य अग्नि के उपदेश को इस प्रकार जानता हुआ इसकी उपासना करता है तो हम सब अग्नि उस उपासक को इस लोक में और परलोक में भी ब्रह्म प्राप्ति के सम्पूर्ण विघ्नों से अलग करके पालन करती हैं। दयाम्बुराशि भगवद्रामानुजाचार्य ने— **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** (शा० मी० १।२।१५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ २ ॥

॥ अथ द्वादशखण्डः ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास। आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति। य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

अन्वयार्थ--(अथ गार्हपत्य अग्नि विद्या वर्णन के अनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी को (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्नि ने (अनुशशास) वक्ष्यमाण अग्नि विद्या की शिक्षा दी (आपः) सम्पूर्ण जल (दिशः) सब पूर्वादि दिशाएं (नक्षत्राणि) समस्त तारागण (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (इति) ये चार मेरे दक्षिणाग्नि के शरीर हैं (यः) जो (एषः) यह (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) दिखाई देता है (सः) वह (अहम्) में दक्षिणाग्नि (अस्मि) हूँ (एव) निश्चय (सः) वही (अहम्) मैं दक्षिणाग्नि (अस्मि) हूँ (इति) इस प्रकार के दक्षिणाग्नि ने ब्रह्मविद्या के अङ्गस्वरूप अग्निविद्या को कहा ॥ १ ॥

विशेषार्थ—गार्हपत्य अग्निविद्या वर्णन के अनन्तर सुप्रसिद्ध इस मुमुक्षु उपकोसल ब्रह्मचारी को दक्षिणाग्नि ने शिक्षा दी। क्या शिक्षा दी वह आगे कहते हैं। जल १, दिशा २, नक्षत्र ३ और चन्द्रमा ४, ये चार मेरे यानी दक्षिणाग्नि के शरीर हैं। जो यह चन्द्रमा में पुरुष दीखता है वह मैं दक्षिणाग्नि हूँ, निश्चय करके वह मैं दक्षिणाग्नि हूँ। इस श्रुति में 'सोऽहमस्मि' इस वाक्य का दो बार उच्चारण उक्त उपासना की दृढ़ता द्योतन करने के लिये किया गया है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्याम्। लोकी भवति। सर्वमायुरेति। ज्योग्जीवति। नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते। उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस दक्षिणाग्नि के उपदेश को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) इसकी उपासना करता है (सः) वह उपासक (पापकृत्याम्) ब्रह्मप्राप्तिविरोधिपाप कर्म को नाश करता है (लोकी) ब्रह्मलोक वाला (भवति) होता है अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और ब्रह्मोपासन समाप्ति की जितनी आयु की अपेक्षा होती है उतनी (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) प्राप्त होता है (ज्योक्) व्याधि आदि से अनुपहत यावद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्त उज्ज्वल (जीवति) जीवन धारण करता है (अस्य)

इस उपासक के (अवरपुरुषाः) शिष्य, प्रशिष्य आदिक तथा पुत्र, पौत्र आदिक पुरुष (न) नहीं (क्षीयन्ते) क्षय होते हैं बल्कि ब्रह्मवेत्ता होते हैं (च) और (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस दक्षिणाग्नि के उपदेश को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) इसकी उपासना करता है (वयम्) हम सब अग्नि (तम) उस उपासक को (अस्मिन्) इस लोक में (च) और (अमुस्मिन्) उस पर (लोके) लोक में (उपभुञ्जामः) ब्रह्मप्राप्ति के समस्त विघ्नों से अच्छी तरह पालन करते हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब ब्रह्मविद्या के अङ्गस्वरूप दक्षिणाग्नि विद्या की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक इस दक्षिणाग्नि के उपदेश को इस प्रकार जानता हुआ दक्षिणाग्नि की उपासना करता है, वह उपासक ब्रह्मप्राप्तिविरोधी-पापकर्म के नष्ट होने पर परब्रह्म नारायण के लोक को प्राप्त करता है तथा ब्रह्मो-पासन समाप्ति की जितनी आयु की अपेक्षा होती है उतनी सम्पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है। व्याधि आदि से अनुपहत ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्त उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। इस उपासक के शिष्य-प्रशिष्य आदिक शिष्य-परम्परा का तथा पुत्र-पौत्र आदिक कुल-परम्परा का क्षय नहीं होता है। बल्कि उसके कुल में ब्रह्म-वेत्ता होते हैं। क्योंकि लिखा है— **नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ॥** [मुण्ड० मु० ३ खं०२ श्रु० ९] इस उपासक के कुल में परब्रह्म नारायणको न जानने वाला नहीं होता है ॥ ९ ॥ जो कोई उपासक इस दक्षिणाग्नि के उपदेश को इस प्रकार जानता हुआ इसकी उपासना करता है तो हम सब अग्नियाँ उस उपासक को इस लोक में और परलोक में भी ब्रह्म प्राप्ति के सम्पूर्ण विघ्नों से अलग करके पालन करती हैं। भवजलनिधिपोत भगवद्रामानुजाचार्य ने— **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** [शा० मी० १।२।१५] के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के बारहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के 'अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते उपवयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च' इस वाक्य को उद्धृत किया है। इस श्रुति में 'य एतमेवं विद्वानुपास्ते' इस का दो बार उच्चारण खण्ड समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहाँ 'छान्दोग्योप-निषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का बारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ त्रयोदशखण्डः ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास । प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) दक्षिणाग्निविद्यावर्णन के अनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी को (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि ने (अनुशशास) वक्ष्यमाण अग्निविद्या की शिक्षा दी (प्राणः) प्राण (आकाशः) आकाश (द्यौः) द्युलोक और (विद्युत्) विद्युत् (इति) ये चार मेरे आहवनीय अग्नि के शरीर हैं (यः) जो (एषः) यह (विद्युति) बिजली में (पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) दिखायी देता है (सः) वह (अहम्) मैं आहवनीयाग्नि (अस्मि) हूँ (एव) निश्चय (सः) वही (अहम्) मैं आहवनीयाग्नि (अस्मि) हूँ (इति) इस प्रकार के आहवनीयाग्नि ने ब्रह्मविद्या के अङ्गस्वरूप अग्निविद्या को कहा ॥१॥

विशेषार्थ - दक्षिणाग्निविद्यावर्णन के अनन्तर सुप्रसिद्ध इस मुमुक्षु उपकोशल ब्रह्मचारी को आहवनीय अग्नि ने शिक्षा दी । क्या शिक्षा दी सो आगे कहते हैं । प्राण १, आकाश २, द्युलोक ३ और विद्युत् ४ ये चार मेरे यानी आहवनीयाग्नि के शरीर हैं । जो यह विद्युत् में पुरुष दीखता है वह मैं आहवनीयाग्नि हूँ, निश्चय करमें वह मैं आहवनीयाग्नि हूँ । इस श्रुति में 'सोऽहमस्मि' इस वाक्य का दो बार उच्चारण उक्त उपासना की दृढ़ता सूचन करने के लिये किया गया है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्याम् । लोकी भवति । सर्वमायुरेति । ज्योग्जीवति । नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके त्रयोदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस आहवनीय अग्नि

के उपदेश को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) इसकी उपासना करता है (सः) वह उपासक (पापकृत्याम्) ब्रह्मप्राप्ति-विरोधपापकर्म को (अपहते) नाश करता है (लोकी) ब्रह्मलोक वाला (भवति) होता है अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और ब्रह्मोपासन समाप्ति की जितनी आयु की अपेक्षा होती है उतनी (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (एति) प्राप्त होता है (ज्योक्) व्याधि आदि से अनुपहत यावद्ब्रह्म प्राप्तिपर्यन्त उज्ज्वल (जीवति) जीवन धारण करता है (अस्य) इस उपासक के (अवरपुरुषाः) शिष्य प्रशिष्य आदिक तथा पुत्र पौत्र आदिक पुरुष (न) नहीं (क्षीयन्ते) क्षय होते हैं बल्कि ब्रह्मवेत्ता होते हैं (च) और (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस आहवनीय अग्नि के उपदेश को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) इसकी उपासना करता है (वयम्) हम सब अग्नियाँ (तम्) उस उपासक को (अस्मिन्) इस लोक में (च) और (अमुष्मिन्) उस पर (लोके) लोक में (उपभुञ्जामः) ब्रह्मप्राप्ति के समस्त विघ्नों से अच्छी तरह पालन करती हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब ब्रह्मविद्या के अङ्गस्वरूप आहवनीयाग्नि विद्या की उपासना का फल कहा जाता है-जो कोई उपासक इस आहवनीय अग्नि के उपदेश को इस प्रकार जानता हुआ आहवनीय अग्नि की उपासना करता है। वह उपासक ब्रह्मप्राप्तिविरोधपापकर्म के नष्ट होने पर परब्रह्म नारायण के लोक को प्राप्त करता है तथा ब्रह्मोपासन समाप्ति की जितनी आयु की अपेक्षा होती है उतनी सम्पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है। व्याधि आदि से अनुपहत ब्रह्मप्राप्ति पर्यन्त उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। इस उपासक के शिष्य प्रशिष्य आदिक शिष्य-परम्परा का तथा पुत्र पौत्र आदिक कुल-परम्परा का क्षय नहीं होता है। बल्कि उसके कुलमें ब्रह्मवेत्ता होते हैं। क्योकि लिखा है-**नास्याब्रह्मवित्कुले भवति** (मुण्डको० मु० ३ खं० २ श्रु० ९) इस उपासक के कुल में परब्रह्म नारायण को न जानने वाला नहीं होता है॥ ९॥ और जो कोई उपासक इस आहवनीय अग्नि के उपदेश को इस प्रकार जानता हुआ आहवनीय अग्नि की उपासना करता है तो हम सब अग्नि उस उपासक को इस लोक में और परलोक में भी ब्रह्मप्राप्ति के सम्पूर्ण विघ्नों से अलग करके पालन करती हैं। श्रुतिसदर्थकार भगवद्रामानुजाचार्य ने—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ (शा० मी० १।२।१५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के तेरहवें खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है। इस श्रुति में 'य एतमेवं विद्वानुपास्ते' इस वाक्य का दो बार उच्चारण तेरहवें खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥अथ चतुर्दशखण्डः ॥

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या चात्मविद्या च । आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति । आजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥१॥

अन्वयार्थ—प्रत्येक के उपदेश देने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (ते) उन गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन और आहवनीय अग्नियों ने मिलकर (उचुः) कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन (उपकोसल) उपकोसल (एषा) यह (अस्मद्विद्या) अग्निविद्या (च) और (आत्मविद्या) परमात्मविद्या (च) भी (ते) तेरे लिये हम सबों ने उपदेश दिया (तु) परन्तु (आचार्यः) तेरा आचार्य सत्यकाम महर्षि (ते) मुमुक्षु तेरे लिये (गतिम्) गति को यानी संयद्वामत्वादिगुणक परब्रह्म को और परब्रह्मोपासनस्थान अक्षिरूप को तथा अर्चिरादिगति को (वक्ता) उपदेश देंगे (इति) इतना कहकर वे चुप हो गयीं (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपकोशल ब्रह्मचारी के (आचार्यः) आचार्य सत्यकाम महर्षि (आजगाम) कुछ दिनों के पश्चात् विदेश से अपने घर आये और (आचार्यः) आचार्य सत्यकाम महर्षि ने (तम्) उस उपकोसल ब्रह्मचारी को (उपकोसल) हे उपकोसल (इति) ऐसा (अभ्युवाद) जोर शोर से पुकारा ॥ १ ॥

विशेषार्थ – तीनों अग्नियों में से प्रत्येक के उपदेश देने के अनन्तर सुप्रसिद्ध वे गार्हपत्य १, अन्वाहार्यपचन २ और आहवनीय ३, अग्नियों ने मिलकर उस उपकोसल ब्रह्मचारी से कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन उपकोसल ! तेरे लिये हम सबों ने अग्निविद्या और ब्रह्मविद्या का अंगांगी भाव से संक्षेप में उपदेश दिया। अग्निविद्या को अङ्ग और ब्रह्म विद्या को अङ्गी समझना चाहिये। हे उपकोसल ! तेरे आचार्य सत्यकाम

महर्षि जब ब्रह्मविद्या का उपदेश तुझे न देकर बाहर चले गये तब अनशन व्रतधारी मुमुक्षु तेरे उज्जीवन के लिये ब्रह्मस्वरूपमात्र का और ब्रह्म विद्या के अङ्गभूत अग्निविद्या का हमसबों ने उपदेश दिया है, तथा लिखा है कि— **आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत् ॥** छां० उ० प्रपा०४ खं०९ श्रु०३)आचार्य से ही जानी गयी विद्या साधुतमत्व को प्राप्त करती है ॥३॥ इस नियमानुसार तेरा आचार्य सुप्रसिद्ध सत्यकाम महर्षि निश्चय करके हम सबों के उपदेश देने से अवशिष्ट संयद्वामत्वादिगुणक परब्रह्म को तथा परब्रह्मोपासनस्थान अक्षिरूप को और अर्चिरादिगति को उपदेश करेंगे। इतना कहकर वे अग्नियाँ चुप हो गयीं। तदनन्तर मुमुक्षु उपकोसल ब्रह्मचारी के आचार्य सत्यकाम महर्षि परदेश से अपने गृह पर आये और अपने प्रिय शिष्य उपकोसल को दूर से ही देखकर उस उपकोसल ब्रह्मचारी को हे उपकोसल ! हे उपकोसल !! ऐसा बड़े जोर शोर से उन्होंने पुकारा। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ भगवद्रामानुजाचार्य ने **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** (शा० मी० १।२।१५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठकके चौदहवें खण्ड की पहली श्रुतिको उद्धृत किया है॥१॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति। को नु त्वाऽनुशशासेति को नु माऽनुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुते। इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे। किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥२॥

अन्वयार्थ—(भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न पूज्यपाद भगवन् क्या आज्ञा होती है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध उपकोसल ने (प्रतिशुश्राव) उत्तर दिया तब पुनः सत्यकाम आचार्य ने पूछा कि (सोम्य)हे सोमार्ह प्रियदर्शन उपकोसल (ते) तेरा (मुखम्) मुख (ब्रह्मविदः)ब्रह्मवेत्ता (इव) समान [भाति] शोभता है या जान पड़ता है (कः) किसने (नु) निश्चय करके [त्वा] तुझको (अनुशशास) उपदेश दिया है (इति) यह सुनकर उपकोशल ने कहा कि हे भगवन् (भोः) हे गुरो (कः) कौन (नु) निश्चय करके (मा)मुझ को (अनुशिष्यात्) उपदेश करेगा (इति) ऐसा कहकर (इह) यहाँ (अपनिह्नुते) छिपाने लगा है (इव) समान स्थित रहा। थोड़ी देर के बाद मन में अपह्नव को पाप जानकर पुनः (नूनम्) निश्चय करके (इमे)

इन्होंने मुझको उपदेश दिया है जो (इह) यहाँ इस समय में (ईदृशाः) ऐसे ज्वलनाकार परिदृश्यमान हैं (अन्यादृशाः) उपदेश काल में ये अग्नियाँ अन्य प्रकार की थीं (इति) इस प्रकार के (अग्नीन्) अग्नियोंको (अभ्यूदे) उपकोसल ने बतलाया तब पुनः सत्यकाम आचार्य ने कहा कि—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन उपकोशल (किल) आश्चर्य है (नु) निश्चय करके (ते) वे अग्नि सब (किम्) तुझे क्या (अवोचन्) उपदेश दिये हैं (इति) यह कहो ॥२॥

विशेषार्थ—आचार्य की वाणी सुनकर हे पूज्यपाद भगवन् ! क्या आज्ञा होती है ऐसा मुमुक्षु उपकोसल ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया। तब पुनः सत्यकाम आचार्य ने कहा कि –हे सोमार्ह प्रियदर्शन उपकोसल ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता के समान जान पड़ता है तुझे किसने उपदेश किया है ? आचार्य का यह वचन सुनकर उपकोसल ने कहा कि हे गुरुदेव ! मुझे कौन उपदेश करेगा ऐसा कहकर वह मानो उसे छिपाने लगा। फिर अग्नियों की ओर संकेत करके उपकोसल ने कहा कि—निश्चय करके इन्हीं ने उपदेश किया है जो अन्य प्रकार के उपदेश समय में थीं और अब ऐसी है, ऐसा कहकर उसने अग्नियों को बतलाया। तब पुनः सत्य-काम आचार्य ने कहा कि– हे सोमार्ह प्रियदर्शन उपकोसल ! अग्नियों ने तुझे कौन सी विद्या सिखलायी है सो कहो ॥२॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे। लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच ॥३॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके चतुर्दशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(इदम्) अग्नियों से यह विद्या मैंने प्राप्त की है (इति) ऐसा कहकर (ह) प्रसिद्ध उपकोसल ब्रह्मचारी ने (प्रतिजज्ञे) प्रतिज्ञा पूर्वक आचार्य से कहा है तब शिष्य का वचन सुनकर आचार्य ने कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन उपकोसल अग्नियों ने (किल) तो (वाव) निश्चय करके (लोकान्) पृथ्वी आदिक लोकों को (ते) तुझे (अवोचन्) कात्स्न्र्येन उपदेश दिया है (तु) परन्तु (अहम्) मैं (ते) तुझे

(तत्) उस जानने योग्य परब्रह्म नारायण को (वक्ष्यामि) उपदेश करूँगा (यथा) जैसे (पुष्करपलाशे) कमल के पत्र पर (आपः) जल (न) नहीं (श्लष्यन्ते) सम्पर्क करते हैं (एवम्) वैसे ही (विदि) परब्रह्म के जानने वाले में (पापम्) सुकृत दुष्कृत (कर्म) कर्म (न) नहीं (श्लिष्यते) संस्पर्श करता है (इति) यह सुनकर उपकोसल शिष्य ने कहा (भगवन्) षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्यपाद आप (मे) मुझे (ब्रवीतु) उस परब्रह्म नारायण का उपदेश दें (इति) यह सुनकर तब (ह) प्रसिद्ध सत्यकाम आचार्य ने (तस्मै) उस प्रिय शिष्य उपकोसल के लिये (उवाच) वक्ष्यमाण वचन को कहा ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—गार्हपत्य आदिक अग्नियों ने तुझे कौन सी विद्या सिखलाई है। ऐसा आचार्य के पूछने पर मुमुक्षु उपकोसल ने प्रतिज्ञा पूर्वक कहा कि—गार्हपत्य अग्नि ने मुझे शिक्षा दी है कि पृथ्वी १, अग्नि २, अन्न ३ और आदित्य ४, ये चार मेरे शरीर हैं। आदित्य के अन्तर्गत जो यह पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ इत्यादि। अन्वाहार्यपचन अग्नि ने मुझे शिक्षा दी है कि जल १, दिशा २, नक्षत्र ३ और चन्द्रमा ४ ये मेरे चार शरीर हैं। चन्द्रमा में जो यह पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ इत्यादि। आहवनीय अग्नि ने मुझे शिक्षा दी हैं कि प्राण १, आकाश २, द्युलोक ३ और विद्युत ४, ये मेरे चार शरीर हैं। यह जो विद्युत में पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ इत्यादि। तब शिष्य के वचन को सुनकर सत्यकाम आचार्य ने कहा कि— हे सोमाई प्रियदर्शन उपकोशल! अग्नियों ने तो तुझे केवल पृथिव्यादि लोकों का ही उपदेश किया है, क्योंकि पृथ्वीलोक १, अग्निलोक २, अन्नलोक ३, सूर्यलोक ४, जललोक ५, दिकलोक ६, नक्षत्रलोक ७, चन्द्रलोक ८, प्राणलोक ९, आकाशलोक १०, द्युलोक ११, और विद्युल्लोक १२। इन्हीं लोकों का उपदेश अग्नियों ने दिया है। इसका नाम अग्निविद्या है। यह अग्निविद्या ब्रह्मविद्या का अङ्ग है। यदि सुनने की तेरी ईच्छा हो तो मैं तुझे उस सुप्रसिद्ध परब्रह्म नारायण को कहूँगा तुम सुनो। जैसे कमल के पत्र पर जल का सम्बन्ध नहीं होता है वैसे ही इस प्रकार परब्रह्म के जानने वाले प्रपन्न जन में जन्म मरण देने वाले सुकृत दुष्कृत रूप कर्म का सम्बन्ध नहीं होता है। आचार्य के इस वचन को सुनकर मुमुक्षु उपकोसल ब्रह्मचारी ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन्! आप मुझे उस परब्रह्म

नारायण का उपदेश दें। शिष्य के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध जबाला के पुत्र सत्यकाम आचार्य ने उस अपने शिष्य उपकोसल ब्रह्म-चारी से वक्ष्यमाण उपदेश को कहा। मुमुक्षुनिम्बसद्गुरु भगवद्रामानुजाचार्य ने **सुखविशिष्टाभिधानादेव च** ॥(शा०मी० १।२।१५) **तदधिगमउत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्** ॥(शा०मी०४।३।१) **अर्चिरादिना तत्प्रथितेः** ॥ (शा० मी० ४।३।१३) इन सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के चौदहवें खण्ड की तीसरी श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के चतुर्थ प्रपाठक का चौदहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ पञ्चदशखण्डः ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनि एव गच्छति ॥१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) पुरुष (अक्षिणि) नेत्र के भीतर (दृश्यते) योगियों से दिखाई देता है (एषः) यह (आत्मा) नियन्ता परमात्मा है (ह) प्रसिद्ध आचार्य सत्यकाम ने (इति) ऐसा अपने शिष्य मुमुक्षु उपकोसल से (उवाच) उपदेश दिया (एतत्) यह नेत्रान्तवर्तीतत्त्व (अमृतम्) अमृत यानी निरतिशयभोग्य है तथा (अभयम्) अभय यानी दुःख से असंभिन्न है (एतत्) यह (ब्रह्म) यानी निरतिशय बृहत् गुणों से महान् है (इति) ऐसा तुम जानो (तत्) उस निर्लेप स्थानि के प्रभाव से (अस्मिन्) इस नेत्र में (यद्यपि) यदि (सर्पिः) घृत (वा) या (उदकम्) जल (वा) भी (सिञ्चति) कोई पुरुष डालता है तो वह घृत या जल (एव) निश्चय करके (वर्त्मनि) दोनों पार्श्वों में (गच्छति) चला जाता है नेत्र में लिप्त नहीं होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—जो यह पुरुष नेत्र के भीतर कनीनिका में योगियों से दिखायी देता है यह नियन्ता परमात्मा है। क्योंकि लिखा है— **यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरं यं चक्षुर्न वेद** ॥ (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० १८) जो परमात्मा नेत्र में रहने वाला नेत्र के भीतर है जिसको नेत्र नहीं जानता है ॥ १८ ॥ प्रसिद्ध आचार्य सत्यकाम ने ऐसा अपने

शिष्य मुमुक्षु उपकोसल से कहा कि—यह नेत्रान्तवर्तीतत्त्व अमृत यानी निरतिशय भोग्य है। तथा अभय यानी दुःख से असंभिन्न है। और यह ब्रह्म यानी निरतिशय बृहत् गुणों से महान् है ऐसा तुम जानो। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है— **तच्छान्तमजरममृतमभयं पर च ॥** (प्रश्नो० प्र० ५ श्रु० ७) वह परब्रह्म नारायण परम शान्त और सब प्रकार के विकारों से रहित, बुढ़ापारहित, मरणरहित, भयरहित, सबसे श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥ उस निर्लेपस्थानि के प्रभाव से इस नेत्र के भीतर यद्यपि कोई पुरुष घृत या जल को डालता है तो निश्चय करके दोनों पार्श्वों में ही जाता है। नेत्र में लिप्त नहीं होता है। विष्णुदर्शनस्थापनोत्सुक भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तर उपपत्तेः ॥** (शा० मी० १।२।१३) **स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥** (शा० मी० १।२।१४) **सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥** (शा० मी० १।२।१५) **ईक्षति कर्मव्यपदेशात्सः ॥** (शा० मी० १।३।१२) इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्यमें 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

एतं संयद्वाम इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति। सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद॥२॥

अन्वयार्थ—(एतम्) इस परमात्मा को (संयद्वामः) संयद्वाम (इति) ऐसा (आचक्षते) ब्रह्मवेत्ता पुरुष कहते हैं (हि) क्योंकि (सर्वाणि) सम्पूर्ण (वामानि) प्रार्थनीय वस्तुएँ (एतम्) इस परमात्मा को (अभिसंयन्ति) सब ओर से प्राप्त हो रही हैं अर्थात् सर्वकल्याण गुणाश्रय को संयद्वाम कहते हैं (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) सर्वकल्याणगुणाश्रय परब्रह्म नारायण को जानता है (सर्वाणि) सम्पूर्ण (वामानि) प्रार्थनीय सुन्दर वस्तुएँ (एनम्) इस उपासक को (अभिसंयन्ति) तत्क्रतु-न्याय से चारों ओर से प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—इस परब्रह्म नारायण को 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, ब्रह्मवेत्ता पुरुष लोग। 'संयद्वाम' परमात्मा को क्यों कहते हैं इस विषय में स्वतः श्रुति कहती है कि—सम्पूर्ण प्रार्थनीय सुन्दर वस्तुएँ जिसमें सब ओर से प्राप्त होती हैं उस सर्वकल्याणगुणाश्रय परब्रह्म नारायण को 'संयद्वाम' कहते हैं। 'संयद् + वाम' इन दो शब्दों से यह 'संयद्वाम' बना

हुआ है। संयद् माने सब प्रकार से प्राप्त हो रहे हैं। वाम माने प्रार्थनीय सुन्दर वस्तु। जिसको प्रतिक्षण में चारों तरफ से प्रार्थनीय शोभन वस्तु प्राप्त हो रही है उसी को हे उपकोशल ! तू परमात्मा जान। जो कोई उपासक इस प्रकार सर्वकल्याणगुणाश्रय परब्रह्म नारायण को जानता हुआ उपासना करता है। उस भगवदुपासक को सम्पूर्ण प्रार्थनीय सुन्दर वस्तुएँ सब ओर से प्राप्त हो जाती हैं। तुण्डीरमण्डलस्थ भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तर उपपत्तेः ॥** (शा०मी० १।२।१३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड को दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति। सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥३॥

अन्वयार्थ—(उ) निश्चय करके (एषः) यह परब्रह्म नारायण (एव) ही (वामनीः) वामनी है (हि) क्योंकि (एषः) यह परब्रह्म नारायण (सर्वाणि) सम्पूर्ण (वामानि) प्रार्थनीय शोभन वस्तुओं को (नयति) प्रापक है अर्थात् अपने आश्रितों में सकलशोभन वस्तुओं को पहुँचाता है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) सुन्दरगुणप्रापक परब्रह्म नारायण को जानता है वह भगवदुपासक (सर्वाणि) सम्पूर्ण (वामानि) प्रार्थनीय शोभन वस्तुओं को (नयति) तत्क्रतु न्याय से पहुँचाता है ॥३॥

विशेषार्थ—हे प्रिय शिष्य उपकोसल यह परब्रह्म नारायण ही वामनी है। क्योंकि यही सकल प्रार्थनीय शोभन वस्तुओं को अपने आश्रितों में पहुँचाता है। वामनी 'वाम+नी' इन दो शब्दों से यह बना हुआ है। वाम यानी प्रार्थनीय सुन्दर वस्तु। 'नी' अर्थात् प्रापक नेता नायक, पहुँचानेवाला। जो अपने आश्रितों में समस्त प्रार्थनीय सुन्दर वस्तुओं को पहुँचाता है उस परब्रह्म नारायणको 'वामनी' कहते हैं। अब वामनी उपासना का फल कहा जाता है कि–जो कोई उपासक इस प्रकार सुन्दर वस्तु प्रापक परब्रह्म नारायण को जानता हुआ उपासना करता है। वह तद्गुणोपासक प्रार्थनीय सुन्दर वस्तुओं को पहुँचानेवाला होता है। बद्धाञ्जलिमुद्रासमासीन भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तर उपपत्तेः ॥** (शा०

मी० १।२।१३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड को तीसरी श्रुति के पूर्वार्द्ध को उद्धृत किया है ॥३॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति। सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥४॥

अन्वयार्थ—[उ] निश्चय करके (एषः) यह परब्रह्म नारायण [एव] ही [भामनीः] भामनी है अर्थात् सर्वलोकव्याप्तदीप्तिमद्विग्रहयुक्त है [हि] क्योंकि [एषः) यह परब्रह्म नारायण [सर्वेषु] सब [लोकेषु] लोकों में (भाति] भासमान होता है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार (वेद) सर्वलोकव्याप्तदीप्तिमद्विग्रहयुक्त परब्रह्म नारायण को जानता है वह भगवदुपासक (सर्वेषु) सम्पूर्ण (लोकेषु) लोकों में (भाति) तत्क्रतु न्याय से भासमान होता है ॥४॥

विशेषार्थ—हे प्रिय शिष्य उपकोसल ! यह परब्रह्म नारायण ही भामनी है। अर्थात् सर्वलोकव्याप्तदीप्तिमद्विग्रहयुक्त है। क्योंकि यह परब्रह्म नारायण अम्भ, मरीचि, मर आदिक समस्त लोकों में भासित है। लोक के विषय में लिखा है—**स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मर आपोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥** (ऐत०उ०अ० १ खं० १ श्रु०२) उस परब्रह्म नारायण ने अम्भ १, मरीचि २, मर ३ और आप ४ इन सब लोकों को अपने सत्यसंकल्प से रचना की। स्वर्गलोक से पर ऊपर के लोक तथा उनका आधारभूत द्युलोक यह सब अम्भ लोक है। अन्तरिक्ष लोक ही मरीचि लोक है तथा भूलोक ही मर लोक है। और पृथ्वी के नीचे जो पातालादि लोक हैं वे ही आप लोक हैं ॥२॥ अब भामनी उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक इस प्रकार सर्वलोक व्याप्तदीप्तिमद्विग्रहयुक्त परब्रह्म नारायणको जानता हुआ उपासना करता है, वह भगवदुपासक सम्पूर्ण लोकों में भासमान होता है। अब्जासनस्थ भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अन्तर उपपत्तेः ॥** (शा० मी० १।२।१३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की चौथी श्रुति के पूर्वार्द्ध को उद्धृत किया है ॥४॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवा

भिसंभवन्ति । अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥५॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके पञ्चदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) परब्रह्म नारायण की उपासना कहने के बाद अब ब्रह्मवेत्ता की गति श्रुति बतलाती है कि—(यत्) यदि (उ) निश्चय करके (च) पुत्रादिक (एव) अवश्य (अस्मिन्) इस ब्रह्मवेत्ता के उद्देश्य से (शव्यम्) शव सम्बन्धि दहनादि कर्म (कुर्वन्ति) करें (च) अथवा (यदि) यदि (न, शव सम्बन्धि दहनादि कर्म न करें सर्वथा ब्रह्मवेत्ता पुरुष (अर्चिषम्) अर्चि अभिमानी देवता को (एव) निश्चय करके (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं (अर्चिषः) अर्चि अभिमानी देवता से (अहः) दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (अह्नः) दिवसाभिमानी देवता से (आपूर्यमाणपक्षम्) शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (आपूर्यमाणपक्षात्) शुक्लपक्षाभिमानी देवता से (यान्) जिन (षट्) छः (मासान्) मासों को (उदङ्) उत्तर दिशा में (एति) सूर्य प्राप्त होता है (तान्) उन उत्तरायणाभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं (मासेभ्यः) उत्तरायण के छः मासों के अभिमानी देवताओं से (संवत्सरम्) संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (संवत्सरात्) संवत्सराभिमानी देवता से (आदित्यम्) आदित्याभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (आदित्यात्) आदित्याभिमानी देवता से (चन्द्रमसम्) चन्द्राभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (चन्द्रमसः) चन्द्राभिमानी देवता से (विद्युतम्) विद्युत् के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (तत्) विद्युत् के अभिमानी देवता से (सः) वह (अमानवः) अमानव (पुरुषः) पुरुष (एनान्) इन ब्रह्मवेत्ता पुरुषों को (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण को (गमयति) प्राप्त करा देता है (एषः) यह (देवपथः) देवताओं से नीयमानमार्ग (ब्रह्मपथः) परब्रह्म प्रापक मार्ग है [एतेन] इस अर्चिरादिमार्ग से [प्रतिपद्यमानाः] जानेवाले जीव (इमम्)

इस घोर (मानवम्) मनुष्य सम्बन्धी जनन मरणादि बहुदुःखप्रापक (आवर्तम्) संसार को (न) नहीं (आवर्तन्ते) पाते हैं (न) नहीं (आवर्तन्ते) नहीं पाते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—अब श्रुति पूर्वोक्त ब्रह्मवेत्ता की गति बतलाती है कि—यदि निश्चय करके शिष्य पुत्रादिक ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के मृतक शरीर के दहन खनन आदिक शव कर्म करें अथवा न करें सर्वथा ब्रह्मवेत्ता पुरुष अर्चि अभिमानी देवता को ही प्राप्त होते हैं। इस श्रुति में अर्चि आदिक शब्द तदभिमानी देवतावाचक हैं। क्योंकि लिखा है— **आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥** (शा० मी० ४।३।४) अतिवहन के लिङ्ग होने से परमपुरुष से नियुक्त आतिवाहिक देवता विशेष ये अर्चिरादिक हैं ॥ ४ ॥ अर्चि अभिमानी देवता से दिवसाभिमानी देवताको ब्रह्मवेत्ता पुरुषप्राप्त होते हैं। दिवसाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। शुक्लपक्षाभिमानी देवता से उत्तरायणाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। उत्तरायणाभिमानी देवता से संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। संवत्सराभिमानी देवता से आदित्याभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। आदित्याभिमानी देवता से चन्द्रमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। चन्द्रमाभिमानी देवता से विद्युत् के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और विद्युत के अभिमानी देवता से अमानव पुरुष स्वागत करके इन ब्रह्मवेत्ता पुरुषों को परब्रह्म नारायण को प्राप्त करा देता है। यह देवताओं से नीयमान मार्ग परब्रह्म नारायण का प्रापक मार्ग है। इस अर्चिरादिमार्ग से जाने वाले जीव इस घोर मनुष्य सम्बन्धी जनन मरणादि बहुदुःख प्रापक संसार को नहीं पाते हैं। और भी ऐसा ही लिखा है— **ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्यब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥** (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १५) वे जो इस प्रकार इसको जानते हैं और जो ये वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य की उपासना करते हैं वे अर्चि के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं और अर्चि के अभिमानी

देवताओं से दिनाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। दिनाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। शुक्लपक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहकर चलता हैं उन उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं तथा उत्तरायणाभिमानी देवताओं से देवलोक, देवलोकाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। देवलोकाभिमानी देवता से आदित्याभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं तथा आदित्याभिमानी देवता से विद्युत् सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष उन ब्रह्म लोकों में अनन्त वर्षपर्यन्त सदा निवास करते हैं। संसारमण्डल में उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥१५॥ **स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोक स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् ॥** (कौषीतकिब्राह्मणो० अ० १ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण का उपासक पूर्वोक्त देवयान मार्ग पर पहुँच कर पहले अग्निलोक में आता है, फिर वायुलोक में आता है वहाँ से वह सूर्यलोक में आता है। तदनन्तर वरुणलोक में आता हैं। तत्पश्चात् वह इन्द्रलोक में आता है। इन्द्रलोक से प्रजापतिलोक में आता है और प्रजापतिलोक से वह परब्रह्म नारायण के लोक में आता है ॥ ३ ॥ **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥** (गी० ८।२४) अग्निरूप ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने—उनमें गये हुये ब्रह्मवेत्ता जन परब्रह्म नारायण को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ **मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ् मासाब्दवातांशुमद्ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वां प्लुतः। श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान् ॥** (सत्संगपद्य० श्लो० २) धन्य कृतकृत्य माया के बन्धन से विनिर्मुक्त पुरुष अर्चिष १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, संवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, विद्युत्पुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र ११ औरब्रह्मा १२ इन सबों से पूजित लीलाविभूति की सीमा के अन्त में स्थित विरजा नदी में स्नान करके नित्य अजड श्री वैकुण्ठ को प्राप्त कर उस श्रीवैकुण्ठ परम धाम में परब्रह्म नारायण के

साथ सायुज्य मुक्ति को पाकर आनन्द करता है ॥२॥ **अर्चिरहः सितपक्षानुदगयनाब्दौ च मारुतार्केन्दून् । अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनातिवाहिकानाहुः ॥** अर्चि: १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, संवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, वैद्युतपुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र ११, प्रजापति १२, ये सब आतिवाहिक कहे गये हैं। श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी जी ने कहा है- **तदन्वर्चिरादिमार्ग-गमनं भवति । तदन्वातिवाहिकसत्कारो भवति । तदन्वावरणातिक्रमणं भवति । तदनु प्रकृत्यतिलंघनं भवति । तदनु विरजास्नानं भवति । तदनु सूक्ष्मशरीरविश्लेषो भवति । तदन्वपहतपाप्मत्वादिगुणगणप्रादुर्भावो भवति । तदन्वमानवकरस्पर्शो भवति । तदनुभगवत्संकल्पकल्पितदिव्यदेहप्राप्तिर्भवति । तदन्वकालकाल्यदिव्यदेशप्राप्तिर्भवति । तदन्वैरम्मदीयसरः स्नानं भवति । तदनु दिव्यालंकारो भवति । तदनु दिव्यविमानारोहणं भवति । तदनु तिल्याकांतारप्रवेशो भवति । तदनुदिव्याप्सरस्सत्कारो भवति । तदनु तिल्यगन्धप्रवेशो भवति । तदनु ब्रह्मगन्धप्रवेशो भवति । तदन्वप्राकृतगोपुरप्राप्तिर्भवति । तदनु दिव्यनगरप्राप्तिर्भवति । तदनुसूरिपरिषत्प्रत्युद्गमनं भवति । तदनुराजमार्गगमनं भवति । तदनु ब्रह्मतेजः प्रवेशो भवति । तदनु दिव्यगोपुरप्राप्तिर्भवति । तदनु ब्रह्मवेश्मप्रवेशो भवति । तदनु दिव्यमण्डपप्राप्तिर्भवति। तदनु दिव्यपरिषत्प्राप्तिर्भवति । तदनु सपत्नीकसर्वेश्वरदर्शनं भवति । तदनु स्तुतिप्रणामांजलिप्रमुखससंभ्रमानुवर्तनं भवति । तदनु परमात्मसमीपप्राप्तिर्भवति ॥** (प्रमेयशेख०) भगवदुपासक जन के मरने के अनन्तर अर्चिरादि-मार्ग से गमन होता है। तदनन्तर आतिवाहिकों के द्वारा सत्कार होता है। तदनन्तर आवरण अतिक्रमण होता है। इसके बाद प्रकृति का अतिलङ्घन होता है। तदनन्तर विरजा नदी में स्नान होता है। इसके बाद सूक्ष्म शरीर का विश्लेष होता है। तदनन्तर अपहत पाप्मत्वादि गुण गण उत्पन्न होता है। इसके बाद अमानव करस्पर्श होता है। तत्पश्चात् अकाल काल्य दिव्यदेश

प्राप्त होता है। इसके बाद 'ऐरम्मदीय' नाम के सरोवर में स्नान होता है। तदनन्तर दिव्य अलङ्कार से सुशोभित होता है। इसके बाद दिव्य विमान में आरोहण होता है। तत्पश्चात् तिल्यवन में प्रवेश होता है। तदनन्तर दिव्य अप्सराओं से सत्कार होता है। इसके बाद तिल्यगन्ध का प्रवेश होता है। तत्पश्चात् ब्रह्मगन्ध का प्रवेश होता है। इसके बाद अप्राकृत गोपुर प्राप्त होता है। तदनन्तर दिव्य नगर प्राप्त होता है। इसके बाद सूरियों की सभा में गमन होता है। तत्पश्चात् राजमार्ग पर गमन होता है। तदनन्तर ब्रह्मतेज प्रवेश होता है। इसके बाद दिव्य गोपुर प्राप्त होता है। तदनन्तर परब्रह्म के गृह में प्रवेश होता है। इसके बाद दिव्य मण्डप प्राप्त होता है। तदनन्तर दिव्य परिषद् की प्राप्ति होती है। इसके बाद पत्नी लक्ष्मी देवी सहित सर्वेश्वर परब्रह्म नारायण का दर्शन होता है। तदनन्तर अञ्जलिमुद्रापूर्वक साष्टाङ्ग प्रणिपात और स्तुतिपाठ आदिक ससंभ्रम अनुवर्तन होता है। इसके बाद परब्रह्म नारायण के समीप में चला जाता है। आमिलिताक्ष भगवद्रामानुजाचार्य ने **श्रुतोपनिषत्कगत्याभिधानाच्च ॥** (शा. मी. १।२।१७) **अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।** (शा० मी० ४।३।१) **वायुशब्दादविशेषाविशेषाभ्याम् ॥** (शा० मी० ४।३।२) **तटितोऽधिवरुणस्सम्बन्धात् ॥** (शा. मी. ४।३।३) **आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥** (शा० मी० ४।३।४) **वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥** शा० मी० ४।३।५) **विशेषितत्वाच्च ॥** (शा० मी० ४।३।७) **सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥** (शा. मी. ४।३।८) **कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥** (शा. मी. ४।३।९) **परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥** (शा० मी० ४।३।११) इन दस सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की पाँचवी श्रुति को उद्धृत किया हैं। इस श्रुति में 'नावर्तन्ते' इस वाक्य का दो बार उच्चारण उपकोसल विद्या का और पन्द्रहवें खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथ षोडशखण्डः ॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। एष ह यन्निदं सर्वं

पुनाति । यदेष ह यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः । तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी ॥१॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (यः) जो (अयम्) यह वायु (पवते) चलता है (वै) निश्चय करके (एषः) यही (यज्ञः) यज्ञ है (ह) प्रसिद्ध (एषः) यह वायु (यन्) गमन करता हुआ (इदम्) इस स्थावर जङ्गम (सर्वम्) सम्पूर्ण जगत् को (पुनाति) पवित्र करता है (यद्) क्योंकि (ह) प्रसिद्ध (एषः) यह वायु (यन्) इधर उधर गमन करता हुआ (इदम्) इस स्थावर जङ्गम [सर्वम्] सम्पूर्ण जगत् को [पुनाति] पवित्र करता है [तस्मात्] इस कारण से [एव] निश्चय करके [एषः]यह वायु ही (यज्ञः) यज्ञ है (च) और [तस्य] उस यज्ञ के (मनः) कर्म करते हुये ऋत्विजों के कर्तव्याकर्तव्य के निरीक्षण में प्रवृत्त हुआ जो मन (च) और [वाक्] मंत्रोच्चारण में प्रवृत्त जो पवित्र संस्कृतवाणी ये दोनों [वर्तनी] प्रवृत्ति साधनभूत मार्ग हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध जो यह वायु चलता है निश्चय करके यही यज्ञ है। यज्ञ के विषय में लिखा है— **यज्ञः फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम् ॥** (रामानुजभाष्यगी० १६।१)फलाभिसन्धिरहित भगवदाराधन के रूप में किये जाने वाले महायज्ञादि के अनुष्ठान का नाम 'यज्ञ' है ॥ १ ॥ सुप्रसिद्ध यह वायु इतस्ततः गमन करते हुए इस स्थावर जङ्गम सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है। जिस कारण से यह सुप्रसिद्ध वायु इतस्ततः गमन करते हुए इस चराचर सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है। इस कारण से निश्चय करके यह वायु ही यज्ञ है। और उस यज्ञ के कर्म करते हुये ऋत्विजों के कर्तव्याकर्तव्य के निरीक्षण में प्रवृत्त हुआ जो मन है तथा मंत्रोच्चारण में प्रवृत्त जो पवित्र संस्कृत वाणी है। ये दोनों प्रवृत्ति साधनभूत मार्ग हैं। जिनके द्वारा यह विस्तारित होकर प्रवृत्त होता है उसे वर्तनी कहते हैं। और गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—**प्रजापतिर्यज्ञमतनुत । स ऋचैव हौत्रमकरोत् । यजुषाध्वर्यवम् । साम्नौग्दात्रम् । अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वाम् ।...स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते । मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति । अयमु वै यः पवते**

स यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनिः मनसा चैव हि वाचा च यज्ञे वहति अत एव मन इयमेव वाक्। (गोपथब्रा० प्रपा० ३।२) प्रजापति ने यज्ञ का विस्तार किया। उस प्रजापति ने ऋग्वेद से ही होता के कर्म को किया तथा यजुर्वेद से अध्वर्यु के कर्म को किया। सामवेद से उद्-गाता के कर्म को किया तथा अथर्ववेद से ब्रह्मा के कर्म को किया। निश्चय करके वह यह तीनों वेदों से यज्ञ के अन्यतर पक्ष संस्कृत होता है। ब्रह्मा मन से हीं यज्ञ के अन्यतर पक्ष को संस्कारयुक्त करता है। निश्चय करके यह जो वायु चलती है वही निश्चय यज्ञ है। उस यज्ञ का मन और वाणी वर्तनी यानी प्रवृत्तिसाधनभूत मार्ग हैं। मन से और वाणी से ही ऋत्विक् यज्ञ में हवन करता है। इस कारण से मन और वाणी यज्ञ के मार्ग हैं ॥२॥ **यदृचैव हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति। अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्। अयं वै यज्ञो योऽयं पवते। तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ। वाचा च हि मनसा च यज्ञोऽवर्तत। इयं वै वाग् अदो मनः। तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति ॥** (ऐतरेयब्राह्म० पञ्चिका० ५।३३) क्योंकि ऋग्वेद से होता के कर्म को और यजुर्वेद से अध्वर्यु के कर्म को तथा सामवेद से उद्गीथ के कर्म को करता है। विशेष रूप से आरब्ध त्र्यी विद्या होती है। अनन्तर ब्रह्मत्व किससे किया जाता है। इस प्रकार के पूछने पर ऐसा कहे कि—त्रयी विद्या से ब्रह्मत्व किया जाता है। निश्चय करके जो यह वायु चलती है, वही यह यज्ञ है। उस यज्ञ के वाणी और मन प्रवृत्तिसाधनभूत मार्ग हैं। क्योंकि वाणी और मन से ही यज्ञ प्रवृत्त हुआ है। यही वाणी और यह मन यज्ञ के मार्ग हैं। उस त्रयी विद्या की वाणी से आचार्य सब एक पक्ष को संस्कारयुक्त करते हैं ॥ ३३ ॥ इस प्रकार का श्रुतियों में वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा। वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराम्। स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा

परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदति ॥२॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् (तयोः) उन मन और वाणी रूप दोनों मार्गों में से (अन्यतराम्) यज्ञ के एक मनोलक्षणमार्ग को (मनसा) मन के द्वारा (संस्करोति) संस्कार करता है और (होता) होता ऋत्विक् तथा (अध्वर्युः) अध्वर्यु ऋत्विक् और (उद्गाता) उद्गाता ऋत्विक् ये तीनों (अन्यतराम्) यज्ञ की दूसरे वाणीलक्षणमार्ग को (वाचा) सम्यक् प्रयुक्त वाणी से संस्कार करते हैं (यत्र) जिस यज्ञ में (प्रातरनुवाके) प्रातःकाल के अनुवाकशस्त्र के (उपाकृते) प्रारम्भ होने पर (परिधानीयायाः) परिधानीया ऋचा के उच्चारण से (पुरा) पूर्व (सः) वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् (व्यवदति) विविध निन्दित बोलता है, तो दोष होता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् उन मन और वाणी रूप दोनों मार्गों में से यज्ञ के एक मनोलक्षण मार्ग को मन के द्वारा संस्कृत करता है। और होता १, अध्वर्यु २, उद्गाता ३ ये तीनों ऋत्विक् यज्ञ की दूसरी वाणीलक्षण मार्ग को सम्यक् प्रयुक्त वाणी से ही संस्कृत करते हैं। जिस यज्ञ में प्रातरनुवाक्शस्त्र के प्रारम्भ हो जाने पर परिधानीया ऋचा के उच्चारण से पूर्व वह ब्रह्मा नामके ऋत्विक् यदि मौन व्रत को त्याग करके विविध निन्दित बोलता है तो दोष होता है। वह दोष अगले मंत्र में कहा जायगा। जो ऋक् मंत्र गाये नहीं जाते हों, केवल शान्तिपूर्वक पठित होते हैं उन्हें शस्त्र कहते हैं और जो ऋक् मंत्र गाये जाते हैं उन्हें स्तोत्र कहते हैं। ये शस्त्र और स्तोत्र भिन्न-भिन्न समय के लिये निकाले हुये हैं। जो प्रातःकाल स्वस्तिवाचन शान्तिपाठ आदि पढ़ते हैं उन्हें प्रातरनुवाक नाम के शस्त्र कहते हैं। जिन ऋचाओं को पढ़कर अग्नि में समिधा डालते हैं उसको 'परिधानीया' ऋचा कहते हैं। और ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है— **मनसैव ब्रह्मा संस्करोति। ते हैके ब्रह्माण उपाकृते प्रातरनुवाक स्तोमभागान् जपित्वा भाषमाणा उपासते। तद्धैतदुवाच ब्राह्मण उपाकृते प्रातरनुवाके ब्रह्माणं भाषमाणं दृष्ट्वाऽर्धमस्य यज्ञस्यान्तरगुरिति ॥** (ऐ०ब्रा०पञ्चिका०५।५।३३) ब्रह्मा नामका ऋत्विक् मन से ही संस्कृत करता है। वे और अन्य ऋत्विक् प्रातरनुवाकशस्त्र के प्रारम्भ होने पर स्तोमभाग को जप करके ब्रह्मा के साथ भाषण करते

हुये उपासना किये। तब प्रसिद्ध आचार्य ने प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होने पर ब्रह्मा को बोलते हुए देखकर कहा कि इस यज्ञ के आधे को आपने दोषयुक्त कर दिया है॥ ३३॥ इससे परिधानीया ऋचा से पूर्व सर्वदा ब्रह्मा को मौन ही रहना चाहिये। बोलने से जो दोष होता है वह अगले मंत्र में कहा जायेगा॥ २॥

अन्यतरामेव वर्तनीँ संस्कुर्वन्ति हीयतेऽन्यतरा। स यथैकपाद् व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति। यज्ञं रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति॥३॥

अन्वयार्थ—(एव) निश्चय करके (अन्यतराम्) यज्ञ की दूसरी वाणी लक्षण (वर्तनीम्) मार्ग को (संस्कुर्वन्ति) होता आदिक ऋत्विक् संस्कार करते हैं और (अन्यतरा) दूसरे यज्ञ के मनोलक्षण मार्ग (हीयते) ब्रह्मा के मनः प्रणिधान का नाश होने से नष्ट हो जाता है (यथा) जैसे (सः) कोई पुरुष (एकपाद्) एक पैर वाला (व्रजन्) चलता हुआ (वा) अथवा (एकेन) एक (चक्रेण) चक्र से (वर्तमानः) वर्तमान चलता हुआ (रथः) रथ (रिष्यति) नष्ट हो जाता है (एवम्) वैसे ही (अस्य) इस यजमान का (यज्ञः) वाग्लक्षणरूप मार्ग के साथ वर्तमान यज्ञ (रिष्यति) नष्ट हो जाता है (यज्ञम्) यज्ञ के (रिष्यन्तम्) नष्ट होने के (अनु) पीछे (यजमानः) यजमान (रिष्यति) नष्ट फल वाला हो जाता है (सः) वह यजमान (इष्ट्वा) इस प्रकार के यज्ञ को करके (पापीयान्) अधिक पापी (भवति) हो जाता है॥ ३॥

विशेषार्थ—अब परिधानीया ऋचा से पूर्व ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् के बोलने का दोष दृष्टान्त के साथ कहा जाता है। यदि ब्रह्मा बोलता है तो यज्ञ के वाग् लक्षण रूप एक मार्ग को होता अध्वर्यु उद्गाता ऋत्विक् संस्कार करते हैं। और दूसरा यज्ञ के मनोलक्षणरूप मार्ग ब्रह्मा ऋत्विक् का मनः प्रणिधान के नाश होने से यज्ञ का फल नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पैर से चलने वाला पुरुष अथवा एक पहिये से चलने वाला रथ नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार इस यजमान के केवल वाग्लक्षणरूप मार्ग के साथ वर्तमान यज्ञ भी नाश को प्राप्त हो जाता है। यज्ञ के नष्ट

होने के पश्चात् यजमान नष्ट फल वाला हो जाता है। वह यजमान इस प्रकार के यज्ञ को करके अधिक पापी हो जाता है। और भी अन्यत्र लिखा है— **तद्यथा एकपाद् पुरुषो यन्नेकतश्चक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति। एवमेव स यज्ञो भ्रेषं न्येति। यज्ञस्य भ्रेषमनु यजमानो भ्रेषं न्येति। तस्माद् ब्रह्मोपाकृते प्रातरनुवाके वाचं यमः स्यात्॥** (ऐ० ब्रा० ५।५।३३) जिस प्रकार एक पैर से चलने वाला पुरुष अथवा एक पहिये से चलने वाला रथ निश्चय नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वह यज्ञ भी नाश को प्राप्त हो जाता है। यज्ञ के नष्ट होने के पश्चात् यजमान का नाश होता है। इस कारण से प्रातःकाल के अनुवाकशास्त्र के प्रारम्भ होने पर ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् मौन व्रत को धारण करे॥३३॥ **तद्यथा एकपाद् पुरुषो यन्नेकचक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति। एवमेवास्य यज्ञो भ्रेषं न्येति। यज्ञस्य भ्रेषमनु यजमानो भ्रेषं न्येति। यजमानस्य भ्रेषमन्वृत्विजो भ्रेषं नियन्ति। ऋत्विजां भ्रेषमनु दक्षिणा भ्रेषं नियन्ति। दक्षिणानां भ्रेषमनु यजमानः पुत्रपशुभिर्भ्रेषं न्येति। पुत्रपशूनां भ्रेषमनु यजमानः स्वर्गेण लोकेन भ्रेषं न्येति। स्वर्गस्य लोकस्य भ्रेषमनु तस्यार्धस्य योगक्षेमो भ्रेषं न्येति॥** (गोपथब्रा० प्रपा० ३) जिस प्रकार एक पैर से चलने वाला पुरुष अथवा एक पहिये से चलने वाला रथ नष्ट हो जाता है उस प्रकार से इस यजमान के एक वाग्लक्षणरूप मार्ग के साथ वर्तमान यज्ञ भी नाश को प्राप्त हो जाता है। यज्ञ के नष्ट होने के पीछे यजमान नष्ट हो जाता है। यजमान के नष्ट होने पर तो सब यज्ञ के ऋत्विक् नष्ट हो जाते हैं। ऋत्विजों के नाश पर पीछे दक्षिणा नष्ट हो जाती है। दक्षिणा के नष्ट होने के पश्चात् पुत्र और पशुओं के साथ यजमान लोक नष्ट हो जाता है और पुत्र पशुओं के नाश के पश्चात् स्वर्गलोक के साथ यजमान लोक नष्ट हो जाता है। स्वर्गलोक के विनाश के पीछे उस आधे का निश्चय करके योगक्षेम नष्ट हो जाता है॥३॥ इससे ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् परिधानीया ऋचा से पूर्व कभी मौन व्रत का त्याग न करे॥३॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव वर्तनी संस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यत्र) जिस यज्ञ में (प्रातरनुवाके) प्रातः काल के अनुवाकशस्त्र के (उपाकृते) प्रारम्भ होने पर (परिधानीयायाः) परिधानीया ऋचा के उच्चारण से (पुरा) पूर्व (ब्रह्मा) ब्रह्मा नामके ऋत्विक् (न) नहीं (व्यवदति) बोलता है तो (एव) निश्चय करके (उभे) दोनों (वर्तनी) वाग् लक्षण रूप तथा मनोलक्षण रूप मार्गों को (संस्कुर्वन्ति) सब ऋत्विक् मिलकर संस्कार करते हैं तब (अन्यतरा) कोई भी मार्ग (न) नहीं (हीयते) नष्ट होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—और जिस यज्ञ में प्रातःकाल के अनुवाकशस्त्र के प्रारम्भ होने पर परिधानीया ऋचा के उच्चारण से पूर्व ब्रह्मा नाम के यज्ञ के ऋत्विक् अपने मौन व्रत को परित्याग नहीं करता है तो निश्चय करके दोनों वाणीलक्षणरूप और मनोलक्षण-रूप मार्गों को सब होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा मिलकर संस्कृत करते हैं तब उन दोनों में से कोई भी मार्ग हीन नहीं होता है। इससे पूर्वोक्त समय में ब्रह्मा को कभी नहीं बोलना चाहिये ॥ ४ ॥

स यथोभयपाद् व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति। यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥५॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके षोडशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (उभयपाद) दोनों पैरों से (व्रजन्) चलता हुआ (सः) वह पुरुष (वा) अथवा (उभाभ्याम्) दोनों (चक्राभ्याम्) चक्रों के साथ (वर्तमानः) वर्तमान (रथः) रथ (प्रतिष्ठिति) प्रतिष्ठित होता है (एवम्) वैसे ही (अस्य) इस यजमान का (यज्ञः) यज्ञ (प्रतिष्ठिति) प्रतिष्ठित होता है (यज्ञम्) यज्ञ के (प्रतितिष्ठन्तम्) प्रतिष्ठित होने के (अनु) पीछे (यजमानः) यज्ञकर्ता यजमान (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है (सः) वह यजमान (इष्ट्वा) इस प्रकार के यज्ञ को करके (श्रेयान्) सबसे श्रेष्ठ (भवति) होता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार दोनों पैरों से चलने वाला पुरुष अथवा दोनों पहियों से चलने वाला रथ प्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार इस यजमान का यज्ञ प्रतिष्ठित

होता है। यज्ञ के प्रतिष्ठित होने के पश्चात् यजमान भी प्रतिष्ठित हो जाता है। वह यजमान इस प्रकार के यज्ञ को करके श्रेष्ठ हो जाता है। और भी लिखा है—

तद्यथा उभयतः पात्पुरुषो यन्नुभयतश्चक्रो वा रथो वर्तमानो न रिष्यति। एवमेव स यज्ञो न रिष्यति यज्ञस्यारिष्टिमनु यजमानो न रिष्यति ॥ [ऐ० ब्रा० ५।५।३३] जैसे दोनों पैरों से चलने वाला मनुष्य अथवा दोनों पहियों से चलने वाला रथ नहीं नष्ट होता है वैसे ही दोनों वाणी लक्षण और मनो लक्षणरूप मार्गों से संस्कृत वह यज्ञ विनष्ट नही होता है और यज्ञ के विनाश नहीं होने से यजमान का भी विनाश नहीं होता है ॥ ३३ ॥ यहाँ छान्दोग्योपनिषद्" के चतुर्थ प्रपाठक का सोलहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ५ ॥

॥ अथ सप्तदशखण्डः ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान्प्रावृहत्। अग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः॥१॥

अन्वयार्थ—(प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रतिपालक ने समस्त लोको का सार ग्रहण करने की ईच्छा से (लोकान्) सम्पूर्ण भुवनों को उद्देश्य करके (अभ्यतपत्) ज्ञान के पर्यालोचनरूप तप किया (तप्यमानानाम्) ज्ञान से पर्यालोचन किये हुए (तेषाम्) उन लोकों के (रसान्) सारों को (प्रावृहत्) प्रजापति ने ग्रहण किया (पृथिव्याः) पृथ्वीलोक से (अग्निम्) साररूप अग्नि को तथा (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से (वायुम्) साररूप वायु को और (दिवः) द्युलोक से (आदित्यम्) साररूप आदित्य को निकाला ॥ १ ॥

विशेषार्थ—प्रजाओं के रक्षक प्रतिपालक ने सम्पूर्ण लोकों के सार ग्रहण करने की इच्छा से समस्त लोकों को लक्ष्य बनाकर भलींभाँति विचार रूप तप किया। क्योंकि लिखा है- **यस्य ज्ञानमयं तपः ॥** (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण के ज्ञानमय तप है ॥ १० ॥ ज्ञान से पर्यालोचन किये हुये उन लोकों के सारों को प्रजापति ने ग्रहण किया। पृथ्वीलोक से साररूप अग्नि को तथा अन्तरिक्षलोक से साररूप वायु को और द्युलोक से साररूप आदित्य को

निकाला। और अन्यत्र भी लिखा है— **प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेमां लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम्। तांल्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त। अग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवः॥** (ऐत० ब्रा० ५।५।३२) प्रजाओं के रक्षक उस परब्रह्म नारायण ने इच्छा की कि मैं बहुत होकर उत्पन्न होऊँ, तब उसने ज्ञानरूप तप किया। इसके बाद पर्यालोचन रूप तप करके परमात्मा ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक नामवाले लोकों को सत्य सङ्कल्प से बनाया। इसके बाद उन तीनों लोकों को फिर भी प्रजापति ने पर्यालोचन रूप तप से तपाया। भलीभाँति ज्ञानरूपी तप से तपाये हुये उन तीनों लोकों से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं। वे ये निम्नलिखित ज्योतियाँ हैं। पृथ्वी लोक से अग्नि उत्पन्न हुई तथा अन्तरिक्षलोक से वायु उत्पन्न हुआ और द्युलोक से साररूप सूर्य उत्पन्न हुआ॥ ३२॥ इस श्रुति में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के सारभूत अग्नि, वायु और सूर्य को प्रभु ने निकाला है। इस विषय का स्पष्ट वर्णन किया गया है॥ १॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्॥२॥

अन्वयार्थ—(स) प्रजाओं के रक्षक उस प्रतिपालक ने सार ग्रहण करने की इच्छा से (एताः) इन (तिस्रः) तीन अग्नि, वायु और आदित्य नाम के (देवताः) देवताओं को उद्देश्य करके (अभ्यतपत्) ज्ञान के पर्यालोचनरूप तप किया (तप्यमानानाम्) ज्ञान से पर्यालोचन किये हुए (तासाम्) उन देवताओं के (रसान्) सारों को (प्रावृहत्) प्रजापति ने ग्रहण किया (अग्नेः) अग्नि देवता से (ऋचः) ऋग्वेद तथा (वायोः) वायु देवता से (यजूंषि) यजुर्वेद और (आदित्यात्) आदित्य देवता से (सामानि) सामवेद को निकाला॥ २॥

विशेषार्थ—प्रजाओं के रक्षक उस प्रतिपालक ने तीन देवताओं के सार ग्रहण करने की इच्छा से इन तीन अग्नि, वायु, आदित्य देवताओं को लक्ष्य बना करके भलीभाँति विचाररूप तप किया। क्योंकि लिखा है— **यस्य ज्ञानमयं तपः॥**

(मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण का ज्ञानमय तप है ॥ १० ॥ ज्ञान से पर्यालोचन किये हुए उन तीन अग्नि, वायु, आदित्य देवताओं के सारों को प्रजापति ने ग्रहण किया। अग्नि देवता से साररूप ऋग्वेद को तथा वायु देवता से साररूप यजुर्वेद को और आदित्य देवता से साररूप सामवेद को निकाला। अन्यत्र भी लिखा है— **तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् ॥** (ऐत० ब्रा० ५।५।३२) प्रजापति ने उन तीन अग्नि वायु, आदित्य ज्योतियों को ज्ञान के पर्यालोचनरूप भलीभाँति तप से तपाया। अच्छी तरह ज्ञान रूपी तप से तपायी हुई तीन ज्योतियों से तीन वेद उत्पन्न हुए। वे ये निम्नलिखित तीन वेद हैं। अग्नि देवता से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ तथा वायु देवता से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ और आदित्य देवता से सामवेद उत्पन्न हुआ ॥३२॥ इस श्रुति में तीन वेदों की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्। तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहत्। भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥३॥

अन्वयार्थ—(सः) प्रजाओं के रक्षक उस प्रतिपालक ने सार ग्रहण करने की इच्छा से (एताम्) इस (त्रयीम्) ऋग्, यजुः, साम रूप त्रयी (विद्याम्) विद्या को उद्देश्य करके (अभ्यतपत्) ज्ञान के पर्यालोचनरूप तप किया (तप्यमानायाः) ज्ञान से पर्यालोचन की हुई (तस्याः) उस ऋग्यजुः साम रूप त्रयी विद्या के (रसान्) सारों को (प्रावृहत्) प्रजापति ने ग्रहण किया (भूः) भू (इति) यह महाव्याहृति (ऋग्भ्यः) ऋग्वेद से उत्पन्न हुई तथा (भुवः) भुवः (इति) यह महाव्याहृति (यजुर्भ्य) यजुर्वेद से उत्पन्न हुई और (स्वः) स्वः (इति) यह महाव्याहृति (सामाभ्यः) सामवेद से उत्पन्न हुई ॥ ३ ॥

विशेषार्थ – प्रजाओं के रक्षक उस परब्रह्म नारायण ने सार ग्रहण करने की इच्छा से इस ऋग्यजुःसामरूप त्रयी विद्या को लक्ष्य बना करके ज्ञान के

पर्यालोचन रूप तप किया। क्योंकि लिखा है— **यस्य ज्ञानमयं तपः ॥** (मु॑० उ० मु॑० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण के ज्ञानमय तप है ॥ १० ॥ ज्ञान से पर्यालोचन की हुई उस त्रयी विद्या के सारों को प्रजापति ने ग्रहण किया। ऋग्वेद से सार रूप 'भूः' यह महाव्याहृति उत्पन्न हुई, यजुर्वेद से 'भुवः' यह महाव्याहृति उत्पन्न हुई और सामवेद से 'स्वः' यह महाव्याहृति उत्पन्न हुई। अन्यत्र भी लिखा है— **तान्वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त। भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात् ॥** (ऐत० ब्रा० ५।५।३२) प्रजापति ने उन तीन ऋग्यजुःसामवेदों को भलीभाँति तपाया। उन अभितप्त तीन वेदों से तीन शुक्र निर्मल वस्तु उत्पन्न हुये। ऋग्वेद से 'भूः' यह उत्पन्न हुआ तथा यजुर्वेद से 'भुवः' यह उत्पन्न हुआ और सामवेद से 'स्वः' यह उत्पन्न हुआ ॥ ३२ ॥ **वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥** (मनु० अ० २ श्लो० ७६) प्रजापति ने ऋग्वेद से 'भूः' व्याहृति को तथा यजुर्वेद से 'भुवः' व्याहृति को और सामवेद से 'स्वः' व्याहृति को दुहा ॥ ७६ ॥ भूः, भुवः, स्वः ये तीन महाव्याहृतियाँ अनेक भावों के बोधक हैं, यह स्पष्ट 'तैतिरीयोपनिषद्' की प्रथमवल्ली में लिखा हुआ है ॥ ३ ॥

तद्यद्यृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात्। ऋचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥४॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस कारण से उस यज्ञ में (यदि) यदि (ऋक्तः) ऋग्वेद के निमित्त से (रिष्येत्) यज्ञ क्षत को प्राप्त हो तो उसके प्रायश्चित के लिये (भूः+स्वाहा) भूः स्वाहा (इति) इस मंत्र से (गार्हपत्ये) गार्हपत्य अग्नि में (जुहुयात्) हवन करे (एव) निश्चय करके (ऋचाम्) ऋग्वेद सम्बन्धी (यज्ञस्य) यज्ञ के (तत्) उस (विरिष्टम्) क्षत को (ऋचाम्) ऋग्वेद के (वीर्येण) वीर्य यानी ओज से (ऋचाम्) ऋग्वेद के (रसेन) साररूप (भूः) इस महाव्याहृति से (संदधाति) पूर्ति करता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—उस यज्ञ में यदि ऋग्वेद के निमित्त से यज्ञ क्षत को प्राप्त हो तो

उसके प्रायश्चित के लिये 'भूः स्वाहा' ऐसा मंत्र को कहकर गार्हपत्य अग्नि में ब्रह्मा हवन करे। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है—

तस्माद्यदि यज्ञ ऋक्त आर्तिर्भवति भूरिति ब्रह्मा गार्हपत्ये जुहुयात् ॥

(ऐत० ब्रा० ५।५।३४) उस यज्ञ में यदि ऋग्वेद के निमित्त से क्षति हो तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर ब्रह्मा नामका ऋत्विक् गार्हपत्य अग्नि में हवन करे ॥ ३४ ॥ निश्चय करके ऋग्वेद सम्बन्धी यज्ञ के उस क्षत को ऋग्वेद के वीर्य से ऋग्वेद के साररूप 'भूः' इस महाव्याहृति से पूर्ति करता है। पुष्टिकर औषधि से जैसे मनुष्य का घाव दिन दिन भरता जाता है। अन्त में निरोग हो जाता है, वैसे ही जिस क्रिया से यज्ञ का क्षत पुष्ट होता है वह संधान कहलाता है। इस श्रुति में हवन के द्वारा ही यज्ञ क्षति की पूर्ति बतलायी गयी है ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात्। यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यदि) यदि (यजुष्टः) यजुर्वेद के निमित्त से (रिष्येत्) यज्ञ क्षत को प्राप्त हो तो उसके प्रायश्चित के लिये (भुवः+स्वाहा) भुवः स्वाहा (इति) इस मंत्र से (दक्षिणाग्नौ) दक्षिणाग्नि में (जुहुयात्) हवन करे (एव) निश्चय करके (यजुषाम्) यजुर्वेद सम्बन्धी (यज्ञस्य) यज्ञ के (तत्) उस (विरिष्टम्) क्षत को (यजुषाम्) यजुर्वेद के (वीर्येण) वीर्य यानी ओज से (यजुषाम्) यजुर्वेद के (रसेन) सार रूप 'भुवः' इस महाव्याहृति से (संदधाति) पूर्ति करता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—और यदि यजुर्वेद के निमित्त से यज्ञ क्षत को प्राप्त हो तो उसके प्रायश्चित के लिये 'भुवः स्वाहा' ऐसा मन्त्र को कहकर ब्रह्मा दक्षिणाग्नि में हवन करे। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है— **यदि यजुष्टो भुव इत्याग्नीध्रीयेऽन्वाहार्यपचने वा हविर्यज्ञेषु ॥** (ऐत० ब्रा० ५।५।३४) यदि यजुर्वेद के निमित्त से यज्ञ में क्षत प्राप्त हो तो 'भुवः स्वाहा' इस मन्त्र को पढ़कर आग्नीध्रीय में अथवा अन्वाहार्यपचन अग्नि में ब्रह्मा हविष्ह हवन करे ॥ ३४ ॥ निश्चय करके यजुर्वेद सम्बन्धी यज्ञ के उस क्षत को यजुर्वेद के वीर्य यानी ओज से यजुर्वेद के सार रूप 'भुवः' इस महाव्याहृति से पूर्ति करता है ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्। साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥६॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यदि) यदि (सामतः) सामवेद के निमित्त से (रिष्येत्) यज्ञ क्षत को प्राप्त हो तो उसके प्रायश्चित के लिये (स्वः+स्वाहा) स्वः स्वाहा (इति) इस मंत्र से (आहवनीये) आहवनीय अग्नि में (जुहुयात्) हवन करे (एव) निश्चय करके (साम्नाम्) सामवेद सम्बन्धी (यज्ञस्य) यज्ञ के (तत्) उस (विरिष्टम्) क्षत को (साम्नाम्) सामवेद के (वीर्येण) वीर्य यानी ओज से (साम्नाम्) सामवेद के (रसेन) सार रूप 'स्वः' इस महाव्याहृति से (संदधाति) ब्रह्मा पूर्ण करता है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—और यदि सामवेद के निमित्त से यज्ञ क्षत को प्राप्त होता हो तो उसके प्रायश्चित के लिये 'स्वः स्वाहा' ऐसा मन्त्र को कहकर ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् आहवनीय अग्नि में हवन करे। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है—

यदि सामतः स्वरित्याहवनीये···जुहुयात् ॥ (ऐत० ब्रा० ५।५।३४)

यदि सामवेद के निमित्त से यज्ञ क्षत को प्राप्त हुआ हो तो 'स्वः स्वाहा' इस मन्त्र को पढ़कर ब्रह्मा आहवनीय अग्नि में हवन करे ॥ ३४ ॥ निश्चय करके सामवेद सम्बन्धी यज्ञ के उस क्षत को सामवेद के वीर्य यानी ओज से सामवेद के सार रूप 'स्वः' इस महाव्याहृति से ब्रह्मा पूर्ति करता है ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्। सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥७॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस विषय में अनेक दृष्टान्त दिखलाया जाता है (यथा) जिस प्रकार (लवणेन) क्षारद्रव्यसंपर्कपूर्वक ताप से (सुवर्णम्) सोने को (संदध्यात्) सुवर्णकार मृदु बना लेता है इसी प्रकार (सुवर्णेन) सोने से (रजतम्) चाँदी को और (रजतेन) चाँदी से (त्रपु) त्रपु नाम के धातु को तथा (त्रपुणा) त्रपु से

(सीसम्) सीसे को और (सीसेन) सीसे से (लोहम्) लोहे को और (लोहेन) लोहे से (दारू) काष्ठ को अथवा (चर्मणा) चमड़े से (दारु) काष्ट को बाँधता या जोड़ता है, तद्वत् यह आगे के मन्त्र से सम्बन्ध रखता है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—उस सन्धान विषय में अनेक दृष्टान्त दिखलाया जाता है कि–जैसे सोने को क्षारद्रव्यसंपर्कपूर्वक ताप से सुवर्णकार मृदु बना लेता है। यहाँ लवण नाम क्षार पदार्थ टंकण आदिकों का है। उस टंकण पदार्थ को सुवर्ण में देने से कठोर सोना भी गलकर कोमल हो जाता है। वैसे ही सोने से चाँदी को और चाँदी से त्रपु नाम के धातु को तथा त्रपु से सीसे को और सीसे से लोहे को तथा लोहे से काष्ठ को अथवा चमड़े से काष्ठ को बाँधता या जोड़ता है। तद्वत् यह आगे के मन्त्र से सम्बन्ध रखता है ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति। भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥८॥

अन्वयार्थ—(एवम्) जैसा पूर्व श्रुति में कहा है वैसे ही (एषाम्) इन पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग (लोकानाम्) लोकों के (आसाम्) इन अग्नि, वायु, आदित्य नामक (देवतानाम्) देवताओं के और (अस्याः) इस (त्रय्याः) ऋग्यजुः सामरूपत्रयी (विद्यायाः) विद्या के (वीर्येण) वीर्य यानी साररूप भूः, भुवः, स्वः इस व्याहृति से (यज्ञस्य) यज्ञ की (विरिष्टम्) क्षति त्रुटि को (संदधाति) ब्रह्मा पूर्ति करता है (यत्र) जिस यज्ञ में (एवम्) इस प्रकार महाव्याहृति से प्रायश्चित्तार्थ होमविधि को (वित्) जानने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् (भवति) होता है (वै) निश्चय करके (ह) यह बात प्रसिद्ध है कि (एषः) यह (यज्ञः) यज्ञ (भेषजकृतः) प्रायश्चित्तरूप औषध से सुसंस्कृत होता है ॥ ८ ॥

विशेषार्थ - जैसे सोने को क्षार द्रव्य का सम्पर्क से मृदु बना लेता है, वैसे ही इन पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग लोकों के और इन अग्नि, वायु तथा आदित्य नामके देवताओं के और इस ऋग्यजुः साम रूप त्रयी विद्या के वीर्य यानी साररूप 'भूः भुवः स्वः' इस महाव्याहृति से यज्ञ की क्षति यानी त्रुटि को ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् पूर्ण करता है। जिस यज्ञ में इस प्रकार महाव्याहृति से प्रायश्चित्तार्थ

होमविधि को जाननेवाला ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् होता है। निश्चय ही यह यज्ञ प्रायश्चित्तरूप औषध से सुसंकृत होता है। अथवा समीचीन चिकित्सक से जैसे रोगार्त पुरुष कृत भेषज होता है वैसे ही क्षत यज्ञ समीचीन पूर्ण शास्त्र विधि वेत्ता ब्रह्माके द्वारा महाव्याहृति से हवन करके परिपूर्ण कृत भेषज होता है। महाव्याहृति से हवन करना ही यज्ञ के क्षत को दूर करने वाला औषध है ॥ ८ ॥

एष ह वा उदक् प्रवणो यज्ञो यत्रैवं विद्ब्रह्मा भवति। एवं विदं ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा। यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥९॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस यज्ञ में (एवम्) इस प्रकार प्रायश्चित्तार्थ पूर्वोक्त महाव्याहृति से होमविधि को (वित्) जानने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् (भवति) होता है (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (एषः) यह (यज्ञः) यज्ञ (उदक्-प्रवणः) उत्तरमार्गप्रतिपत्ति में कारण है (वै) निश्चय करके (एवम्) इस प्रकार प्रायश्चित्तार्थ पूर्वोक्त महाव्याहृति से होमविधि को (विदम्) जानने वाला (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् के विषय में (ह) प्रसिद्ध (अनु) अनुगत (एषा) यह वक्ष्यमाण (गाथा) गीति विशेष गाथा है (यतः) जहाँ (यतः) जहाँ (आवर्तते) यज्ञ के क्षत कर्म थोड़ा सा भी आवृत्त होता है (तत्) उस (तत्) उस क्षत कर्म को (गच्छति) वहाँ जाकर मननशील ब्रह्मा परिपूर्ण करता है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—जिस यज्ञ में इस प्रकार प्रायश्चित्तार्थ पूर्वोक्त महाव्याहृति से होम विधि को जानने वाला ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् होता है तो निश्चय करके प्रसिद्ध यह यज्ञ उत्तरमार्ग प्रतिपत्ति में हेतु है। निश्चय करके इस प्रकार प्रायश्चित्तार्थ पूर्वोक्त महाव्याहृति से होम विधि को जानने वाला ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् के विषय में प्रसिद्ध अनुगत यह वक्ष्यमाण गीति विशेष गाथा है। वह गाथा यह है कि—जहाँ जहाँ यज्ञ के क्षत कर्म थोड़ा सा भी आवृत्त होता है वहाँ ही वह मननशील ब्रह्मा पहुँच जाता है। और सम्पूर्ण यज्ञ की क्षति को महाव्याहृति मन्त्र से हवन करके परिपूर्ण ब्रह्मा कर देता है ॥ ९ ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाऽभिरक्षति । एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति । तस्मादेवं विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥१०॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके सप्तदशखण्डः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थ प्रपाठकः समाप्तः ॥

अन्वयार्थ—(अश्वा) घोड़ी युद्ध में जैसे युद्ध करने वालों की (अभिरक्षति) सब प्रकार से रक्षा करती है वैसे ही (मानवः) मननशील यज्ञ के मानों को जानने वाला (एव) निश्चय करके (एकः) एक ही (ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम का (ऋत्विक्) ऋत्विक् (कुरून्) समस्त यज्ञ कर्ताओं को भलीभाँति रक्षा करता है (व) निश्चय करके (एवं+वित्) इस प्रकार प्रायश्चित्तार्थ पूर्वोक्त महाव्याहृति से होम विधि को जानने वाला (ह) प्रसिद्ध (ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् (यज्ञम्) यज्ञ को (यजमानम्) तथा यजमान को (च) और (सर्वान्) समस्त (ऋत्विजः) अध्वर्यु, उद्गाता प्रभृति ऋत्विजों को (अभिरक्षति) सब प्रकार से रक्षा करता है (तस्मात्) इस कारण से (एवं+विदम्) इस प्रकार जाननेवाले को (एव) निश्चय करके (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा (कुर्वीत्) बनावे (अनेवं+विदम्) जो ऐसा नहीं जानता है उसको ब्रह्मा (न) नहीं बनावें (अनेवं+विदम्) जो ऐसा नहीं जानता है उसको ब्रह्मा (न) नहीं बनावें ॥ १० ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार घोड़ी युद्ध में कुरुवंशीय योद्धाओं की अथवा युद्ध करने वालों की सब प्रकार से रक्षा करती है, उसी प्रकार मननशील यज्ञ के मानों को जानने वाला एक ही ब्रह्मा नामका ऋत्विक् समस्त यज्ञ के कर्म करने वालों को अच्छी तरह से रक्षा करता है। ऐसा जानने वाला प्रसिद्ध ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् यज्ञ की तथा यजमान की और अन्य समस्त ऋत्विजों की भी सब ओर से रक्षा करता है। इस कारण से प्रकार जानने वालों को ही ब्रह्मा यज्ञ में बनाना चाहिये। जो ऐसा नहीं जानता है उसको यज्ञ में ब्रह्मा नहीं बनाना चाहिये। भुवनभयभञ्जनभूतदेह भगवद्रामानुजाचार्य ने— **दर्शनाच्च** ॥(शा०मी० ३।३।६४)

के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक के सत्रहवें खण्ड की दसवीं श्रुति के 'एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' इस वाक्य को उद्धृत किया है। इस श्रुति में 'नानेवंविदम्' इस खण्ड का दो बार उच्चारण सतरहवें खण्ड और चौथे प्रपाठक की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' के चौथे प्रपाठक के पहले और तीसरे खण्ड में आठ आठ मन्त्र हैं। तथा दूसरे और चौथे तथा दसवें और पन्द्रहवें तथा सोलहवें खण्डों में पाँच पाँच मन्त्र हैं। और पाँचवें तथा नौवें और चौदहवें खण्ड में तीन-तीन मन्त्र हैं। छठवें तथा सा व और आठवें खण्ड में चार-चार मन्त्र हैं। और सतरहवें खण्ड में दस मन्त्र हैं। इस प्रकार परिगणन करने से चतुर्थ प्रपाठक में अठत्तर मन्त्र हैं। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के चतुर्थ प्रपाठक का सतरहवाँ खण्ड और चतुर्थ प्रपाठक भी समाप्त हो गया ॥ १० ॥

॥ अथ पञ्चम प्रपाठकः ॥

॥ अथ प्रथमखण्डः ॥

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च ॥१॥

अन्वयार्थ—(ह) यह बात प्रसिद्ध है कि (वै) निश्चय करके (यः) जो उपासक (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ (च) और (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ (च) भी गुणवाले प्राण को (वेद) जानता है तो (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (ज्येष्ठः) वृद्धतम (च) और (श्रेष्ठः) प्रशस्ततम [च] भी [भवति] होता है [वाव] निश्चय करके [प्राणः] प्राण ही (ज्येष्ठः) सब इन्द्रियों से ज्येष्ठ (च) और (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ (च) भी है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अब प्राण विद्या का प्रारम्भ किया जाता है। निश्चय करके यह बात प्रसिद्ध है कि—जो उपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुणवाले प्राण को जानता है वह प्रसिद्ध उपासक निश्चय करके तत्क्रतु-न्याय से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। निश्चय करके प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भी है। तथा अन्यत्र भी लिखा है—**यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति। प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥** (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० १) जो कोई उपासक

निश्चय करके ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुणवाले प्राण को जानता है वह अपने ज्ञातिजनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो ऐसी उपासना करता है वह अपने ज्ञातिजनों में तथा जिनमें होना चाहता है उनमें भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है ॥ १ ॥ ज्येष्ठ और श्रेष्ठ यद्यपि ये दोनों एक ही शब्द और एक ही प्रत्यय से बनते हैं (प्रशस्य + इष्ठ = ज्येष्ठ। प्रशस्य + इष्ठ = श्रेष्ठ।) तथापि इन दोनों के अर्थ में भेद है। वयोवस्था से ज्येष्ठ और गुणों से श्रेष्ठ कहलाता है। भाइयों में वयोवस्था से ज्येष्ठ और गुणों में सबसे श्रेष्ठ रामानुज है। ऐसा लौकिक प्रयोग बहुत होता है। वागादि इन्द्रियों में प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। क्योंकि जब पुरुष गर्भस्थ रहता है तब वागादिकों से पूर्व प्राण की ही वृत्ति पूर्व होती है जिससे गर्भ की वृद्धि होती रहती है, परन्तु नेत्र आदिक स्थानावयव की सम्पन्नता होने के बाद ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपनी वृत्ति लाभ करती हैं। अतः प्राण ही वयः क्रम से ज्येष्ठ है। और समस्त इन्द्रियों के व्यापार प्राण के अधीन होने से प्राण ही श्रेष्ठ भी है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है—**प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्चप्रज्ञां विधेहिनः ॥** (प्रश्नो० प्रश्न० २ श्रु० १२) यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् और जो कुछ स्वर्गादि-लोक में स्थित है वह सब मुख्य प्राण के अधीन हैं। हे प्राण माता अपने पुत्रों को जैसे रक्षा करती है वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो और हमारे लिये स्वस्वकार्य निष्पादनसामर्थ्यलक्षण लक्ष्मी को और तदनुकूल बुद्धि को प्रदान करो ॥ १२ ॥ विद्यामार्तण्ड भगवद्रामानुजाचार्य ने— **सर्वाभेदादन्यत्रेमे** ॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १०) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति। वाग्वाव वसिष्ठः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (वसिष्ठम्) वसिष्ठ को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (स्वानाम्) अपनी जातियों के मध्य में (वसिष्ठः) वसिष्ठ (भवति) होता है (वाव) निश्चय (वाग्) वाणी ही (वसिष्ठः) वसिष्ठ है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जो कोई उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध वशिष्ठ को जानता है वह प्रसिद्ध उपासक अपने बन्धु-बान्धवों के मध्य में वसिष्ठ होता है। निश्चय करके वाणी वसिष्ठ है। बहुत धनाढ्य को वसिष्ठ कहते हैं। वाग्मी यानी मधुरसत्यभाषी जन लोक में अतिशय धन वाला होता है। और अन्य धनाढ्य को भी अपने वश में कर लेता है इससे वाणी ही यथार्थ में वसिष्ठ है और अन्यत्र भी लिखा है—

यो ह वै वसिष्ठांवेद वसिष्ठः स्वानांभवति। वाग्वै वसिष्ठा। वसिष्ठः स्वानांभवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद॥(बृह० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० २) जो वसिष्ठा को जानता है वह स्वजनों में वसिष्ठ होता है। वाणी ही वसिष्ठा है जो ऐसी उपासना करता है वह अपनी जातियों के मध्य में तथा और जिनमें होना चाहता है उनमें वसिष्ठ होता है॥ २॥ इस प्रकार का श्रुति का अर्थ प्रतिपादित किया गया है॥ २॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिंश्च। चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा॥३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (वेद) जानता है वह उपासक (अस्मिन्) इस लोक में (च) और (अमुष्मिन्) उस (लोके) परलोकमें (च) भी (ह) प्रसिद्ध (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है (चक्षुः) नेत्र (वाव) ही (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा है क्योंकि नेत्र से देखता हुआ पुरुष सम या दुर्ग स्थान में प्रतिष्ठित होता है॥ ३॥

विशेषार्थ—जो कोई उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध प्रतिष्ठा को जानता है वह उपासक इस लोक में और परलोक में भी प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है। इस विषय में अन्यत्र भी लिखा है— **यो ह वै प्रतिष्ठांवेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा। चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति। प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० ३) निश्चय जो उपासक प्रतिष्ठा को जानता है वह समान देश काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम में भी प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है। नेत्र से ही समान या विषम भूतल पर प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसी उपासना करता है वह समान या दुर्गम में प्रतिष्ठित होता

है ।। ३ ।। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि चक्षु ही प्रतिष्ठा है ।। ३ ।।

यो ह वै सम्पदं वेद संहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च । श्रोत्रंवाव सम्पत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (सम्पदम्) सम्पद् नामके पदार्थ को (वेद) जानता है (अस्मै) इस उपासक के लिये (ह) प्रसिद्ध (दैवाः) देवता सम्बन्धी (च) और (मानुषाः) मनुष्य-सम्बन्धी (च) भी (कामाः) विषयभोग (संपद्यन्ते) सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते हैं (श्रोत्रम्) कान (वाव) ही (सम्पद्) संपद् है क्योंकि कान से ही वेदों और उसके अर्थों को सब लोग ग्रहण करते हैं। तब कर्म किये जाते हैं। तदनन्तर सकल सम्पद् प्राप्त होती है इससे श्रोत्र ही सम्पद् है ।। ४ ।।

विशेषार्थ – जो कोई उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध सम्पद् को जानता है। उस इस उपासक के लिये प्रसिद्ध देवता सम्बन्धी और मनुष्य सम्बन्धी सर्वोत्तम विषय भोग भलीभाँति प्राप्त होते हैं। निश्चय करके श्रोत्र ही सम्पद् है। क्योंकि कान से ही वेदों और उसके अर्थों का ग्रहण होता है। तब कर्म किये जाते हैं। तब सकल सम्पत् प्राप्त होती है। अतः श्रोत्र को संपद् कहा गया है। और अन्यत्र भी लिखा है— **यो ह वै सम्पदं वेद। सँहास्मै पद्यते यं कामं कामयते। श्रोत्रं वै सम्पत्। श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः। सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते। य एवं वेद ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० ४) जो उपासक निश्चय करके सम्पद् को जानता है वह जिस भोग की इच्छा करता है वही उसे सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाता है। कानही संपत् है कान में ही ये सब वेद सब प्रकार निष्पन्न हैं। जो ऐसी उपासना करता है वह जिस भोग की इच्छा करता है वही उसे सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाता है ।।४।। इससे सिद्ध हो गया कि श्रोत्र ही सम्पत् है ।। ४ ।।

यो ह वा आयतनं वेदायतनं ह स्वानां भवति । मनो ह वा आयतनम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(यः) जो उपासक (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (आयतनम्) आयतन को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध वह उपासक (स्वानाम्) अपनी

जातियों का (आयतनम्) आश्रय (भवति) होता है (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (मनः) संकल्प विकल्पात्मक मन ही (आयतनम्) आश्रय है क्योंकि भोग के लिये इन्द्रियों से आहृत विषयों का आश्रय यथार्थ में मन ही होता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जो कोई उपासक निश्चय करके प्रसिद्ध आयतन को जानता है वह प्रसिद्ध उपासक अपने ज्ञाति बन्धुबान्धवों का आश्रय होता है। निश्चय करके प्रसिद्ध संकल्प विकल्पात्मक मन ही आश्रय है। क्योंकि भोग के लिये इन्द्रियों से आहृत विषयों का आश्रय यथार्थ में मन ही होता है, अतः मन को आयतन कहा गया है। अन्यत्र भी लिखा है ॥ **यो ह वा आयतनं वेदायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद** ॥ बृ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० ५ ॥ जो उपासक निश्चय करके आयतन को जानता है वह स्वजनों का आयतन होता है तथा अन्य जनों का भी आयतन होता है। मन ही आयतन है। जो कोई उपासक इस प्रकार उपासना करता है वह स्वजनों का आयतन होता है तथा अन्य जनों का भी आयतन होता है ॥५॥ इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मन ही आयतन है ॥५॥

अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ॥६॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है (ह) यह बात प्रसिद्ध है। एक समय में (प्राणः) प्राण और वागादि इन्द्रियाँ (अहं श्रेयसि) अपने कल्याण के निमित्त अर्थात् अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिये (अहम्) मैं (श्रेयान्) श्रेष्ठ (अस्मि) हूँ (अहम्) मैं (श्रेयान्) श्रेष्ठ (अस्मि) हूँ (इति) इस प्रकार (व्यूदिरे) परस्पर विवाद करने लगीं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—वागादि इन्द्रियों के अन्वर्थ नाम के विवरण के अनन्तर अब इन सबों में कौन श्रेष्ठ है इस विषय को दिखलाने के लिये आख्यायिका के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है कि—यह प्रसिद्ध है कि एक बार प्राण और वाणी आदि इन्द्रियाँ 'मैं श्रेष्ठ हूँ' 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिये परस्पर

विवाद करने लगीं। श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ भगवद्रामानुजाचार्य ने। **सर्वाभेदादन्यत्रेमे।** शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १० ॥ के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के पहले खण्ड की छठवीं श्रुति के 'अहं श्रेयसि व्यूदिरे' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ ६ ॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति। तान्होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥७॥

अन्वयार्थ—(ते) वे वागादि इन्द्रियाँ और (प्राणाः) प्राण (ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिम्) प्रजाओं के रक्षक (पितरम्) परम पिता परब्रह्म नारायण के (एत्य) निकट आकर (इति) इस प्रकार (ऊचुः) बोले कि (भगवन्) हे षडैश्वर्यसम्पन्न परमपूज्य पिता (नः) हमलोगों में से (कः) कौन (श्रेष्ठ) श्रेष्ठ है (इति) इस बात को सुनकर प्रजापालक (ह) प्रसिद्ध परम पिता परब्रह्म नारायण ने (तान्) उन इन्द्रियादिकों से (उवाच) कहा कि (वः) तुमलोगों में से (यस्मिन्) जिसके (उत्क्रान्ते) चले जाने पर (शरीरम्) यह शरीर (पापिष्ठतरम्) अत्यन्त पापी अर्थात् अत्यन्त हेय (इव) सा (दृश्येत) दिखायी देने लगे (सः) वही (वः) तुमलोगों में (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—उन वागादि इन्द्रियों और प्राण ने सुप्रसिद्ध प्रजापालक परम पिता परब्रह्म नारायण के पास जाकर कहा कि—हे षडैश्वर्यसम्पन्न परम पूज्य परब्रह्म नारायण हमलोगों में से कौन श्रेष्ठ हैं ? इस बात को सुनकर परम पिता सुप्रसिद्ध परब्रह्म नारायण ने उन वागादि इन्द्रियों से कहा कि—तुमलोगों में से जिसके उत्क्रमण करने पर यह शरीर महापापी अर्थात् अत्यन्त हेय सा दीख पड़े वही तुम लोगों में श्रेष्ठ है। अन्यत्र भी ऐसा ही लिखा है ॥ **ते हेमे प्राण अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नु वसिष्ठ इति। तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यतेसवो वसिष्ठ इति ॥** बृह० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० ७ ॥ वे पूर्वोक्त इन्द्रियाँ और प्राण मन आदि अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिये 'मैं श्रेष्ठ हूँ' 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए परब्रह्म नारायण के पास गये और उस नारायण से बोले कि हमलोगों

में कौन वसिष्ठ है। उन्होंने कहा तुमलोगों में से जिसके उत्क्रमण करने पर यह शरीर अत्यन्त पापी माना जाता है वही तुमलोगों में वसिष्ठ है ॥७॥ प्रकृत श्रुति में प्रजापति शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है कि ॥ **एतमेकं वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्** ॥ मनु० अ० १२ श्लो० १२३ ॥ कुछ लोग इस परब्रह्म नारायण को अग्नि कहते हैं और लोग प्रजापति कहते हैं ॥ १२३ ॥ यतिचक्रचूड़ामणि भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अकरणत्वाच्चनदोषस्तथाहि दर्शयति** ॥ शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १० ॥ के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की सातवीं श्रुति के 'यस्मिन्नुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' इस वाक्य को उद्धृत किया है और ॥ **सर्वाभेदादन्यत्रेमे** ॥ शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १० ॥ के श्रीभाष्य में 'प्रजापतिं पितरमेत्य को नः श्रेष्ठः' इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥ ७ ॥

सा ह वागुच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येयोवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सा) वह (वाक्) वाणी (उच्चक्राम) अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये शरीर से बाहर निकल गयी (सा) वह वाणी (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (पर्येत्य) फिर आकर (इति) इस प्रकार के (उवाच) अन्य इन्द्रियों से बोलीं कि (मत्) मेरे (ऋते) बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) प्राण धारण करने के लिये (अशकत) तुमलोग समर्थ हुए इस प्रकार पूछने पर (इति) इस प्रकार के और इन्द्रियों ने कहा कि (यथा) जैसे (कलाः) गूंगे लोग (अवदन्तः) वाणी से न बोलते हुए (प्राणेन) मुख्य प्राण से (प्राणन्तः) प्राणन क्रिया करते हुए (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तः) देखते हुए (श्रोत्रेण) कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए (मनसा) मन से (ध्यायन्तः) पदार्थों को चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही हमलोग भी जीवित रहे इस प्रकार

(ह) प्रसिद्ध (वाग्) वाणी इन्द्रिय ने अपनी अश्रेष्ठता को जानकर (प्रविवेश) शरीर में प्रवेश किया ॥८॥

विशेषार्थ—प्रजापति के उपदेश देने के बाद वह प्रसिद्ध वाणी अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गयी। उस वाणी के एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहाँ ही आकर अन्य इन्द्रियों से पूछा कि "मेरे बिना तुमलोग कैसे जीवित रहीं" इस बात को सुनकर और इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि—जिस प्रकार गूंगे लोग बिना बोले प्राण से प्राणन क्रिया करते नेत्र से देखते कान से सुनते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हमलोग भी जीवित रहीं। ऐसा सुनकर वाणी अपनी अश्रेष्ठता को जान अपने आश्रय शरीर में पैठ गई। ऐसा हीअन्यत्र लिखा है ॥ **वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति । ते होचुर्यथा कला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह वाक् ॥** बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० ८ ॥ पहले सुप्रसिद्ध वाक् ने शरीर से उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष शरीर से बाहर रहकर लौटकर कहा कि—"मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी थी" यह सुनकर अन्य इन्द्रियों ने कहा कि—जैसे गूंगे मनुष्य वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से प्राण क्रिया करते नेत्र से देखते कान से सुनते मन से जानते और रेत से सन्तान की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं वैसे ही हम सब जीवित रही हैं। यह सुनकर वाक् ने शरीर में प्रवेश किया ॥ ८ ॥ इस श्रुति में वाक् इन्द्रिय की अश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया हैं ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति । यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेणध्यायन्तो मनसैवमिति । प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय (उच्चक्राम) अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये शरीर से बाहर चली गयी (तत्) वह नयन (संवत्सरम्) एक

वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (पर्येत्य) पुनः लौटकर (इति) इस प्रकार के (उवाच) अन्य इन्द्रियों से बोला कि (मत्) मेरे (ऋते) बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवन धारण करने के लिये (अशकत) तुमलोग समर्थ हुए ? इस प्रकार पूछने पर तो और इन्द्रियों ने कहा कि (यथा) जैसे (अन्धाः) नेत्रविहीन मनुष्य (अपश्यन्तः) न देखते हुए (प्राणेन) मुख्य प्राण से (प्राणन्तः) प्राणन क्रिया करते हुए (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (श्रोत्रेण) कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए (मनसा) मन से (ध्यायन्तः) सकल विषयों को ध्यान करते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही हम लोग भी जीते रहे (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (चक्षुः) नेत्रेन्द्रियने अपनी अश्रेष्ठता को जानकर (प्रविवेश) शरीर में प्रवेश किया ॥६॥

विशेषार्थ—वाणी इन्द्रिय की अश्रेष्ठता सिद्ध होने के अनन्तर वह सुप्रसिद्ध नेत्रेन्द्रिय अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गयी। उस नयन ने एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहाँ ही आ कर अन्य इन्द्रियों से पूछा कि "मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकीं" इस बात को सुनकर इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि—जिस प्रकार अन्धे लोग बिना देखे प्राण से प्राणन क्रिया करते वाणी से बोलते कान से सुनते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम लोग भी जीवित रहीं। ऐसा सुनकर नेत्रेन्द्रिय अपनी अश्रेष्ठता को जानकर शरीर में पैठ गयी। और ऐसा ही बृहदारण्यकोपनिषद् में भी लिखा है ॥ **चक्षुर्होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति। ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तोवाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह चक्षुः ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० ९) प्रसिद्ध नेत्रने शरीर से उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष तक शरीर से बाहर रह कर वहाँ ही लौट कर कहा कि—"मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी थीं" यह सुनकर और इन्द्रियों ने कहा कि—जिस प्रकार अन्धे लोग नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते वाणी से बोलते कान से सुनते मन से जानते और रेत से सन्तान की उत्पत्ति करते हुए जीवित

रहते हैं उसी प्रकार हम सब जीवित रही हैं। यह सुन कर नेत्रेन्द्रिय ने शरीर में प्रवेश किया ॥६॥ इस श्रुति में नेत्रेन्द्रिय की अश्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है ॥६॥

श्रोत्रं होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचापश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय (उच्चक्राम) अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये शरीर से बाहर चली गयी (तत्) वह कान (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (पर्येत्य) पुनः लौटकर (इति) इस प्रकार के (उवाच) अन्य इन्द्रियों से बोला कि (मत्) मेरे (ऋते) बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवन धारण करने के लिये (अशकत) तुमलोग समर्थ हुई? इस प्रकार पूछने पर तो और इन्द्रियों ने कहा कि (यथा) जैसे (बधिराः) बहरे मनुष्य (अशृण्वन्तः) कानों से न सुनते हुए (प्राणेन) मुख्य प्राण से (प्राणन्तः) प्राणन क्रिया करते हुए (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तः) देखते हुए (मनसा) मन से (ध्यायन्तः) सब विषयों को ध्यान करते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही हम लोग भी जीवित रहीं (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रियने अपनी अश्रेष्ठता को जानकर (प्रविवेश) शरीर में प्रवेश किया ॥१०॥

विशेषार्थ—नेत्रेन्द्रिय की अश्रेष्ठता सिद्ध होने के अनन्तर वह सुप्रसिद्ध कर्णेन्द्रिय अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गयी। उस कान ने एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहाँ ही आ कर अन्य इन्द्रियों से पूछा कि "मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी" इस बात को सुनकर इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि—जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना सुने प्राण से प्राणन क्रिया करते वाणी से बोलते नेत्र से देखते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम लोग भी जीवित रहीं। ऐसा सुनकर श्रोत्रेन्द्रिय अपनी अश्रेष्ठता को जानकर शरीर में पैठ गयी। और ऐसा ही अन्यत्र भी

लिखा है ॥ **श्रोत्रं होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० १०) प्रसिद्ध श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष तक शरीर से बाहर रह कर वहाँ ही लौट कर अन्यइन्द्रियों से कहा कि– "मेरे बिना तुम लोग कैसे जीवित रह सकी थी" यह सुनकर और इन्द्रियों ने कहा कि–जिस प्रकार बहरे आदमी कानों से न सुनते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते वाणी से बोलते नेत्र से देखते मन से जानते और रेत से सन्तान की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम सब जीवित रही हैं। यह सुनकर श्रोत्रेन्द्रिय ने शरीर में प्रवेश किया ॥१०॥ इस श्रुति में श्रोत्रेन्द्रिय की अश्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है ॥१०॥

मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति । यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति । प्रविवेश ह मनः ॥११॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (मनः) मन (उच्चक्राम) अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये शरीर से बाहर चली गयी (तत्) वह मन (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (पर्येत्य) पुनः लौटकर (इति) इस प्रकार के (उवाच) सब इन्द्रियों से बोला कि (मत्) मेरे (ऋते) बिना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) जीवन धारण करने के लिये (अशकत) तुमलोग समर्थ हुई? इस प्रकार पूछने पर तो और इन्द्रियों ने कहा कि (यथा) जैसे (बालाः) बालक (अमनसः) अप्रौढ मन होते हुए (प्राणेन) मुख्य प्राण से (प्राणन्तः) प्राणन क्रिया करते हुए (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यन्तः) देखते हुए (श्रोत्रेण) कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए जीवित रहते हैं (एवम्) वैसे ही हम लोग भी जीवित रहीं (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (मनः) मन ने अपनी अश्रेष्ठता को जानकर (प्रविवेश) शरीर में प्रवेश किया ॥११॥

विशेषार्थ—श्रोत्रेन्द्रिय की अश्रेष्ठता सिद्ध होने के अनन्तर वह सुप्रसिद्ध मन अपनी श्रेष्ठता की परीक्षा के लिये अपने आश्रय शरीर से बाहर निकल गया। मन ने एक वर्ष प्रवास करने के अनन्तर फिर लौट कर वहाँ ही आकर अन्य इन्द्रियों से पूछा कि "मेरे बिना तुमलोग कैसे जीवित रह सकीं" इस बात को सुनकर इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि—जिस प्रकार बच्चे विकसित मन वाले नहीं होते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते नेत्र से देखते कान से सुनते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हमलोग भी जीवित रहीं। ऐसा सुनकर मन अपना अश्रेष्टता को जानकर शरीर में पैठ गया। और ऐसा ही अन्यत्र लिखा है॥

मनो होच्चक्राम। संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति। ते होचु यथा अविद्वांसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवामजीविष्मेति। प्रविवेश ह मनः॥ बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० ११॥ प्रसिद्ध मन ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष शरीर से बाहर रहकर फिर वहाँ ही लौटकर कहा कि—"तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सकी थीं" इस बात को सुनकर इन्द्रियों ने कहा कि—जिस प्रकार मुग्ध या पागल पुरुष मन से न समझते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया करते वाणी से बोलते नेत्र से देखते कान से सुनते और वीर्य से सन्तान की उत्पति करते हुए जीवित रहते हैं उसी प्रकार हम सब जीवित रही हैं। यह सुनकर सुप्रसिद्ध मन ने शरीर में प्रवेश किया॥११॥ इस श्रुति में मन की अश्रेष्टता का प्रतिपादन किया गयाहैं॥११॥

अथ ह प्राण उच्चक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून्सं खिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत् तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसिमोत्क्रमीरिति॥१२॥

अन्वयार्थ—(अथ) वागादि इन्द्रियों की श्रेष्ठता की परीक्षा होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (सः) वह (प्राणः) मुख्य प्राण (उच्चक्रमिषन्) शरीर को त्यागकर बाहर चलने की इच्छावाला हुआ कि (यथा) जैसे (सुहयः) सुन्दर वलिष्ठ घोड़ा परीक्षा के लिये कशा से ताडित होने पर (षड्वीशशङ्कून्) अपने पैर को बांधने की कीलों को (संखिदेत्) अच्छी तरह से उखाड़ डाले (एवम्) वैसे

ही मुख्य प्राणने (इतरान्) अन्य वागादि (प्राणन्) प्राणनामधारी इन्द्रियों को (समखिदत्) अपने अपने स्थान से अच्छी तरह उखाड़ दिया तब (ह) प्रसिद्ध (तम) उस मुख्यप्राण के (अभिसमेत्य) चारो तरफ से समीप में आकर (ऊचुः) अन्य वागादि इन्द्रियाँ सब बोलीं कि (भगवान्) हे षडैश्वर्यसंपन्न पूजार्ह भगवन् (एधि) हम लोगों के स्वामी आप ही होवें (नः) हमलोगों के मध्य में (त्वम्) आप ही (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ (असि) हैं । अतः इस शरीर से आप (मा) मत (उत्क्रमीः) उत्क्रमण करें (इति) यह हम लोगों की प्रार्थना है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ— वागादि इन्द्रियों की श्रेष्ठता की परीक्षा होने के अनन्तर सुप्रसिद्ध उस मुख्य प्राण ने शरीर को त्याग कर बाहर चलने की इच्छा की । उसने जिस प्रकार सुन्दर बलिष्ठ अच्छा घोड़ा परीक्षा के लिये कशा से ताड़ित होने पर अपने बांधने के सब खूँटोंको उखाड़ डालता है उसी प्रकार अन्य वागादि प्राणनामधारी सब इन्द्रियों को भी उखाड़ दिया । तब से सब इन्द्रियादिक मिलकर उस मुख्य प्राण के सामने जाकर कहने लगी कि हे पूज्यपाद भगवन् ? आपही हम लोगों के स्वामी रहें । क्योंकि हम लोगों के मध्य में आप ही श्रेष्ठ हैं । हम लोगों को परित्याग कर इस शरीर से अन्यत्र कहीं आप न जायें यह हम लोगों की प्रार्थना है । इस श्रुति में प्राणाधीन सबकी सत्ता होने से लौकिक या वैदिक लोग वागादि सम्पूर्ण इन्द्रियों को वागादि शब्द से नहीं व्यावहार करते हैं, बल्कि प्राण ही शब्द से व्यवहार करते हैं, जैसे कि "इतरान्प्राणन्" यह प्रयोग किया गया है । इस विषय में निम्नलिखित अभियुक्त वचन भी प्रमाण है ॥ **यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येवभण्यते ॥** जिसके अधीन जिसकी सत्ता होती है वह उससे ही कहा जाता है ॥ इससे सिद्ध हो गया कि प्राण ही शब्द से इन्द्रियादिक कहे जाते हैं । प्रकृतश्रुति के समान ही अन्यत्र भी लिखा है कि ॥ **अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशङ्कून् संवृहेदेवं हैवेमान्प्राणान्संववर्ह । ते होचु र्मा भगवउत्क्रमी र्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति । तस्यो मेबलिं कुरुतेति । तथेति ॥** बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० १३ ॥ इसके बाद प्रसिद्ध प्राण उत्क्रमण करने की इच्छा करने लगा तो जिस प्रकार सिन्धु देशीय महान् अश्व पैरबाँधने के खूटों को उखाड़ डालता है उसी प्रकार वह इन सब प्राणवाच्य इन्द्रियों को स्थानच्युत

करने लगा। तब सब इन्द्रियों ने प्राण से कहा कि—हे भगवन् पूज्यपाद आप शरीर से उत्क्रमण न करें। आपके बिना हम सब जीवित नही रह सकते हैं। तब प्राण ने कहा कि अच्छा तो मुझे बलिभेंट दिया करो। इसको सुन कर इन्द्रियोंने कहा बहुत अच्छा ॥ १३ ॥ और कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है ॥ **अथातो निःश्रेयसादानं एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमाना अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुस्तद्दारुभूतं शिश्येऽथैनद्वाक्प्रविवेश तद्वाचा वदच्छिश्यएवाथैतच्चक्षुः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एवाथैतच्छ्रोत्रं प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एवाथैतन्मनः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिश्य एवाथैतत्प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ तद्देवाः प्राणे निः श्रेयसं विचिन्त्य प्राणमेव प्रज्ञात्मानभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः ॥**

(कौषीतकिब्राह्मणो ० अ० २ श्रु० १४) इसके पश्चात् अब मोक्ष साधन के गुण से विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राण की उपासना बतायी जाती है। एक समय वाक् आदि सम्पूर्ण देवता अहङ्कारवश अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए विवाद करने लगे। वे सब प्राण के साथ ही इस शरीर से निकल गये। उनके निकल जाने पर वह शरीर काठ की भाँति निश्चेष्ठ हो कर सो गया। तदनन्तर उस शरीर में वाक् इन्द्रिय ने प्रवेश किया। तब वह वाणी से बोलने तो लगा परन्तु उठ न सका सोया ही रह गया। तत्पश्चात् चक्षु इन्द्रिय ने उस शरीर में प्रवेश किया। तथापि वह बाणी से बोलता और नेत्र से देखता हुआ भी सोता ही रहा उठ कर बैठ न सका। तद्नन्तर उस शरीर में मन ने प्रवेश किया। तब भी वह शरीर वाणी से बोलता, नेत्र से देखता कान से सुनता और मन से चिन्तन करता हुआ भी पड़ा ही रहा। तत्पश्चात् प्राण ने उस शरीर में प्रवेश किया फिर तो उसके प्रवेश करते ही वह शरीर उठ बैठा। तब उन वाक् आदि देवताओ ने प्राण में ही मोक्ष साधन की शक्ति जानकर तथा प्रज्ञा स्वरुप प्राण को ही भली-भाँति स्तुति करके इन प्राण अपान आदि समस्त प्राणों के साथ ही इस

शरीर रूप लोक से उत्क्रमण किया ॥ १४ ॥ इन पूर्वोक्त श्रुतियों में स्पष्ट प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ॥ १२ ॥

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति । अथ हैनं चक्षूरुवाच यदहं प्रतिष्ठोऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर अब प्रत्येक इन्द्रिय प्राण की स्तुति को प्रारम्भ करती है (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस मुख्य प्राण से (वाक्) वाणी इन्द्रिय ने (इति) इस प्रकार के (उवाच) कहा कि (अहम्) मैं (यत्) जो (वसिष्ठः) अतिशय धनाढ्य वसिष्ठ नामके (अस्मि) हूँ (तत्) वह (त्वम्) तुम्हीं (वसिष्ठः) अतिशय धनाढ्य वसिष्ठ (असि) हो क्योंकि मेरे गुण आपके अधीन हैं (अथ) वाक् इन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस मुख्य प्राण से (चक्षुः) नेत्रेन्द्रिय ने (इति) इस प्रकार के (उवाच) कहा कि (अहम्) मैं (यत्) जो (प्रतिष्ठा) अन्य इन्द्रियों को अपने व्यापार से गमनागमन की सहायता से प्रतिष्ठा देने वाला (अस्मि) हूँ (तत्) वह (त्वम्) तुम्हीं (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा (असि) हो क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—मुख्य प्राण के सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होने पर तो सभी इन्द्रियों ने प्राण की स्तुति प्रारम्भ कर दी। उनमें से वाक् इन्द्रिय ने उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से इस प्रकार से कहा कि—हे प्राण! मैं जो वसुमत्तासंपादकत्वलक्षण गुण से युक्त वसिष्ठ यानी अतिशय धनाढ्य हूँ, वह आप ही अतिशय धनाढ्य वसिष्ठ हैं। क्योंकि मेरे गुण आपके अधीन है। इस प्रकार वाक् इन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर नेत्रेन्द्रिय ने उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से कहा कि—हे प्राण! मैं जो अन्य इन्द्रियों को अपने व्यापार से प्रतिष्ठा देने वाला हूँ वह आपही यथार्थ प्रतिष्ठा हैं। क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं। और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है—**सा ह वागुवाच। यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुः ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० १४) उस प्रसिद्ध वागिन्द्रिय ने कहा कि निश्चय करके "मैं जो वसिष्ठा हूँ" वह आपही उस वसिष्ठ गुण से युक्त हैं। और ऐसा ही नेत्रेन्द्रिय ने भी कहा कि—हे प्राण! निश्चय "मैं जो

प्रतिष्ठा हूँ" वह आप ही सब की प्रतिष्ठा हैं ।। १४ ।। यतिपुरन्दर भगवद्रामानुजाचार्य ने **सर्वाभेदादन्यत्रेमे** ।। (शा० मी० ३/३/१०) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के प्रथम खण्ड की तेरहवीं श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है ।। १३ ।।

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति । अथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ।।१४।।

अन्वयार्थ—(अथ) नेत्रेन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस मुख्य प्राण से (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय ने (इति) इस प्रकार के (उवाच) कहा कि (अहम्) मैं (यत्) जो (सम्पत्) संपत्ति (अस्मि) हूँ (तत्) वह (त्वम्) तुम्हीं (संपत्) संपत् (असि) हो क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं (अथ) श्रोत्रेन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस मुख्य प्राण से (मनः) मन ने (इति) इस प्रकार के (उवाच) कहा कि (अहम्) मैं (यत्) जो (आयतनम्) आयतन यानी आश्रय (अस्मि) हूँ (तत्) वह यथार्थ में (त्वम्) तुम्हीं (आयतनम्) आश्रय (असि) हो क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं ।। १४ ।।

विशेषार्थ—नेत्रेन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से श्रोत्र ने कहा कि— हे भगवन् प्राण 'मैं जो संपत् हूँ' वह आप ही यथार्थ में संपत् हैं । क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं । इस प्रकार कर्णेन्द्रिय की स्तुति करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण से संकल्प विकल्पात्मक मन ने कहा कि—हे प्रभो 'मैं जो सब इन्द्रियों का आश्रय हूँ वह आप ही यथार्थ में आश्रय हैं । क्योंकि मेरे सब गुण आपके अधीन हैं । इस श्रुति में श्रोत्र संपत् इसलिए कहलाता है कि वेद श्रवण से ही सर्वार्थ सिद्धि होती है इस हेतु श्रोत्र सम्पत् अर्थात् धन कहलाता है । और इसी प्रकार मन आयतन आश्रय इसलिए है कि इसके बिना कोई इन्द्रिय अपने व्यापार को नहीं कर सकती है । और अन्यत्र भी लिखा है— **यद्वा अहं सम्पदस्मि त्वं तत्सम्पदसीति श्रोत्रम् । यद्वा**

अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनः ॥ (बृ०उ०अ० ६ ब्रा० १ श्रु० १४) निश्चय करके "मैं जो सम्पत् हूँ" वह आप ही सम्पत हैं ऐसा श्रोत्र ने कहा। "मैं जो आयतन हूँ" वह आप ही आयतन हैं ऐसा मन ने कहा ॥१४॥ इस प्रकार से वागादि सब लोगों ने मुख्य प्राण की स्तुति की ॥ १४ ॥

न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते। प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणोह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥१५॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके वाक् इन्द्रिय को (वाचः) वाक् इन्द्रिय (इति) ऐसा (न) नहीं (आचक्षते) लौकिक वैदिक जन कहते हैं। नेत्रेन्द्रिय को (चक्षूंषि) नेत्रेन्द्रिय (न) नहीं कहते हैं श्रोत्रेन्द्रिय को (श्रोत्राणि) श्रोत्रेन्द्रिय (न) नहीं कहते हैं मन को (मनांसि) मन (न) नहीं कहते हैं किन्तु (प्राणः) (एव) ही (इति) ऐसा (आचक्षते) कहते हैं (हि) क्योंकि (एव) निश्चय करके (एतानि) ये (सर्वाणि) सब इन्द्रियाँ (प्राणः) प्राण (भवति) हैं ॥१५॥

विशेषार्थ—वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन आदिक इन्द्रियों को लौकिक और वैदिक परीक्षक जन प्राण नाम से ही पुकारते हैं वागादि नाम से नहीं क्योंकि ये सब इन्द्रिय प्राण के अधीन हैं, इस हेतु से इन सब का एक नाम प्राण होता है। क्योंकि लिखा है कि—**यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते ॥** जिसके अधीन जिसकी सत्ता होती है वह उसके नाम से ही कहा जाता है ॥ इस न्यायानुसार इन वागादि इन्द्रियों को न वाणी, न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं किन्तु इन सबों को प्राण ही कहते हैं क्योंकि ये सब प्राण ही हैं। और प्राण के विषय में लिखा है—**एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो माघवानेष वायुः। एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥** (प्रश्नो० प्रश्न० २ श्रुति ५) **अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥ प्रजापतिश्चरसि**

गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥ देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥ इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता । त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥ यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः । आनन्दरुपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः । वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ।११। या च ते तनू र्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां विधेहि नः ॥१३॥ यह मुख्य प्राण अग्नि रूप से जलता है । यह श्रेष्ठ प्राण सूर्य रूप से प्रकाश करता है । यह मुख्य प्राण मेघरूप से बरसता है । यह श्रेष्ठ प्राण इन्द्र रूप से प्रजा का पालन और असुरों का नाश करता है । यह मुख्य प्राण वायुरूप से चलता है । यह मुख्य प्राण पृथ्वी रूप से समस्त जगत् को धारण करता है । यह मुख्य प्राण देव चन्द्रमा रूप से सबका पोषण करता है । और जो कुछ वर्तमान या प्रत्यक्ष या चेतन या स्थूल है । और अवर्तमान या परोक्ष या अचेतन या सूक्ष्म है तथा मरण रहित मोक्ष है वह सब यह मुख्य प्राण ही है ॥५॥ जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में तिरछे काठ स्थित रहते हैं उसी प्रकार समस्त ऋग्वेद के मन्त्र तथा यजुर्वेद के मन्त्र और सामवेद के मन्त्र तथा अथर्ववेद के मन्त्र और वेदविहित यज्ञ तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अधिकारी वर्ग ये सब मुख्य प्राण में प्रतिष्ठित हैं । ॥६॥ हे प्राण? तू निश्चय करके प्राणियों का रक्षक है और तू ही गर्भ में प्राणादि वायु रूप से विचरता है और तू ही माता पिता के अनुरूप होकर पुत्र रूप से उत्पन्न होता है । हे प्राण! निश्चय करके ये सब तुम्हारी शेषभूत प्रजा इन्द्रियों के द्वारा तेरे लिये अन्नादिक भोग्य विषयरूप भेंट को समर्पण करती हैं जो तू प्राणादि व्यापारों से सर्वत्र प्रतिष्ठित हो रहा है ॥७॥ हे प्राण ! देवताओं के हवि पहुँचाने वाली उत्तम अग्नि तू है तथा पितरों की पहली प्रीति हेतु भूत स्वधा तू है और अथर्वाङ्गिरस् मंत्रद्रष्टा ऋषियों के सत्य या उत्कृष्ट आचरण किया हुआ नित्य नैमित्तिकादिलक्षण

कर्म तू है ।।८।। हे मुख्य प्राण ! तू परमैश्वर्ययुक्त परमेश्वर हैं तथा सर्व संहार लक्षण तेज से रोदन हेतु रुद्र तू है । और स्थिति काल में तू ही सबकी भलिभाँति रक्षा करने वाला है । तू अन्तरिक्ष में विचरता है और तू ही समस्त प्रकाशकों का स्वामी सूर्य ण ।।९।। हे मुख्य प्राण ! जब तू मेघ रूप होकर भलीभाँति बरसता है तब इसके बाद तेरी यह समस्त प्रजा इच्छा के अनुसार पर्याप्त खाद्य-अन्न होगा ऐसा समझ कर आनन्द को प्राप्त हुई स्थित हो जाती हैं ।।१०।। हे मुख्य प्राण ! तू संस्कारहीन ब्राह्मण होता हुआ भी मुख्य सर्वश्रेष्ठ मन्त्रद्रष्टा ऋषि है औरात् तू समस्त जगत् का खानेवाला संहर्ता है । तथा तू साधुओं का रक्षक है । हमलोग समस्त भक्ष्य पदार्थ को तेरे लिये देनेवाले किंकर हैं । हे आकाश में विचरने वाले वायुदेव तू हमलोगों का पोषक पिता है ।।११।। जो तेरी मूर्ति वाणी में स्थित है, जो कान में स्थित है तथा जो नेत्र में स्थित है और जो मन में स्थित है । उस निरन्तर प्रतिष्ठित मूर्ति को कल्याणमय शोभन करो, मत तुम शरीर से बाहर निकलो ।।१२।। यह प्रत्यक्ष दीखने वाला जगत् और जो कुछ स्वर्गादिलोक में स्थित है वह सब मुख्य प्राण के अधीन है । हे प्राण ! माता अपने पुत्रों को जैसे रक्षा करती है वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो और हमारे लिए स्वस्व कार्य-निष्पादन सामर्थ्य लक्षण लक्ष्मी को और तदनुकूल बुद्धि को प्रदान करो ।।१३।। वागादि इन्द्रियों ने इस प्रकार से प्राण की स्तुति की। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रपाठक का पहला खण्ड समाप्त हो गया ।।१५।।

।। अथ द्वितीयखण्डः ।।

सहोवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति । यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुः । तद्वा एतदनस्यान्नम् । अनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् । न ह वा एवं विदिकिञ्चनानन्नं भवतीति ।।१।।

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह मुख्य प्राण वागादि इन्द्रियों से (इति) इस प्रकार के (उवाच) बोला कि (मे) मेरा (अन्नम्) खाद्य अन्न (किम्) क्या (भविष्यति) होगा, तब वाणी आदिक इन्द्रियों ने (आश्वभ्यः) कुत्ते से लेकर

(आशकुनिभ्यः) पक्षिपर्यन्त सब प्राणियों का (यत्) जो (किञ्चित्) कुछ भी (इदम) यह खाद्य अन्न है वही सब आपका अन्न होगा (इति) ऐसा (ह) स्पष्ट (ऊचुः) कहा (वै) निश्चय करके लोक में सब प्राणियों की जो खाद्य वस्तु है (तत्) वही (एतत्) यह संपूर्ण वस्तु (अनस्य) प्राण का (अन्नम्) खाद्य अन्न है और अदनादि विविध चेष्टायुक्त प्राण के (अनः) अन (वै) ही (ह) प्रसिद्ध (प्रत्यक्षम्) विस्फुट प्रत्यक्ष (नाम) नाम है (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (एवम् +विदि) इस प्रकार प्राणविद्या को जाननेवाले पुरुष के निमित्त (किञ्चन) कुछ भी (अनन्नम्) अनन्न यानी अभक्ष्य (न) नहीं (भवति) होता है। अर्थात् प्राण-विद्यानिष्ठ पुरुष के अभक्ष्य भक्षण का दोष नहीं होता है (इति) यह श्रौत्र सिद्धान्त है ॥१॥

विशेषार्थ – पहले खण्ड में यह बतलाया गया है कि मुख्य प्राण सर्वश्रेष्ठ है तथा सब इन्द्रियाँ प्राण की स्तुति करती हैं। अब इसी प्राण के अधीन सब इन्द्रियों का भी जीवन है। प्राण की पुष्टि से सब इन्द्रियों की पुष्टि तथा प्राण की दुर्बलता से सब इन्द्रियो की दुर्बलता होती है। भोजन के ऊपर ही यह निभर है। अतः मुख्य प्राण भोजनार्थ प्रथम वागादि इन्द्रियों से पूछता है कि "मेरा भोजन क्या होगा" तब वागादि सब इन्द्रियों ने मिलकर उत्तर दिया कि—कुत्ते से लेकर पक्षिपर्यन्त सब प्राणियों का जो खाद्य अन्न है वही सब अन्न आपका भोजन होगा। कुत्ता समान नीच जन्तु कोई नहीं है क्योंकि यह अपने वमन किये हुए पदार्थ को भी खा जाता है। इसी कारण से इसे "वान्ताशी" कहते हैं। यहाँ खाद्यपदार्थ के विचार से कुत्ता नीच माना गया। हंस आदिक बहुत से पक्षी शुद्ध दूध और केवल फल के आहार से ही निर्वाह करते हैं। इससे श्रुति में कुत्ता और पक्षी का नाम लिया गया है कि कुत्ते के समान वान्ताशी जीव से लेकर पक्षी सदृश शुद्धाशी जीव पर्यन्त का जो खाद्य पदार्थ है वही आपका भी भोजन होगा। साक्षात् श्रुति भी कहती है कि लोक में प्राणियों से जो कुछ भी भक्षण किया जाता है वही प्राण का खाद्य अन्न है। अदनादिक विविध चेष्टायुक्त होने से प्राण का 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है। परन्तु—**परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० ३ श्रु० १४) निश्चय करके देवता लोग परोक्ष से प्रेम करनेवाले के समान होते हैं ॥१४॥ इस श्रुति के अनुसार देवताओं के परोक्ष प्रिय होने से 'अन' इस प्रत्यक्ष नाम को परित्याग करके 'प्राण' इस परोक्ष नाम से व्यवहार

होता है। अब प्राणविद्यानिष्ठ पुरुष का फल कहा जाता है कि—जो इस प्रकार की प्राण विद्या को जानने वाला पुरुष है उसके लिये कुछ भी अभक्ष्य नहीं है। अर्थात् प्राणविद्यानिष्ठपुरुष के अभक्ष्यभक्षण का दोष नहीं होता। यहाँ प्राण-विद्यानिष्ठ की प्रशंसा मात्र की गई है। अन्यथा शास्त्र मर्यादा बिल्कुल भ्रष्ट हो जायगी। और अन्यत्र भी लिखा है—**तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येत-मेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० १ श्रु० १४) प्राण ने कहा—ऐसे गुणों से युक्त मेरा अन्न क्या है और वस्त्र क्या है ? इसको सुनकर वागादि ने कहा कि—कुत्ते, कृमि और कीट पतङ्गो से लेकर यह जो कुछ भी है वह सब कुछ तुम्हारा अन्न है और जल ही वस्त्र है। जो इस प्रकार प्राण के इस अन्न को जानता है उसके द्वारा अभक्ष्य भक्षण नहीं होता है और अभक्ष्य का संग्रह भी नहीं होता है। ऐसा जानने वाले वेदपाठी भोजन करने से पहले आचमन करते हैं तथा भोजन के अन्त में भी आचमन करते हैं। इसी को वे उस प्राण को अनग्न वस्त्रयुक्त करना मानते हैं ॥१४॥ प्रातः स्मरणीय भगवद्रामा-नुजाचार्य ने—**सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २८) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चमं प्रपाठक के द्वितीय खण्ड की पहली श्रुति के 'न ह वा एवं विदि किञ्चनानन्नं भवति' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः। तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिद्-धति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥२॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) वह मुख्य प्राण वागादि इन्द्रियों से (इति) इस प्रकार के (उवाच) बोला कि (मे) मेरा (वासः) वस्त्र (किम्) क्या (भविष्यति) होगा तब वागादि इन्द्रियों ने (आपः) जल ही आपका

वस्त्र होगा (इति) ऐसा (ह) स्पष्ट (ऊचुः) कहा (तस्मात्) इसी कारण से (वै) निश्चय करके (एतद्) इस समय में भी (अशिष्यन्तः) भोजन करनेवाले विद्वान् पुरुष (पुरस्तात्) भोजन के पूर्व (च) और (उपरिष्टात्) भोजन के पश्चात् (च) भी (अद्भिः) आचमन के जल से (परिदधति) आच्छादन करते हैं। इस प्रकार के जल में वस्त्रत्व चिन्तन से और प्राण के अनग्नत्व चिन्तन से स्वयं (ह) प्रसिद्ध (वासः) वस्त्र (लम्भुकः) लब्धा यानी प्राप्त करने वाला (भवति) होता है और (ह) प्रसिद्ध वह (अनग्नः) अनग्न भी (भवति) होता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—उस सुप्रसिद्ध मुख्य प्राण ने वागादि इन्द्रियों से कहा कि—'मेरा वस्त्र क्या होगा'? इस बात को सुनकर वागादि इन्द्रियों ने कहा कि – जल ही आपका वस्त्र होगा। इसी कारण से आजकल भी भोजन करने वाले विद्वान् पुरुष भोजन के पूर्व और भोजन के पश्चात् आचमन के जल से इसका आच्छादन करते हैं। इस प्रकार से जल में वस्त्रत्व चिन्तन करने से और प्राण का अनग्नत्व चिन्तन करने से स्वयं 'तत्क्रतु न्याय' से वस्त्र प्राप्त करने वाला और अनग्न भी होता है। "अद्भिः" इत्यादि पदों से इस श्रुति में परिधान ही कहा गया है, आचमन नहीं। श्रीपूज्यपाद भगवद्रामानुजाचार्य ने—**कार्याख्यानादपूर्वम्** (शा० मी० ३।३।१८) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चमप्रपाठक के द्वितीय खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ २ ॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच। यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥३॥

अन्वयार्थ—(ह) सुप्रसिद्ध (जाबालः) जबाला के पुत्र (सत्यकामः) सत्यकाम नाम के ऋषि ने (वैयाघ्रपद्याय) व्याघ्रपद नाम के ऋषि के पुत्र (गोश्रुतये) गोश्रुति नाम के अपने शिष्य के लिये (तत्) उस (एतत्) इस प्राणदर्शन को (उक्त्वा) उपदेश दे करके (इति) इस वक्ष्यमाण वचन को (उवाच) कहा कि हे गोश्रुते (यद्यपि) यदि (एनत्) यह प्राणदर्शन (शुष्काय) सूखे हुये (स्थाणवे) ठूंठ वृक्ष के लिये (ब्रूयात्) उपदेश दिया जाय तो (अस्मिन्) इस सुखे हुए निर्जीव वृक्ष में (एव) अवश्य ही (शाखाः) शाखाएँ (जायेरन्) उत्पन्न हो जायगी

और (पलाशानि) पत्ते (प्ररोहेयुः) उन शाखाओं में उत्पन्न होकर बढ़ने लगेंगे ।।३।।

विशेषार्थ—उपनिषत्तत्त्ववित् परम प्रसिद्ध जबाला के पुत्र सत्यकाम नाम के महर्षि ने व्याघ्रपद नाम के ऋषि के पुत्र गोश्रुति नाम के अपने शिष्य को सुप्रसिद्ध उस प्राण विज्ञान का उपदेश देकर कहा कि—'यदि इसे सूखे ठूंठ वृक्ष के प्रति कहे तो उसमें शाखा उत्पन्न हो जायेगी और पत्ते फूट आयेंगे' और अन्यत्र भी लिखा है कि—**तं हैतमुद्दालक आरुणि र्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वो वाचापि । य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।** (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० ७) **एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि । य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।८।। एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि । य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।। ९ ।। एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि । य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।। १० ।। एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि । य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।११।। एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि । य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशनीति । तमेतन्नापुत्राय नानन्तेवासिने वा ब्रूयात् ।।१२।।**
उस इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूंठ वृक्ष पर डाल देगा तो उसमें शाखायें उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आवेंगे ।। ७ ।। उस इस मन्थ का वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को उपदेश करके

कहा था कि यदि कोई इसे सूखे ठूँठ वृक्ष पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आवेंगे ॥ ८ ॥ उस इस मन्थ का मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थ को ठूँठ वृक्ष पर डाल दे तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आवेंगे ॥ ९ ॥ उस इस मन्थ का चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ वृक्ष पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आवेंगे ॥१०॥ उस इस मन्थको जाना कि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मंथको सूखे ठूँठवृक्ष पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आवेंगे ॥११॥ उस इस मन्थ का सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ वृक्ष पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आवेंगे। उस इस मन्थ का जो पुत्र या शिष्य न हो उसे उपदेश न करे ॥१२॥ इस प्रकार के प्रतिपादन किया गया है ॥३॥

अथ यदि महज्जिगमिषेत्। अमावस्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यदि) यदि (महत्) ज्येष्ठ श्रेष्ठादि लक्षण महत्त्व को (जिगमिषेत्) प्राप्त करने की इच्छा करे तो (अमावस्यायाम्) अमावस्या तिथि में (दीक्षित्वा) दीक्षित होकर (पौर्णमास्याम्) उसी मास की पूर्णिमा तिथि की (रात्रौ) रात्रि में (सर्वौषधस्य) सब शास्त्र विहित ग्राम्य और आरण्य औषधियों के (मन्थम्) पिष्ट सारभाग को गूलर के काठ के चमसाकार पात्र में (दधिमधुनोः) दधि और मधु के साथ (उपमथ्य) पास में मन्थन कर मिला करके आगे रखकर (ज्येष्ठाय) वयोवस्था से ज्येष्ठ के लिए (श्रेष्ठाय) गुणों से श्रेष्ठ के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करता हुआ (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में (आज्यस्य) घृत का (हुत्वा) स्रुवा से हवन करके (मन्थे)

मन्थन के पात्र में (संपातम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयेत्) डाल देवे ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—क्रिया कलाप के बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती है। अतः मन्थ नाम का कर्म अब प्रारम्भ किया जाता है। यदि कोई पुरुष ज्येष्ठ श्रेष्ठादि लक्षण महत्व को प्राप्त होना चाहे तो अमावश्यातिथि को दीक्षित होकर पन्द्रह दिन यम नियमादिक पालन करता हुआ पूर्णिमा की रात में शास्त्रविहित सब औषधियों के पिष्ट सारभाग को गूलर के काठके चमसाकार पात्र में दही और मधु के साथ समीप में मन्थन कर मिलाकर के आगे रख कर "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में स्रुवा से घृत को हवन करके हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को मन्थन के पात्र में डालना चाहिये। ओषधि के विषय में लिखा है **ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) जो बहुत फूल फल से युक्त हों और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे हीं धान, यव आदिक ओषधि हैं ॥ ४६ ॥ और लिखा है— **होमपात्रमनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः ॥** (गोभिलस्मृ० प्रपा० १ श्लो० १०८) **खादिरो वाथ पार्णो वा द्विवितस्तिः स्रुवः स्मृतः। स्रुग्बाहुमात्रा विज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः ॥१०९॥ स्रुवाग्रे घ्राणवत्खातं द्व्यङ्गुष्ठं परिमण्डलम् ॥ ११० ॥** होमपात्र का शास्त्र में आदेश नहीं होने पर द्रवद्रव्य घृत आदि के विषय में स्रुवा से हवन कहा गया है ॥ १०८ ॥ खैर या पर्ण के दो वित्ता का स्रुवा स्मृति में कहा गया है। एक हाथ का स्रुवा और स्रुवा का वृत्त हाथ के अग्र भाग के समान जानना चाहिये ॥ १०९ ॥ स्रुवा के अग्रभाग में दो अंगूठे के समान परिमण्डल और नासिका के समान खात होना चाहिये ॥ ११० ॥ **योनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः। मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्च स जायते ॥**(गो०स्मृ० प्र०१ श्लो०१३३) **तस्मात्समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कदाचन। आरोग्यमिच्छतायुश्च श्रियमात्यन्तिकीं पराम् ॥ १३४ ॥** जो मनुष्य बिना ज्वाला और बिना अङ्गार की आग में हवन करता है वह मन्दाग्नि तथा आमयावी और दरिद्र होता है ॥ १३३ ॥ इस कारण से आरोग्य तथा आयु और आत्यन्तिकीपरा श्री को

चाहने वाला पुरुष प्रज्वलित अग्नि में हवन करे। कभी अप्रज्वलित अग्नि में हवन न करे ॥ १३४ ॥ **आज्यस्थाली च कर्तव्या तैजसद्रव्यसंभवा ॥** (गोभि० स्मृ० प्रपा० २ श्लो० ६९) **महीमयी वा कर्तव्या सर्वास्वाज्याहुतीषु च। आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तु यथाकामं तु कारयेत् ॥७०॥ सुदृढामव्रणां भद्रामाज्यस्थालीं प्रचक्षते ॥ ७१ ॥** घृत रखने की आज्यस्थाली तैजस द्रव्य की बनी हुई होनी चाहिये ॥ ६९ ॥ अथवा समस्त आज्याहुति में आज्यस्थाली मिट्टी की ही बनी हुई होनी चाहिये। आज्यस्थाली का प्रमाण अपनी इच्छा के अनुसार घृत के समान ही होना चाहिये ॥ ७० ॥ अत्यन्त दृढ़ और छिद्र रहित सुन्दर आज्यस्थाली धर्मशास्त्र वेत्ताओं ने कहा है ॥ ७१ ॥ और कातीय में लिखा है—**आज्यस्थाली तैजसी वा मृन्मयी वा प्रकीर्तिता। द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णा प्रादेशोच्चा शुभा स्मृता ॥** (आह्निक) तैजसद्रव्य की या मिट्टी की आज्यस्थाली बनवानी चाहिये वह बारह अंगुल की चौड़ी और एक बित्ता ऊँची सुन्दर मुनियों के द्वारा कही गयी हैं ॥ चमस के विषय में लिखा है—**चमसानां तु वक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरङ्गुलाः। त्र्यङ्गुलस्तु भवेत्स्कंधो विस्तारश्चतुरङ्गुलः ॥ पलाशाद्वा वटाद्वान्यवृक्षाद्वा चमसाः स्मृताः ॥**(आह्निक) चमस का दण्ड चार अंगुल का होना चाहिये तथा तीन अंगुल के कन्धे का होना चाहिये। चौड़ा चार अंगुल और लम्बा बारह अंगुल का पलाश या वट या अन्य कोई यज्ञ सम्बन्धी वृक्ष का बना हुआ चमस ऋषियों ने कहा है ॥ परन्तु प्रकृत मंथ कर्म में स्रुवा चमसादिक गूलर की लकड़ी के होना चाहिये, क्योंकि साक्षात् श्रुति कहती है कि—**चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति। व्रीहियवास्तिलमाषा अणु प्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधिनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० १३) यह मन्थ कर्म चार गूलर के काठ के बने पदार्थों वाला है। इसमें गूलर की लकड़ी का स्रुवा १ और गूलर के काठ का

चमस २ तथा गूलर के काठ का इध्म ३ और गूलर की लकड़ी की दो उप-मन्थनी ४ होती हैं। मन्थ कर्म में दस ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं। ये निम्न-लिखित दस अन्न सर्वौषध हैं। धान १, जौ २, तिल ३, उड़द ४, सावाँ ५, टँगुनी ६, गेहूँ ७, मसूर ८, खल्व ९ और कुलथी १० इन सबों को पीसकर दही, मधु और घृत में मिलाकर घृत से अग्निमुख में हवन करता है॥ १३॥ और वहाँ ही स्पष्ट लिखा है— **स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कंसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति सम्भृत्य परिसमूह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यं संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण मन्थं सन्नीय जुहोति "यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चोघ्नन्ति पुरुषस्यकामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि। ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहं स्वाहा॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० १) **ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति॥२॥**

जो ऐसा चाहता हो कि मैं महत्त्व प्राप्त करूँ वह उत्तरायण में शुक्लपक्ष की पुण्य तिथि पर शुभवार के बारह दिन उपसद्व्रती होकर गूलर की लकड़ी के कंस यानी कटोरे या चमस में सर्वौषध फल तथा अन्य सामग्रियों को एकत्रित कर जहाँ हवन करना हो उस स्थान का परिसमूहन—कुशों से बुहारना एवं गोबर और जल से वेदी को परिलेपन करके अग्नि स्थापन करता है और फिर अग्नि की चारों ओर कुशा बिछाकर गृहोक्त विधि से घृत का शोधन करके जिसका नाम पुल्लिङ्ग हो उस हस्त आदि नक्षत्र में मन्थ को अपने और अग्नि के बीच में रखकर हवन करता है। हे जातवेद! तेरे वशवर्ती जितने देवता वक्रमति होकर पुरुष की कामनाओं को प्रतिबन्ध करते हैं उनके उद्देश्य से यह आज्यभाग मैं तुझ में हवन करता हूँ। वे तृप्त होकर मुझे समस्त कामनाओं से तृप्त करें, इस निमित्त यह आहुति मैं देता हूँ। और "मैं सब की मृत्यु को धारण करने वाला हूँ ऐसा समझ कर जो कुटिलमति देवता तेरा आश्रय करके रहता है, सब साधनों की पूर्ति करने वाले उस देवता के लिये मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ इस निमित्त यह

आहुति मैं देता हूँ ॥ १ ॥ 'ज्येष्ठाय स्वाहा' 'श्रेष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को यानी स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है ॥ २ ॥ इस प्रकार से श्रुति का अर्थ वर्णन किया गया है ॥ ४ ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥५॥

अन्वयार्थ—(वसिष्ठा) वसिष्ठ के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में (आज्यस्य) घृत को (हुत्वा) स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संपातम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयेत्) डाल देवे (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में (आज्यस्य) घृत को (हुत्वा) स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संपातम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयेत्) डाल देवे (संपदे) संपद के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में (आज्यस्य) घृत को (हुत्वा) स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संपातम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयेत्) डाल देवे (आयतनाय) आयतन के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ (इति) ऐसा उच्चारण करते हुए (अग्नौ) प्रज्वलित अग्नि में (आज्यस्य) घृत को (हुत्वा) स्रुवा से हवन करके (मन्थे) मन्थन के पात्र में (संपातम्) हुतशेष स्रुवा में लगे हुए घृत को (अवनयेत्) डाल देवे ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से 'वसिष्ठाय स्वाहा' इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगा हुआ घृत डाले। 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मंत्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में

हुतशेष स्रुवा में लगा हुआ घृत डाले। 'सम्पदे स्वाहा' इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काट की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगा हुआ घृत डाले। और "आयतनाय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर प्रज्वलित अग्नि में गूलर के काठ की स्रुवा से घृताहुति देकर मन्थन के पात्र में हुतशेष स्रुवा में लगा हुआ घृत डाले। जहाँ जहाँ 'स्वाहा' आवे वहाँ आहुति देनी चाहिये। और अन्यत्र लिखा है— **प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। श्रोत्राय स्वाहायतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति। मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा संस्रवमवनयति। रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० २) "प्राणाय स्वाहा" "वसिष्ठायै स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे हुये संस्रवघृत को मन्थ में डाल देता है। "वाचे स्वाहा" "प्रतिष्ठायै स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे हुए संस्रवघृत को मन्थ में डाल देता है। "चक्षुषे स्वाहा" 'सम्पदे स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे हुए संस्रवघृत को मन्थ में डाल देता है। "श्रोत्राय स्वाहा" "आयतनाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे हुए संस्रवघृत को मन्थ में डाल देता है। "मनसे स्वाहा" "प्रजात्यै स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे हुए संस्रवघृत को मन्थ में डाल देता है। "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके स्रुवा मे बचे हुए संस्रवघृत को मन्थ में डाल देता है॥ २॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है॥ ५॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपति। अमो नामासि। अमा हि। ते सर्वमिदम्। स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदं सर्वमसानीति॥६॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब होम की समाप्ति के अनन्तर (प्रतिसृप्य) अग्नि से कुछ दूर हटकर अथवा प्रदक्षिणा करके (अञ्जलौ) अपनी अञ्जलि में (मन्थम्) मर्था हुई औषधि के सार भाग मन्थ को (आधाय) रखकर (जपति) वक्ष्यमाण मंत्र का जप करे। वह मंत्र यह है कि हे मन्थ तुम (अमः) अम (नामा) नाम वाले (असि) हो (हि) क्योंकि (अमा) तुम प्राण हो (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृभोग्यरूप जगत् (ते) मन्थलक्षण अन्न के अधीन होने से आपके अधीन है (हि) निश्चय करके (सः) वह मन्थभूत प्राण आप (ज्येष्ठः) ज्येष्ठ और (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ तथा (राजा) दीप्तिमान् राजा और (अधिपतिः) सबका शेषी स्वामी हैं (सः) वह आप (मा) मुझ भक्त को (ज्यैष्ठ्यम्) ज्येष्ठता) (श्रैष्ठ्यम्) श्रेष्ठता (राज्यम्) राज्य और (आधिपत्यम्) स्वामित्व को (गमयतु) प्राप्त करा दें (एव) निश्चय करके आप की कृपा से (इदम्) यह पूर्वोक्त (सर्वम्) सब (अहम्) मैं ही (असानि) हो जाऊँ (इति) यह आपसे मेरी प्रार्थना है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—अब होम की समाप्ति के अनन्तर अग्नि से कुछ दूर हटकर अथवा प्रदक्षिणा करके अपनी अञ्जलि में सर्वौषध के सार भाग मन्थ को लेकर वह वक्ष्यमाण "अमो नामासि" इत्यादि मंत्र का जप करे। "अमो नामासि" आदि मंत्र का अर्थ यह है कि - हे मन्थ ! तू अम नामवाला है। क्योंकि तू प्राण है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृ-भोग्य रूप सब जगत् मन्थलक्षण अन्न के अधीन होने से तेरे अधीन हैं। वह तू मन्थभूत प्राण ज्येष्ठ श्रेष्ठ दीप्तिमान् राजा और सबका शेषी स्वामी है। वह तू मुझे ज्येष्ठत्व श्रेष्ठत्व राज्य और सर्व शेषित्व को प्राप्त करा दो। तेरी कृपा से मैं ही यह सर्वरूप हो जाऊँ यह दास की प्रार्थना है। और बृहदारण्यक में लिखा है— **अथैनमुद्यच्छत्यामंस्यामं हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स मां राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० ५) तदनन्तर इस मन्थ को ऊपर उठाता है "आमंसि आमं हि" इत्यादि मंत्र को पढ़ता हुआ। इस मन्त्र का यह अर्थ है कि—तू सब जानता है और मैं भी तेरी महिमा को अच्छी तरह जानता हूँ। वह प्राण राजा ईशान और अधिपति है इससे वह मुझे राजा ईशान और अधिपति करे ॥ ५ ॥ प्रकृत श्रुति में "अमो नामासि" इत्यादि मन्त्र को जप करने के लिये

कहा गया है। इससे यहाँ जप के विषय में मैं संक्षेप से लिखता हूँ कि—
वेदोक्तेनैव मार्गेण मंत्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥ (जाबालदर्शनोप० खं०२ श्रु० ११) **कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके। इतिहासे च स जपः प्रोच्यते मया ॥ १२ ॥ जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥ १३ ॥ वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः। मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः ॥ १४ ॥ उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते ॥ १५ ॥ उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत्। नीचैः श्रोत्रेण चेन्मंत्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥ १६ ॥**
वेदोक्त रीति से मन्त्रों की बार-बार आवृत्ति को जप कहते हैं ॥ ११ ॥ इसके अतिरिक्त वेदों की ही भाँति कल्पसूत्र धर्मशास्त्र पुराण और इतिहास में जो मन की वृत्तियों को निरन्तर लगाये रहना है उसी को मैं जप कहता हूँ ॥ १२ ॥ जप दो प्रकार का होता है—वाचिक और मानसिक ॥ १३ । वाचिक जप उच्चैः और उपांशु दो प्रकार का माना गया है। इसी प्रकार मानसिक जप भी मनन और ध्यान के भेद से दो प्रकार का है ॥ १४ ॥ उच्चस्वर से किये जानेवाले जप की अपेक्षा अत्यन्त मन्द स्वर से किया गया उपांशु जप हजार गुना उत्तम बताया गया हैं। इसी प्रकार उपांशु जप की अपेक्षा मानसिक जप हजार गुना श्रेष्ठ कहा गया है ॥ १५ ॥ उच्च स्वर से किया गय जप सबलोगों को यथावत् फल देने वाला होता है परन्तु यदि उस मंत्र को नीच पुरुषों ने अपने कानों से सुन लिया तो वह निष्फल हो जाता है ॥ १६ ॥ **यदुच्चनीचस्वरितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः। मंत्रमुच्चारयेद्वाचा वाचिकोऽयं जपः स्मृतः ॥** (आह्निक) जो उच्च नीच और स्वरित शब्दों से स्पष्ट पदों के अक्षरों के द्वारा वाणी से मंत्रोच्चारण किया जाता हैं, वह वाचिक जप कहा गया है ॥ **शनैरुच्चारयेन्मंत्रमीषदोष्ठौ च चालयेत्। अपरैर्न श्रुतः किञ्चित्स उपांशुर्जपः स्मृतः ॥** (आह्निकसू०) थोड़ा सा ओठों को चलावे और धीरे से मंत्र को उच्चारण करे जिससे कि दूसरा कोई कुछ भी न सुने तो वह उपांशु जप कहा गया है ॥ **धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम्। शब्दार्थचिन्तनं भूप**

कथ्यते मानसो जपः ।। (आह्निक०) हे राजन् बुद्धि से जो अक्षर श्रेणी के द्वारा वर्ण से वर्ण और पद से पद शब्दार्थ चिन्तन पूर्वक कहा जाता है वह मानस जप कहा गया है ।। इस प्रकार से जप के विषय में प्रतिपादन किया गया है ।।६।।

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति । "तत्सवितुर्वृणीमह" इत्याचामति "वयं देवस्य भोजन" मित्याचामति "श्रेष्ठं सर्वधातम" मित्याचामति "तुरं भगस्य धीमही" ति सर्वं पिबति । निर्णिज्य कंसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा । वाचंयमोऽप्रसाहः । स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात् ।।७।।

अन्वयार्थ—(अथ) जप करने के अनन्तर (खलु) निश्चय करके (एतया) इस वक्ष्यमाण (ऋचा) ऋग्वेद के मंत्र से (पच्छः) एक एक पाद से अर्थात् मंत्र के एक एक चरण को पढ़ करके (आचामति) सब औषध के सार उस मन्थ को भक्षण करता है (सवितुः) सबके उत्पादक प्राण के (तत्) उस श्रेष्ठ भोजन को (वृणीमहे) हम सब उपासक प्रार्थना करते हैं (इति) इस पहले पाद से (आचामति) मन्थ को पहले भक्षण करता है (वयम्) हम सब उपासक (देवस्य) देह में क्रीड़ा करने वाले प्राणदेव के (भोजनम्) उत्तम भोजन को (इति) इस दूसरे पाद से (आचामति) दूसरे बार मन्थ को भक्षण करता है (श्रेष्ठम्) सबसे श्रेष्ठ (सर्वधातमम्) सर्वधारक भोजन को (इति) इस तीसरे पाद से (आचामति) तीसरे बार मन्थ को भक्षण करता है (तुरम्) शीघ्र ही (भगस्य) सेवनीय सविता देव के (धीमहि) स्वरूप को हम सब उपासक ध्यान करते हैं (इति) इस चौथे पाद से (सर्वम्) चौथे बार सब मन्थ को (पिबति) पी जाता है । इसके बाद (कंसम्) कंसाकार (वा) अथवा (चमसम्) चमसाकार गूलर के पात्र को (निर्णिज्य) धोकर (अग्नेः) अग्नि के (पश्चात्) पीछे पश्चिम भाग में (चर्मणि) अखण्ड शुद्ध मृगचर्मपर (वा) अथवा (स्थण्डिले) पवित्र यज्ञ भूमिपर (वा) ही (वाचंयमः) वाणी को संयम करता हुआ मौन व्रतधारी (अप्रसाहः) अनिष्ट स्वप्नदर्शन से अभिभूत न होता हुआ

संविशति) सब प्रकार से ब्रह्म में प्रवेश करके पूर्व की ओर सिर करके शयन करे तब (यदि) यदि (सः) वह उपासक (स्त्रियम्) स्वप्न में स्त्री को (पश्येत्) देखे तो (कर्म) पूर्वोक्त कर्म को (समृद्धम्) सफलीभूत हुआ (इति) ऐसा (विद्यात्) जाने ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—"अमो नामासि" इत्यादि मन्त्र के जप करने के अनन्तर निश्चय करके वह उपासक इस आगे कहे जाने वाले ऋग्वेद मण्डल ५ सूक्त ८२ मं० १ के एक एक चरण को पढ़कर सब औषध के सार उस मन्थ को भक्षण करता है। "तत्सवितुर्वृणीमहे" ऐसा कहकर प्रथम बार आचमन करता है। "वयं देवस्य भोजनम्" ऐसा कहकर द्वितीय बार मन्थ का आचमन करता है। "श्रेष्ठं सर्वधातमम्" ऐसा कहकर तृतीय बार मन्थ का आचमन करता है। "तुरं भगस्य धीमहि" ऐसा कहकर चतुर्थ बार सारा मन्थ को पी जाता है। ऋग्वेद का मन्त्र स्पष्ट निम्नलिखित प्रकार का है— **तत्सवितुर्वृणीमहे। वयं देवस्य भोजनम् ॥ श्रेष्ठं सर्वधातमम्। तुरं भगस्य धीमहि ॥** (ऋग्वे० मण्ड० ५ सू० ८२ मं० १) हम सब उपासक सबके उत्पादक सबके देह में क्रीड़ा करने वाले प्रकाशमान प्राणदेव के उस सर्वधारक श्रेष्ठतम भोजन को प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सेवनीय सविता देवता के स्वरूप का ध्यान हम सब करते हैं ॥ १ ॥ और अन्यत्र आचमन भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है—

अथैनमाचामति। तत्सवितुर्वरेण्यं मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीर्भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयान्मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ३ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य।

बृ० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० ६) इसके पश्चात् इस मन्थ को भक्षण करता है। सूर्य के उस वरेण्य श्रेष्ठ पद का मैं ध्यान करता हूँ। पवन मधुर मन्द गति से बह रहा है। नदियाँ मधु रस का स्राव कर रही हैं। हमारे लिए औषधियाँ मधुर हों "भूः स्वाहा" यहाँ तक मन्त्र पढ़कर मन्थ का पहला ग्रास भक्षण करे।

हम सविता देव के तेज का ध्यान करते हैं। रात और दिन सुखकर हों। पृथ्वी के धूलिकण उद्वेग न करने वाले हों। पिता द्युलोक हमारे लिये सुखकर हो 'भुवः स्वाहा' यह तक मन्त्र पढ़कर मन्थ का दूसरा ग्रास भक्षण करे। जो सविता देव हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है। हमारे लिये वनस्पति मधुर रसमय हो। सूर्य हमारे लिये मधुमान् हों। किरणें अथवा दिशाएँ हमारे लिये सुखकर हों 'स्वः स्वाहा' यहाँ तक मन्त्र पढ़कर मन्थ का तीसरा ग्रास भक्षण करे। इसके बाद सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र तथा समस्त मधुमती ऋचा और यह सब मैं ही हो जाऊँ 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' यहाँ तक मन्त्र पढ़कर अन्त में समस्त मन्थ को भक्षण करके दोनों हाथ धोकर ॥ ६ ॥ इसके बाद कटोरे या चम्मच अर्थात् जिस पात्र से मन्थ को पिया हो उस पात्र को धोकर रख दे। चमस यानी 'चम्मच' के विषय में लिखा है— **चतुरौदुम्बरोभवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० ३ श्रु० १३) यह मन्थ कर्म चार गूलर के काठ के बने पदार्थों वाला है। इसमें गूलर की लकड़ी की स्रुवा १ और गूलर के काठ का चमस २ तथा गूलर के काठ का इध्म ३ और गूलर की लकड़ी की दो उपमन्थनी ४ होती हैं ॥ १३ ॥ **प्राशित्रहरणं चान्यत्कीर्तितं द्वादशाङ्गुलम् । चमसानां तु वक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरङ्गुलाः ॥** (आह्निक) **त्र्यङ्गुलस्तु भवेत्स्कन्धो विस्तारश्चतुरङ्गुलः ॥** प्राशित्रहरण नाम के यज्ञ पात्र और दूसरा चमस बारह अंगुल लम्बा कहा गया है और चमस का दण्ड चार अंगुल का होना चाहिये। तथा तीन अंगुल का कन्धा होना चाहिये। और चौड़ा चार अंगुल का होना चाहिये। वह मन्थ पानकर्ता अग्नि के पीछे पश्चिम भाग में अखण्ड शुद्ध कृष्ण मृग चर्म पर अथवा स्थण्डिल यानी पवित्र यज्ञ भूमि पर वाणी को संयम करता हुआ मौनव्रतधारी अनिष्ट स्वप्न दर्शन से अभिभूत न होता हुआ सब प्रकार की इन्द्रियों के सहित मन को परब्रह्म नारायण में भलीभाँति लगा करके पूर्व की ओर सिर करके शयन करे। उस समय में वह उपासक यदि स्वप्न में सुन्दर स्त्री को देखे तो निश्चय करके उसका किया हुआ कर्म सफल निष्पन्न होता है ऐसा समझना चाहिये। और अन्यत्र भी लिखा है कि— **जघनेनाग्निं प्राक्**

शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ (बृ०उ०अ०६ ब्रा० ३श्रु ६) अग्नि के पीछे पश्चिम भाग में पूर्व की ओर सिर करके बैठता है। प्रातःकाल में "तू दिशाओं का एक पुण्डरीक है मैं मनुष्यों में एक पुण्डरीक होऊँ" इस मन्त्र से आदित्य का उपस्थान करता है। फिर जिस मार्ग से गया होता है उसीसे लौट कर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठ कर आगे कहे जाने वाले वंश को जपता है ॥६॥ चर्म के विषय में लिखा है ॥ **मखे कृष्णाजिनं ग्राह्यं तदखण्ड विशिष्यते ॥** (आह्निक०) यज्ञ में कृष्ण मृग के चर्म अङ्गभंग रहित ग्रहण करने योग्य विशेष रूप से कहा गया है ॥७॥

तदेषश्लोको-"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीया त्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने। तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥८॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके द्वितीय खण्डः ॥

अन्वयार्थ – (तत्) उस पूर्वोक्त विषय में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है (यदा) जब (काम्येषु) काम्य (कर्मसु)कर्मों में(स्वप्नेषु)स्वप्न में (स्त्रियम्) सुन्दर स्त्री को (पश्यति) उपासक देखे तो(तस्मिन्) उस स्वप्न-निदर्शने स्वप्नदर्शन के होने पर (तत्र) उस कर्म में (समृद्धिम) कर्मफल निष्पत्ति को (जानीयात्) जाने (तस्मिन्) उस (स्वप्ननिदर्शने)स्वप्नदर्शन के होने पर ॥८॥

विशेषार्थ—इस स्वप्न के विषय में यह श्लोक रूप आगे कहे जानेवाला मन्त्र प्रमाण है। जिस समय काम्यकर्मों में स्वप्न में सुन्दर स्त्री को उपासक देवे तो उस स्वप्नदर्शन के होने पर उस काम्यकर्म में कर्मफल निष्पत्ति को जाने। इस श्रुति में **"तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने"**इसका दो बार उच्चारण,उपासना और खण्ड समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता कोभी प्रतिपादन करताहै। त्यागमूर्ति भगवद्रामानुजाचार्यने **सूचकश्च हि श्रुते राचक्षते च तद्विदः ॥** (शा० मी० ३।२।६) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के द्वितीय खण्ड की

आठवीं श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ।।८।।

।। अथ तृतीयखण्डः ।।

श्वेतकेतु हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय। तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच। कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेति। अनु हि भगव इति ।।१।।

अन्वयार्थ—(ह)प्रसिद्ध (आरुणेयः) आरुणि ऋषि का पुत्र(श्वेतकेतुः) श्वेतकेतु नाम के ऋषि कुमार(पञ्चालानाम्)पञ्चाल देश की(समितिम्) सभा में (एयाय) आये तब (ह) प्रसिद्ध (जैवलिः) जीवल राजा का पुत्र (प्रवाहणः) प्रवाहण नाम के राजा ने (तम्) उस आये हुए श्वेतकेतु से (उवाच) कहा कि (कुमार) हे ऋषि कुमार (त्वा) तुझे (पिता)तेरे पिता ने (अनु+अशिषत्) क्या शिक्षा दी है (इति) ऐसा पूछने पर ऋषि कुमार श्वेतकेतुने (इति)ऐसा कहा कि—(भगवः)हे पूजार्ह भगवन् (हि)निश्चय) करके (अनु) पिता ने मुझको शिक्षा दी है ।।१।।

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध यह बात है कि—अरुण ऋषि के पुत्र आरुणि ऋषि हैं। आरुणि ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय लोगों की सभा में आया। आए हुए उस श्वेतकेतु से जीवल राजा के पुत्र प्रवाहण नाम के राजा ने कहा कि— हे ऋषि कुमार क्या तेरे पिता ने तुझे शिक्षा दी है। इस बात को सुन कर श्वेतकेतु ने कहा कि--हे पूजार्ह भगवन् हाँ पिता ने मुझको शिक्षा दी है। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है—

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम। स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणम्। तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार३ इति स भो३इति। प्रतिशुश्रावानुशिष्टोन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच।।(बृ.उ. ६।२।१) प्रसिद्ध है कि आरुणि ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालों की सभ में आया। वह जीवल राजा के पुत्र प्रवाहण राजा के पास पहुँच। जो राजा उस समय सेवकों से परिचर्या करा रहा था। उसे देखकर प्रवाहण राजा ने कहा— 'ओ कुमार' इस बात को सुन कर श्वेतकेतु ने कहा — 'जी' सरकार तब प्रवाहण ने फिर कहा कि— क्या तेरे पिता ने तुझे शिक्षा दी है। तब श्वेतकेतु ने "हाँ" ऐसा उत्तर दिया ।।१।। प्रकृत छान्दोग्य को

श्रुति में "समिति" शब्द आया है। इस समिति शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से होती। जैसे कि—"सम्यग् यन्ति याम्" जिस स्थान में चारों ओर से मनुष्य आकर बैठें उसे समिति कहते है। अथवा "सम्यक् साधुवेषेण इतिर्गमनं यस्यां सा" जिस स्थान में साधु वेष बनाकर जाता है उसे समिति कहते हैं। अथवा "स+मिति। मिति=मान=तोलन" जो स्थान जाँच के लिये हो अथात् "मित्या सह वर्तते" न्याय से सकल पदार्थों की परीक्षा होतीहै जिस स्थानमें वह समिति है अथवा 'सम्+इति' इति नाम है समाप्ति का। जहाँ धार्मिक राजकीय पुरुष बैठकर सकल व्यवहारों की न्याय के द्वारा समाप्ति करते हों उसे समिति कहते हैं। श्वेतकेतु को अपनी विद्या का बड़ा अहङ्कार था परन्तु यथार्थ में वह उतना विद्वान् नहीं था। प्रवाहण राजा ने उसके गर्व को दूर करने के लिये प्रथम कुमार पद से सम्बोधन किया। अर्थात् जैसे मानो वह अभी बालक ही हो परिपक्व विद्वान् न हुआ हो क्योंकि 'कुमार क्रीडायाम्' इससे कुमार शब्द निष्पन्न होता है। अथवा श्वेतकेतु का विवाह संस्कार नहीं हुआ था इससे कुमार सम्बोधन राजा नें किया है। क्योंकि 'कुत्सितो मार: कामो यस्य' इस व्युत्पत्ति से जब तक विवाह नहीं होता है तब तक लड़के को कुमार या कुंवार कहते हैं। यहाँ से वैराग्य होने के लिये पञ्चाग्निविद्या का प्रारम्भ किया गया है ॥ १ ॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति। न भगव इति। वेत्थ तथा पुनरावर्तन्त ३ इति। न भगव इति। वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति। न भगव इति ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—प्रवाहण राजा ने पूछा कि (प्रजा:) ये सब जीव (इत:) इस लोक से मरने के बाद (अधि) ऊपर (यत्) जिस स्थान को (प्रयन्ति) जाते हैं (इति) इसको (वेत्थ) तुम जानते हो तब श्वेतकेतु ने (भगव:) हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् (न) मैं नहीं जानता हूँ (इति) ऐसा उत्तर दिया पुन: प्रवाहण राजा ने पूछा कि (यथा) जिस प्रकार कर्मफल की समाप्ति होने से (पुन:) फिर (आवर्तन्ते) सब जीव लौट आते हैं (इति) इसको (वेत्थ) तुम जानते हो तब पुन: श्वेतकेतु ने [भगव:] हे

पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् (न) मैं नहीं जानता हूँ (इति) ऐसा उत्तर दिया फिर प्रवाहण राजा ने पूछा कि (देवयानस्य) देवयान (च) और (पितृयाणस्य) पितृयान (पथोः) इन दोनों मार्गोंके (व्यावर्तना) जो भेदक रूप हैं (इति) इन को (वेत्थ) तुम जानते हो तब पुनः श्वेतकेतु ने (भगवः) हे पूजार्ह प्रशंसनीय राज् (न) मैं नहीं जानता हूँ (इति) ऐसा उत्तर दिया ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जब श्वेतकेतु ने कहा कि मुझको पिता ने शिक्षा दी है तब प्रवाहण राजा ने कहा कि यदि आप को पिता ने शिक्षा दी है और उस उपदेश को यदि आप स्मरण भी रखे हैं तो मेरे प्रश्नों का समाधान आप अवश्य करेंगे। इस कारण आपसे मैं कतिपय प्रश्न पूछना चाहता हूँ। आप कृपया समाधान करें। क्या तूझे मालूम है कि इसलोक से जाने पर प्रजा कहाँ जाती है १। इस प्रथम प्रश्न से प्रवाहण राजा ने कर्मियों के गन्तव्य देश को पूछा। तब श्वेतकेतु ने कहा कि हे प्रशंसनीय राजन्! जो प्रश्न आप पूछते हैं मैं उसका उत्तर नहीं जानता हुँ। पुनः प्रवाहण राजा ने पूछा कि—क्या तू जानता है कि वह फिर वहाँ से इस लोक में कैसे लौट आती है २। इस द्वितीय प्रश्न से पाञ्चाल प्रवाहण राजा ने पुनरावृत्ति प्रकार को पूछा। तब पुनः श्वेतकेतु ने कहाकि हे भगवन्! आपके इस प्रश्न का भी उत्तर मैं नहीं जानता हूँ। फिर प्रवाहण राजा ने पूछा कि—देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों के भेदक रूपों को क्या तू जानता है ३। इस तृतीय प्रश्न से प्रवाहण राजा ने देवयान और पितृयाण पथ के व्यावर्तन को पूछा। तब फिर श्वेतकेतु ने कहा कि—हे प्रशंसनीय राजन् आपके इस प्रश्न का भी उत्तर मैं नहीं जानता हूँ। और अन्यत्र भी लिखा है— **वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच। वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति होवाच। वेत्थो यथासौ लोक एवं वहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भि र्न सम्पूर्यता ३ इति नेति होवाच। वेत्थो यावतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्तो ३ इति नेति होवाच। वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्। द्वे सृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमे-**

जत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकं च न वेदेति होवाच ॥ (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० २) प्रवाहण राजा पूछता है— जिस प्रकार मरने पर यह प्रजा विभिन्न मार्गों से जाती है सो क्या तू जानता है। श्वेतकेतु बोला नहीं। फिर राजा पूछताहै कि—जिस प्रकार वह पुनः इस लोक में आती है सो क्या तुझे मालूम है—नहीं ऐसा श्वेतकेतु ने उत्तर दिया। पुनः प्रवाहण राजा पूछता है कि—इस प्रकार पुनः पुनः बहुतों के मर कर जाने पर भी जिस प्रकार वह लोक भरता नहीं है सो क्या तू जानता है—नहीं ऐसा श्वेतकेतु ने कहा। फिर राजा पूछता है कि क्या तू जानता है कि कितने बार की आहुति के हवन करने पर जल पुरुष शब्द वाच्य हो उठ कर बोबने लगता है— नहीं ऐसा श्वेतकेतु ने कहा। पुनः राजा पूछता है कि – क्या तुम जानते हो देवयान और पितृयान के मार्ग को जिस कर्म को करके देवयान या पितृयान मार्ग को पाते हैं। हमने तो ऋषि का यह वचन सुना है। मैंने पितरों का और देवों का इस प्रकार दो मार्ग सुने हैं ये दोनों मनुष्यों से सम्बन्ध रखनेवाले मार्ग हैं। इन दोनों से जानेवाला जगत् सम्यक् प्रकार से जाता है। और जो यह जगत् पिता तथा माता के मध्य में है—इस पर श्वेतकेतु ने मैं इनमें से एक भी नहीं जानता ऐसा उत्तर दिया ॥ २ ॥ दोनों उपनिषदों के प्रश्न में विशेष भेद नहीं है किन्तु प्रश्न के क्रम में अवश्य भेद ज्ञात होता है ॥ २ ॥

वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यता ३ इति। न भगव इति। वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। नैव भगव इति ॥३॥

अन्वयार्थ—पुनः प्रवाहण राजा ने पूछा कि हे कुमार (यथा) जिस हेतु से (असौ) वह (लोकः) द्युलोक (न) नहीं (संपूर्यते) अच्छी तरह भरता है (इति) इसको (वेत्थ) तुम जानते हो। तब पुनः श्वेतकेतु न (भगवः) हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् (न) मैं नहीं जानता हूँ (इति) ऐसा उत्तर दिया। पुनः प्रवाहण राजा ने पूछा कि (आपः) जल और भूतसूक्ष्म (पञ्चम्याम्) पांचवीं (आहुतौ) आहुतिमें (यथा) जिस प्रकार से (पुरुषवचसः) पुरुषशब्दाभिलप्य (भवन्ति) होते हैं (इति) इसको (वेत्थ) तुम जानते हो तब पुनः श्वेतकेतु ने [भगवः]हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् (एव)

निश्चय करके (न) मैं नहीं जानता हूँ (इति) ऐसा उत्तर दिया ॥ ३ ॥

विशेषार्थ जब तीसरा प्रश्न का भी उत्तर श्वेतकेतु ने नहीं दिया तब पुनः प्रवाहण राजा ने पूछा कि—क्या तुझे मालूम है कि इस लोक से अनवरत मर कर सर्वदा जीव वहाँ जाते हैं परन्तु वह द्युलोक क्यों नहीं मरता है ॥४॥ इस चतुर्थ प्रश्न से पाञ्चाल प्रवाहण राजा ने उस द्युलोक की अप्राप्ता को पूछा। तब पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि—हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन आपके इस प्रश्न का भी उत्तर मैं नहीं जानता हूँ। फिर जैवलि प्रवाहण राजा ने पूछा कि— क्या तू जानता है कि पाँचवी आहुति में जल पुरुषवाचक कैसे हो जाते हैं ॥५॥ इस पांचवें प्रश्न से जल और भूतसूक्ष्म पांचवीं आहुति में जिस प्रकार पुरुषशब्दाभिलप्य होते हैं इस बात को पूछा। तब पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि—हे पूजार्ह प्रशंसनीय राजन् आपके इस प्रश्न का भी उत्तर मैं नहीं जानता हूँ। इस श्रुति में प्रवाहण राजा के लिये औपचारिक "भगवः" पद वारंवार प्रयुक्त हुआ है। लोकमान्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्** ॥ (शा० मी० ३।१।१) **त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्** ॥ (शा० मी० ३।१।२) **प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्नता एव ह्युपपत्तेः** ॥ (शा० मी० ३।१।५) **न तृतीये तथोपलब्धेः**॥ (शा०मी० ३।१।१८) इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के तृतीयखण्ड की तीसरी श्रुतिको उद्धृत किया है॥३॥

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानी न विद्यात् कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति। स हाऽऽयस्तः पितुरर्धमेयाय। तं होवाचाननुशिष्य वाव किल मा भगवान ब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥ ४ ॥

अण्वयार्थ—(अथ) मैं नहीं जानता हूँ ऐसा श्वेतकेतु के कहने के अनन्तर (अनु) पीछे प्रवाहण राजा ने (इति) ऐसा श्वेतकेतु से कहा कि (अनुशिष्टः) मैं शिक्षित हुँ ऐसा (किम्) क्यों (अवोचथाः) तुम कहा था (हि) क्योंकि (य) जो पुरुष (इमानि) इन मेरे पूछे हुए पांच प्रश्नों को (न) नहीं (विद्यात्) जानता है (सः) वह पुरुष (कथम्) कैसे (अनुशिष्टः) मैं शिक्षित हूँ (इति) ऐसा (ब्रुवीत) कह सकता है (ह) प्रसिद्ध (सः) वह

श्वेतकेतु (आयस्तः) प्रवाहण राजा से परास्त होकर (पितुः) अपने पिता आरुणि ऋषि के [अर्धम्] स्थान को [एयाय] चला आया और [ह] प्रसिद्ध [तम्] उस अपने पिता से [उवाच] कहा [किल] कि [वाव] निश्चय करके [मा] मुझे (अननुशिष्य) बिना शिक्षा दिये ही समावर्तन काल में (भगवान्) श्री पूज्यपाद आपने (अब्रवीत्) मुझ से कहा कि (त्वा) तुझको (अनु+अशिषम्) मैंने शिक्षा दे दी है ॥४॥

विशेषार्थ—श्वेतकेतु ने जब एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया तब प्रवाहणराजा ने उससे कहा कि—यद्यपि आप अशिक्षित हैं तथापि आप कहते फिरते हैं कि मैं शिक्षित हूँ ऐसा क्यों करते हैं ऐसा वचन आपको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जो इन मेरे पूछे हुए पाँच प्रश्नों को नहीं जानता है वह अपने को शिक्षित कैसे कह सकता है ? इस बात को सुन कर वह श्वेतकेतु त्रस्त और परास्त होकर वहाँ से सुप्रसिद्ध अपने पिता आरुणि ऋषि के स्थान पर आया और अपने पिता से सविनय निवेदन किया कि हे पिताजी ! श्रीमान् ने मुझे शिक्षा दिये बिनाही समावर्तन के समय में मुझ से कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है। सो आपका कथन ठीक नहीं ज्ञात होता है क्योंकि यदि मुझे पूर्ण शिक्षा मिली रहती तो क्या मैं एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं कर सकता ? और अन्यत्र भी लिखा है— **अथ हैनं वसत्योपमंत्रयाञ्चक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव। स आजगाम पितरं तं होवाचेति वाव किल नो भवान् पुरानुशिष्टानवोचदिति कथं सुमेध इति ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० ३) प्रवाहण राजा ने श्वेतकेतु से अपने यहाँ रहने को कहा। परन्तु वह श्वेतकेतु कुमार उस वास का आदर न करके भाग गया और पिता के निकट आया। आकर पिता से बोला कि हे पिता पुरा समावर्तनकाल में आपने कहा था कि "तुम लोगों को "शिक्षा" सो कैसे आपने कहा ? यह वचन सुनकर आरुणि कहते हैं कि हे सुमेधा प्रियपुत्र ! कैसे तुम यह वचन कह रहे हो ॥३॥ इस प्रकारके स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है॥४॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते

नावदयमिति ॥५॥

अन्वयार्थ—(राजन्यबन्धुः) क्षत्रियों के बन्धु जैवलि प्रवाहण ने (मा) मुझसे कर्मिकेगन्तव्यदेश और पुनरावृत्ति प्रकार तथा देवयान पितृयाणपथव्यावर्तन और द्युलोक की अप्राप्ता तथा पांचवीं आहुति में जल जीव वाचक कैसे (इति) इन (पञ्च) पाँच (प्रश्नान्) प्रश्नों को (अप्राक्षीत्) पूछा किन्तु (तेषाम्) उन पाँच प्रश्नों में से (एकम्+चन) एक प्रश्न को भी (विवक्तुम्) विवेचन करके कहने के लिये (न) नहीं (अशकम्) मैं समर्थ हुआ (ह) प्रसिद्ध (सः) उस पिता आरुणि ऋषि ने (उवाच) कहा (त्वम्) तुमने (तदा) तब अर्थात् अपने आने के समय में (मा) मुझसे (यथा) जैसे (एतान्) इन प्रश्नों को (अवदः)कहा था (यथा) जिस प्रकार उन प्रश्नों का उत्तर है (अहम्) मैं (एषाम्) इन प्रश्नों में से (एकम्+चन) एक को भी (न) नहीं (वेद) जानता हूँ (यदि) यदि (अहम्) मैं (इमान्) इन प्रश्नों को (अवेदिष्यम्) यथार्थ जानता होता तो (ते) प्रिय पुत्र तुम से समावर्तन समय में (कथम्) क्यों (न) नहीं (अवक्ष्यम्) कहता (इति) यह मैं सत्य कहता हूँ ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—अब श्वेतकेतु अपने पिता आरुणि ऋषि से गत वृतान्त सुनाता है । हे भगवन् क्षत्रियबन्धु जैवलि प्रवाहण ने मुझ से "यहाँ से प्रजा कहाँ जाती है" ? "वहाँ से पुनः कैसे लौट आती है" २ "देवयान और पितृयान मार्ग का व्यावर्तन कहाँ होता है" ३ "वह द्युलोक क्यों नहीं भर जाता है" ४ "पाँचवीं आहुति में जल पुरुष वाचक कैसे हो जाता है" ५ इन पाँच प्रश्नों को पूछा । परन्तु उनमें से एक प्रश्न का भी उत्तर देने में मैं समर्थ नहीं हुआ । पुत्र के वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध पिता आरुणि ऋषि ने कहा कि—हे प्रिय श्वेतकेतो ! तुमने उस अपने आने के समय में जैसे इन पाँचों प्रश्नों को मुझ से सुनाया है उनमें से एक काभी यथार्थ उत्तर मैं नहीं जानताहूँ । यदिमैं इन प्रश्नोंको जानता होता तो प्रियपुत्र तुमसे समावर्तनकाल में क्योंनहीं कहता । और अन्यत्र भी लिखा है— **पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकञ्चन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥** (बृ०उ०अ० ६ ब्रा० २ श्रु० ३) **स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथाः यथा यदहं किञ्चन वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं**

वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति ॥ ४ ॥ पुत्र श्वेतकेतु ने कहा कि—मुझसे एक क्षत्रियबन्धु ने पाँच प्रश्न पूछे थे उनमें से मैं एक को भी नहीं जानता । आरुणि पिता ने कहा कि—वे प्रश्न कौन से थे ? पुनः पुत्र—ये थे ऐसा कहकर उसने प्रश्नों के प्रतीक बतलाये ॥३॥ पुनः सुप्रसिद्ध पिता ने कहा कि—हे प्रिय तात ! तू हमारे कथनानुसार ऐसा समझ कि हम जो कुछ जानते थे वह सब हमने तुझ से कह दिया था । अब हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उसके यहाँ निवास करेंगे । तब पुत्र ने कहा—आप ही जाइये ॥ ४ ॥ ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ॥ ५ ॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय । तस्मै ह प्राप्तायार्हांचकार । स स प्रातः सभाग उदेयाय । तं होवाच मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति । स होवाच तवैव राजन् मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति । स ह कृच्छ्री बभूव ॥६॥

अन्वयार्थ--(ह) प्रसिद्ध (सः) वह (गौतमः) गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणि ऋषि (राज्ञः) प्रवाहण राजा के (अर्धम् स्थान को (एयाय) आये (प्राप्ताय) आये हुए (तस्मै) उस आरुणि ऋषि की (अर्हाम्) पूजा को (ह) प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने (चकार) शास्त्रविधिपूर्वक किया(प्रातः) प्रातःकाल दूसरे दिन (सभागः) अर्घ्यादि से पूज्यमान भाग्यशाली (ह) प्रसिद्ध (सः) वे आरुणि ऋषि (सभागे) राजा के सभा में पहुंचने पर (उदेदाय) समीप में आये तब (ह) प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने (तम्) उस आरुणि ऋषि से (उवाच) कहा (भगवन्) हे परमपूजनीय (गौतम) गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणिमहर्षे (मनुष्यस्य) मनुष्य सम्बन्धी (वित्तस्य) धनका (वरम्) वर (वृणीथाः) आप मुझसे माँग लीजिये (इति) इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (सः) वे आरुणिकहर्षि (उवाच) बोले कि(राजन्) हे राजन् (मानुषम्) मनुष्य सम्बन्धी (वित्तम्) धन (तव) आपके (एव) ही पास रहे इन धनों से हम तपस्वियों को क्या करना है किन्तु (कुमारस्य) मेरे कुमार पुत्र श्वेतकेतु के (अन्ते) समीप में (एव) निश्चय

करके (याम्) जिन पाँच प्रश्न लक्षण रूप (वाचम्) वाणी को (अभाषथा:) आपने कहा था (एव) निश्चय करके (ताम्) उसी बात को (मे) मुझ से (ब्रूहि) तुम कहो (इति) यही मेरी प्रार्थना है। आरुणि महर्षि के पूर्वोक्त वचन सुनकर (ह) प्रसिद्ध (स:) वह प्रवाहण राजा (कृच्छ्री) दु:खित (बभूव) हुआ ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—प्रकृत श्रुति में 'सभाग:' यह प्रथमान्तपद भी हो सकता है। और 'सभागे' यह सप्तम्यन्त पद भी हो सकता है। 'देहलीदीपक-न्याय से' ऋषि और राजा दोनों के साथ यथाक्रम से सम्बन्ध होता है। तो यह अर्थ हुआ कि—सुप्रसिद्ध गौतम गोत्रोत्पन्न वह आरुणि ऋषि पाञ्चाल प्रवाहण राजा के स्थान पर आया। राजा प्रवाहण ने अपने यहाँ आये हुए उस आरुणि ऋषिकी पूजा शास्त्रानुसार अपने करकमलों से की। दूसरे दिन प्रात:काल होते ही प्रवाहण राजा की सभा में पहुँचने पर अर्घ्यादि से पूज्यमान भाग्यशाली वह आरुणि ऋषि के पास गया। तब सविनय राजाने आरुणि ऋषिसे कहाकि—हे गौतमगोत्रोत्पन्न परमपूजनीय भगवन्! मनुष्य सम्बन्धी धन का वर आप मुझ से माँग लीजिये। इस बात को सुनकर आरुणि ऋषि ने कहा कि—हे राजन्! ये मनुष्य सम्बन्धी धन आपही के पास रहें। इन धनों से हम तपस्वियों को क्या करना है। ये सबतो आपको ही शोभित होते हैं। हे महाराज! आपने मेरेपुत्र श्वेतकेतु के प्रति जो बात पाँच प्रश्नरूप से कही थी वही मुझे बतलाइये यही मेरी प्रार्थना है। आरुणि ऋषि के पूर्वोक्त वचन को सुनकर ये ऋषि हटाने योग्य नहीं हैं ऐसा मन में मनन करके प्रवाहण राजा सङ्कट में पड़ गया। और अन्यत्र इस प्रकार संवाद लिखा है—

स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जावलेरास। तस्मा आसन-माहृत्योदकमाहारयाञ्चकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार। तं होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥ (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु०४) **स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाष-थास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥ स होवाच दैवेषु वै गौतमो तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥ स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्या-पात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य। मा नो भवान् बहोरनन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति ॥ ७ ॥** तब गौतम गोत्र वाले

आरुणि ऋषि जहाँ जैवलि प्रवाहण राजा की बैठक थी वहाँ आया। उस के लिये आसन देकर राजा ने जल मंगवाया और उसे अर्घ्यदान किया तत्पश्चात् राजानें कहा कि मैं पूज्य गौतम गोत्रोत्पन्न आपके लिये वर देता हूँ ॥४॥ आरुणि ऋषि ने कहा कि—आपने जो मुझे वर देने के लिये प्रतिज्ञा की है उसके अनुसार आपने मेरे कुमार श्वेतकेतुसे जो बात पूछी थी वह मुझसे कहिये ॥५॥ राजाने कहा कि हे गौतम गोत्रोत्पन्न वह वर तो दैव वरों में से है। तुम मनुष्य सम्बन्धी वरों में से कोई वर माँगों ॥६॥ तब आरुणि ऋषिने कहाकि हेराजन्! आपतो जानतेहैं वह मनुष्य सम्बन्धी धन तो मेरे पास है। मुझे सुवर्ण तथा गौ अश्व दासी परिवार और वस्त्र भी प्राप्त हैं। आप महान् अनन्त और निःसीम धन के दाताहोकर मेरे लिये अदाता न हों ॥७॥ इस प्रकारके अत्युतम और मनोहर संवाद प्रतिपादन किया गया है ॥६॥

तं ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार। तं होवाच यथामात्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्त्रस्यैव प्रशासनमभूदिति। तस्मै होवाच ॥७॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठकके तृतीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ (ह) प्रसिद्ध प्रवाहण राजा ने (तम्) उस आरुणि ऋषिको (चिरम्) विद्या के लिये चिरकाल तक (वस) निवास करो यहाँ (इति) ऐसी (आज्ञापयाञ्चकार) आज्ञा दी और (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस गौतमगोत्रोत्पन्न आरुणि ऋषिसे (उवाच) कहा कि (गौतम) हेगौतम गोत्रोत्पन्न आरुणि (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) तुमने (मा) मुझसे (अवदः) कहा था उसी प्रकार मैं करुँगा (पुरा) पूर्वकाल में (त्वत्तः) तुमसे (प्राक्) पहले (इयम्) यह वक्ष्यमाण (विद्या) पञ्चाग्निविद्या (यथा) जिस प्रकार (ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों को (न) नहीं (गच्छति) प्राप्त हुई है (तस्मात्) इस कारण से (उ) निश्चय करके (सर्वेषु) संपूर्ण (लोकेषु) लोकों में (क्षत्त्रस्य) क्षत्रियजाति का (एव) ही (प्रशासनम्) इस विद्या के उपदेश देने का अधिकार (अभूत्) था (इति) इस प्रकार राजा ने ऋषिको समझाया इसके बाद राजाके स्थानपर चिर कालतक निवास

करने वाला (तस्मै) उस आरुणि ऋषि के लिये (ह) प्रसिद्ध प्रवाहण राजाने (उवाच) विद्या का उपदेश दिया ॥७॥

विशेषार्थ—दुःखित होने पर भी ऐसे विद्वान् ब्राह्मण का तिरस्कार नहीं करना चाहिये। न्यायपूर्वक सबको विद्या देनी चाहिये। राजा का यही धर्म है इत्यादि विचार कर तत्पश्चात् प्रवाहण राजा ने उस गौतम गोत्रोत्पन्न आरुणि ऋषि को विद्या के लिये "यहाँ चिरकाल तक रहो" ऐसी आज्ञा दी। पुनः उस सुप्रसिद्ध आरुणि ऋषि से राजा ने कहा कि हे गौतम गोत्रोत्पन्न ! जिसप्रकार आपने मुझसे कहाथा कि "कुमार के समीप जो प्रश्न आपनें पूछा था वही विद्या मुझसे कहें यही मेरा वर है" आपके इस वचन को सुनकर मैं पहले तो दुःखित हुआ, फिर यह विचारा कि बहुत अन्याय की बात है कि जिज्ञासु को विद्या न दी जाय। जब मैं स्वयं न्याय करने वाला हूँ, तो न्याय के अनुसार जब एक उत्तम तपस्वी ब्राह्मण इसको याचताहै तो उसको अवश्यही देना चाहिये। यह विचार कर मैंने पीछे आपको "चिरकाल आप वास करें" ऐसी आज्ञा दी परन्तु हे भगवन् इन बातों की आप कुछ चिन्ता न करें। मेरे दोषों को क्षमा करें। कारण इसमें यह है कि पूर्वकाल में तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुइ थी और अबसे आपके द्वारा यह वक्ष्यमाण विद्या ब्राह्मणोंको भी प्राप्तहोगी इसकारण आपसे वैसा मैंने कहा। निश्चय करके सबलोकों में क्षत्रिय जाति को ही इस विद्या के उपदेश देने का अधिकार था। इस बात को सुन कर यम नियम पूर्वक चिर कालतक प्रवाहण राजाके द्वारपर पाञ्चालदेश में आरुणिऋषिने निवास किया। तदनन्तर सुप्रसिद्ध गौतम गोत्रवाले उस ऋषिको प्रवाहण राजा ने विद्या का उपदेश दिया। अन्यत्र ऐसा लिखा है॥ **स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास स ॥** (बृ. उ. अ. ६ ब्रा. २ श्रु. ७) **स होवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिँश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥८॥** राजाने कहा कि—हे गौतम गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण तुम शास्त्रोक्त विधि से उस विद्या को पाने की इच्छा करो। तब आरुणि ऋषि ने कहा कि—अच्छा मैं आपके प्रति शिष्यभाव से प्राप्त होता हूँ। पहले ब्राह्मण लोग वाणी से ही क्षत्रियादि के प्रति

उपसन्न होते रहे हैं। इस प्रकार उपसत्ति का वाणी से कथन मात्र करके आरुणि ऋषि वहाँ रहने लगा ॥७॥ तब प्रवाहण राजाने कहा कि हे गौतम वंशोत्पन्न भूदेव जिस प्रकार तुम्हारे पितामहोंने हमारे पूर्वजों का अपराध नहीं माना उसीप्रकार तुमभी हमारा अपराध न मानना। उससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही। उसे मैं तुम्हारे ही प्रति कहता हूँ। भला इस प्रकार विनय पूर्वक बोलने वाले तुमको निषेध करने में कौन समर्थ हो सकता है ॥ ८ ॥ इस प्रकार का यहाँ अत्युत्तम उपदेश दिया गयाहै। यहाँ 'छान्दोग्योपषद्' के पञ्चम प्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ७ ॥

॥ अथ चतुर्थखण्डः ॥

असौ वाव लोको गौतमाग्निः। तस्यादित्य एव समित्। रश्मयो धूमः। अहरर्चिः। चन्द्रमा अङ्गाराः। नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

अन्वयार्थ (गौतम) हे गौतम गोत्रोत्पन्न महर्षे (असौ) यह प्रसिद्ध (लोकः) स्वर्गलोक (वाव) ही (अग्निः) अग्नि है (तस्य) उस द्युलोक रूप अग्नि के (आदित्यः) सूर्य (एव) निश्चय करके (समित् लकड़ी है (रश्मयः) सूर्य की किरणें (धूमः) द्युलोक रूप अग्नि के धूम हैं (अहः) दिन (अर्चिः) द्युलोक रूप अग्नि की ज्वाला है (चन्द्रमा) चन्द्रमा (अङ्गाराः) द्युलोक रूप अग्नि के अङ्गार हैं (नक्षत्राणि) ताराएँ (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—अब प्रवाहण राजा "पाँचवी आहुतिमें जल पुरुषवाचक कैसे हो जाता है" इस अपने पाँचवें प्रश्न का उत्तर आरुणि ऋषि से कहते हैं कि—हेगौतम वंशोत्पन्न महर्षे! यह सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक ही अग्नि है और सूर्य ही उस स्वर्गलोक रूप अग्नि की समिधा है। क्योंकि सूर्य से द्युलोक देदीप्यमान होता है। सम+इन्ध से समित् बनता है। "सम्यक्+इन्धे दीप्यते" जो अच्छी तरह से देदीप्यमान होकर जले उसे समित् कहते हैं। और स्वर्गलोक रूप अग्नि के सूर्य की किरणें धूम हैं। क्योंकि समिधा से धूम होता है। अतः सूर्यकी किरणें धूम हैं तथा प्रकाशक होनेसे स्वर्गलोक रूप अग्नि का दिन ही ज्वाला है और अर्चि

के प्रशमकाल में प्रभव होनेसे चन्द्रमा ही स्वर्गलोकरूप अग्नि का अङ्गार है तथा चन्द्रमा के अवयव के समान उपलभ्यमान होने से ताराएँ स्वर्गलोकरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं। अन्यत्र भी लिखा है— **असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥** (बृ० उ०अ० ६ ब्रा० २ श्रु० ६) हे गौतम गोत्रोत्पन्न सुप्रसिद्ध वह द्युलोक ही अग्नि है। उसका सूर्य ही ईन्धन है। किरण धूम हैं। दिन ज्वाला है। दिशाएँ अङ्गार हैं और अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं ॥ ६ ॥ इसमें इतना भेद है कि दिशाओं को अङ्गार और अवान्तरदिशाओं को विस्फुलिङ्ग माना है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(देवाः) सब प्रकाशक इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध आदित्यादिलक्षण समिधा आदि युक्त (एतस्मिन्) इस स्वर्गलोक रूप (अग्नौ) अग्नि में (श्रद्धाम्) जल को (जुह्वति) हवन करते हैं (तस्याः) उस (आहुतेः) आहुति से (सोमः) सोम (राजा) राजा (संभवति) होता है। अर्थात् इसप्रकार अपने कर्मसे द्युलोक को गया हुआ जीव स्वर्गभोग के योग्य दिव्य देह से युक्त हो जाता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ— उस प्रसिद्ध सूर्यादिलक्षण समिधा आदि से युक्त इस द्युलोक रूप अग्नि में सब इन्द्रियाँ जल को हवन करती हैं। इस श्रुति में आत्मधर्मभूतबुद्धिविशेषलक्षण श्रद्धा के होतव्यत्व के असंभव होने से "श्रद्धा" शब्द से जल कहा जाता है। क्योंकि यह स्पष्ट लिखा है कि— **श्रद्धा वा आपः ॥** (तै० सं० १।६।८।१) जल ही श्रद्धा है ॥१॥ और द्युलोकादिप्रापक कर्मों के इन्द्रियाधीन होने से यहाँ 'देवाः' पद का अर्थ इन्द्रियाँ है। उस आहुति से जीव का सोमराजभाव उत्पन्न होता है। क्योंकि आगे लिखा है—**एष सोमो राजा ॥** (छा०उ०प्रपा० ५खं० १० श्रु० ४) यह चन्द्रमा को प्राप्त करने वाला जीव सोमराज के भाव वाला होता है ॥ ४ ॥ अर्थात् इस प्रकार अपने शुभ कर्म से स्वर्गलोक को गया

हुआ जीव स्वर्गभोग के योग्य दिव्य देह से युक्त हो जाता है। और अन्यत्र भी लिखा है—**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति। तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥** (बृ०उ०अ० ६ ब्रा० २ श्रु० ६) उस इस द्युलोक रूप अग्नि में इन्द्रियगण जल को हवन करती हैं। उस आहुति से स्वर्गलोक में गया हुआ जीव सोम राजा के भाव से युक्त हो जाता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार इस खण्ड में प्रथम आहुति का वर्णन किया गया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक का चौथा खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चि रशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

अन्वयार्थ - (गौतम) हे गौतम गोत्रोत्पन्न महर्षे !(पर्जन्यः) वृष्टि-प्रवर्तकदेव मेघ (वाव) ही (अग्निः) अग्नि है (तस्य) उस पर्जन्यरूप अग्नि के (वायुः) पवन (एव) निश्चय करके (समित्) समिधा है (अभ्रम्) बादल (धूमः) पर्जन्यरूप अग्नि का धूम है ! (विद्युत्) बिजली (अर्चिः) पर्जन्यरूप अग्नि की ज्वाला है (अशनिः) वज्र (अङ्गाराः) पर्जन्यरूप अग्नि का अङ्गार है (ह्रादनयः) मेघगर्जित शब्द (विफुलिङ्गाः)पर्जन्यरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—प्रवाहण राजा प्रथम आहुति का वर्णन करके अब द्वितीय आहुति का वर्णन करता है कि—हे गौतवंशोत्पन्न आरुणि महर्षे ! वृष्टि प्रवर्तक देव मेघ ही अग्नि है और उस पर्जन्य रूप अग्नि का वायु ही समिधा है, क्योंकि वायु से पर्जन्य रूप अग्नि देदीप्यमान होती है। और पर्जन्यरूप अग्नि का बादल ही धूम है। यद्यपि 'पर्जन्य' और 'अभ्र' दोनों शब्द मेघ वाचक हैं तथापि इन दोनों के अर्थ में बहुत भेद है। 'पर्जन्य' उस मेघ का नाम है जो प्रथम सूर्य किरण की शक्ति द्वारा जल परमाणु एकत्रित होना आरम्भ होते हैं। और 'अभ्र' 'अपो जलानि विभर्ति' इस व्युत्पत्ति से जिस में प्रत्यक्ष रूप से जल आगया हो। जो मेघाकार हो गया हो अर्थात् जो जल को धारण करे उसे 'अभ्र कहते हैं। प्रकाश सामान्य होने से बिजली ही पर्जन्यरूप अग्नि की ज्वाला है। काठिन्य होने से वज्र ही पर्जन्यरूप अग्नि का अङ्गार है।

मेघ की गर्जना पर्जन्यरूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं। अन्यत्र भी लिखा है **पर्जन्यो वाग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चि रशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः** ॥ (बृ. उ. अ. ६ ब्रा० २ श्रु० १०) हे गौतम! पर्जन्य ही अग्नि है। संवत्सर ही उसकी समिधा है। बादल धूम है, बिजली ज्वाला है, वज्र अङ्गार है और मेघ गर्जन विस्फुलिङ्ग है ॥ १० ॥ यहाँ संवत्सर को समिधा माना है, इतना ही भेद है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं संभवति ॥ २ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके पञ्चमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(देवाः) समस्त इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध पवनादिलक्षण समिधा आदि युक्त (एतस्मिन्) इस पर्जन्यरूप (अग्नौ) अग्नि में (सोमम्) स्वर्गलोक में सोम (राजानम्) राजा के भाव से युक्त देह को (जुह्वति) हवन करते हैं (तस्याः) उस (आहुतेः) आहुति से (वर्षम्) वर्षा (संभवति) होती है। अर्थात् द्युलोक भोग निमित्तकर्म के अवसान होने पर सोमराज शब्दित वह देह द्रव होकर जीव के साथ मेघमण्डल में गिरता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—उस प्रसिद्ध पवनादिलक्षण समिधा आदि से युक्त इस पर्जन्य रूप अग्नि में समस्त इन्द्रियाँ द्युलोक में सोम राजा के भाव से युक्त सुन्दर शरीर को हवन करती हैं। इस श्रुति में 'देवाः' पद इन्द्रियों का वाचक है और 'सोमस्+राजानम्' ये पद द्युलोक में शुभ कर्म के द्वारा प्राप्त सोम राजा के समान देह का वाचक है। उस दूसरी आहुति से वृष्टि होती है। अर्थात् स्वर्गलोक के भोगके निमित्त पुण्यकर्म के समाप्त होने पर सोमराजशब्दित वह स्वर्गीय शरीर पिघल कर जीवात्मा के साथ ही मेघ मण्डल में गिर जाता है। और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है—**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति** ॥(बृ०उ०अ० ६ ब्रा० २श्रु० १०) उस इस पर्जन्यरूप अग्नि में इन्द्रियगण सोमराजा के भाव से युक्त स्वर्गीय

देह को हवन करते हैं। उस आहुति से वृष्टि होती है ॥१०॥ इस प्रकार इस खण्ड में दूसरी आहुति का वर्णन किया गया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रकाठक का पाँचवाँखण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ षष्ठखण्डः ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समित्। आकाशो धूमो रात्रिरर्चिः। दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

अन्वयार्थ (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न महर्षे (पृथिवी) पृथ्वी (वाव) ही (अग्निः) अग्नि है (तस्याः) उस पृथ्वी रूप अग्नि के (संवत्सरः) वर्ष साल (एव) निश्चय करके (समित्) समिधाहै (आकाश.) आकाश (धूमः) पृथ्वी रूप अग्नि का धूम है (रात्रिः) रात (अर्चिः) पृथ्वी रूप अग्नि की ज्वाला है (दिशः) दिशाएँ (अङ्गारा;) अङ्गार हैं और (अवान्तरदिशः) अवान्तर दिशाएँ (विस्फुलिङ्गाः) पृथ्वी रूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं ।१॥

विशेषार्थ—पाञ्चाल प्रवाहणराजा द्वितीय आहूति का वर्णन करके अब तृतीय आहुति का वर्णन करता है कि—हे गौतम वंशोत्पन्न महर्षे! भूमि ही अग्नि है। उस पृथ्वी रूप अग्नि की संवत्सर ही समिधा है। क्योंकि वर्ष काल से समिद्धःही पृथ्वी शस्य आदिक निष्पत्ति के लिये होती है। आकाश ही पृथ्वी रूप अग्नि का धूम है। नील रूपाश्रय होने से रात्री ही पृथ्वी रूप अग्नि की ज्वाला है। पूर्वादिक दिशाएँ पृथ्वी रूप अग्नि के अङ्गार हैं और अवान्तर दिशाएँ पृथ्वी रूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं। और अन्यत्र भी लिखा है॥ **अयं वै लोकोऽग्नि गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमाङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥** (बृ०उ० अ० ६ ब्रा० २श्रु० ११) हे गौतम वंशोत्पन्न यह लोक ही अग्नि है। और इस लोक रूप अग्नि की पृथ्वी ही लकड़ी है। अग्नि धूम है। रात ही ज्वाला है। चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं॥ ११ ॥ इस प्रकार का प्रदिपादन किया गया है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति । तस्या आहुते-रन्नं संभवति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठकके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ (देवाः) संपूर्ण इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध संवत्सरादिलक्षण समिधा आदि से युक्त (एतस्मिन्) इस पृथ्वी रूप (अग्नौ) अग्नि में (वर्षम्) स्वर्गीय देह पिघल कर जीवात्मा के साथ मेघमण्डल में गिरीहुई वृष्टिको (जुह्वति) हवन करतीहै (तस्याः) उस (आहुतेः) आहुति से (अन्नम्) यव, गोधूम. शाली आदि अन्न (संभवति)उत्पन्न होताहै ॥२॥

विशेषार्थ—उस प्रसिद्ध संवत्सरादिणक्षण समिधा आदि से युक्त इस पृथ्वी रूप अग्नि में संपूर्ण इन्द्रियाँ स्वर्गीय देह द्रवहोकर जीवात्मा के साथ मेघ मण्डल में जो वर्षा रूप धारण करता है उस वृष्टि को हवन करती हैं ! उस तीसरी आहुति से जौ, गेहूँ, चना, धान आदि अन्न होता है। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है।। **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः वृष्टिं जुह्वति । तस्या आहुत्या अन्नं सम्भवति ॥** (बृ० उ० ६।२।११) उस इस अग्नि में इन्द्रियगण वृष्टि को हवन करती हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥ इस प्रकार इस खण्ड में तिसरी आहुति का वर्णन किया गया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रपाठक का छठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्नि स्तस्य वागेव समित् । प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गारा श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

अन्वयार्थ—(गौतम) हे गौतम गोत्रोत्पन्न महर्षे (पुरुषः)पुरुष (वाव) ही (अग्निः) अग्नि है (तस्य) उस पुरुष रूप अग्नि की (वाक्) वाणी (एव) निश्चय करके (समित् समिधा है (प्राणः) प्राण (धूमः) पुरुष रूप अग्नि का धूम है (जिह्वा) जीभ (अर्चि) पुरुष रूप अग्नि की ज्वाला है (चक्षुः) नेत्र (अङ्गाराः) अङ्गारे हैं, चिनगारियाँ हैं ॥१॥

विशेषार्थ—जैवलि प्रवाहण राजा तृतीय आहुति का वर्णन करके अब चतुर्थ आहुति का वर्णन करता है कि—हे गौतम वंशोत्पन्न आरुणि

महर्षे पुरुष ही अग्नि है। पुरुष रूप अग्नि की वाणी ही समिधा है क्योंकि पुरुष वाणीसे ही देदीप्यमान होताहै। प्राणही पुरुषरूप अग्नि का धूम है। क्योंकि धूम के समान पुरुष से निकलता है और लोहित होने से जीभ पुरुष अग्नि की ज्वाला है तथा तैजस होने से नेत्र ही पुरुष रूप अग्नि के अङ्गारे हैं और श्रोत्र ही पुरुष रूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं। अन्यत्र भी लिखा है—**पुरुषो वाऽग्नि गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १२) हे गौतमगोत्रोत्पन्न पुरुषही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है। प्राण धूम है। वाणी ज्वाला है। नेत्र अङ्गारहैं और श्रोत्र चिनगारियाँ हैं ॥१२॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति । तस्या आहुते रेतः संभवति ॥२॥

॥ इति **पञ्चमप्रपाठके सप्तमखण्डः** ॥

अन्वयार्थ—(देवाः) समस्त इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध वागादि लक्षण समिधा से युक्त (एतस्मिन्) इस पुरुष (अग्नौ) अग्नि में (अन्नम्) अन्न को (जुह्वति हवन करती हैं (तस्याः) उस (आहुतेः) आहुति से (रेतः) पुरुष के वीर्य (संभवति) होता है ॥२॥

विशेषार्थ—उस प्रसिद्ध वागादि लक्षण समिधा से युक्त इस पुरुष रूप अग्नि में इन्द्रियाँ अन्न, भात, रोटी आदि को हवन करती हैं। उस चौथी आहुति से पुरुष का वीर्य होता है। अर्थात् पुरुष से भोजन किया हुआ अन्न पुरुष के वीर्य रूप से परिणाम हो जाता है। अन्न शब्द का निर्वचन लिखा है—**अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० २ श्रु० १) जोजीवन दशामें प्राणियों करके भक्षण कियाजाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में भक्षण करता है इससे वह अन्न कहाजाता है ॥१॥ और अन्यत्र भी लिखा है—**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः सम्भवति ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १२) उस इस पुरुषरूप अग्निमें इन्द्रियगण अन्नको होमते हैं। उस आहुति से पुरुषके वीर्य परिणत होता है ॥१२॥ इस प्रकार इस खण्ड में चौथी आहुति का वर्णन किया गया है। यहाँ

"छान्दोग्योपनिषद्"के पञ्चमप्रपाठकका सातवाँखण्ड समाप्त होगया।।२।।

।। अथाष्टमखण्डः ।।

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुप मंत्रयते स धूमो योनिरर्चि र्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ।।१।।

अ वयार्थ– (गौतम)हे गौतमंगोत्रोत्पन्न आरुणि महर्षे (योषा) स्त्री (वा) ही (अग्निः) आग है (तस्याः) उस स्त्री रूप आग के (उपस्थः) उपस्थेन्द्रिय (एव) निश्चय करके (समित्) समिधा है और (यत्) जो (उपमंत्रयते) पुरुष स्त्री के साथ अवाच्य कर्म के लिए सकेत करता है (सः) वह (धूमः) स्त्री रूप आग का धूम है (योनिः) योनि-उत्पत्तिस्थान (अर्चिः) स्त्री रूप आग की ज्वाला है तथा (यत्) जो (अन्तः) योनि के भीतर (करोति) अवाच्यकर्म करता है (ते) वे अङ्गाराः) स्त्री रूप आग के अङ्गारे हैं और (अभिनन्दाः) मैथुन कर्म से उत्पन्न जो सुख लव है वही (विस्फुलिङ्गाः) स्त्री रूप आग की चिनगारियाँ हैं ।।१।।

विशेषार्थ—पाञ्चाल प्रवाहण राजा चतुर्थ आहुति का वर्णन करके अब पञ्चम आहुति का वर्णन करता है कि—हे गौतम कुलोद्भव महर्षे स्त्रीही अग्निहै। उसस्त्री रूप अग्निका उपस्थही लकड़ीहै। क्योंकि स्त्री उपस्थ से ही देदीप्यमान होती है। और पुरुष जो स्त्री के साथ अवाच्य कर्मके लिये संकेत करताहै वही स्त्रीरूप अग्नि का धूम है तथा मूत्रेन्द्रिय ही स्त्री रूप अग्नि की ज्वाला है। और जो योनि के मध्य में भीतर की ओर अवाच्य कर्म करता है वह स्त्री रूप अग्निके अङ्गारे हैं। तथा मैथुन कर्म से उत्पन्न जो सुख लव है वही स्त्री रूप अग्नि की चिनगारियाँ हैं। और अन्यत्र भी लिखा है—**योषा वा अग्नि गौतम। तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिः। यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः। अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ।।** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १३) हे गौतमवंशोत्पन्न महर्षे स्त्री ही अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिधा है। लोमधूमहैं योनि ज्वाला है। और जो भीतर की ओर करताहै वह अङ्गार है। तथा मैथुन कर्मसे उत्पन्न जो सुखलव है वही चिनगारियाँहैं ।।१३।। स्त्रीके विषय में लिखा है— **स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुष स्मृतः।।** (महाभाष्य०) स्तन और केशवाली स्त्री कही गईहै और सर्वत्र रोवाँवाला

पुरुष कहा गया है ॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुते-र्गर्भः संभवति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठकेऽष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ – (देवाः) सब इन्द्रियाँ (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध उपस्थादि-लक्षण समिधा से युक्त (एतस्मिन्) इस स्त्रीरूप (अग्नौ) अग्नि में (रेतः) वीर्य को (जुह्वति) हवन करती हैं (तस्याः) उस (आहुतेः) आहुति से (गर्भ (गर्भ (संभवति) उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—उस प्रसिद्ध उपस्थादिलक्षण समिधा से युक्त इस स्त्री रूप आग में इन्द्रियगण वीर्य को हवन करते हैं। उस पाँचवीं आहुति से, वह रेत योनि द्वारा स्त्री के उदर में प्रवेश करके गर्भरूप से परिणाम हो जाता है। और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है – **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति। स जीवति याव-ज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥** (बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १३) उस इस स्त्री रूप अग्नि में इन्द्रियाँ वीर्य होमती हैं। उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। वह जीवित रहता है। जब तक कर्म शेष रहते हैं तब तक वह जीवित रहता है और जब वह मरता है ॥ १३ ॥ इस प्रकार इस खण्ड में पाँचवीं आहुति का वर्णन किया गया है। यह आहुति अपनी धर्मपत्नी रूप अग्नि में रात के समय ऋतु काल में करनी चाहिये। क्योंकि लिखा है—**ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते** ॥(प्रश्नो०प्र० १ श्रु० १३) जो गृहस्थ पुरुष रात में अपनी भार्या के सहवासरूपरति करके संयुक्त होते हैं वह निश्चय करके ब्रह्मचर्य है ॥ १३ ॥ **पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायाम्** ॥ (मुण्डको० मुं० २ खं० १ श्रु० ५) गृहस्थ पुरुष अपनी स्त्रीरूप अग्निमें वीर्यको सिञ्चन करताहै ॥५॥ **तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति** (ऐत० उ० अ० २ खं० १ श्रु० १) गृहस्थ पुरुषजब अपनी स्त्रीरूप अग्नि में उस वीर्य का सिंचन करता है ॥ १ ॥ जो गृहस्थ पुरुष ॥ **ऋतौ भार्यामुपेयात्** ॥(श्रुति) ऋतुकाल में अपनी स्त्री से सहवास करे॥ इस श्रुति के अनुसार अपनी स्त्री से सहवात करे। ऋतु के विषय में

लिखा है— **ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।** (मनु०अ० ३ श्लो० ४४) **तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी तथा । त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्तास्तत्र रात्रयः ॥४५॥ अमावस्याष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ ४७ ॥** स्त्रियों के प्रतिमास में स्वाभाविक सोलह रात ऋतु-काल कहा गया है ॥ ४४ ॥ रजो दर्शन से लेकर सोलह दिनों तक स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है। इनमें पहली चार रात्रियाँ और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रियाँ सर्वथा वर्जित हैं और शेष रात्रियाँ मैथुन कर्म में प्रशस्त हैं ॥ ४५ ॥ और शेष दस रात्रियों में पर्व एकादशी अमावस्या अष्टमी पौर्णमासी और चतुर्दशी तिथिको छोड़कर पत्नीकी रति कामना से जो स्नातक—गृहस्थ द्विज अपनी स्त्रीसे मैथुन करताहै वहगृहस्थाश्रम में रहता हुआ नित्य ब्रह्मचारी है ॥४७॥ **ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तःपञ्चविंशतिम् । यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥** (सुश्रुत० अ० १० श्लो० ४७) **जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः । तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ४७ ॥** सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में पचीस वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष जो गर्भ स्थापन करे तो वह कुक्षि में प्राप्त हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ जो उत्पन्न हो तो चिर काल तक न जीवे और जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो । इस कारण से अति बालयावस्था में गर्भ स्थापन न करे ॥ ४८ ॥ यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रपाठक का आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ नवमखण्डः ॥

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति । स उल्बावृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥१॥

अन्वयार्थ—(इति) इस उक्त प्रकार से (तु) निश्चय (पञ्चम्याम्) श्रद्धा १, सोम २, वृष्टि ३, अन्न ४, रेत ५ रूप आहुतियोंके मध्यमें वीर्य

रूप पाँचवी (आहुतौ) आहुति में (आपः) जल (पुरुषवचसः) पुरुषवाची (भवन्ति) हो जाते हैं (इति) इस प्रकार के पाँचवें प्रश्नका उत्तर समाप्त हो गया (सः) वह (उल्बावृतः) जरायु से वेष्टित (गर्भः) जल का पञ्चम परिणाम विशेष गर्भ (दश) दस (वा) अथवा नौ (मासान्) महीने (वा) या (यावत्) जब तक पूर्णाङ्ग नहीं होता तब तक (अन्तः) माता के उदर के भीतर (शयित्वा) शयन करके (अथ) अनन्तर फिर (जायते) उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ--इस उक्त प्रकार से निश्चय करके श्रद्धा १, सोम २, वृष्टि ३, अन्न ४ और रेत ५ रूप आहुतियों के मध्य में वीर्यरूप पाँचवीं आहुति के दिये जाने पर जल पुरुष शब्दवाची हो जाते है, इस प्रकार 'पाँचवीं आहुति में जल पुरुष वाचक कैसे हो जाता है' इस पाँचवें प्रश्न का उत्तर यहाँ समाप्त होगया। इस श्रुतिमें अन्तिम 'इति' शब्द पञ्चम प्रश्नके प्रतिवचन की समाप्ति का सूचक है। वह उल्बसे आवृतहुआ गर्भ दस या नौ महीने अथवा जब तक पूर्णाङ्ग नहीं होता तब तक माता की कुक्षि के भीतर ही निवास करके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है। जिस चर्म से वेष्टित होकर बालक माताके उदरमें रहताहै उसे उल्ब कहते हैं। और गर्भोपनिषद् में लिखा है— **ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः सम्पद्यते। मासत्रयेण पाद-प्रदेशो भवति। अथ चतुर्थे मासे गुल्फजठरकटिप्रदेशा भवन्ति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठे मासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्व-लक्षणसम्पूर्णो भवति।...अथ मात्राशितपीतनाडीसूत्रगतेन प्राण आप्यायते। अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरण सम्पूर्णो भवति। पूर्वजातिं स्मरति। शुभाशुभं च कर्म विन्दति॥** (गर्भोप० श्रु० ३)

ऋतुकाल में सम्यक् प्रकार से गर्भाधान होने पर एक रात्रि में शुक्र शोणित के संयोग से कलल बनता है। सात रात में बुद्बुद बनता है। एक पक्ष में उसका पिण्ड स्थूल आकार बनता है। वह एक मास में कठिन होता है। दो महीनों में वह सिर से युक्त होता है। तीन महीनों में पैर बनते हैं। पश्चात् चौथे महीने में गुल्फ यानी पैरकी घुठियाँ तथा

पेट और कटि प्रदेश तैयार हो जाते हैं। पाँचवें महीने में पीठ की रीढ़ तैयार होती है। छठवें महीने में मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र बनजाते हैं, सातवें महीने में जीव से संयुक्त हो जाता है। आठवें महीने में सब लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। पश्चात् माता का भोजन किया हुआ अन्न एवं पिया हुआ जल नाड़ियों के सूत्रों द्वारा पहुँचाया जाकर गर्भस्थ शिशु के प्राण को तृप्त करता है। तदनन्तर नवें महीनेमें वह ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। तब वह पूर्वजन्म को स्मरण करता है। तब उसके शुभ अशुभ कर्म सामने आ जाते हैं ॥ ३ ॥ **अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तो यंत्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति ॥** (गर्भो० श्रु० ४) इसके बाद वह योनिद्वार को प्राप्तहोकर योनिरूप यंत्रमे दबाया जाकर बड़े कष्टसे जन्म ग्रहणकरता है। बाहर निकलते ही वैष्णव वायु के स्पर्श से वह अपने पिछले जन्म और मृत्यु को भूल जाता है और शुभाशुभ कर्म भी उसके सामने से हट जाते हैं ॥ ४ ॥ इस प्रकार का वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

स जातो यावदायुषं जीवति। तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति। यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके नवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (जातः) उत्पन्न पुरुष (यावदायुषम्) पूर्व जन्मोपार्जित कर्म के अनुसार जितनी आयु स्थिर हुई है उतनी आयु पर्यन्त (जीवति) जीता रहता है, इसके बाद आयु के क्षय समय में (दिष्टम्) कर्मानुसार (प्रेतम्) परलोक को प्रस्थित हुए (तम्) उस जीव को (यतः) जिस द्युलोक पर्जन्य आदि अग्नि से (एव) निश्चय करके (इतः) यहाँ आया था और (यतः) जिस स्त्रीरूप अग्नि से (संभूतः) यहाँ उत्पन्न हुआ था (इतः) इस मरण स्थान से (अग्नये) उसी अग्नि के लिये (एव) निश्चय करके (हरन्ति) देवगण ले जाते हैं, तदनन्तर (भवति) फिर द्युलोक पर्जन्य पृथ्वी पुरुष और स्त्री में उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वह उत्पन्न पुरुष प्राक्तन जन्मोपार्जित कर्म के अनुसार जितनी आयु स्थिर हुई है उतनी आयुपर्यन्त जीवित रहता है।

तदनन्तर मरने पर कर्मवश परलोक को प्रस्थित हुई उस जीवात्मा को, जिस द्यु्लोक पर्जन्य आदिक अग्नि से यहाँ वह जीव आया था और जिस स्त्रीरूप अग्नि से उत्पन्न हुआ था उसी अग्नि के प्रति ही देवगण ले जाते हैं। तदनन्तर फिर वह जीव-द्यु्लोक, पर्जन्य पृथ्वी पुरुष और स्त्रीमें उत्पन्न होता है। इसप्रकार "घटीयंत्रकुण्डिका" न्यायसे आरोहण अवरोहण लक्षण भ्रमण सर्वदा जीव का होता है। इससे वैराग्य संपादन करना चाहिये। अन्यत्र लिखा है—**अथैनमग्नये हरन्ति। तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवति ॥** (बृ०उ०अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १४) जब मर जाता है तब उसे अग्नि के पास ले जाते हैं। उस आहुतिभूत पुरुष की अग्नि ही अग्नि होती है समिध् समिधा होती है धूम धूम होता है ज्वाला ज्वाला होती है अङ्गारे अङ्गार होते हैं और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं। उस इस अग्नि में देवगण पुरुष को होमते हैं। उस आहुति से पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥१४॥ यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रपाठक का नवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ दशमखण्डः ॥

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् ॥१॥

अन्वयार्थ—(ये) जो विद्वान (तत्) उस प्रत्यगात्मस्वरूप चित् तत्त्वको (इत्थम्) इसपूर्वोक्त प्रकारसे अर्थात पञ्चाग्निविद्या के अनुसार प्रकृति विनिर्मुक्त ब्रह्मात्मक (विदुः) जानते हैं (च) और (ये) जो (इमे) ये विरक्त (अरण्ये) वन में रह कर (श्रद्धा) सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक (तपः) परब्रह्म नारायण (इति) इनकी (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे मरने के वाद (अर्चिषम्) अर्चि अभिमानी देवता को (अभिसंवन्ति) प्राप्त होते हैं (अर्चिषः) अर्चि अभिमानी देवता से (अहः) दिवसाभिमानी देवताको प्राप्त होतेहैं (अह्नः) दिवसाभिमानी देवता से (आपूर्यमाणक्षात्

शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (आपूर्यमाणपक्षात्) शुक्लपक्षाभिमानीदेवता से (यान्) जिन (षट्) छः (मासान्) महीनों में (उदङ्) उत्तर की ओर (एति) सूर्य जाता है (तान्) उन छः महीनों को अर्थात् उतरायणाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—पाँचवें प्रश्न के उत्तर कहने के बाद अब पाञ्चाल प्रवाहण राजा 'देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों का किस प्रकार का भेद है' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर कहता है। जो विद्वान् प्राक् प्रस्तुत उस प्रत्यगात्मस्वरूप जीव तत्त्वको इस पूर्वोक्त प्रकारसे पञ्चाग्नि विद्या के अनुसार प्रकृति विनिर्मुक्त ब्रह्मात्मक अनुसंधान करतेहैं। और जो ये विरक्त वनमें रहकर श्रद्धापूर्वक परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं। इस श्रुति में 'तप' शब्द का सत्य अर्थ है। क्योंकि समान प्रकरण में लिखा है—**श्रद्धाम् सत्यम्** ॥(बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १५) इस श्रुति में 'तप' के स्थान में सत्य शब्द का प्रयोग हुआ है। और सत्य का अर्थ लिखा है - **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) सत्य यानी निरुपाधिकसत्तायोगी,ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार, अनन्त यानी देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ॥ १ ॥ इस श्रुति से स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'सत्य' शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। महाभारत के अनुशासनपर्व में लिखा है- **परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तप** ॥(विष्णुसह०श्लो०९) जो परब्रह्म नारायण परम महान् तेज है जो नारायण सबसे श्रेष्ठ महान् तप है ॥ ९ ॥ श्रद्धा के विषय में लिखा है— **त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु** ॥(गी० १७।२) प्राणियोंकी वह स्वभाव जन्य श्रद्धा सात्त्विकी राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है उसको तू सुन ॥ २ ॥ **श्रद्धा हि "स्वाभिमतं साधयति एतत्" इति विश्वास पूर्विका साधने त्वरा** ॥ (रामानुजभाष्य० गी० १७।२) अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसका नाम श्रद्धा है ॥२॥ **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः** ॥ (गी० १७।३)

हे भारत ! अन्तःकरण के अनुरूप सबकी श्रद्धा हुआ करती है। यह श्रद्धामय है जो जिस श्रद्धा वाला है वह वही होता है ॥ ३ ॥ **यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः । प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥** (गी० १७।४) सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसों को और तामस लोग प्रेतों और भूतों के समुदायों को पूजते हैं ॥ ४ ॥ वे पूर्वोक्त प्रकार से उस प्रत्यगात्मस्वरूप जीवात्मा को प्रकृति विनिर्मुक्त ब्रह्मात्मक अनुसंधान करनेवाले और वन में रहकर श्रद्धापूर्वक परब्रह्म नारायण की उपासना करने वाले उपासक गण प्राणप्रयाण के अनन्तर अर्चि अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। और अर्चि अभिमानी देवता से दिनाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। तथा दिनाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे उत्तरायणाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। मकर की संक्रान्ति से प्रारम्भ कर मिथुन की समाप्ति पर्यन्त जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर जाता है, उन्हीं माघ १, फाल्गुन २, चैत्र ३, वैशाख ४, ज्येष्ठ ५ और आषाढ़ ६ महीनोंको उत्तरायण कहते हैं। और अन्यत्र भी लिखा है—**ते य एवमेतद्विदुः ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति । अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षड्मासानुदङ्ङादित्य एति॥** (बृं०उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १५) वे जो इस प्रकार इसको जानते हैं तथा जो वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य की उपासना करते हैं वे ज्योति के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवता को, दिन के अभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को और शुक्लपक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहकर चलता है उन उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं ॥१५॥**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।** (गी० ८।२४) अग्निरूपज्योति दिन शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने उनमें गये हुए ब्रह्मवेता जन परब्रह्म नारायण को प्राप्त होते हैं ॥२४॥ प्रकृतश्रुति थोड़ा पाठभेदसे 'छां० उ० प्रपा० ४ खं० १५ श्रु०५'

में भी पठितहै। विद्यावारिधि भगवद्रामानुजाचार्य ने—**विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥** (शा० मी० ३।१।१७) **अनियमस्सर्वेषामविरोधश्शब्दानुमानाभ्याम् ॥**(शा०मी० ३।३।३२) **ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥** (शा० मी० ३।४।१७) **परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि।** (शा० मी० ३।४।१८)**अनुष्ठेयं बादरायणस्साम्यश्रुतेः ॥** (शा. मी. ३।४।१९) **अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥** (शा. मी. ३।४।२५)**अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॥** (शा० मी०) ४।३।१४) इन सात सूत्रों के श्री भाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के दसवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयति । एष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(मासेभ्यः) उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से (संवत्सरम्) संवत्सर अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (संवत्सरात्) संवत्सर अभिमानी देवता से (आदित्यम्) सूर्याभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (आदित्यात्) सूर्य अभिमानी देवता से (चन्द्रमसम्) चन्द्र अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (चन्द्रमसः)चन्द्र अभिमानी देवता से (विद्युतम्) विद्युत् अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं वहाँ (तत्पुरुषः) वैद्युत पुरुष (अमानवः) असंसारी है (सः) वह अमानव पुरुष (एनान्) इन पूर्वोक्त दो प्रकार के उपासकों को (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण की (गमयति) प्राप्ति करा देता है (इति) इस प्रकार के (एषः) यह (देवयानः) देवयान (पन्थाः) मार्ग है ॥२॥

विशेषार्थ - उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से वर्ष अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। और वर्ष अभिमानी देवता से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक वैद्युत पुरुष असंसारी है। वह अमानव पुरुष इन पूर्वोक्त दो प्रकारके उपासकों को परब्रह्म नारायण की प्राप्ति कराताहै। इस प्रकार का देवयान मार्ग है। इसी को अर्चिरादि मार्ग भी कहते हैं।

यह श्रुति थोड़ा पाठभेद से 'छान्दोग्योपनिषद्' के चौथे प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की पाँचवी और छठवीं श्रुति में भी पठित है। और अन्यत्र लिखा है— **मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥** (बृ. उ. अ. ६ ब्रा० २ श्रु० १५) उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से देवलोक को प्राप्त होतेहैं और देवलोक से आदित्य को तथा आदित्य से विद्युत् सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाताहै। वे उन ब्रह्मलोकों में अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहकर भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होतीहै ॥१५॥ **स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं सब्रह्मलोकम् ॥** (कौषीतकिब्राह्मणोप० अ० १ श्रु० ३) वह परब्रह्म का उपासक इस देवयान मार्ग पर पहुँचकर पहले अग्निलोक में आता है फिर वायुलोक में आता है, वहाँ से सूर्यलोक में आता है, तदनन्तर वरुणलोक में आता है, तत्पश्चात् वह इन्द्रलोक में आता है, इन्द्रलोक से प्रजापति लोक में आता है और प्रजापति लोक से परब्रह्म नारायण के लोक में आताहै ॥ ३ ॥ **अर्चिरहः सितपक्षानुदगयनाब्दौ च मारुतार्केन्दून् । अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनातिवाहिकानाहुः ॥** अर्चिः १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, सवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८ वैद्युतपुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र ११, प्रजापति १२ ये बारह आतिवाहिक हैं ऐसा सब वेद कहते हैं ॥ इस प्रकार के अभियुक्त संगृहीत देवयान मार्ग है ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति । धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) देवयान मार्ग कहने के अनन्तर अब पितृयान मार्ग का वर्णन प्रारम्भ होता है (ये) जो (इमे) ये पुरुष (ग्रामे) ग्राम में

रहतेहुए (इष्टापूर्ते ज्योतिष्टोमादियाग तथा वापीकूप तड़ागआदि और (दत्तम्) दान (इति) इति शब्द से उपवास आदिक कर्म (उपासते) प्रीति अनुराग और श्रद्धापूर्वक करते हैं (ते) वे इष्टापूर्तदानादिकर्म करने वाले (धूमम्) धूम अभिमानी देवता को (अभिसंभवन्ति प्राप्त होते हैं (धूमात्) धूम अभिमानी देवतासे (रात्रिम्) रात्रि अभिमानी दवताको प्राप्त होतेहैं (रात्रेः) रात्रि अभिमानी देवता से (अपरपक्षात्) कृष्णपक्ष अभिमानी देवता को (यान्) जिन (षट्) छः (मासान्) महीनों में (दक्षिणा) दक्षिण दिशा की ओर (एति) सूर्य जाता है (तान्) उन छः महीनों को अर्थात् दक्षिणायनाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं (एत, ये ग्राम में इष्टापूर्त और दानादि के उपासक (संवत्सरम्) वर्ष अभिमानी देवता को (न) नहीं (अभिप्राप्नुवन्ति) प्राप्त होते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—पाञ्चाल प्रवाहण राजा देवयान मार्ग को कहकर अब पितृयान मार्ग का वर्णन प्रारम्भ करता है कि—जो लोग गाँव में रहते हुए इष्ट यानी अग्निहोत्र आदिककर्म तथा पूर्तयानी वापीकूप निर्माणादि कर्म और दत्त यानी दान प्रभृति कर्म को अनुराग श्रद्धा और प्रीति से करते हैं। इष्ट और पूर्त के विषय में लिखा है—**अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥** (अत्रि संहिता० श्लोक ४३) अग्निहोत्र (१) तपस्या (२) सत्यभाषण (३) वेदोंका पालन (४)अतिथि सत्कार (५)तथा वैश्वदेवकर्म (६)इन सबों को इष्ट कहते हैं ॥४३॥**वापीकूपतड़ागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥** (अत्रि० सं० श्लोक ४४) वावड़ी (१) कूप (२) तालाब (३) देवमन्दिर निर्माण (४) अन्नदान (५)वगीचा लगाना (६) इन सबोंको पूर्त कहते हैं ॥४४॥**इष्टं पूर्तं प्रकर्तव्यं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः ॥४५॥ इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधनौ। अधिकारी भवेच्छूद्रः पूर्ते धर्मे न वैदिके ॥४६॥** इष्ट और पूर्त कर्म प्रयत्न करके ब्राह्मण अवश्य करे ॥४५॥ इष्टऔर पूर्तकर्म ब्राह्मणक्षत्रिय और वैश्य इन तीनों द्विजातियों के सामान्य धर्म साधन हैं। पूर्त कर्म में शूद्र भी अधिकारी होवे परन्तु वैदिककर्म में अधिकारी नहींहोवे ॥४६॥ और दान के विषय में लिखा है— **न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने। अन्यद्वा यत्प्रदीयेत तद्दानं प्रोच्यते मया ॥**(जावाल-

दर्शनोप० खं० २ श्रु० ७) श्लोक में पड़े हुए वेदज्ञ पुरुषों को जो न्यायोपार्जित धन अथवा अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाती हैं उसी को मैं दान कहता हूँ ॥७॥ **दानं न्यायार्जितधनस्य पात्रे प्रतिपादनम्** ॥(रामानुज भाष्य० गी०अ० १६ श्लोक १) न्यायोपार्जित धनको सत्पात्रके प्रति देने का नाम दानहै ॥१॥ वे इष्टापूर्त दानादिकर्म करनेवाले लोग प्राणप्रयाण के अनन्तर धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। धूमाभिमानी देवता से रात्रि अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। रात्रि अभिमानी देवता से कृष्णपक्षाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और कृष्णपक्षाभिमानी देवता से दक्षिणायनाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। कर्क की संक्रान्ति से प्रारम्भ करके धनु की समाप्ति पर्यन्त जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण की ओर जाता है उन्हीं सावन (१) भादो (२) क्वार (३) कार्तिक (४) अगहन (५) और पुस (६) महीनोंको दक्षिणयान कहते हैं। ये ग्राम में रहते हुए इष्टापूर्त और दानादि कर्म करने वाले संवत्सराभिमानी देवता को नहीं प्राप्त होते हैं और अन्यत्र भी लिखा है--

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति ॥ (बृ० उ०अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १६) और जो केवल यज्ञदान तपके द्वारा लोकों को जीतते हैं वे धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते है। धूमाभिमानी देवता से रात्रि अभिमानी देवता को तथा रात्रि अभिमानी देवतासे कृष्णपक्षाभिमानी देवता को और कृष्णपक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण की ओर होकर जाता है उन छः मासके अभिमानी देवताओंको प्राप्तहोते मैं ॥१६॥ **धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्रचान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते** ॥(गी० अ० ८ श्लोक २५) धूमरात्रि कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मास उसमें गया हुआ योगी चन्द्रमा सम्बन्धी ज्योति को प्राप्त होकर फिर लौट आता है ॥२५॥ देवयान पथप्रदर्शक भगवद्रामानुजाचार्य ॥ ने **विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्** ॥(शा० मी० ३।१।१७) के श्री भाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चप्रपाठक के दसवें खण्ड की तिसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥३॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम्। एष सोमो राजा । तद्देवानामन्नम् । तं देवा भक्षयन्ति ॥४॥

अन्वयार्थ—(मासेभ्यः) दक्षिणायन के महीनों के अभिमानी देवताओं से (पितृलोकम्)पितृलोक को प्राप्त होतेहैं (पितृलोकात्) पितृ लोक से (आकाशम्) आकाश को प्राप्त होते हैं (आकाशत्) आकाश से (चन्द्रमसम्) चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं (एषः) यह चन्द्रमाको प्राप्त करने वाला इष्टादिकारी (सोमः) सोमकी तरह (राजा) देदीप्यमान स्वर्गभोगयोग्यदिव्यदेह होताहै (तत्) वह स्वर्गभोगयोग्यदिव्यशरीर (देवानाम्) दवताओं के (अन्नम्) अन्न के समान उपकरण होता है (देवाः) आजान सिद्ध देवता लोग (तम्) उस देवभाव प्राप्त यज्ञादि कर्म करने वाले को (भक्षयन्ति, भक्षण करते हैं अर्थात् अपने कैंकर्य में पशु के समान लगाते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—दसवें खण्ड की पहली श्रुति से तीसरी श्रुति पर्यन्त देवयान और पितृयान के भेद 'संवत्सर' से है ऐसा कहकर अब जैवलि प्रवाहण राजा 'यहाँ से प्रजा कहाँ जाती है' इस पहले प्रश्न का उत्तर चौथी श्रुति के पूर्वार्ध से कहता है। दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवताओं से पितृलोक को प्राप्त होते है। पितृलोकके विषयमें लिखा है—**तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते** ॥ (अथर्व० कां० १८ सू० २ मं० ४८) ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्यादिकी किरणों से प्रखर प्रकाश वाला होने से प्रद्यौ कहलाता है, यहाँ पितरों का लोक है जिसमें पितर रहते हैं ॥ ४८ ॥ और पितृलोक से आकाशको प्राप्त होते हैं। तथा आकाश से चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यहाँ पहले प्रश्नका उत्तर समाप्त हो गया। और भी लिखा है—**ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति** ॥ (कौषीतकिब्राह्मणो०अ० १ श्रु० २) जो कोईभी अग्निहोत्रादि सत्कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले लोग हैं वे सब ही जब इसलोक से प्रयास करते हैं तो चन्द्रमाको ही प्राप्त होते हैं ॥२॥ यह चन्द्रमा को प्राप्त करने वाला इष्टादिकारी पुरुष सोम के समान स्वर्गभोगयोग्यदिव्यदेह से युक्त हो जाता है। वह स्वर्गभोगयोग्यदिव्य

शरीर देवताओं के अन्न के समान उपकरण होता है। आजानसिद्ध देवतालोग उस देवभाव प्राप्त अग्निहोत्रादि सत्कर्म करनेवालेको भक्षण करते हैं अर्थात् अपने कैंकर्य में पशु के समान नियुक्त करते हैं। पितर मनुष्य से अलग हैं क्योंकि लिखा है—**अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिः॥** (शतपथब्रा० २।४।२।३)पितर अपसव्य हो वाईं जाँघ झुकाकर बैठे, प्रजापति ने कहा महीने महीने यज्ञ तुम्हारा स्वधायुक्त भोजन का अन्न मन के समान वेग और चन्द्रमा ज्योति होगी ॥२॥ **पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्॥** (शतप० २।४।२८।२) पूर्वाह्ण देवताओं का तथा दोपहर मनुष्योंका और तीसरा पहर पितरों के भोजन का है॥ २ ॥ **तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः॥** (शतप० २।३।६।२) मनुष्यों से पितर अन्तर्हित रहते हैं ॥२॥ **ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोक लोकानामानन्दः॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ८) जो देवगन्धर्वों के सैकड़ों आनन्द हैं वह चिरलोक वासी पितरों का एक आनन्द है॥ ८ ॥ **ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे॥** (अथर्ववे० कां० १८ सू० २ मं० ३४)जो गाड़ गये जो जल में छोड़ दिये गये जो जला दिये गये और जो स्वर्ग में चले गये हे अग्नि! उन सबको हवि भोजन करने के लिये पितृकर्म में बुलाओ ॥ ३४ ॥**यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्। नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान्॥** (मनु० अ० १ श्लोक० ३७) यक्ष राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, गरुड़ और पितृगणों को भी अलग अलग उत्पन्न किया ॥३७॥**भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म बलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम्॥** (सुश्रुत सूत्रस्थान० ११) यह भूतविद्या आठ प्रकार के आयुर्वेद के विभाग में से चौथी है, इससे देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग और ग्रह आदि करके व्याप्त चित्त वाले पुरुषों को शान्ति के लिये शान्ति कर्म बलि देना आदिक कर्मों को

भूतविद्या कहते हैं ॥११॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट यहसिद्ध होता है कि सब से पृथक् पितृगण हैं। देवयोनि के विषय में पहले मैं लिख चुका हूँ इससे यहाँ नहीं लिखता हूँ, और प्रकृत विषय में अन्यत्र लिखा है— **मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताँस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति ॥** (बृ०उ०अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १६) दक्षिणायनके छः महीनों के देवताओं से पितृलोक को और पितृलोकसे चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। चन्द्रमा को पाकर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ जैसे यज्ञ में ऋत्विक्गण देदीप्यमान सोमलता को बढ़ते घटते रहो ऐसा कहकर पी जाते है वैसे ही उनकोभी देवगण भक्षणकर जातेहैं। ॥१६॥ इसप्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥ ४ ॥

तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वा। अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्। आकाशमाकाशाद्वायुम्। वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥५॥

अन्वयार्थ—(तस्मिन्) वहाँ उस चन्द्रलोक में (यावत्) जब तक (सम्पातम्) फलप्रदान प्रवृतकर्मों का क्षय नहीं हुआ है तब तक (उषित्वा रह कर (अथ) अनन्तर (एव) निश्चय करके (एतम्) इसी (अध्वानम्) धूमादि मार्ग के प्रति (यथा) जिस प्रकार (इतम्) वे इष्ट पूर्त आदिक करने वाले गये थे उसी प्रकार (पुनः) फिर (निवर्तन्ते) लौटते हैं (आकाशम्) जैसे आरोहणमें आकाशसे चन्द्रमा को अग्निहोत्रादि कर्म करने वाले प्राप्त होते हैं वैसे ही अवरोहण में वे पहले आकाश को प्राप्त होते हैं और (आकाशात्) आकाश से (वायुम्) वायु को प्राप्त होते हैं (वायुः) वायु (भूत्वा) होकर (धूमः) धूम (भवति) वे होतेहैं और (धूमः) धूम (भूत्वा) होकर (अभ्रम्) जलधारणावस्था पर्जन्य (भवति) होते हैं ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—अग्निहोत्र आदिक सत्कर्म करने वाले धूम मार्गसे चन्द्र लोक में जाकर जबतक फल प्रदान प्रवृत कर्मों का नाश नहीं हुआ है तब तक वहाँ निवास कर। प्रपन्न-पारिजात भगवद्रामानुजाचार्य ने **कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवंच ॥** (शा०मी० ३।१।८)

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ (शा०मी० ४।१।१७) इन दोनों सूत्रों के श्री भाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के दसवें खण्ड की पाँचवीं श्रुति के 'यावत्सम्पातमुषित्वा' इस खण्ड को उद्धृत किया है। कर्मियों के गन्तव्यस्थान चन्द्रमा को बतला कर पाञ्चाल प्रवाहण राजा 'वहाँसे पुनः कैसे जीवात्मालौट आतीहै' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर पाँचवीं श्रुतिके 'अथ' इसपद से प्रारम्भ करताहै। अनन्तर जिस धूम१, रात्रि२, कृष्णपक्ष ३, दक्षिणायनषण्मास ४, पितृलोक ५, आकाश ६, रूप आरोहण मार्गसे अग्निहोत्रादि सत्कर्म करनेवालाने चन्द्रमाको प्राप्तकिया, फिर अवरोहण मार्ग से ही वे वहाँ से लौट आते है। अर्थात् जिस प्रकार वे चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार वे फिर लौटते हैं। जैसे आरोहण में आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं वैसे ही अवरोहण में वे पहले चन्द्रमा से आकाश को प्राप्त होते हैं। अब अवरोहण में जो विशेषता है उसको कहते हैं। आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं। और वायु होकर वे धूम होते हैं तथा धूम होकर वे जलधारणावस्था पर्जन्य होते हैं। अन्यत्र लिखा है—**तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति॥** (बृ० उ० अ० ब्रा० २ श्रु० १६) जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वे इस आकाश को ही प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को, वायुसे वृष्टिको और वृष्टि से पृथ्वी को प्राप्त होते हैं। पृथ्वी को प्राप्त होकर वे अन्न हो जाते हैं ॥१६॥ यतिशेखर भगवद्रामानुजाचार्य ने **कृतात्ययेऽनुशयावान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥** (शा०मी० ३।१।८) **तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥** (शा०मी० ३।१।२२) **अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥** (शा० मी० ४।२।१९) इनतीनों सूत्रोंके श्रीभाष्यमें 'छान्दोग्योपनिषद्'के पञ्चम प्रपाठक के दसवें खण्ड की पाँचवीं श्रुतिके 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इत्यादि वाक्य को उद्धृत किया है ॥ ५ ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते । अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् । यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ -(अभ्रम्) जलधारणावस्था पर्जन्य (भूत्वा) होकर (मेघ:) वर्षोन्मुखावस्था मेघ (भवति) होता है (मेघ:) वर्षोन्मुखावस्था मेघ संश्लिष्ट (भूत्वा) होकर (प्रवर्षति) वर्षा की धारा रूप से भूमि में बरसता है (ते) तब वे वर्ष संश्लिष्टभूत सूक्ष्म परिष्वक्त जीव (इह) इस लोक में (व्रीहियवा:) धान और यव (ओषधिवनस्पतय:) ओषधि और वनस्पति (तिलमाषा:) तिल और उड़द (इति) इत्यादि रूपसे (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं संश्लेषमात्र से वै) निश्चय करके (अत:) इस स्थावरादि भाव से (खलु) निश्चय (दुर्निष्प्रपतरम्) निष्क्रमण अत्यन्त कष्टप्रद है अर्थात् स्थावरादि भाव से अति चिरकाल द्वारा निर्गमन होता है (हि) क्योंकि (य:) जो (य:) जो व्रीह्यादिसंश्लिष्ट उपजता हुआ वह जीव (अन्नम्) अन्न को भक्षण करता है (य:) जो (रेत:) स्त्री में वीर्य का (सिञ्चति) सिञ्चन करता है वह पुरुष (भूय:) फिर पश्चात् (तत्) उस वीर्यसिग्भाव को (एव) ही (भवति) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—वहजल धारणावस्था अभ्र होकर वर्षोन्मुखावस्था मेघ होता है और वर्षोन्मुखावस्था मेघ संश्लिष्ट होकर वर्षा की धारा रूप से पृथ्वी में गिरता है यानी बरसता है। प्रपन्न चातकाम्बुद भगवद्रामानुजाचार्य ने **तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥** (शा० मी० ३।१।२२) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के दसवें खण्ड की छठवीं श्रुतिके 'अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' इनवाक्यों को उद्धृत कियाहै। वे वर्षसंश्लिष्ट भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तजीव इस भूलोकमें संश्लेषमात्र से धान, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि रूप से उत्पन्न होते हैं। यहाँ जीवान्तराधिष्ठित व्रीह्यादिक में संश्लेषमात्र प्रतिपादन किया गया है। स्थावरभाव—प्रतिपत्ति नहीं कही गयी है। औषधि और वनस्पति के विषय में लिखा है— **ओषध्यः फलपुष्पान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥**(मनु० अ० १ श्लो० ४६) **अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ॥ ४७ ॥** जो बहुत फूल फल से युक्त हों और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे ही धनिया आदिक ओषधि हैं ॥ ४६ ॥ जिसमें फूल न लगे और फलों से युक्त हों वे ही गूलर आदिक वनस्पति हैं ॥४७॥ संसारभोगिसंदष्टजीवजीवातु भगवद्रामानुजाचार्य ने **अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥** (शा०मी० ३।१।२४) के श्रीभाष्य में

"छान्दोग्योपनिषद्', पञ्चमप्रपाठक के दसवें खण्ड की छठवीं श्रुति के "मेघोभूत्वाप्रवर्षति त इह व्रीहियवाओषधिवनस्पतयस्तिलमाषाजायन्ते" इनवाक्यों को उद्धृत कियाहै। इस स्थावरादिभावसे निकलनानिश्चय ही अत्यन्त कठिन है अर्थात् इस स्वथावरादिभाव से अतिचिरकाल द्वारा निर्गमन होता है। 'दुर्निष्प्रपतरम्" यहाँ एक "त" का लोप हो गया है दुर+निष्+पत×तरम्। यहाँ तीन उपसर्ग हैं तब "पत" है और इसके बाद "तरप्' प्रत्यय होकर "दुर्निष्प्रपततरम्" होना चाहिए तो छान्दस तकार का लोप होने से "दुर्निष्प्रपतरम् है और दुःख से निकलना इसका अर्थ है। भव जलनिधि पोत भगवद्रामानुजाचार्य ने **नातिचिरेण विशेषात् ॥** शा० मी० ३।१।२३ ॥ के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के दसवें खण्ड की छठवीं श्रुति के "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है। निश्चय करके जो व्रीहि आदिक से संश्लिष्ट उत्पन्न होता हुआ वह जीव अन्न को भोजन करता है और जो स्त्री में वीर्य को सिंचन करता है वह पुरुष फिर पश्चात् उस बीर्यसिग्भाव को ही प्राप्त होता है। अर्थात् तद्रूप ही हो जाताहै। और अन्यत्र लिखा है—**ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते ते लोकान् प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥** (बृ०उ०अ० ६ ब्रा २ श्रु० १६) फिर वे पुरुष रूप अग्नि में हवन किये जाते हैं। उससे वे लोक के प्रति उत्थान करने वाले होकर स्त्री रूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं। वे इसी प्रकार पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं और जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते वे कीट पतङ्ग और डँस मच्छर आदि होते हैं॥ १६॥ फणिराज भगवद्रामानुजाचार्य ने **रेतस्सिग्योगोऽथ ॥** (शा०मी० ३।१।२६) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के दसवें खण्ड की छठवीं श्रुति के **"यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति"** इस वाक्य को उद्धृत किया है॥ ६॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते

कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ--(तत्) उन धान जौ आदिक में संश्लिष्ट जीवोंमें (ये) जो जीव (इह) परलोक से इस लोक में (अभ्याशः) आने वाले (ह) प्रसिद्ध (यत्) जब (रमणीयचरणाः) भुक्तशिष्टपरिपक्वसुकृतकर्मयुक्त होते हैं तब (ते) वे जीव (रमणीयाम्) उत्तम सुन्दर (योनिम्) योनिको (आपद्येरन्) प्राप्त होते हैं किस सुन्दर योनि को प्राप्त होते हैं वह आगे कहा जाता है (ब्राह्मणयोनिम्) ब्राह्मणयोनि को (वा) अथवा (क्षत्रिययोनिम्) क्षत्रिययोनि को (वा) अथवा (वैश्ययोनिम्) वैश्ययोनिको(वा) ही प्राप्त होते हैं (अथ) और (ये) जो जीव (इह) परलोक से इस लोक में (अभ्याशः) आनेवाले (ह) प्रसिद्ध (यत्) जब (कपूयचरणाः) भुक्तशिष्टपरिपक्वकुत्सितकर्मयुक्त होते हैं तब (ते) वेजीव (कपूयाम्) कुत्सित निन्दित (योनिम्) योनि को (आपद्येरन्) प्राप्त होते हैं किस निन्दित योनि को प्राप्त होते हैं वह आगे कहा जाता है (श्वयोनिम्) कूकरयोनि को (वा) अथवा (शूकरयोनिम्) शूकरयोनि को (वा) अथवा (चण्डालयोनिम्) चाण्डालयोनि को (वा) ही प्राप्त होते हैं ॥

विशेषार्थ—उन अनुशयी जीवों में जीव परलोक से इस भूलोक में आनेवाले सुप्रसिद्ध जब भुक्तशिष्टपरिपक्व सुकृत कर्म युक्त होते हैं तब वे जीव उत्तम सुन्दरयोनि को प्राप्त होते हैं। इस श्रुति में "अभ्याशः" का पर्याय "अभ्यागन्तारः" है। क्योंकि "अभि+आङ्" पूर्वक "अश" धातु से "क्वीप्" प्रत्यय होकर बहुवचनान्त "अभ्याशः" पद निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ यह होता है कि—भलीभाँति आने वाले। किस उत्तम सुन्दर योनि को प्राप्त होते हैं सो साक्षात्करुणामयी श्रुति ही कहती है कि— वे ब्राह्मण योनि या क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि को प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण के विषय में लिखा है—**अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥** (मनु०अ० १ श्लो० ८८) पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, ये छः कर्म ब्राह्मणों के बनाये ॥ ८८ ॥ **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥** (गी० अ० १८ श्लोक ४२) बाहरी इन्द्रियों का नियमन करना १ अन्तः-

करण का नियमन करना २, भोगोंका नियमनरूप शास्त्रसिद्ध शारीरिक क्लेश करना ३, शास्त्रीय कार्य सम्पादन की योग्यता करना ४, दूसरोंके द्वारा पीड़ित होने पर भी चित्तमें विकार नहीं करना ५, दूसरोंके सामने मनके अनुरूप ही बाहरी चेष्टा प्रकट करना ६, इसलोक और परलोकके यथार्थ स्वरूप को समझना ७, परमतत्त्व के विषय में असाधारण विशेष ज्ञान प्राप्त करना ८ और सम्पूर्ण वैदिक सिद्धान्त की सत्यता का उत्तम निश्चय करना ९ ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥ क्षत्रिय के विषय में लिखा है— **प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ८९) प्रजाओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयों में नहीं फँसना ये संक्षेप से क्षत्रियों के कर्म बनाये ॥ ८९ ॥ **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्** (गी० १८।४३) युद्ध में निर्भयता के साथ प्रवेश करने का सामर्थ्य १, दूसरों से नहीं दबना २, आरम्भ किये हुए कर्म में विघ्न उपस्थित होने पर भी उसे पूर्ण करने का सामर्थ्य रखना ३,समस्त क्रियाओंका संपादन करने का सामर्थ्य ४, युद्ध में नहीं भागने का स्वभाव ५, अपने द्रव्य को दूसरे की सम्पत्ति बना देने तक का त्याग ६ और अपने से अतिरिक्त समस्त जन समुदाय को नियमन करने का सामर्थ्य ७ ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥ वैश्य के विषय में लिखा है— **पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ९०) पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना ये वैश्यों के कर्म बनाये ॥ ९० ॥ **कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥**(गी० १८।४४) अन्नादि उत्पन्न करने के लिये पृथ्वी का कर्षण करना १, पशुओं का पालन करना २ और धनसंचय के हेतुभूत क्रय विक्रयादिरूप कर्म करना ३ ये तीनों वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४४॥ अब प्रकृत विषय कहा जाता है । और जो जीव परलोक से इस भूलोक में आने वाले सुप्रसिद्ध जब भुक्तशिष्टपरिपक्व कुत्सितकर्म युक्त होते हैं तब वे जीव कुत्सित निन्दित योनि को प्राप्त होते हैं । किस

कुत्सित निन्दित योनिको प्राप्त होते हैं ? वह स्वयं परमकरुणामयी श्रुति ही कहती है कि वे कुत्ते की योनि या सूकरयोनि अथवा चाण्डाल योनि को प्राप्त करते हैं। चाण्डाल के विषय में लिखा है—**शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्। वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥** (मनु० १०।१२) शूद्र से वैश्या स्त्री में आयोगव तथा शूद्र से क्षत्रिया स्त्री में क्षत्ता और शूद्र से ब्राह्मणी स्त्रीमें मनुष्यों में नीच चाण्डाल ये वर्ण—संकर उत्पन्न होते हैं॥ १२॥

चण्डालश्वपाचनां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः। अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्॥ (मनु० ११५१) **वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्। काष्र्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः॥५२॥ न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन्। व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥५३॥ अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने। रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च॥ ५४॥ दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः। अबान्धवं चैव शवं निर्हरेयुरिति स्थितिः॥५५॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया। वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च॥५६॥** चाण्डाल तथा श्वपचों का निवास गाँव से बाहर हो ओर ये पात्र रहित करने योग्य हैं और इनका धन कुत्ते, गदहे हैं॥५१॥ और कपड़े इनके मुर्दे का वस्त्र हैं तथा फूटे टूटे पात्र में भोजन और काले लोहे का कड़ा आदि इनके गहने हैं तथा रोज घूमना इनका काम है॥ ५२॥ धर्म करने के समय पुरुष चाण्डालादिक के साथ व्यवहार न करे और इनके व्यवहार तथा विवाह बराबर जातिवालों के साथ आपस में हो॥ ५॥ इनका अन्न पराये अधीन करना चाहिये और फूटे टूटे पात्र में इनको खाने पीने को देना चाहिये और वे सब रात में गाँव या शहर में न घूमें॥ ५४॥ दिन में गाँव या शहर में काम के लिए राजा की आज्ञा से चिह्नित होकर घूमें और जिसका कोई मालिक न हो ऐसे मुर्दों को गाँव से ले जाय, यह शास्त्रकी मर्यादा है॥ ५५॥ और मारने योग्य जो है उसको शास्त्र की आज्ञा से शूली आदि पर चढ़ाकर सर्वदा राजा की आज्ञा से मारे और उनके कपड़े शय्या तथा गहना आदि को ले लेवे॥ ५६॥

वैदिक सार्वभौम भगवद्रामानुजाचार्य ने **अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात्॥** (शा० मी० ३।१।२४)**कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेव च** (शा० मी० ३।१।७) **चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः** (शा०मी० ३।१।१९) इनतीनों सूत्रोंके श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्'के पञ्चम प्रपाठक के दसवें खण्ड की सातवीं श्रुतिको उद्धृत किया है ।।७।।

अथैतयोः पथो र्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते । तस्माज्जुगुप्सेत। तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) द्वितीय प्रश्न के उत्तर कहने के अनन्तर अब चौथे प्रश्न का उत्तर प्रारम्भ किया जाता है (एतयोः) इन दौनो (पथोः) देवयान और पितृयान मार्गों में से (कतरेणचन) किसी एक मार्ग से भी (न) नहीं विद्याकर्मरहितजीव जाते हैं (तानि) वे (इमानि) ये (क्षुद्राणि) अत्यन्त लघु (भूतानि) प्राणी डंस मच्छर कीटादिक (असकृदावर्तीनि) बारम्बार आने जाने वाले (भवन्ति) होते हैं (जायस्व) पुनः पुनः उत्पन्न होवो (म्रियस्व) बारम्बार मरो (इति) यही (एतत्) उन पापकर्म करने वालों का (तृतीयम्) तृतीय (स्थानम्) स्थान है (तेन) उस तृतीयस्थान शब्दित पाप कर्मियों से (असौ) यह (लोकः) द्युलोक (न) नहीं (संपूर्यते) प्राप्त होता है या भरता है। संसारियों की गतिउक्त रीतिसे अत्यन्त कष्टप्रद है। अतः (तस्मात्) इस संसार से (जुगुप्सेत) घृणा करे (तत्) उस पञ्चाग्नि विद्याके स्वरूप ज्ञान के फल के विषय में (एषः) यह आगे कहे जाने वाले (श्लोकः) श्लोकरूप मंत्र प्रमाण है ।। ८ ।।

विशेषार्थ—दूसरे प्रश्न का उत्तर कहने के बाद जैवलि प्रवाहण राजा ने "यह द्युलोक क्यों नहीं भर जाता है" इस चौथे प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया कि—पहले जो देवयान और पितृयान मार्ग कहे गये हैं इन दोनो मार्गों में से किसी भी मार्ग द्वारा विद्याकर्मरहितजीव नहीं जाते हैं। क्योंकि मार्गद्वयप्राप्तिहेतुभूतविद्या और कर्म हैं। वे ये क्षुद्र

दंश मसक कीटादिक प्राणी बारम्बार आने जाने वाले होते हैं। 'बारंबार उत्पन्न होओ' और 'बारंबार मरो' इस प्रकार के द्युलोक और ब्रह्मलोक की अपेक्षा से यह क्षुद्रजन्तुओं के जननादिलक्षणस्थान के तृतीय होने से तथा उस स्थान के सम्बन्ध से पापकर्म करने वाले तृतीय स्थान शब्द से कहे जाते हैं। वे पापकर्म करने वाले क्षुद्र जन्तु यहाँ ही पुनः पुनः जन्म मरण लिया करते हैं परलोक को नहीं प्राप्त करते हैं। इस कारण से द्युलोक नहीं भरता है। संसारियों की गति पूर्वोक्त प्रकार से अत्यन्त दुःखप्रद है। अतः संसारसे घृणा करनी चाहिये। अर्थात् संसार महोदधि में मेरा पतन न हो जाय ऐसा इस को निन्दित समझे। उस मुक्ति फलक पञ्चाग्निविद्या के स्वरूपज्ञान के फल के विषय में यह आगे कहे जाने वाले श्लोक रूप मंत्र प्रमाण है। यहाँ सर्वदा इस बात को याद रखना चाहिये कि जो प्रश्न कड़ा होता है उसी का उत्तर पहले दिया जाता है। इससे सबसे पहले पाँचवें प्रश्न का उत्तर राजा ने दिया है। तदनन्तर तीसरे प्रश्न का उत्तर देकर शेष पहले तथा दूसरे और चौथे प्रश्नों का क्रम से उत्तर प्रवाहण राजा ने दिया है प्रश्नोत्तरप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने **न तृतीये तथोपलब्धेः ॥** (शा० मी० ३।१।१८) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चमप्रपाठक के दसवें खण्ड की आठवीं श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ८ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति ॥९॥

अन्वयार्थ—(हिरण्यस्य) सोने का (स्तेनः) चोरी करने वाला (सुराम्) मद्य को पिबन्) पीने वाला (च) और (गुरोः) गुरु की (तल्पम्) खाट पर (आवसन्) गुरुपत्नी के साथ सहवास करने वाला (च) और (ब्रह्महा) ब्रह्महत्यारा (एते) ये (चत्वारः) चारों (च) और (पञ्चमः) पाँचवाँ (तैः) उनचारों के साथ (आचरन्)विद्यायोनि सम्बन्ध करने वाला भी (पतन्ति) पतित हो जाते हैं (इति) इस प्रकार का श्लोक रूप मंत्र है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ—सुवर्ण चुराने वाला १, मद्य पीनेवला २, गुरुस्त्रीगामी ३, ब्रह्महत्यारा ४, ये चारो और पाँचवाँ इन चारों के साथ विद्या या

योनि सम्बन्ध करने वाला ये पाँचों पतित हो जाते हैं। और लिखा है—**ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥**(मनु० अ० ११ श्लोक ५४) सुवर्णचोरी १ सुरा पान२ गुरुस्त्री गमन३ ब्रह्महत्या४ ये चार तथा इन चारों के साथ संसर्ग ५ ये पाँचों महापातक कहलाते हैं ॥५४॥ और मद्य के विषय में लिखा है—**न सुरां पिबेत्** (श्रु०) मदिरा को न पीये ॥ **गौड़ी पैष्ठी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधासुरा। यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥** (मनु० अ० ११ श्लोक ९४) गौड़ी, पैष्ठी और माध्वी ये तीन प्रकारकी सुराएँ होती हैं। सब ही तुल्य हैं। इससे द्विजोत्तमों को मद्य पीना उचित नहीं है ॥५४॥ गुरु के विषय में लिखा है—**आचार्यो वेदसपन्नो विष्णु-भक्तो विमत्सरः। योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः॥ गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः। एवं लक्षणसपन्नो गुरुरित्य-भिधियते ॥ गुशब्दस्त्वन्धकारःस्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकार निरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥**(अद्वयतारकोपनि०)जो शास्त्रानुसार आचरण करता हो और वेद पढ़ा हो तथा विष्णुका भक्त हो और मत्सर रहित हो तथा योग को जानने वाला हो और योगनिष्ठ हो तथा सर्वदा योगात्मक हो और पवित्र हो। तथा अपने गुरु का भक्त हो और पुरुषको विशेष रूप से जानने वाला हो तो इन लक्षणों से युक्त को गुरु कहते हैं। और गु कहते हैं अंधकार को तथा रु कहते हैं प्रकाश को तो जो अविद्या रूपी अन्धकार को ज्ञान रूपी सदुपदेश के प्रकाश से दूर करता है उसको गुरु कहते हैं—**शास्त्राञ्जनेन योऽज्ञानतिमिरं विनिपातयेत्। शास्त्रं पापहरं पुण्यं पवित्रं भोगमोक्षदम्। शान्तिदं च सहार्थं च वक्ति यः स जगद्गुरुः** (जयाख्यसंहि०पटल० १ श्लोक६५) जो शास्त्ररूप अञ्जन से अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करता है। और पाप को हरनेवाला तथा भोग और मोक्ष की देने वाला, अत्यन्त पवित्र शास्त्रको तथा शान्ति देने वाले महान् अर्थ को जो पुरुष कहता है वही जगत् का गुरु है ॥ ६५ ॥ **प्रोत्तारयति वै सम्यगुपकारेण वै विना। कृपया परयाविष्टो यो विद्वान् स गुरुः स्मृतः॥** (पौष्करसंहि०अ० १ श्लोक २८)परम करुणा

से युक्त जो विद्वान् उपकार के बिना निश्चय करके भलीभाँति संसार सागरसे उद्धार करता है वही गुरु कहागया है ॥२८॥ **प्रपित्सुमंत्रनिरतं प्राज्ञं हितपरं शुचिम । प्रशान्तं नियतं वृत्तौ भजेद्द्विजवरं गुरुम् ॥** (भारद्वाज संहि० अ० १ श्लोक ३८) प्रपत्ति की इच्छा करनेवाला प्राणी मन्त्रार्थ में सदा निरत और मन्त्र के गूढ़ अर्थों का अभिज्ञ, शिष्यों के हित की कामनावाला अशुद्धियों से रहित, पवित्र रहनेवाला, इन्द्रियोंको अपने वश में रखनेवाला शान्त स्वभावयुक्त विहित आचार आदिक बृत्तियों में नियत और ब्राह्मण कुलोत्पन्न गुरु की सेवा करे ॥३८॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ (मनु अ० २ श्लोक १४२) जो वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्र के नियमानुसार गर्भाधानादि संस्कार कर्मोंको करता है और अन्न आदिक से बालक को बढ़ाता है उस पिता को ही गुरु कहते हैं ॥१४२॥

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः । सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ (शारदा तिल०अ० २ श्लोक १४२) **परोपकार निरतो जपपूजादितत्परः । अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः ॥१४३॥ योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः । इत्यादिगुणसंपन्नो गुरुरागमसम्मतः ॥१४४॥** शुद्ध माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न हो तथा शुद्ध भाव वाला जितेन्द्रिय हो और संपूर्ण आगमों के सार को जानने वाला हो तथा समस्त शास्त्रों के अर्थ के तत्त्व को जाननेवाला हो ॥१४२॥ और परोपकार में निरत हो तथा जप पूजा आदिक में तत्पर हो और व्यर्थ भाषण करनेवाला न हो तथा शान्त हो और वेदवेदार्थ का पारगामी हो ॥१४३॥ और योगमार्ग का अनुसंधान करनेवाला हो तथा नारायण देव को हृदय में प्राप्त करने वाला हो तो पूर्वोक्त गुणों से युक्त आगम संमत गुरु कहा जाता है ॥१४४॥ इस प्रकार के गुरु का लक्षण संक्षेप में वर्णन किया गया है ॥६॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥१०॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यः) जो पुरुष (ह) प्रसिद्ध (एतान्) इन (पञ्च) पाँच (अग्नीन्) द्युलोक आदि अग्नियोंको (एवम्)इसप्रकार(वेद) जानता है वह पुरुष (तैः) उन पूर्वोक्त महापापियोंके (सह) साथ (आचरन्) विद्या आदि के द्वारा सम्बन्ध करता हुआ (अपि) भी (पाप्मना) पूर्वोत्तर अघ से (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता है। वह ज्ञानी पुरुष (शुद्ध) शुद्ध (पूतः) पवित्र और (पुण्यलोकः) पुण्यलोकभागी (भवति) होता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है ॥ १० ॥

विशेषार्थ—जो उपासक पुरुष प्रसिद्ध इन द्युलोक १ पर्जन्य २, पृथ्वी ३,पुरुष ४ और स्त्री ५ रूपपाँच अग्नियोंको इसप्रकार का यथार्थ जानता है। वह ज्ञानी पुरुष पूर्वोक्त सोना चुराने वाले १, मद्य पीनेवाले २, गुरुपत्नी गमन करनेवाले ३, ब्रह्महत्या करनेवाले ४ और इन चारों के साथ विद्या या योनि सम्बन्ध करने वाले ५ इन पाँच महापापियों के साथ निवासादि संसर्गकरता हुआ भी पूर्वोत्तरपापशून्य होजाता है।अर्थात् उस ज्ञानी पुरुष को संसर्गजनित दोष नहीं लगता है। वह उपासक शुद्ध, पवित्र और पुण्यलोक का भागी होता है जो ऐसा जानता है। इस श्रुति में 'य एवं वेद' इस वाक्य का दो बार उच्चारण प्रश्न प्रतिवचन और खण्ड की समाप्ति का सूचन करता हुआ उस उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। यहाँ छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ १० ॥

॥ अथैकादशखण्डः ॥

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसां चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(औपमन्यवः) उपमन्यु के पुत्र (प्राचीनशालः) प्राचीनशाल नाम वाला महर्षि (पौलुषिः) पुलुष के पुत्र (सत्ययज्ञः) सत्ययज्ञ नाम वाला महर्षि (भाल्लवेयः) भाल्लवि के पुत्र (इन्द्रद्युम्नः) इन्द्रद्युम्न

नामवाला महर्षि (शार्कराक्ष्य:) शर्कराक्ष के पुत्र (जन:) जन नाम वाला महर्षि (आश्वतराश्वि:) अश्वतराश्व के पुत्र (बुडिल:) बुडिल नामवाला महर्षि (ते) वे पांच (ह) प्रसिद्ध (एते) ये महर्षि (महाशाला:) गृहस्थ होने से विस्तीर्णशालासम्पन्न (महाश्रोत्रिया:) अत्यन्त श्रुताध्ययन सम्पन्न महा श्रोत्रिय (समेत्य) एक स्थान में इकट्ठे होकर (न:) हमलोगों के (क:) कि स्वरूप (आत्मा) अन्तर्यामी रूप से आत्मभूत (ब्रह्म) परब्रह्म (किम्) क्या है (इति) इस प्रकार के (मीमांसाम्) परस्पर विचार को (चक्रु:) करने लगे ॥ १ ॥

विशेषार्थ—यहाँ वैश्वानर विद्या की स्तुति के लिये ऋषियों के सम्वादरूप आख्यायिका को स्वत: श्रुति कहती हैं—प्रसिद्ध है कि उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल नाम वाला १, और पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ नाम वाला २ तथा भाल्लविका पुत्र इन्द्रद्युम्न नामवाला ३ और शर्कराक्षका पुत्र जन नाम वाला ४ तथा अश्वतराश्व का पुत्र बुडिच नामबाला ५ ये पाँचों महर्षि गृहस्थ होने से विस्तीर्णशालासम्पन्न और श्रुताध्ययनसम्पन्न महाश्रोत्रिय परम प्रसिद्ध थे । श्रोत्रिय का लक्षण लिखा है— **एकशाखां सकल्पाञ्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च । षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥** (देवल०) **जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारै द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥** व्याकरण १, शिक्षा २, कल्प ३, छन्द ४, निरुक्त ५ और जौतिष् ६ इन अङ्गों के साथ केवल एक अपने वेद की शाखा को पढ़कर जो वेदपाठी धर्मवेत्ता ब्राह्मण अध्ययन १, अध्यापन २, यजन ३, याजन ४, दान ५, प्रतिग्रह ६, इन छः कर्मों में निरत रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं। शुद्ध ब्राह्मण से शुद्ध ब्राह्मणी पत्नी में जन्म होने से ब्राह्मण कहा जाता है और यज्ञोपवीत आदिक संस्कारों से द्विज कहा जाता है तथा विद्या से विप्रत्वकोप्राप्त करताहै औरपूर्वोक्त तीनोंसे श्रोत्रिय कहाजाता है। अर्थात् जिसका शुद्ध ब्राह्मण जातिमें जन्महो तथा उपनयन आदिकसंस्कार हुआ हो और विद्याध्ययन कियाहो उसकोश्रोत्रिय कहतेहैं। वेपूर्वोक्त पाँचमहर्षि एक समय एक स्थानमें एकत्रित होकर परस्पर विचार करनेलगे कि–हम सब जीवात्माओं के अन्तर्यामी रूपसे आत्मभूत उपास्य परब्रह्म नारायण कौन हैं ? और ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है—**अथ हैतेऽरुणे औपवेशौ समाजग्मुः सत्ययज्ञः पौलुषिर्महाशालो जाबालो बुडिल आश्वतराश्वि-**

रिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यस्ते ह वैश्वानरे समासत तेषां ह वैश्वानरे न समियाय ॥ (शतप० प्रपा० १० अ० ६ ब्रा० १) एक समय पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ १, जबालाका पुत्र महाशाल २, अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल ३, भाल्लवि का पुत्र इन्द्रद्युम्न४, शर्कराक्ष का पुत्र जन५ ये पाँचों मिलकर उपवेश के पुत्र अरुण नामवाले ऋषि के निकट आये और सब कोई मिलकर वैश्वानर सम्बन्धी विज्ञान के विचार के लिये बैठे परन्तु उनमें से कोई भी इस वैश्वानर विज्ञान के निर्णय करने में समर्थ नहीं हुए ॥ १ ॥ पदवाक्यप्रमाणज्ञ भगवद्रामानुजाचार्य ने **वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् ॥** (शा०मी० १।२।२५) **भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥** (शा०मी० ३।३।५५) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

ते ह संपादयाञ्चक्रुः । उद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (ते) वे पूर्वोक्त पाँचों महर्षि मीमांसा करने पर भी जीवात्माओंके आत्मभूत परब्रह्मको जब निश्चयप्राप्त न कर सके तब (संपादयाञ्चक्रुः) वे लोग आत्मभूत ब्रह्म के उपदेष्टा वक्ष्यमाण महर्षि को निश्चय किये कि (अयम्) यह (आरुणिः) अरुण ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक नामका ऋषि (वै) निश्चय करके (सम्प्रति) इस समय (इमम्) इस (वैश्वानरम्) वैश्वानर नामधारी (आत्मानम्)जीवात्माओं के आत्मभूत परब्रह्म को (अध्येति) स्मरण करता है या उपासना करता है इससे (भगवन्तः) हे भगवन् माननीय मित्रो (हन्त) अब (तम्) उस उद्दालक ऋषि के (अभ्यागच्छामः) निकट हमलोग चलें (इति) ऐसा निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस उद्दालक ऋषि के पास (अभ्याजग्मुः) वे पाँचों महर्षि शास्त्र विधि के अनुसार आगये ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अत्यन्त विचार करने पर भी वे सुप्रसिद्ध प्राचीनशाल १, सत्ययज्ञ २, इन्द्रद्युम्न ३, जन ४ और बुडिल ५ नामके पाँचों महर्षि जीवात्माओं के अन्तर्यामी रूपसे आत्मभूत परब्रह्म को जब निश्चय पता

नहीं पा सके तब उन सबों ने मिलकर निश्चय किया कि—यह अरुण ऋषि का पुत्र उद्दालक ऋषि निश्चय करके आजकल अच्छी तरह से इस वैश्वानर नामधारी जीवात्माओं के आत्मभूत परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं। अतः हे भगवन् पूजनीय मित्रो ! अब उनके निकट ही हमलोग चलें। इस प्रकार निश्चय करके वे पाँचों महर्षि शास्त्रानुसार समिधा, पुष्प, फल आदिक भेंट हाथ में लेकर सुप्रसिद्ध उस उद्दालक महर्षि के समीप आ गये। क्योंकि लिखा है—**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** ॥ (मु०उ०मुं० १ खं० २ श्रु० १२) उस परब्रह्म नारायण को जानने के लिये वेद-वेदान्त को भलीभाँति जानने वाले और ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाले गुरु की निश्चय करके शरण में समिधा आदि हाथ में लिए हुए विनयपूर्वक जाय ॥१२॥ और भी लिखा है— **आचार्यवान् पुरुषो वेद** ॥ (छां० उ० ६।१४।२) आचार्य वाला पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ॥ २ ॥ मीमांसा मार्तण्ड भगवद्रामानुजाचार्य ने **वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्** ॥ (शा० मी० १।२।२५)**भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति** ॥(शा० मी० ३।३।५५) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चम प्रपाठकके ग्यारहवें खण्डकी दूसरी श्रुतिको उद्धृत किया है ॥२॥

स ह संपादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रिया स्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥३॥

विशेषार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) उस उद्दालक ऋषि ने (इति) यह (संपादयाञ्चकार) निश्चयकिया कि (इमे) ये प्राचीनशाल आदिक पाँच महर्षि (महाशालाः) गृहस्थ होने से महाशालासम्पन्न (महाश्रोत्रियाः) अत्यन्तश्रुताध्ययनसम्पन्न परम श्रोत्रिय (माम्) मुझसे (प्रक्ष्यन्ति) वैश्वानर आत्माविषयक प्रश्न पूछेंगे परन्तु (तेभ्यः) उन प्राचीनशाल आदि महर्षियों के लिये (सर्वम्) सब (इव) प्रकार से सब प्रश्नों का उत्तर कहने के लिये (न) नहीं (प्रतिपत्स्ये) समर्थ होऊँगा इस कारण से (हन्त) इस समय (अहम्) मैं (अन्यम्) अन्य वैश्वानर विद्या के विशेषज्ञ उपदेष्टा को (अभ्यनुशासानि) बतला दूँ ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—उस सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने अपने घरपर आये हुए प्राचीनशाल आदि पाँचों महर्षियों को देखकर अपने मन में यह निश्चय किया कि—ये विस्तीर्णशाला संपन्न और अत्यन्तश्रुताध्यायनसंपन्न वेदपाठी ब्राह्मण मुझसे वैश्वानर आत्माविषयकप्रश्न करेंगे। किंतु मैंइन्हें पुरी तरह से सब प्रश्नों का उत्तर नहीं बतला सकूँगा इस कारणसे इन्हें दूसरे वैश्वानरविद्या को विशेष जानने वाले आचार्य को बतलाऊं, यही उचित है ।।३।।

तान् होवाच । अश्वपति वैं भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रती ममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेति । तं हाभ्याजग्मुः ।।४।।

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (तान्) उन प्राचीनशाल आदिक महर्षियों से (उवाच) उद्दालक महर्षि ने कहा कि (भगवन्तः) हे पूजनीय महर्षियों (अयम्) यह (कैकेयः) केकय के पुत्र (अश्वपतिः) अश्वपति नाम के महाराज (वै) निश्चय करके (संप्रति) इस समय (वैश्वानरम्) वैश्वानरसंज्ञक (आत्मानम्) जीवात्माओं के आत्मभूत परब्रह्म नारायण को (अध्येति) स्मरण करता है या अच्छी तरह उपासना करता है। इसलिये (हन्त) अब (तम्) उस अश्वपति महाराज के (अभ्यागच्छामः) निकट हम सब चलें (इति) ऐसा निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस अश्वपति महाराजके समीप (अभ्याजग्मुः) उद्दालकमहर्षि के साथ वे प्राचीनशाल आदिक पाँचों महर्षि आ गये ।।४।।

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि ने घर पर आये हुए उन सुप्रसिद्ध जिज्ञासु प्राचीनशाल आदिक महर्षियों से कहा कि—है पूजनीय मित्रो इस समय केकय का पुत्र अश्वपति महाराज इस वैश्वानर नाम वाले जीवात्माओं के आत्मभूत परब्रह्म नारायण को अच्छी तरह जानते हैं। आइये हम लोग उन्हीं के पास चलें। ऐसा निश्चय करके वे उद्दालक १ प्राचीनशाल २ सत्ययज्ञ ३ इन्द्रद्युम्न ४ जन ५ और बुडिल ६ नाम के छः महर्षि उस सुप्रसिद्ध अश्वपति महाराज के निकट चले आये। और ऐसा ही लिखा है—**ते होचुः । अश्वपति र्वा अयं कैकेयः सम्प्रति**

वैश्वानरं वेदतं गच्छामेति ते हाश्वपतिं कैकेयमाजग्मुस्तेभ्यो ह पृथगावसथान्पृथगपचिताः पृथक्सहस्रान्त्सोमान् प्रोवाच ते ह प्रातरसंविदाना एव समित्पाणयः प्रतिचक्रमिर उप त्वायामेति ।। (शतप० १० ६।१।२) सत्ययज्ञादि जिज्ञासु जब वैश्वानर आत्मा को परस्पर स्थित न कर सके तब बोले कि – यह केकय का पुत्र अश्वपति राजा आजकल वैश्वानर को जानता है। उसके निकट हमलोग चलें। यह विचार कर वे छः महर्षि केकय के पुत्र अश्वपति महाराज के निकट आये। उनको राजाने पृथक् पृथक् निवास स्थानदिया तथा अलग अलग पूजा करवाई और कहा कि जब मैं सोम याग करूँगा तब आपलोगों के लिये एक एक हजार गोदान दूँगा। वे ऋषि लोग राजा से अपने आशय को न प्रकट करके ही समिधा हाथ में लिये हुए अध्ययनार्थ राजा के निकट आ बोले कि हमलोग आपके समीप वैश्वानर विज्ञानार्थ आये हुए हैं ।।२।। तर्कपञ्चानन भगवद्रामानुजाचार्यने **वैश्वानरस्साधारणशब्द-विशेषात् ।।** (शा०मी० १।२।२५) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठकके ग्यारहवें खण्ड की चौथी श्रुतिको उद्धृत किया है ।।४।।

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार। स ह प्रातः संजिहान उवाच। न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ।।५।।

अन्वयार्थ – (ह) प्रसिद्ध (प्राप्तेभ्यः) अपने पास आये हुये (तेभ्यः) उन उद्दालक आदि महर्षियों का (पृथक्) अगल अलग (अर्हाणि) सत्कार पूजा (कारयाञ्चकार) अश्वपति महाराज ने भृत्य और पुरोहित आदि से करवाई (ह) प्रसिद्ध (सः) उस महाराजने (प्रातः) दूसरे दिन प्रातःकाल (संजिहानः) उठते हुए अपने भवन से निकल कर अभ्यागत महर्षियों के समीप आकर (उवाच) जिज्ञासु महर्षियों से कहा कि

(भगवन्तः) हे परम पूजनीय महर्षियों (मे) मेरे (जनपदे) देश में (न) नहीं (स्तेनः) चोर हैं और (न) नहीं (कदर्यः) दानशून्यकृपण हैं (न) नहीं (मद्यपः) मद्य पीने वाला है (न) नहीं (अनाहिताग्निः) योग्यता रहनेपर कोई अनग्निहोत्री है और (न) नहीं (अविद्वान्) वेदाध्ययनादि शून्य त्रैवर्णिक हैं (न) नहीं (स्वैरी) परस्त्रीगामीहै तो (स्वैरिणी) व्यभिचारिणी स्त्री (कुतः) कहाँ से हो सकती है (वै) निश्चय करके (अहम्) मैं स्वल्पकाल में यक्ष्यमाणः) यज्ञ करने वाला (अस्मि) हूँ। उस याग में (एकैकस्मै) एक एक (ऋत्विजे) ऋत्विक् के लिये (यावत्) जितना (धनम्) धन (दास्यामि) दूँगा (तावत्) उतना धन (भगवद्भ्यः) पूजा करने योग्य आपलोगों में से प्रत्येक को (दास्यामि) मैं दूँगा अतः (भगवन्तः) पूजनीय आपलोग (वसन्तु) कृपया मेरे घर पर निवास करें (इति) यह मेरी प्रार्थना है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—अपने पास आये हुए उन प्राचीनशाल आदि छः महर्षियों का अश्वपति महाराजने अलग अलग सत्कार पूजा भृत्य और पुरोहित आदिक से कराया। दूसरे दिन प्रातःकाल उठते ही अपने राज भवन से निकल कर अभ्यागत महर्षियों के समीप आकर विनय-पूर्वक अश्वपति राजा ने कहा कि—हे परम पूजनीय महर्षिगण मेरे राज्य में नतो कोई चोरही है तथा न अदाता, मद्यप अनाहिताग्नि वेदाध्ययनादि शून्यत्रैवर्णिक अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही है। जब व्यभिचारी पुरुष नहींहै तो व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कहाँ से हो सकती हैं। स्वैरिणी के विषय में लिखा है— **पतिं त्यक्त्वा तु या नारी गृहादन्यत्र गच्छति । अन्येषु रमते नित्यं स्वैरिणी सा निगद्यते** ॥ जो स्त्री अपने पति को त्यागकर घरसे अन्यत्र चली जातीहै और अन्यपुरुषमें नित्य रमण करती है उसे स्वैरिणी कहतेहैं॥ हे पूजनीय महर्षियो निश्चयकरके थोड़े दिनों में मैं एक यज्ञ करनेवाला हूँ। उस यज्ञमें मैं एक एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा उतना धन पूजनीय आपलोगों में से प्रत्येक को प्रदान करूँगा। आपलोग कृपया यहाँ निवास करें। यह मेरी प्रार्थना है। यहाँ औपचारिक महर्षियों के लिये 'भगवन्तः' पद का प्रयोग अश्वपति ने किया है। इस श्रुति से ब्रह्मवेत्ताओं को भी प्रतिषिद्ध परिहरणीयता और विहित कर्म कर्तव्यता का प्रतिपादन किया गया है। अन्यत्र भी लिखा है— **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः** ॥ (गी० ३।२०) ज्ञानियों में

अग्रगण्य जनकादि राजर्षिगण भी कर्म के आचरण से ही मुक्ति को प्राप्त हुए ।।२०।। **इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः ।।** (विष्णु पु०अं० ६ अ० ६ श्लोक १२) ज्ञानव्यपाश्रय उस ब्रह्मवेत्ता जनक राजाने भी बहुत यज्ञों को किया ।।१२।। नित्य कर्मकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने **वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् ।।** (शा० मी० १।२।२५) **आचार-दर्शनात् ।।** (शा०मी० ३।४।३ इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की पाँचवीं श्रुति को उद्धृत किया है ।।५।।

ते होचुः । येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तं हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ।।६।।

अन्वयार्थ– (ह) प्रसिद्ध (ते) वे उद्दालक प्रभृति महर्षि लोग ऊचुः) अश्वपति राजा से बोले (ह) प्रसिद्ध (येन) जिस (अर्थेन) प्रयोजन से (एव) निश्चय करके (पुरुषः) कोई पुरुष (चरेत्) किसी के निकट जाय तो (एव, निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तम्) उसी प्रयोजन को (वदेत्) उससे कहे (संप्रति) इस समय (इमम्) इस (वैश्वानरम्) वैश्वानर नाम-धारी (आत्मानम्) परमात्मा को (एव) ही (अध्येषि) आप अच्छी तरह से स्मरण करते हैं (तम्) उसी वैश्वानर आत्मा को (एव) निश्चय करके (नः) हमलोगों से (ब्रूहि) आप उपदेश देवें (इति) यह हमलोगों की प्रार्थना है ।। ६ ।।

विशेषार्थ - प्रसिद्ध वे उद्दालक १, प्राचीनशाल २, सत्ययज्ञ ३, इन्द्रद्युम्न ४, जन ५ और बुडिल ६ नामके छः महर्षि सुप्रसिद्ध अश्वपति राजा से बोले कि– हे सम्राट् जिस प्रयोजन के लिए जिसके निकट कोई पुरुष जाय तो उसी प्रयोजन को उससे कहे । इससमय आपइस वैश्वानर आत्मा की उपासना भलीभाँति करते हैं। अतः उसीका आप हमलोगों के प्रति वर्णन कीजिये । यही सविनय हम सबों की प्रार्थना है । समस्त मनुष्यों को जो प्राप्तकरे अथवा संपूर्ण नर जिसको प्राप्त करते हैं उसको वैश्वानर कहते हैं। योगकल्पतरु भगवद्रामानुजाचार्य ने **वैश्वानरस्साधारण-शब्दविशेषात् ।।** (शा०मी० १।२।२५) **स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति।।** (शा०मी० १।२।२६) इन दोनों सूत्रोंके श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की छठवीं श्रुति के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है ।। ६ ।।

तान्होवाच प्रात र्वः प्रतिवक्तास्मीति । ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे । तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥७॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके एकादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तान्) उन आये हुए प्राचीनशाल आदि महर्षियों से (ह) प्रसिद्ध अश्वपति सम्राट् ने (उवाच) कहा कि—(प्रातः) प्रातःकाल (वः) आपलोगों को (प्रतिवक्तास्मि) प्रत्युत्तर दूँगा (इति) इस वचन को सुन कर (ह) प्रसिद्ध (ते) अश्वपति के अभिप्राय जानने वाले वे छः प्राचीनशाल आदि महर्षि (समित्पाणयः) समिधाओं को हाथ में लेकर (पूर्वाह्णे) दूसरे दिन पूर्वाह्ण समय में (प्रतिचक्रमिरे) अश्वपति राजा के निकट शिष्यभाव से गये (ह) प्रसिद्ध राजा भी (तान्) समिधा हाथ में लिये हुए अभिमानरहित उन महर्षियों को देख कर (अनुपनीय) समीप में समिधा आदि भेंट नहीं स्वीकार करके (अर्थात शिष्यभाव न करके (एव) ही मैत्रीभावसे (एतत्) यह वक्ष्यमाण वचन (उवाच) बोला ॥७॥

विशेषार्थ—वैश्वानर आत्मा की जिज्ञासा करने वाले प्राचीनशाल आदि उन छः महर्षियों से सुप्रसिद्ध अश्वपति महाराज ने कहा कि प्रातःकाल आपलोगोंके प्रश्नका उत्तर मैं दूँगा । इसबात को सुनकर महर्षियों ने विचार की कि श्रुति का आदेश है ॥ **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** (मुण्ड० उ० मु० १ खं० २ श्रु १२) परब्रह्म को जानने के लिये वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि लिये हुए वेदवेत्ता ब्रह्मविचारमें मग्न गुरुकी शरण जाय ॥१२॥ तो इसके अनुसार ही आपलोगों को करना चाहिये । दूसरे दिन पूर्वाह्ण समय में समिधा आदि हाथ में लिये हुए उद्दालक आदि छः महर्षि अश्वपति महाराज के पास शिष्यभाव से गये । और कहे कि—हे महाराज वैश्वानर आत्मा को जानने के लिये श्रीमान् की सन्निधिमें शिष्यभाव से हमलोग उपस्थित हैं । इस विनीत वचन को सुन कर और जात्यादि अभिमानरहित समिधा आदि हाथ में लिये हुए महर्षियों को देख कर परम विवेकी सम्राट समझ गया कि ये पूर्ण विद्या के अधिकारी महर्षि हैं । और साथ ही यह विचार किया कि ब्राह्मण को शिष्य करना क्षत्रियादिक का शास्त्र संमतधर्म नहीं है । इससे महर्षियोंकी समिधा आदि भेंटको राजाने नहीं ग्रहण किया । विना शिष्य किये हुए मित्रता भाव से महर्षियों के

लिये आगे के खण्ड में कहे जानेवाले उपदेश को अश्वपति महाराज ने किया। और अन्यत्र लिखा है—**स होवाच। यन्नु भगवन्तोऽनूचाना अनूचानपुत्राः किमिदमिति ते होचु वैश्वानरं ह भगवान्सम्प्रति वेद तं नोब्रूहीति स होवाच सम्प्रति खलु त्वा अहं वैश्वानरं वेदाभ्याधत्त समिध उपेताः स्थेति ॥**(शतप०१०।६।१।३) वह अश्वपतिराजा बोला कि हे महामान्यो आपलोग स्वयं साङ्गवेद के पढ़ने वाले अनूचान और अनूचान के पुत्र हैं तब फिर यह क्या है उन महर्षियोंने कहाकि यह सब बात ठीक है परन्तु वैश्वानर के यथार्थ ज्ञाता आजतक आप ही हैं वही विज्ञान हमलोगों को देवें। फिर राजा ने कहा कि हाँ ये बात ठीक है कि मैं वैश्वानर को जानता हूँ। आपलोग समिधाएँ लावें ॥३॥ समिधा के विषय में लिखा है—**नाङ्गुष्ठादधिकाग्राह्य समित्स्थूलतया क्वचित्। न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥** (गोभिलस्मृ० प्रपाठ० १ श्लोक ११४) **प्रादेशान्नाधिका न्यूना न सशाखा विशाखिका। न सपर्णा ननिर्वीर्या होमेषु च विजानता ॥११५॥ प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्तितम्। एवं विधाभिरेवेह समिद्भिः सर्वकर्मसु ॥११६॥** अंगूठे से अधिक मोटी समिधा कभी भी नहीं ग्रहण करनी चाहिये बिना छिलके की तथा कीट से युक्त और फारी हुई समिधा भी यज्ञ में नहीं ग्रहण करनी चाहिए ॥११४॥ एक बीतासे अधिक या कम समिधा नहीं हवन में ग्रहण करनी चाहिए। होम की विधि को जानने वाले शाखा और पत्र से युक्त तथा छिलकारहित और जिसमें डाल न निकली हो तथा बिना वीर्य की समिधाको होम में ग्रहण नहीं करतेहैं ॥११५॥ इन्धन की लकड़ी का प्रमाण दो बीता शास्त्र में कहा गया है। पूर्वोक्त प्रकार की समिधा से ही यहाँ सब कर्मों में हवन का विधान है ॥११६॥ **पलाशफल्गुन्यग्रोधाःप्लक्षाश्वत्थविकङ्कता। उदुम्बरस्तथा बिल्वश्चन्दनो यज्ञियाश्च ये ॥ सरलो देवदारुश्च शालश्च खदिरस्तथा। समिदर्थे प्रशस्ताः स्युरेते वृक्षा विशेषतः ॥ ग्राह्याः कण्टकिनश्चैवं यज्ञिया एव केचन। पूजिताः समिदर्थेषु पितॄणां वचनं यथा ॥** (वायु पुराण) पलाश १, फल्गु २, वट ३, पाकड़ ४, पीपल ५, स्रुवावृक्ष ६, गूलर ७,

श्रीफल ८, चन्दन ९ और जो यज्ञिय वृक्ष हैं। तथा सरल १०, देवदारु ११, शाल १२, खैर १३ ये वृक्ष समिधा के लिये विशेष रूप से प्रशस्त हैं। और भी यज्ञ में ग्रहण करने योग्य जो काँटे वाले सुन्दर वृक्ष हैं वे समिधाके लिये श्रेष्ठहैं ऐसा पितरोंका वचन है।। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चमप्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।। ७ ।।

।। अथ द्वादशखण्डः ।।

औपमन्यव ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति । दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच । एष वैसुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ।। १ ।।

अन्वयार्थ—अश्वपति राजा प्रथम पूछते हैं कि (औपमन्यव) हे उपमन्युके पुत्र प्राचीनशाल महर्षे (त्वम्) तुम (कम्) किस(आत्मानम्) आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (इति) इस वचन को सुनकर (भगवः) हे पूजनीय (राजन्) महाराज (एव) निश्चय करके (दिवम्) द्युलोक शरीरक वैश्वानर आत्मा की उपासना मैं करता हूँ (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध प्राचीनशाल महर्षि ने (उवाच) उत्तर दिया तब फिर अश्वपति राजा ने कहा कि (त्वम्) तुम (यम्) जिस द्युलोकावच्छिन्न (आत्मानम्) वैश्वानर आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (वै) निश्चय करके (एषः) यह (वैश्वानरः) वैश्वानर (आत्मा) परमात्मा (सुतेजाः) शोभन सूर्य चन्द्र आदि तेज सम्पन्न होने से सुतेजा नाम से प्रसिद्ध है (तस्मात्) इसी कारण से (तव) तुम्हारे (कुले) कुल में (सुतम्) एकाह अग्निष्टोम में कण्डित सोमलताद्रव्य तथा (प्रसुतम्) अहीन में प्रकृष्ट रसयुक्त सोमरस और (आसुतम्) सत्र में सब प्रकार से प्रस्तुत सोमरस (दृश्यते) दीख पड़ते हैं ।।१।।

विशेषार्थ—अश्वपति राजा ने यह विचार किया कि ये छः महर्षि वैश्वानर आत्मा के विषय में कुछ जानते हैं और कुछ नहीं भी जानते इससे मैं प्रत्येक से पूछकर ही उपदेश करूँ यह निश्चय करके सम्राट् पूछता है कि—हे उपमन्युके पुत्र प्राचीनशाल महर्षे ! आप किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं। इस बात को सुनकर प्राचीनशाल महर्षि

उत्तर देते हैं कि– हे पूजनीय भगवन् महाराज ! द्युलोक शरीरक वैश्वानर परमात्मा की मैं निश्चय करके उपासना करता हूँ। इस प्रकार का प्राचीनशाल के उत्तर को सुनकर फिर अश्वपति राजाने कहा कि— आप जिस द्युलोक शारीरिक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करते हैं निश्चय करके यह वैश्वानर आत्मा सुन्दर सूर्य चन्द्र आदिक तेजसेयुक्त होने से सुतेजा नाम से प्रसिद्ध है। इसी कारण से आप के कुल में सुत यानी एकाह अग्निष्टोम में अच्छी तरह से बनाया हुआ सोमलता के रस तथा प्रसुत यानी अहीन में प्रकृष्टरससंयुक्त सोमरस और आसुत यानी सत्र में सब प्रकार से प्रस्तुत सोमरस दिखायी देते हैं। और अन्यत्र लिखा है—**अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्यम्। सायवस कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति दिवमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वा प्रतिष्ठा वैश्वानर एतं हि वै त्वं प्रतिष्ठां वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वं समानानतितिष्ठसि यो वा एतं प्रतिष्ठां वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति मूर्धा त्वा एष वैश्वानरस्य मूर्धात्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इति मूर्धा तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति॥** (शतपथ० १०।६।१।६) अब अश्वपति राजा शर्कराक्ष के पुत्र जन नामवाले ऋषिसे पूछता है कि—हे सायवस जन महर्षे ! आप किसको वैश्वानर समझते हैं। इस बात को सुनकर जन ऋषि ने कहा कि—हे राजन् ! द्युलोक को ही मैं वैश्वानर समझता हूँ। फिर राजाने कहा, हाँ, ठीक है यह प्रतिष्ठा वैश्वानर है जिस हेतु आप इस प्रतिष्ठा वैश्वानर को जानते हैं, इस हेतु आपने ज्ञानियोंको अतिक्रमण करके वर्तमान हैं जो इसप्रतिष्ठा वैश्वानर को जानता है वह मृत्यु की जय और पूर्ण आयु को पाता है। परन्तु यह द्युलोक वैश्वानर की मूर्धा है आपका शिर गिर जाता यदि आप मेरे निकट नहीं आते। अथवा वैश्वानर की मूर्धा आपको 'नहीं मालूम होती यदि आप मेरे निकट नहीं आते ॥ ६ ॥ सांख्यशिरोमणि भगवद्रामानुजाचार्य ने **स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥** (शा० मी० १।२।२६) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के बारहवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं

भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते । मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके द्वादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अन्नम्) द्युलोक शरीरक वैश्वानर आत्मा की उपासना के वैभव से लौकिक भोग्य वस्तु को (अत्सि) तुम भोगते हो और (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यसि) तुम देखते हो (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकारके (एतम्) इस तेरे उपास्य (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) आत्मा की (उपास्ते) उपासना करता है वह भी (अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु को (अत्ति) भोगता है तथा (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यति) देखता है और (अस्य) इस उपासक के (कुले) कुल में (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्म तेज वाला सन्तान (भवति) प्राप्त होता है (तु) परन्तु (एषः) तेरे द्वारा वैश्वानरबुद्धि से उपास्यमान यह द्युलोक (आत्मनः) वैश्वानर परमात्मा के (मूर्धा) अवयवभूत शिर है (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध सम्राट् ने (उवाच) कहा और (इति) यह भी कहा कि (यत्) यदि वैश्वानर आत्मा के निर्णय के लिये (माम्) मेरे निकट (न) नहीं (आगमिष्य) तुम आते तो विपरीत विद्या के वश से (ते) तेरा (मूर्धा) मस्तक (व्यपतिष्यत्) निश्चय गिर जाता ॥ २ ॥

विशेषार्थ - अश्वपति राजा प्राचीनशाल महर्षि से कहता है कि—द्युलोक शरीरावच्छिन्न वैश्वानर आत्मा की उपासना के प्रभाव से आप लौकिक भोग्यवस्तु को अनुभव करते हैं। और प्रिय पुत्रादिक को भी आप देखते हैं। जो कोई दूसरा भी आपके समान द्युलोक शरीरक इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है वह भी आप ही की तरह लौकिक भोग्यवस्तु को भोगता है तथा प्रिय पुत्रादिक को देखता है और उस उपासक के कुल में ब्रह्मवर्चसशालिसंतान वाला होता है। परन्तु आपके द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपासना किया हुआ परिच्छिन्न यह द्युलोक वैश्वानर परमात्माके एक अवयव मस्तकहै। आपने बड़ी अच्छी बात की कि वैश्वानर आत्मा के निर्णय के लिये मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो वैश्वानर आत्मा के मस्तकरूप द्युलोक में

सम्पूर्ण वैश्वानर परमात्मा की बुद्धि करने वाले आपका मस्तक अवश्य ही विपरीत उपासना से टूटकर गिर जाता। पराङ्कुशपादभक्त भगवद्रामानुजाचार्य ने **भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति** ।।(शा०मी० ३।३।५५)के श्रीभाष्यमें 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठकके बारहवें खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।। २ ।।

।। अथ त्रयोदशखण्डः ।।

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति । आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच । एष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते।।१।।

अन्वयार्थ – (अथ) औपमन्यव प्राचीनशाल के प्रश्न का उत्तर होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध अश्वपति महाराज ने (पौलुषिम्) पुलुष ऋषि के पुत्र (सत्ययज्ञम्) सत्ययज्ञ महर्षि से (उवाच) कहा कि (प्राचीनयोग्य) हे प्राचीनयोग्य सत्ययज्ञ (त्वम्) तुम (कम्) किस (आत्मानम्) आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (इति) इस वचन को सुनकर (भगवः) हे पूजार्ह भगवन् (राजन्)' महाराज (एव) निश्चय करके (आदित्यम्) सूर्य शरीरक वैश्वानर आत्मा की उपासना मैं करता हूँ (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध सत्ययज्ञ महर्षि ने (उवाच)' कहा तब फिर अश्वपति राजा ने कहा कि (त्वम्) तुम (यम्) जिस आदित्यशरीरावच्छिन्न (आत्मानम्) वैश्वानर आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (वै) निश्चय करके (एषः) यह (वैश्वानर) वैश्वानर (आत्मा)परमात्मा (विश्वरूपः) सम्पूर्णरूप के प्रकाशक होने से विश्वरूप नाम से प्रसिद्ध है (तस्मात्) इसी कारण से (तव) तुम्हारे (कुले) कुल में (बहु) बहुत (विश्वरूपम्) विश्वप्रकाशक पुत्ररत्नादिक (दृश्यते) दिखाई पड़ताहै।।१।।

विशेषार्थ औपमन्यव प्राचीनशाल के प्रश्न का उत्तर कहने के बाद सुप्रसिद्ध अश्वपति राजा ने पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ महर्षि से कहा कि—हे प्राचीनयोग्य महर्षे ! आप किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं। इस बात को सुनकर सत्ययज्ञ महर्षि उत्तर देते हैं

कि—हे पूजार्ह भगवन् महाराज ! मैं निश्चय करके आदित्य शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता हूँ। इस प्रकार से सत्ययज्ञ के उत्तर को सुनकर फिर अश्वपति राजा ने कहा कि—आप जिस आदित्य शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करते हैं निश्चय करके यह वैश्वानर परमात्मा विश्वप्रकाशक होने से विश्वरूप नाम से प्रसिद्ध है। इसी उपासना के कारण से आपके कुलमें बहुत विश्वप्रकाशक पुत्ररत्नादिक दिखायी देता है। इस श्रुति में सत्ययज्ञ महर्षि का ही दूसरा नाम प्राचीनयोग्य कहा गया है। और विश्वप्रकाशक होने से आदित्य को विश्वरूप कहा गया है। और अन्यत्र लिखा है— **अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम्। वैयाघ्रपद्य कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्यादित्यमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै सुततेजा वैश्वानर एतं हि वै त्वं सुततेजसं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्तवैष सुतोऽद्यमानः पच्यमानोऽक्षीयमाणो गृहेषु तिष्ठति यो वा एतं सुततेजसं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति चक्षुस्त्वा एतद्वैश्वानरस्य चक्षुस्त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इति चक्षुस्तेऽविदिमभविष्यद्यदि त नागमिष्य इति ॥** शतप० १०।६।१।८) तदनन्तर अश्वपति राजा भाल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न पूछता है कि—हे वैयाघ्रपद्य महर्षे ! आप किसको वैश्वानर समझते हैं। इस बात को सुनकर इन्द्रद्युम्न ने कहा कि—हे राजन ! आदित्य को ही मैं वैश्वानर समझता हूँ। तब फिर राजा ने कहा कि—हाँ, ठीक है यह सुततेजा वैश्वानर है। जिस हेतु आप इस सुततेजा वैश्वानर को जानते हैं इस हेतु आपका पुत्र अन्न भक्षण करता हुआ तथा अन्न पकाता हुआ और क्षय नहीं होता हुआ घर पर रहता है। निश्चय करके जो कोई इस सुततेजा नामके वैश्वानर को जानता है वह मृत्यु की जय और पूर्ण आयु को पाता है। परन्तु यह आदित्य वैश्वानर का नेत्र है। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो आप का नेत्र गिर जाता और वैश्वानर का नेत्र आप को नहीं मालूम होता ॥८॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। चक्षुष्ट्वे तदात्मन इति

होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके त्रयोदशखण्ड: ॥

अन्वयार्थ—(अश्वतरीरथः) खच्चरियों से युक्त रथ और (दासीनिष्कः) दासियों के सहित हार (प्रवृत्तः) आपके निकट प्राप्त है (अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु को (अत्सि) तुम भोगते हो और (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यसि) तुमदेखते हो (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार का (एतम्) इस तेरे उपास्त (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) परमात्मा की (उपास्ते) उपासना करता है वह भी (अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु कौ (अत्ति) भोगता है तथा (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यति) देखता है और (अस्य) इस उपासक के (कुले) कुल में (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज वाला सन्तान (भवति) प्राप्त होता है (तु) परन्तु (एतत्) तेरे द्वारा वैश्वानरबुद्धि से उपास्यमान यह सूर्य (आत्मनः) वैश्वानर परमात्मा के (चक्षुः) अवयवभूत नेत्र है (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध सम्राट्ने (उवाच) कहा और (इति) यह भी कहा कि (यत्) यदि वैश्वानर आत्मा के निर्णय के लिये (माम्) मेरे निकट (न) नहीं (आगमिष्यः) तुम आते तो विपरीत विद्या के वश से (अन्धः) अन्धे (अभविष्यत्) हो जाते ॥२॥

विशेषार्थ—अश्वपति राजा सत्ययज्ञ महर्षि से कहता है कि--हे प्राचीनयोग्य महर्षे ! आदित्य शरीरावच्छिन्न वैश्वानर , परमात्मा की उपासना के प्रभाव से खच्चरियों से जुता हुआ रथ और दासियों के सहित हार आपके समीप प्राप्त है। और लौकिक भोग्यवस्तुओं को आप भोगते हैं तथा प्रिय पुत्रादिक को आप देखते हैं । जो कोई दूसरा भी आपके समान सूर्य शरीरक इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है वह भी आप ही के तरह लौकिक भोग्यवस्तु को भोगता है तथा प्रियपुत्रादिक को देखता है और उस उसासक के कुल में ब्रह्मवर्चसशालिसंतान वाला होता है। परन्तु आपके द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपासना किया हुआ परिच्छिन्न यह आदित्य निश्चय करके वैश्वानर परमात्मा के एक अवयव नेत्र है। आपने बहुत अच्छा किया कि वैश्वानर परमात्मा के निर्णय के लिये मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो वैश्वानर आत्मा के नेत्र रुप आदित्य में संपूर्ण वैश्वानर परमात्मा की

बुद्धि करने वाले आपका नेत्र फुट जाता आर्थात् आप अवश्य अन्धे हो जाते। नास्तिकतिमिरभास्कर भगवद्रामानुजाचार्य ने **भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥** (शा०मी० ३।३।५५) के श्रीभाष्यमें 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक से तेरहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के 'अन्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य: ' इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ चतुर्दशखण्डः ॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति। वायुमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) पौलुषि सत्ययज्ञ के प्रश्न के उत्तर होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध अश्वपति महाराज ने (भाल्लवेयम्) भाल्लवि ऋषि के पुत्र (इन्द्रद्युम्नम्) इन्द्रद्युम्न महर्षि से (उवाच) कहा कि (वैयाघ्रपद्य) हे वैयाघ्रपद्य इन्द्रद्युम्न (त्वम्) तुम (कम्) किस (आत्मानम्) आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (इति) इस बचन को सुनकर (भगव:) हे पूजनीय भगवन् (राजन्) महाराज (एव) निश्चय करके (वायुम्) वायु शरीरक वैश्वानर आत्मा की उपासना मैं करता हूँ (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध इन्द्रद्युम्न महर्षि ने (उवाच) कहा तब फिर अश्वपति राजा ने कहा कि (त्वम्) तुम (यम्) जिस वायु शरीरावच्छिन्न (आत्मानम्) वैश्वानर आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (वै) निश्चय करके (एष:) यह (वैश्वानर:) वैश्वानर (आत्मा) परमात्मा (पृथग्वर्त्मा) विविध प्रकार के गमन स्वभाव वाला होने से पृथग्वर्त्मा नाम से प्रसिद्ध है (तस्मात्) इसी कारण से (त्वाम्) तुझको (पृथग्) नाना देश के वस्त्र, अन्न आदिक (बलय:) उपहार (आयन्ति) आते हैं और (पृथक्) विविध (रथश्रेण्य:) रथ की पंक्तियाँ (अनुयन्ति) तुम्हारे पीछे चलती हैं ॥१॥

विशेषार्थ—पौलुषि सत्ययज्ञ के प्रश्न का उत्तर कहने के बाद सुप्रसिद्ध अश्वपति राजा ने भाल्लवी ऋषि के पुत्र इन्द्रद्युम्न महर्षि से कहा कि—हे वैयाघ्रपद्य इन्द्रद्युम्न महर्षे! आप किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं। इस बात को सुनकर इन्द्रद्युम्न महर्षि उत्तर देते हैं कि—हे पूजनीय भगवन्! निश्चय करके मैं वायु शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता हूँ। इस प्रकार के इन्द्रद्युम्न के उत्तर को सुनकर फिर अश्वपति राजा ने कहा कि—आप जिस वायु शारीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करते हैं निश्चय करके यह वैश्वानर परमात्मा विविध प्रकार के गमन स्वभाव वाला होने से पृथग्वर्त्मा नाम से प्रसिद्ध है। इसी उपासना के कारण से आपको नाना देश के अन्न वस्त्र आदिक भाग सामग्रियाँ भेंटरूप से प्राप्त होती हैं और नाना रथ की पंक्तियाँ आपके पीछे चलती हैं। अन्यत्र भी लिखा है—

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विम्। वैयाघ्रपद्य कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति वायुमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानर एतं हि वै त्वं पृथग्वर्त्मानंवैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वां पृथग्रथ-श्रेणयोऽनुयान्ति यो वा एतं पृथग्वर्त्मानं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति प्राणस्त्वा एष वैश्वानरस्य प्राणस्त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य प्राणस्तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति॥

(शतपथ० १०।६।१।७) तदनन्तर अश्वपति राजा अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से पूछता है कि-हे वैयाघ्रपद्य बुडिल महर्षे! आप किसको वैश्वानर समझते हैं। इस बात को सुनकर बुडिल ने कहा कि—हे राजन्! वायु को ही मैं वैश्वानर समझता हूँ। तब फिर राजाने कहा कि-हाँ, ठीक है, निश्चय करके यह पृथग्वर्त्मा वैश्वानर है। आप इस पृथग्वर्त्मा वैश्वानर को जानते हैं। इसी से नाना रथ की पंक्तियाँ आपके पीछे चलती हैं। निश्चय करके जो कोई इस पृथग्वर्त्मा नाम के वैश्वानर को जानता है वह मृत्यु की जय और पूर्ण आयु को पाता है। परन्तु यह वायु वैश्वानर का प्राण है। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो आपका प्राण शरीर से निकल जाता और वैश्वानर का प्राण आपको नहीं मालूम होता॥७॥ इस प्रकार का वर्णन किया गया है॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य

ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच। प्राणस्त उदक्रमिष्य-द्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके चतुर्दश खण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु को (अत्सि) तुम भोगते हो और (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यसि) तुम देखते हो (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार का (एतम्) इस तेरे उपास्य (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) परमात्मा की (उपास्ते) उपासना करता है वह भी (अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु को (अत्ति भोगता है तथा (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यति) देखता है और (अस्य) इस उपासक के (कुले) कुल में (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज वाले पुत्रादि (भवति) उत्पन्न होते हैं (तु) परन्तु (एषः) तेरे द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपास्यमान यह वायु (आत्मनः) वैश्वानर परमात्मा के (प्राणः) प्राण है (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध सम्राट् ने (उवाच) कहा और (इति) यह भी कहा कि (यत्) यदि वैश्वानर आत्मा के निर्णय के लिये (माम्) मेरे निकट (न) नहीं (आगमिष्यः) तुम आते तो (ते) तुम्हारा (प्राणः) प्राण (उदक्रमिष्यत्) उत्क्रमण कर जाता ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अश्वपति राजा इन्द्रद्युम्न महर्षि से कहता है कि—हे वैयाघ्रपद्य महर्षे! वायु शरीरावच्छिन्न वैश्वानर परमात्मा की उपासना के प्रभाव से लौकिक भोग्यवस्तुओं को आप भोगते हैं और प्रिय पुत्रादि को आप देखते हैं। तथा जो कोई दूसरा भी आपके समान वायु शरीरक इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है वह भी आप ही की तरह लौकिक भोग्यवस्तु को भोगता है तथा प्रिय पुत्रादिक को देखता है और उस उपासक के कुल में ब्रह्मवर्चसशालि सन्तान उत्पन्न होती है। परन्तु आपके द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपासना किया हुआ परिच्छिन्न यह वायु निश्चय करके वैश्वानर परमात्मा का प्राण है। आपने बहुत अच्छा किया कि वैश्वानर परमात्मा के निर्णय के लिये मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो वैश्वानर आत्मा के प्राणरूप वायु में सम्पूर्ण वैश्वानर परमात्मा की बुद्धि करने वाले आपका प्राण निश्चय करके

शरीर से निकल जाता। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के पंचम प्रपाठक का चौदहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ पञ्चदशखण्डः ॥

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति। आकाशमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न के प्रश्न का उत्तर होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध अश्वपति राजा ने (जनम्) जन महर्षि से (उवाच) कहा कि (शार्कराक्ष्य) हे शर्कराक्ष के पुत्र जन (त्वम्) तुम (कम्) किस (आत्मानम्) आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (इति) इस वचन को सुनकर (भगवन्, हे पूज्य भगवन् (राजन्) महाराज (एव) निश्चय करके (आकाशम्) आकाश शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना मैं करता हूँ (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध जन महर्षि ने (उवाच) कहा तब फिर अश्वपति राजा ने कहा कि (त्वम्) तुम (यम्) जिस आकाशरीरावच्छिन्न (आत्मानम्) वैश्वानर आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (वै) निश्चय करके (एषः) यह (वैश्वानर) वैश्वानर (आत्मा) परमात्मा (बहुलः) सब भूतों से आकाश के महान् होने से बहुल नाम से प्रसिद्ध है (तस्मात्) इसी कारण से (त्वम्) तुम (प्रजया) पुत्र पौत्रादि प्रजा से (च) और (धनेन) गौ हिरण्यादि धन से (च) भी (बहुलः) बहुत से युक्त बड़ा (असि) हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न के प्रश्न का उत्तर करने के बाद सुप्रसिद्ध अश्वपति राजा ने शर्कराक्ष ऋषि के पुत्र जन महर्षि से कहा कि—हे शार्कराक्ष्य जन महर्षे! आप किस वैश्वानर ब्रह्म की उपासना करते हैं। इस बात को सुनकर जन महर्षि उत्तर देते हैं कि—हे पूज्य भगवन् महाराज! निश्चय करके मैं आकाश शरीरकवैश्वानर परमात्मा की उपासना करता हूँ। इस प्रकार से जन महर्षि के उत्तर को सुनकर फिर अश्वपति राजा ने कहा कि—आप जिस आकाश शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करते हैं निश्चय करके यह वैश्वानर परमात्मा

सब भूतों से आकाश को बहुव्यापक महान् होने से बहुल नाम से प्रसिद्ध है। इसी उपासना के कारण से आप पुत्र पौत्रादि प्रजा से और गो, गज, हय, हिरण्यादि धन से युक्त बहुल हैं अर्थात् बहुव्यापक हैं। और ऐसा ही अन्यत्र लिखा है- **अथ होवाच महाशालं जाबालम्। औपमन्यव कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्याकाशमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै बहुलो वैश्वानरं एतं हि वै त्वं बहुलं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वं बहु प्रजया पशुभिरसियो वा एतं बहुलं वैश्वानरं वेदापपुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेत्यात्मा त्वा एष वैश्वानरस्यात्मा त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इत्यात्मा तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति ॥** शतप० (१०।६।१।६) अब अश्वपति राजा जबाला के पुत्र महाशाल ऋषि से पूछता है कि—हे औपमन्यव महाशाल महर्षे! आप किसको वैश्वानर जानते हो। इस बात को सुनकर महाशाल ने कहा कि—हे राजन्! आकाश को ही मैं वैश्वानर जानता हूँ। तब फिर राजा ने कहा कि-हाँ ठीक है, निश्चय करके यह बहुल वैश्वानर है। आप इस बहुल वैश्वानर को जानते हैं इसीसे आप बहुत प्रजा से और पशुओं से युक्त हैं। निश्चय करके जो कोई इस बहुल नामके वैश्वानर को जानता है वह अपमृत्यु को जीतता है और पूर्ण आयु को पाता है। परन्तु यह आकाश वैश्वानर के शरीर का मध्य भाग है। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो आपके शरीर का मध्य भाग नष्ट हो जाता और वैश्वानर के शरीरका मध्य भाग आपको नहीं मालूम होता ॥६॥ इस प्रकार का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच। संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके पञ्चदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अन्नम्) लौकिक भोग्य वस्तु को (अत्सि) तुम भोगते हो और (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यसि) तुम देखते हो (यः) जो

कोई (एवम्) इस प्रकार के (एतम्) इस तेरे उपास्य (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) परमात्मा की (उपास्ते) उपासना करता है वह भी (अन्नम्) लौकिक भोग्य वस्तु को (अत्ति) भोगता है तथा (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यति) देखता है और (अस्य) इस उपासक के (कुले) कुल में (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज वाली सन्तान (भवति) उत्पन्न होती है (तु) परन्तु (एषः) तेरे द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपास्यमान यह आकाश (आत्मनः) वैश्वानर परमात्मा के (संदेहः) मध्य शरीर है (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध सम्राट् ने (उवाच) कहा और (इति) यह भी कहा कि (यत्) यदि वैश्वानर परमात्मा के निर्णय के लिये (माम्) मेरे निकट (न) नहीं (आगमिष्यः) तुम आते तो (ते) तुम्हारा (संदेहः) मध्यशरीर (व्यशीर्यत्) छिन्न-भिन्न हो जाता ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अश्वपति राजा ने जन महर्षि से कहा कि—हे शर्कराक्षनन्दन आकाश शरीरावच्छिन्न वैश्वानर परमात्मा की उपासना से लौकिक भोग्य वस्तुओं को आप भोगते हैं और प्रिय पुत्रादिक को आप देखते हैं। जो कोई दूसरा भी आपके समान आकाश शरीरक इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है वह भी आप ही की तरह लौकिक भोग्य वस्तु को भोगता हैं तथा प्रिय पुत्रादिक को देखता है और उस उपासक के वंश में ब्रह्मतेज वाली सन्तान की उत्पत्ति होती है। परन्तु आपके द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपासना किया हुआ परिच्छिन्न यह आकाश निश्चय करके वैश्वानर परमात्मा का मध्य शरीर है। आपने बहुत अच्छा किया कि वैश्वानर परमात्मा के निर्णय के लिये मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो वैश्वानर आत्मा के मध्यकाय रूप आकाश में संपूर्ण वैश्वानर परमात्मा की बुद्धि करने वाले आपका सन्देह यानी मध्यशरीर निश्चय करके नष्ट हो जाता। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चमप्रपाठक का पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ षोडशखण्डः ॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति। अप एव भगवोराजन्निति होवाच। एष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वं रयिमान् पुष्टिमानसि ॥१॥

अन्वयार्थ – (अथ) शार्कराक्ष्य जन महर्षि के प्रश्न का उत्तर होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध अश्वपति राजा ने (आश्वतराश्विम्) अश्वतराश्व ऋषि के पुत्र (बुडिलम्) बुडिल महर्षि से (उवाच) कहा कि (वैयाघ्रपद्य) हे वैयाघ्रपद्य बुडिल (त्वम्) तुम (कम्) किस (आत्मानम्) आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (इति) इस वचन को सुनकर (भगवः) हे पूजनीय भगवन् (राजन्) महाराज (एव) निश्चय करके (अपः) जल शरीरक वैश्वानर परमात्मा की मैं उपासना करता हूँ (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध बुडिल महर्षि ने (उवाच) कहा तब फिर अश्वपति राजा ने कहा कि (त्वम्) तुम (यम्) जिस जल शरीरावच्छिन्न (आत्मानम्) वैश्वानर आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (वै) निश्चय करके (एषः) यह (वैश्वानरः) वैश्वानर (आत्मा) परमात्मा (रयिः) वेगवान् और धन प्राप्ति में हेतु होने से रयि नाम से प्रसिद्ध है (तस्मात्) इसी कारण से (त्वम्) तुम (रयिमान्) धनवान् और (पुष्टिमान्) पुष्टिमान् (असि) हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—शार्कराक्ष्य जन महर्षि के प्रश्न का उत्तर कहने के बाद सुप्रसिद्ध अश्वपति राजा ने अश्वतराश्व ऋषि के पुत्र बुडिल महर्षि से कहा कि – हे वैयाघ्रपद्य बुडिल महर्षे आप किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं। इस बात को सुनकर बुडिल महर्षि ने उत्तर दिया कि—हे पूजनीय भगवन् महाराज ! निश्चय करके मैं जल शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता हूँ। इस प्रकार के बुडिल महर्षि के उत्तर को सुनकर फिर अश्वपति राजा ने कहा कि—आप जिस जलशरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करते हैं निश्चय करके यह वैश्वानर परमात्मा वेगवान् और धन प्राप्ति में हेतु होने से रयि नाम से प्रसिद्ध है। इसी उपासना के कारण से आप धनवान् और पुष्टिमान् हैं। अन्यत्र भी लिखा है- **अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम्। प्राचीनयोग्य कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्यप एव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै रयिर्वैश्वानर एतं हि वै त्वं रयिं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टिमानसि यो वा एतं रयिं वैश्वानरं वेदापपुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति बस्तिस्त्वा एष वैश्वानरस्य बस्तिस्त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इति बस्तिस्तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति॥** (शत० १०।६।१५) तदनन्तर पौलुषि सत्ययज्ञ से अश्वपति राजा ने कहा कि आप किसको

वैश्वानर समझते हैं। इस बात को सुनकर सत्ययज्ञ ने कहा कि—हे राजन् जल को ही मैं वैश्वानर समझता हूँ। फिर राजा ने कहा कि—हाँ ठीक है परन्तु यह रयि संज्ञक वैश्वानर है। जिस हेतु आप इस रयि नाम के वैश्वानर को जानते हैं इस हेतु आप धनवान् और पुष्टिमान् हैं। जो कोई इस रयि संज्ञक वैश्वानर को जानता है वह मृत्यु की जय करता है और सम्पूर्ण आयु को पाता है परन्तु वैश्वानर का यह बस्तिमात्र है। आपकी बस्ती गिर पड़ती यदि आप मेरे पास नहीं आते अथवा आपको वैश्वानर की वस्ति का ज्ञान नहीं होता यदि मेरे निकट आप नहीं आते ॥ ५ ॥ इस प्रकार का वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच। बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्य-न्मां नागमिष्य इति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके षोडशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अन्नम्) लौकिक भोग्य वस्तु को (अत्सि) तुम भोगते हो और (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यसि) तुम देखते हो (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकारके (एतम्) इस तेरे उपास्य (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) आत्मा की (उपास्ते) उपासना करता है वह भी (अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु को (अत्ति) भोगता है तथा (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यति) देखता है और (अस्य) इस उपासक के (कुले) कुल में (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज वाली सन्तान (भवति) उत्पन्न होती है (तु) परन्तु (एषः) तेरे द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपास्यमान यह जल (आत्मनः) वैश्वानर परमात्मा के (बस्तिः) मूत्रस्थान है (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध सम्राट् ने (उवाच) कहा और (इति) यह भी कहा कि (यत्) यदि वैश्वानर आत्मा के निर्णय के लिये (माम्) मेरे निकट (न) नहीं (आगमिष्यः) तुम आते तो (ते) तुम्हारा (बस्तिः) मूत्रस्थान (व्यभेत्स्यत्) छिन्न भिन्न हो जाता ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अश्वपति राजा ने बुडिल महर्षि से कहा कि—हे वैयाघ्रपद्य जल शरीरावच्छिन्न वैश्वानर परमात्मा की उपासना से लौकिक भोग्यवस्तुओं को आप भोगते हैं और प्रिय पुत्रादिक को आप देखते हैं।

जो कोई दूसरा भी आपके समान जल शरीरक इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है वह भी आप ही की तरह लौकिक भोग्यवस्तु को भोगता है तथा प्रिय पुत्रादिक को देखता है और उस उपासक के कुल में ब्रह्मतेज वाली संतान की उत्पत्ति होती है। परन्तु आपके द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपासना किया हुआ परिच्छिन्न यह जल निश्चयकरके वैश्वानर परमात्मा का मूत्रस्थान है। आपने बहुत अच्छा किया कि वैश्वानर परमात्मा के निर्णय के लिये मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो वैश्वानर आत्मा के मूत्रस्थानरूप जल में सम्पूर्ण वैश्वानर परमात्मा की बुद्धि करने वाले आपका मूत्रस्थान अवश्य ही कट जाता। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्'के पंचम प्रपाठकका सोलहवाँ खण्ड समाप्त होगया।२।

॥ अथ सप्तदशखण्डः ॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति। पृथिवीमेव भगवोराजन्निति होवाच। एष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) बुडिल महर्षि के प्रश्न का उत्तर होने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध अश्वपति राजा ने (आरुणिम्) अरुण ऋषि के पुत्र (उद्दालकम्) उद्दालक महर्षि से (उवाच) कहा कि (गौतम) हे गौतमगोत्रोत्पन्न (त्वम्) तुम (कम्) किस (आत्मानम्) आत्मा की(उपास्से) उपासना करते हो (इति) इस वचन को सुनकर (भगवः) हे पूज्य भगवन् (राजन्) महाराज (एव) निश्चय करके (पृथिवीम्) पृथ्वी शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना मैं करता हूँ (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (उवाच) कहा तब फिर अश्वपति राजा ने कहा कि (त्वम्) तुम (यम्) जिस पृथ्वी शरीरावच्छिन्न (आत्मानम्) वैश्वानर आत्मा की (उपास्से) उपासना करते हो (वै) निश्चय करके (एषः) यह (वैश्वानरः) वैश्वानर (आत्मा) परमात्मा (प्रतिष्ठा) प्राणियों के आधार होने से प्रतिष्ठा नाम से प्रसिद्ध है (तस्मात्) इसी कारण से (त्वम् तुम (प्रजया) पुत्र पौत्रादि प्रजा से (च) और (पशुभिः) गौ, भैंस, अश्व, गज आदि पशुओं से (च) भी (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित (असि) हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ —बुडिल महर्षि के प्रश्न के उत्तर कहने के बाद सुप्रसिद्ध अश्वपति राजा ने अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक महर्षि से कहा कि हे गौतमगोत्रोत्पन्न उद्दालक महर्षे !आप किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं। इस बात को सुनकर उद्दालक महर्षि ने उत्तर दिया कि—हे पूजार्ह भगवन् महाराज ! निश्चय करके मैं पृथ्वी शरीरक वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता हूँ। इस प्रकार के उद्दालक महर्षि के उत्तर को सुनकर फिर अश्वपति राजा ने कहा कि —आप जिस पृथ्वी शरीरावच्छिन्न वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं निश्चय करके यह वैश्वानर परमात्मा प्राणियो के आधार होने से प्रतिष्ठा नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी उपासना के कारण से आप पुत्र पौत्रादि प्रजा से और गौ, भैंस, अश्व, गज आदि पशुओं से प्रतिष्ठित हैं सात ग्राम्य और सात आरण्थ प्रसिद्ध पशु है इनके विषय में पहले मैं लिख चुका हूँ। और प्रकृत श्रुति केसमान अन्यत्र भी लिखाहै—**सहोवाचारुणमौपवेशिम्। गौतम कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति पृथिवीमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर एतं हि गैत्वं प्रतिष्ठां वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वां प्रतिष्ठितः प्रजया पशुभिरसि यो वा एतं प्रतिष्ठां गैश्वानरं वेदापपुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति पादौ त्वा एतौ वैश्वानरस्य पादौ तेऽम्लास्यतां यदि ह नागमिष्य इति पादौ तेऽविदिताऽभविष्यतां यदि ह नागमिष्य इति॥**(शतपथ १०।६।१।४)वह अश्वपतिराजा उपवेश ऋषिके पुत्र अरुण ऋषि से बोला कि— हे गौतमवंशोत्पन्न आप किसको वैश्वानर जानते हैं इसको सुनकर अरुण महर्षि ने कहा कि-- हे राजन् पृथ्वी को ही मैं वैश्वानर जानता हूँ। तब फिर राजा ने कहा कि— हाँ ठीक हैं परन्तु यह प्रतिष्ठा वैश्वानर हैं इस प्रतिष्ठा वैश्वानर को जिस हेतु आप जानते हैं इस हेतु आप प्रजा और पशु से प्रतिष्ठित हैं जो कोई इसको प्रतिष्ठा वैश्वानर जानता है मृत्यु की जय करताहै और सर्व आयु को पाता है परन्तु वैश्वानर का यह पाद है, आपके पाद मलीन हो जाते यदि मेरे निकट नहीं आते। और आपको वैश्वानर के पाद विदित नहीं होते यदि आप मेरे निकट नहीं आते ॥४॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते।

पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके सप्तदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु को (अत्सि) तुम भोगते हो और (प्रियम्) प्रिय पुत्रादि को (पश्यसि) तुम देखते हो (यः) जो कोई (एवम्) इस प्रकार के (एतम्) इस तेरे उपास्य (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) परमात्मा की (उपास्ते) उपासना करता है वह भी (अन्नम्) लौकिक भोग्यवस्तु को (अत्ति) भोगता है तथा (प्रियम्) प्रिय पुत्रादिक को (पश्यति) देखता है और (अस्य) इस उपासक के (कुले) कुल में (ब्रह्मवर्चसम) ब्रह्म तेजवाली सन्तान (भवति) उत्पन्न होती है (तु) परन्तु तेरे द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपास्यमान यह पृथ्वी (आत्मनः) वैश्वानर परमात्मा के (एतौ) ये दोनों (पादौ) चरण हैं (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध सम्राट् ने (उवाच) कहा और (इति) यह भी कहा कि (यत्) यदि वैश्वानर परमात्मा के निर्णय के लिये (माम्) मेरे निकट (न) नहीं (आगमिष्यः) तुम आते तो (ते) तुम्हारा (पादौ) दोनों चरण (व्यम्लास्येताम्) शिथिल हो जाते ॥२॥

विशेषार्थ—अश्वपति राजा ने उद्दालक महर्षि से कहा कि—हे गौतमगोत्रोत्पन्न पृथ्वी शरीरावच्छिन्न वैश्वानर परमात्मा की उपासना से लौकिक भोग्यवस्तु को आप भोगते हैं और प्रिय पुत्रादिक को आप देखते हैं। जो कोई दूसरा भी आपके समान पृथ्वी शरीरक इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है वह भी आपही की तरह लौकिक भोग्य वस्तु को भोगता है तथा प्रिय पुत्रादिक को देखता है और उस उपासक के कुल में ब्रह्मतेज वाली सन्तान की उत्पति होती है। परन्तु आपके द्वारा वैश्वानर बुद्धि से उपासना किया हुआ परिच्छिन्न यह पृथ्वी निश्चय करके वैश्वानर परमात्माके दोनों चरण हैं। आपने बहुत अच्छा किया की वैश्वानर परमात्मा के निर्णय करने के लिये मेरे पास आ गये। यदि आप मेरे निकट नहीं आते तो वैश्वानर परमात्मा के चरण रूप पृथ्वी में संपूर्ण वैश्वानर परमात्मा की बुद्धि करने वाले आप के अवश्य ही चरण शिथिल हो जाते। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चमप्रपाठक का सत्रहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथाष्टादशखण्डः ॥

तान्होवाच । एते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्थ । यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥१॥

अन्वयार्थ— (ह) प्रसिद्ध अश्वपति राजा ने (तान्) उन प्राचीनशाल १ सत्ययज्ञ २ इन्द्रद्युम्न ३ जन ४ बुडिल ५ उद्दालक ६ नाम के महर्षियों से (खलु) निश्चय करके (उवाच) कहा कि (वै) अवश्य करके (एते) ये (यूयम्) तुम सब लोग (इमम्) इस (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) परमात्मा को (पृथक्) भिन्न भिन्न की (इव) तरह (विद्वांसः) जानते हुए उपासना करते हो अतः तदनुरूप (अन्नम्) लौकिक भोग को (अत्थ) अनुभव करते हो और प्रिय पुत्रादिक को तुम सब देखते हो (तु) परन्तु (यः) जो कोई मुमुक्षु (अभिविमानम्) सब में अभिव्याप्त होने से विगतमान संपूर्ण नरों के नेता (एतम्) इस (वैश्वानरम्) वैश्वानर (आत्मानम्) परमात्मा को (एवम्) इस प्रकार के (प्रादेशमात्रम्) द्युलोकादिप्रदेशपरिच्छिन्न (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (सर्वेषु) संपूर्ण (लोकेषु) पृथ्वी आदिलोकों में तथा (सर्वेषु) समस्त (भूतेषु) चराचर प्राणियों में और (सर्वेषु) संपूर्ण (आत्मसु) जीव मन बुद्ध्यादिकों में वर्तमान (अन्नम्) अनवधिकातिशयानन्द परब्रह्म नारायण को (अत्ति) सर्वदा अनुभव करता है ॥१॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध अश्वपतिराजा ने उन प्राचीनशाल १ सत्ययज्ञ २ इन्द्रद्युम्न ३ जन ४ बुडिल ५ और उद्दालक ६ नाम के महर्षियों से कहा कि— आप सब लोग भिन्न भिन्न रूप से जानते हुए वैश्वानर परमात्मा की उपासना करते हैं। अर्थात् 'वैश्वानर परमात्मा के एक-एक अंश की ही आप लोग उपासना करते हैं। पूर्ण वैश्वानर परमात्मा की उपासना आप लोग नहीं करते हैं । इसी कारण से तदनुरूप लौकिक भोग्यवस्तुओं को आप लोग भोगते हैं और प्रिय पुत्रादिक को भी आप लोग देखते हैं। यहाँ तक वैश्वानर परमात्मा के एक अङ्ग की उपासना का नश्वर फल कहा गया है,आगे अब पूर्ण वैश्वानर की उपासना के विषय में कहते

हैं कि—जो कोई मुमुक्षु उपासक सब में अभिव्याप्त होने से विगतमान यानी अवधि रहित और द्यु लोक आदिक प्रदेश परिच्छिन्न समस्त मनुष्यों के नेता इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है वह उपासक समस्त पृथ्वी आदि लोकों में तथा समस्त स्थावर जगम प्राणियों में और समस्त जीव मन बुद्धि आदिकों में वर्तमान परब्रह्म नारायण रूप अन्न को अनुभव करता है इस श्रुति में "अन्नम्" पद अनन्त ज्ञानानन्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है— **अहमन्नमहमन्न महमन्नम्** ।। (तैत्ति उ० ब० ३ अनुवा० १० श्र ० ६) मैं चेतनाचेतन शरीरवाला परब्रह्म परमात्मा भोग्य अन्न हूँ । मैं परब्रह्म नारायण भोग्य अन्न हूँ। मैं परब्रह्म नारायण भोग्य अन्नहूँ ।।६।। और अन्न विष्णु भगवान का नामहै । क्योंकि स्पष्ट लिखाहै ।। **अन्नमन्नाद एव च** ।।महाभार० अनुशासन०प० विष्णुसहस्र ११८ ।। अन्न औरअन्नाद विष्णु भगवान् के नाम हैं ।।८।। सर्व साधारण कर्मवश्य प्राणी जिन लौकिक भोग्य वस्तुओं को भोगते हैं वह अन्न आदिक भोग्य वस्तु मुमुक्षुओं के त्याग करने योग्य है इससे यहाँ अन्न शब्द से प्रसिद्ध खाद वस्तु का ग्रहण नहीं होता है । यहाँ विश्वान्-सर्वान् नरान्-जीवान् गतिं नयति यः स वैश्वानरः" जो सब जीवों की गति का नेता हो उसको वैश्वानर कहते हैं अथवा " विश्वे च ते नरा इति विश्वनराः तान् प्राप्नोतीति वैश्वानरः" जो सब नरों में प्राप्त हों उसे वैश्वानर कहते हैं ।.इन व्युत्पत्तियों से और नर—प्रापक नायक वाहक ले जानेवाला ढोने वाला आदि "नृनये" इस धातु से या "णीञ् प्रापणे" इस धातुसे नर बनता है । तब यह हुआ कि जो विश्व का नायक या वाहक या जो संपूर्ण जगत् को अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में ले आवे उसे वैश्वानर कहते हैं यह परब्रह्म नारायणका नाम है । "प्रादेशमात्रम् यहाँ पर प्रादेशी मात्रा यस्य तम् इस व्युत्पतिसे "प्र" माने उत्कृष्ट से "अ" आरम्भ करके "देश" पृथ्वी स्थान तक "मात्र" केवल परिच्छिन्न अर्थात् द्यु लोक से प्रारंभ करके भूलोक पर्यन्त परिच्छिन्न यह अर्थ होता है। "अभिविमानम्" यहाँ पर "अभि" माने सर्वव्याप्त "वि" माने विगत या रहित "मान" माने परिमाण परिच्छेद अवधि सीमा है । जिसका मान—अवधि—हद नहीं वह विमान है और जो सर्व व्याप्त होने से अवधि रहित हो वह अभिविमान है । परब्रह्म नारायण

सर्व व्यापक हैं क्योंकि लिखा है— **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यांजगत्** ॥ (ईशों. श्रु. १) अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी स्थावर, जंगमस्वरूप संसार है ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप सब जगत् सर्वेश्वर परब्रह्म नारायणसे व्याप्तहै ।।१।। **यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः** (तैत्तिरीयारण्य. प्रपाठ. १० अनुवा. ११ श्रु. ६।। नारायणो. श्रु. १३) जो कुछ देखने सुननेमें जड़ चेतनस्वरूप जगत् है उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर परब्रह्म नारायण स्थित हैं ।।६।।१३।। यहाँ पर वैश्वानरोपासना का ब्रह्म प्राप्ति फल कहा गया है । और अन्यत्र भी लिखा है - **तान्होवाच । एते वै यूयं पृथक् वैश्वानरान् विद्वांसः पृथगन्नमघस्त प्रादेशमात्रमिव ह वै देवा सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा तु व एनान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति** ।।(शतपथ १०।६।१।१०)प्रसिद्ध अश्वपति राजा ने उन महर्षियों से कहा कि—ये आपलोग भिन्न भिन्न रूप से वैश्वानर को जानते हुए उपासना करते हैं इसी से अलग अलग भोग्यवस्तु को भोगते हैं । परन्तु देवता लोग प्रादेशमात्र वैश्वानर को मान कर उपासना करते हैं आपलोगों के लिये उस प्रादेशमात्र वैश्वानर कोभलीभाँति मैं सम्पादन करके कहूँगा ।१०। श्रीविष्णुदर्शनस्थापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने—**वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्** ॥ (शा. मी. १।२।२५) **अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः** ॥ (शा.मी. १।२।३०) **अनुस्मृतेर्वादरिः** ॥ (शा०मी० १।२।३१) **आमनन्ति चैनमस्मिन्** ॥ (शा०मी० १।२।३३) **सर्वं वेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्** ॥ (शा. मी. ३।३।१) **भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति** ।। (शा०मी० ३।३।५५)इन छः सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के अठारहवें खण्ड की पहली श्रुति के उत्तरार्ध को उद्धृत किया है ।।१।।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदि र्लोमानि बर्हि र्हृदयं

गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठकेऽष्टादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(एतस्य) इस (आत्मनः) परब्रह्म नारायण के उपासक का (मूर्धा) मस्तक (एव) ही (तस्य) उस (ह) प्रसिद्ध (वैश्वानरस्य) वैश्वानरसंज्ञक परमात्माके (वै) निश्चय करके (सुतेजाः) मूर्धाभूत द्युलोक है तथा उपासक का (चक्षुः) नेत्र ही (विश्वरूपः) परमात्मा का नेत्रभूत आदित्य है और (प्राणः) उपासक का प्राण ही (पृथग्वर्त्मा) परमात्मा का प्राणभूत वायु है तथा (सन्देहः) उपासक का मध्यकाय ही (बहुलः) परमात्मा का मध्यकायभूत आकाश है और (बस्तिः) उपासक का मूत्रस्थान (एव) ही (रयिः) परमात्मा का मूत्रस्थान भूत जल है तथा (पादौ) उपासक के दोनों चरण (एव) ही (पृथिवी) परमात्मा का चरणभूत पृथ्वी है। इस प्रकार से उपासक त्रैलोक्य शरीरक वैश्वानर परमात्माको अपने शरीर में सन्निहित अनुसन्धान करके आगे वक्ष्यमाण प्रकार द्वारा प्राणाग्नि होत्र से वैश्वानर परमात्मा की आराधना करे। प्राणाग्निहोत्र कर्ता के (उरः) वक्षस्थल (एव)ही (वेदिः) प्राणाहुत्याधारक वैश्वानर परमात्मा की यज्ञवेदी है और (लोमानि) प्राणाग्निहोत्र कर्ता के रोवें (बर्हिः) यज्ञ नारायण भगवान् के कुश हैं तथा हृदयम्) प्राणाग्निहोत्रकर्ता के हृदय कमलावच्छिन्न जाठराग्नि (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि है और (मनः) प्राणाग्नि होत्रकर्ता की मन इन्द्रियावच्छिन्नजाठराग्नि (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्नि है तथा (आस्यम्) आस्यावच्छिन्नजाठराग्नि (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि है ॥२॥

विशेषार्थ—"छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के अठारहवें खण्ड की पहली श्रुति के उत्तरार्ध में "उपास्ते" इस वाक्य तक त्रैलोक्य शरीरक वैश्वानर परब्रह्म नारायण की उपासना विधान करके "सर्वेषु लोकेषु' इत्यादि पदों से व्रह्म प्राप्ति फल उपासना का उपदेश देकर अब प्रकृत मन्त्र में वैश्वानर विद्या के अङ्गभूत प्राणाग्नि होत्र का वर्णन किया जाता है। इस परब्रह्म नारायण के उपासक का मस्तक ही उस सुप्रसिद्ध वैश्वानर संज्ञक परमात्मा का मस्तकभूत द्युलोक है। उपासक का नेत्र ही वैश्वानर परमात्मा का नेत्रभूत सूर्य है। उपासक का प्राण ही वैश्वानर परमेश्वर का प्राणभूत वायु है। उपासक का मध्य शरीर ही वैश्वानर संज्ञक नारायण का मध्यशरीरभूत आकाश है।

उपासक का मूत्रस्थान ही परमात्मा का मूत्रस्थान भूत जल है और उपासक का दोनों चरण ही वैश्वानर परमात्मा के चरणभूत पृथ्वी है। इस प्रकार से उपासक त्रैलोक्य शरीरक परब्रह्म नारायण को अपने शरीर में सन्निहित अनुसन्धान करे। तदनन्तर वक्ष्यमाण प्रकार द्वारा प्राणाग्निहोत्र से वैश्वानर परमात्मा की आराधना करे। प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक का वक्षस्थल ही प्राणाहुत्याधारक वैश्वानर परमात्मा की यज्ञवेदी है। प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक का लोम यज्ञनारायण प्राणाहुत्याधारक वैश्वानर भगवान् का कुश है तथा प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक की हृदयकमलावच्छिन्न जाठराग्नि ही गार्हपत्य अग्नि है। प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक की मनइन्द्रियावच्छिन्न जाठराग्नि ही दक्षिणाग्नि है। प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक की मुखावच्छिन्न जाठराग्नि ही आहवनीय अग्नि है। त्रैलोक्य शरीरक परमात्मा है क्योंकि लिखा है-

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

(मुण्डको० मु० २ खं० १ श्रु० ४) इस परब्रह्म नारायण का द्युलोक मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं, सब दिशाएँ दोनों कान हैं और प्रकट या प्रसिद्ध मस्तक वेद वाणी है तथा वायु प्राण है, सम्पूर्ण जगत् हृदय है और पृथ्वी दोनों पैर है। निश्चय करके यह परब्रह्म नारायण सब भूतों की अन्तरात्मा हैं ॥४॥ **यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥**

(महाभारत शान्ति प० राजधर्म० अ० ४७ श्लोक ७०) अग्नि जिस नारायण का मुख है, द्युलोक मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी दोनों पैर है, सूर्य नेत्र है और पूर्वादिक सब दिशाएँ कान हैं उस सब लोकों की आत्मा परब्रह्म नारायण के लिये नमस्कार है ॥ ७० ॥

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता॥

(श्रीभाष्य. अ. १ पा. २ सू. २६ अधिकर० ६) विप्रलोग जिस नारायण का द्युलोक मस्तक कहते हैं, आकाश नाभि कहते हैं और चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र कहते हैं तथा सब दिशाएँ कान कहते हैं और पृथ्वी पैर कहते हैं उस नारायण को तुम जानो। वह अचिन्त्यात्मा सब भूतों के

प्रणेता हैं ।।६।। और अन्यत्र भी लिखा है—**स होवाच । मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अप्रतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयि वैश्वानर इति । चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति । स एषोऽग्नि वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदाप पुनर्मृत्युंजयति सर्वमायुरेति न हास्य ब्रुवाणं चन वैश्वानरो हिनस्ति ।।** (शतपथ १०।६।१।११) उस प्रसिद्ध अश्वपति राजा ने ऐसा कहा—निश्चय करके मस्तक को उपदेश देता हुआ यह द्युलोक अप्रतिष्ठा वैश्वानर है। दोनों नेत्रों को उपदेश करते हुए महर्षियों से कहा कि यह सुतेजा वैश्वानर है । नासिकाओं को उपदेश देते हुए ऋषियों से कहा कि यह पृथग्वर्त्मा वैश्वानर है और मुख्य आकाश को उपदेश करते हुए कहा कि यह बहुल वैश्वानर है तथा मुख्य जल को उपदेश देते हुए कहा कि यह रयि वैश्वानर है। चुबुक को उपदेश करते हुए महर्षियों से कहा कि निश्चय करके यह प्रतिष्ठा वैश्वानर है । वह यह वैश्वानर अग्नि ही उपासक पुरुष है, जो उपासक पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित इस वैश्वानर अग्नि को इस प्रकार पुरुष के समान जानता है, वह उपासक मृत्यु को जीतता है और सब आयु को पाता है । इस वैश्वानर विज्ञान के कहने वाले को कभी वैश्वानर नहीं मारता है ।।११।। श्री वैष्णव मताब्जभाष्कर भगवद्रामानुजाचार्य ने—**शब्दादिभ्योऽअन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।।**(शा.मी. १।१।२७) **आमनन्ति चैनमस्मिन् ।।** (शा० मी० १।२।३३) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के अठारहवें खण्ड को दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चम प्रपाठक का अठारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।२।।

।। अथैकोनविंशखण्डः ।।

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम् । स यां प्रथमा-

माहुतिंजुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

अन्वयार्थ–(तत्) उस प्राणाग्निहोत्र करनेवाले उपासक के (यत्) जो (भक्तम्) सेवन करने योग्य अन्न (प्रथमम्) भोजन समय में पहले (आगच्छेत्) आवे (तत्) उस अन्न को (होमीयम्) हवन करना चाहिये (सः) वह प्राणाग्निहोत्रकर्ता पुरुष (याम्) जिस (प्रथमाम्) पहली (आहुतिम्) आहुति को (जुहुयात्) जठरानल में सविधि हवन करे (ताम्) उस पहली आहुति को (प्राणाय) प्राण के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ ऐसा कह कर (जुहुयात्) सविधि जाठराग्नि में हवन करे (इति) इस प्रकार पहली आहुति देने से (प्राणः) प्राण (तृप्यति) तृप्त होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ–अब प्राणाग्निहोत्र करने की विधि कही जाता है। प्राणाग्निहोत्र करनेवाले उस उपासक के भोजन के समयमें जो अन्न पहले भोजन के लिये प्राप्त हो उसी अन्न से प्राणाग्निहोत्र करना चाहिये। प्राणाग्निहोत्र कर्ता पुरुष "प्राणाय स्वाहा" ऐसा कहकर पहली आहुति सविधि जठरानल में दे। इस प्रकार पहली आहुति देने से प्राण तृप्त हो जाता है। प्राण के विषय में लिखा है–**मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते ॥** (प्रश्नो० प्रश्न० ३ श्रु० ५) अपने आप प्राण मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित होता है ॥ ५ ॥ **हृदि प्राणः स्थितो नित्यम् ॥** (योगचूडामण्युप० श्रु० १४) हृदय में सर्वदा प्राण वायु रहती है ॥२४॥ प्राणाग्निहोत्र के विषय में लिखा है–**प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च सम्यगाचम्य वारिणा। विष्णोरभिमुखं पीठे हेमदिग्धे कुशोत्तरे ॥** (वृद्धहारीतस्मृ०अ० ८ श्लो०२४२) **प्राग्वा प्रत्यङ्मुखो वापि जान्वोरन्तः करः शुचिः। उदङ्मुखो वा पैत्र्ये तु समासीताभिपूजितः ॥२४३॥ शुद्धादारुमये पीठे समासीने कुशोत्तरे। पीठे तदलाभे सौम्येस्यात्केवलं कुशविष्टरम् ॥२४८॥ चतुरस्रं त्रिकोणं च वर्तुलं चार्धचन्द्रकम् ॥ वर्णानामानुपूर्व्येण मण्डलानि यथाक्रमात् ॥२४६॥ स्वलंकृते मण्डलेऽस्मिंस्त्वमलं भाजनंन्येसेत्।**

स्वर्णं कांस्यं च रौप्यं च पर्णं वा शास्त्रचोदितम् ॥ २५० ॥ भोजनालय से बाहर अच्छी तरह से दोनों हाथों को और पैरों को धोकर कुल्ला करके जल से आचमन करे तदनन्तर श्रीविष्णु संनिधि के सामनें पास में हेमदिग्ध कुशासन डाले हुए पीठ पर ॥ २४२ ॥ सत्कार पूर्वक कौपीन कटिसूत्र, कटिवस्त्र, चादर, तिलक आदि से युक्त पवित्र पुरुष पूर्व या पश्चिम या उत्तर या दक्षिण की ओर मुख करके और दोनों जंघाओं के मध्य में हाथ करके शान्तिपूर्वक बैठ जाय ॥२४३॥ जिसके ऊपर कुशा डशाया गया हो ऐसा शुद्ध काठ के पीढ़ा पर बैठ जाय और यदि सुन्दर काठ का पीढ़ा न मिले तो शुद्ध कुशासन पर बैठ जाय ॥२४८ तदनन्तर उपलिप्त समस्थान पर अपने आगे एक बित्ता के चतुष्कोण मण्डल दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली से ब्राह्मण बनावे और क्षत्रिय त्रिकोण मण्डल तथा वैश्य गोलमण्डल और शूद्र अर्धचन्द्राकार मण्डल बनावे ॥ ४९॥ सुन्दर उस मण्डल पर शास्त्रविहित सोना या चान्दी या कांस्य या रौप्य या पत्ति के बना हुआ विमल भोजन का पात्र रखे। ॥२५०॥ **वितस्तिमात्रं चतुरङ्गुलं वा कोणैश्चतुर्भिर्विदधीत मण्डलम् । प्राणाग्निहोत्रार्थमिदं समुक्तं महानुभावेन हि हारितेन ॥** (आह्निकम्) प्राणाग्निहोत्र केलिये चार कोनों से युक्त एक बित्ता के या चार अंगुल के मण्डल बनावे यह निश्चित करके महानुभाव हारीत महर्षि ने कहा है ॥ **उपलिप्ते समे स्थाने शुचौ श्लक्ष्णसमन्विते । चतुरस्रं त्रिकोणं च वर्तुलं चार्धचन्द्रकम् । कर्तव्यमानुपूर्व्येण ब्राह्मणादिषु मण्डलम् ॥** (ब्रह्मपुराण०) बराबर पवित्र चिक्कन लिपी हुई भूमि में ब्राह्मण चतुष्कोण मण्डल और क्षत्रिय त्रिकोण मण्डल तथा वैश्य गोल मण्डल और शूद्र आधा चन्द्रमा के समान मण्डल सुन्दर बनावे ॥ **हस्तौ पादौ मुखं पात्रं मण्डलं चार्द्रपञ्चकः ॥** (नारद०) दोनों हाथ १,दोनों पैर २, मुख ३, भोजन के पात्र ४ और प्राणाग्निहोत्र के मण्डल ५ ये पाँच जल आर्द्र होना चाहिये ॥ **पत्न्यादिभिर्दत्तमन्नं वासुदेवार्पितं शुभम् । गायत्र्या मूलमंत्रेण संप्रोक्ष्य शुभवारिणा ॥** (बृद्धहा. अ. ८। ५७)**ऋतं सत्याभ्यामिति च मंत्राभ्यां परिषेचयेत् । अन्नरूपं विराट् पुरुषं** ध्यात्वा **मंत्रं जपेद्बुधः ॥ २५८ ॥** ध्यात्वा

हृत्पङ्कजे विष्णुं सुधांशुसदृशद्युतिम् । शङ्खचक्रगदापद्मपाणिं वै दिव्यभूषणम् ॥२५९॥ वासुदेव भगवान् का भोग लगाया हुआ स्त्री या पाचक या शिष्य आदि से भोजन के पात्र में दिया हुआ सुन्दर अन्न को अपने दाहिने बगल में रखे हुए जलपात्र के सुन्दर पवित्र जल को थोड़ा हाथ में लेकर "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्" ॥ (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० १ मं० २८) इस गायत्री मंत्र से और "ओं नमो नारायणाय" ॥ (नारा०उ० श्रु० ४) इस मूलमंत्र से प्रोक्षण करे ॥२५७॥ तदनन्तर जलपात्र से थोड़ा जल अपने दाहिने हाथ में लेकर प्राणाग्नि होत्र कर्ता "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः" ॥ (तैत्ति० आ० प्र० १० अनु० १२ मं० १) "सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन । सतां हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते" ॥ (तै० आ० प्र० १० अनु० ६२ मं० १) इन दोनों मंत्रों को पढ़ते हुए अभिषेचन करे तदनन्तर अन्नरूप विराट् पुरुष को ध्यान करके उपासक "श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते नारायणाय नमः" (त्रिपाद्विभूतिमहाना० उ० अ० ७) इस मंत्र का मानसिक जप करे ॥ ५८॥ इसके बाद चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुये दिव्य बसन भूषण से युक्त चन्द्रमा के समान शुभ्र निर्मल द्युति वाले श्रीविष्णु भगवान् को हृदय कमल में ध्यान करे ॥२५९॥ **मनसैवार्चयित्वाथ मूलमंत्रेण वैष्णवः । पादोदकं हरेः पुण्यं तुलसीदलमिश्रितम् ॥** (बृद्धहा० ८।२६०) **अमृतोपस्तरणमसीति मंत्रेण प्राशयेत् । उद्दिश्यैव हरिं प्राणाञ्जुहुयात्सघृतं हविः ॥ २६१ ॥ अन्न लाभे तु होतव्यं शाकमूलफलादिभिः । पञ्च प्राणाद्याहुतयो मंत्रैस्तैर्जुहुयाद्धरेः ॥ २६२ ॥ तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैः प्राणायेति यजेद्बुधः ॥ २६३ ॥** श्री वैष्णव मन से ही श्रीमन्नारायण भगवान् की पूजा हृदय कमल में षोडशोपचार द्वारा "ओं नमो नारायणाय" ॥ (नाराय० उ० मं० ४) इस मूल मंत्र से करे तदनन्तर तुलसीदल मिश्रित श्रीहरि के चरणामृत को ॥ ६०॥ हाथ में लेकर "अमृतोपस्तरणमसि" ॥ (तै० आ० प्र० १० अनुशे ३२ मं० १) इस मंत्रसे पान करे तदनन्तर श्रीहरि को उद्देश्य करके घृत के सहित हविष्य भगवत्प्रसाद को प्राणादि की तृप्ति के लिये

जठराग्नि में हवन करे ॥२६१॥ एकादशी आदि व्रत को जब अन्न भात आदिक न प्राप्त हो तो शाक मूल फल आदिक से ही पांच प्राणादि की आहुति उन्हीं प्राणादि मन्त्रों से दे ॥२६२॥ अंगूठा और अंगूठे के पास की तर्जनी तथा बीच की मध्यमा इन तीन अङ्गुलियों से भगवत्प्रसाद हविष्य ऊठा कर "प्राणाय स्वाहा" इस मन्त्र से पहली आहुति जठरानल में प्रदान करे ॥२६३॥ **प्राणेभ्यस्त्वथ पञ्चभ्यः स्वाहाप्रणवसंयुताः । पञ्चाहुतीस्तु जुहुयात्प्रणवाग्निनिभेषु च ॥** (विष्णु पुराण) प्राणाग्नि होत्रकर्ता प्राण आदिक पांचों के लिये आदि में ओम् और अन्त में स्वाहा से संयुक्त मध्य में चतुर्थ्यन्त उस उस नाम का मन्त्र पढ़ कर प्रणवाग्नि के समान जठराग्नि में पांच आहुति प्रदान करे जैसे पहली आहूति "ओं प्राणाय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़ कर दे ॥ प्राणनाथ भगवद्रामानुजाचार्यने—**शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥** (शा०मी० १।२।२७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के उन्नईसवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके एकोनविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(प्राणे) प्राणवायु के (तृप्यति) तृप्त होने पर (चक्षुः) नेत्र (तृप्यति) तृप्त होता है (चक्षुषि) नेत्र के (तृप्यति) तृप्त होने पर (आदित्यः) सूर्य (तृप्यति) तृप्त होता है (आदित्ये) सूर्य के (तृप्यति) तृप्त होने पर (द्युः) द्युलोक (तृप्यति) तृप्त होता है (दिवि) द्युलोक के (तृप्यन्त्याम्) तृप्त होने पर (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (द्यौः) द्युलोक (च) और (आदित्यः) सूर्य से (अधितिष्ठतः) अद्धिकार में रखा हूआ वस्तु समुदाय है (तत्) वह वस्तु जात (च) भी (तृप्यति) तृप्त होता है (तस्य) उन सब वस्तुओं की (तृप्तिम्) तृप्ति के (अनु) पीछे प्राणाग्निहोत्र

कर्ता (प्रजया) पुत्र पौत्र आदिक प्रजा से और (पशुभिः) गौ, अश्व, गज आदि पशुओं से तथा (अन्नाद्येन)विविध भोग्य पदार्थो से और (तेजसा) सामान्य तेज से तथा (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है (इति) इस प्रकार पहली आहुति का फल कहा गया। अचेतन की तृप्ति के असम्भव होने से प्राण नेत्र आदि के अभिमानी देवता अर्थ समझना चाहिये ॥ ॥

विशेषार्थ—अब पहली आहुति का फल कहा जाता है कि—प्राणाभिमानी देवता के तृप्त होने पर तो नेत्राभिमानी देवता तृप्त हो जाते है और नेत्राभिमानी देवता के तृप्त होने पर तो सूर्याभिमानी देवता तृप्त हो जाते हैं। सूर्याभिमानी देवता के तृप्त होने पर द्युलोकाभिमानी देवता तृप्त हो जाते हैं। इसके बाद द्युलोकाभिमानी देवता से और सूर्याभिमानी देवता से अधिष्ठित जो कुछ भी वस्तुजात है तदभिमानी देवता सब तृप्त हो जाते हैं। सब वस्तुजात के देवता के तृप्त होने पर तो स्वयं प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक पुत्र पौत्र आदि प्रजा से और गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पशुओं से तथा विविध भोग्य पदार्थों से और तेज से तथा ब्रह्म प्रताप से तृप्त हो जाते हैं। पशु के विषय में लिखा है—**सप्त ग्राम्या पशवः सप्तारण्याः** (श्रु०) सात ग्राम में होने वाले और सात वन में होने वाले पशु हैं। उन सबों का नाम लिखा है — **गौरजः पुरुषा मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥** (विष्णुपु० अंश १ अ० ५ श्लो० ५१) **श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षिपञ्चमाः। औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः॥५२॥** गौ १, बकरा , पुरुष ३, भेंड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६, और गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझ से जान लो ॥५१॥ कुत्ता १, दो खुरवाले हरिण हाथी ३, बानर ४, पक्षी ५, औदक मत्स्यादिक ६, और सरीसृप ७ ये सात वन में होनेवाले पशु हैं ॥५२॥ तेज के विषय में लिखा है— **तेजः परैः अनभिभवनीयता ॥** (रामानुजभाष्य०गी०अ० १८ श्लोक ४३) दूसरे से न दबने का नाम तेज है ॥४३॥ यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चमप्रपाठक का उन्नईसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ विंशखण्डः ॥

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) पहली आहुति देने के अनन्तर (याम्) जिस (द्वितीयाम्) दूसरी आहुति को (जुहुयात्) प्राणाग्निहोत्र कर्ता जठरानल में सविधि हवन करे (ताम्) उस दूसरी आहुति को (व्यानाय) व्यानवायु के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ ऐसा कहकर (जुहुयात्) सविधि जठराग्नि में हवन करे (इति) इस प्रकार दूसरी आहुति देने से (व्यानः) व्यान के अभिमानी देवता (तृप्यति) तृप्त होता है ॥१॥

विशेषार्थ—प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक पहली आहुति देने के पश्चात् जो दूसरी आहुति दे उसे 'व्यानाय स्वाहा' ऐसा कहकर सविधि जठरानल में हवन करे। इस प्रकार दूसरी आहुति देने से व्यान के अभिमानी देवता तृप्त हो जाते हैं। व्यान के विषय में लिखा हैं— **हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्तति द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। तासु व्यानश्चरति॥** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ६) निश्चय करके यह जीवात्मा शरीर के हृदय देश में स्थित रहती है और इस हृदय में एक सौ मूलभूत प्रधान नाड़ियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक-एक सौ शाखा नाड़ियाँ हैं। प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं। इन बहत्तर करोड़ नाड़ियों में व्यान वायु विचरता है ॥६॥ **व्यानः सर्व शरीरेतु ॥** (योगचूडाम० उ० श्रु० २४) व्यान वायु सब शरीर में रहता है ।२४॥ आहुति देने का नियम लिखा है **कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठै व्यानायेत्याहुतिं ततः ॥** (वृद्धहारी० अ० ८ श्लोक २६४) कानी अंगुली और कानी के पास की अनामिका तथा अंगूठा इन तीन अंगुलियों से भगवत्प्रसाद हविष्य को उठाकर तिसके बाद 'व्यानाय स्वाहा' इस मन्त्र से जठराग्नि में आहुति प्रदान करे ॥२६४॥ और विष्णु पुराण के नियमानुसार तथा- **तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदान तपः क्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥** (गी० अ० १७ श्लो० २४) वैदिक कर्मों के

साथ ओम् का सम्बन्ध है। इसलिये वेदपाठियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ सदा 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं ॥२४॥ इस सिद्धान्तानुसार सब मन्त्रों के आदि में प्रणव अवश्य उच्चारण करना चाहिये। इससे 'ओं व्यानाय स्वाहा' इतना पढकर जठरानल में दूसरी आहुति प्रदान करे ॥१॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किं च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभि रन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके विंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(व्याने) व्यान के अभिमानी देवता के (तृप्यति) तृप्त होने पर (श्रोत्रम्) श्रोत्राभिमानी देवता (तृप्यति) तृप्त होता है (श्रोत्रे) कर्णाभिमानी देवता के (तृप्यति) तृप्त होने पर (चन्द्रमाः)चन्द्रमाभिमानी देवता (तृप्यति) तृप्त होता हैं (चन्द्रमसि) चन्द्राभिमानी देवता के (तृप्यति) तृप्त होने पर (दिशः) दिशाभिमानी देवता सब (तृप्यन्ति) तृप्त होते हैं (दिक्षु) दिशाभिमानी देवताओं के (तृप्यन्तीषु) तृप्त होने पर (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (दिशः) दिशाभिमानी (च) और (चन्द्रमाः) चन्द्राभिमानी देवताओं से (अधितिष्ठन्ति) अधिकार में रखा हुआ वस्तु समुदाय है (तत्) उस वस्तु जात के अभिमानी देव (च) भी (तृप्यति) तृप्त होता है (तस्य) उस सब वस्तुओं के अभिमानी देवता को (तृप्तिम्) तृप्ति के (अनु) पीछे प्राणाग्नि होत्रकर्ता उपासक (प्रजया) पुत्र शिष्य आदि प्रजा से और (पशुभिः) गौ अश्व गज आदि पशुओं से तथा (अन्नाद्येन) विविध खाद्य पदार्थों से और (तेजसा) दूसरे से नहीं दबने रूप तेज से तथा (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है (इति) इस प्रकार दूसरी आहुति का फल कहा गया ॥२॥

विशेषार्थ—अब दूसरी आहुति का फल कहा जाता है। इस श्रुति में भी व्यान श्रोत्र आदि शब्द तदभिमानी देवता वाचक हैं क्योंकि अचेतन व्यान आदिक की तृप्ति होना असम्भव है। इससे यह अर्थ

हुआ कि – व्यानाभिमानी देवता के तृप्त होने पर तो श्रोत्राभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं और श्रोत्राभिमानी देवता के तृप्त होने पर तो चन्द्राभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं चन्द्रमाभिमानो देवता के तृप्त होने पर तो दिशाभिमानी देव सब तृप्त हो जाते हैं और दिशाभिमानी देवताओं के तृप्त होने पर तो, दिशाभिमानी देवताओं से और चन्द्राभिमानी देवता से अधिष्ठित जो कुछ भी वस्तु जात है तदभिमानी देवता सब तृप्त हो जाते हैं। उन सब वस्तुओं के अभिमानी देवता की तृप्ति के पश्चात् स्वयं प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक पुत्र शिष्य आदि प्रजा से और गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पशुओं से तथा अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों से और तेज से तथा ब्रह्मवर्चस से तृप्त हो जाता है। शरीर के देवता का नाम लिखा है— **दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः। तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः ॥** (वाराहोप० अ० १ श्रु० १४) दिशा १, वायु २, सूर्य ३, वरुण ४, अश्विनीकुमार ५, अग्नि ६, इन्द्र ७, उपेन्द्र ८, मृत्यु ९, चन्द्र १०, ब्रह्मा ११, रुद्र १२, क्षेत्रज्ञ १३ और ईश्वर १४ ये शरीर के देवता हैं ॥१४॥ यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' का बीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथैकविंशखण्डः ॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) दूसरी आहुति देने के अनन्तर (याम्) जिस (तृतीयाम्) तीसरी आहुति को (जुहुयात्) प्राणाग्निहोत्रकर्ता जठरानल में सविधि हवन करे (ताम्) उस तीसरी आहुति को (अपानाय) अपान वायु के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ ऐसा कहकर (जुहुयात्) सविधि जठराग्नि में हवन करे। (इति) इस प्रकार तीसरी आहुति देने से (अपानः) अपान के अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होता है ॥१॥

विशेषार्थ—प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक दूसरी आहुति देने के बाद जो तीसरी आहुति दे उसे 'अपानाय स्वाहा' ऐसा कहकर सविधि जठरानल में हवन करे। इस प्रकार तीसरी आहुति देने से अपान के अभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं। अपान के विषय में लिखा है— **पायूपस्थेऽपानम् ॥** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ५) मलद्वार और मूत्रद्वार में

अपान वायु रहती है ॥५॥ **अपानो गुदमण्डले** ॥(योग०चू०उ०श्रु२४) गुदामार्ग में अपान वायु रहती है ॥२४॥ आहुति देने का नियम लिखा है – **मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैरपानायेत्यनन्तरम्** ॥ (वृद्धहारी० अ० ८ श्लोक २६४) कानी अंगुली के पास की अनामिका और दाहीने हाथ के मध्य की अंगुली तथा अंगूठा इन तीन अंगुलियों से भगवत्प्रसाद हविष्य को उठा कर उसके बाद "अपनाय स्वाहा" इस मन्त्र से जठराग्नि में आहुति प्रदान करे ॥२६४॥ और विष्णुपुराण के सिद्धान्तानुसार प्रणव सहित मन्त्र पढ कर आहुति प्रदान करना चाहिये। अर्थात् "ओमपानाय स्वाहा" इस मन्त्र से तीसरी आहुति दे ॥१॥

अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्यन्त्या मग्नि स्तृप्यति अग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठत स्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके एकविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ –(अपाने) अपान के अभिमाना देवता के (तृप्यति) तृप्त होने पर (वाक्) वागभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होता है (वाचि) वागभिमानी देव के (तृप्यन्त्याम्) तृप्त होने पर (अग्निः) अग्निदेव (तृप्यति) तृप्त होता है (अग्नौ) अग्निदेव के (तृप्यति) तृप्त होने पर (पृथिवी) पृथ्वी का अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होता है (पृथिव्याम्) पृथ्वी अभिमानी देवता के (तृप्यन्त्याम्) तृप्त होने पर (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (पृथिवी) पृथ्वी अभिमानी देव (च) और (अग्निः) अग्निदेव से (अधितिष्ठतः) अधिकार में रखा हुआ वस्तु समुदाय है (तत्) उस वस्तु जात के अभिमानी देव (च) भी (तृप्यति) तृप्त होता है (तस्य) उन वस्तुओं के अभिमानी देव को (तृप्तिम्) तृप्ति के (अनु) पीछे प्राणाग्निहोत्रकर्ता उपासक (प्रजया) पुत्र शिष्य आदि प्रजा से और (पशुभिः) गौ अश्व गज आदि पशुओं से तथा (अन्नाद्येन) विविध खाद्य पदार्थों से और (तेजसा) दूसरे से नहीं दबने रूप तेज से तथा (ब्रह्मवर्च-

सेन) ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है(इति) इस प्रकार तीसरी आहुति का फल कहा गया ।।२।।

विशेषार्थ—अब तीसरी आहुति का फल कहा जाता है। इस श्रुति में भी अपान वाक् आदि शब्द तदभिमानी देवता वाचक हैं, क्योंकि अचेतन अपान आदि का तृप्त होना असम्भव है। इससे यह अर्थ हुआ कि—अपान के अभिमानी देवता के तृप्त होने पर तो वागभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं और वागभिमानी देवता के तृप्त होने पर तो अग्निदेव तृप्त हो जाते हैं। अग्निदेव के तृप्त होने पर पृथ्वी अभिमानी देवता तृप्त हो जाते हैं तथा पृथ्वी अभिमानी देव के तृप्त होने पर तो पृथ्वी अभिमानी देव से और अग्निदेव से अधिष्ठित जो कुछ भी वस्तु जात है तदभिमानी सब देव तृप्त हो जाते हैं तथा उन सब वस्तुओं के अभिमानी देवता के तृप्ति के पीछे स्वयं प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक पुत्र शिष्य आदि प्रजा से और गौ भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पशुओं से तथा विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों से और तेज से और ब्रह्म प्रभाव से तृप्त हो जाता है। अग्नि आदि देव हैं क्योंकि लिखा है—**अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पति र्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।।** (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, उन्चास मरुत् देव, विश्वेदेव देव, बृहस्पति देव, इन्द्र देव और वरुण देव हैं ।।२।। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक का ईक्कीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।२।।

।। अथ द्वात्रिंशखण्डः ।।

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ।। १ ।।

अन्वयार्थ—(अथ) तीसरी आहुति देने के अनन्तर (याम्) जिस (चतुर्थीम्) चौथी आहुति को (जुहुयात्) प्राणाग्निहोत्र कर्ता जठरानल में सविधि हवन करे (ताम्) उस चौथी आहुति को (समानाय) समान वायु के लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ ऐसा कहकर (जुहुयात्) सविधि जठराग्नि में हवन करे (इति) इस प्रकार चौथी आहुति देने से

(समान:) समान वायु का अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होता है ॥१॥

विशेषार्थ—प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक तीसरी आहुति देने के बाद जो चौथी आहुति दे उसे 'समानाय स्वाहा" ऐसा कहकर सविधि जठरानल में हवन करे। इस प्रकार चौथी आहुति देने से समान वायु के अभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं। समान वायु के विषय में लिखा हैं—**मध्ये समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति** ॥(प्रश्नो०प्र०३श्रु०५) शरीर के मध्य भाग में समान वायु रहती है। यह समान वायु इस भोजन किये अन्न को निश्चय करके सब शरीर में समान रूप से पहुँचाता है ॥५॥ **समानो नाभिदेशे तु** ॥ (योगचूडा० उ० श्रु० २४) समान वायु नाभि देश में रहती है ॥२४॥ आहुति देने का नियम लिखा है—**समानायेति जुहुयात्सर्वैरङ्गुलिभिर्द्विजः** ॥ (वृद्धहा० अ० ८ श्लोक २६५) द्विजन्मा दाहिने हाथ की सब अंगुलियों से भगवत्प्रसाद हविष्य को उठा कर उसके बाद "समानाय स्वाहा" इस मन्त्र से जठराग्नि में आहुति प्रदान करे ॥२६५॥ और विष्णुपुराण के मतानुसार प्रणव सहित मन्त्र पढ़कर आहुति प्रदान करना चाहिये। अर्थात् "ओं समानाय स्वाहा" इस मन्त्र को पढ़कर चौथी आहुति दे ॥१॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके द्वाविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(समाने) समान वायु के अभिमानी देव के तृप्यति) तृप्त होने पर (मन:) मन के अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होते हैं (मनसि) मन के अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होने पर (पर्जन्य:) पर्जन्याभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होता है (पर्जन्ये) पर्जन्यभिमानी देव के (तृप्यति) तृप्त होने पर (विद्युत्) बिजली के अभिमाती देव (तृप्यति) तृप्त होते हैं (विद्युति) बिजली के अभिमानो देव के (तृप्य-

न्त्याम्) तृप्त होने पर (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (विद्युत्) बिजली के अभिमानी देव (च) और (पर्जन्य.) पर्जन्याभिमानी देव से (अधितिष्ठत:) अधिकार में रखा हुआ वस्तु समुदाय है (तत्) उस वस्तु जात का अभिमानी देव (च) भी (तृप्यति) तृप्त होते हैं (तस्य) उन सब वस्तुओं के अभिमानी देव की (तृप्तिम्) तृप्ति के (अनु) पीछे प्राणाग्निहोत्रकर्ता उपासक (प्रजया) पुत्र, शिष्य आदि प्रजा से और (पशुभि:) गौ, अश्व, गज आदि पशुओं से तथा (अन्नाद्येन) विविध खाद्य पदार्थों से और (तेजसा) दूसरे से नहीं दबने रूप तेज से तथा (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से तृप्यति तृप्त होता है (इति) इस प्रकार चौथी आहुति का फल कहा गया ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अब चौथी आहुति का फल कहा जाता है। इस श्रुति में समान आदि शब्द तदभिमानी देवतावाचक हैं, क्योंकि अचेतन समान आदि का तृप्त होना सम्भव नहीं है। इससे यह अर्थ हुआ कि—समान वायु के अभिमानी देव के तृप्त होने पर तो मन के अभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं। मन के अभिमानी देव के तृप्त होने पर पर्जन्याभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं। पर्जन्याभिमानी देव के तृप्त होने पर विद्युदभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं और विद्युदभिमानी देव के तृप्त होने पर तो विद्युदभिमानी देव से तथा पर्जन्याभिमानी देव से अधिष्ठित जो कुछ वस्तु जात है तदभिमानी सब देव तृप्त हो जाते हैं। उन सब वस्तुओं के अभिमानी सब देव की तृप्ति के पश्चात् स्वयं प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक पुत्र, शिष्य आदि, प्रजा से और गौ, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पशुओं से तथा नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों से और दूसरे से नहीं दबने रूप तेज से तथा ब्रह्मतेज से तृप्त हो जाता है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक का बाईसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ त्रयोविंशखण्डः ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) चौथी आहुति देने के अनन्तर (याम्) जिस (पञ्चमीम्) पाँचवी आहुति को (जुहुयात्) प्राणाग्निहोत्र कर्ता जठरानल में हवन करे (ताम्) उस पाँचवी आहुति को (उदानाय) उदान वायु के

लिये (स्वाहा) यह आहुति देता हुँ ऐसा कह कर (जुहुयात्) सविधि जठराग्नि में हवन करे (इति) इस प्रकार पाँचवीं आहुति देने से (उदानः) उदान वायु के अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होते हैं ॥१॥

विशेषार्थ - प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक चौथी आहुति देने के बाद जो पाँचवीं आहुति दे उसे "उदानाय स्वाहा" ऐसा कह कर सविधि जठरानल में हवन करे। इस प्रकार पाँचवीं आहुति देने से उदान वायु के अभिमानी देवता तृप्त हो जाते हैं। उदान वायु के विषय में लिखा है—**अथैकयोर्ध्व उदानः ॥** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ७) इसके अनन्तर बहत्तर करोड़ नाड़ियों से अलग एक सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वमुख उदान वायु ऊपर मस्तक की ओर विचरती है ॥७॥ **उदानः कण्ठ-मध्यगः ॥** (योगचूडामण्यु० श्रु० २४) उदान वायु कण्ठ के मध्य में विचरती है ॥२४॥ आहुति देने का नियम लिखा है—**कनिष्ठातर्जन्यङ्गुष्ठैरुदानायेति वै यजेत् ॥** (वृद्धहा०स्मृ०अ० ८ श्लोक २६५) अंगूठे और अंगूठे के पास की तर्जनी तथा कानी इन तीन अङ्गुलियों से भगवत्प्रसाद हविष्य को उठाकर उसके बाद "उदानाय स्वाहा" इस मन्त्र से जठराग्नि में आहुति प्रदान करे ॥ २६५ ॥ विष्णु पुराण के अनुसार प्रणव के साथ मन्त्र पढ़कर आहुति प्रदान करनी चाहिये। अर्थात् "ओमुदानाय स्वाहा" ऐसा कह कर पाँचवीं आहुति दे। इसके बाद उपासक अपने दाहिने हाथ की हथेली में जलपात्र से शुद्ध थोड़ा जल लेकर **अमृतापिधानमसि** (तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० ३५ श्रु० १) इस मन्त्र से पी जाय तदनन्तर शेष प्रसाद सेवन करे ॥१॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किं च वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठत स्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके त्रयोविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ - (उदाने) उदान वायु के अभिमानी देव के (तृप्यति) तृप्त होने पर (त्वक्) त्वचा के अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होता है

(त्वचि) त्वगभिमानी देव के (तृप्यन्त्याम्) तृप्त होने पर (वायुः) वायुदेव (तृप्यति) तृप्त होता है (वायौ) वायुदेव के (तृप्यति) तृप्त होने पर (आकाशः) आकाश के अभिमानी देव (तृप्यति) तृप्त होता है (आकाशे) आकाशाभिमानी देव के (तृप्यति) तृप्त होने पर (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (वायुः) वायुदेव (च) और (आकाशः) आकाशाभिमानी देव से (अधितिष्ठतः) अधिकार में रखा हुआ वस्तु समुदाय है (तत्) उस वस्तु समुदाय के अभिमानी देव (च) भी (तृप्यति) तृप्त होता है (तस्य) उन सब वस्तु समुदाय के अभिमानी देव की (तृप्तिम्) तृप्ति के (अनु) पीछे प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक (प्रजया) पुत्र, शिष्य आदि प्रजा से और (पशुभिः) गौ, हय गज आदि पशुओं से तथा (अन्नाद्येन) विविध खाद्य पदर्थों से और (तेजसा) दूसरे से नहीं दबने रूप तेज से तथा (ब्रह्मवर्चसेन) वृत्ताध्ययन निमित्त तेज से (तृप्यति) तृप्त होता है (इति) इस प्रकार पाँचवी आहुति का फल प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

विशेषार्थ—अब पाँचवीं आहुति का फल कहा जाता है। इस श्रुति में उदान त्वक् आदि शब्द तदभिमानी देवता वाचक हैं क्योंकि अचेतन उदान आदि के तृप्त होना असम्भव है। इससे यह अर्थ हुआ कि—उदान वायु के अभिमानी देव के तृप्त होने पर तो त्वगभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं। त्वगभिमानी देव के तृप्त होने पर वायुदेव तृप्त हो जाते हैं। वायुदेव के तृप्त होने पर आकाश के अभिमानी देव तृप्त हो जाते हैं और आकाशाभिमानी देव के तृप्त होने पर तो वायुदेव से तथा आकाश के अभिमानी देव से अधिष्ठित जो कुछ वस्तु समुदाय है तदभिमानी सब देव तृप्त हो जाते हैं। उन वस्तु समुदाय के अभिमानी सब देव की तृप्ति के पीछे स्वयं प्राणाग्निहोत्र कर्ता उपासक पुत्र, शिष्य आदि प्रजा से और गौ, भैंस, घोड़ा हाथी आदि पशुओं से तथा नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों से और दूसरे से नहीं दबने रूप तेज से तथा वृत्ताध्ययन निमित्त तेज से तृप्त हो जाता है। अन्यत्र भी लिखा है- **ब्राह्मणो भोजनं कुर्यात्प्राणाग्निहोत्रपूर्वकम् यथोक्तविधिना नित्यं न चैतदवगर्हयेत्** ॥ (आह्निक०) ब्राह्मण नित्यप्रति शास्त्रानुसार प्राणाग्निहोत्र करके भोजन करे इस प्राणाग्निहोत्र की कभी अवहेलना न करे ॥ **कुलानुद्धरते विप्रो नरकानेकविंशतिः। सर्वयज्ञफलप्राप्तिः सर्वलोकेषु गच्छति ॥ हृत्पुण्डरीकमरणिं मनोन्मथनसंज्ञकम् वायुरज्ज्वा**

मथेदग्निमात्माध्वर्युः प्रकीर्तितः ।।(विश्वामित्रकल्प.) प्राणाग्निहोत्र करने वाला विप्र अपने ईक्कीस कुलों कोनरक से उद्धार करता है और सब यज्ञ के फल को पाता है तथा अन्त में सब लोको में जाता है ।। प्राणाग्निहोत्र में हृदय कमल को अरणि और मन को मन्थनदण्ड तथा वायु रूप रस्सी से अग्नि को मन्थन करे, इस होम में आत्मा ही अध्वर्यु कही गयी है ।। ग्रन्थ के विस्तार को भय से अधिक मैं नहीं लिखता हुँ । यहा "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक का तेइसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।२।।

।। अथ चतुर्विंशखण्डः ।।

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति । यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहूयात्तादृक् तत्स्यात् ।।१।।

अन्वयार्थ—(यः) जो कोइ (इदम्) इस पूर्वोक्त वक्षस्थल आदि को अग्निहोत्र के उपकरण वेदी आदिक (अविद्वान्) नहीं जानता हुआ (अग्निहोत्रम्) प्राणाग्निहोत्र को (जुहोति) करता है (सः) वह अज्ञानी (यथा) जैसे कोई (अङ्गारान्) अग्निहोत्र योग्य अङ्गारों को (अपोह्य) हटा कर (भस्मनि) भस्म में (जुहुयात्) हवन करे (तादृक्) उस समान (तत्) वह प्राणाग्निहोत्र (स्यात्) निष्फल है ।।१।।

विशेषार्थ—जो कोई उपासक अपने बक्षस्थल को अग्निहोत्र के उपकरण वेदी और अपने लोम आदि को कुशा आदिक तथा किस मन्त्र को पढ़कर किस प्रकार हवन करना चाहिये और किस आहुति से किस की तृप्ति होती है इत्यादि वैश्वानर विज्ञान कोनहीं जानता हुआ प्राणाग्नि होत्र का अनुष्ठान करता है तो वह अज्ञानी जिस प्रकार अग्निहोत्र करने योग्य अङ्गारों को हटाकर भस्म में हवन करे उसी समान उसका प्राणाग्नि होत्र करना सर्वथा निष्फल है । भवजलनिधिसेतु भगवद्रामानुजाचार्य ने **सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति** ।। (शा० मी० अ० १ पा० २) सू० ३२) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के चौबीसवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ।।१।।

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति । तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ।।२।।

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यः) जो कोई (एतत्) इस वैश्वानर

विज्ञान को (एवम्) ऐसे (विद्वान्) जानता हुआ (अग्निहोत्रम्) प्राणाग्निहोत्र को (जुहोति) करता है (तस्य) उसका (सर्वेषु) समस्त (लोकेषु) द्युलोकप्रभृति लोकों में और (सर्वेषु) सारे (भूतेषु) भूतों में तथा (सर्वेषु) सम्पूर्ण (आत्मसु) आत्माओं में (हुतम्) हवन (भवति) होता है ॥२॥

विशेषार्थ – अनन्तर जो कोई उपासक इस वैश्वानर विज्ञानको इस प्रकार जानता हुआ प्राणाग्निहोत्र का अनुष्ठान करता है उसका समस्त द्युलोक प्रभृति लोक लोकान्तर में तथा सम्पूर्ण पृथिव्यादिक भूतों में और सब आत्माओं में हवन हो जाता है। अर्थात् सर्वात्मक भगवदाराधना से सब आराधित होता है। मङ्गलभवन भगवद्रामानुजाचार्य ने– **सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति** ॥ (शा० मी० अ० १।२।३२) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक के चौबीसवें खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥२॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३॥

अन्वयार्थ—(तत्) इस कारण (यथा) जैसे (इषिकातूलम्) मुञ्ज की सींक की रूई (अग्नौ) अग्नि में (प्रोतम्) प्रक्षिप्त होने पर (प्रदूयेत) अति शीघ्र जलकर भस्म हो जाती है (एवम्) वैसे ही (यः) जो उपासक (एतत्) इस (अग्निहोत्रम्) प्राणग्निहोत्र को (एवम्) इस प्रकार वैश्वानर विद्या के अङ्ग (विद्वान्) जानता हुआ (जुहोति) अनुष्ठान करता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासकके (सर्वे) सब (पाप्मानः) पाप (प्रदूयन्ते) वैश्वानर विद्या के अङ्ग प्राणाग्निहोत्र के अनुष्ठान से भस्म हो जाते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार मुञ्ज की सींक का अग्र भाग आगमें घुसा देनेसे तत्काल जल जाता है उसी प्रकार जो उपासक इस प्राणाग्निहौत्र को इस प्रकार वैश्वानर विद्या का अङ्ग जानता हुआ अनुष्ठान करता है उस सुप्रसिद्ध उपासक के समस्त पाप वैश्वानर विद्या के अङ्ग प्राणाग्निहोत्रके अनुष्ठानसे विनष्ट हो जाते हैं। यहाँ उपासना के फल प्रतिपादनके साथ ही वैश्वानर विद्याके अङ्ग प्राणाग्निहोत्रको बतलाया गयाहै। शान्तशिरोमणि भगवद्रामानुजाचार्यने–**वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्** ॥ (शा० मी०अ० १।२।२५) **सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति** ॥ (शा मी·

अ० १।२।३२) **तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्॥** (शा० मी० अ० ४।१।१३) **अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥** (शा० मी० अ० ४।१।१५) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के चौबीसवें खण्ड की तीसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥३॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादिति । तदेष श्लोकः ॥४॥

अन्वयार्थ - (तस्मात्) उस वैश्वानर की उपासना के प्रभाव से(उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध(एवंविद्)इस प्रकार वैश्वानर विद्या को जानने वाला उपासक (यद्यपि) यदि (चाण्डालाय) अतिनिकृष्ट चाण्डाल के लिये (उच्छिष्टम्) जूठा भी (प्रयेच्छेत्) दे तो (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उपासक का (तत्) वह अन्न (एव) निश्चय करके (वैश्वानरे) वैश्वानर संज्ञक (आत्मनि) परमात्मा में (हुतम्) होमित (स्यात्) होगा (इति) यह श्रौत सिद्धान्त है (तत्) इस उक्त प्राणअग्निहोत्र के विषय में (एषः) यह आगे कहे जानेवाला (श्लोकः) श्लोक रूप मन्त्र सुना जाता है ॥४॥

विशेषार्थ – अब वैश्वानर विद्या की स्तुति की जाती है । उस पूर्वोक्त वैश्वानर की उपासना के प्रभाव से इस प्रकार वैश्वानर को जानने वाला सुप्रसिद्ध उपासक यदि अति निकृष्ट चाण्डाल को उच्छिष्ट भी दे तो भी उस उपासक का दिया हुआ अन्न वैश्वानर संज्ञक परब्रह्म नारायण में ही हुत होगा । इस उक्त प्राणाग्निहोत्र के विषय में यह वक्ष्यमाण श्लोक रूप मन्त्र सुना जाता है । चाण्डाल के विषय में लिखा है— **शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमोनृणाम् । वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥** (मनु० अ० १० श्लोक १२) शूद्र से वैश्या स्त्री में आयोगव तथा शूद्र से क्षत्रिया स्त्री में क्षत्ता और शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में मनुष्यों में नीच चाण्डाल ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ॥१२॥ उच्छिष्ट के विषय में लिखा है— **उच्छिष्टं गुर्वादिभ्यः अन्येषां भुक्तशिष्टम् ॥** (रामानुज भाष्य गी० अ० १७ श्लोक १०) गुरु आदि के अतिरिक्त दूसरों के भोजन करने पर बचे हुए का नाम उच्छिष्ट है ॥१०॥ 'उच्छिष्ट किसी को नहीं

देना चाहिये' ऐसा धर्मशास्त्र कहता है। परन्तु वैश्वानर परब्रह्म में मैं हवन करता हूँ इस बुद्धि से यदि अति नीच को जूठा दिया जाय तो वह अधर्म नहीं हो सकता है ॥४॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवं सर्वाणिभूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥५॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठकेचतुर्विंशखण्डः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकः समाप्तः ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (इह) इस संसार में (क्षुधिताः) क्षुधा से पीड़ित (बालाः) छोटे बच्चे कब माँ भोजन देगी (इति) इस भाव से (मातरम्) अपनी अपनी माता की (पर्युपास्ते) सब प्रकार से उपासना करते हैं (एवम्) वैसे ही (सर्वाणि) समस्त (भूतानि) प्राणी (अग्निहोत्रम्) प्राणाग्निहोत्र की (उपास्ते) उपासना करते हैं (अग्निहोत्रम्)प्राणाग्निहोत्र की (उपास्ते) उपासना करते हैं (इति) यही प्राणाग्निहोत्र के विषय में श्लोकरूप मंत्र है ॥५॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार इस लोक में भूखे छोटे बच्चे कब माता भोजन देगी इस अभिप्राय से सब प्रकार अपनी माताकी उपासना करतेहैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी प्राणाग्नि होत्र की उपासना करते हैं। माता के विषय में लिखा है - **मातृदेवो भव** ॥ (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ११ श्रु० २) तुम माता में देव बुद्धि करने वाले बनो ॥२॥ **सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते** ॥ (मनु० अ० २ श्लो० १४५) हजार गुना पिता से गौरव करके अतिरिक्त श्रेष्ठ माता होती है ॥१४५॥ **माता पृथिव्या मूर्तिस्तु** ॥ (मनु० अ०२ श्लो०२२६) माता पृथ्वी की मूर्ति हैं ।२२६॥ **माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः** ॥(मनु० अ० २ श्लो० ३३१) माता दक्षिणाग्नि है ॥३३१॥इस स्तुति में 'अग्निहोत्रमुपासत इति' इस अन्तिम वाक्य को दो बार कहकर "छान्दोग्योपनिषद्" के पञ्चमप्रपाठक का चौबीसवाँ खण्ड और प्रकृत पञ्चमप्रपाठक की समाप्ति सूचित की गयी है। क्योंकि लिखा है— **अवधारणार्थं सर्वस्याप्युक्तस्याध्यायमूलतः । द्विरुक्तिं कुर्वते प्राज्ञा अध्यायान्ते विनिर्णये** ॥ (वाराहसंहिता अ० १

पा० ४ सू० २६) अध्याय के मूल से लेकर अन्त तक कहे हुए समस्त उपदेश की निश्चितता सूचन करने के लिये प्राज्ञ जन अध्याय के अन्त में दोबार उच्चारण करते हैं ऐसा श्रौत सिद्धान्त का विशेष रूपसे निर्णय है ॥२६॥ **अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्याद्वेदवा वैदिकेऽपि वा । विचारो यत्र सज्जेत पूर्वोक्तस्यावधारणे ॥ अनुक्तानां प्रमाणानां स्वीकारश्च कृतो भवेत् । विनिन्द्य चेतरान्मार्गान्सम्पूर्णफलता तथा ॥** (गारुड-संहिता० अ० २ पा० ४सू० २३) वेद और वेदानुसार ग्रन्थों में अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण होना चाहिये। पहले कहे हुए अर्थ के निर्धारण में भी विचार जहाँ पर प्रवृत्त होता है वहाँ पर भी दो बार उच्चारण होता है। और जहाँ पर नहीं कहे हुए प्रमाणों को स्वीकार किया जाता है तथा वेद विरुद्धमार्गों की निन्दा करके सम्पूर्णता रूप फल प्राप्त होता है वहाँ पर भी अन्तिम वाक्य दो बार कहा जाता है ॥ २३ ॥ इस पाँचवें प्रपाठक में चौबीस खण्ड हैं। पञ्चम प्रपाठक के पहले खण्ड में पन्द्रह मन्त्र हैं और दूसरे खण्ड में आठ मंत्र हैं तथा तीसरे खण्ड में और ग्यारहवें खण्ड में सात सात मंत्र हैं तथा दसवें खण्ड में दस मंत्र हैं और चौबीसवें खण्ड में चार मंत्र हैं तथा शेष अठारह खण्डों में दो दो मंत्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस पञ्चम प्रपाठक में सतासी मंत्र हैं। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक का चौबीसवां खण्ड और पञ्चम प्रपाठक भी समाप्त हो गये ॥ ५ ॥

॥ अथ षष्ठप्रपाठकः ॥

॥ अथ प्रथमखण्डः ॥

श्वेतकेतु र्हारुणेय आस। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (आरुणेय:) अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक महर्षि का पुत्र अर्थात् अरुण ऋषि का पौत्र (श्वेतकेतु:) श्वेतकेतु नाम का एक ऋषिकुमार (आस) था (ह) सुप्रसिद्ध (पिता) श्वेतकेतु के पिता उद्दालक महर्षि ने (तम्) उस अनुपनीत बारह वर्ष के श्वेतकेतु नामक कुमार से (इ त) यह (उवाच) कहा कि (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो (ब्रह्म-

चर्यम्) वेदाध्ययनार्थ आश्रमविशेष के लिये (वस) आचार्यकुल में निवास करो क्योंकि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (वै) निश्चय करके (अस्मत्कुलीनः) हमारे कुल में उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष (अननूच्य) वेदों का अध्ययन नहीं करके (ब्रह्मबन्धुः) ब्रह्मबन्धु के (इव) समान (न) नहीं (भवति) होता है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—सद्विद्या का उपदेश देने के लिये पिता पुत्र सम्वादरूप आख्यायिका यहाँ कही जाती है कि--अरुण ऋषि का सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु नाम का एक ऋषिकुमार था। उस अनुपनीत अनधीत बारह वर्ष के श्वेतकेतु नाम के पुत्र से उसके सुप्रसिद्ध पिता उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे श्वेतकेतो ! गुरुकुल में जाकर वेदाध्ययनार्थ ब्रह्मचर्य पालन करता हुआ तुम निवास करो। क्योंकि हे सोमार्ह प्रियदर्शन वत्स ! यह बात निश्चित है कि हमारे गौतमकुल में उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष आजतक वेदाध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु के समान नहीं होता है। पिता के विषय में लिखा है— **पितृदेवो भव ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ११ श्रु० २) तुम पिता में देवबुद्धि करने वाला बनो ॥२॥ **आचार्याणां शतं पिता ॥** (मनु० अ० २ श्लो० १४५) सौ उपनयन पूर्वक सावित्री मात्र पढ़ानेवाले आचार्य की अपेक्षा पिता श्रेष्ठ है ॥ १४५ ॥ **पिता मूर्तिः प्रजापतेः ॥** (मनु०अ०२ श्लो०२२६) पिता ब्रह्मा की मूर्ति है ॥२२६॥ **पिता वै गार्हपत्योग्निः ॥**(मनु०अ०२ श्लो० २३१) पिता ही गार्हपत्य अग्नि हैं ॥ २३१ ॥ ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा है— **स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्चक्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥** (स्मृति०) स्त्रियों का स्मरण करना १, उसके नाम का कीर्तन करना २, उसके साथ क्रीडा करना ३, उसे प्रेमदृष्टि से देखना ४, उसके साथ रहस्य वार्तालाप करना ५, उसके बारे में संकल्प विकल्प मन में करना ६ तथास्त्रियोंके साथ व्यवहार करना ७ और क्रिया निवृत्ति ८, ये आठ मैथुन के अङ्ग हैं तथा इनके विपरीत आठ लक्षण वाले को मनीषी लोग ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥ **ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धिशुक्रे-**

क्षणादिरहितत्वम् ॥ (रामानुजभाष्यगी० अ०१७ श्लो०१४) स्त्रियों में भोग्यताबुद्धि करके उनका दर्शन आदि नहीं करना ब्रह्मचर्य कहलाता है ॥१४॥ **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः** ॥(योग० अ० १ पा०१ सू०३८) ब्रह्मचर्य सिद्ध होने पर वीर्यलाभ होता है ॥ ३८ ॥ जो स्वयं ब्राह्मण न हो परन्तु लोगों से बतलावे कि मेरे सम्बन्धी ब्राह्मण हैं उसे ब्रह्मबन्धु कहते हैं। अर्थात ब्राह्मणों में अधम निकृष्ट ब्रह्मबन्धु कहलाता है। श्रीभाष्य-निर्माता भगवद्रामानुजाचार्य ने **पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्** (शा० मी० ३।४।२६) के श्रीभाष्य में छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक के पहले खण्ड की पहली श्रुति के 'श्वेतकेतु र्हारुणेय आस' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तं ह पितोवाच ॥२॥

अन्वयार्थ— (ह) प्रसिद्ध (द्वादशवर्षः) बारहवर्ष का (सः वह श्वेतकेतु नाम का ऋषिकुमार [उपेत्य] पिता की आज्ञा से आचार्य के पास जाकर [चतुर्विंशतिवर्षः] चौबीसवर्ष के होने तक गुरुकुल में रहकर, (सर्वान्) सम्पूर्ण (वेदान्) वेदों को (अधीत्य) पढ़ करके (महामनाः) बड़ा मन वाला प्रौढ़मति और (अनूचानमानी) अपने को साङ्गवेदाध्यायी मानने वाला (स्तब्धः] परिपूर्ण के समान जगत्त्रय को तृण सा जानता हुआ अनम्र भाव से (एयाय) अपने घर लौट आया तब अपने पुत्र की यह दशा देखकर (ह) प्रसिद्ध पिता] श्वेतकेतु के पिता उद्दालक महर्षि ने [तम्] उस स्तब्ध श्वेतकेतु से [उवाच] कहा ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वह प्रसिद्ध श्वेतकेतु नाम का ऋषिकुमार अपने पिता उद्दालक महर्षि की आज्ञा पाकर सुयोग्य आचार्य की सन्निधि में बारह वर्ष की अवस्था में जाकर उपनयन संस्कार कराके चौबीस वर्ष की अवस्था होने तक गुरुकुल में निवास करके व्याकरण १, शिक्षा २, कल्प ३, निरुक्त ४, छन्द ५ और ज्योतिष ६ के साथ समस्त ऋग्वेद १, यजुर्वेद २, सामवेद ३, और अथर्ववेद ४ को अध्ययन करके अपने को प्रौढ़मति बडा बुद्धिमान् और साङ्गवेदाध्यायी या व्याख्यान करने वाला मानता

हुआ तथा परिपूर्ण के समान तीनों लोकों को तृण सा जानता हुआ उद्धत स्वभाव से अपने घर पर लौट आया। तत्पश्चात् अपने पुत्र को सद्विद्या से विपरीत गुणवाला जानकर सुप्रसिद्ध श्वेतकेतु के पिता आरुणि उद्दालक महर्षि ने उस स्तब्ध श्वेतकेतु से वक्ष्यमाण वाक्य को कहा। वेद के विषय में लिखा है— **मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** ॥ (आपस्तम्ब० श्रौतसू० २४।१।३१) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ॥३१॥ **मंत्रब्राह्मणमित्याहुः** ॥ (बौधायनगृह्यसू० २।६।२) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं ॥२॥ **आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च** ॥ (कौशिक० सू० १।३) मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं ॥३॥ **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या** ॥ (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२) **शेषे ब्राह्मणशब्दः** ॥ (२।१।३३) प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है मंत्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ॥ ३३ ॥ **चत्वारो वेदाः** ॥ (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद हैं ॥१॥ **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था** ॥ (पूर्वमी०अ० २ पा० १ सू० ३५) **गीतिषु सामाख्या** ॥ (२।१।३६) **शेषे यजु शब्दः** ॥ (२।१।३७) **निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्** ॥ (२।१।३८) जिसमें अर्थवश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं ॥३५॥ गानमें सामवेद नाम होता है ॥३६॥ शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ॥ ३७ ॥ विशेषधर्म होने से निगद ही चतुर्थ अथर्ववेद है ॥ ३८ ॥ **ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः। नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज** ॥ (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२) **समस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप। अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे** ॥ १३ ॥ हे महावीर! ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं और यजुर्वेद की एकसौ नव शाखाएँ हैं ॥१२॥ हे परन्तप! सामवेद की हजार शाखाएँ हैं और अथर्ववेद की पचास शाखाएँ हैं ॥१३॥ इस प्रकार वर्णन किया गया है ॥४॥

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी

स्तब्धोऽसि । उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति । कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥३॥

अन्वयार्थ—(श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो (सोम्य) हे सोमाई प्रियदर्शन पुत्र (नु) मैं पूछता हूँ कि (महामनाः) बड़ा मनवाला प्रौढ़मति और (अनूचानमानी अपने को साङ्गवेदाध्यायी मानने वाला (स्तब्धः) परिपूर्ण के समान जगत्रय को तृण सा जानने वाला (असि) तुम हो सो (इति) ऐसा (इदम्) यह (यत्) जिस हेतु से होता है वह कौन है अर्थात् जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान भूत परब्रह्म नारायण का ज्ञानवाला ही पूर्ण है दूसरा नहीं (उत) क्या तुमने (तम्) उस (आदेशम्) प्रशासिता परब्रह्म नारायण को (अप्राक्ष्यः) आचार्य से पूछा था (येन) जिस अधिष्ठाता को सुनने से (अश्रुतम्) नहीं सुना हुआ (श्रुतम्) सुना हुआ (भवति) हो जाता है और जिस प्रशासिता को मनन करने से (अमतम्) नहीं मनन किया हुअ पदार्थ (मतम्) मनन किया हुआ हो जाता है तथा जिस अधिष्ठाता को निदिध्यासल करने से (अविज्ञातम्) नहीं निदिध्यासन किया हुआ पदार्थ (विज्ञातम्) विशेष रूप से विदित हो जाता है (इति) इतना सुन कर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान होना असम्भव मानता हुआ श्वेतकेतु ने कहा कि (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (नु) मैं जिज्ञासा करता हूँ कि ईदृश (सः) वह (आदेशः) प्रशासिता (कथम्) कैसे (भवति) हो जाता है ॥३॥

विशेषार्थ—श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ उद्दालक महर्षि ने अपने पुत्र से कहा कि—हे सोमाई प्रिय दर्शन पुत्र श्वेतकेतो मैं यह तुझसे पूछता हूँ कि—तू अपने को प्रौढ़मति बड़ा बुद्धिमान् और सब अङ्गों के साथ चारों वेदों का अध्ययन करने वाला अभिमानी तथा परिपूर्ण के समान तीन लोक को तृण सा जानने वाला है। परन्तु जिस कारण से यह परिपूर्ण सा होता है वह कौन पुरुष है ? इस वाक्य से जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान भूत परब्रह्म नारायण काज्ञान वाला ही पूर्ण है दूसरा कोई भी पूर्ण नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि ब्रह्मज्ञान से तुम रहित हो इससे तुम वास्तविक में परिपूर्ण नहीं हो ऐसा कह कर अपने पुत्र श्वेतकेतु के पूर्णत्वाभिमान को उद्दालक महर्षि ने दूर किया। तदनन्तर परम दयालु आरुणि महर्षि ने

ब्रह्मजिज्ञासा सम्पादन कराने के लिये पुनः श्वेतकेतु से कहा कि – क्या तुमने उस प्रसिद्ध प्रशासिता परब्रह्म नारायण को अपने गुरु से पूछा था ? यहाँ पर 'आदेश' शब्द का अर्थ प्रशासिता हैं। क्योंकि 'आङ्' पूर्वक दिश धातु नियोक्ता में प्रयोजन जिसका है उस अर्थ का वाचक है। प्रशासिता परब्रह्म नारायण हैं। क्योंकि लिखा है— **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् ॥** (तै० आ० प्रपा० ३ अनुवा० ११ श्रु० ३) सब जनों के शासक सबके भीतर में प्रविष्ट है ॥ ३ ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्ध-मासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्यानद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥

(बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० ९) हे गार्गि ! इस अक्षर पर ब्रह्म नारायण के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अविनाशी परमात्मा के ही प्रशासन में द्युलोक और पृथ्वी विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर श्रीश के ही प्रशासन में निमेष मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि ! इस अविनाशी श्रीमन्नारायण के ही प्रशासन में पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतों से बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस जिस दिशा को बहने लगती हैं उसी का अनुसरण करती रहती हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर परब्रह्म नारायण के ही प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते है ॥ ९ ॥ **प्रशासितारं सर्वेषाम् ॥** सबके प्रशासिता। इन वाक्यों से प्रति-पन्न परमात्मधर्मभूत प्रशासिता यहाँ आदेश शब्द का अर्थ है। जिस अधिष्ठाता परब्रह्म नारायण के सुनने से नहीं सुना हुआ श्रुत हो जाता है और जिस अधिष्ठाता श्रीमन्नारायण के मनन करने से नहीं मनन किया हुआ मनन किया हो जाता है तथा

जिस अधिष्ठाता परब्रह्म नारायण के निदिध्यासन करने से नहीं जानी हुई सब वस्तुएँ विशेष रूप से विदित हो जाती हैं। इस श्रुति में विज्ञात शब्द का निदिध्यासन अर्थ है। क्योंकि लिखा है— **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥** (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ५ श्रु० ६) अरी मैत्रेयि आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासन करने योग्य है ॥ ६ ॥ और **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ॥** (मु०उ०मु०१ खं० १ श्रु० ३) हे पूज्य भगवन्! निश्चय करके किसके जान लेने पर यह सबकुछ जाना हुआ हो जाता है ॥ ३ ॥ **आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितं भवति ॥** (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ५ श्रु० ६) अरी मैत्रेयि परब्रह्म नारायण का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन हो जाने पर निश्चय करके यह सबकुछ जाना हुआ हो जाता है ॥ ६ ॥ इन श्रुतियों के अनुसार प्रकृत छान्दोग्य की श्रुति में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है। और **येनाश्रुतं श्रुतं भवति ॥** (छां० ६।१।३) इस वाक्य से निमित्त और उपादान कारण की एकता की प्रतीति होती है। श्वेतकेतु ने विचार किया कि अन्य ज्ञान से अन्य ज्ञान होना असंभव है क्योंकि प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जल के ज्ञान से अग्नि का ज्ञान नहीं है। और पिताजी प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान होता है' ऐसा अद्भुत असंगत अप्रसिद्ध प्रश्न कर रहे हैं। इससे अब मैं पिताजी से ही इस बात को पूछ लूँ। इस प्रकार का विचार करके उद्दालक महर्षि से बोला कि—हे पूज्यपाद भगवन् वह आदेश कैसा होता है? प्रकृत श्रुति में प्रशासिता वाचक आदेश शब्द से आत्म स्वरूप पूछा है। और 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इस वाक्य से उपादान पूछा है। क्योंकि लिखा है— **यन्मयं च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम् ॥** (विष्णु पु० अं० १ अध्या० १ श्लो० ५) हे ब्रह्मन् यन्मय यह जगत् है और जिससे यह चर अचर जगत् हुआ है ॥ ५ ॥ इस श्लोक में 'यन्मयम्' पद से आत्म स्वरूप को और 'यतश्चैतच्चराचरम्' इससे उपादान को मैत्रेय ने मुनिवर पराशर महर्षि से पूछा है। यहाँ पर उद्दालक महर्षि के लिये औपचारिक 'भगवः' पद का प्रयोग श्वेतकेतु ने किया है क्योंकि लिखा है— **एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति।**

परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥ (विष्णु पु० अं० ६ अ० ५ श्लो० ७६) **तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः। शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥७७॥** हे मैत्रेय इस प्रकार यह महान् भगवत् शब्द परब्रह्म वासुदेव का ही वाचक है दूसरे का नहीं ॥ ७६ ॥ उस परब्रह्म नारायण में ही लक्षणयुक्त भगवत् शब्द का पूर्ण अर्थ है, दूसरे में औपचारिक है ॥ ७७ ॥ वेदान्तदीप निर्माता भगवद्रामानुजाचार्य ने **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ॥** (शा० मी० अ० १।४।२३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥** (शा० मी० अ० २।१।१५) **प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् ॥** (शा० मी० अ० २।३।५) **नात्मा श्रुते र्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥** (शा० मी० २।३।१८) **अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥** (शा० मी० अ० ३।३।३५) इन पाँचों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठ प्रपाठक के पहले खण्ड की तीसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ३ ॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (यथा) जैसे (एकेन) एक उपादानभूत (मृत्पिण्डेन) मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से (सर्वम्) मृत्तिका के उपादेय सब घट शरावादि (मृन्मयम्) मिट्टी से बना हुआ (विज्ञातम्) विदित (स्यात्) हो जाता है वैसे ही एक उपादान भूत परब्रह्म नारायण के ज्ञान से तदुपादेयभूत सब वस्तु जाना जाता है (वाचा) वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से (विकारः) पृथुबुध्नोदरत्वादि लक्षण संस्थान विशेष और (नामधेयम्) घटशरावादि नाम (आरम्भणम्) स्पर्श किया जाता है इससे घटादिक भी (मृत्तिका) मृत्तिका द्रव्य (इति) यही (एव) निश्चय करके (सत्यम्) प्रमाण से प्रतिपन्न होता है द्रव्यान्तर नहीं उपलब्ध होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—एक विज्ञान से सर्वविज्ञान होता है इस बात को असंभव मानने वाले पुत्र श्वेतकेतु से उद्दालक महर्षि ने लौकिक दृष्टान्त देकर उपादान एक के ज्ञान से उपादेय सबका विज्ञान हो आता है इस अभिप्राय से कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो ! जिस प्रकार उपादानभूत एक मृत्पिण्ड के जान लेने पर

तदुपादेय घटशरावादिक सब जाना जाता है। अर्थात् उपादान कारण से उपादेय कार्य अन्य नहीं होता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक न्याय है। उसी प्रकार एक चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण के विज्ञान से सर्व जगत् विदित हो जाता है। सोम्य पद— **सोममर्हति यः ॥** (पा० व्या० अ० ४ पा० ४ सू० १३७) इस सूत्र से 'य' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। काणादवाद की रीति से कारण से कार्य द्रव्यान्तर है अर्थात् असत् घटादिक मृत्पिण्ड से उत्पन्न होता है इससे उपादान और उपादेय के भेद होने से मृत्पिण्ड के ज्ञान से मृन्मय घटशरावादि का ज्ञान नहीं हो सकता है ऐसा मानने वाले श्वेतकेतु के प्रति लौकिक व्यवहार से भी सिद्ध होता है कि उपादान कारण से कार्य अन्य नहीं है इसी को उद्दालक महर्षि ने कहा कि—वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से अर्थात् 'घटेनोदक माहर' घट से जल को लाओ इस व्यवहार की सिद्धि के लिये उसी मृत्तिकाद्रव्य से पृथुबुध्नोदरत्वादि-लक्षणसंस्थान विशेष यानी रूप और घटशरावादि नाम स्पर्श किया जाता है। तात्पर्य यह है कि—जलाहरणादि व्यवहार विशेष सिद्धि के लिये मृद्द्रव्य ही रूपान्तर और नामान्तरभाक् होता है। इससे घटादिक भी मृत्तिकाद्रव्य ही प्रमाण सिद्ध होता है। दूसरा द्रव्य नहीं उपलब्ध होता है। 'आरम्भणम्' यहाँ पर 'आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यते' इस व्युत्पत्ति से **कृत्यल्युटो बहुलम् ॥** (पा० व्या० अ० ३ पा० ३ सू० ११३) इस सूत्र से कर्म में ल्युट् प्रत्यय और **रभेरशब्लिटोः ॥** (पा० व्या० अ० ७ पा० १ सू० ६३) इस सूत्र से नुम् होता है वेदान्तसारप्रणेता भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० १।१।१) **ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥** (१।१।५) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (१।१।१३) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥** १।४।२३ **तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः ॥** (२।१।१५) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥** (१।३।१८) इन छः सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के पहले खण्ड की चौथी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ ४ ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव

सत्यम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमर्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (यथा) जैसे (एकेन) एक उपादानभूत (लोहमणिना) सुवर्ण के पिण्ड से (सर्वम्) सुवर्ण के उपादेय सब कटक कुण्डल मुकुट केयूर वलयादि (लोहमयम्) सुवर्ण से बना हुआ (विज्ञातम्) विदित स्यात्) हो जाता है वैसे ही एक उपादानभूत परब्रह्म नारायण के विज्ञान से तदुपादेयभूत सब वस्तुएँ जानी जाती हैं (वाचा) वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से (विकारः) कटक कुण्डलत्वादिलक्षण संस्थान विशेष रूप और (नामधेयं) कटक कुण्डल आदि नाम (आरम्भणम्) स्पर्श किया जाता है। इससे कटक कुण्डलादिक भी (लोहम्) सुवर्णद्रव्य (इति) यही (एव) निश्चय करके (सत्यम्) प्रमाण से प्रतिपन्न होता है द्रव्यान्तर नहीं उपलब्ध होता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—मृत्पिण्ड के दृष्टान्त से कारण और कार्य की अनन्यता सिद्ध करने पर "एक विज्ञान से सब विज्ञान होता है" इसे निष्पन्न होने पर भी जब श्वेतकेतु ने इस बात को 'हाँ ठीक है' ऐसा नहीं कहा तब पुनः दृढ़ प्रतीति के लिये दूसरा लौकिक दृष्टान्त देकर उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ? जिस प्रकार उपादानभूत एक सुवर्ण पिण्ड को जान लेने पर तदुपादेयभूत कटक कुण्डलादिक सब जाना जाता है उसी प्रकार एक चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण के विज्ञान से सम्पूर्ण जगत् जाना जाता है। अर्थात् उपादान कारण के ज्ञान से उपादेय कार्य का ज्ञान हो जाता है। वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से अर्थात् 'कटककुण्डलादि से श्रीदेवी का श्रृङ्गार करो' इस व्यवहार की सिद्धि के लिये कटक कुण्डलत्वादि लक्षण संस्थापन विशेष यानी रूप और कटक कुण्डल आदि नाम स्पर्श किया जाता है। तात्पर्य यह है कि - भूषणादि व्यवहार विशेष की सिद्धि के लिये सुवर्ण द्रव्य ही रूपान्तर और नामान्तर भाक् होता है जैसे कि अवस्था विशेष से एक ही देवदत्त बाल, युवा और वृद्ध होता है। इससे कटक कुण्डलादिक भी सुवर्ण द्रव्य ही प्रमाण से सिद्ध होता है, दूसरा द्रव्य नहीं उपलब्ध होता है। वेदार्थ - संग्रह के निर्माणकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने—**प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्** ॥ (शा० मी० १।४।२३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के पहले खण्ड की पाँचवीं श्रुति के 'यथा सोम्यैकेन लोहमणिना' इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कार्ष्णायसमित्येव सत्यम् । एवं सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (यथा) जैसे (एकेन) एक उपादानभूत (नखनिकृन्तनेन) काले लोहे के पिण्ड से (सर्वम्) कृष्ण लोहे के उपादेय सब छुरा कैंची, नहरनी, कड़ाहि आदि (कार्ष्णायसम्) कृष्ण लोहे से बना हुआ (विज्ञातम्) विदित (स्यात्) होता है वैसे ही एक उपादानभूत परब्रह्म नारायण के विज्ञान से तदुपादेयभूत सब वस्तुएँ जानी जाती हैं (वाचा) वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से (विकारः) छुरनखकृतन्तनत्वादिलक्षणसंस्थान विशेष—रूप और (नामधेयम्) क्षुरा, नहरनी, कैंची आदि नाम (आरम्भणम्) स्पर्श किया जाता है इससे छुरा, नहरनी, कैंची आदि सभी (कार्ष्णायसम्) कृष्ण लोहा (इति) यही (एव) निश्चय करके (सत्यम्) प्रमाण से प्रतिपन्न होता है द्रव्यान्तर नहीं उपलब्ध होता है (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (एवम्) ऐसा ही मृत्पिण्ड आदि के तुल्य (सः) वह (आदेशः) प्रशासिता (भवति) है (इति) यह आदेश मैंने तुमसे कहा ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—सुवर्ण पिण्ड के दृष्टान्त से कारण और कार्य के अनन्य सिद्ध करने पर 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान होता है' इस प्रतिज्ञा के निष्पन्न होने पर भी जब कुमार श्वेतकेतु कुछ भी नहीं बोला तब पुनः दृढ़ प्रतीति होने के लिए तीसरा लौकिक दृष्टान्त देकर आरुणि उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! जिस प्रकार उपादानभूत एक काले लोहे के पिण्ड को जान लेने पर तदुपादेयभूत छुरा, नहरनी, कैंची आदिक सब जाना जाता है उसी प्रकार एक चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण के विज्ञान से समस्त जगत् जाना जाता है । अर्थात् उपादान कारण के ज्ञान से उपादेय कार्य का ज्ञान हो जाता है । वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से अर्थात् 'छुरा से मुण्डन करो' इस व्यवहार की सिद्धि के लिये छुरा के संस्थान विशेष रूप और क्षुरा इस नाम को स्पर्श किया है । तात्पर्य यह है कि—मुण्डनकरणादिव्यवहार विशेष की सिद्धि के लिये कृष्णलोहद्रव्य ही रूपान्तर और नामान्तर भाक् होता है । इससे क्षुरा, नहरनी, कैंची आदि कृष्णद्रव्य

ही प्रमाण से प्रतिपन्न होता है कोई दूसरा द्रव्य नहीं उपलब्ध होता है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन कुमार श्वेतकेतो! इस प्रकार मिट्टी के पिण्ड आदिक के समान वह आदेश यानी प्रशासिता है। तुमने जो पहले कहा था कि हे भगवन्! वह आदेश कैसे होता है तो इस विषय में मैं पूर्वोक्त प्रकार से स्पष्ट कह चुका। श्रीमद्भगवद्-गीताभाष्यकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥** (शा० मी० १।४।२३) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के पहले खण्ड की छठवीं श्रुति के 'यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन' इस खण्ड को उद्धृत किया है॥ ६॥

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषु यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाँस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(वै) श्वेतकेतु ने कहा निश्चय (नूनम्) ही (ते) वे (भगवन्तः) मेरे पूज्यपाद आचार्य (एतत्) आपसे कहा हुआ इस आदेश को (न) नहीं (अवेदिषुः) जानते थे (हि) क्योंकि (यत्) यदि (एतत्) इस आपसे कहे हुए तत्त्व को (अवेदिष्यन्) यथार्थ जानते होते तो (मे) मुझ भक्त से (कथम्) क्यों (न) नहीं (अवक्ष्यन्) कहते (इति) इस कारण से (तु) अब तो (भगवान्) पूज्य गुरुदेव आप ही (एव) निश्चय करके (मे) मुझ भक्त से (तत्) उस प्रशासिता तत्त्व को (ब्रव तु) उपदेश दें (इति) पुत्र के इस वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध आरुणि उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (तथा) अच्छा मैं ही प्रशासिता तत्त्व का उपदेश देता हूँ (इति) ऐसा (उवाच) कहा॥ ७॥

विशेषार्थ—अपने पिता उद्दालक महर्षि के लौकिक दृष्टान्तयुक्त उपदेश को सुनकर कुमार श्वेतकेतु चकित हो गया और डरकर कहा कि हे पिताजी यह निश्चय है कि जिनसे मैं साङ्ग वेदाध्ययन किया हूँ वे मेरे परम पूज्य आचार्य आपसे कहे हुए प्रशासिता तत्त्व को यथार्थ नहीं जानते थे। क्योंकि यदि आप से कहे हुए तत्त्व को वे वस्तुतः जानते होते तो उपसन्न शमान्वित भक्त मुझ से क्यों

नहीं कहते। क्योंकि लिखा है कि— **तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम्॥** (मु० उ० मुं० १ खं० २ श्रु० १३) वह ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता—श्रोत्रिय आचार्य भले प्रकार से परमशान्तचित्त वाले वाह्येन्द्रियों को नियमन करने वाले शरण में आये हुए उस मुमुक्षु के लिये जिस विज्ञान से स्वरूप से विकार रहित गुण से विकार रहित परम पुरुष नारायण को जानता है उस वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या को यथावत् भलीभाँति उपदेश करें॥ १३॥ इस कारण से अब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव आपही कृपा करके मुझे उस प्रशासिता परब्रह्म नारायण को समझाइये। ऐसा अपने पिता के श्रीचरणों में समिधा पुष्प फल आदि भेंट समर्पण कर साष्टांग प्रणिपात करके सविनय प्रेम से बोला। क्योंकि लिखा है— **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥** (मु० उ० मुं० १ खं० २ श्रु० १२) वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि लिये हुए उस परब्रह्म नारायण को जानने के लिये वेद-वेदान्त को भलीभाँति जानने वाले और साक्षात्कार करने वाले गुरु की ही शरण में विनय पूर्वक जाय॥ १२॥ **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया॥** (गी० ४।३४) उस परब्रह्म ज्ञान को दण्डवत् साष्टांग प्रणाम करने से तथा जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने से और सेवा करने से तुम जानो॥ ३४॥ इन श्रुति स्मृति के नियमानुसार श्वेतकेतु ऋषि ने उद्दालक महर्षि से विज्ञापन किया। पिता भी गुरु है क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है— **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥** (मनु० अ० २ श्लो० १४२) जो वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्र के नियमानुसार गर्भाधानादि संस्कार कर्मों को करता है और अन्न आदिक से बालक को बढ़ाता है उस पिता को ही गुरु कहते हैं॥ १४२॥ इस मानवधर्मशास्त्रानुसार अपने पिता को ही गुरूपसदन किया तब सुप्रसिद्ध पिता उद्दालक महर्षि ने कहा कि अच्छा हे समार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! अब मैं हा तेरे लिये प्रशासिता परब्रह्म नारायण का उपदेश देता हूँ। प्रकृत श्रुति में— **यथा देवे तथा गुरौ॥** (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० २३)। सुबालो० खं० १६ शा ट्यायनीयोप० श्रु० ३७) जिस प्रकार परब्रह्म नारायण देव में उसी प्रकार

गुरुदेव में भी ॥ २३ ॥ ॥ १६ ॥ ॥ ३७ ॥ इस श्रौत सिद्धान्त को जानने के लिये गुरु उद्दालक महर्षि में 'भगवान्' पद का प्रयोग हुआ है। यहाँ पर कई सज्जन कहते हैं कि पिता को गुरु श्वेतकेतु ऋषि ने बनाया सो ठीक नहीं किया। इससे पिता को गुरु नहीं बनाना चाहिये। इस विषय में मेरा कहना यह है कि–गुरूपसदन विधान करने वाली जो निम्नलिखित श्रुति है–

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (मु० उ० मु० १ खं० २ श्रु० १२) उस परब्रह्म को जानने के लिये वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि भेंट लिये हुए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाय ॥१२॥ इस श्रुतिमें श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु का लक्षण बताया गया है। श्रोत्रिय के विषय में लिखा है– **एकशाखासकल्पाश्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥** (देवल०) **जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥**

व्याकरण १, शिक्षा २, निरुक्त ३ कल्प ४, छन्द ५ और ज्योतिष् ६ इन छः अङ्गों के साथ केवल एक अपनी वेद की शाखा को पढ़कर जो वेदपाठी धर्मवेत्ता ब्राह्मण अध्ययन १, अध्यापन २, यजन ३, याजन ४, दान ५, प्रतिग्रह ६ इन छः कर्मों में निरत रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं। शुद्ध ब्राह्मण से शुद्ध ब्राह्मणी पत्नी में जन्म होने से ब्राह्मण कहा जाता है और यज्ञोपवीत आदिक संस्कारों से द्विज कहा जाता है तथा विद्या से विप्रत्व को प्राप्त करता है और पूर्वोक्त तीनों से श्रोत्रिय कहा जाता है। अर्थात् जिसका शुद्ध ब्राह्मण जाति में जन्म हो तथा उपनयनादि सस्कार हुआ हो और विद्या अध्ययन किया हो उसको श्रोत्रिय कहते हैं। तथा ब्रह्मनिष्ठ यानी परब्रह्म नारायण में निष्ठा रखने वाला अथवा परब्रह्म साक्षात्कार करने वाला। इन लक्षणों से युक्त गुरु का उपसदन विधान है। अद्वयतारकोपनिषद् में भी लिखा है– **'गु' शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥** (अद्वयतारकोप०) गु कहते हैं अन्धकार को और रु कहते हैं प्रकाश को तो जो अविद्यारूप अन्धकार को ज्ञानरूप सदुपदेश के प्रकाश से दूर करता है उसको गुरु कहते हैं—

सत्सम्प्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं

गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य ॥ (नारदपरिव्राजकोप० उपदे० २) सत्संप्रदाय में स्थित श्रद्धा वाले अच्छे कुल में उत्पन्न वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्र वात्सल्य से युक्त दया आदि गुणवाले अकुटिल सद्गुरु का आश्रयण करके तत्व ज्ञान प्राप्त करे ॥ २ ॥ इन श्रौत लक्षणों में पिता को कहीं निषेध नहीं किया गया है। सत्सम्प्रदाय की परम्परा से भी पिता पुत्र का परस्पर गुरु शिष्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। क्योंकि लिखा है कि— **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यावरिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥** (मु० उ० मुं० १ खं० १ श्रु० १) समस्त विश्व के रचयिता और समस्त लोक के रक्षक चतुर्मुख ब्रह्मा इन्द्रादि सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ। उस ब्रह्मा ने सबसे बड़े पुत्र अथर्व ऋषि के लिये समस्त विद्याओं के आश्रयभूत ब्रह्मविद्या का भलीभाँति उपदेश किया ॥ १ ॥ **भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) यह प्रसिद्ध है कि वरुण ऋषि का पुत्र भृगु ऋषि 'हे पूजार्ह भगवन् मुझे ब्रह्म का उपदेश देने के लिये परब्रह्म नारायण को स्मरण कीजिये या उपदेश कीजिये' इस प्रकार विनय पूर्वक कहता हुआ अपने पिता वरुण ऋषि के समीप में शास्त्र विधि के अनुसार गया ॥१॥ **कुमारः पितरमात्मानुभवमनुब्रूहीति प्रपच्छ ॥** (तेजोबिन्दूप० अ० ३ श्रु० १) कुमार ने अपने पिता शिवजी से आत्मानुभव को कहिये इस प्रकार पूछा ॥ १ ॥ **नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वमतो मत्तो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यम् ॥** (नारदपरिव्राजकोप० उपदे० २) नारद जी ने पितामह ब्रह्मा से कहा कि—आप हमारे गुरु और पिता हैं तथा आप सम्पूर्ण विद्याओं के रहस्य जानने वाले और सर्वज्ञ हैं, अतः आप मुझे एक रहस्य की बात जो मुझे अति प्रिय है बतलाने की कृपा करें ॥ २ ॥ **प्रसन्नं भगवन्तं महाविष्णुं ब्रह्मा परिपृच्छति भगवन् परमतत्वरहस्यं मे ब्रूहीति ॥** (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० अ० १ श्रु० १) प्रसन्न भगवान् महाविष्णु पिता से ब्रह्मा ने पूछा कि हे भगवन् मुझे परमतत्व का रहस्य बतलाइये ॥ १ ॥ **अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य प्रपच्छ ॥** (परमहंसपरिव्राज०) पितामह ब्रह्मा ने

अपने पिता आदि नारायण भगवान् के पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणिपात करके पूछा ॥ **ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयम्भुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या ॥** (पाशुपतब्रह्मोप० १ श्रु० १) ब्रह्मा के पुत्र वालखिल्यगण ने अपने पिता ब्रह्मा से जाकर पूछा कि हे गुरो जगत् में कौन विद्या है ॥ १ ॥ **प्रणम्य शिरसा पादौ शुको व्यासमुवाच ह । को देवः सर्ववेदेषु कस्मिन्देवाश्च सर्वशः ॥** (रुद्रहृदयोप० श्रु० २) शुकदेव जी अपने पिता व्यास जी के श्रीचरणों में साष्टांग प्रणिपात करके बोले कि सब वेदों में कौन देव है और किसमें सब देवता प्रतिष्ठित हैं ॥२॥ **नारदो ब्रह्माणमुपसमेत्योवाचाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम्** (हयग्रीवोप० श्रु० १) नारद जी ने अपने पिता ब्रह्मा के पास जाकर कहा कि हे भगवन् ! सब विद्याओं से श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये ॥ १ ॥ **सत्यक्षेत्रे ब्रह्मा नारायणं महासाम्राज्यं किं तारकं तन्नो ब्रूहीत्युवाच** (दत्तात्रेयोप० खं० १ श्रु० १) सत्यक्षेत्र में ब्रह्मा ने नारायण नामक पिता के पास में जाकर कहा कि हे भगवन् संसार सागर को तारने वाला तारक क्या है यह मुझसे आप कृपा करके कहिके ॥१॥ **गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मा विद्यां नारदाय प्रोवाच ॥** (गारुडोप० श्रु० १) गारुड ब्रह्मविद्या को मैं कहूँगा, ब्रह्मा ने जिस ब्रह्मविद्या को अपने पुत्र नारद के लिये कहा था ॥ १ ॥ **द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम भगवन् कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं सन्तरेयमिति ॥** (कलिसन्तरणोप० श्रु० १) द्वापरयुग के अन्त में नारद जी अपने पिता ब्रह्मा जी के पास गये और बोले कि—हे भगवन् मैं भूलोक में पर्यटन करता हुआ किस प्रकार कलि से त्राण पा सकता हूँ ॥ १ ॥ और बृहद्ब्रह्मसंहिता में स्पष्ट लिखा है कि— **धारयिष्ये भुजे दिव्यं वह्निपूतं सुदर्शनम् । वटुको वामनो भूत्वा मेखलाजिनदण्डधृत् ॥** (बृहदब्रह्मसं० अ० २ पा० १ श्लो० १०२) **कश्यपादङ्कयित्वाङ्गं करिष्ये देवरक्षणम् ॥ १०३ ॥** मुञ्ज की मेखला तथा कृष्णमृग के चर्म और पलाश के दण्ड को धारण करके वटुक वामन होकर अग्नि से तपाये हुये दिव्य चक्र को दक्षिण भुजमूल में धारण करूँगा ॥ १०२ ॥ पिता कश्यप महर्षि के द्वारा चक्राङ्कित

शरीर करके मैं देवताओं की रक्षा करूँगा ।। १०३ ।। और श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है— **इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।** (गी० अ० ४ श्लो० १) **एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।।२।।** इस अविनाशी योग को मैंने सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वतमनु से कहा और वैवस्वतमनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु राजा से कहा ।। १ ।। इस प्रकार संप्रदाय परम्परा से प्राप्त इस योग को पूर्वकाल के राजर्षियों ने जाना ।। २ ।। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता गुरु हो सकता है । इससे श्वेतकेतु ऋषि ने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अपने पिता उद्दालक महर्षि को जो गुरु बनाया सो ठीक ही किया । क्योंकि लिखा है— **अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।।** (सांख्यतत्त्व०) यदि घर के कोण में मधु प्राप्त हो जाय तो पर्वत पर किसलिये जाना ।। इस सिद्धान्तानुसार श्वेतकेतु ने दूसरे गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं समझी । श्रीसम्प्रदाय के सदाचार से भी सिद्ध होता है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता गुरु हो सकता है । क्योंकि लिखा है— **श्रीयामुनमुनेः पुत्रः शोट्टैनम्बिरिति स्मृतः । एलाचानश्च तत्पुत्रः पिल्लैयप्पंश्च तत्सुतः ।।१।। श्रीमहापूर्णपुत्रस्तु पुण्डरीक इति स्मृतः । श्रीगोष्ठीपूर्णपुत्रस्तु तेकिंवानितिनामभाक् ।। २ ।। श्रीशैलाङ्कजरामानुजपिल्लैतिरुमल्लैनम्बिः । श्रीमालिजोऽपि सुन्दरत्तोल्लुडयाराह्वयः श्रीमान् ।। ३ ।। यस्तु पराशरभट्टः सैव श्रीरामपिल्लैश्च । श्रीमान्दाशरथिर्यः सोऽपि कूरेशात्मजोमुदलियाण्डान् ।।४।। श्रीतिरुमोहूरावानन्योऽपि च गोमठत्तावान् । श्रीमांश्च नडुविलावान्तथा तिरुकोवलूरावान् ।। ५ ।। पिल्लैपिल्लैयारान् नोग्युराडावान् अरणपुरत्तावान् । श्रीमदानन्दावानथ मिलकावान् कोयिलावांश्च ।। ६ ।। अपि च नडादूरावान् तथैङ्गलावान् किडापियाचांश्च । एम्बारश्रीगोविन्दाचार्यः कणियनूर शिरियाचान् ।।७।। श्रीशेट्टलूरशिरियावानथ वेदान्तियावांश्च । श्रीमान् तथोकलावान् धीमाञ्छ्रीकोङ्गिलाचांश्च ।।८।। तिरुमल्लै-**

नल्लानथश्रीमाञ्चटम्बिजीयरकः । तिरुवैललरैजीयरश्रीचट्टम्बिलल-
जीयरौ धीरौ ॥९॥ श्रीआट्टकोङ्गविल्लिजीयरतिरुनगरीपिललानौ
धीरौ । कराञ्जिसोमयाजीभारः श्रीअलङ्कार वेङ्कडवारः ॥ १० ॥
तिरुकयापुरुत्तैरपरः तिरक्कुरुदयीरानपिललान् । तथा सूरिय्येरुमा-
लधीरः पील्लैयुरेन्दैयुडैयारः ॥ ११ ॥ कुरिञ्जियुरशिरियारान्नामा
वडुङ्गनम्बि आन्ध्रपूर्णाख्यः । आल्वन्दाराण्डान्महात्मा अमङ्गिया-
ण्डानाह्वमहात्मा ॥१२॥ श्रीमरुदरनम्बिश्च महात्मा तिरुक्कुरङ्गु-
डिनम्बिमहात्मा । कुरुयैनम्बिमुडुम्बैनम्बी वङ्गिपुरत्तुनम्बिरपि
धीरः ॥१३॥ श्रीनम्बिवरुन्देवरशिरुप्यलिलदेवराजभट्टरकौ । अम्म-
ङ्गिपेरुमाल पेरियकोयिलवललारः ॥१४॥ श्रीमानरुलालय्येरु-
मालय्येरुमानारः । श्रीगेण्डनूरनम्बिः पराङ्कुश मूयूरनम्वी च॥१५॥
मारोन्निल्लामारुतिचिरियाण्डानीश्वराण्डांश्च । श्रीमाञ् जियरा
ण्डानपि मारुत्तिय्येरियाण्डांश्च ॥ १६ ॥ आर्काटटुग्यिललानथ
केकोमाराङ्गरपिललैश्च । अपि च मुडुम्बैयेम्माल् शिरियाण्डान्
पेरियाण्डांश्च ॥१७॥ उङ्कलम्माल् अमङ्गि अम्माल् शोभाशिरि-
याण्डानभिधानाः । मुनिय्येरुमाल शोट्टै अम्माल् ईमुण्णिग्यिलले
याण्डानः ॥१८॥ कामाण्डूरइलैयविल्लिः किडाम्बिय्येरुमालभि-
धानः । तथा परुत्तिकोलैयम्माल् श्रीरामानुजाचार्यशरणः ॥१९॥

श्रीयामुनमुनि के पुत्र शोट्टैनम्बि १ और शोट्टैनम्बि के पुत्र एलाच्चान २ तथा एलाच्चान के पुत्र पिल्लैयप्पन ३, ॥ १ ॥ श्रीमहापूर्णस्वामी के पुत्र पुण्डरीक ४, श्रीगोष्ठीपूर्णस्वामी के पुत्र तेर्किवान् ५ नाम के कहा गया है ॥ २ । और श्रीशैल-पूर्ण स्वामी के पुत्र रामानुज पिल्लैतिरुमल्लैनम्बि ६, श्रीमालि स्वामी के पुत्र सुन्दर-त्तोल्लुडयार ७ ॥ ३ ॥ और जो पराशरभट्ट हैं वही श्रीरामपिल्लै हैं वह श्रीराम-पिल्लै ८ तथा जो दाशरथि स्वामी हैं वही कूरेशात्मज मुदलियाण्डान् हैं वह मुद-लियाण्डान् ९ ॥ ४ ॥ और श्री तिरुमोहूरावान् १० तथा गोमठत्तावान् ११, नङ्गविलावान् १२ और तिरुक्कोवलूराबान् १३ ॥ ५ ॥ तथा पिल्लैपिल्लैयारान्

१४, नोम्बुगाडावान् १५, अरणपुरत्तावान् १६, आनन्दावान् १७, मिलकावान् १८ और कोयिलावान् १९ ॥ ६ ॥ नडादूरावान् २० और एङ्गलावान् २१, किडापियाचान् २२, एम्बार श्रीगोविन्दाचार्य २३ और कणियनूरशिरियाचान् २४ ॥ ७ ॥ श्रीशेट्टलूरशिरियावान् २५ और वेदान्तियावान् २६ तथा उक्कलावान् २७ और श्रीकोङ्गिलाचान् २८ ॥ ८ ॥ तिरुमल्वैनल्लान् २९ तथा श्रीमान्चटम्बिजीयर ३० तिरुवैललरेजीयर ३१ और श्रीचटम्बिललजीयर ३२ ॥ ९ ॥ श्रीआट्टकोङ्गविल्लिजीयर ३३ और तिरुनगरी पिललान् ३४, कराङ्गिसोमयाजीभार ३५ तथा श्री अङ्गङ्कार—वेङ्गडवार ३६ ॥ १० ॥ और तिरुक्कयापुरुत्तेरपर ३७, तिरक्कुरुदयीरानपिललान् ३८ तथा सूरिय्येरुमाल ३९ और पोल्लैयुरेन्देयुडैयार ४० ॥ ११ ॥ कुरिङ्गियुरशिरियारान् ४१ और वडुङ्गनम्बि आन्ध्रपूर्ण ४२, अल्वन्दाराण्डान् ४३ तथा अनङ्गियाण्डान् ४४ ॥ १२ ॥ महात्मा श्रीमरुदरनम्बि ४५ और महात्मा तिरुक्कुरङ्गुडिनम्बि ४६, कुरुयैनम्बि ४७ और मुडुम्बैनम्बि ४८ तथा वङ्गिपुरत्तुनम्बि ४९ ॥ १३ ॥ श्रीनम्बिवरुन्देवर ५०, शिरुप्पलिलदेवराजभट्टर ५१, अम्माङ्गियेरुमाल् ५२ और पेरियकोविलवलललार ५३ ॥ १४ ॥ श्रीमान् अरुलालय्येरुमालय्येरुमनार ५४, श्रीगेण्डनूरनम्बि ५५ और पराङ्कुशनम्बि ५६ तथा मूयूरनम्बि ५७ ॥ १५ ॥ मारोनिल्लामारतिच्चिरियाण्डान् ५८ तथा ईश्वराण्डान् ५९, श्रीमान् जियराण्डान् ६० और मारुत्तिय्येरियाण्डान् ६१ ॥ १६ ॥ आर्काटटुय्यिललान् ६२ तथा केकोमाराङ्गपिल्लै ६३, मुडुम्बैयेम्माल् ६४ तथा शिरियाण्डान् ६५ और पेरियाण्डान् ६६ ॥ १७ ॥ अङ्कलम्माल् ६७, अम्मङ्गिअम्माल् ६८, शोभाशिरियाण्डान् ६९, मुनिय्येरुमाल् ७०, शोट्टैअम्माल् ७१ और ईमुण्णियलल्लैयाण्डान् ७२ ॥ १८ ॥ तथा कामाण्डूरइलैयविल्लिकिडाम्बिय्येरुमाल् ७३ और परुत्तक्कोलैयम्माल् ७४ ये भगवद्रामानुजाचार्य प्रतिष्ठापित चौहत्तर पीठाधीश हैं ॥ १९ ॥ इनमें जो गृहस्थ पीठाधीश हैं उनके पुत्र प्रायः पिता को ही गुरु बनाते हैं। और पूर्वोक्त चौहत्तर पीठाधीशों में अड़तालिसवाँ पीठाधीश श्रीवत्सवंशोत्पन्न जो 'मुडुम्बैनम्बि' स्वामी हैं। उनकी ही वंश-परम्परा में श्रीकृष्णपाद स्वामी और श्रीलोकाचार्य स्वामी उत्पन्न हुए हैं। ये महानुभाव श्रीसम्प्रदाय की गुरुपरम्परा में हैं। क्योंकि लिखा है—

श्रीशं श्रीसैन्यनाथं वकुलधरमुनिं नाथपङ्केरुहाक्षौ। श्रीरामं यामुनेयं वरमपि च महापूर्णरामानुजार्यौ। गोविन्दं

भट्टवेदान्त्यथ वरकलिजिद्वंशदासांश्च कृष्णं । लोकार्यं शैलनाथं वरवरमुनिपञ्चाहं चिन्तयामि ॥१॥ नारायण १, श्रीदेवी २, विष्वक्सेन ३, पराङ्कुशमुनि ४, नाथमुनि ५, पुण्डरीकाक्ष ६, श्रीराम मिश्र ७, यामुनमुनि ८, महापूर्ण स्वामी ९, रामानुजाचार्य १०, गोविन्दमुनि ११, पराशर भट्टाचार्य १२, वेदान्तिमुनि १३, कलिवैरिदास स्वामी १४, श्रीकृष्णपाद स्वामी १५, लोकाचार्य स्वामी १६, श्रीशैलनाथ स्वामी १७ और श्रीवरवर मुनि स्वामी १८ इन गुरुओं को नित्य प्रति मैं ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥ इस अभियुक्त संगृहीत गुरु-परम्परा के श्लोक के अनुसार श्रीसंप्रदाय के पन्द्रहवाँ आचार्य श्रीकृष्णपाद स्वामी हैं और सोलहवाँ श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी हैं । लोकाचार्य स्वामी जी श्रीकृष्णपाद स्वामी जी के पुत्र और शिष्य भी हैं । क्योंकि लिखा है कि— लोकाचार्याय गुरवे कृष्णपादस्य सूनवे । संसारभोगिसंदष्टजीवजीवातवेनमः ॥ ॥गुरुपर० श्लो० १६॥ संसार सर्प से काटे हुए जीव को जिलाने वाले वैद्यराज श्रीकृष्णपाद स्वामी के पुत्र तथा शिष्य जगद्गुरु लोकाचार्य स्वामी के लिये नमस्कार है ॥ १६ ॥ पूर्वोक्त गुरु-परम्परा के प्रमाण से सिद्ध होता है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता गुरु हो सकता है । और भी लिखा है कि—

श्रीवादिभीकरमहागुरु देवराज श्रीभट्टनाथ वरवेङ्कटयोगिवर्य । रामानुजार्य वरदार्य नतार्तिहारि श्रीवानशैलमुनयोऽष्ट दिशांगजास्ते ॥

प्रपत्तिमुक्ताव० श्लो० १) श्रीप्रतिवादिभयङ्कर स्वामी १, श्रीदेवराज स्वामी २, श्रीभट्टनाथ स्वामी ३, श्रीवेङ्कटाद्रियोगि स्वामी ४, श्रीरामानुजाचार्य स्वामी ५, श्रीवरदाचार्य स्वामी ६, श्रीप्रणतार्तिहारि स्वामी ७ और श्रीतोताद्रि स्वामी ८ ये श्रीसंप्रदाय के भार वहन करने वाले आठ दिग्गज हैं । १ ॥ श्रीशेषावतार भगवद्रामानुजापरावतार श्रीवरवरमुनीन्द्र प्रतिष्ठापित अष्टदिग्गजों में मुख्य परिगणित श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी जी की वंश परम्परा वाले श्रीकाञ्चीप्रतिवादभयङ्करमठाधीश पिता को ही श्रौत स्मार्त तथा शिष्ट सदाचार के प्रमाण से गुरुवरण करते हैं ! अतः सत्संप्रदायानुसार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता अवश्य गुरु हो सकता है । गद्यत्रय निर्माता भगवद्रामानुजाचार्य ने—

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥

(शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३५) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्"

के षष्ठ प्रपाठक के पहले खण्ड की सातवीं श्रुति के 'भगवांस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति' इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक का पहला खण्ड समाप्त हो गया ॥ ७ ॥

॥ अथ द्वितीयखण्डः ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहु रसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तस्मादसतः सज्जायत ॥१॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (इदम्) यह विभक्त नाम रूप वाला बहुत्वावस्थ जगत् (अग्रे) आगे सृष्टि के पूर्व काल में (एकम्) अविभक्त नाम रूप होने से एकत्वावस्थापन्न (एव) ही (अद्वितीयम्) अभिन्नान्तरशून्य (सत्) प्रकृति पुरुष काल शरीरक पर ब्रह्म नारायण (एव) निश्चय करके (आसीद्) था (तत्) उस सृष्टि के विषय में (एके) एक नैयायिक (ह) स्पष्ट (आहुः) कहते हैं कि (एव) निश्चय करके (इदम्) यह बहुत नाम रूप से विभक्त प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् (अग्रे) उत्पत्ति से पहले (असत्) सत्त्व रहित प्रागभाव स्वरूप (आसीत्) था (एकम्) एकत्वावस्थापन्न (एव) निश्चय करके (अद्वितीयम्) अद्वितीय था अर्थात् प्रागभाव से अतिरिक्त अवस्था या अवस्थाश्रय किसी का भी सत्व नहीं था, तब सृष्टि कैसे हुई वह कहते हैं (तस्मात्) उस प्रागवस्थाश्रय के भी अभाव होने के कारण से (असतः) असत् से यानी अभाव से (सत्) सत्व रूप की उत्पत्ति (जायत) हुई है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—एक विज्ञान से सर्वविज्ञान होता है इस प्रतिज्ञा के समर्थन के लिये जगत् के प्रति अभिन्न निमित्तोपादन कारण परब्रह्म नारायण को सिद्ध करने के उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो कुमार ! यह बहुत अवस्था में विभक्त नाम और रूप वाला प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में अविभक्त नाम रूप होने से एकत्वावस्थापन्न निमित्तान्तर शून्य प्रकृत पुरुष काल शरीरक परब्रह्म नारायण ही था। यहाँ 'सत्' शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है—**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जङ्गम स्वरूप जगत् सृष्टि से पहले एक मात्र प्रसिद्ध सम्पूर्ण हेय गुणों से

रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था उसके सिवा दूसरा कुछ भी व्यापार वाला नहीं था ।।१।। **नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् । दिव्यो देव एको नारायणः ॥** (सुबालोप० खं० ६) सृष्टि से पहले यहाँ कुछ भी नहीं था, दिव्य देव एक नारायण ही थे ।।२।। **एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नाग्नीषोमौ । नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥** (महोप० अ० १ श्रु० १) सृष्टि के आदि समय निश्चय करके एक नारायण ही थे न ब्रह्मा थे, न रुद्र थे, न अग्नि था, न सोम था, न ये द्युलोक और भूलोक थे, न नक्षत्र थे, न सूर्य थे, न चन्द्रमा ही थे ॥ १ ॥ **शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्तिकश्चित् ॥ २ ॥** (नारायणो० श्रु० २) शुद्ध देव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है ॥ २ ॥ जगत्कारण वादिनी श्रुतियों का यथार्थ विवेचन करने से और भुव्यर्थक 'अस्' धातु से 'सद्' पद निष्पन्न होने से सत् का अर्थ परब्रह्म नारायण है । 'सदेव' यहाँ पर एक शब्द से कणाद और गौतम जो उत्पत्ति से पहले जगत् को असत्त्व मानते हैं उसकी व्यावृत्ति की गयी है । 'एकमेव' यहाँ पर एव शब्द से **बहु स्याम् ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० २ श्रु० ३) मैं बहुत हो जाऊँ ॥ ३ ॥ इस वक्ष्यमाण कार्य के प्रति बहुत्वावस्था की व्यावृत्ति की गयी है । और **तदैक्षत···तत्तेजोऽसृजत ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० २ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया । वह परब्रह्म नारायण ने सत्यसंकल्प से अग्नि को बनाया ॥ ३ ॥ इस श्रुति में 'तत्' पद से 'सत्' पदवाच्य परब्रह्म नारायण ही जगत् के निमित्त कारण कहे गये हैं । इससे श्रुति में जो 'अद्वितीयम्' पद है इससे निमित्तान्तर की निवृत्ति की गयी हैं । इसके बाद 'एकम्' तथा 'अद्वितीयम्' इन दोनों पदों से अभिन्ननिमित्तोपादन सिद्ध किया गया है । 'आसीत्' यहाँ तक ब्रह्माभेद प्रतिपादन द्वारा सत्कार्यवाद को कह कर तद्विरोधी नैयायिकों के अभिमत असत्कार्यवाद को खण्डन करने के लिये पहले कण्ठरव से साक्षात् श्रुति भगवती उस नैयायिक के अभिमत को प्रतिपादन करती है । उस सृष्टि के विषय में एक कणाद और गौतम मतवाले कहते हैं कि—यह अनेक नाम रूप से विभक्त स्थावर जङ्गम स्वरूप जगत् उत्पत्ति से पहले एकत्वावस्थापन्न अद्वितीय प्रागभाव स्वरूप ही था । अर्थात् प्रागभाव से अतिरिक्त

अवस्था या अवस्थाश्रय किसी का भी सत्त्व नहीं था। जब केवल प्रागभाव ही था तब सृष्टि कैसे हुई, तो कहते हैं कि—उस प्रागवस्थाश्रय के भी अभाव होने के कारण से असत् से यानी अभाव से ही सत्त्वरूप की उत्पत्ति हुई है। 'जायत' यहाँ पर छान्दस अट् का अभाव हो गया है। भगवदाराधन ग्रन्थ के निर्माता भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० १।१।१) **तत्तु समन्वयात् ॥** (शा० मी० १।१।४) **ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥** (शा० मी० १।१।५) **आनन्दमयोऽभ्यासात्॥** (शा० मी० १।१।१३) **अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्** (शा० मी० १।१।२१) **आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥** (शा० मी० १।१।२३) **तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥** (शा० मी० १।३।२५) **कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥** (शा० मी० १।४।१४) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ॥** (शा० मी० १।४।२३) **अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥** (शा०मी०२।१।८) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥** (शा० मी० २।१।१५) **सत्वाच्चापरस्य ॥** (शा० मी० २।१।१७) **असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥** (शा० मी० २।१।१८) **अश्मादिवच्चतदनुपपत्तिः ॥** (शा० मी० २।१।२३) **उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि ॥** (शा० मी० २।१।२४) **कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥** (शा० मी० २।१।२६) **नकर्माविभागादितिचेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥** (शा० मी० २।१।३५) **पत्युरसामञ्जस्यात् ॥** (शा० मी० २।२।३५) **शब्देभ्यः ॥** (शा० मी० २।३।६) **तथा प्राणाः ॥**(शा० मी० २।४।१) **जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥** (शा० मी० ४।४।१७) इन बीस सूत्रों के श्री भाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के दूसरे खण्ड की पहली श्रुति के 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः

सज्जायेतेति । सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(तु) किन्तु (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (एवम्) ऐसा (खलु) निश्चय करके (कुतः) कहाँ से (इति) यह (स्यात्) हो सकता है। (कथम्) कैसे (असतः) असत् से यानी अभाव से (सत्) सत् यानी सत्त्व वस्तु (जायेत) उत्पन्न हो सकती है इस कारण से (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (इदम्) यह विभक्त नाम रूप वाला बहुत सा प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थावर जङ्गम जगत् (अग्रे) आगे सृष्टि के पूर्वकाल में (एकम्) अविभक्त नाम रूप होने से एकत्वावस्थापन्न (एव) ही (अद्वितीयम्) अधिष्ठात्रन्तरशून्य (सत्) प्रकृति पुरुष काल शरीरक परब्रह्म नारायण (एव) निश्चय करके (आसीत्) था (इति) इस प्रकार के (ह) प्रसिद्ध (उवाच) आरुणि उद्दालक महर्षि ने कहा ॥२॥

विशेषार्थ—अब असत्कार्यवाद को साक्षात् कण्ठरव से श्रुति प्रत्याख्यान करती है कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! असत् से यानी अभाव से सत्त्व रूप की उत्पत्ति होती है, यह किस प्रमाण से प्रतीति होती है। अर्थात् कोई भी प्रमाण नहीं सिद्ध कर सकता है कि प्रागभाव से सत्त्वरूप उत्पन्न होता है। तो भला कैसे असत् द्रव्य से यानी प्रागभाव सत्त्वरूप वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है। अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। क्योंकि सत् द्रव्य के प्रथमक्षणावच्छिन्न अवस्था का जो अवस्थान्तरसम्बन्ध है उसीको उत्पत्ति कहते है। इस प्रकार कणाद और गौतम के अभिमत असत्कार्यवाद को खण्डन करके पुनः अपने पक्ष का उपसंहार करते हैं कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! यह बहुत अवस्था में विभक्त नाम और रूपवाला प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थावर, जङ्गम रूप जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में अविभक्त नाम रूप होने से एकत्वावस्थापन्न निमित्तान्तर शून्य प्रकृति पुरुष काल शरीरक परब्रह्म नारायण ही था, ऐसा सुप्रसिद्ध आरुणि उद्दालक महर्षि ने कहा। इस श्रुति में 'सदेव' यहाँ का 'सत्' पद परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है—**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत् ॥** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर, जंगम स्वरूप जगत् सृष्टि के पहले एकमात्र प्रसिद्ध सम्पूर्ण हेय गुणों से रहित

एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था इसके सिवा दूसरा कुछ भी व्यापार वाला नहीं था ॥ १ ॥ **ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् ॥** (बृ० ३।४।१) यह चराचर जगत् सृष्टि के पहले एकमात्र केवल परब्रह्म नारायण ही था ॥ १ ॥ **नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् । दिव्योदेव एको नारायणः ॥** (सुबालोप० खं० ६) सृष्टि के पहले यहाँ कुछ भी नहीं था दिव्यदेव एक नारायण ही थे ॥ ६ ॥ **एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः ॥** (महोप० अ० १ श्रु० १) सृष्टि के आदि समय निश्चय करके एक नारायण ही थे, न ब्रह्मा थे न रुद्र थे ॥१॥ **शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ॥** (नारायणोप० श्रु० २) शुद्ध देव एक नारायण है दूसरा कोई भी नहीं है ॥ २ ॥ जगत्कारण वादिनी श्रुतियों का यथार्थ विवेचन करने से और 'अस्मुवि' धातु से 'सत्' पद निष्पन्न होने से सत् का अर्थ परब्रह्म नारायण होता है । 'सदेव' यहाँ पर एव शब्द से कणाद और गौतम जो उत्पत्ति से पहले जगत् को असत्त्व मानते हैं उसकी व्यावृत्ति की गयी है । और 'एकमेव' यहाँ पर एव शब्द से **॥ बहु स्याम् ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० २ श्रु० ३) मैं परब्रह्म बहुत हो जाऊँ ॥ ३ ॥ इस वक्ष्यमाण लक्ष्यमाण कार्य के प्रति बहुत्वावस्था की व्यावृत्ति की गई है । और **॥ तदैक्षत···तत्तेजोऽसृजत् ॥** (छां० उ० प्रपा० ६ खं० २ श्रु० ३) उस परब्रह्म नारायण ने विचार किया । उस परब्रह्म नारायण ने सत्यसंकल्प से तेज यानी अग्नि को बनाया ॥ ३ ॥ इस श्रुति में 'तत्' पद से 'सत्' पदवाच्य परब्रह्म नारायण ही जगत् का निमित्त कारण कहा गया है । इससे श्रुति में जो 'अद्वितीयम्' पद है इससे निमित्तान्तर की निवृत्ति की गयी है । इसके बाद 'एकम्' और 'अद्वितीयम्' इन दोनों पदों से अभिन्न निमित्तोपादन कारण परब्रह्म को सिद्ध किया गया है । अनन्तावतारधारी भगद्रामानुजाचार्य ने—

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेश्शब्दान्तराच्च (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १८) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के दूसरे खण्ड की दूसरी श्रुति के 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्' इस वाक्य को उद्धृत किया है । और **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१।१।१) तत्तु समन्वयात् (१।१।४) ईक्षतेर्नाशब्दम् (१।१।५) आनन्दमयोभ्यासात् (१।१।१३) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (१।१।२१) आकाशस्तल्लिङ्गात्**

(१।१।२३) तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ (१।३।२५) कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ (१।४।१४) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ॥ (१।४।२३) अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ (२।१।८) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ (२।१।१५) सत्वाच्चापरस्य ॥ (२।१।१७) असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ (२।१।१८) अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ (२।१।२३) उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ (२।१।२४) कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द कोपो वा ॥ (२।१।२६) न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ (२।१।३५) शब्देभ्यः ॥ (२।३।६) तथा प्राणाः ॥ (२।४।१) जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ (४।४।१७) इन बीस सूत्रों के श्री भाष्य में प्रकृत श्रुति के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है ॥ २ ॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र क्वचन शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण ने (बहु) विचित्र अनन्त चिदचिन्मिश्रव्यष्टि जगत् रूप से मैं ही बहुत (स्याम्) हो जाऊँ (तत्) उसके लिये (प्रजायेय) तेजो बन्नादि समष्टिरूप से अनेक प्रकार मैं उत्पन्न होऊँ (इति) ऐसा (ऐक्षत) संकल्प किया। तदनन्तर उस परब्रह्म नारायण ने (तेजः) तेज को (असृजत्) सिरजा और (तत्) उस (तेजः) अग्नि शरीर वाले परब्रह्म नारायण ने (बहु) विचित्र अनन्त चिदचिन्मिश्रव्यष्टि जगत् रूप से मैं ही बहुत (स्याम्) हो जाऊँ (तत्) उसके लिये (प्रजायेय) प्रकर्ष रूप से मैं उत्पन्न होऊँ (इति) ऐसा (ऐक्षत) विचार किया तदनन्तर संकल्प करके (आपः) जल को (असृजत) परमात्मा ने सिरजा (तस्मात्) उसी कारण से (पुरुषः) मनुष्य (यत्र) जिस (क्वचन) किसी देश या काल में (शोचति) शोक सन्ताप करता है

(वा) अथवा (स्वेदते) पसीने से युक्त हो जाता है (तत्) वहाँ तो (तेजसः) अग्नि से (एव) निश्चय करके (आपः) जल (अधि+जायन्ते) भलीभाँति उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—वह अभिन्ननिमित्तोपादभूत परब्रह्म नारायण ने विचित्र अनन्त चेतनाचेतन मिश्र व्यष्टि जगत् रूप से मैं ही बहुत हो जाऊँ इस प्रकार पहले विचार करके तेज, जल, पृथ्वी आदि समष्टि रूप से मैं अनेक प्रकार उत्पन्न होऊँ ऐसा संकल्प किया। और अन्यत्र भी लिखा है कि— **स ईक्षाचक्रे ॥** (प्रश्नो० ६ श्रु० ३) उस परब्रह्म नारायण ने विचार किया ॥ ३ ॥ **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ६) उस परब्रह्म नारायण ने कामना की मैं बहुत हो जाऊँ ॥ ६ ॥ **स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥** (ऐत० अ० १ खं० १ श्रु० १) उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म नारायण ने निश्चय ही सब प्राणियों के कर्म फलोपभोग के आश्रयभूत अम्भ आदि लोकों को मैं रचूँ, इस प्रकार विचार किया ॥ १ ॥ **सेयं देवतैक्षत ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० ३ श्रु० २) उस परब्रह्म नारायण देव ने यह विचार किया ॥ १ ॥ इन श्रुतियों में परब्रह्म परमात्मा की सृष्टि रचना विषयक प्रथम संकल्प का स्पष्ट वर्णन है। प्रकृत श्रुति में परब्रह्म नारायण के व्यापक होने से 'तत्' यह नाम है। क्योंकि लिखा है— **अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते ॥** (ऋग्वे० अष्ट० ७ अ० ३ वर्ग० ८ मण्ड० ९ सू० ८४ मं० १) चक्र से अदग्ध बाहुमूल अपरिपक्व जन उस परब्रह्म को नहीं प्राप्त करता है ॥ १ ॥ यह श्रुति (सामवे० पूर्वार्चिक० प्रपा० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२) में और (तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १ अनु० ११ मंत्र २) में भी है ॥ **तदेजति तन्नैजति ॥** (ईशो० श्रु० ५) वह परब्रह्म नारायण काँपता है, वह परब्रह्म नारायण नहीं काँपता है ॥ ५ ॥ **तद्ध तद्वनं नाम ॥** (केनो० खं० ४ श्रु० ६) वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध है कि व्यापक होने से तत् और भजनीय होने से वन नाम वाला है ॥ ६ ॥ **ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥** (गी० अ० १७ श्लो० २३) ओम् तत् सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा गया है ॥ २३ ॥ **किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ॥** (विष्णुसहस्रना० श्लो० ९१) किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, अनुत्तम ५, ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥ ९१ ॥ पूर्वोक्त श्रुति स्मृति इतिहास से सिद्ध है कि परब्रह्म का 'तत्' नाम है। संकल्प करने के

पश्चात् उस परब्रह्म नारायण ने तेज यानी अग्नि की रचना की। तेज के विषय में लिखा है— **रूपस्पर्शवत्** ॥ (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ३) अरुण रूप वाला और उष्ण स्पर्श वाला जो हो वही तेज है ॥ ३ ॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः** ॥ (महाभारत वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लो० ७) शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण तेज के हैं ॥ ७ ॥ उस अग्नि शरीर वाले परब्रह्म नारायण ने विचित्र अनन्त चेतनाचेतन मिश्रव्यष्टि जगत् रूप से मैं ही बहुत हो जाऊँ। उसके लिये मैं ही नाना प्रकार के उत्पन्न होऊँ ऐसा विचार किया। अचेतन तेज ईक्षण नहीं कर सकता है, इससे पूर्वोक्त अर्थ करना ही उचित है। परब्रह्म नारायण का अग्नि शरीर है, क्योंकि लिखा है- **यस्याग्निः शरीरम्** ॥ (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ५) अग्नि जिस परमात्मा का शरीर है ॥ ५ ॥ **यस्य तेजः शरीरम्**(सुबालो०खं०७)अग्नि जिस नारायणका शरीर है। संकल्प करने के अनन्तर उस परब्रह्म नारायण ने जल की रचना की। जल के विषय में लिखा है- **रूपरसस्पर्शवत्यः द्रवाः स्निग्धाः** ॥ (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० २) शुक्ल रूप तथा मधुर रस और शीत स्पर्श वाला तथा द्रव्य और स्निग्ध जो हो, वही जल है ॥ २ ॥ **शब्दः स्पर्शश्चरूपश्च रसश्चापिद्विजोत्तम । अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत** ॥ (महाभारत वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लो० ६) हे सुव्रत ब्राह्मण ! शब्द १, स्पर्श २, रूप ३ और रस ४ ये चार जल के गुण मैंने तुझसे कहा ॥ ६ ॥ और भी लिखा है— **अग्नेरापः** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) अग्नि शरीरक परमात्मा से जल तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ अब जल का कारण तेज है इस विषय में उपपत्ति दिखाते हैं कि इसी कारण से पुरुष जिस किसी देश या काल में शोक सन्ताप करता है अथवा देह में पसीना आ जाता है तब उस समय तेज से ही उस जल का उत्पत्ति होती है। लक्ष्मणावतारधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने — **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा० मी० १।१।१) **तत्तु समन्वयात्** ॥ (शा० मी० १।१।४) **ईक्षतेर्नाशब्दम्** ॥ (शा० मी० १।१।५) **गौणश्चेन्नात्मशब्दात्** ॥ (शा० मी० १।१।६) **श्रुतत्वाच्च** ॥ (शा० मी० १।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ॥ (शा० मी० १।१।१३) **आकाशस्तल्लिङ्गात्** ॥ शा० मी० १।१।२३) **विशेषणभेद-**

व्यपदेशाभ्याश्चनेतरौ ॥ (शा० मी० १।२।२३) तदुपर्यपि वादरायण-स्सम्भवात् ॥ (शा० मी० १।३।२५) समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्य-विरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ (१।३।२६) कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः ॥ (१।४।१४) अभिध्योपदेशाच्च ॥ (१।४।२४) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ (२।१।१५) कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवय-वत्वशब्दकोपो वा ॥ (२।१।२६) पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ (२।२।३५) न वियदश्रुतेः ॥ (२।३।१) गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च ॥ (२।३।३) शब्देभ्यः ॥ (२।३।६) आपः ॥ (२।३।११) अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः (२।३।१३) तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ (२।३।१४) सञ्ज्ञामूर्ति क्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ (२।४।१७) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ (३।४।८) जगद्व्यापारवर्जंप्रकरणाद-सन्निहितत्वाच्च ॥ (४।४।१७) इन चौबीस सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्यो-पनिषद्" के षष्ठ प्रपाठक के दूसरे खण्ड की तीसरी श्रुति के वाक्यों को उद्धृत किया है ॥ ३ ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्न-मसृजन्त । तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति । अद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥४॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(ताः) वह (आपः) जल शरीर वाले परब्रह्म नारायण ने (बह्व्यः) विचित्र अनन्त चिदचिन्मिश्रव्यष्टिजगत् रूप से मैं ही बहुत (स्याम्) हो जाऊँ (इति) ऐसा (ऐक्षन्त) संकल्प किया कि (प्रजायेमहि) प्रकर्ष रूप से मैं उत्पन्न होऊँ तदनन्तर संकल्प करके (ताः) वह जलान्तर्यामी परब्रह्म नारायण ने (अन्नम्) पृथ्वी को (असृजन्त) सिरजा (तस्मात्) इसी कारण से (यत्र) जहाँ (क्व) कहीं (च) भी (वर्षति) वर्षा होती है (तद्) वहीं (एव) ही (भूयिष्ठम्) बहुत सा (अन्नम्) धान, जौ आदि अन्न तथा अन्य खाने के योग्य सब पदार्थ (अद्भ्यः)

जल से (एव) ही (अधि+जायते) भलीभाँति उत्पन्न होता है ॥४॥

विशेषार्थ–उस जल शरीर वाले परब्रह्म नारायण ने विचित्र अनन्त चराचर मिश्रव्यष्टि जगत्रूप से मैं ही बहुत हो जाऊँ, उसके लिये मैं ही अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ ऐसा विचार किया। अचेतन जल ईक्षण नहीं कर सकता है इससे पूर्वोक्त अर्थ करना ही उचित है। अप् शब्द नित्य बहुवचनान्त स्त्रीलिङ्ग है इससे यहाँबहुवचनान्त प्रयोग हुआ है। परब्रह्म नारायण का जल शरीर है क्योंकि लिखा है— **यस्यापः शरीरम् ॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ४) जल जिस परमात्मा का शरीर है ॥ ४ ॥ सुबालोपनिषद् के सातवें खण्ड में भी लिखा है कि- जिस नारायण का जल शरीर है ॥ ७ ॥ संकल्प करने के बाद उस परब्रह्म नारायण ने पृथ्वी की रचना की। यहाँ महाभूत के अधिकार होने से 'अन्न' शब्द से पृथ्वी कही जाती है। पृथ्वी के विषय में लिखा है- **रूपरसगंधस्पर्शवती ॥** (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० १) रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाली जो हो वही पृथ्वी है ॥ १ ॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः। एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥** (महाभार० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ५) शब्द १, स्पर्श २, रूप ३, रस ४ और गन्ध ५ ये सबसे अधिक पाँच गुण पृथ्वी के हैं ॥ ५ ॥ और भी लिखा है— **अद्भ्यः पृथ्वी ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) जल शरीरक परमात्मा से पृथ्वी उत्पन्न हुई ॥ १ ॥ अब अन्न उत्पन्न होने में कारण जल है इस विषय में युक्ति दिखाते हैं कि—इसी कारण से जहाँ कहीं भी वृष्टि होती है वहाँ ही बहुत सा धान, जौ, गेहूँ आदि अन्न होता है। वह धान, जौ आदि अन्न और भोजन करने योग्य सब पदार्थ जल से उत्पन्न होता है। और भी लिखा है— **वृष्टेरन्नम् ॥** (मनु० अ० ३ श्लो० ७६) वर्षा से अन्न होता है ॥ ७६ ॥ **पर्जन्यादन्नसंभवः ॥** (गी० अ० ३ श्लो० १४) अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है ॥ १४ ॥ प्रकृत श्रुति में उपलक्षण के द्वारा समस्त अचित् तत्व की उत्पत्ति परब्रह्म नारायण के सत्यसंकल्प से बतलायी गयी है। क्योंकि लिखा है— **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥**

(मुण्डको० मुं० २ खं० १ श्रु० ३) इस परब्रह्म नारायण से प्राण उत्पन्न होता है तथा मन उत्पन्न होता है और समस्त इन्द्रियाँ आकाश, वायु, जल, उत्पन्न होते हैं और समस्त संसार को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥ **नारायणात्प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायु ज्योर्तिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥** (नारायणो० श्रु० १) परब्रह्म नारायण से प्राण, मन और सब इन्द्रियगण आकाश, वायु, अग्नि जल उत्पन्न हुए और विश्व के धारण करने वाली पृथ्वी भी उत्पन्न हुई ॥ १ ॥ बलरामावतारधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने— **गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥** (शा० मी० १।१।६) **पृथिवी** (२ ३।१२) **तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः** ॥ (२।३।१४) **संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥** (२।४।१७) इन चारों सूत्रों के श्री भाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के दूसरे खण्ड की चौथी श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ४ ॥

॥ अथ तृतीयखण्डः ॥

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥१॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय करके (आण्डजम्) अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी साँप आदिक तथा (जीवजम्) गर्भवेष्टनयुक्त जेर से उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदि और (उद्भिज्जम्) जमीन फोड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष वनस्पति आदि (इति) ये तीन प्रकार के प्राणी हैं (तेषाम्) उन (एषाम्) इन (भूतानाम्) प्रसिद्ध मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों के (त्रीणि) पृथ्वी जल तेज ये तीन (एव) ही (बीजानि) बीज यानी कारण (भवन्ति) होते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—यह सुप्रसिद्ध है कि एक अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प आदि प्राणी हैं। अण्डज के विषय में लिखा है— **अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः । यानि चैव प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च** (मनु० अ० १ श्लो० ४४) पक्षी, साँप, नक्र, मछली, कच्छप और इसी प्रकार स्थल में उत्पन्न होने वाले कृकलास आदिक और उदक में उत्पन्न होने वाले शंख

आदिक ये सब अण्डे से उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ।। ४४ ।। और दूसरे जीवज यानी गर्भवेष्टनलक्षण जेर से युक्त माता की योनि से उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदि प्राणी हैं । इन्हीं को पिण्डज तथा जरायुज भी कहते हैं । जरायुज के विषय में लिखा है—**पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः । रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४३) पशु मृगा और और ऊपर नीचे दाँत वाले व्याल तथा राक्षस और पिशाच तथा मनुष्य ये जेर से उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ।। ४३ ।। और तीसरे पृथ्वी को फोड़कर निकलने वाले प्राणी स्थावर वृक्ष आदि प्राणी हैं । इन्हीं को उद्भिज्ज कहते हैं । उद्भिज्ज के विषय में लिखा है **उद्भिज्जाःस्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः** (मनु० अ० १ श्लो० ४६) स्थावर सब प्राणी दो प्रकार के होते हैं एक बीज से उत्पन्न और दूसरे शाखा से उत्पन्न होते हैं । ये सब जमीन फोड़कर उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ।। ४६ ।। ये पूर्वोक्त अण्डज १, पिण्डज २ और उद्भिज्ज ३ ये तीन ही सब प्राणियों के बीज हैं । अतः विश्वविख्यात मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों के भी पृथ्वी १, जल २, और तेज ३ ये तीनों बीज होते हैं । यहाँ यह प्रश्न होता है कि सब प्राणियों के तीन ही बीज इस श्रुति में कैसे कहा गया । क्योंकि लिखा है कि—**अण्डजानिचजारुजानि च स्वेदजानिचोद्भिज्जानि च ॥** (ऐत० उ० अ० ३ खं० १ श्रु० ३) अण्डे से उत्पन्न होने वाले और जेर से उत्पन्न होने वाले तथा पसीने से उत्पन्न होने वाले और जमीन फोड़कर उत्पन्न होने वाले ये चार प्रकार के प्राणी हैं ।। ३ ।। इस श्रुति में तीन बीज से अलग स्वेदज बतलाया गया है । और भी लिखा है कि—**स्वेदजंदंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् । उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४५) डंस, मच्छड़ जोंक, मखी, खटमल और इसी प्रकार पिपीलिका आदिक हैं ये सब पसीने से उत्पन्न होने वाले प्राणी हैं ।। ४५ ।। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि चौथा बीज स्वेदज है । इसका उत्तर साक्षात् महर्षि बादरायणाचार्य ने लिखा है कि—**तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥** (शा० मीं० अ० ३ पा० १ सू० २१) स्वेदज का उद्भिज शब्द से ही संग्रह हो जाता है ।। २१ ।। इस प्रमाण से उद्भिज से ही स्वेदज का भी बोध हो जाता है । इससे सिद्ध हो गया कि सब प्राणियों के तीन ही बीज हैं । पतञ्जलिमुन्यवतारधारी

भगवद्रामानुजाचार्य ने— **दर्शनाच्च ॥** (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० २०) **तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥** (शा० मी० ३।१।२१) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के तीसरे खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२॥

अन्वयार्थ—(सा) उस सत् शब्द वाच्य (इयम्) यह (देवता) परमात्मा देवता ने (इति) इस प्रकार (ऐक्षत) विचार किया कि (हन्त) अब (अहम्) मैं (इमाः) इन तेज जल और पृथ्वी रूप (तिस्रः) तीनों के (देवताः) अभिमानी देवताओं में (अनेन) इस (जीवेन) जीव शरीरक (आत्मना) अपने स्वरूप के द्वारा मैं (अनुप्रविश्य) पश्चात् प्रविष्ट होकर (नामरूपे) देवादिविचित्रसृष्टि को और विचित्र उसके नाम को (व्याकरवाणि) विस्तार पूर्वक भलीभाँति करूँ ॥२॥

विशेषार्थ उस सत् शब्द वाच्य अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भूत परब्रह्म नारायण देव ने संकल्प किया। और भी लिखा है— **स ईक्षाञ्चक्रे ॥** (प्रश्नो० प्र० ६ श्रु० ३) उस परब्रह्म नारायण ने विचार किया ॥३॥ **सोऽकामयत ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ६ श्रु० १) उस परब्रह्म नारायण ने इच्छा की ॥ १ ॥ **तदैक्षत ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० ६ श्रु० ३) उस परब्रह्म ने विचार किया ॥३॥ अब मैं इन तीन पृथ्वी जल तेज के अभिमानी देवताओं में जीव शरीरक अपने स्वरूप के द्वारा अनुप्रवेश करके देव मनुष्य आदि विचित्र रूप को और नाना प्रकार के देवादि के नाम को विस्तार पूर्वक प्रकाशित करूँ। परब्रह्म नारायण का जीव शरीर है। क्योंकि लिखा है— **यस्य विज्ञानं शरीरम् ॥** (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० २२) जिस परब्रह्म नारायण का विज्ञान यानी जीवात्मा शरीर है ॥२२॥ **यस्याक्षरम् शरीरम् ॥** (सुबालो० खं० ७) जिस परब्रह्म नारायण का अक्षर यानी जीवात्मा शरीर है ॥ ७ ॥ चिच्छावतारधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १) **गौणश्चेन्नात्मशब्दात्** (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ६) **आनन्दमयो**

ऽभ्यासात्॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३) श्रुतत्वाच्च ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १२) शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ३१) तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० २५) आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ (शा० मी० अ०१पा० ३ सू० ४२) कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः (१।४।१०) समाकर्षात् (१।४।१५) अवस्थितेरेति काशकृत्स्नः ॥ १।४।२२) अभिमानी व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ (२।१।५) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (२।१।१५) संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपादेशात् ॥ (२।४।१७) मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च (२।४।१८) उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ (३।२।२६) सैव हि सत्यादयः ॥ (३।३।३७) नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ (४।२।२६) इन सत्रह सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक के तीसरे खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥ २ ॥

तासां त्रिवृत्तं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति । सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(तासाम्) देवादि विचित्र रूपों के और देवादि के नामों के करने के लिये अन्योन्य ससर्ग अप्राप्त विशेष सृष्टि करने में असमर्थ उन तेज जल और पृथ्वी के मध्य (एकैकाम्) सृष्टि करने के सामर्थ्य के लिये एकएक को (त्रिवृतम्+त्रिवृतम्) तीन तीन गुणा (करवाणि) मैं करूँ (इति) इस प्रकार के उस परब्रह्म नारायण देवता ने संकल्प किया तदनन्तर (सा) वह सत् शब्दवाच्य (इयम्) यह (देवता) परब्रह्म नारायण देवता ने (इमाः) इन (तिस्रः) तेज जल पृथ्वी रूप तीनों (देवताः) देवताओं में (एव) निश्चय करके (अनेन) इस (जीवेन) जीव शरीरक (आत्मना) अपने स्वरूप के द्वारा मैं (अनुप्रविश्य) सृष्टि के पीछे उस में प्रवेश करके (नामरूपे) देव मनुष्य आदि के विचित्र रूप को और देव

मनुष्य आदि के अनेक प्रकार के नाम को (व्याकरोत्) व्याकरण किया अर्थात् परब्रह्म नारायण देव ने विस्पष्ट रूप से प्रकाशित किया ॥३॥

विशेषार्थ—सत् शब्द वाच्य उस दिव्यदेव परब्रह्म नारायण ने तेज, जल और पृथ्वी आदि की रचना अपने सत्यसंकल्प से की। परन्तु अन्योन्य संसर्ग के बिना वे तत्त्व सृष्टि करने में समर्थ नहीं हो सके। क्योंकि यह लिखा है कि—

नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना। नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ (विष्णुपु० अं० १ अ० २ श्लो० ५२) **समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ॥ महदाद्या विशेषान्ताह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥५३॥** नाना वीर्य वाले वे अलग-अलग रहते हुए सब अचित् तत्त्व अन्योन्य संसर्ग के बिना विशेष प्रजा की सृष्टि करने के लिये भलीभाँति नहीं समर्थ हो सके ॥ ५२ ॥ और वे ही त्रिवृत् करण के द्वारा अन्योन्य संयोग को पाकर परस्परसंहति करके वे महदादि विशेषान्ततत्त्व निश्चय करके अण्ड को उत्पन्न करते हैं ॥ ५३ ॥ उस परब्रह्म नारायण ने उन तेज जल और पृथ्वी के मध्य सृष्टि करने के लिये सामर्थ्य होने के लिये एक एक को तीन गुणा मैं करूँ ऐसा संकल्प किया। तदनन्तर उस सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण देवता ने इन तेज जल और पृथ्वी के अभिमानी देवताओं में जीव शरीरक अपने स्वरूप के द्वारा पीछे से प्रवेश करके देव, मनुष्यादि के विचित्र रूप को और अनेक प्रकार के देव मनुष्य आदि के नाम को विस्पष्ट रूप से प्रकाशित किया। परब्रह्म नारायण देव ने सत्यसंकल्प से पहले सृष्टि करके तब पश्चात् प्रवेश किया है। क्योंकि लिखा है— **यत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥** (तैत्ति० उ० व० अनु० ६ श्रु० १) उस जगत् को रचकर वह परब्रह्म नारायण निश्चय करके पीछे स्वयं उसी में प्रवेश कर गया ॥ १ ॥ परब्रह्म नारायण का जीव शरीर है। क्योंकि लिखा है— **यस्य विज्ञानं शरीरम् ॥** (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० २२) जिस परब्रह्म नारायण के विज्ञान यानी जीवात्मा शरीर हैं ॥२२॥ **यस्याक्षरं शरीरम् ॥** (सुबालोप० खं० ७) जिस परब्रह्म नारायण का अविनाशी जीवात्मा शरीर है ॥७॥ त्रिवृत् करण का भाव यह है कि प्रथम एक एक तेज आदि को दो दो भाग करे इस प्रकार तेज जल और पृथ्वी इन तीन के छः भाग हो जाएँगे। पुनः एक एक

भाग ज्यों का त्यों बना हुआ पृथक रहे । परन्तु एक एक भाग को लेकर दो दो करे इस प्रकार प्रत्येक के तीन तीन भाग हुये । एक एक लघु भाग को अन्य अन्य में मिला देवे । तब सब भूतों के तीन तीन अंश निजके रहे और एक एक अंश दूसरे दूसरे का आया । इसी का नाम त्रिवृत् करण है । अर्चावताररूपधारी भगद्रामानुजाचार्य ने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१।१।१) कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ (१।४।१०) संज्ञामूर्ति क्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ (२।४।१७) नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ (४।२।६)** इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के तीसरे खण्ड की तीसरी श्रुति के 'तासां त्रिवृत्तं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥३॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत् । यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो । देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥४॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके तृतीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तासाम्) उन तीनों तेज जल और पृथ्वी के मध्य (एकैकाम्) विशेष सृष्टि करने के सामर्थ्य के लिये एक एक को (त्रिवृतम्+त्रिवृतम्) तीन तीन गुणा (अकरोत्) उस सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण देवता ने किया (तु) परन्तु (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (खलु) निश्चय करके (यथा) जिस प्रकार (इमाः) ये (तिस्रः) तीनों तेज जल और पृथ्वी (देवताः) देवता (एकैका) एक एक (त्रिवृत+त्रिवृत्) तीन तीन गुणा (भवति) होता है (तत्) उस त्रिवृत् करण को (मे) मुझसे (विजानीहि) विस्पष्ट तुम जानलो (इति) ऐसा उद्दालक महर्षि ने कहा ।

विशेषार्थ—सत् शब्दवाच्य उस दिव्यदेव परब्रह्म नारायण ने तेज जल और पृथ्वीं आदि की रचना अपने सत्यसङ्कल्प से किया । परन्तु अन्योन्य संसर्ग के बिना वे अचित् तत्त्व सृष्टि करने में समर्थ नहीं हो सके । तब उसी परब्रह्म परमात्मा देवता ने उन तीनों तेज जल और पृथ्वी के मध्य विशेष सृष्टि करने के सामर्थ्य होने के लिये एक एक को सत्यसङ्कल्प से तीन तीन गुणा किया । यह वर्णन द्विबद्ध

सुबद्ध न्याय से पूर्व का प्रपञ्चमात्र है। उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! निश्चय करके ये तीनों तेज जल और पृथ्वी देवता एक एक तीन तीन गुणा जैसा होता है वह त्रिवृत करण प्रकार तुम मुझसे भलीभाँति सुन लो। प्रकृत श्रुति में खण्ड समाप्ति सूचन के लिये अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीवरवरमुनीन्द्रावतारधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने—**मांसादि भौमं यथा शब्दमितरयोश्च ॥** (२।४।१८) **त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥** (३।१।२) इन दोनो सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के तीसरे खण्ड की चौथी श्रुति के 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ चतुर्थखण्डः ॥

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्। यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादग्नेरग्नित्वम्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अग्नेः) अग्नि का (यत्) जो (रोहितम्) लाल (रूपम्) स्वरूप है (तत्) वह (तेजसः) त्रिवृत नहीं किया हुआ तेज का (रूपम्) स्वरूप है और अग्नि का (यत्) जो (शुक्लम्) सफेद स्वरूप है (तत्) वह (अपाम्) अत्रिवृत्कृत जल का स्वरूप है तथा अग्नि का (यत्) जो (कृष्णम्) काला स्वरूप है (तत्) वह (अन्नस्य) पृथ्वी का स्वरूप है उन्हीं तेज जल और पृथ्वी में (अग्नेः) अग्नि के अवस्था नाशक सामग्री के संनिधान होने पर (अग्नित्वम्) अग्नित्वावस्था (अपागात्) निवृत्त हो गई और दूसरी अवस्था होती है (वाचा) वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से (विकारः) अग्नित्वादि अवस्था लक्षण संस्थान विशेष—रूप और (नामधेयम्) अग्नि आदि नाम (आरम्भणम्) स्पर्श किया जाता है (इति) इस कारण से (त्रीणि) तीन तेज जल और पृथ्वी के (रूपाणि) स्वरूप लाल, सफेद, काला (एव) ही अग्नि है (सत्यम्) उस प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है ॥१॥

विशेषार्थ—अग्नि का जो लाल स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत किया हुआ तेज का ही स्वरूप है तथा अग्नि का जो शुक्ल स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत किया हुआ जल का ही स्वरूप है और अग्नि का जो कृष्ण स्वरूप लोक में दीखता है वह नही त्रिवृत किया हुआ पृथ्वी तत्त्व का ही स्वरूप है। उन तेज जल और पृथ्वी में अग्नि की अवस्था नाशक सामग्री के संविधान होने पर अग्नित्वावस्था व्यतीत हो जाती है और दूसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। वाणी पूर्वक व्यवहार के हेतु से अर्थात् 'अग्नि से पात्र शुद्ध करो' इस व्यवहार की सिद्धि के लिये अग्नि के संस्थान विशेप रूप और अग्नि इस नाम को स्पर्श किया जाता हैं। इस कारण से तीन तेज जल और पृथ्वी का स्वरूप ही अग्नि है यही प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है विश्वविजयी भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः॥** (शा० मी० २।३।१३) **मांसादिभौमं यथा शब्दमितरयोश्च॥** (शा० मी० २।४।१८) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के चौथे खण्ड की पहली श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है॥१॥

यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्। यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादादित्यादादित्यत्वम्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्॥२॥

अन्वयार्थ—(आदित्यस्य) सूर्य का (यत्) जो (रोहितम्) लाल (रूपम्) स्वरूप है (तत्) वह (तेजसः) त्रिवृत नहीं किया हुआ तेज का (रूपम्) स्वरूप है और सूर्य का (यत्) जो (शुक्लम्) सफेद स्वरूप है (तत्) वह (अपाम्) अत्रिवृत कृत जल का स्वरूप है तथा सूर्य का (यत्) (जो कृष्णम्) काला स्वरूप है (तत्) वह (अन्नस्य) अत्रिवृत् कृत पृथ्वी का स्वरूप है उन तेज जल और पृथ्वी में (आदित्यात्) सूर्य के नाशक सामग्री के संनिधान होने पर सूर्य से (आदित्यत्वम्) सूर्यपना (अपागात) निवृत हो गया और दूसरी अवस्था हो जाती है (वाचा) वाक्पूर्वक व्यवहार के हेतु से (विकारः) आदित्यत्वादि संस्थान विशेष रूप और (नामधेयम्) आदित्य आदि नाम (आरम्भणम्) स्पर्श किया जाता है

(इति) इस कारण से (त्रीणि) तीन तेज जल और पृथ्वी के (रूपाणि) स्वरूप लाल, सफेद, काला (एव) ही आदित्य है (सत्यम्) यही प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—सूर्य का जो लाल स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत किया हुआ तेज का ही स्वरूप है तथा सूर्य का जो शुक्ल स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत किया हुआ जल का ही स्वरूप है और सूर्य का जो कृष्ण स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत किया हुआ पृथ्वी तत्त्व का ही स्वरूप है। उन तेज जल और पृथ्वी में सूर्य की अवस्था नाशक सामग्री के संनिधान होने पर सूर्य से सूर्यत्वावस्था व्यतीत हो जाती है और दूसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। वाणी पूर्वक व्यवहार के हेतु से अर्थात् 'सूर्यमण्डल में नारायण का ध्यान करो' इस व्यवहार की सिद्धि के लिये सूर्य के संस्थान विशेष रूप और सूर्य इस नाम को स्पर्श किया जाता है। इस कारण से तीन तेज जल और पृथ्वी का स्वरूप ही अग्नि है यह प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है ॥२॥

यच्चन्द्रमसो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(चन्द्रमसः) चन्द्रमा का (यत्) जो (रोहितम्) लाल (रूपम्) स्वरूप है (तत्) वह (तेजसः) त्रिवृत नहीं किया हुआ तेज का (रूपम्) स्वरूप है और चन्द्रमा का (यत्) जो (शुक्लम्) सफेद स्वरूप है (तत्) वह (अपाम्) त्रिवृत नहीं किया हुआ जल का स्वरूप है तथा चन्द्रमा का (यत्) जो (कृष्णम्) काला स्वरूप है (तत्) वह (अन्नस्य) त्रिवृत् नहीं की हुई पृथ्वी का स्वरूप है उन तेज जल और पृथ्वी में (चन्द्रात्) चन्द्रमा के नाशक सामग्री के संनिधान होने पर चन्द्रमा से (चन्द्रत्वम्) चन्द्रत्व (अपागात्) निवृत हो गया और दूसरी अवस्था हो जाती है (वाचा) वाक्पूर्वक व्यवहार के हेतु से (विकारः) चन्द्रत्वादि संस्थान विशेष रूप और (नामधेयम्) चन्द्र आदि नाम (आरम्भणम्) स्पर्श किया जाता है (इति) इस कारण से (त्रीणि) तीन तेज, जल और पृथ्वी के (रूपाणि) लाल, सफेद, काला स्वरूप (एव) ही चन्द्रमा है (सत्यम्) यह प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है ॥३॥

विशेषार्थ—चन्द्रमा का जो लाल स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत् किया हुआ तेज का ही स्वरूप है। चन्द्रमा का जो शुक्ल स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत् किया हुआ जल का ही स्वरूप है और चन्द्रमा का जो कृष्ण स्वरूप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत् किया हुआ पृथ्वी तत्त्व का ही स्वरूप है। उन तेज जल और पृथ्वी में चन्द्रमा की अवस्था नाशक सामग्री के संनिधान होने से चन्द्रमा से चन्द्रत्वावस्था व्यतीत हो जाती है और दूसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। वाणी पूर्वक व्यवहार के हेतु से अर्थात् 'चन्द्रमा के समान श्रीवाले स्वामी का मुख है' इस व्यवहार की सिद्धि के लिये चन्द्रमा के संस्थान विशेष रूप और चन्द्रमा इस नाम को स्पर्श किया जाता है। इस कारण से तीन तेज जल और पृथ्वी के स्वरुप ही चन्द्रमा है, यही प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

यद्विद्युतो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(विद्युतः) बिजली का (यत्) जो (रोहितम्) लाल (रुपम्) स्वरुप है (तत्) वह (तेजसः) त्रिवृत् नहीं किया हुआ तेज का (रुपम्) स्वरुप है और बिजली का (यत्) जो (शुक्लम्) सफेद स्वरुप है (तत्) वह (अपाम्) त्रिवृत् नहीं किया हुआ जल का स्वरुप है तथा बिजली का (यत्) जो (कृष्णम्) काला स्वरुप है (तत्) वह (अन्नस्य) त्रिवृत् नहीं की हुई पृथ्वी का स्वरुप है। उन तेज जल और पृथ्वी में (विद्युतः) बिजली की नाशक सामग्री के संनिधान होने पर बिजली से (विद्युत्त्वम्) बिजलीपना (अपागात्) निवृत्त हो गया और दूसरी अवस्था हो जाती है (वाचा) वाक् पूर्वक व्यवहार के हेतु से (विकारः) विद्युत्त्वादि संस्थान विशेष रुप और (नामधेयम्) विद्युत् यानी बिजली आदि का नाम (आरम्भणम्) स्पर्श किया जाता है (इति) इस कारण से (त्रीणि) तीन तेज जल और पृथ्वी के (रुपाणि) लाल, सफेद, काला स्वरुप (एव) ही बिजली है (सत्यम्) यह प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ – विद्युत का जो लाल स्वरुप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत्

किया हुआ तेज का ही स्वरुप है। तथा विद्युत का जो शुक्ल स्वरुप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत् किया हुआ जल का ही स्वरुप है और विद्युत् का जो कृष्ण स्वरुप लोक में दीखता है वह नहीं त्रिवृत् किया हुआ पृथ्वी तत्त्व का ही स्वरुप है। उन तेज जल और पृथ्वी में विद्युत् की अवस्था नाशक सामग्री के संनिधान होने पर विद्युत् से विद्युत्त्वावस्था व्यतीत हो जाती हैं और दूसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। वाणी पूर्वक व्यवहार के हेतु से अर्थात् "विद्युत् के पतन से आम्र वृक्ष नष्ट हो गया" इस व्यवहार की सिद्धि के लिये विद्युत् के संस्थान विशेष रुप और विद्युत् इस नाम को स्पर्श किया जाता है। इस कारण से तीन तेज जल और पृथ्वी के स्वरुप ही विद्युत् है यही प्रमाण से सत्य सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रियाः। न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥५॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तत्) उस उपादान से (एतत्) यह उपादेय भिन्न नहीं हैं इस त्रिवृत् करण के (विद्वांसः) स्वरुप जानने वाले (पूर्वे) अति प्राचीन (महाशालाः) बड़ा श्रेष्ठ मकान वाले महान् गृहस्थ (महाश्रोत्रियाः) सर्व वेदपारग (आहुः + स्म) कहा करते थे कि (अद्य) इस समय (नः) तेज जल और पृथ्वी को जानने वाले हम लोगों के कुल में (कश्चन) कोई भी पुरुष तेज जल और पृथ्वी से अतिरिक्त (अश्रुतम्) नहीं सुना हुआ (अमतम्) नहीं मनन किया हुआ (अविज्ञातम्) नहीं विशेष रुप से जाने हुए वस्तु को (न) नहीं (उदाहरिष्यति) कहेगा (हि) क्योंकि (एभ्यः) इन तेज जल और पृथ्वी से ही (इति) इन सब वस्तुओं को (विदाञ्चक्रुः) वे सर्ववेदपारग मानते थे ॥ ५ ॥

विशेषार्थ - उपादान से उपादेय भिन्न नहीं है, इस त्रिवृत् करण उत्तम विज्ञान के स्वरुप जानने वाले अति प्राचीन या पूर्ववर्ती बड़े श्रेष्ठ घरवाले महागृहस्थ और सर्व वेद को पार करने वाले महावैदिक लोग कहा करते थे कि—इस समय तेज जल और पृथ्वी को जानने वाले हमलोगों के वंश में कोई भी पुरुष अश्रुत अमत और अविज्ञात वस्तु को नहीं कहेगा। क्योंकि वे सर्ववेदपारग

इन तेज जल और पृथ्वी से ही सब कुछ जाना करते थे। अर्थात् हमलोगों से कोई वस्तु ऐसी नहीं जो न विदित हो इस हेतु हमलोगों से कोई मनुष्य नवीन वस्तु नहीं कह सकेगा। श्रोत्रिय शब्द ॥ **श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते** ॥ (पा० व्या० अ० ५ पा० २ सू० ४८) इस सूत्र से निष्पन्न होता है। श्रोत्रिय का लक्षण लिखा है-**एकशाखां संकल्पां च षड्भिरङ्गैरधीत्य च। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नामधर्मवित्** ॥ [देवल] **जन्मना ब्रह्मणोज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते** ॥ व्याकरण १, शिक्षा २, निरुक्त ३, कल्प ४, छन्द ५ और ज्योतिष ६ इन छः अङ्गों के साथ केवल एक अपने वेद की शाखा का पढ़कर जो वेदपाठी धर्मवेत्ता ब्राह्मण अध्ययन १, अध्यापन २, यजन ३, याजन ४, दान ५ और प्रतिग्रह ६ इन छः कर्मों में निरत रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं। शुद्ध ब्राह्मण शुद्ध ब्राह्मणी धर्मपत्नी में जन्म होने से ब्राह्मण कहा जाता है और यज्ञोपवीत आदिक संस्कारों से द्विज कहा जाता है तथा विद्या से विप्रत्व को प्राप्त करता है और पूर्वोक्त तीनों से श्रोत्रिय कहा जाता है। अर्थात् जिस का शुद्ध ब्राह्मण जाति में जन्म हो तथा उपनयन आदि संस्कार हुआ हो और विद्याध्ययन किया हो उसको श्रोत्रिय कहते हैं। इस प्रकार का वर्णन किया गया है ॥ ५ ॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रु र्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदाञ्चक्रु र्यदुकृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः ॥६॥

अन्वयार्थ—(उ) निश्चय करके (यत्) जो कुछ (रोहितम्) लाल (इव) सा (अभूत्) प्रतीत हुआ (इति) यह (तत्) वह (तेजसः) त्रिवृत् नहीं किया हुआ तेज का (रूपम्) स्वरूप है (इति) ऐसा (तत्) उसको (विदाञ्चक्रुः) उन्होंने जाना (उ) निश्चय करके (यत्) जो कुछ (शुक्लम्) सफेद (इव) सा (अभूत्) प्रतीत हुआ (इति) यह (तत्) वह (अपाम्) त्रिवृत् नहीं किया हुआ जल का (रूपम्) स्वरूप है (इति) ऐसा (विदाञ्चक्रुः) उसको उन्होंने जाना (उ) निश्चय करके (यत्) जो कुछ (कृष्णम्) काला (इव) सा (अभूत्) प्रतीत हुआ (इति) यह (तत्) वह (अन्नस्य) पृथ्वी का (रूपम्) स्वरूप है (इति) ऐसा (विदाञ्चक्रुः)

उन्होंने उसको जाना ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—निश्चय करके लोक में जो कुछ लाल सा प्रतीत हुआ है, वह त्रिवृत् नहीं किया हुआ तेज का ही स्वरुप है ऐसा उसको उन महावैदिकों ने जाना तथा निश्चय करके लोक में जो कुछ शुक्ल सा प्रतीत हुआ है वह त्रिवृत् नहीं किया हुआ जल का ही स्वरुप है ऐसा उसको उन महाश्रोत्रियों ने जाना और निश्चय करके लोक में जो कुछ कृष्ण सा प्रतीत हुआ वह त्रिवृत् नहीं किया हुआ पृथ्वी तत्त्व का ही स्वरुप है ऐसा उसको उन ऋषियों ने जाना। इस प्रकार समस्त संसार की वस्तुओं को तेज, जल और पृथ्वी समुदायात्मक उन महा गृहस्थों ने जाना ॥ ६ ॥

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इतित- द्विदाञ्चक्रुः। यथा तु खलु सोम्येमातिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥७॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(उ) निश्चय करके (यत्) जो कुछ (अविज्ञातम्) नहीं विज्ञात (इव) सा (अभूत्) प्रतीत हुआ (इति) यह (तत्) वह भी (एव) निश्चय (एतासाम्) इन लोहित शुक्ल कृष्ण रुप वाले तेज, जल और पृथ्वी के अभिमानी (देवतानाम्) देवताओं के (समासः) समुदाय है (इति) ऐसा (विदाञ्चक्रुः) उसको उन महश्रोत्रियों ने जाना (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (खलु) निश्चय करके (यथा) जिस प्रकार (तु) कि (इमाः) ये (तिस्रः) तेज जल और अन्न रुप तीन (देवताः) देवता पुरुष से भोजन किये गये (पुरुषम्) पुरुष को (प्राप्य) प्राप्त होकर (एकैका) उनमें से एक एक [इति] इस वक्ष्यमाणरीति से [त्रिवृत्+त्रिवृत्] तीन तीन प्रकार परिणामयुक्त [भवति] हो जाता है [तत्] उस परिणाम प्रकार को [मे] मुझसे [विजानीहि] तुम विशेष रुप से जान लो ॥७॥

विशेषार्थ - निश्चय करके जो कुछ उन ऋषियों को अविज्ञात सा प्रतीत हुआ वह भी इन लाल सफेद और काले रुप वाले तेज जल और पृथ्वी देवता का समुदाय ही है ऐसा उन विद्वानों ने जाना। इस प्रकार समस्त प्रपञ्च के त्रिवृत् कृत तेज जल और पृथ्वी से अभेद सिद्ध करके अब अध्यात्म मांस रक्त मज्जा अस्थिलक्षण देह के और इन्द्रिय मन प्राणों के त्रिवृत् कृत तेज जल और अन्न के

साथ अभेद दिखाने के लिये उद्दालक महर्षि आगे श्रौत उपदेश प्रारम्भ करते हैं कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! मनुष्य से भोजन किया हुआ तेज जल ओर अन्न पुरुष को प्राप्त होकर जिस प्रकार प्रत्येक तीन तीन प्रकार परिणाम युक्त हो जाता है निश्चय करके उस परिणाम प्रकार को तुम मुझसे अच्छी तरह सुन लो। यतीन्द्रभगवद्रामानुजाचार्य ने **संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्** (शा० मी० २।४।१७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठ प्रपाठक के चौथे खण्ड की सातवीं श्रुति के उत्तरार्द्ध को उद्धृत किया है यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक का चौथा खण्ड समाप्त हो गया॥ ७॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

अन्नमशितं त्रेधा बिधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अशितम्) भोजन किया हुआ (अन्नम्) अन्न (त्रेधा) जठराग्नि से पच्यमान होकर स्थूल मध्यम और अत्यन्त सूक्ष्म रूप से तीन प्रकार का (विधीयते) विभक्त हो जाता है (तस्य) उस मुक्त अन्न का (यः) जो (स्थविष्ठः) अत्यन्तस्थूल (धातुः) भाग है (तत्) वह (पुरीषम्) विष्ठा (भवति) हो जाता है तथा (यः) जो (मध्यमः) मध्यभाग है (तत्) वह (मांसम्) रसादिक्रम से परिणत होकर मांस हो जाता है और (यः) जो (अणिष्ठः) अतिसूक्ष्मभाग है (तत्) वह (मनः) मन के आप्यायक हो जाता है॥१॥

विशेषार्थ—पुरुष से खाया हुआ अन्न जठरानल से पच्यमान हो कर स्थूल मध्यम और अत्यन्त सूक्ष्मरूप से तीन प्रकार के विभक्त हो जाता है। उस मुक्त अन्न का जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह मल हो जाता है तथा भोजन किया हुआ अन्न का जो मध्यम भाग है वह रसादि क्रम से परिणत होकर मांस हो जाता है। उस मुक्त अन्न का जो अति सूक्ष्म भाग है वह मन का आप्यायक हो जाता है। मन नहीं होता है। क्योंकि मन के आहंकारिक होने से अन्न के विकार का अभाव है। भोजन के विषय में लिखा है— **नासनारूढपादस्तु न वेष्टितशिरास्तथा।**

न स्कन्दयन्न च हसन्जहिर्निष्यवलोकयन् ।। (वृद्धहारी० अ० ८ श्लो० २६८) **नात्मीयान्प्रलपञ्जल्पन्वहि र्जानुकारो न च । न पादारोपितकरः पृथिव्यामपि वा न च ।। २६९ ।। न प्रसारितपादश्च नोत्सङ्गकृतभाजनः । नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं न पुत्रै र्वा कदाचन** ।।२७०।। **न शयानो नातिसङ्गो न विमुक्तशिरोरुहः । अन्नं वृथा न विकिरन्निष्ठीवन्नतिकाङ्क्षया** ।।२७१।। **नातिशब्देन भुञ्जीत न वस्त्रार्धोपवेष्टितः** (२७२) आसन पर पैर रखकर और मस्तक को ढँककर तथा आँसू लार आदि टपकाते हुए या चलते हुए और हसते हुए तथा बाहर की ओर देखते हुए भोजन न करे ।२६८।। और आत्मीयों के साथ प्रलाप करते हुए या किसी के साथ बात चीत करते हुए तथा जंघा से बाहर हाथ निकालकर और पैर पर या पृथ्वी पर अथवा गाल पर बाम हाथ रखकर भोजन नहीं करे ।।२६९।। पैर फैलाकर तथा गोदी में पात्र को रखकर भोजन न करे और अपनी स्त्री के साथ पुत्र के साथ भी कभी भोजन न करे ।। २७० ।। सोते हुए और अत्यन्त आसक्ति पूर्वक तथा शिखा खोलकर और व्यर्थ अन्न गिराते हुए तथा थूकत हुए और अत्यन्त भोजन की अभिलाषा से कभी भोजन न करे ।।२७१।। अत्यन्त शब्द करते हुए तथा आधी धोती के वस्त्र से देह ढँककर या कच्छ खोलकर कभी भोजन न करे ।।२७२।। "सर्वदा मिताहार करे" । मिताहार के विषय में लिखा है— **अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम् । तस्माद्योगानुगुन्येन भोजनं मितभोजनम्** । (जाबालद० उ० खं० १ श्रु० १९) थोड़ा मात्रा में शुद्ध सात्त्विक अन्न ग्रहण करना, उदर के दो भाग अन्न से और एक अंश को जल से पूर्ण करके चतुर्थ अंश को खाली रख छोड़ना —इस प्रकार जो योग मार्ग के अनुकूल भोजन है वही परिमित आहार कहा जाता है ।।१९।। तुलसी कमलाक्षमालाधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने— **मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च** ।। (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १८) **वैशेष्यात्त तद्वादस्तद्वादः** ।। (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १९) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के पाँचवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ।।१।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति । यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः सः प्राणः ॥२॥

अन्वयार्थ—(पीताः) पीया हुआ (आपः) जल (त्रेधा) जठराग्नि से पच्यमान होकर स्थूल मध्यम और अत्यन्त सूक्ष्मरूप से तीन प्रकार का (विधीयन्ते) विभक्त हो जाता है (तासाम्) उस पीत जल का (यः) जो स्थविष्ठः) अत्यन्तस्थूल (धातुः) भाग है (तत्) वह (मूत्रम्) मूत्र (भवति) हो जाता है तथा (यः) जो (मध्यमः) मध्यम भाग है (तत्) वह (लोहितम्) रुधिर हो जाता है और (यः) जो (अणिष्ठः) अति सूक्ष्म भाग है (सः) वह (प्राणः) प्राण के आप्यायक हो जाता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ – पुरुष से पीया हुआ जल जठरानल से पच्यमान होकर स्थूल मध्यम और अत्यन्त सूक्ष्मरूप से तीन प्रकार का विभक्त हो जाता है। उस पीत जल का जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह मूत्र हो जाता है। तथा पीये हुए जल का जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और उस पीत जल का जो अति सूक्ष्म भाग है वह प्राण के आप्यायक हो जाता है। प्राण के विषय में पहले मैं लिख चुका हूँ। पीने के विषय में लिखा है— **चषके पुटके वापि पिबेत्तोयं द्विजोत्तमः ॥** (वृद्धहा० स्मृ० अ० ८ श्लो० २७२) **तक्रं वाप्यथवा क्षीरं पानकं वापि भोजने। वक्त्रेण सान्तर्धानेन दत्तमन्येन वा पिबेत् ।** (२७३) **ग्रासशेषं नचाश्नीयात्पीतशेषं पिबेन्न तु । शाकमूलफलादीनि दन्तच्छिन्नं न खादयेत् ॥** (२७४) **उद्धृत्य वामहस्तेन तोयं वक्त्रेण यः पिबेत् । स सुरां वा पिबेद् व्यक्तां सद्यः पतति रौरवे ॥** (२७५) **शब्देनापोशने पीत्वा शब्देन दधिपायसे। शब्देनान्नरसं क्षीरं पीत्वैव पतितो भवेत् ॥** (२७६) **प्रत्यक्षलवणं शुक्तं क्षीरं लवणसंयुतम् । दधि हस्तेन मथितं सुरापानसमं स्मृतम् ॥** (२७७) **आरनालरसं तद्वत्तथैवानर्पितं हरेः ॥** (२७८) द्विजोत्तम ग्लास या प्याले अथवा पुटक में जल पीये ॥२७२॥ भोजन के समय में पर्दा के भीतर अपने अनुकूल दूसरे पुरुष से दिया हुआ तक्र या दूध अथवा जल को छिपकर पीये ॥ २७३ ॥ ग्रास से बचे

हुए अन्न को भोजन न करे और पीने से बचे हुए जलादिक को न पीये तथा शाक कन्दमूल और फलादिक को दाँत काटकर भोजन न करे ॥६७४॥ जो वाम हाथ से जल को निकाल कर मुख से पीता है, वह मद्यपान करता है और शीघ्र ही मरकर रौरव नरक में गिरता है ॥६७५॥ शब्द करता हुआ जल और दूध पीकर तथा शब्द करता हुआ दधि और हविष्य तथा अन्न भोजन करके पतित हो जाता है ॥६७६॥ प्रत्यक्ष नमक तथा सिरका और नमक मिला हुआ दूध तथा हाथ से मट्ठा हुआ दही मद्यपान के समान कहा गया है ॥६७७॥ आरनाल फल का रस और भगवान् के बिना भोग लगायी हुई वस्तु भी मद्य के समान ही हैं ॥६७८॥ **वामहस्ते जलं धृत्वा मणिबन्धे निधाय च । भुञ्जमानः पिबन्वारि नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत् ॥** "आह्निककारिः" भोजन करने वाला मनुष्य बायें हाथ में जलपात्र को लेकर दाहिने हाथ के गट्टे पर जलपात्र को रख कर ऊपर से मुख में धार गिरा कर यदि जल को पीता है तो वह जल जूठा नहीं होता है ऐसा वृद्धमनु ने कहा है। फेन रहित जल को वस्त्र से छान कर पीना चाहिये। सितयज्ञसूत्रधारी भगवद्रामानुजाचार्यने **मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च** ॥ (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १८) **वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः** ॥ (शा० मी० अ २ पा०४ सू०१९)इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के पाँचवें खण्ड की दूसरी श्रुति के 'आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥६॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति । यो मध्यमः स मज्जायोऽणिष्ठः सा वाक् ॥३॥

अन्वयार्थ—(अशितम्) भोजन किया हुआ (तेजः) घृततेलादि (त्रेधा) जठराग्नि से पच्यमान होकर स्थूल मध्यम और अति सूक्ष्म मध्यम और अति सूक्ष्म रूप से तीन प्रकार का (विधीयते) विभक्त हो जाता है (तस्य) उस भुक्त घृत तैलादि का (यः) जो (स्थविष्ठः) अत्यन्त स्थूल (धातुः) भाग है (तत्) वह (अस्थि) हड्डी (भवति) हो जाता है तथा (यः) जो (मध्यमः) मध्यम भाग है (सः) वह (मज्जा) मज्जा यानी अस्थि के अन्तर्गत स्नेह धातु विशेष हो जाता है और

(यः) जो (अणिष्ठः) अति सूक्ष्म भाग है (सा) वह (वाक्) वाणी का आप्यायक हो जाता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—पुरुष से भोजन किया हुआ घृतादि जठरानल से पच्यमान होकर स्थूल मध्यम और अत्यन्त सूक्ष्मरुप से तीन प्रकार के विभक्त हो जाता है। इस श्रुति में तेज शब्द से घृतादिक कहा जाता है। क्योंकि लिखा है— **घृतमायुः। घृतं तेजः ॥** (श्रुतिः) घृत आयु है और घृत तेज है ॥ उस भुक्त घृतादि का जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह हड्डी हो जाता है। भोजन किये हुए घृतादि का जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है। जो हड्डी के अन्तर्गत स्नेह धातु विशेष है उसीको मज्जा कहते हैं और उस भुक्त घृतादि का जो अति सूक्ष्मभाग है वह वाणी का आप्यायक हो जाता है। घृत भोजन के विषय में लिखा है— **आयसेन तु पात्रेण नैव दद्याद् घृतादिकम् ॥** (वृद्धहा० स्मृ० अ० ८ श्लो० २७८) **नोच्छिष्टं घृतमादद्यात्** (२७९) **पानीयं पायसं क्षीरं घृतं लवणमेव च। हस्तदत्तं न गृह्णीयात्तुल्यं गोमांसभक्षणम् ॥** (२८०) भोजन समय में लोह के पात्र से घृत आदि को नही दे ॥ २७८ ॥ जूठा घृत को भोजन में नहीं ग्रहण करे अथवा जूठे पात्र में घृत नहीं ग्रहण करे ॥२७९॥ जल, हविष्य, दूध, घी और नमक हाथ से निकालकर भोजन में दिया हुआ कभी ग्रहण न करे, क्योंकि वह गोमांस भक्षण के तुल्य है ॥२८०॥ प्रकृत खण्ड में विष्ठा मांस और मन पृथ्वी का विकार कहा गया है। मूत्र रक्त और प्राण जल का विकार कहा गया है और हड्डी मज्जा तथा वाणी तेज का विकार कहा गया। श्रीचूर्णयुक्त-श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने— **मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥** (शा० मी० २।४।१८) **वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥** (शा० मी० २।४।१९) इन दोनों सूत्रों के श्रभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के पाँचवें खण्ड की तीसरी श्रुति के 'तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ ३ ॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागीति। भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येतिहोवाच ॥४॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके पञ्चमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (हि) निश्चय करके (अन्नमयम्) अन्न के अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही मन की वृद्धि करने वाला है। इससे अन्न के परिणाम (मनः) मन है तथा (आपोमयः) जल का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही प्राण के आप्यायक वृद्धि करने वाला है इससे जल का परिणाम (प्राणः) प्राण है और (तेजोमयी) घृतादि का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही वाणी का आप्यायक है। इससे घृतादि तेज के परिणाम (वाक्) वाणी है (इति) इस उपदेश को सुन कर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि (भगवान्) श्री पूज्यपाद आप (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (मा) मुझको (विज्ञापयतु) सम्यक् दृष्टान्त से समझाइये (इति) इस वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥४॥

विशेषार्थ—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! भुक्त अन्न का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही मन का आप्यायक है। इससे अन्नमय यानी अन्न का परिणाम मन है तथा पीये हुए जल का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही प्राण का आप्यायक है, इससे आपोमय यानी जल का परिणाम प्राण है। भुक्त घृतादि तेज का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही वाणी का आप्यायक है, इससे तेजोमयी यानी घृतादि तेज का परिणाम वाणी है। इस उपदेश को सुनकर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि—हे पूज्य गुरुदेव भुक्त अन्न, जल और तेज के सूक्ष्म अंश क्रम से मन, प्राण और वाणी के आप्यायक हैं यह जो श्रीमान् ने उपदेश दिया है, वह मेरी समझ में नहीं आया है, इससे हे भगवन् आप कृपा करके फिर भी मुझे भलीभाँति दृष्टान्त से पूर्वोक्त विषय को समझाइये। पुत्र के इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आरुणि उद्दालक महर्षि ने अच्छा सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र ऐसा कहा। कमनीय शिखाधारी भगवद्रामानुजाचार्य ने—**मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥** (शा० मी० २।४।१८) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के पाँचवें खण्ड की चौथी श्रुति के पूर्वार्द्ध को और—**अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥** (शा० मी० ३।३।३५) के श्रीभाष्य में 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक का पाँचवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ षष्ठखण्डः ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमास ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥१॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो जैसे (मथ्यमानस्य) मन्थन दण्ड आदिक से मथा जाता हुआ (दध्नः) दही का (यः) जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म भाग है (सः) वह (ऊर्ध्वः) ऊपर (समुदीषति) भलीभाँति इकट्ठा हो जाता है (तत्) वह (सर्पिः) घृत (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि ने फिर उपदेश देना प्रारम्भ किया कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! जिस प्रकार मन्थन दण्ड आदिक से मथे जाते हुए दही का जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह नवनीत भाव को प्राप्त हो ऊपर भली-भाँति इकट्ठा हो जाता है, वह घृत होता है ॥१॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनोभवति ॥२॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय करके (एवम्) वैसे (एव) ही (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! (अश्यमानस्य) मनुष्यों से भोजन किया जाता हुआ (अन्नस्य) अन्न का (यः) जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म भाग है (सः) वह (ऊर्ध्वः) ऊपर (समुदीषति) सम्यक् प्रकार से आ जाता है (तत्) वह (मनः) मन की प्रवृद्धि करने वाला (भवति) होता है ॥२॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार पहले मन्त्र में दही का दृष्टान्त कहा गया है निश्चय करके उसी प्रकार हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! मनुष्यों से भोजन किया हुआ अन्न का जो अत्यन्त सूक्ष्म अंश है, वह ऊपर भलीभाँति आ जाता है और वही अहङ्कारिक मन की प्रवृद्धि करने वाला हो जाता है। भोजन के विषय में लिखा है— **प्राग्द्रवंपुरुषोऽश्नीयान्मध्ये च कठिनाशनः। अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्यै न मुञ्चति ॥** (विष्णुपु०) **जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलस्य च। वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥** पुरुष द्रवयुक्त मधुर अन्न को पहले भोजन करे तथा मध्य में कड़ा अन्न को भोजन करे और अन्त में फिर द्रवयुक्त मधुर अन्न को भोजन करे तो बल से तथा आरोग्य से रहित नहीं होता है। अपने पेट के आधे भाग को अन्न से भरे तथा तीसरे

भाग को जल से पूर्ण करे और हवा के सञ्चार के लिये चौथा भाग सर्वदा खाली रखे ॥२॥

अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥३॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (पीयमानानाम्) पीये हुए (अपाम्) जल का (यः) जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म भाग है (सः) वह (ऊर्ध्वः) ऊपर (समुदीषति) सम्यक् प्रकार से आ जाता है (सः) वह (प्राणः) प्राण की प्रवृद्धि करने वाला (भवति) होता है ॥३॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार पहले मन्त्र में दही का दृष्टान्त कहा गया है निश्चय करके उसी प्रकार हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! पीये हुए जल का जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह ऊपर भलीभाँति इकट्ठा होकर आ जाता है और वही प्राण का प्रवृद्धकारक हो जाता है ॥३॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥४॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (अश्यमानस्य) भोजन किये हुये (तेजसः) घृततैलादि तेज पदार्थ का (यः) जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म भाग है (सः) वह (ऊर्ध्वः) ऊपर (समुदीषति) सम्यक् प्रकार से आ जाता है (सा) वह (वाग्) वाणी की प्रवृद्धि करने वाला (भवति) होता है ॥४॥

विशेषार्थ जिस प्रकार पहले मन्त्र में दही का दृष्टान्त कहा गया है उसी प्रकार हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! भोजन किये हुए घृत तैलादि तेज पदार्थ का जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह ऊपर भलीभाँति से इकट्ठा होकर आ जाता है और वही वाणी की प्रवृद्धि करने वाला होता है। इस श्रुति में तेज शब्द से घृतादिक कहा जाता है। क्योंकि लिखा है— घृतं तेजः ॥ (श्रु०) घृत तेज है ॥४॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥५॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ - (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (हि) निश्चय करके (अन्नमयम्) भुक्त अन्न का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही मन की वृद्धि करने वाला है। इससे अन्न का परिणाम (मनः) मन है तथा (आपोमयः) पीत जल का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही प्राण की वृद्धि करने वाला है इससे जल का परिणाम (प्राणः) प्राण है और (तेजोमयी) भुक्त घृतादि तेज का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही वाणी की वृद्धि करने वाला है। इससे घृतादि तेज का परिणाम (वाक्) वाणी है (इति) इस उपदेश को सुनकर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि (भगवान्) श्रपूज्यपाद आप (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (मा) मुझको (विज्ञापयतु) सम्यक् दृष्टान्त से अन्नमय मन को समझाइये (इति) इस वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥५॥

विशेषार्थ—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! भुक्त अन्न का सूक्ष्म भाग ही मन का आप्यायक है, इससे अन्नमय यानी अन्न का परिणाम मन है। पीत जल का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही प्राण का आप्यायक है, इससे आपोमय यानी जल का परिणाम प्राण है। भुक्त घृतादि तेज का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही वाणी का आप्यायक है, इससे तेजोमयी यानी घृतादि तेज का परिणाम वाणी है। इस उपदेश को सुनकर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि हे पूज्य गुरुदेव भुक्त अन्न, जल और तेज का अत्यन्त सूक्ष्म अंश क्रम से मन, प्राण और वाणी के आप्यायक हैं यह जो श्रीमान् ने उपदेश दिया है, वह मुझे अभीतक समझ में नही आया है इससे हे भगवन् आप कृपा करके फिर भी मुझे भलीभाँति दृष्टान्त से अन्नमय मन को समझाइये। पुत्र के इस सविनय वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आरुणि महर्षि ने अच्छा सोमार्ह प्रियदर्शन कुमार ऐसा कहा। यह श्रुति प्रस्तुत प्रपाठक के पाँचवें खण्ड के अन्त में भी है। रथाङ्गशंखाङ्कितबाहुमूल भगवद्रामानुजाचार्य ने—

मांसादिभौमं यथा शब्दमितरयोश्च ॥ (शा० मी० २।४।१८)

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ (४।२।३) इन दोनो सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के छठवेंखण्ड की पाँचवींश्रुति के पूर्वार्द्ध को और

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशात् ॥

(शा० मो० ३।३।३५) के श्रीभाष्य में 'भूय एव भगवान्विज्ञापयतु' इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक का छठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काम-मपः पिबाऽऽपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥१॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (पुरुषः) जीवात्मा (षोडशकलः) सोलहकलायुक्त है। यदि इसकी परीक्षा करनी हो तो (पञ्चदश) पन्द्रह (अहानि) दिन (मा+अशीः) तुम भोजन मत करो (अपः) जलको (कामम्) अपनी इच्छा के अनुसार (पिब) पीओ (आपोमयः) पीत जल के सूक्ष्म भाग ही प्राण की वृद्धि करने वाला है इससे जलमय (प्राणः) प्राण है, इसलिये (पिबतः) जल पीते हुए तेरा प्राण (न) नहीं (विच्छेत्स्यते) शरीर से वियुक्त होगा (इति) ऐसा आचार्य उद्दालक महर्षि ने कहा ॥ १ ॥

विशेषार्थ—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! पुरुष सोलह कला से युक्त है। सोलहकला के विषय में लिखा है— **स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायु र्ज्योतिरापः पृथ्वीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मंत्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥** (प्रश्नो० प्रश्न० ६ श्रु० ४) उस परब्रह्म नारायण ने मुख्य प्राण की रचना की। मुख्य प्राण से आस्तिक्य बुद्धि को उत्पन्न किया। उसके बाद क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ये पाँच महाभूत उत्पन्न हुए। फिर वागादि दस इन्द्रियाँ मन और व्रीह्यादि रूप अन्न हुआ अन्न से शरीरेन्द्रिय सामर्थ्यरूप वीर्य उत्पन्न हुआ फिर शरीर शोषणादिलक्षण तप और ऋग्यजुः सामादि नाना प्रकार के मन्त्र तथा ज्योतिष्टोमादि नाना प्रकार के कर्म और नाना प्रकार के स्वर्गादि लोक और उन स्वर्गादि लोकों में नाम उत्पन्न हुआ। प्राण १, श्रद्धा २, आकाश ३, वायु ४, अग्नि ५, जल ६, पृथ्वी ७, इन्द्रिय ८, मन ९, अन्न १०, वीर्य ११, तप १२, मंत्र १३, कर्म १४, लोक १५ और नाम १६ ये

सोलह कलाएँ हैं ॥ ४ ॥ तुम पन्द्रह दिन भोजन मत करो परन्तु अपनी इच्छा के अनुसार केवल जल पीओ। पीत जल के अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही प्राण का आप्यायक है, इससे जल प्राण है। इसलिये जल को पीते हुए तेरा शरीर से वियोग नहीं होगा अर्थात् नहीं मरोगे। ऐसा उद्दालक महर्षि ने कहा ॥ १ ॥

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽश। अथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इति। ऋचः सोम्य यजूंषि सामानीति। स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥२॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) उस श्वेतकेतु ने आचार्य की आज्ञा स्वीकार करके (पञ्चदश) पन्द्रह (अहानि) दिन (न) नहीं (आश) भोजन किया (अथ) अनन्तर सोलहवें दिन श्वेतकेतु (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस अपने पिता के (उपससाद) निकट आया और (इति) ऐसा बोला कि (भोः) हे भगवन् पूज्यपाद (किम्) क्या (ब्रवीमि) मैं कहूँ (इति) इस वचन को सुनकर गुरुदेव ने कहा (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (ऋचः) ऋग्वेद को (यजूंषि) यजुर्वेद को और (सामानि) सामवेद को पढ़ो (इति) इस वचन को सुनकर (सः) उस श्वेतकेतु ने (ह) प्रसिद्ध गुरु उद्दालक महर्षि से (उवाच) कहा कि (भोः) हे भगवन् पूज्यपाद (मा) मुझको (वै) निश्चय करके (न) नहीं (प्रतिभान्ति) कुछ भी वेद मन में भासित होता है अर्थात् इस समय सब ही विस्मृत सा प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध उस श्वेतकेतु ने अन्नमय मन को समझने के लिये अपने गुरुदेव की आज्ञा स्वीकार करके पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया। तत्पश्चात् सोलहवें दिन श्वेतकेतु अपने सुप्रसिद्ध गुरुदेव उद्दालक महर्षि की सन्निधि में आया और साष्टांग प्रणिपात करके सविनय हाथ जोड़कर उसने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् गुरुदेव आपके सामने मैं क्या पढ़ूँ। इस वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध आचार्य उद्दालक महर्षि ने कहा कि—जो पहले तुम पढ़ चुके हो उसी ऋग्वेद तथा यजुर्वेद और सामवेद का पाठ करो। तब फिर शिष्य श्वेतकेतु ने आचार्य से कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् मुझे इस समय कुछ भी ऋग्वेदादि नहीं मन में भासित होता है। अर्थात् इस समय सब ही विस्मृत सा प्रतीत हो रहा है। ऋग्वेद के

विषय में लिखा है —तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३५) जिसमें अर्थ वश से पाद की व्यवस्था होती है, उसीको ऋग्वेद कहते हैं ।।३५।। एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः ।। (सीतो०) इक्कीस शाखाएँ ऋग्वेद की कही गयी हैं ।। ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।। (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२) ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं ।।१२।। यजुर्वेद के विषय में लिखा है— शेषे यजुः शब्दः ।। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३७) शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ।। ३७ ।। शतं च नवशाखासु यजुषामेव जन्मनाम् ।। (सीतोप०) एक सौ नौ शाखा वाला यजुर्वेद प्रादुर्भूत हुआ है ।। नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ।। (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२) हे पवनसुत महावीर यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं ।।१२।। शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम् । शुक्लं वाजसनेयं तु कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम् ।। (प्रतिज्ञासूत्रभाष्य०) यजुर्वेद शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का कहा गया है उनमें वाजसनेय शुक्ल यजुर्वेद है और तैत्तरीय कृष्ण यजुर्वेद है। और सामवेद के विषय में लिखा है— गीतिषु सामाख्या । (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेद नाम होता है ।।३६।। साम्नः सहस्रशाखाः स्युः ।। (सीतोप०) सामवेद की हजार शाखाएँ हैं ।। सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ।। (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १३) हे परन्तप महावीर सामवेद की हजार शाखाएँ हैं ।१३।। इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ।।१।।

तं होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवं सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानथ मे विज्ञास्यसीति ।।३।।

अन्वयार्थ—(तम्) उस श्वेतकेतु से (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (उवाच) कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन वत्स (यथा) जैसे (महतः) बड़े

(अभ्याहितस्य) ईन्धन से शान्त अग्नि की (खद्योतमात्रः) जुगनू कीट के बराबर (एकः) एक (अङ्गारः) अङ्गार (परिशिष्टः) अवशिष्ट (स्यात्) रह जाय तो (तेन) उस खद्योतमात्र अङ्गार से (ततः) उससे (अपि) भी लघुतर वस्तु को अग्नि (बहु) अधिक (न) नहीं (दहेत्) जला सकती (एवम्) वैसे ही (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (ते) तेरा अन्नोपचित (षोडशानाम्) सोलह मन के (कलानाम्) अंशों में से (एका) एक (कला) अंश (अतिशिष्टा) अवशिष्ट बाकी (स्यात्) रह गया है (तया) उस अवशिष्ट एक लघु अंश से (एतर्हि) इस समय (वेदान्) ऋग् यजुः साम वेदों को (न) नहीं (अनुभवसि) तुम अनुभव करते हो (इति) इस कारण से (अशान्) तुम भोजन करो (अथ) भोजन करने के पीछे (मे) मेरे वचन को (विज्ञास्यसि) भलीभाँति समझोगे ।। ३ ।।

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने उस श्वेतकेतु से कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र जिस प्रकार ईन्धन से शान्त बड़ी महती अग्नि का एक जुगनू के समान एक छोटा अङ्गार अवशिष्ट रह जाय तो उस खद्योत मात्र अङ्गार से बहुत छोटे परिमाण वाली वस्तु को भी अग्नि अधिक जला नहीं सकती है । उसी प्रकार हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतु तेरे अन्नोपचित मन के सोलह अंशों में से एक ही अंश अवशिष्ट यानी बाकी रह गया है। पन्द्रह दिन अन्नको नहीं भोजन करने से पन्द्रह अंश नष्ट हो गये हैं । इस समय उस अवशिष्ट एक लघु अंश के द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को तू स्मरण नहीं कर सकता । अच्छा अब भोजन कर तब तू मेरी बात समझ जायगा । वेद के विषय में लिखा है—
मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम् ।। (आपस्तम्ब० श्रौत सू० १।३।१) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ।।१। **मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः** ।। (बौधायनगृह्य सू० २।६।२) मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं ।।२।। **आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च** ।। (कौशिक० सू० १।३।३) मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं ।।३।। **तच्चोदकेषु मंत्राख्या** ।। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२) **शेषे ब्राह्मणशब्दः** ।। (पूर्व मी० अ० २ पा० १ सू०३३) प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मन्त्र है ।।३२।। मन्त्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ।। ३३ ।। ऋग्वेद के ऐतरेय और यजुर्वेद के शतपथ तथा सामवेद के ताण्ड्य और अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण हैं ।। ३ ।।

स हाशाथ हैनमुपससाद । तं ह यत्किञ्च प्रपच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे ॥४॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (सः) उस श्वेतकेतु ने (आश) अन्न भोजन किया (अथ) इसके बाद (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस अपने पिता उद्दालक महर्षि के (उपससाद) निकट आया (तम्) उस आये हुए श्वेतकेतु से (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (यत्) जो (किम्+च) कुछ भी (प्रपच्छ) पूछा (सर्वम्) सबको (ह) प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने स्पष्ट (प्रतिपेदे)समझ गया अर्थात् सबका उत्तर ठीक दिया ॥४॥

विशेषार्थ—अपने पिता की आज्ञा मानकर श्वेतकेतु ने अन्न भोजन किया। तत्पश्चात् वह अपने गुरुदेव उद्दालक महर्षि के पास आया। तब आये हुए उस श्वेतकेतु से आरुणि महर्षि ने जो कुछ भी पूछा उस सबको श्वेतकेतु ने यथार्थ जान गया अर्थात् सबका उत्तर ठीक दिया ॥४॥

तं होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वालयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥५॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (तम्) उस उपस्थित श्वेतकेतु से (उवाच) कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (यथा) जैसे (महतः) बड़े (अभ्याहितस्य) ईन्धन से शान्त अग्नि के (तम्) उस (खद्योतमात्रम्) जुगनू कीट के प्रमाण (परिशिष्टम्) अवशिष्ट (एकम्) एक (अङ्गारम्) अङ्गार को (तृणैः) शुष्कतृणादिकों (उपसमाधाय संयुक्त कर (प्राज्वालयेत्) भलीभाँति प्रज्वलित करके बढ़ा दिया जाय तो [तेन] उस प्रदीप्त अङ्गार से [ततः] उससे [अपि] भी [बहु] बहुत अधिक (दहेत्) जला सकता है ॥५॥

विशेषार्थ - सुप्रसिद्ध आरुणि उद्दाल महर्षि ने उस उपस्थित अपने पुत्र से कहा कि- हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो ! जिस प्रकार से ईन्धन से शान्त बड़ी महती अग्नि के जुगनू के समान अवशिष्ट एक छोटे अङ्गार को शुष्क तृणादिकों से सम्न कर कोई प्रज्वलित करे तो उस प्रदीप्त अङ्गार से अपने पूर्व परिमाण की अपेक्षा से भी अधिक भस्म कर सकता है ॥५॥

एवं सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥६॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके सप्तमखण्डः

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (एवम्) वैसे ही (ते) तेरा (षोडशानाम्) अन्नोपचित मन के सोलह (कलानाम्) अंशों में से (एका) एक (कला) अंश (अतिशिष्टा) अवशिष्ट बाकी (अभूत्) रह गया था (सा) वह अवशिष्ट सोलहवाँ अंश (अन्नेन) अन्न के भोजन करने से (उपसमाहिता) प्रवर्धित होकर (प्राज्वालित्) प्रज्वलित हो अपने कार्य को करने में समर्थ हो गया (एतर्हि) इस समय (तया) अन्न से प्रवर्धित उस अंश से (वेदान्) ऋग्, यजुः, साम वेदों को (अनुभवसि) तुम अनुभव करते हो (इति) इस कारण से (हि) निश्चय करके (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (अन्नमयम्) भुक्त अन्न के अत्यन्त सूक्ष्म भाग से वृद्धि होनेवाला (मनः) मन है तथा इसी रीति से (आपोमयः) पीत जल के अत्यन्त सूक्ष्म भाग से वृद्धि होने वाला (प्राणः) प्राण है और (तेजोमयी) भुक्त घृतादि तेज के अत्यन्त सूक्ष्म भाग से वृद्धि होने वाली (वाक्) वाणी है (इति) इस प्रकार (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस उद्दालक महर्षि के उपदेश से (तत्) उस मन को अन्नमय तथा प्राण को जलमय और वाणी को तेजमय (विजज्ञौ) श्वेतकेतु विशेष रूप से समझ गया (इति) इस प्रकार उस मन को अन्नमय तथा प्राण को जलमय और वाणी को तेजोमय (विजज्ञौ) श्वेतकेतु समझ गया ॥६॥

विशेषार्थ—विश्वविख्यात उद्दालक महर्षि ने उपस्थित अपने पुत्र से कहा कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन कुमार श्वेतकेतो ! इसी प्रकार तेरा अन्नोपचित मन के सोलह अंशों में से एक ही अंश अवशिष्ट बाकी रह गया था। पन्द्रह दिन अन्नभोजन नहीं करने से पन्द्रह अंश नष्ट हो गया था। परन्तु अब वह अवशिष्ट सोलहवाँ अंश अन्न के भोजन से वृद्धि को प्राप्त होकर प्रज्वलित हो अपने कार्य को

करने में समर्थ हो गया। अब इस समय उस अन्न से प्रवर्धित अंश से तुम ऋग्, यजुः, साम वेदों को समझते हो। हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो भुक्त अन्न के अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही मन की वृद्धि करने वाला है, इससे अन्नमय मन है। तथा पीत जल का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही प्राण की वृद्धि करने वाला है, इससे जलमय प्राण है और भुक्त घृतादि तेज का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही वाणी की वृद्धि करने वाला है इससे तेजोमयी वाणी है। इस प्रकार सुप्रसिद्ध आरुणि उद्दालक महर्षि के उपदेश से उस मन को अन्नमय तथा प्राण को जलमय और वाणी को तेजोमयी श्वेतकेतु ने विशेष रूप से जान गया। इस श्रुति में 'विजज्ञाविति' इस वाक्य का दो बार उच्चारण त्रिवृत्करण प्रकार की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥६॥

॥ अथाष्टमखण्डः ॥

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम। सता सोम्य तदा संपन्नो भवति। स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति ॥१॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (आरुणिः) आरुणि ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक महर्षि ने (पुत्रम्) अपने पुत्र (श्वेतकेतुम्) श्वेतकेतु से (इति) यह (उवाच) कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन कुमार श्वेतकेतो (मे) मेरे वाक्य से (स्वप्नान्तम्) सुषुप्ति को (विजानीहि) तुम विशेष रूप से जान लो (यत्र) जिस काल में (पुरुषः) पुरुष (स्वपिति) सोता है (एतत्) यह (नाम) नाम प्रसिद्ध होता है (तदा) उस स्वप्न काल में (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (सता) जीवात्मा परब्रह्म नारायण से (संपन्नः) नाम रूप परित्याग करके सङ्गत (भवति) होता है (स्वम्) जीव शरीरक पर ब्रह्म नारायण में (अपीतः) प्रलीन (भवति) हो जाता है (हि) क्योंकि (स्वम्) जीव शरीरक परब्रह्म परमात्मा में (अपीतः) जीवात्मा सुषुप्ति समय में नाम और रूप को परित्याग करके प्रलीन (भवति) हो

जाती है (तस्मात्) इसी से (एनम्) इस पुरुष को (स्वपिति) स्वपिति (इति) ऐसा (आचक्षते) लौकिक जन कहते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की सिद्धि के लिये समस्त अचेतन वर्ग की उपादेयता को कहकर अब अचेतन वर्ग की उपादेयता प्रतिपादन करने के लिये प्रस्ताव किया जाता है—उद्दालक नाम से सुप्रसिद्ध अरुण ऋषि के पुत्र ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से यह कहा—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! तुम मेरे उपदेश द्वारा सुषुप्ति को अच्छी तरह से समझ लो। जिस समय में पुरुष सोता है अथवा जिस काल में पुरुष का 'स्वपिति' यह नाम प्रसिद्ध होता है उस स्वाप काल में जीवात्मा अपने प्राकृत नाम रूपों को परित्याग करके सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के साथ सम्मिलित होकर रहती है। यहाँ 'सत्' शब्द परब्रह्म नारायण वाचक है। क्योंकि इससे पहले **सदेव** ॥ (छा० उ० प्र० ६ खं० २ श्रु० १) इस श्रुति में और आगे वक्ष्यमाण ॥ **सत्प्रतिष्ठाः** ॥ (छा० प्र० ६ खं० ८ श्रु० ४) इस श्रुति में परब्रह्म नारायण वाचक 'सत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। और भी लिखा है— **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः** ॥ (ऋग्वे० मण्ड० १ सू० १६ मं० ४६) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड़, गरुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु और सत् इत्यादि अनेक प्रकार से एक परमात्मा को विप्रगण कहते हैं ॥४६॥ **सदसत्क्षरमक्षरम्** ॥ (महाभार० अनुशासनप० विष्णुसहस्रना० श्लो० ६४) सत् १, असत् २, क्षर ३ और अक्षर ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६४॥ इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि 'सत्' शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। और अन्यत्र समान प्रकरण में लिखा है— **यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्** ॥ (बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० २१) जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिङ्गन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न कुछ भीतर का उसी प्रकार सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से आलिङ्गित होने पर सुषुप्ति समय में यह जीवात्मा न कुछ बाहर का विषय जानती है और न भीतर का जानती है ॥२। अब स्वपिति नाम

के निर्वचन का अनुगुण स्वतः श्रुति विवरण करती है—स्व माने जीव शरीरक परब्रह्म नारायण में अपीत माने प्रलीन हो जाता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा परब्रह्म नारायण में प्रलीन हो जाती है। सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा परब्रह्म नारायण में प्रलीन हो जाती है इस कारण से इस पुरुष को स्वपिति ऐसा लौकिक जन कहते हैं। यतिराजराज भगवद्रामानुजाचार्य ने—**स्वाप्ययात्** ॥ (शा० मी० १।१।१०) **अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके** ॥ [१।४।१८] **तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च** ॥ (शा० मी० ३।२।७) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठ प्रपाठक के आठवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ॥१॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (सूत्रेण) व्याधा के हस्तगत सूत्र से (प्रबद्धः) बंधा हुआ (सः) वह (शकुनिः) पक्षी (दिशम्+दिशम्) सब दिशा विदिशाओं में (पतित्वा) गिरकर (अन्यत्र) उस सूत्र से अन्यत्र (आयतनम्) आश्रय को (अलब्ध्वा) नहीं पाकर (बन्धनम्) व्याधा के हस्त रूप बन्धन को (एव) ही (उपश्रयते) प्राप्त होता है (एवम्) वैसे (एव) ही (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (खलु) निश्चय करके (तत्) वह प्राक् निर्दिष्ट (मनः) अन्नमय मन (दिशम्+दिशम्) प्रति दिशा में (पतित्वा) जाकर (अन्यत्र) प्राण से अन्यत्र (आयतनम्) विश्राम को (अलब्ध्वा) नहीं पाकर (प्राणम्) सुषुप्ति काल में मुख्य प्राण को (एव) ही (उपश्रयते) विश्राम के लिये आश्रय लेता है (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (हि) क्योंकि (इति) यह (मनः) अन्नमय मन (प्राणबन्धनम्) प्राणबन्धन वाला है अर्थात् प्राण में निश्चय करके बाँधा जाता है ॥२॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार पक्षिघातक व्याधा के हस्तगत सूते के जाल से

बँधा हुआ पक्षी चारों तरफ उड़कर अन्यत्र आश्रय स्थान को न मिलने पर अपने बन्धन स्थान व्याधा के हाथ का ही आश्रय लेता है उसी प्रकार निश्चय ही हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो— **अन्नमयं हि सोम्य मनः ॥** (छा० उ० प्र० ६ खं० ५ श्रु० ४) हे सोम्य अन्न के अत्यन्त सूक्ष्म अंश मन का आप्यायक है इससे अन्नमय मन है ॥ ४ ॥ इस श्रुति में कहा हुआ वह अन्नमय मन सब दिशा विदिशाओं में जाकर प्राण से अन्यत्र विश्राम को नहीं पाकर जाग्रत और स्वप्न काल में नानाविध विषय ग्रहण से व्याकुल हो सुषुप्ति समय में मुख्य प्राण का ही विश्राम के लिये आश्रय प्राप्त करता है। क्योंकि आगे लिखा है— **वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे ॥** (छा० उ० प्र० ६ खं० ५ श्रु० ६) वाणी मन में लय होती है और मन प्राण में लय होता है ॥६॥ इस प्रयाणकालोक्त न्याय से मन प्राण में जाकर सब व्यापारों से रहित हो जाता है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो क्योंकि अन्नमय मन प्राण बन्धन वाला है, अर्थात् सुषुप्ति समय में केवल प्राण ही अपने व्यापार से उपरत नहीं होता है। इससे मन प्राण में निश्चय करके बाँधा जाता है। और पहले भी इसी उपनिषद् में कहा गया है— **स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः ॥** (छा० उ० प्र० ४ खं० ३ श्रु० ३) जब वह पुरुष सोता है तब वचन प्राण में लीन होता है, प्राण में ही नेत्र, प्राण में ही श्रोत्र, प्राण में ही मन लीन होता है ॥३॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

अशनायापिपासे मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एवं तदशितं नयन्ते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति। तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहीति। नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (मे) मेरे वाक्य से (अशनायापिपासे) भूख और प्यास को (विजानीहि) तुम विशेष रूप से जान लो (इति) ऐसा पुत्र सेउद्दालक महर्षि ने कहा कि (यत्र) जिस काल में (पुरुषः) पुरुष

(अशिशिषति) भोजन करने की इच्छा करता है उस समय में उस पुरुष का (एतत्) अशिशिषति यह (नाम) नाम प्रसिद्ध होता है और उस समय में (आपः) पीये हुए जल (एव) ही (तदशितम्) उस पुरुष से भोजन किये हुए अन्न को द्रव बना कर रसरूप से जीर्ण करके (नयन्ते) शरीर भाव को प्राप्त करते हैं अन्न जीण होने से वह पुरुष फिर भोजन की इच्छा वाला हो जाता है (तत्) वह (यथा) जैसे गौ के प्रापक को (गोनायः) लोक में गोनाय (इयि) ऐसा (आचक्षते) लौकिक मनुष्य कहते हैं और अश्व के प्रापक को (अश्वनायः) अश्वनाय ऐसा लौकिक मनुष्य कहते हैं (एवम्) इसी प्रकार (तत्) उस भुक्त अन्न के प्रापक (आपः) जल को (अशनाय+इति) अशनाय ऐसा वैदिक लोग कहते हैं (तत्र) उस भुक्त अन्न से उत्पन्न शरीर के विषय में कहते हैं कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (इति) इस प्रकार के (उत्पतितम्) उत्पन्न (एतत्) इस शरीर रूप (शुङ्गम्) अंकुर के सदृश कार्य को (विजानीहि) तुम विशेष रूप से जान लो (इति) क्योंकि (इदम्) यह शरीर रूप कार्य (अमूलम्) निर्मूल यानी कारण रहित (न) नहीं (भविष्यति) होगा ॥ ३ ॥

विशेषार्थ उद्दालक महर्षि ने श्वेतकेतु से कहा कि– हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र तुम भूख और प्यास को मेरे उपदेश से भलीभाँति समझ लो। जिस समय यह पुरुष भोजन करने की इच्छा करता है उस समय उस पुरुष का 'अशिशिषति' भोजन करना चाहता है यह नाम प्रसिद्ध होता है। उस समय पीया हुआ जल ही पुरुष से भुक्त अन्न को द्रव बनाकर रसरुप से जीर्ण करके शरीर भाव को पहुँचाता है। अन्न जीर्ण होने से वह पुरुष पुनः भूख से युक्त हो जाता है। अन्न से ही रसादि बनकर देह होता है। क्योंकि यह लिखा है– **सप्तधातुकमिति कस्मात् यदा देवदत्तस्य द्रव्यादिविषया जायन्ते। परस्परं सौम्यगुणत्वात् षड्विधो रसो रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः स्नायवः स्नायुभ्योऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्तते गर्भो हृदि व्यवस्थां नयति हृदयेऽन्तराग्निः अग्निस्थाने पित्तं पित्तस्थाने वायुः वायुतो हृदयं प्राजपत्यात्क्रमात्** ॥ (गर्भोप० श्रु० २) **ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कललं**

भवति । सप्तरात्रोषितं बुदबुदं भवति । अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति । मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति । मासद्वयेन शिरः सम्पद्यते । मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति । अथ चतुर्थे मासे गुल्फजठरकटिप्रदेशा भवन्ति । पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति । षष्ठे मासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति । सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति । अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति । पितूरेतोऽतिरेकात्पुरुषो मातूरेतोऽतिरेकात्स्त्री उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति । व्याकुलितमनसोऽन्धाः खञ्जाः कुब्जा वामना भवन्ति । अन्योन्यवायुपरिपीडितशुक्रद्वैविध्यात्तनु स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते । पञ्चात्मकः समर्थः पञ्चात्मिका चेतसा बुद्धिर्गन्धरसादि ज्ञानाक्षराक्षरमोङ्कारं चिन्तयतीति तदेतदेकाक्षरं ज्ञात्वाष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे तस्यैव देहिनः । अथ मात्राशितपीतनाडीसूत्रगतेन प्राण आप्यायते । अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति । पूर्वजातिं स्मरति । शुभाशुभं च कर्म विन्दति ॥३॥ शरीर सात धातुओं से निर्मित कैसे है ! जब देवदत्त नामक व्यक्ति को द्रव्य अन्नादि भोग्य विषय जुड़ते हैं तब उनके परस्पर अनुकूल होने के कारण षट्रस पदार्थ प्राप्त होते हैं—जिनसे रस बनता है । रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र—ये सात धातुएँ उत्पन्न होती हैं । पुरुष के शुक्र और स्त्री के रक्त के संयोग से गर्भ का निर्माण होता है । ये सब धातुएँ हृदय में रहती हैं, हृदय में अन्तराग्नि उत्पन्न होती है, अग्निस्थान में पित्त, पित्त के स्थान में वायु और वायु से हृदय का निर्माण सृजन—क्रम से होता है ॥ २ ॥ ऋतुकाल में सम्यक् प्रकार से गर्भाधान होने पर एक रात्रि में शुक्रशोणित के संयोग से कलल बनता है । सात रात में बुदबुद बनता है । एक पक्ष में उसका पिण्ड यानी स्थूल आकार बनता है । वह एक मास में कठिन होता है । दो महीनों में वह शिर से युक्त होता है, तीन महीनों में पैर बनते हैं, पश्चात् चौथे महीने में गुल्फ यानी पैर को घुट्टियाँ पेट तथा कटि प्रदेश तैयार हो जाते हैं । पाँचवें महीने में पीठ को रीढ़

तैयार होती है। छठे महीने में मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र बन जाते हैं। सातवें महीने में जीव से युक्त होता है। आठवें महीने में सब लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। पिता के शुक्र की अधिकता से पुत्र, माता के रुधिर की अधिकता से पुत्री तथा शुक्र और शोणित दोनों के तुल्य होने से नपुंसक संतान उत्पन्न होती है। व्याकुल चित्त होकर समागम करने से अंधी, कुबड़ी, खोड़ी तथा बौनी संतान उत्पन्न होती है। परस्पर वायु के संघर्ष से शुक्र दो भागों में बँटकर सूक्ष्म हो जाता है उससे युग्म संतान होती है। पञ्चभूतात्मक शरीर के समर्थ स्वस्थ होने पर चेतना में पञ्च ज्ञानेन्द्रियात्मक बुद्धि होती है उससे गन्ध, रस आदि के ज्ञान होते हैं। वह अविनाशी अक्षर ओङ्कार का चिन्तन करता है तब इस एकाक्षर को जानकर उसी चेतन के शरीर में आठ प्रकृतियाँ अर्थात् प्रकृति महत्तत्व अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ तथा सोलह विकार यानी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच स्थूलभूत तथा मन होते हैं। पश्चात् भोजन किया हुआ अन्न एवं पिया हुआ जल नाड़ियों के सूत्रों द्वारा पहुँचाया जाकर गर्भस्थ शिशु के प्राण को तृप्त करता है। तदनन्तर नवें महीने में वह ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। तब वह पूर्व जन्म का स्मरण करता है और उसके शुभ अशुभ कर्म भी सामने आ जाते हैं ॥ ३ ॥ जिस प्रकार लोक में गौ को प्रापक को गोनाय ऐसा लौकिक जन कहते हैं। गौ का लक्षण लिखा है— **ककुद्मान्प्रान्ते वालाधिस्सास्नावानिति। (गोत्वे दृष्टं लिङ्गम्) ॥**(वैशेषिक० अ० २ आह्नि० १ सू० ८) सींग डोल प्रान्त में बालाधि और गर्दन में लहरी जिसको हो उसको गौ कहते हैं ॥ ८॥ तथा अश्व के प्रापक को लोक में अश्वनाय ऐसा लौकिक जन कहते हैं। और पुरुष यानी मनुष्य के प्रापक को लोक में पुरुषनाय ऐसा कहते हैं उसी प्रकार भुक्त अन्न के प्रापक पीत जल को अशनाय ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। इस श्रुति में गौ और अश्व के साहचर्य से 'पुरुष' शब्द का अर्थ मानव होता है। क्योंकि लिखा है— **पुरुषावात्ममानवौ ॥** (अमर० कां० ३ व० श्लो० २१६) आत्मा में और मानव में पुरुष शब्दका प्रयोग होता है ॥२१६॥ हे सोमाई प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो अब भुक्त अन्न के रसादि से उत्पन्न हुए इस शरीर रूप अंकुर के समान कार्य को तुम मुझसे भलीभाँति समझ लो। क्योंकि यह देह रूप कार्य निर्मूल यानी कारण

रहित नहीं हो सकता। लोक में भी देखा जाता है कि सब कार्यों के कारण होते हैं, अत शरीर रूप का भी मूल कारण होगा ॥३॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नात्। एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥४॥

अन्वयार्थ—(अन्नात्) अन्न से (अन्यत्र) दूसरा (तस्य) उस कार्य शरीर का (मूलम्) मूल कारण (क्व) कहाँ (स्यात्) होगा अर्थात् कार्य शरीर का मूल कारण अन्न है (एवम्) वैसे (एव) ही (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (खलु) निश्चय करके (अन्नेन) अन्नरूप (शुङ्गेन) अंकुर के सदृश कार्य से (अपः) जलरूप (मूलम्) कारण को (अन्विच्छ) जानो और (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतोहे (अद्भिः) जलरूप (शुङ्गेन) अंकुर के सदृश कार्य से (तेजः) तेजरूप (मूलम्) मूल कारण को (अन्विच्छ) तुम जानो तथा (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तेजसा) तेजरूप शुङ्गेन) अंकुर के सदृश कार्य से (सत्) सत् पद वाच्य परब्रह्म नारायण रूप (मूलम्) मूल कारण को (अन्विच्छ) तुम जानो (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (इमाः) ये ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (सर्वाः) सम्पूर्ण (प्रजाः) भोक्तृभोग्यरूप प्रजाएँ (सन्मूलाः) सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण रूप मूल कारण से उत्पन्न होती हैं तथा (सदायतनाः) सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण ही सब स्थावर जङ्गम प्रजा स्थिति हेतु धारक और (सत्प्रतिष्ठाः) सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण में ही सब चराचर प्रजा लय होती हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि अपने पुत्र से कहते हैं कि हे सोमार्ह प्रियदर्शन कुमार अन्न से दूसरा इस शरीर रूप कार्य का मूल कारण कहाँ हो सकता है। मूलान्तर के अनुपलब्ध होने से उपलब्ध अन्न ही शरीर का मूल कारण है। क्योंकि भुक्त अन्न जल से द्रव होकर जठरानल से परिपक्व हो रसादिभाव से परिणत होता है और रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से स्नायु, स्नायु से

अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र, शुक्र से ही शरीर बनता है। यह 'गर्भोपनिषद्'की दूसरी श्रुति में लिखा है। और अन्यत्र भी लिखा है **अन्नात्पुरुषः** (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० १ श्रु० १) अन्न से मनुष्य का शरीर उत्पन्न हुआ ॥१॥ **अन्नाद्भवन्ति भूतानि** ॥ (गी० अ० ३।१४) अन्न से सब प्राणी होते हैं ॥१४॥ **वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः** ॥ (मनु० अ० ३ श्लो० ७६) वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा होती है ॥७६॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट अन्न का कार्य शरीर सिद्ध होता है। अन्न शब्द का निर्वचन लिखा है— **अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) वह जीवन दशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में खाता है उससे अन्न इस नाम से कहा जाता है ॥१॥ इसी प्रकार हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! अन्नरूप अंकुर के समान कार्य से जलरूप मूल कारण को तुम खोजो। अर्थात् अन्नरूप कार्य से जलरूप मूल कारण को जानो। क्योंकि लिखा है— **अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) जल शरीरक परमात्मा से पृथ्वी उत्पन्न हुई और पृथ्वी शरीरक परमात्मा से समस्त ओषधियाँ उत्पन्न हुईं तथा ओषधियों से खाद्य उत्पन्न हुआ ॥१॥ **पर्जन्यादन्नसंभवः** ॥ (गी० ३।१४) अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है ॥१४॥ **वृष्टेरन्नम्** ॥ (मनु० अ० ३ श्लो० ७६) वर्षा से अन्न होता है ॥७६॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट जल का कार्य अन्न सिद्ध होता है। जल के विषय में लिखा है— **रूपरसस्पर्शवत्यः द्रवाः स्निग्धाः** ॥ (वैशे० अ० २ आह्नि० १ सू० २) शुक्लरूप तथा मधुर रस और शीत स्पर्श वाला द्रव तथा स्निग्ध जो हो, वही जल है ॥२॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च रसश्चापि द्विजोत्तम। अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत** ॥ (महाभार० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ६) हे सुव्रत ब्राह्मण शब्द १, स्पर्श २, रूप ३ और रस ४ ये चार जल के गुण मैंने तुझसे कहा ॥६॥ इसी प्रकार हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! जलरूप अंकुर के सदृश कार्य से तेजरूप मूल कारण को तुम खोजो अर्थात् जलरूप कार्य से तेजरूप मूल कारण को जानो। क्योंकि लिखा है—

अग्नेरापः ॥ (तै० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) अग्नि शरीर वाले परमात्मा से जल उत्पन्न हुआ ॥१॥ इससे सिद्ध होता है कि- अग्नि का कार्य जल है। तेज के विषय में लिखा है- **रूपस्पर्शवत् ॥** (वैशे.ष० अ० २ आह्नि० १ सू० ३) रक्त रूप वाला और उष्ण स्पर्श वाला जो हो वही तेज है ॥३॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ॥** (महाभा० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ७) शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण तेज के हैं ॥७॥ तथा हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! पूर्वोक्त प्रकार से ही तेज रूप अंकुर के समान कार्य से वायु रूप मूल कारण को तुम खोजो और वायु रूप अंकुर के तुल्य कार्य से आकाश रूप मूल कारण को तुम खोजो और आकाश रूप अंकुर के सदृश कार्य से सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण रूप मूल कारण को तुम जानो। क्योंकि लिखा है— **आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः ॥** (तै० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ और आकाश शरीर वाले परमात्मा से वायु उत्पन्न हुई तथा वायु शरीरक परमात्मा से अग्नि तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥१॥ इस कारण परम्परा को तुम जानो। जगत्कारणवादिनी श्रुतियों का यथार्थ विवेचन करने से 'सत्' शब्द का अर्थ यहाँ परब्रह्म नारायण होता है। क्योंकि लिखा है— **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ॥** ऐतरे० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जंगम स्वरूप जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र प्रसिद्ध सम्पूर्ण हेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था ।१॥ **सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० २ श्रु० १) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो यह विभक्त नाम रूप वाला बहुत्वावस्थ जगत् आगे सृष्टि के पूर्वकाल में प्रकृति पुरुष काल शरीरक परब्रह्म नारायण ही था ॥१॥ **एको ह वै नारायण आसीत् ॥** (महोप० अ० १ श्रु० १) सृष्टि के पहले सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट सुप्रसिद्ध एक नारायण ही थे ॥१॥ **दिव्यो देव एको नारायणः ॥** (सुबालोप० खं० ६) दिव्य देव एक नारायण ही थे ॥ ६ ॥ **शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् ॥** (नारायणोप०

श्रु० २, शुद्धदेव एक परब्रह्म नारायण है दूसरा कोई नहीं हैं ॥२॥ और भी लिखा है— **सता सोम्य तदा संपन्नो भवति** ॥ (छा० उ० प्र० ६ खं० ८ श्रु० १) हे सोमाई प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! उस स्वापकाल में जीवात्मा परब्रह्म नारायण से नामरूप परित्याग करके सङ्गत हो जाती है ॥१॥ **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः** ॥(ऋग्वे० मण्ड० १ सू० १६ मं० ४६) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य गरुड़, गरुत्मान् , यम, वायु, सत् इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण कहते हैं ॥४६॥ **ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः** ॥ (गी० १७।२३) ओम् १, तत् २, सत् ३, ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश—नाम बतलाया गया है ॥२३॥ **सदसत्क्षरमक्षरम्** ॥ (महाभार० अनुशासनप० विष्णुसह० श्लो० ६४) सत् १, असत् २, क्षर ३, अक्षर ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६४॥ श्रुति स्मृति इतिहास के इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सत् शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। हे सोमाह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ये ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त भोक्तृ भोग्य स्वरूप स्थावर जङ्गम प्राणी सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण रूप मूल कारण से उत्पन्न होते हैं तथा सब ये चराचर प्राणी सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से स्थिति पाते हैं या रक्षा किये जाते है और ये सब स्थावर जङ्गम प्राणी सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में लय होते हैं । अन्यत्र भी लिखा है- **नारायणादेव समुत्पद्यन्ते । नारायणात्प्रवर्तन्ते । नारायणे प्रलीयन्ते** ॥ (नारायणोप० श्रु० १) सब स्थावर जङ्गम प्राणी परब्रह्म नारायण से ही उत्पन्न होते हैं । तथा नारायण से ही पाले जाते हैं और परब्रह्म नारायण में ही लीन होते हैं ॥१॥ **विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् । स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः** ॥ (विष्णुपु० अं० १ अ० १ श्लो० ३१) विष्णु भगवान् से चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है और विष्णु भगवान् में ही जगत् स्थित है । इस जगत् के विष्णु भगवान् ही स्थिति और संयमकर्ता हैं और जगत् शरीर होने से जगत् स्वरूप भी विष्णु भगवान् हैं ॥ ३१ ॥

अनवरताद्यविद्याविनोदरसिकेन्द्र भगवद्रामानुजाचार्य ने- **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ।। (शा० मी० १।१।१) **श्रुत्वाच्च** ।। (१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ।। (१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ।। (२।१।१५) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः** ।। (२।३।१८) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** ।। (४।१।१३) इन छः सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के आठवें खण्ड की चौथी श्रुति के 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इन पदों को उद्धृत किया है ।।४।।

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति । तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहीति । नेदममूलं भविष्यतीति ।।५।।

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यत्र) जिस काल में (पुरुषः) पुरुष (पिपासति) जल पीने की इच्छा करता है उस समय में उस पुरुष का (एतत्) पिपासति यह (नाम) नाम प्रसिद्ध होता है और उस समय में (तेजः) तेज (एव) ही (तत्पीतम्) उस पुरुष से पीये हुए जल को (नयते) शरीर में रसादि भाव से पहुँचाता है (तत्) वह (यथा) जैसे गौ के प्रापक को (गोनायः) लोक में गोनाय (इति) ऐसा (आचष्टे) लौकिक जन कहते हैं और अश्व के प्रापक को (अश्वनायः) लोक में अश्वनाय ऐसा लौकिक मनुष्य कहते हैं तथा पुरुष के प्रापक को (पुरुषनायः) लोक में पुरुषनाय ऐसा लौकिक जन कहते हैं (एवम्) इसी प्रकार (तत्) उस पीत जल के प्रापक (तेजः) तेज को (उदन्या) उदन्या (इति) ऐसा वैदिक लोग कहते हैं (तत्र) तेज से सूखा हुआ उस जल में (एव) ही (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (इति) इस प्रकार के (उत्पतितम्) उत्पन्न (एतत्) इस शरीररूप (शुङ्गम्) अंकुर के सदृश कार्य को (विजानीहि) तुम विशेष रूप से जान लो (इति) क्योंकि (इदम्) यह शरीररूप कार्य (अमूलम्) निर्मूल यानी कारण रहित (न) नहीं (भविष्यति) होगा ।।५।।

विशेषार्थ उद्दालक महर्षि ने श्वेतकेतु से कहा कि जिस समय यह पुरुष

जल पीने की इच्छा करता है उस समय उस पुरुष का 'पिपासति' जल पीना चाहता है यह नाम प्रसिद्ध होता है। उस समय तेज ही पीये हुए जल को देह में रसादि भाव से पहुँचाता है। जिस प्रकार लोक गौ के नेता को ऐसा लौकिक जन कहते हैं, अश्व के नेता को लोक में अश्वनाय ऐसा लौकिक मनुष्य कहते हैं और पुरुष के प्रापक को लोक में पुरुषनाय ऐसा लौकिक जन कहते हैं उसी प्रकार पीत जल के प्रापक तेज को उदन्या ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। इस श्रुति में गौ और अश्व के साहचर्य से 'पुरुष' शब्द का अर्थ मानव होता है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! निश्चय करके तेज से सूखे हुए उस जल में इस प्रकार के उत्पन्न हुए इस शरीर रूप अंकुर के समान कार्य को तुम मुझसे भलीभाँति समझ लो। क्योंकि यह देह रूप कार्य निर्मूल यानी कारण रहित नहीं हो सकता। लोक में भी देखा जाता है कि सब कार्यों का कारण अवश्य होता है। अतः शरीर रुप कार्य का भी मूल कारण होगा ॥५॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रादभ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवति। अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते। मनःप्राणे। प्राणस्तेजसि। तेजः परस्यां देवतायाम्। स य एषोऽणिमा ॥६॥

अन्वयार्थ - (अद्भ्यः) जल से (अन्यत्र) दूसरा (तस्य) उस कार्य शरीर का (मूलम्) मूल कारण (क्व) कहाँ (स्यात्) होगा अर्थात् कार्य शरीर का मूल कारण जल है (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (अद्भिः) जल रुप (शुङ्गेन) अंकुर के सदृश कार्य से (तेजः) तेज रुप (मूलम्) मूल कारण को (अन्विच्छ) तुम जानो और (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तेजसा) तेज रूप (शुङ्गेन) अंकुर के सदृश कार्य से (सत्) सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण

रूप (मूलम्) मूल कारण को (अन्विच्छ) तुम जानो (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (इमाः) ये ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (सर्वाः) सम्पूर्ण (प्रजाः) भोक्तृभोग्यरूप प्रजाएँ (सन्मूलाः) सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण रूप मूल कारण से उत्पन्न होने वाली हैं तथा (सदायतनाः) सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से स्थित या पालन होनेवाली हैं और (सत्प्रतिष्ठाः) सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में लय होनेवाली हैं (नु) और (खलु) निश्चय करके (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (यथा) जैसे (इमाः) ये (तिस्रः) तीनो (देवताः) तेज जल और अन्न देवता (पुरुषम्) पुरुष को (प्राप्य) प्राप्त करके (एकैका) एक एक (त्रिवृत्+त्रिवृत्) त्रिगुणा त्रिगुणा (भवति) होते हैं (तत्) उस विषय को (पुरस्तात्) पहले इसी प्रपाठक के पाँचवें खण्ड में (एव) ही (उक्तम्) मैं कह चुका (भवति) हूँ (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (अस्य) इस (प्रयतः) म्रियमाण (पुरुषस्य) पुरुष के (वाक्) वाणी के व्यापार के उपराम के हेतुभूत संश्लेष विशेष (मनसि) मन में (संपद्यते) लय हो जाता है और (मनः) मन के व्यापार के उपराम के हेतुभूत संश्लेष विशेष (प्राणे) प्राण में लय हो जाता है तथा (प्राणः) जीवसम्पन्न प्राण (तेजसि) तेज शब्दोपलक्षितभूत सूक्ष्म में लय होता है और तदनन्तर सुख दुःख के उपभोग के आयास के विश्राम के लिये (तेजः) सजीव समस्त भूतसूक्ष्म (परस्याम्) परमात्मा (देवतायाम्) देवता में लय हो जाता है (यः) जो (सः) वह सत् शब्द वाच्य परब्रह्म परमात्मा देव है (एषः) यह परमेश्वर देव (अणिमा) अणु के समान दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर है ॥६॥

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र उस जल के परिणामभूत शरीर रूप कार्य का जल के सिवा दूसरा मूल कारण कहाँ हो सकता है। मूलान्तर के अनुपलब्ध होने से उपलब्ध जल ही शरीर का मूल कारण है। जलरूप अंकुर के समान कार्य से तेज रूप मूल कारण को तुम जानो। और हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! पूर्वोक्त प्रकार से ही तेजरूप अंकुर के समान कार्य से वायुरूप मूल कारण को तुम जानो। वायुरूप अंकुर के तुल्य कार्यसे आकाशरूप मूल कारण को तुम जानो। आकाशरूप अंकुर के सदृश कार्य से सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायणरूप मूल कारण को तुम जानो। इस प्रकार कारण परम्परा को तुम जानो। जगत्कारणवादिनो श्रुतियों का यथार्थ

विवेचन करने से और अदादि पठित 'अस् भुवि' इस धातु से सत् शब्द निष्पन्न होने से 'सत्' शब्द का अर्थ यहाँ परब्रह्म नारायण होता है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! ये ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भोक्तृभोग्यरूप प्रजा सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण रुप मूल कारण से उत्पन्न होने वाली हैं तथा सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से स्थित या पालन होने वाली सब प्रजा हैं और सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में समस्त स्थावर जङ्गमरूप प्रजा लय होने वाली है। इस श्रुति में 'सन्मूलाः' यह पद सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के अधीन उत्पत्ति का वाचक है। तथा 'सदायतनाः' यह पद सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के अधीन स्थिति का वाचक है और 'सत्प्रतिष्ठाः' यह पद सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के अधीन लय का वाचक है। क्योंकि इसी उपनिषद् में लिखा है—
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ॥ (छा० उ० प्र० ३ खं० १४ श्रु० १) निश्चय करके उस परब्रह्म से चराचर समस्त विश्व उत्पन्न होता है तथा उसी परब्रह्म में लय होता है और उसी परब्रह्म से प्राण धारण करता है इस कारण से स्वयं उपासक शान्त होकर सर्वात्मक परब्रह्म नारायण की उपासना करे ॥१॥ यहाँ का विशेष विषय चौथी श्रुति में तुरन्त लिख चुका हूँ। अनाद्यविच्छिन्न गुरुपरम्परा - प्राप्त - षड्दर्शन - स्थापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने — **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० १।१।१) **श्रुतत्वाच्च ॥** (१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥** (२।१।१५) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥** (२।३।१८) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥** (४।१।३) इन छः सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के आठवें खण्ड की छठवीं श्रुति में सन्मूलाः' सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इन पदों को उद्धृत किया है। अब तेज, जल, अन्नमूलक शरीर के रुधिर, मांस आदि रूप से परिणाम कैसे होता है इस शंका का समाधान स्वतः श्रुति स्मरण कराती है कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! जिस प्रकार निश्चय करके ये तीनों तेज, जल, अन्न देवता पुरुष को प्राप्त करके प्रत्येक त्रिवृत् त्रिवृत् हो जाता है, वह पहले ही इसी प्रपाठक के पाँचवें खण्ड में मैं कह दिया हूँ॥ **अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः**

स्थविष्ठोधातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ (छा० उ० प्र० ६ खं० ५ श्रु० १) भुक्त अन्न तीन प्रकार से विभक्त होता है। उस अन्न का जो अतिशय स्थूल भाग है वह विष्ठा होता है तथा जो मध्यम अंश है वह मांस होता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह मन का आप्यायक हो जाता है ॥१॥ **आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः सप्राणः ॥** (छा० उ० प्र० ६ खं० ५ श्रु० २) पीया हुआ जल तीन प्रकार से विभक्त होता है। उस जल का जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह मूत्र होता है तथा जो मध्यम अंश है वह रक्त होता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह प्राण का आप्यायक हो जाता है ॥ २ ॥ **तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० ५ श्रु० ३) भोजन किया हुआ घृतादि तेज तीन प्रकार से विभक्त होता है। उस घृतादि तेज का जो अतिशय स्थूल भाग है वह हड्डी होता है तथा जो मध्यम अंश है वह मज्जा होता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह वाणी का आप्यायक हो जाता है ॥ ३ ॥ इस पूर्वोक्त प्रकार से सुषुप्ति समय में जीव की सत्संपत्ति कहकर अब प्रयाण काल में जीव की सत्संपत्ति को कहते हैं कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! मरने के समय इस पुरुष की वाणी के व्यापार के उपराम के हेतु भूत संश्लेष विशेष मन में लीन हो जाता है। और मन के व्यापार के उपराम के हेतु भूत संश्लेष विशेष प्राण में लीन हो जाता है। तथा जीव सम्पन्न प्राण तेज शब्दोपलक्षित भूत सूक्ष्म में लीन हो जाता है तदनन्तर सुख दुःख के उपभोग के आयास के विश्राम के लिये तेज शब्दोपलक्षित सजीव समस्त भूत सूक्ष्म परब्रह्म नारायण देव में लीन हो जाता है। एतादृश सत् शब्दवाच्य वह परब्रह्म नारायण देव है जो यह श्रीकान्त परमात्मा अणु के सदृश दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैक समधिगम्य है। श्रीसम्प्रदाय प्रतिष्ठा विख्यातयशोऽलंकृताचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अविभागो वचनात् ॥** (शा० मी० ४।२।१५) **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥** (शा० मी० ४।४।१६) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य

में तथा **वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥** (शा० ४।२।१) **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥** (शा० ४।२।४) इन सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के आठवें खण्ड की छठवीं श्रुति के 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इस वाक्य को उद्धृत किया है तथा **वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥** (शा० ४।२।१) **तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥** (शा० ४।२।३) **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥** (शा० ४।२।४) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में 'मनः प्राणे' इस खण्ड को उद्धृत किया है और **वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥** (शा० ४।२।१) **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥** (४।२।४) **भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥** (४।२।५) **नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥** (शा० मी० ४।२।६) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में 'प्राणस्तेजसि' इन पदों को उद्धृत किया है और **तानि परे तथा ह्याह ॥** (शा० मी० ४।२।१४) **सैव हि सत्यादयः ॥**(शा० मी० ३।३।३७) **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥** (शा० मी० ४।४।१६) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में 'तेजः परस्यां देवतायाम्' इस खण्ड को उद्धृत किया है ॥ ६ ॥

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा । तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवन् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

॥ इति षष्ठप्रपाठकेऽष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृभोग्यरूप सब जगत् प्रपञ्च (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादानभूत और अन्तर्यामी भूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म (सत्यम्) सत्य है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबकी अन्तर्यामी आत्मा है (श्वेतकेतो) ऐ प्रिय पुत्र श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य निरस्तनिखिल दोष समस्त कल्याणगुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तर्यामी जीव शरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) इस वाक्य को सुनकर श्वेतकेतु ने पिता से कहा कि—(भगवन्) हे पूज्यपाद

भगवन् आप (मा) मुझको (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेषरूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है। तदनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ।।७।

विशेषार्थ—यह ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त भोक्तृ भोग्य स्वरूप जगत् सबके उपादानभूत सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म श्रीमन्नारायण से व्याप्त है। 'ऐतदात्म्यम्' यह पद 'एष आत्मा यस्य तत्' इस व्युत्पत्ति में स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय करने पर 'एतत्' और 'आत्मन्' शब्द से बनता है। इस श्रुति में आत्म शब्द व्याप्य वचन है। क्योंकि लिखा है—

अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ॥

(तैत्ति० उ० व० २ अनु० ७ श्रु० १) प्राकृतचक्षु आदि इन्द्रियों के ग्रहण में नहीं आने वालों वयाप्य शरीर रहित जाति गुण आदि के वाची देवादिक शब्दों से बतलाने में न आनेवाले और आधारशून्य परब्रह्म नारायण में अभय के साधनभूत निरन्तर स्मृति लक्षणा को भक्त लाभ करता है ।।१।। परमात्मा सबका अन्तर्यामी है, क्योंकि लिखा है- **यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेदयस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥** (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० २२) जो विज्ञान स्वरूप जीव में रहने वाला जीवात्मा के भीतर है जिसे जीवात्मा नहीं जानती जीवात्मा जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण अमृत है ।।२२।। **यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मादिव्यो देव एको नारायणः॥** (सुबालोप०खं०७)जिसका जीवात्मा शरीर है जो जीवात्मा के भीतर रहता है जिसको जीव नहीं जानता है। वह यह सब चराचर प्राणियों की अन्तरात्मा पापरहित दिव्य देव एक परब्रह्म नारायण है ।।७।। वह परब्रह्म नारायण सत्य है और वही सबका अन्तर्यामी परमात्मा है। उसी परब्रह्म नारायण से सब स्थावर जङ्गम प्रपञ्च व्याप्त है क्योंकि लिखा है- **ईशावास्यमिदं सर्वं ॥** (यजु०अ० ४० मं० १ ॥ ईशो० श्रु० १) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृ भोग्य रूप सब जगत् सर्वेश्वर परब्रह्म नारायण से

व्याप्त है ॥१॥ **यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥** (नारायणो० श्रु० १३) जो कुछ जड़ चेतन स्वरूप संसार देखा जाता है या सुना जाता है उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर परब्रह्म नारायण स्थित हैं ॥१३॥ **मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना॥** (गी० ९।४) यह जड़ चेतनरूप समस्त जगत् मुझ अव्यक्त मूर्ति—अप्रकट स्वरूप अन्तर्यामी से व्याप्त है ॥४॥ इस प्रकार से 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि—'सत्यम्' यानी प्रमाण प्रतिपन्न 'तत्' अर्थात् 'इदम्' यानी ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त 'सर्वम्' यानी समस्त भोक्तृ भोग्यरूप जगत् 'ऐतदात्म्यम्' इस परब्रह्म नारायण से व्याप्त है। वही परमात्मा नियन्ता है। पाषण्डमतखण्डनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥** (शा० मी० १।१।१) **श्रुतत्वाच्च॥** (१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात्॥** (१।१।१३) **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥** (१।१।३१) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥** (१।४।२३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः॥** (२।१।१५) **शब्देभ्यः॥** (२।३।६) **यावद्विकारान्तु विभागो लोकवत्॥** (२।३।७) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः॥** (२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः** (३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः॥** (३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च॥** (४।१।३) **अविभागेन दृष्टत्वात्॥** (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक के आठवें खण्ड की सातवीं श्रुति के 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' इस वाक्य को उद्धृत किया है। इस श्रुति से समस्त चराचर प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक उपदेश देकर ब्रह्मभेद का उपदेश उद्दालक महर्षि कर रहे हैं कि हे प्रिय पुत्र श्वेतकेतो वह 'तत्' पद वाच्य निरस्त निखिलदोषसमस्तकल्याणगुणगणैकतान परब्रह्म नारायण 'त्वम्' पद वाच्य सर्वान्तर्यामी जीव शरीरक परब्रह्म नारायण है। आरुणि महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् आप कृपा करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है इस विनम्र वाक्य को सुनकर सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो! अच्छा पुनः मैं

उपदेश देता हूँ ऐसा कहा। मायिमतङ्गजमर्दनमृगेन्द्र भगवद्रामानुजाचार्य ने—
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (शा० मी० १।१।१) **तत्तु समन्वयात्** ॥ (१।१।४) **हेयत्वावचनाच्च** ॥ (१।१।८) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ॥(१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ॥ (२।१।१५) **इतरव्यपदेशाद्धिताकारणादिदोषप्रसक्तिः** ॥ (२।१।२१) **सैव हि सत्यादयः** ॥ (३।३।३७) इन सात सूत्रों के श्रीभाष्य में 'तत्त्वमसि' इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'तत्' पद जगत्कारण भूत सत्यसङ्कल्प सर्वज्ञ सर्वकल्याणगुणाकर निरस्तसमस्तहेयगन्धवाले परब्रह्म परमात्मा का वाचक है और 'त्वम्' पद सशरीर जीव शरीरक उसी परब्रह्म परमात्मा का वाचक है और 'असि' पद दोनों परब्रह्म परमात्मा का अभेद प्रतिपादन करता है। अर्थात् ब्रह्माभेद प्रतिपादन करने वाली यह श्रुति है। इस श्रुति का विशेष अर्थ 'वेदार्थसंग्रह' ग्रन्थ में मीमांसा पूर्वक वर्णन किया गया है। इससे यहाँ अधिक मैं नहीं लिखकर थोड़ा सज्जन-मनोरंजन के लिये 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का दूसरे प्रकार का भी अर्थ मैं लिखता हूँ। पक्षपात रहित कृपया सज्जन लोग अवलोकन करें। 'तत्त्वमसि' यहाँ पर 'तत्त्वम्' यह एक पद है और दूसरा 'असि' पद है। 'तत्त्वम्' यानी परमार्थ वस्तु 'असि' माने है। अर्थात् वही परमात्मा परमार्थ वस्तु है। जैसे 'तत्त्वत्रय' 'तत्त्वमुक्ताकलाप' 'तत्त्वटीका' 'तत्त्वबोध' 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' 'तत्त्वबोधिनी' इत्यादि स्थलों में और **मन्येत तत्त्ववित्** ॥ (गी० ५।८) तत्त्ववेत्ता माने ॥८॥ **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्** ॥ (गी० अ० १३ श्लो० ११) तत्त्वज्ञान के अर्थ को देखना ॥ ११ ॥ **न तु तत्त्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः** ॥ (महाभार० वनप० अ० २०६ श्लो० ४३) परन्तु हे भगवन् धर्म को तत्त्वतः यथार्थ रीति से आप नहीं जानते हैं ॥ ४३ ॥ **सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः** ॥ (मूलरामाय० श्लो० ३१) सब शास्त्रों के अर्थ का तत्त्व जानने वाला ॥३१॥ **तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्** ॥ (श्रीमद्भाग० स्कं० २ चतुःश्लोकिभा० श्लो० २) मेरे अनुग्रह से तेरा तत्त्वविज्ञान वैसा ही हो ॥ २ ॥ **तत्त्वं ब्रुवाणानि परं परस्तात्** ॥ (मुकुन्दमा० श्लो० ३०) परब्रह्मादि देव से उत्कृष्ट श्रेष्ठ तत्त्व को कहते हुये ॥ ३० ॥

तत्त्वेन यः ॥ (स्तोत्ररत्न० श्लो० ७) तत्त्वतः जो पराशर महर्षि ॥ ७ ॥ **तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणुः ॥** (स्तोत्ररत्न० श्लो० १०) जिस परब्रह्म नारायण की महिमारूपी समुद्र के शीकर के अणु को तत्त्व यथार्थ रूप से कोई ब्रह्मादिक देव नहीं तौल सकता है ॥१०॥ इन स्मृति इतिहास पुराण आल्वार और आचार्य की सूक्तियों में तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ है। वैसे ही प्रकृत श्रुति में परमात्मा के विषय में तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ यह एक शङ्का हो सकती है कि 'तत्त्वम्' यह इस श्रुति में एक पद माना जाय तो मध्यम पुरुष के एक वचन का प्रयोग होना उचित नहीं है किन्तु प्रथम पुरुष के एक वचन का प्रयोग होना था। अर्थात् 'तत्त्वमस्ति' ऐसा प्रयोग होना चाहिये। उसका समाधान यह है कि जैसे—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥ (छा० उ० प्र० ६ खं० १४ श्रु० २) उस पुरुष का तब ही तक देर है जब तक इस शरीर से नहीं छूट जाता है, शरीर त्यागान्तर सद्रूप परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥२॥ यहाँ प्रथम पुरुष 'विमोक्ष्यते' की जगह उत्तमपुरुष 'विमोक्ष्ये' और प्रथमपुरुष 'संपत्स्यते' की जगह 'संपत्स्ये' ऐसा छान्दस प्रयोग हुआ है वैसे ही **छन्दसि दृष्टानुविधिः ॥** वेद में जैसा देखा जाता है वैसा ही विधान किया जाता है। इस **वृद्धिरादच् ॥** (पा० व्या० अ० १ पा० १ सू० १) सूत्र के महाभाष्य के सिद्धान्त के अनुसार **॥ व्यत्ययो बहुलम् ॥** (पा० व्या० अ० ३ पा० १ सू० ८५) इस सूत्र से प्रथम पुरुष की जगह मध्यम पुरुष 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में हुआ है। अथवा 'तत्+तु+अम्+असि' ऐसा पदच्छेद होने पर **॥ इकोयणचि ॥** (पा० व्या० अ० ६ पा० १ सू० ७७) इस सूत्र से यण् होकर 'तत्त्वमसि' निष्पन्न होता है। 'तत्' माने वह परब्रह्म नारायण होता है। क्योंकि लिखा है—

तद्ध तद्वनं नाम ॥ (केनोप० खं० ४ श्रु० ६) वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध हैं कि व्यापक होने से तत् और भजनीय होने से वन नाम वाला है ॥ ६ ॥ **ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥** (गी० १७।२३) ओम् १, तत् २, सत् ३, यह तीन प्रकार का परब्रह्म नारायण का नाम है ॥२३॥ **किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ॥** (विष्णुसह० श्लो० ६१) किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, अनुत्तम ५, ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥ ६१ ॥ पूर्वोक्त श्रुति स्मृति

तथा इतिहास से सिद्ध होता है कि परब्रह्म नारायण का 'तत्' नाम है। और 'तु' यानी तो और 'अम्' यह ॥ **नञ्** ॥ (पा० व्या० अ० २ पा० २ सू० ६) इस सूत्र से समास होने पर ॥ **नलोपो नञः** ॥ (पा० व्या० अ० ६ पा० ३ सू० ७३) इस सूत्र से न लोप होकर निष्पन्न होता है। 'न' माने नहीं होता है। दिवादिपठित 'मन ज्ञाने' और तनादिपठित 'मनु अवबोधने' तथा दिवादिपठित 'मदी हर्षे' और दिवादिपठित 'मसी परिणामे' इन चार धातुओं से **उणादयो बहुलम्** ॥ (पा० व्या० अ० ३ पा० ३ सू० १) इस सूत्र से 'ड्वि' प्रत्यय होने पर टि लोप और सम्पूर्ण प्रत्यय लोप होने पर 'म्' यह निष्पन्न होता है। इस 'म्' का जीवात्मा अर्थ है। क्योंकि लिखा है— **मकारेणोच्यते जीवः पञ्चविंशोदितः पुमान्। भूतानि च कवर्गेण चवर्गेणेन्द्रियाणि च** ॥ (पद्मपु० खं० ६ अ० २२६ श्लो० २५) **टवर्गेण तवर्गेण ज्ञानगन्धादयस्तथा। मनः पकारेणैवोक्तं फकारेण त्वहंकृतिः ॥२६॥ बकारेण भकारेण महान् प्रकृतिरुच्यते। आत्मा तु स मकारेण पञ्चविंशः प्रकीर्तितः ॥२७॥** 'म्' से पचीसवाँ तत्त्व जीवात्मा कहा जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँचों महाभूत कवर्ग के अन्तर्गत क, ख, ग, घ, ङ इन पाँच अक्षरों से क्रम से कहे जाते हैं। और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ चवर्ग के अन्तर्गत च, छ, ज, झ, ञ इन पाँच अक्षरों से क्रम से कही जाती हैं ॥ २५ ॥ तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और त्वक् ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ टवर्ग के अन्तर्गत ट, ठ, ड, ढ, ण इन पाँच अक्षरों से क्रम से कही जाती हैं। और गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा तथा शब्दतन्मात्रा ये पाँचों तन्मात्राएँ तवर्ग के अन्तर्गत त, थ, द, ध, न इन पाँच अक्षरों से क्रम से कही जाती हैं। पकार से मन कहा जाता है और फकार से अहङ्कार कहा जाता है ॥ २६ ॥ तथा बकार से महत्तत्त्व कहा जाता है और भकार से प्रकृति कही जाती है। मकार से पचीसवाँ तत्त्व जीवात्मा कही जाती है ॥ २७ ॥ **आत्मनो ज्ञानानन्दत्वं ज्ञानगुणकत्वं नित्यत्वं अणुत्वमेकरूपत्वं स्वस्मै स्वयं प्रकाशत्वं प्रकृतेः परत्वमिति**

एवं मकारार्थः ॥ (निगमनप०) जीवात्मा ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप और ज्ञानगुणवाला नित्य अणु एकरूप तथा अपने लिये स्वयं प्रकाशस्वरूप प्रकृति से परे है ऐसा 'म' का अर्थ है ॥१॥ **मकारार्थो जीवः ॥** (अष्टश्लो० श्लो० १) 'म्' का अर्थ जीवात्मा है ॥ १ ॥ **मकारः पञ्चविंशाक्षर ज्ञानवाची च तस्मादात्मानमाह ॥** (मुमुक्षुप० ६६) मकार पचीसवाँ अक्षर है और ज्ञान का वाचक है इससे जीवात्मा को कहता है ॥ ६६ ॥ और छान्दस पुरुष व्यत्यय 'असि' यहाँ पर समझना चाहिये। इस प्रकार से यह अर्थ हुआ कि—वह सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा तो जीवात्मा नहीं है। अथवा 'तत्त्वम्+असि' यहाँ पर 'तेन त्वम् तत्त्वम्' इस विग्रह में **सह सुपा ॥** (पा० व्या० अ० २ पा० १ सू० ४) इस सूत्र से समास होकर 'तत्त्वम्' निष्पन्न होता है। तृतीया विभक्ति के साथ समास में प्रमाण ॥ **येन जातानि जीवन्ति ॥** (तैत्ति० व० ३ अनु० १ श्रु० १) जिस नारायण से उत्पन्न हुए जीव पालन किये जाते हैं ॥१॥ यह है तब यह 'तत्त्वमसि' का अर्थ हुआ कि – उस परब्रह्म परमात्मा के द्वारा तुम हो। अथवा 'तस्मै त्वम् असि' इस विग्रह में 'तत्त्वमसि' यह निष्पन्न होता है। चतुर्थी विभक्ति के साथ समास में प्रमाण ॥ **नारायणायेत्युपरिष्टात् ॥** (नारायणोप० श्रु० ३) अन्त में नारायण कहे ॥३॥ **नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि ॥** (तैत्ति० आरण्य० प्र० १० अनु० १ मं० २८) नारायण के लिये हम जानते हैं और वासुदेव के लिये ध्यान हम करते हैं ॥ २८ ॥ इन श्रुतियों में नारायण यह है। तब यह अर्थ 'तत्त्वमसि' वाक्य का हुआ कि - परब्रह्म नारायण के लिये जीवात्मा है। 'तस्मात् त्वं असि' इस विग्रह से 'तत्त्वमसि' यह निष्पन्न होता है। पञ्चमीविभक्ति के साथ समास में प्रमाण **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) जिससे निश्चय करके ये सब चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥ **विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत् ॥** (विष्णुपु० अं० १ अ० १ श्लो० ३१) श्रीविष्णु भगवान् से जगत् उत्पन्न हुआ है ॥३१॥ तब 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ हुआ कि—उस परब्रह्म परमात्मा से तुम उत्पन्न हो। अथवा 'तस्य त्वम् असि' इस विग्रह में समास होकर 'तत्त्वमसि' यह निष्पन्न होता है। षष्ठी विभक्ति के साथ समास में प्रमाण ॥ **यस्यायं विश्वं आर्योदासः ॥**

(यजु० अ० ३३ मं० ८२) जिस परमात्मा का यह संसार और श्रेष्ठ ब्राह्मणादिक दास हैं ॥८२॥ **ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवाः ॥** (आथर्वणिकब्रह्मसूक्त०) जीव परब्रह्म नारायण का दास है, सेवक है और कितव है ॥ **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥** (गी० १५।७) मेरा ही जीवात्मा जीवलोकमें सनातन अंश है।।७।।**दासभूतमिदं तस्य ब्रह्माद्यं सकलं जगत्** (पाद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२६ श्लो० ६२) परमात्मा का ब्रह्मादिक समस्त संसार दास है ॥६२॥ यह है। तब 'तत्त्वमसि' का यह अर्थ हुआ कि — उस परब्रह्म परमात्मा का तू अंश है। अथवा 'तस्मिन् त्वम् असि' इस विग्रह में सप्तमी समास होकर 'तत्त्वमसि' यह निष्पन्न होता है। सप्तमी समास में प्रमाण निम्नलिखित है— **यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति ॥** (तैत्ति० उ० व० ३ अनु० १ श्रु० १) अन्त में इस लोक से प्रयाण करते हुए जिसमें भलीभाँति तादात्म्यभाव से प्रवेश करते हैं ॥१॥ **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥** (गी० ७।७) सूत्र में मणियों के समान यह सब मुझ में पिरोया हुआ है ॥७॥ **प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि** (विष्णुपु० अं० ६ अ० ४ श्लो० ३८) **परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः। विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥३९॥** जो मेरे द्वारा बतलायी हुई व्यक्त और अव्यक्तरूपाप्रकृति है वह और पुरुष ये दोनों ही परमात्मा में लीन हो जाते हैं ॥ ३८ ॥ सबका स्वामी परमात्मा सबका आधार है वह वेद और वेदान्तों में विष्णु नाम से गाया जाता है ॥ ३९ ॥ तब 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि—उस परब्रह्म नारायण में तू है। अथवा 'अतत् + त्वम् + असि' ऐसा इस का पदच्छेद होता है और 'आत्मा' तथा 'अतत्' के साथ **॥ अकः सवर्णे दीर्घः ॥** (पा० व्या० अ० ६ पा० १ सू० १०१) इस सूत्र से दीर्घ होकर आत्मा तत्त्वमसि निष्पन्न होता है। इससे इस वाक्य का अर्थ यह है कि — तू वह परब्रह्म परमात्मा नहीं है। इस श्रुति का अर्थ ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूँ। मायावादियों ने सब महर्षियों

से विरुद्ध जीव ब्रह्माभेद परक इस श्रुति का अर्थ किया है सो आस्तिक विद्वानों के आदरणीय है। क्योंकि लिखा है— **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्ध उच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥** (पाद्म० उत्तर खं० ६ अ० २३६ श्लो० ७) **अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयन् लोकगर्हितम्। स्वकर्मरूपं त्याज्यत्वमत्रैव प्रतिपाद्यते॥८॥ सर्वकर्म परिभ्रष्टे वैधर्मत्वं तदुच्यते। परेश जीवयोरैक्यं मया तु प्रतिपाद्यते॥९॥ ब्रह्मणोऽस्य स्वयं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया। सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे॥१०॥ वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायया यदवैदिकम्। मयैव कल्पितं देवि जगतां नाशकारणात्॥११॥** मायावाद जो असत् शास्त्र है उसको प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं—हे देवी पार्वती! कलि में ब्राह्मण का रूप धारण करके मैंने ही मायावाद को कहा॥७॥ वेद वाक्यों का असत्य अर्थ दिखाते हुए लोक से निन्दित अपने कर्म का परित्याग करना चाहिये ऐसा मायावाद में मैंने कहा है॥८॥ सब कर्मों से परिभ्रष्ट होने से वह मायावाद धर्म से विरुद्ध कहा जाता है और मायावाद में परमेश्वर तथा जीव एक ही हैं ऐसा मैंने कहा है॥९॥ कलियुग में समस्त आसुर जीवों मोहने के लिये मैं रुद्र पर ब्रह्म के गुण से रहित स्वरूप कहूँगा॥१०॥ वेदार्थ के तुल्य जो अवैदिक महाशास्त्र मायावद है उसको माया द्वारा हे देवि संसार का नाश करने के लिये मैंने ही बनाया॥११॥ यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक का आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया॥ ७॥

॥ अथ नवमखण्डः ॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति॥१॥

अन्वयार्थ (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (यथा) जैसे (मधुकृतः) मधु के बनाने वाले भ्रमर (मधु) मधु को (निस्तिष्ठन्ति) बनाते हैं (नानात्ययानाम्) नाना गति के (वृक्षाणाम्) वृक्षों के (रसान्) रसों को (समवहारम्) ला करके (एकताम्) मधुत्वेन एक बनाकर (रसम्) मधुस्वरूप रस को (गमयन्ति) प्राप्त करा देते हैं॥१॥

विशेषार्थ—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु निष्पन्न करती हैं तो नाना गति के नाना दिशाओं के वृक्षों के रसों को इकट्ठा करके मधुत्वेन एक बनाकर मधु स्वरूप रस को प्राप्त करा देती हैं। इस मन्त्र का आगे के मन्त्र के साथ सम्बन्ध है। श्रीकान्तपादाब्जमधुव्रत भगवद्रामानुजाचार्य ने— **सैव हि सत्यादयः ॥** (शा० मी० ३।३।३७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के नौवें खण्ड की पहली श्रुति के "यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥१॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥२॥

अन्वयार्थ (यथा) जैसे (तत्र) उस मधु में (ते) वे पूर्वोक्त मधुत्वेन एकता प्राप्त रस (अहम्) मैं (अमुष्य) इस (वृक्षस्य) बकुल वृक्ष का (रसः) रस (अस्मि) हूँ (इति) इस प्रकार के (विवेकम्) विवेक को (न) नहीं (लभन्ते) प्राप्त कर सकते हैं (एवम्) वैसे (एव) ही (खलु) निश्चय करके (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (इमाः) ये (सर्वाः) सम्पूर्ण (प्रजाः) जन (सति) सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में (संपद्य) संयोग प्राप्त करके (इति) इस प्रकार के (न) नहीं (विदुः) जानते हैं कि मैं देवदत्त हूँ तथा विष्णुदत्त का पुत्र हूँ और इस समय (सति) सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में (संपद्यामहे) हम संयोग प्राप्त कर रहे हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार उस मधु में वे पूर्वोक्त मधुत्वेन एकता प्राप्त कर रस मैं इस मौलेसरी वृक्ष का रस हूँ, मैं इस पारिजात वृक्ष का रस हूँ इस प्रकार के विवेक को नहीं पाते हैं, हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! ठीक इसी प्रकार ये सम्पूर्ण जन सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण को सुषुप्ति समय में प्राप्त होकर यह नहीं जानते हैं कि—मैं विष्णुदत्त का पुत्र हूँ तथा मैं देवदत्त हूँ और इस समय में हम सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण को प्राप्त किये हैं। यहाँ 'सत्' शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है— **सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ॥**

(छां० उ० प्र० ६ खं० २ श्रु० १) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ! यह विभक्त नाम रूप वाला बहुत्वावस्थ जगत् आगे सृष्टि के पूर्वकाल में प्रकृति पुरुष काल शरीर वाला परब्रह्म नारायण ही था ॥१॥ **सता सोम्य तदा सम्पन्नोभवति॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० ८ श्रु० १) हे सोम्य उस स्वापकाल में पुरुष परब्रह्म नारायण से सङ्गत हो जाता है ॥१॥ **सत्प्रतिष्ठाः ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० ८ श्रु० ४) परब्रह्म नारायण में सब प्रजा लय होती है ॥ ४ ॥ **ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥** (गी०अ० १७ श्लो० २३) ओम्, तत्, सत् ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश नाम बतलाया गया है ॥२३॥ **सदसत्क्षरमक्षरम् ॥** (महाभारत अनुशा० विष्णुसह० श्लो० ६४) सत् १, असत् २, क्षर ३, अक्षर ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६४॥ इन श्रुति स्मृति इतिहास के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि 'सत्' शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। भक्तामृत भगवद्रामानुजाचार्य ने- **गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गम् च** ॥ (शा० मी० १।३।१४) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के नवें खण्ड की दूसरी श्रुति के उत्तरार्ध को उद्धृत किया है ॥२॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥३॥

अन्वयार्थ - (ते) वे जीव (इह) इस संसार में (व्याघ्रः) बाघ (वा) अथवा (सिंहः) सिंह (वा) अथवा (वृकः) भेड़िया (वा) अथवा (वराहः) शूकर (वा) अथवा (कीटः) कीट (वा) अथवा (पतङ्गः) पक्षी (वा) अथवा (दंशः) डंस (वा) अथवा (मशकः) मच्छर (वा) अथवा सुषुप्ति से पहले (यत्) जो (यत्) जो (भवन्ति) होते हैं सुषुप्ति के बाद जागने पर पूर्ववासना से वासित (तत्) वहीं (आभवन्ति) पुनः आकर हो जाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—वे इस लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, डंस अथवा मच्छर आदि जो जो भी स्वाप से पहले होते हैं सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर पूर्व वासना से वासित वे लोग पुनः वही वही हो जाते हैं। मूकान्धमोक्षप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने— **स्वाप्ययात् ॥**

(शा० मी० १।१।१०) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक के नवें खण्ड की तीसरी श्रुति को उद्धृत किया है ॥३॥

स य एषोऽणिमा । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके नवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ –(यः) जो (सः) वह सत शब्दवाच्य परब्रह्म परमात्मा देव है (एषः) यह सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर देव (अणिमा) अणु के समान सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ भोग्य रूप सब जगत् प्रपञ्च (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादान भूत और अन्तर्यामिभूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म (सत्यम) सत्य है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबके अन्तर्यामी आत्मा (श्वेतकेतो) ऐ प्रिय पुत्र श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य वह निरस्तनिखिलदोष समस्तकल्याणगुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तिर्यामी जीव शरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) इस वाक्य को सुन कर श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि (भगवान्) हे पूज्यपाद भगवान् आप (मा) मुझको (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेष रूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है । तदनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥४॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त प्रकार के जो वह सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण देव है यह सर्वान्तिर्यामी लक्ष्मीनाथ अणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैक समधिगम्य है । यह ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त भोक्तृभोग्यस्वरूप जगत् सबके उपादान भूत सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ परब्रह्म श्रीमन्नारायण से व्याप्त है । "ऐतदात्म्यम्" यह पद "एष आत्मा यस्य तत्" इस व्युत्पत्ति में स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है । अर्थात् प्रमाण प्रतिपन्न वह ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त यह समस्त भोक्तृभोग्यरूप जगत् परब्रह्म नारायण से व्याप्त है । क्योंकि लिखा है—**ईशावास्यमिदं सर्वम्** ॥ (ईशोप.श्रु. १) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यहभोक्तृभोग्यरूप सब जगत् सर्वेश्वरपरब्रह्म नारायण

से व्याप्त है ॥१॥ **मया ततमिदं सर्वंजगदव्यक्तमूर्तिना ॥** (गी० अ० ९ श्लोक ४) यह जड़चेतन रूप समस्त जगत् मुझ अव्यक्तमूर्ति—अप्रकट-स्वरूप अन्तर्यामीसे व्याप्त है ॥४॥ वही परब्रह्मनारायण सबका नियन्ता है। कुदृष्टिध्वान्त मार्तण्ड भगवद्रामानुजाचार्यने-**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥** (शा०मी० १।१।१) **श्रुतत्वाच्च ॥**(१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (१।१।१३) **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥** (१।१।३१) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥**(१।४।३२)**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (२।१।१५) **शब्देभ्यः ॥**(२।३।६) **यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत् ॥** (२।३।७) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः** ।(२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः ॥** (३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥** (३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** ॥(४।१।२) **अविभागेन दृष्टत्वात्** (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठ प्रपाठक के नवें खण्ड की चौथी श्रुति के "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है और **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (१।१।१) **तत्तु समन्वयात् ॥** (१।१।४) **हेयत्वावचनाच्च** ॥(१।१।८) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥**(१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ॥(२।१।१५)**इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि दोषप्रसक्तिः** ॥(२।१।२१) **सैव हि सत्यादयः ॥** (३।३।३७) इन सात सूत्रों के श्रीभाष्य में "तत्त्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। वही परब्रह्म परमात्मा सर्वान्तिर्यामी नियन्ता है। हे प्रिय पुत्र श्वेतकेतो वह "तत्" पद वाच्य निरस्त निखिलदोष समस्तकल्याणगुणगणैकतान परब्रह्म नारायण "त्वम्" पद वाच्य सशरीर जीवशरीरक परब्रह्म नारायण है। उद्दालक महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से सविनय निवेदन किया कि—हे पूज्यपाद भगवान् आप निर्हेतुक दया करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है। इस विनम्र वाक्य को सुन कर सुप्रसिद्ध आरुणि महर्षि ने हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो अच्छा पुनः मैं उपदेश देता हूँ ऐसा कहा ब्रह्माभेद प्रतिपादन करने वाला "तत्त्वमसि" वाक्य है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक का नवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ दशमखण्डः ॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता तथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥१॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमाई प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (प्राच्यः) पूर्व दिशा को जानेवाली (इमाः) येगङ्गा आदि (नद्यः) नदियाँ (पुरस्तात्) पूर्व की ओर (स्यन्दन्ते) बहती हैं और (प्रतीच्यः) पश्चिम दिशा को जाने वाली सिन्धु आदि नदियाँ (पश्चात्) पश्चिम की ओर बहती हैं (ताः) वे सब गङ्गा आदिक नदियाँ (समुद्रात्) समुद्रपर्यन्तदेश से (समुद्रम्) समुद्रको (एव) ही (अपियन्ति) प्राप्त कर लेती हैं (सः) वह समुद्र के साथ मिला हुआ नदियों का प्रवाह (समुद्रः) समुद्र (एव) ही (भवति) हो जाता है (यथा) जैसे (तत्र) उस समुद्र में (ताः) वे समुद्रत्वरूप से एकता प्राप्त,गङ्गा आदिक नदियाँ (इयम्) यह (अहम्) मैं गङ्गा (अस्मि) हूँ (इयम्) यह (अहम्) मैं सिन्धु (अस्मि) हूँ (इति) इस प्रकार के (न) नहीं (विदुः) जानती हैं ॥१॥

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं कि—हे सोमाई प्रियदर्शन पुत्र ये पूर्ववाहिनी गङ्गा आदिक नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं और पश्चिम वाहिनी सिन्धु आदिक नदियाँ पश्चिम को ओर बहती हैं। वे सब नदियाँ समुद्र पर्यन्त देश से समुद्र के मध्य में जाकर एकीभाव को प्राप्त कर लेती हैं और वहाँ जाकर वह समुद्र के साथ मिला हुआ नदियों का प्रवाह समुद्र स्वरूप ही हो जाता है। जिस प्रकार वहाँ समुद्र में वे समुद्रत्वरूप से एकता प्राप्त गङ्गा आदिक नदियाँ यह मैं गङ्गा हूँ यह मैं सिन्धु हूँ इस प्रकार से नहीं जामती हैं। इस मंत्र का आगे के मंत्र के साथ संबन्ध है ॥१॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजा सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको

वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (एवम्) वैसे (एव) ही (खलु) निश्चय करके (इमाः) ये (सर्वाः) सम्पूर्ण (प्रजाः) जन (सतः सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के निकट से (आगम्य) आ कर (सतः) सुषुप्ति के अनन्तर सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण से (आगच्छामहे) हमलोग आये हैं (इति) इस प्रकार के (न) नहीं (विदुः) जानते हैं (ते) वे जीव (इह) इस संसार में (व्याघ्रः) बाघ (वा) अथवा (सिंहः) सिंह (वा) अथवा (वृकः) भेड़िया (वा) अथवा (वराहः) शूकर (वा) अथवा (कीटः) कीट (वा) अथवा (पतङ्गः) पक्षी (वा) अथवा (दंश) डंस (वा) अथवा (मशकः) मच्छर (वा) अथवा सुषुप्ति से पहले (यत्) जो (यत्) जो (भवन्ति) होते हैं सुषुप्ति के बाद जागने पर पूर्व वासना से वासित (तत्) वही (आभवन्ति) पुनः आकर हो जाते हैं ॥२॥

विशेषार्थ— हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो ठीक इसी प्रकार ये सब जन सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के पास से आकर सुषुप्ति के अनन्तर सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के निकट से हमलोग आये हैं यह नहीं जानते हैं। यहाँ सत् शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है—**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्** ॥ (छां०उ०प्र. ६ खं. २ श्रु १) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो यह विभक्त नाम रूप वाला बहुत्वावस्थ जगत् आगे सृष्टि के पूर्वकाल में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण ही था ॥२॥ **सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति** ॥ (छां०उ०प्र० ६ खं० ८ श्रु० १) हे सोम्य उस स्वापकाल में पुरुष परब्रह्म नारायण से सङ्गत हो जाता है ॥१॥ **सत्प्रतिष्ठाः** ॥ (छां० उ० प्र० ६ खं० ८ श्रु० ४) परब्रह्म नारायण में सब चराचर प्रजा लय होती हैं ॥४॥ **सति संपद्य** ॥ (छां० उ० प्र० ६ खं० ९ श्रु० २) सुषुप्ति समय में परब्रह्म नारायण में संयोग प्राप्त करके ॥२॥ **ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः** ॥ (गी० अ० १७ श्लो० २३) ओम् १, तत् २, सत् ३ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश—नाम बतलाया गया है ॥२३॥ **सदसत्क्षरमक्षरम्** ॥(महाभा० अनुशासन प० विष्णु सह० श्लोक ६४) सत् १, असत् २, क्षर ३, अक्षर ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६४॥ इन श्रुति स्मृति इतिहास के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि "सत्" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है।

वे जीव इस लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पक्षी, डंस अथवा मच्छर आदि जो जो भी स्वाप से पहले होते हैं, सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर पूर्व वासना से वासित वे लोग पुनः वही वही हो जाते हैं। निजाश्रित-भवसिन्धु सेतु भगवद्रामानुजाचार्य ने—**गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गम् च** ॥ (शा० १।३।१४) **अतः प्रबोधोऽस्मात्** ॥ (शा.मी. ३।२।८) इन दोनों सेत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक के दसवें खण्ड की दूसरी श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है। और **स्वाप्ययात्** ॥ (शा० १।१।१०) **स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः** ॥ (शा० मी० ३।२।९) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के उतरार्ध को उद्धृत किया है।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ –(यः) जो (एषः) यह सर्वान्तिर्यामी नारायण देव है (सः) वह परब्रह्म परमात्मा (अणिमा) अणु के समान सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ भोग्य रूप सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादान भूत और अन्तर्यामि भूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म (सत्यम्) सत्य यानी निरुपाधिक सत्ता योगी है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबके अन्तर्यामीआत्मा (श्वेतकेतो) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य वह निरस्त निखिल दोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्मनारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तिर्यामी जीव शरीरक परब्रह्म नारायण (असि) तू है (इति) इस वाक्य को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने पितासे कहा कि (भगवान्) हे पूज्यपाद भगवान् आप (मा) मुझको (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेष रूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है। तदनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥३॥

विशेषार्थ—जो वह सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण देव है यह

सर्वान्तर्यामी दिव्य देव नारायण अणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैकसमधिगम्य है। ब्रह्मसे स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृ भोग्यरूप समस्त जगत् के उपादान भूत सर्वान्तिर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से व्याप्त है। अथवा यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्मात्मक है। क्योंकि लिखा है—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥** (छां०उ०प्र० ३ खं० १४ श्रु० १) यह समस्त स्थावर जङ्गम रूप संसार ब्रह्मात्मक है ॥१॥ और वही निरुपाधिक सत्ता योगी सर्वान्तिर्यामी परब्रह्म नारायण सबके नियन्ता हैं। हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो वह "तत्" पदवाच्य निरस्तनिखिल दोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्मनारायण 'त्वम्" पदवाच्य सशरीर जीव शरीरक परब्रह्म नारायण है। उद्दालक महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से सविनय निवेदन किया कि—हे पूज्यपाद भगवन् आपके उपदेश को अभी मैं यथार्थ में नहीं समझा हूँ। इससे आप निर्हेतुक दया करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है। इस विनम्र वाक्य को सुनकर सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने,हे सोमार्द्र प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो अच्छा पुनः मैं उपदेश देता हूँ ऐसा स्पष्ट कहा। ब्रह्माभेद प्रतिपादन करनेवाला "तत्त्वमसि" यह वाक्य है। मायिमताग्रगण्यविजेता भगवद्रामानुजाचार्य ने-**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥** (शा०मी० १।१।१) **श्रुतत्वाच्च ॥**(१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (१।१।१३) **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥** (१।१।३१) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥**(१।४।२३)**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (२।१।१५) **शब्देभ्यः ॥**(२।३।६) **यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत् ॥** (२।३।७) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।**(२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः ॥** (३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥** (३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥**(४।१।३) **अविभागेन दृष्टत्वात्** (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्" के दशवें खण्ड की तीसरी श्रुति के "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है और **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (१।१।१) **तत्तु समन्वयात् ॥** (१।१।४) **हेयत्वावचनाच्च ॥**(१।१।८) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥**(१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥**(२।

१।१५)इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि दोषप्रसक्तिः ॥(२।१।२१) सैव हि सत्यादयः ॥ (३।३।३७) अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके॥ (२।३।४२)प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥(२।३।४५) इन नौ सूत्रोंके श्रीभाष्य में "तत्त्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और **अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्** ॥ (३।३।३५) इस सूत्र के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथैकादशखण्डः ॥

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (अस्य) इस (महतः) अनेक शाखायुक्त महान् (वृक्षस्य) वृक्षकी (मूले जड़ में (यः) यदि कोई (अभ्याहन्यात्) कुल्हाड़ी आदि से एक बार प्रहार करे तो (जीवन्) वह वृक्ष न सूख कर जीता ही हुआ (स्रवेत्) रसस्राव करेगा (यः) यदि कोई (मध्ये इस महान् वृक्ष के मध्य में (अभ्याहन्यात्) कुल्हाड़ी आदि से एक बार प्रहार करे तो (जीवन्) वह वृक्ष न सूखकर जीता ही हुआ (स्रवेत्) रसस्राव करेगा (यः) यदि कोई (अग्रे) इस महान् वृक्ष के अग्रभाग में (अभ्याहन्यात्) कुल्हाड़ी आदि से एक बार प्रहार करे तो (जीवन्) वह वृक्ष न सूखकर जीता ही हुआ (स्रवेत्) रसस्राव करेगा (सः) वह (एषः) यह वृक्ष (जीवेन+आत्मना) जीवात्मा से (अनुप्रभूतः) अनुव्याप्त होकर (पेपीयमानः) अपनी जड़ों से जल को पुनः पुनः पीता हुआ (मोदमानः) तत्प्रयुक्त आनन्दानुभव करता हुआ सहर्ष (तिष्ठति) खड़ा रहता है ॥१॥

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि अंगुलि निर्देश से दिखलाकर कहते हैं

कि—हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो यदि कोई इस अनेकशाखायुक्त महान् हरे वृक्ष के मूल में एकबार कुठाराघात करे तो यह वृक्ष जीवित रहते हुए केवल रसस्राव करेगा सूखेगा नहीं तथा यदि कोई इस अनेक शाखायुक्तमहान् हुए वृक्ष के मध्यभाग में एक बार कुठाराघात करे तो भी यह वृक्ष जीवित रहते हुए ही केवल रसस्राव करेगा सूखेगा नहीं और यदि कोई इस अनेक शाखायुक्त महान् हरेवृक्ष के अन्त में एक बार कुठाराघात करे तो भी यह वृक्ष जीवित रहते हुए ही केवल रसस्राव करेगा सूखेगा नहीं। इस रसस्रावरूप कार्य से ज्ञात होता है कि—यह वृक्ष जीवात्मा से ओत-प्रोत है और अपने से वराबर जलपान करता हुआ तथा तत्प्रयुक्त आनन्दानुभव करता हुआ सहर्ष स्थिर रहता है।१॥

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति। तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥२॥

अन्वयार्थ—(यत्) जब (जीवः) जीव (अस्य) इस महान् वृक्ष की (एकाम्) एक (शाखाम्) शाखा को (जहाति) त्याग देता है (अथ) अनन्तर तब (सा) वह शाखा (शुष्यति) सूख जाती है (द्वितीयाम्) जब जीव दूसरी शाखा को (जहाति) त्याग देता है (अथ) तब (सा) वह शाखा (शुष्यति) सूख जाती है (तृतीयाम्) जब जीव तीसरी शाखा को (जहाति) त्यागदेता है (अथ) तब (सा) वह शाखा (शुष्यति) सूख जाती है (सर्वम्) जब जीव संपूर्ण वृक्ष को (जहाति) त्याग देता है (सर्वः) तब समस्त वृक्ष (शुष्यति) सूख जाता है ॥२॥

विशेषार्थ - यदि इस महान् वृक्ष की एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह शाखा सूख जाती है और यदि इस महान् वृक्ष को दूसरी शाखा को जीव छोड़ देता है तो वह शाखा सूख जाती है और यदि इस महान् वृक्ष की तीसरी शाखा को जीव छोड़ देता है तो वह शाखा भी सूख जाती है और यदि इस सारे वृक्ष को जीव छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है। वृक्ष के विषय में लिखा है—**पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृतः॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४७) पुष्प और फल दोनों जिसमें होवें उस महुआ आदि को वृक्ष कहते हैं ॥४७॥ इस श्रुति

में "अथ" शब्द का अनन्तर अर्थ होता है। क्योंकि लिखा है—**मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्र्न्येष्वथो अथ** ॥ (अमर० कां० ३ व० ३ श्लो० २४७) मङ्गल १ अनन्तर २ आरम्भ ३ प्रश्न ४ कात्स्र्न्य ५ इन अर्थों में अथो और अथ शब्द का प्रयोग होता है ॥२४७॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ॥२॥

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति । स य एषोऽणिमा । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेकेतो इति । भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येतिहोवाच ॥३॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके एकादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ – (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (खलु) निश्चय करके (एवम्) ठीक इसी प्रकार (एव) ही (इति) इस शरीर को (विद्धि) तुमजानो और (वाव) निश्चय करके (इदम्) यह शरीर (जीवोपेतम्) जीव से रहित होने पर (किल) तो (म्रियते) मर जाता है (जीवः) जीव (न) नहीं (म्रियते) मरता है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (उवाच) कहा (यः) जो (सः) वह परब्रह्म परमात्मा देव है (एषः) यह सर्वान्तर्यामी नारायण देव (अणिमा) अणुके सदृश सूक्ष्म दुर्विज्ञेयमानान्तर अगोचर है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह(सर्वम्) भोक्तृभोग्यरूप सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादानभूत और अन्तर्यामिभूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म (सत्यम्) सत्य है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबकी अन्तर्यामी आत्मा है (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याणगुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तर्यामी जीव शरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) इस वाक्य को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि (भगवान्) हे पूज्यपाद भगवन् आप (मा) मुझ को (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेषरूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है तदनन्तर

(ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेत-केतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥३॥

विशेषार्थ —हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो निश्चय करके ठीक इसी महान् वृक्ष की तरह इस शरीर को तुम जानो और निश्चय करके जीवात्मा से रहित होने पर यह शरीर मर जाता है, जीवात्मा कदापि नहीं मरती है। क्योंकि लिखा है—**न जायते म्रियते वा कदाचिद्** ॥ (गी० अ० २ श्लो० २०) जीवात्मा न कभी जन्मती है और न मरती ही है ॥२०॥ **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही** ॥ (गी० अ० २ श्लो० २२) जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग करके दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है वैसे ही यह जीवात्मा भी पुराने शरीरों को परित्याग करके अन्यनवीन शरीरों को प्राप्त कर लेती है ॥२२॥ ऐसा सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने अपने पुत्र से कहा। और यह भी कहा कि—जो वह शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण देव है यह सर्वान्तर्यामी दिव्यदेव परमात्मा अणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैकसमधिगम्य है। ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृ-भोग्यरूप संपूर्ण जगत् सबके उपादानभूत सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से व्याप्त है। और वही निरुपाधिक सत्ता योगी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण सबके नियन्ता है। हे प्रिय पुत्र श्वेतकेतो "तत्" पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्तकल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण "त्वम्" पदवाच्य सशरीर जीवशरीरक परब्रह्म नारायण है। उद्दालक महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से सविनय निवेदन किया कि—हे पूज्यपाद भगवन् आपके उपदेश को अभी यथार्थ मैं नहीं समझा हूँ। इससे आप निर्हेतुक दया करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है। इस विनम्र वाक्य को सुनकर सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो अच्छा पुनः मैं उपदेश देता हूँ, ऐसा स्पष्ट कहा। ब्रह्माभेद प्रतिपादन करने वाला "तत्त्वमसि" यह वाक्य है। प्रबल-पाषण्डतमहरणमार्तण्ड भगवद्रामानुजाचार्य ने-**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा०मी० १।१।१) **श्रुतत्वाच्च** ॥(१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ॥

(१।१।१३) शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ (१।१।३१) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥(१।४।२३)तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (२।१।१५) शब्देभ्यः ॥(२।३।६) यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत् ॥ (२।३।७) नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।(२।३।१८) सैव हि सत्यादयः ॥ (३।३।३७) शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ (३।४।२) आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥(४।१।३) अविभागेन दृष्टत्वात् (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठकके ग्यारहवें खण्डकी तीसरी श्रुतिके "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (१।१।१) तत्तु समन्वयात् ॥ (१।१।४) हेयत्वावचनाच्च ॥(१।१।८) आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥(१।१।१३) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥(२।१।१५) इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ (२।१।२१) अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके ॥ (२।३।४२) प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥ (२।३।४५) सैव हि सत्यादयः ॥ (३।३।३७) इन नौ सूत्रोंके श्रीभाष्य में "तत्त्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥ (३।३।३५) के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ द्वादशखण्डः ॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति । भिन्द्धीतिभिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इमेवा धाना भगव इति । आसामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति ॥१॥

अन्वयार्थ (अतः) इस सामने वाले वट वृक्ष से (न्यग्रोधफलम्) एक बड़ के फल को (आहर) तुम लाओ (इति) ऐसा उद्दालक महर्षि ने कहा (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (इदम्) यह बड़ का फल ले आया (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने कहा (भिन्धि) इस वट के फल को तुम फोड़ो (इति) ऐसा आरुणि महर्षिने कहा (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (भिन्नम्) इस वट के फलको फोड़ दिया (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने कहा (अत्र) इसमें (किम्) क्या (पश्यसि) तुम देखते हो (इति) ऐसा उद्दालक महर्षि ने कहा (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् इसमें (अण्व्यः) बहुत सूक्ष्म के (इव) समान (इमाः) ये (धानाः) दाने हैं (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने कहा (अङ्ग) हे पुत्र (आसाम्) इन अत्यन्त सूक्ष्म बीजों में से (एकाम्) एक बीज को (भिन्द्धि) तुम फाड़ो (इति) ऐसा आरुणि महर्षि ने कहा (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (भिन्ना) एक अत्यन्त सूक्ष्म बीज को फोड़ दिया (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने कहा (अत्र) इसमें (किम्) क्या (पश्यसि) तुम देखते हो (इति) ऐसा उद्दालक महर्षि ने कहा (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (किञ्चन) कुछ भी (न) नहीं (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने कहा ॥१॥

विशेषार्थ– उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे पुत्र इस सामनेवाले वट वृक्ष से एक बड़ का फल तुम ले आवो। इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् यह वट का फल मैंने लाया है। इस वचन को सुनकर पुनः उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे सोम्य इस वट के फल को तुम फोड़ो। इस वचन को सुनकर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् इस वट के फल को फोड़ दिया। इस वचन को सुनकर पुनः आरुणि उद्दालक ने कहा कि—हे वत्स इस फोड़े हुए वट के फल में तुम क्या देखते हो ? इस वचन को सुनकर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि हे पूज्यपाद भगवन् इस फोड़े हुए वट के फल में बहुत सूक्ष्म छोटे छोटे वट के बीजों को मैं देखता हूँ। इस बात को सुनकर पुनः उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे प्रिय पुत्र अत्यन्त सूक्ष्म इन वट के बीजों में से एक सूक्ष्म बीज को तुम फोड़ो। इस बात को सुनकर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् अत्यन्त सूक्ष्म इस वट के एक बीज को मैंने फोड़ दिया। इस वचन को सुनकर पुनः उद्दालक महर्षि ने कहा कि—फोड़े हुए सूक्ष्म वट बीज में तुम क्या देखते हो ? इस बात को सुन कर पुनः श्वेतकेतु ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् इस बीज के भीतर कुछ भी नहीं मैं देखता हूँ। इस श्रुति में **यथा देवे तथा गुरौ ॥**

(श्वे० उ० अ० ६ श्रु० २३) जिस प्रकार परमात्मा देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी। २३।। इस श्रौत सिद्धान्त को जानने के लिये आचार्य उद्दालक महर्षि में "भगवत्" शब्द का प्रयोग हुआ है ॥१॥

तं होवाच। यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयसे। एतस्य वै किल सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥२॥

अन्वयार्थ—(ह) सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (तम्) उस अपने पुत्र श्वेतकेतु से (उवाच) कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (वै) निश्चय करके (यम्) जिस (एतम्) इस वटबीज के (अणिमानम्) अणुतम अंश को (न) नहीं (निभालयसे) तुम देखते हो (सोम्य) हे सोमार्ह प्रिय दर्शन पुत्र (वै) निश्चय करके (एषः) यह (महान्यग्रोधः) बड़ा वटवृक्ष (एतस्य) इस वटबीज के (अणिम्नः) अत्यन्त सूक्ष्म अंश का (किल) ही (तिष्ठति) स्थूल शाखास्कन्ध पत्र फल आदि कार्य रूप से स्थित है (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (एवम्) इसी प्रकार अति सूक्ष्म सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से यह महास्थूल पृथ्व्या दिसहित जगत् उत्पन्न होता है (इति) इस अर्थ में (श्रद्धत्स्व) तुम श्रद्धाकरो अणुमात्र सदेह नहीं हैं ॥२॥

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने फिर अपने उस पुत्र से कहा कि–हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो यह तुम निश्चय जानो कि जिस इस बटवृक्ष के बीज के अत्यन्त सूक्ष्म भाग को तुम नहीं देखते हो उसी अणुतम बीजांश का कार्य भूत यह बड़ा वटवृक्ष ऐसा स्थूल शाखा स्कन्ध पत्र फल आदि से भूषित होकर स्थित है। हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र इसी प्रकार अति सूक्ष्म सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण से यह महास्थूल पृथ्व्यादि उपकरण सहित जगत् उत्पन्न होता है। हे सोम्य इस अर्थ में तुम श्रद्धा रखो इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ॥२॥

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके द्वादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (सः) वह परब्रह्म परमात्मा देव है (एषः) यह सर्वान्तर्यामी नारायण देव (अणिमा) अणु के सदृश सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ भोग्यरूप सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादानभूत और सर्वान्तर्यामी भूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म (सत्यम्) सत्य है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबकी अन्तर्यामी आत्मा है (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य निरस्त निखिल दोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तर्यामी जीवशरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) इस वाक्य को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि (भगवान्) हे पूज्यपाद भगवान् आप (मा) मुझको (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेषरूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है। तदनन्तर (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥३॥

विशेषार्थ—आरुणि महर्षि ने कहा कि—जो वह सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण देव है यह सर्वान्तर्यामी दिव्य देव परमात्मा अणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैकसमधिगम्य है। ब्रह्म से स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप संपूर्ण जगत् सबके उपादानभूत सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से व्याप्त है। और वही निरुपाधिकसत्ता योगी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण सबका नियन्ता हैं। हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो वह "तत्" पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण "त्वम्" पद वाच्य सशरीर जीवशरीरक परब्रह्म नारायण हैं। उद्दालक महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से सविनय निवेदन किया कि—हे पूज्यपाद भगवन् आपके उपदेशको अभी मैं यथार्थ नहीं समझा हूं। इससे आप निर्हेतुक दया करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है। इस विनम्र वाक्य को सुनकर उद्दालक महर्षि ने, हे सोमार्ह प्रिय दर्शन पुत्र श्वेतकेतो अच्छा पुनः मैं उपदेश देता हूँ ऐसा स्पष्ट कहा। ब्रह्माभेदप्रतिपादन करनेवाला "तत्त्वमसि" यह वाक्य है। प्रच्छन्न-बौद्धतिमिरभास्कर भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अथातोब्रह्मजिज्ञासा ॥**

(शा०मी० १।१।१) श्रुतत्वाच्च ॥(१।१।१२) आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ (१।१।१३) शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ (१।१।३१) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥(१।४।२३)तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (२।१।१५) शब्देभ्यः ॥(२।३।६) यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत् ॥ (२।३।७) नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।(२।३।१८) सैव हि सत्यादयः ॥ (३।३।३७) शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ (३।४।२) आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥(४।१।३) अविभागेन दृष्टत्वात् (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठकके बारहवें खण्ड की तीसरी श्रुतिके "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (१।१।१) तत्तु समन्वयात् ॥ (१।१।४) हेयत्वावचनाच्च ॥(१।१।८) आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥(१।१।१३) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥(२।१।१५) इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि दोषप्रसक्तिः ॥ (२।१।२१) अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके ॥ (२।३।४२) प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥ (२।३।४५) सैव हि सत्यादयः ॥ (३।३।३७) इन नौ सूत्रोंके श्रीभाष्य में "तत्त्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥(३।३।३५) के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु" इस वाक्यको उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक का बारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ त्रयोदशखण्डः ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार। तं होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥१॥

अन्वयार्थ—(एतत्) रात्रि में इस (लवणम्) नमक को (उदके) जल में (अवधाय) रख कर (अथ) तदनन्तर कल (प्रातः) प्रातः काल

(मा) मेरे (उपसीदथाः) समीप तुम आओ (इति) इस प्रकार आरुणि महर्षि के कहने पर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस श्वेतकेतु ने (तथा) वैसा ही (चकार) किया (तत्) उस श्वेतकेतु से (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने प्रातःकाल (उवाच) कहा कि (दोषा) रात्रि में (यत्) जो (लवणम्) नमक (उदके) जल में (अवाधाः) तूने रखा था (अङ्ग) हे वत्स (तत्) उस नमक को (आहर) तुम ले आओ (इति) इस वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (तत्) उस नमक को (अवमृश्य) खोज कर (न) नहीं (विवेद) जाना अर्थात् नहीं पाया ॥१॥

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि ने कहा कि—हे सोम्य रात्रि में इस नमक को जल में डाल कर कल प्रातःकाल मेरे पास आना। आरुणि के इस प्रकार कहने पर श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। तब प्रातःकाल उद्दालक महर्षि ने उससे कहा कि—हे वत्स रात तुमने जो नमक जल में डाला था उसे ले आओ। परन्तु श्वेतकेतु ने ढूँढने पर उस नमक को जल में न पाया। अनन्तर गुरुदेव से निवेदन किया कि हे भगवन् मुझे वह नमक नहीं मिलता है ॥१॥

यथा विलीनमेवाङ्ग। अस्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति। मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमिति। अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार। तच्छश्वत्संवर्तते तं होवाच वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥२॥

अन्वयार्थ--(अङ्ग) हे पुत्र (यथा) जैसे (विलीनम्) जल में विलीन नमक को (एव) निश्चय करके नेत्र से या त्वचा से तुम नहीं पाते हो वैसे ही जीवात्मस्वरूप नहीं प्राप्त होता है (अस्य) इस जल के (अन्तात्) ऊपर से (आचाम) तुम आचमन करो (इति) इस वचन को सुन कर श्वेतकेतु ने वैसा ही किया तदनन्तर (कथम्) यह जल कैसा है (इति) ऐसा आरुणि महर्षि ने पूछा (लवणम्) नमकीन है (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने उत्तर दिया (मध्यात्) जल के मध्य से (आचाम) तुम आचमन करो (इति) इस पिता के वचन को सुन कर श्वेतकेतु ने वैसा ही किया

तदनन्तर (कथम्) यह जल कैसा है (इति) ऐसा आरुणि महर्षि ने पूछा (लवणम्) नमकीन है (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, तदनन्तर (अन्तात्) जल के नीचे से (आचाम) तुम आचमन करो (इति) इस पिता के वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने वैसा ही किया तदनन्तर (कथम्) यह जल कैसा है (इति) ऐसा आरुणि महर्षि ने पूछा (लवणम्) नमकीन है (इति) ऐसा श्वेतकेतु ने उत्तर दिया (अथ) अनन्तर अब (एतत्) इस जल को (अभिप्रास्य) परित्याग करके (मा)मेरे (उपसीदथाः) निकट तुम आओ (इति) ऐसा आरुणि महर्षि ने कहा तब (ह) प्रसिद्ध (तत्) उस श्वेतकेतु ने (तथा) वैसा ही (चकार) किया और अपने पिता के निकट बोला कि हे भगवन् (तत्) वह नमक (शश्वत्) सर्वदा (संवर्तते) जल में विद्यमान है। यह वचन कहते हुए (तम्) उस श्वेतकेतु से (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (उवाच) कहा कि (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र (वाव) निश्चय करके (अत्र) इसी जल में वह नमक विद्यमान है (किल) परन्तु (न) नहीं (निभालयसे) तुम देखते हो इसी प्रकार (इति) यह (सत्) सत् पदवाच्य परब्रह्म नारायण (एव) निश्चय करके (अत्र) इस चराचर जगत् में अन्तर्यामीरूप से (किल) विद्यमान है परन्तु आचार्य के उपदेश के बिना तुम नहीं देखते हो ॥२॥

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि कहते हैं कि—हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो जिस प्रकार जल में नमक रहने पर भी नेत्र से या त्वचा से कोई भी नमक को नहीं ग्रहण करता है उसी प्रकार शरीर में ही जीवात्मस्वरूप है तौभी गुरूपसदन के बिना कोई भी उसको नहीं जानता है। क्योंकि लिखा है—**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्** ॥ (मु०उ० मु० १ खं० २ श्रु० १२) उस परब्रह्म नारायण को जानने के लिए वह मुमुक्षु गुरु की ही शरण जाय ॥१२॥ इसलिये तू जल में विलीन नमक को नेत्र से या त्वचा से नहीं ग्रहण कर सकते उसे यदि जानना चाहता है तो इस जल को ऊपर से आचमन कर। इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने आचमन किया। उसके आचमन करने पर आरुणि महर्षि ने पूछा कि—हे वत्स जल कैसा है? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि—जल नमकीन है। पुनः आरुणि ने कहा कि—बीच में से जल को आचमन कर। इस वचन को सुन कर श्वेतकेतु ने बीच के जल को आचमन किया। उसके आचमन करने पर फिर भी आरुणि महर्षि ने पूछा कि हे प्रिय पुत्र अब जल कैसा है। श्वेतकेतु ने पुनः उत्तर दिया कि—जल नमकीन है। पुनः

आरुणि ने कहा कि—नीचे से जल को आचमन कर। इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने नीचे के जल को आचमन किया। उसके आचमन करने पर फिर भी आरुणि महर्षि ने पूछा कि हे सोमार्ह प्रियदर्शन वत्स अब जल कैसा है। श्वेतकेतु ने पुनः उत्तर दिया कि— जल नमकीन है। फिर आरुणि महर्षि ने कहा कि—अच्छा अब इस जल को फेंक कर मेरे पास आ। इस वचन को सुन कर उस नमकीन जल को परित्याग करके श्वेतकेतु उद्दालक महर्षि के पास आया और बोला कि हे भगवान् उस जल में नमक सदा ही विद्यमान है। तब पुनः आरुणि महर्षि ने श्वेतकेतु से कहा कि—हे प्रिय पुत्र जैसे जल में नमक के रहने पर भी बिना जिह्वा के संयोग से उस का बोध नहीं होता है वैसे ही सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के सर्वान्तर्यामी होकर रहने पर भी बिना आचार्य के उपदेश से उस परब्रह्म नारायण का बोध नहीं होता है। क्योंकि लिखा है॥ **आचार्यवान् पुरुषोवेद ॥** (छां० उ० प्र० ६ खं० १४ श्रु० २) आचार्य वाला पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ॥२॥ अतः बिना आचार्य के उपदेश से कोई भी परब्रह्म नारायण को नहीं जान सकता है ॥२॥

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव माभगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

॥ इति षष्ठप्रपाठके त्रयोदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (सः) वह परब्रह्म परमात्मा देव है (एषः) यह सर्वान्तर्यामी नारायण देव (अणिमा) अणु के सदृश सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ भोग्यरूप सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादानभूत और सर्वान्तर्यामी भूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म नारायण (सत्यम्) सत्य है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबकी अन्तर्यामी आत्मा है (श्वेतकेतो) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तर्यामी जीवशरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) इस वाक्य

को सुनकर श्वेतकेतु ने कहा कि (भगवान्) हे पूज्यपाद भगवान् आप (मा) मुझको (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेषरूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है। तदनन्तर (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥३॥

विशेषार्थ—आरुणि महर्षि ने कहा कि—जो वह सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण देव है यह सर्वान्तर्यामी दिव्य देव परमात्मा अणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैकसमधिगम्य है। ब्रह्म से स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप संपूर्ण जगत् सबके उपादानभूत सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से व्याप्त है। और वही निरुपाधिकसत्ता योगी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण सबका नियन्ता है। हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो वह "तत्" पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण "त्वम्" पद वाच्य सशरीर जीवशरीरक परब्रह्म नारायण है। उद्दालक महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से सविनय निवेदन किया कि—हे पूज्यपाद भगवन् आपके उपदेशको अभी यथार्थ मैं नहीं समझा हूँ। इससे आप निर्हेतुक दया करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है। इस विनम्र वाक्य को सुनकर उद्दालक महर्षि ने, हे सोमार्ह प्रिय दर्शन पुत्र श्वेतकेतो अच्छा पुनः मैं उपदेश देता हूँ ऐसा स्पष्ट कहा। ब्रह्माभेदप्रतिपादन करनेवाला "तत्त्वमसि" यह वाक्य है। परपक्षगिरिवज्र भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा०मी० १।१।१) **श्रुतत्वाच्च ॥**(१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (१।१।१३) **शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॥** (१।१।३१) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥**(१।४।२३)**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (२।१।१५) **शब्देभ्यः ॥**(२।३।६) **यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत् ॥** (२।३।७) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।**(२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः ॥** (३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥** (३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥**(४।१।३) **अविभागेन दृष्टत्वात्** (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्"

के षष्ठप्रपाठकके तेरहवें खण्ड की तीसरी श्रुति के "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है और **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (१।१।१) **तत्तु समन्वयात्** ॥ (१।१।४) **हेयत्वावचनाच्च** ॥(१।१।८) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ॥(१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ॥(२।१।१५) **इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि दोषप्रसक्तिः** ॥ (२।१।२१) **अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके** ॥ (२।३।४२) **प्रकाशादिवत्तु नैवं परः** ॥ (२।३।४५) **सैव हि सत्यादयः** ॥ (३।३।३७) इन नौ सूत्रोंके श्रीभाष्य में "तत्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और **अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्** ॥(३।३।३५ के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु" इस वाक्यको उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ चतुर्दशखण्डः ॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥१॥

अन्वयार्थ – (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (यथा) जैसे कोई चोर लोक में (गन्धारेभ्यः) गन्धार देश से (अभिनद्धाक्षम्) आँखबन्धा हुआ (पुरुषम्) किसी पुरुष को (आनीय) लाकर (तम्, उस पुरुष को (अतिजने) अति निर्जन वन में (विसृजेत्) छोड़ दे तो (ततः) तदनन्तर (सः) वह दिग्भ्रान्तियुक्त पुरुष (यथा) जैसे (तत्र) उस निर्जन वन में (प्राङ्) पूर्वाभिमुख (वा) अथवा (उदङ्) उत्तराभिमुख (वा) अथवा (अधराङ्) अधोमुख (वा) अथवा (प्रत्यङ्) पश्चिम मुखहोकर (प्रध्मायीत) जोर से चिल्ला के कि (अभिनद्धाक्षः) बद्धनेत्र मैं चोरों से (आनीतः) लाया हूँ (वा) और (अभिनद्धाक्षः) बद्धनेत्र ही (विसृष्टः)

मैं चोरों से छोड़ा गया हूँ ।।१।।

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि कहते हैं कि – हे सोम्य ! प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो जिस प्रकार कोई चोर लोकमें बद्धनेत्र किसी पुरुष को गान्धारदेश से लाकर जनशून्यस्थान में छोड़ दे तो उस जगह जिस प्रकार वह दिग्भ्रान्तियुक्त पुरुष पूर्व उत्तर नीचे या दक्षिण अथवा पश्चिम की ओर मुख करके बड़े जोर शोर से चिल्लाये कि आँख बान्धा हुआ मैं चोरों से लाया गया हूँ और यहाँ आँख बान्धा हुआ ही मैं चोरों से छोड़ दिया गया हूँ। इस लिये हे समीपस्थ सज्जनो मेरी रक्षा करो, मेरी आंखें खोल दो ।।१।।

तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशंगन्धारा-एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येत । एवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसंपत्स्य इति ।।२।।

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (तस्य) उस चिल्लाने वाले आर्त्तपुरुष के (अभिनहनम्) बन्धन को (प्रमुच्य) खोलकर कोई कारुणिक (प्रब्रूयात्) कहे कि (गन्धाराः) गान्धारदेश (एताम्) इस (दिशम्) दिशा में है (इति) इस प्रकार से (एताम्) इसी (दिशम्) दिशा को (व्रज) तुम जाओ तो यदि (सः) वह पुरुष (मेधावी) उक्त अर्थ के अबिस्मरणशील है (पण्डितः) ऊहापोहयुक्त बुद्धिवाला है तो (ग्रामात्) लोगों से एक गांव से (ग्रामम्) दूसरे गाँव को (पृच्छन्) पूछता हुआ (गन्धारान्) गान्धारदेश को (एव) ही (उपसंपद्येत) प्राप्त करके दुःख रहित हो जाता है (एवम्) वैसे (एव) ही (आचार्यवान्) आचार्य के उपदेश से ब्रह्मात्मक अपने को अनुसन्धान करने वाला (पुरुषः) मुमुक्षु पुरुष (इह) इस लोक में (वेद) सर्वान्तिर्यामी परब्रह्म नारायण को जानता है (तस्य) उस ब्रह्मात्मक अनुसंधाननिष्ठ मुमुक्षु पुरुष को (तावत्) तबतक (एव) ही (चिरम्) मोक्ष होने में बिलम्ब है (यावत्) जबतक प्रारब्धकर्मारब्ध इस शरीर से (न) नहीं (विमोक्ष्ये) मुक्त हो जाता है (अथ) शरीर त्यागानन्तर (संपत्स्ये) सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण को प्राप्त

कर लेता है (इति) यही मेरा उपदेश है ॥२॥

विशेषार्थ हे सोमार्हप्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो—जिस प्रकार उस चिल्लाने वाले अत्यन्त दुःखी पुरुष के नेत्र के बन्धन को खोलकर कोई परम दयालु पुरुष कहे कि—यहाँ से गान्धार देश इस पश्चिम दिशा में है। अतः इसी दिशा को जा तो यदि वह पुरुष उक्त अर्थ को नही विस्मरण करता है और ऊहापोहयुक्त बुद्धि वाला पण्डित है तो मनुष्यों से एक ग्राम से दूसरा ग्राम पूछता हुआ अपने गान्धारदेश में पहूँच कर परमानन्द से युक्त होता है। इसी प्रकार इसलोक में आचार्य के सदुपदेश से अपने को ब्रह्मात्मक अनुसंधान करने वाला मुमुक्षु जन सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण को जान लेता है। उस सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण के अनुसंधाननिष्ठ मुमुक्षु पुरुष के मोक्ष होने में उतनी ही देर है कि जब तक प्रारब्धकर्मारब्ध इस देह से छुटकारा नहीं पाता है। ब्रह्मात्मक अपने को अनुसंधान करने वाला मुमुक्षु शरीर त्याग होने पर निश्चय करके सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण को निश्चय करके प्राप्त कर लेता है। क्योंकि लिखा है—**न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति। अशरीरंवा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥** (छां.उ.प्र. ८ खं० १२ श्रु १) सशरीर रहते हुए जीवात्मा के प्रिय अप्रिय का कदापि नाश नहीं होता है। निश्चय करके शरीर रहित जीवात्मा को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते ॥१॥ **त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥** (गी० अ० ४ श्लो० ९) वह उपासक शरीर को त्याग कर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है मुझको ही पाता है ॥९॥ प्रकृत श्रुति का अन्तिम वाक्य जीवन्मुक्ति को वारणा करता है। "विमोक्ष्ये" "सम्पत्स्ये यहाँ पर छान्दस पुरुष व्यत्यय हुआ है। पण्डित के विषय में लिखा है॥ **यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥** (४।१९) जिस मुमुक्षु के समस्त कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं उस ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध हुए कर्म वाले पुरुष को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥ आचार्य के विषय में लिखा है॥ **यस्तु मंत्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः। स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः॥** (पाद्म०पु०उत्तरखं० ६ अ० २२६ श्लो० ४) जो श्री वैष्णव द्वयमंत्र को अच्छे प्रकार से पढ़ाता है और संसार के बन्धन को बिनाश करने वाला है उसको आचार्य जानना

चाहिये ।।४।। जीवन्मुक्तिप्रत्याख्याता भगवद्रामानुजाचार्य ने—**तत्तु समन्वयात्** ।। (शा०मी १।१।४) **हेयत्वावचनाच्च** ।।(१।१।८) **प्राणस्तथाऽनुगमात्** ।। (१।१।२६) **साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये** ।। (३।३।२७) **अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः** ।। (४।१।१५) **भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सपद्यते** ।।(४।१।१९) **तदापीतेस्संसार व्यपदेशात्** ।।(४।२।८) **प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्** ।।(४।२।१२) **निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च** ।।(४।२।१८) इस नौ सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक के चौदहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इस वाक्य को उद्धृत किया है ।।२।।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव माभगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

।। इति षष्ठप्रपाठके चतुर्दशखण्डः ।।

अन्वयार्थ –(यः) जो (सः) वह परब्रह्म परमात्मा देव है (एषः) यह परब्रह्म परमात्मा देव (अणिमा) अणु के सदृश सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ भोग्यरूप सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादानभूत और सर्वान्तर्यामी भूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म नारायण (सत्यम्) सत्य है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबकी अन्तर्यामी आत्मा है (श्वेतकेतो) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तर्यामी जीवशरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) इस वाक्य को सुनकर श्वेतकेतु ने कहा कि (भगवान्) हे पूज्यपाद भगवान् आप (मा) मुझको (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेषरूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है। तदनन्तर (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ।।३।।

विशेषार्थ—आरुणि महर्षि ने कहा कि—जो वह सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण देव है यह सर्वान्तर्यामी दिव्य देव परमात्मा अणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैकसमधिगम्य है। ब्रह्म से स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप संपूर्ण जगत् सबके उपादानभूत सर्वान्तिर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से व्याप्त है। और वही निरुपाधिकसत्ता योगी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म सबका नियन्ता है। क्योंकि लिखा है—**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः** ॥(शतप० १४।५।३०) जो जीवात्मा के भीतर रहता हुआ जीवात्मा की अपेक्षा अन्तरतम है जिसको जीवात्मा नहीं जानती जीवात्मा जिसका शरीर है जो जीवात्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है वह तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा परब्रह्म नारायण है ॥३०॥ **अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वात्मा** ॥ (तै० आ०प्र० ३ अनु० ११ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण समस्त जीवों का शासक सब आत्मा के भीतर में प्रविष्ट है ॥३॥हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो "तत्" पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण "त्वम्" पद वाच्य सशरीर जीवशरीरक परब्रह्म नारायण है। उद्दालक महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से सविनय निवेदन किया कि—हे पूज्यपाद भगवन् आपके उपदेश को अभी यथार्थ मैं नहीं समझा हूँ। इससे आप निर्हेतुक दया करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है। इस विनम्र वाक्य को सुनकर उद्दालक महर्षि ने, हे सोमार्ह प्रिय दर्शन पुत्र श्वेतकेतो अच्छा पुनः मैं उपदेश देता हूँ ऐसा स्पष्ट कहा। ब्रह्माभेदप्रतिपादन करनेवाला "तत्त्वमसि" यह वाक्य है। पाषण्डिकरिपञ्चानन भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा०मी० १।१।१ **श्रुतत्वाच्च** ॥(१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ॥ (१।१।१३) **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्** ॥ (१।१।३१) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्**॥(१।४।२३)**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (२।१।१५) **शब्देभ्यः** ॥(२।३।६) **यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत्** ॥ (२।३।७) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः** ।(२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः** ॥ (३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः** ॥

(३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** ।।(४।१।३) **अविभागेन दृष्टत्वात्** (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठकके तेरहवें खण्ड की तीसरी श्रुति के "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है और **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ।। (१।१।१) **तत्तु समन्वयात्** ।। (१।१।४) **हेयत्वावचनाच्च** ।।(१।१।८) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ।।(१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ।।(२।१।१५) **इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि दोषप्रसक्तिः** ।। (२।१।२१) **अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके** ।। (२।३।४२) **प्रकाशादिवत्तु नैवं परः** ।। (२।३।४५) **सैव हि सत्यादयः** ।। (३।३।३७) इन नौ सूत्रोंके श्रीभाष्य में "तत्त्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और **अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्** ।।(३।३।३५) के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु" इस वाक्यको उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।३।।

।। अथ पञ्चदशखण्डः ।।

पुरुषं सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति । तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ।।१।।

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (उपतापिनम्) मरण की वेदान से पीड़ित (पुरुषम्) मुमूर्षु पुरुष को (ज्ञातयः) बान्धवगण (माम्) मुझको (जानासि) तुम जानते हो (माम्) मुझको (जानासि) तुम जानते हो (इति) ऐसा पूछते हुए (पर्युपासते) चारों तरफ समीप में घेर कर बैठते हैं (यावत्) जब तक (तस्य) उस मुमूर्षु पुरुष की (वाक्) बाणी (मनसि) मन में और (मनः) संकल्प विकल्पात्मक मन (प्राणे) प्राण में और (प्राणः) जीव सम्पन्न प्राण (तेजसि) तेजशब्दोंपलक्षित सम्पूर्ण भूतों में और (तेजः) तेजशब्दोपलक्षित सजीवभूत

सूक्ष्म (परस्याम्) परब्रह्म नारायण (देवतायाम्) देव में (न) नहीं (संपद्यते) संयुक्त हो जाता है (तावत्) तब तक (जानाति) वह मुमूर्षु पुरुष जानता है ।।१।।

विशेषार्थ—उद्दालक महर्षि कहते हैं कि हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो मरण की वेदना से पीड़ित मुमूर्षु पुरुष को चारो ओर से घेर कर उसके बन्धुबान्धव, इष्ट मित्र, माता पिता आदिक पूछा करते हैं कि—क्या तू मुझ जानता है ? क्या तू मुझे पहचानता है ? जब तक उस मुमूर्षु पुरुष की वाणी मन में संयुक्त नहीं होती और संकल्प विकल्पात्मक मन प्राण में नहीं सम्पन्न होता तथा जीव सम्पन्न प्राण तेज शब्दोपलक्षित समस्त भूतों में नहीं सम्पन्न होता और तेज शब्दोपलक्षित सजीव भूत सूक्ष्म परब्रह्म नारायण दिव्यदेव में नहीं संयुक्त होता तब तक वह मुमूर्षु पुरुष पहचान लेता है। चरमोपाय भगवद्रामानुजाचार्यने-**वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च** ।।(शा.मी.४।२।१) **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः** ।।(४।२।४)**अविभागो वचनात्**।।(४।२।१५) **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतम् हि** ।। (४।४।१६) इन चार सूत्रों के श्री भाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक के पन्द्रहवें खंड की पहली श्रुति के "वाङ् मनसि सम्पद्यते" इस वाक्य को उद्धत किया है। और **तन्मनः प्राण उतरात्** ।। (४।२।३) **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः** ।।(४।२।४) इन सूत्रों के श्री भाष्य में "मनः प्राण" इस खण्ड को उद्धृत किया है। तथा **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः** ।।(४।२।४) **भूतेषु तच्छ्रुतेः** ।।(४।२।५) **नैकस्मिन् दर्शयतो हि** ।।(४।२।६) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "प्राणस्तेजसि" इस खण्ड को उद्धृत किया है। और **वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च** ।।(४।२।१) **तानिपरे तथा ह्याह** ।।(४।२।१४) **अविभागो वचनात्** ।। (४।२।१५) **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि** ।। (४।४।१६) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "तेजः परस्यां देवतायाम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है ।।१।।

अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ।।२।।

अन्वयार्थ – (अथ) अनन्तर (यदा) जब (अस्य) इस मुमूर्षु पुरुष की वाक्) वाणी (मनसि) मन में और (मन:) संकल्प विकल्पात्मक मन (प्राणे) प्राण में और (प्राण:) जोव सम्पन्न प्राण [तेजसि] तेज शब्दोपलक्षित सम्पूर्ण भूतों में और [तेज:] तेज शब्दोपलक्षित सजीव भूत सूक्ष्म [परस्याम्] परब्रह्म नारायण [देवतायाम्] देव में (सम्पद्यते] संयुक्त हो जाता है (अथ) तब (न) नहीं (जानाति) वह मुमूर्षु पुरुष जानता है ।।२।।

विशेषार्थ—अनन्तर जब उस मुमूर्षु पुरुष को वाणी मन में संयुक्त होती और संकल्पविकल्पात्मक मन प्राण में सम्पन्न होता तथा जोव संपन्न प्राण तेजशब्दोपलक्षित समस्त भूतों में संपन्न होता और तेज शब्दोपलक्षित सजीव भूत सूक्ष्म परब्रह्म नारायण दिव्यदेव में संयुक्त हो जाता है। तब वह मुमूर्षु पुरुष किसी को नहीं पहचानता है। सद्गतिप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने **वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च** ।।(शा०४।२।१) **तन्मनः प्राण उत्तरात्** ।।(४।२।३) **सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः** ।। (४।२।४) **भूतेषु तच्छ्रुतेः** ।।(४।२।५) **नैकस्मिन् दर्शयतोहि** ।।(४।२।६) **तानि परे तथा ह्याह** ।।(४।२।१४) **अविभागो वचनात्** ।।(४।२।१५) **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि** ।।(४।४।१६) इन आठ सूत्रों के श्री भाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ।।२।।

।। इति षष्ठप्रपाठके पञ्चदशखण्डः ।।

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव माभगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।३।।

अन्वयार्थ – (य:) जो (स:) वह परब्रह्म परमात्मा देव है (एष:) यह परब्रह्म परमात्मा देव (अणिमा) अणु के सदृश सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ भोग्यरूप सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादानभूत और सर्वान्तर्यामी भूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म नारायण (सत्यम्) सत्य है (स:) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा) सबका अन्तर्यामी आत्मा है

(श्वेतकेतो) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तर्यामी जीवशरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) इस वाक्य को सुनकर श्वेतकेतु ने कहा कि (भगवान्) हे पूज्यपाद भगवान् आप (मा) मुझको (भूयः) फिर (एव) निश्चय करके (विज्ञापयतु) विशेषरूप से समझाइये (इति) यह मेरी प्रार्थना है। तदनन्तर (ह) प्रसिद्ध उद्दालक महर्षि ने (सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो (तथा) अच्छा (इति) ऐसा (उवाच) कहा ॥३॥

विशेषार्थ—आरुणि महर्षि ने कहा कि—जो वह सत् शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण देव है यह सर्वान्तर्यामी दिव्य देव परमात्मा अणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म दुर्विज्ञेय मानान्तर अगोचर शास्त्रैकसमधिगम्य है। ब्रह्म से स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप संपूर्ण जगत् सबके उपादानभूत सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से व्याप्त है। और वही निरुपाधिकसत्ता योगी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म सबका नियन्ता है। हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो "तत्" पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्त कल्याण गुणगणैकतान परब्रह्म नारायण "त्वम्" पद वाच्य सशरीर जीवशरीरक परब्रह्म नारायण है। उद्दालक महर्षि के इस वचन को सुनकर श्वेतकेतु ने अपने गुरुदेव से सविनय निवेदन किया कि—हे पूज्यपाद भगवन् आपके उपदेश को अभी यथार्थ मैं नहीं समझा हूँ। इससे आप निर्हेतुक दया करके मुझे फिर समझावें यह मेरी प्रार्थना है। इस विनम्र वाक्य को सुनकर उद्दालक महर्षि ने, हे सोमार्ह प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो अच्छा पुनः मैं उपदेश देता हूँ ऐसा स्पष्ट कहा। ब्रह्माभेदप्रतिपादन करनेवाला "तत्त्वमसि" यह वाक्य है। अनिर्वचनीयख्यातिखण्डनकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा०मी० १।१।१) **श्रुतत्वाच्च ॥**(१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (१।१।१३) **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥** (१।१।३१) **प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥**(१।४।२३)**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** (२।१।१५) **शब्देभ्यः ॥**(२।३।६) **यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत् ॥** (२।३।७) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः** ।(२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः ॥** (३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥**

(३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** ।।(४ १।३) **अविभागेन दृष्टत्वात्** (४।४।४) इन तेरह सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठकके पन्द्रहवें खण्ड की तीसरी श्रुतिके "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है और **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ।। (१।१।१) **तत्तु समन्वयात्** ॥ (१।१।४) **हेयत्वावचनाच्च** ।।(१।१।८) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ।।(१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ।।(२। १।१५) **इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि दोषप्रसक्तिः** ।। (२।१।२१) **अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके** ॥ (२।३।४२) **प्रकाशादिवत्तु नैवं परः** ॥ (२।३।४५) **सैव हि सत्यादयः** ।। (३।३।३७) इन नौ सूत्रोंके श्रीभाष्य में "तत्त्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और **अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्** ।।(३।३।३५ के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु" इस वाक्यको उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक का पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।३।।

॥ अथ षोडशखण्डः ॥

पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति सदह्यतेऽथ हन्यते ॥१॥

अन्वयार्थ—(सोम्य) हे सोमार्ह प्रियदर्शन श्वेतकेतो (उत) लोक में परीक्षा के लिये (पुरुषम्) संदिग्ध चोर पुरुष को (हस्तगृहीतम्) हाथ बाँध कर (आनयन्ति) राज पुरुष लोग धर्माधिकारियों के निकट ले जाते हैं और कहते हैं कि (अपहार्षीत्) इसने इसके धनका अपहरण किया है (स्तेयम्) इसने चोरी (अकार्षीत्) की है (इति) इस कारण से (अस्मै)

इसके संशोधन के लिये (परशुम्) परशुनाम के लोहे के यंत्र को (तपत) तपाओ इसके अनन्तर उस तप्त परशु को पकड़ने के लिये उस चोर से धर्माध्यक्ष लोग कहते हैं (सः) वह पुरुष (यदि) यदि (तस्य) उस चोरी के (कर्ता) करने वाला (भवति) होता है तो बाहर से अपने को छिपाता है (एव) निश्चय करके (ततः) उस छिपाने से (आत्मानम्) अपने को (अनृतम्) असत्यवादी (कुरुते) करता है (अनृताभिसन्धः) असत्यभाषण करने वाला (सः) वह हस्तगृहीत पुरुष (अनृतेन) असत्यता से (आत्मानम्) अपने को (अन्तर्धाय) छिपा कर (तप्तम्) अग्नि से तपेहुऐ (परशुम) परशु नाम के लोहे के यंत्र को (प्रतिगृह्णति) राजपुरुषों की आज्ञा द्वारा हाथ से पकड़ता है तब (सः) वह झूठ बोलने वाला पुरुष (दह्यते) उस तप्त परशु से जल जाता है और (अथ) अनन्तर (हन्यते) राज पुरुष लोग उसे मार देते हैं ॥१॥

विशेषर्थ—उद्दालक महर्षि कहते हैं कि—हे सोमाई प्रियदर्शन पुत्र श्वेतकेतो लोक में परीक्षा के लिये संदिग्ध चोर पुरुष को हाथ बाँध कर राज पुरुष लोग धर्माधिकारियों के पास में ले जाते है और कहते हैं कि—इसने इस सज्जन के धन का अपहरण किया है। केवल अपहरण ही नहीं किया किन्तु चोरी करके सब धन ले लिया है। राज पुरुष के ऐसे कहने पर वह चोर पुरुष अपनी चोरी को छिपाता है कि मैंने चोरी नहीं की है। तदनन्तर धर्माध्यक्ष लोग उस की परीक्षा के लिये यह उपाय करते हैं कि—इसके लिये परशु नाम के लोहे के यंत्र को तपओ इसके अनन्तर उस तप्त परशु को पकड़ने के लिये उस चोर से कहते हैं। वह पुरुष यदि चोरी करने वाला रहता है और बाहर से छिपाता है तो अपने को असत्यवादी प्रमाणित करता है। असत्य बोलने वाला वह हस्तगृहीत पुरुष अपने को असत्य भाषाण से छिपाता हुआ अग्नि से तपे हुए परशु को राजकर्मचारियों की आज्ञा द्वारा अपने हाथ से पकड़ता है किन्तु वह झूठ बोलने वाला पुरुष उस तप्त परशु से जल जाता है और तत्पश्चात् राजपुरुष लोगों के द्वारा मार दिया जाता है ॥१॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानंकुरुते। स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (यदि) यदि वह राजपुरुषों के द्वारा पकड़कर लाया हुआ संदिग्ध चोर पुरुष (तस्य) उस चोरी के (अकर्ता) नहीं करने वाला (भवति) रहता है तो (एव) निश्चय करके (ततः) उस अपनी सत्यता से (आत्मानम्) अपने को (सत्यम्) सत्ययुक्त (कुरुते) करता है (सत्याभिसन्ध) सत्यग्रहण करने वाला (सः) वह हस्तगृहीत-पुरुष (सत्येन) सत्य से (आत्मानम्) अपने को (अन्तर्धाय) ढांक कर (तप्तम्) अग्नि से तपे हुए (परशुम्) परशु नाम के लोहे के यंत्र को (प्रतिगृह्णाति) राजपुरुषों की आज्ञा द्वारा हाथ से पकड़ता है परन्तु (सः) वह सत्याभिसन्ध पुरुष (न) नहीं (दह्यते) उस तप्त परशु से जलता है और (अथ) तत्पश्चात् तत्काल ही (मुच्यते) राजपुरुष लोग उसे छोड़ देते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—और यदि वह राज पुरुषों के द्वारा पकड़ कर लाया हुआ संदिग्ध चोर पुरुष उस चौर्यवृत्ति के नहीं करने वाला रहता है तो वह अपनी सत्यता से अपने को सत्य प्रमाणित करता है। वह सत्याभि-सन्ध—सत्यग्रहण करने वाला हस्तगृहीत पुरुष अपने को सत्य से आवृत करके अग्नि से तपे हुए परशु को राज—कर्मचारियों की की आज्ञा द्वारा अपने हाथ से पकड़ लेता है। परन्तु सत्याभिसन्धि के प्रभाव से उस मनुष्य का हाथ उस तप्त परशु से नहीं दग्ध होता है। और तत्काल ही राजपुरुष लोग प्रतिबद्धदाह वाले पुरुष को निरपराधी समझ कर छोड़ देते हैं। कर्ता के विषय में लिखा है—**मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साह-समन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥** (गी० अ० १८ श्लो० २६) फलासक्ति रहित कर्तापन के अभिमान से रहित धृति और उत्साह से युक्त तथा सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहने वाला कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥२६॥—**रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः** (गी० अ० १८श्लो० २७) यश चाहने वाला कर्मफल चाहने वाला लोभी हिंसात्मक अपवित्र और हर्ष शोक से युक्त कर्ता राजस कहलाता है॥ २७॥ **अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामसउच्यते ॥** (गी० अ० १८ श्लो० २८) अयुक्त विद्यारहित स्तब्ध शठ वञ्चक आलसी विषादी और दीर्घ सूत्री कर्ता तामस कहलाता

है ।।२८। इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है ।।३।।

स यथा तत्र न दाह्येत । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ।।३।।

।। इति षष्ठप्रपाठके षोडशखण्डः ।।

।। इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकः समाप्तः ।।

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (सः) वह सत्याभिसन्ध पुरुष (तत्र) उस तप्त परशु ग्रहण रूप परीक्षा के समय में (न) नहीं (दाह्येत) जलता है वैसे ही सदात्मकत्वलक्षण सत्याभिसंधिवाला पुरुष सांसारिक अनर्थों से नहीं स्पर्श होता है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृभोग्य रूप सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) सबके उपादान भूत और सर्वान्तर्यामिभूत परब्रह्म नारायण से व्याप्त है (तत्) वह परब्रह्म नारायण (सत्यम्) सत्य है (सः) वही परब्रह्म नारायण (आत्मा)सबकी अन्तर्यामी आत्मा है (श्वेतकेतो) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो (तत्) तत् पदवाच्य निरस्त निखिलदोष समस्तकल्याणगुणगणैकतान परब्रह्म नारायण (त्वम्) त्वम् पदवाच्य सर्वान्तिर्यामी जीवशरीरक परब्रह्म नारायण (असि) है (इति) ऐसा उद्दालक महर्षि ने कहा (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस गुरुदेव उद्दालक महर्षि के वचन से (इति) इस प्रकार (तत्) उस सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण को (विजज्ञौ) श्वेतकेतु ने विशेषरूप से जान लिया (इति) इस प्रकार (विजज्ञौ) श्वेतकेतु ने बिशेषरूप से परब्रह्म नारायण को जान लिया ।।३।।

विशेषार्थ—आरुणि महर्षि कहते हैं कि - हे प्रियपुत्र वह सत्याभिसन्ध पुरुष जिस प्रकार उस तप्तपरशुग्रहणरूप परीक्षा के समय में नहीं दग्ध होता है उसी प्रकार सदात्मकत्वलक्षण सत्याभिसन्धिवाला पुरुष सांसारिक अनर्थों से नहीं स्पर्श होता है । ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त यह भोक्तृभोग्यरूप सम्पूर्ण जगत् सबके उपादानभूत सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण से व्याप्त है । और वही निरुपाधिक सत्तायोगी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण सबका नियन्ता है । हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो "तत्' पदवाच्य निरस्तनिखिलदोष समस्तकल्याणगुणगणैकतान परब्रह्म नारायण "त्वम्" पदवाच्य सशरीर जीवशरीरक परब्रह्म नारायण है । इससे सदात्मकत्वरूप सत्याभिसन्धिवाला तू हो जा । उस सत्याभि-

सन्धि के द्वारा संसार दाह से नहीं दग्ध होता हुआ तू माया से मुक्त हो जायेगा। इस प्रकार सुप्रसिद्ध गुरुदेव उद्दालक महर्षि के उपदेश से श्वेतकेतु ने सत् शब्दवाच्य उस परब्रह्म नारायण को भलीभाँति जान लिया। इस श्रुति में "विजज्ञाविति" इस वाक्य का दो बार उच्चारण 'छान्दोग्योपनिषद्" के षष्ठप्रपाठक के सोलहवें खण्ड और षष्ठप्रपाठक की समाप्ति का सूचना करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। यहाँ पर नौ बार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य से स्थावर जङ्गम रूप समस्त जगत् को ब्रह्मात्मक बतलाता है। और "तत्त्वमसि" इस वाक्य से ब्रह्माभेदप्रतिपादन किया गया है। अद्वैततिमिरतरुणभास्कर भगवद्रामानुजाचार्य ने—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥(शा. १।१।१) **श्रुतत्वाच्च** ॥ (१।१।१२) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ॥ (१।१।१३) **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्** ॥ (१।१।३१) **प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्** ॥ (१।४।२३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ॥(२।१।१५) **शब्देभ्यः** ॥ (२।३।६) **यावद्विकारन्तु विभागोलोकवत्** ॥ (२।३।७) **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः** ॥ (२।३।१८) **सैव हि सत्यादयः** ॥ (३।३।३७) **शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः** ॥ (३।४।२) **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** ॥(४।१।३) **अविभागेन दृष्टत्वात्**॥ (४।४।४) इन तेरह सूत्रोंके श्रीभाष्यमें 'छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के सोलहवें खण्ड की तीसरी श्रुति के "ऐतदात्म्यमिदं सवम्" इस खण्ड को उद्धृत किया है। और **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (१।१।१) **तत्तु समन्वयात्** ॥(१।१।४) **हेयत्वावचनाच्च** ॥ १।१।८)**आनन्दमयोऽभ्यासात्** ॥ (१।१।१३) **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** ॥ (२।१।१५) **इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि दोषप्रसक्तिः** ॥ (२।१।२१) **अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके** ॥ (२।३।४२) **प्रकाशादिवत्तु नैवं परः** ॥(२।३।४५) **सैव हि सत्यादयः** ॥(३।३।३७) इन नौ सूत्रों के श्रीभाष्य में प्रकृत श्रुति के "तत्त्वमसि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। "छान्दोग्योपनिषद्' के षष्ठप्रपाठक के पहले तथा चौथे और आठवें खण्ड में सात सात मन्त्र हैं और दूसरे तथा तीसरे और

पाँचवें तथा नवें खण्ड में चार चार मन्त्र हैं और छठवें खण्ड में पाँच मन्त्र हैं तथा सातवें खण्ड में छः मन्त्र हैं और शेष छः खण्डों में तीन तीन मन्त्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस षष्ठप्रपाठक में उन्नहतर मन्त्र हैं। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठप्रपाठक का सोलहवाँ खण्ड और षष्ठप्रपाठक समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ सप्तमप्रपाठकः ॥

॥ अथ प्रथमखण्डः ॥

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं होवाच। यद्वेत्थ तेन मोपसीद। ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥१॥

अन्वयार्थ—(भगवः) हे पूजार्ह भगवन् (अधीहि) मुझे उपदेश दीजिये (इति) इस प्रकार विनय पूर्वक कहते हुए (नारदः) देवर्षि नारद (ह) सुप्रसिद्ध (सनत्कुमारम्) योगिराज सनत्कुमार के (उपससाद) समीप में शास्त्र विधि के अनुसार गये (तन्) उस उपसन्न देवर्षि नारद से (ह) प्रसिद्ध (उवाच योगीश्वर सनत्कुमार ने कहा कि (यत्) जो कुछ (वेत्थ, तुम जानते हो (तेन) उसे बतलाते हुए (मा) मुझको (उपसीद) प्राप्त होवो तब ज्ञातांश को जान कर (ततः) आपसे जाना हुआ उस अंश से (उर्ध्वम) आगे (ते) तेरे लिये (वक्ष्यामि) उपदेश कहूँगा (इति) यह मेरा नियम है क्योंकि ज्ञातांश का उपदेश देना व्यर्थ है ॥१॥

विशेषार्थ – सद्विद्या कहने के बाद अब भूम विद्या का प्रस्ताव किया जाता है कि—यह सुप्रसिद्ध बात है कि--एक समय में देवर्षि नारदजी विश्वविख्यात योगिराज सनत्कुमार महात्मा के समीप शास्त्रानुसार समिधा, पुष्प, फल आदि हाथ में लेकर गये। और वह भेंट उनको समर्पण कर श्री चरणों में साष्टांग प्रणिपात करके सविनय प्रेम से बोले कि—हेपूज्यपाद भगवन् आप मुझे उपदेश कीजिये। इस बात को सुन कर मुखकान्ति से नारद को अधीतविद्य और सुयोग्य जान कर योगीन्द्र सनत्कुमार जी ने कहा कि—हे देवर्षे नारद जो कुछ आप जानते हैं उसको प्रथम मुझे सुना दें तब उससे आगे तेरे लिए मैं उपदेश दूँगा। क्योंकि ज्ञात अंश का उपदेश देना व्यर्थ है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म-**

निष्ठम् ।। (मु० उ० मुं० १ खं०२ श्रु० १२) परब्रह्म नारायण को जानने के लिये मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि लिये हुए वेदवेत्ता ब्रह्मविचार में मग्न गुरु की शरण में जाय ।।१२।। **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** ।। (गी० अ० ४ श्लो० ३४) उस आत्म विषयक ज्ञान को दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रमाण करने से तथा जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने से और सेवा करने से तुम जानो ।।३४।। इन श्रुति स्मृति के नियमानुसार नारद जी भगवान् सनत्कुमारजी के पास गये । इस श्रुति में **यथा देवे तथा गुरौ**।। (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० २३।।सुबालो०खं० १६।।शाट्यायनीयोप श्रु० ३७) जिस प्रकार परब्रह्म नारायण देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी ।।२३।१६। ३७।। इस श्रौत सिद्धान्त को जानने के लिये गुरु सनत्कुमार महर्षि में "भगवः" पद का प्रयोग नारद जी ने किया है । अधीहि "अधि+इङ्= अध्ययन करना" इस शब्द का अर्थ "पढ़ो" होता है परन्तु यहाँ इसका अर्थ 'पढ़ाओ" ऐसा किया जाता है । यदि यह अर्थ न किया जाय तो अर्थ की सङ्गति नहीं होगी । क्योंकि नारद पढ़ने के लिये आये हैं न कि पढ़ाने के लिये । इस हेतु "अधीहि" को अन्तर्भावित ण्यन्त मान कर "पढ़ाओ" अर्थ करना ही उचित है । यहाँ छान्दस परस्मैपद हुआ है । अथवा "अधि+इक्=स्मरण करना" इसका रूप समझना चाहिये । तब इसका अर्थ स्मरण करावें होगा । अथवा 'अधि+इण्=गमन करना" इसका रूप मानना चाहिये । तब इसका अर्थ बोध करवावें यह होता है । "इक् स्मरणे" "इण् गतौ" इन दो धातुओं से आजकल भी "अधीहि" ऐसा ही रूप होता है । सनत्कुमार और नारद ये दोनों महानुभाव चक्राङ्कित हैं । क्योंकि लिखा है— **यमः शिवः कुमाराश्च भक्ता ये भूतभाविनः । पाञ्चजन्य मया प्रोक्तः प्रद्युम्नांशसमुद्भवः** ।। (बृहद्ब्रह्मसंहि० अ० २ पा १ श्लो० १०७) **वामे भुजे मुमुक्षूणां स्थित्वा-मन्मार्गदो भव । चक्राङ्किता भविष्यन्ति याता यास्यन्ति चापरे** । (१०८) यमराज, शिव, सनत्कुमारादिक जितने भक्त हुए हैं वे चक्राङ्कित हैं और जो भक्त होंगे वे सब भी तप्त चक्र धारण करेंगे । हे पञ्चजन्य शंख मुझसे प्रद्युम्नांश समुद्भव कहा गया है ।।१०७।।मुमुक्षुओं के वामभुज मूल में अङ्कन द्वारा स्थित होकर मेरे मार्ग को देनेवाला बनो । चक्राङ्कित परब्रह्म को प्राप्त करने वाले होंगे ।।१०८।। "कुमाराः" इस पद में—

विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तर पदयो र्लोपोवा वाच्यः ॥ इस व्याकरण के वार्तिक से "सनत्" का लोप हो गया है। इससे सिद्ध हो गया कि अति प्राचीन सनत्कुमार भगवान् चक्राङ्कित थे। जिनके विषय में महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है—**ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः। सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम् ॥** (वाल्मि० रामा० बाल कांड १ सर्ग ० ६ श्लो० २) ऋत्विकों से उपदेश किया हुआ यह पुरावृत्त है जिस कथा को पहले सनत्कुमार भगवान् ने कहा है ॥२॥ देवर्षि नारद भी चक्राङ्कित हैं। क्योंकि लिखा है कि—**ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ॥** (श्रीमद्भा० स्कं० १० पूर्वार्ध० अ० १० श्लो० २४) श्री हरि भागवतों में श्रेष्ठ नारद ऋषि के वाक्य सत्य करने के लिये ॥२४॥ इस लोक में नारद को भागवत बतलाया गया है। और **'प्रह्लाद-नारद पराशर'** ॥ (पाण्डव गी० श्लोक १) इस श्लोक में भी भागवतों में नारद का नाम है। और भागवत का लक्षण लिखा है— **अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञाः पञ्चसंस्कारसंस्कृताः। आकारत्रयसम्पन्नास्ते वै भागवताः स्मृताः ॥** (पराशरीय धर्मशास्त्र उत्तर खं० अ० १० श्लोक ६) स्वस्वरूप १, परस्वरूप २, पुरुषार्थ स्वरूप ३, उपायस्वरूप ४, विरोधि स्वरूप ५ इन पाँच अर्थों के तत्त्वों को जो जानने वाले हों और ताप १, पुण्ड्र २, नाम ३, मन्त्र ४, याग ५ इन पाँच संस्कारों से जो संस्कृत हों तथा अनन्यार्ह शेषत्व १, अनन्यभोग्यत्व २, अनन्यशरणत्व ३ रूप तीन आकारों से जो सम्पन्न हों उनको ही भागवत कहते हैं। इससे सिद्ध हो गया कि नारदजी चक्राङ्कित हैं। जिनके विषय में गीता में लिखा है— **देवर्षीणां च नारदः ॥** (गी० अ० १० श्लो० २६) देवर्षियों में परम वैष्णव नारद मैं हूँ ॥२६॥ इस प्रकार वर्णन किया गया है ॥१॥

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि। यजुर्वेदं सामवेद माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्। वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनम्। देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेव–

जनविद्याम् एतद्भगवोऽध्येमि ॥२॥

अन्वयार्थ—(सः) वह देवर्षि नारद (ह) प्रसिद्ध सनत्कुमारमहर्षि से (उवाच) कहा कि (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को और (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद को तथा (सामवेदम्) सामवेद को और (चतुर्थम्) चौथा (आथर्वणम्) अथर्ववेद को तथा (पञ्चमम्) पाँचवा वेद (इतिहासपुराणम्) महाभारतादि इतिहास तथा विष्णु, श्रीमद्भागवतादि पुराण को (अध्येमि) मैं जानता हूँ। इसके सिवा (वेदानाम्) वेदों के यानी प्रकृति प्रत्यय के विभागों के (वेदम्) जनाने वाले व्याकरण को (पित्र्यम्) और श्राद्ध कल्प को तथा (राशिम्) गणित को और (दैवम्) उत्पातज्ञान को तथा (निधिम) निधिदर्शन के उपाय प्रतिपादक शास्त्रको और (वाकोवाक्यम्) तर्कशास्त्र को (एकायनम्) एकायनशाखा-पञ्चरात्र को (देवविद्याम्) देवता की उपासना के प्रकार को विद्या को तथा (ब्रह्मविद्याम्) वेदाङ्गभूत शिक्षा निरुक्त कल्प छन्द आदिक विद्या को और (भूतविद्याम्) वशीकरण विद्या को तथा (क्षत्रविद्याम्) धनुर्विद्या को तथा (नक्षत्रविद्याम्) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र संबन्धी ज्योतिष को और (सर्पदेवजनविद्याम्) सर्पविद्या यानी गारुडविद्या को तथा देवविद्या यानी नृत्यगीतवाद्य आदि गान्धर्वशास्त्रको और जनविद्या यानी आयुर्वेद को (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (एतत्) यह सपूर्ण विद्यास्थान को (अध्येमि) मैं जानता हूँ ॥२॥

विशेषार्थ - उस देवर्षि परमवैष्णव नारद ने सुप्रसिद्ध सनत्कुमार भगवान् से कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् ऋग्वेद को मैं जानता हूँ। ऋग्वेद के विषय में लिखा है ॥ **तेषामृग्यत्रार्थ वशेन पादव्यवस्था ॥** (पूर्वमीमां० अ० २ पा० १ सू० ३५) जिसमें अर्थवश से पाद कोव्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं ॥३५॥ **एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः ॥ सीतोपनि० ॥ ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ॥** (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १२) **एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदंकृतवान्पुरा ॥** (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५१) **एकविंशतिधा बह्वृच्यः ॥** (महाभाष्य०अ० १ पा० १ आह्नि० १) इक्कीस शाखाएँ ऋग्वेद की हैं ॥१॥ और यजुर्वेद को मैं जानता हूँ। यजुर्वेद के विषय में

लिखा है—**शेषे यजुः शब्दः** ।। (पूर्वमी०अ० २ पा० १ सू० ३७) शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ।।३७।।**शतं च नवशाखासु यजुषामेव जन्मनाम्** ।। (सीतोप०) **नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज** ।। (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १२) हे महावीर यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं ।।१२।। महर्षि पतञ्जलि के समय में ।। **एकशतमध्वर्युशाखाः** ।। (महाभाष्य० अ १पा.१आह्नि.१) एक सौ एक शाखाएँ यजुर्वेद की प्राप्त होती थीं ।।१।। **शुक्लकृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम् । शुक्लं वाजसनेयं तु कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम्** ।। (प्रतिज्ञा सूत्र भाष्य०) शुक्ल और कृष्ण भेद से यजुर्वेद दो प्रकार का कहा गया है, उनमें वाजसनेय शुक्लयजुर्वेद है और तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद है ।। **यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम् । शाखास्तत्र शिखाकारा दश पञ्चाथ शुक्लगाः** ।। (वृहन्नारदीय०) यजुर्वेद महाकल्पतरु की एक सौ एक शाखाएँ हैं उसमें शुक्लयजुर्वेद की शिखा के समान पन्द्रह शाखाएँ हैं ।। और सामवेद को मैं जानता हूँ। सामवेद के विषय में लिखा है—**गीतिषु सामाख्या** ।। (पूर्वमी० अ० २ पा० १सू० ३६) गान में सामवेद नाम होता है ।।३६।। **साम्नः सहस्र शाखाः स्युः** ।। (सीतोप०) **सहस्रसंख्यया जाताःशाखाः साम्नः परन्तप** ।। (मुक्तिको० अ० १ श्रु० १३) **सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः** ।। (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५१) **सहस्रवर्त्मा सामवेदः** ।। (महाभा. अ. १ पा. १ आह्नि. १) एक हजार शाखाएँ सामवेद की हैं ।१।। और चौथे अथर्ववेद को मैं जानता हूँ । अथर्ववेद के विषय में लिखा है ।। **निगदो वा च चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्** ।। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३८) विशेष धर्म होने से निगद ही चतुर्थ अथर्ववेद है ।। ३८ ।। **अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे** ।। (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १३) हे महावीर पच्चास शाखाएँ अथर्ववेद की हैं ।।१३।। पतञ्जलि महर्षि के समय में ।। **नवधा अथर्वणः** ।। (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) **आथर्वणमथोवेदं विभेद नवकेन तु** ।।(कूर्मपु.अ. ४९ श्लो. ५२) अथर्ववेद की नौ शाखाएँ प्राप्त होती थीं ।।५२।। वेद के विषय में

लिखा है ।। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** ।। [आपस्तम्ब० श्रौतसू० २४ १।३१] मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ।।३१।। **मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः** ।। [बौधायनगृह्यसू० २।६।२] मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं ।।२।। **आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानिच** ।। [कौशिक सूत्र० १।३।३] मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं ।।३।। **तच्चोदकेषुमन्त्राख्या** ।। [पूर्वमी० अ० २पा० १ सू० ३२] प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ।।३२।। **शेषे ब्राह्मणशब्दः** ।। [पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३३] मंत्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ।।३३।। और श्री रामायण महाभारत आदिक इतिहास तथा विष्णु, श्रीमद्भागवत आदि पुराणरूप पाँचवाँ वेद यानी ज्ञान के भण्डार को मैं जानता हूँ। कई सज्जनों ने इतिहास और पुराण को आधुनिक बतलाकर खण्डन करके उड़ाने की चेष्टा की है। इससे यहाँ इतिहास और पुराण की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये कुछ प्रमाणों को मैं उद्धृत करता हूँ कृपया सज्जन लोग अवलोकन करें। **"स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् तमितिहासश्च पुराणं च गाथानां च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद** ।। (अथर्ववे० का० १५ प्र० ६ अनु० १ मं० १२) वह बड़ी दिशा को चला उसके पीछे से इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी भी चले जो पुरुष इस प्रकार जानता है वह पुरुष इतिहास तथा पुराण और गाथा नाराशंशी के प्रिय धाम होता है ।१२। **मध्याहुतयो ह वा एता देवानांयदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं गाथा नाराशंस्यः य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते** ।। (शतपथब्रा० अ० ११ प्र० ३।८।८) शास्त्र देवताओं की मध्यम आहुति है। देवविद्या ब्रह्मविद्या आदिक विद्याएँ उत्तर प्रत्युत्तररूप ग्रन्थ इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी ये शास्त्र हैं। जो इनका नित्यप्रतिस्वाध्याय करता है वह मानो देवताओं के लिये आहुति देता है ।।८।। **एष देवान्तर्पयति य एवं**

विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासः पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते ॥ (शत० अ० ११ प्र० ५।७।९) जो इस प्रकार के नित्य प्रति उत्तर प्रत्युत्तर रूप ग्रन्थ का और इतिहास का तथा पुराण का स्वाध्याय करता है वह देवताओं को तृप्त करता है ॥९॥ एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः ॥ (गोपथ ब्रा०पूर्वभाग० प्रपाठ० २) इस प्रकार से कल्प रहस्य ब्राह्मण उपनिषद्, इतिहास, पुराण, अन्वाख्यात, स्वर संस्कार, निरुक्तअनुशासन, अनुमार्जन और वाकोवाक्यसहित समस्त वेद परमेश्वर के निर्मित हुए ॥२॥ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे देवा दिविश्रिताः ॥ (अथर्व० कां० ११ प्र० अनु० १ मं० २४) सबके अन्त में शेष रहने वाले श्रीमन्नारायण भगवान् से ऋक्, साम, छन्द तथा यजुः के साथ पुराण और द्युलोक में रहनेवाले दिविश्रित समस्त देवगण उत्पन्न हुए ॥२४॥ अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ (बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ५ श्रु० ११) उस परब्रह्म नारायण के निःश्वसित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व वेद, इतिहास, पुराण, विद्या उपनिषद्, श्लोक सूत्र, व्याख्यान, यज्ञ, हवन किया हुआ, खिलाया हुआ पिलाया हुआ यह लोक परलोक और समस्त भूत हैं ।११। यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन्स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यद् ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः ॥ (आश्वलायन सूत्र० अ० ३ पञ्चयज्ञप्रकरण०) जो ऋग्वेद को पढ़ता है उसके पितरों को दूध की छोटी नदी, यजुर्वेद पढ़नेवालों के पितरों को घृत की छोटी नदी और ब्राह्मण कल्प गाथा नाराशंसी इतिहास पुराण के पढ़ने वालों के पितरों को अमृत की छोटी सी नदी प्राप्त होती है ॥३॥ सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो

वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बह्वृच्यः नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोग विषयः ।। (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १) सात द्वीप सहित पृथ्वी तीनों लोक शिक्षा कल्पादि अङ्ग सहित चारो वेद उपनिषद् एक सौ एक शाखा यजुर्वेद की हजार शाखाएँ सामवेद की इक्कीस शाखाएँ ऋग्वेद की नौ शाखाएँ अथर्व वेद की उत्तर प्रत्युत्तार रूप ग्रन्थ इतिहास पुराण वैद्यक ये सब के प्रयोग के विषय हैं ।।१।। **स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च ।।** (मनु० अ० ३ श्लो० २३२) पितरों के कर्म में सामवेद और धर्मशास्त्र तथा आख्यान और इतिहास तथा पुराणों को सुनावे ।।२३२।। **पुराणं न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्यच चतुर्दश ।।** (याज्ञ०स्मृ० अ० १ श्लो० ३) पुराण, न्याय मीमांसा, धर्मशास्त्र और छः अङ्गों सहित चारो वेद ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान हैं ।।३।। **इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ।।** (महाभार० आदिप० १ अ० १ श्लोक ६७) इतिहास और पुराण से वेद को उपबृंहण करे । अल्पश्रुत से वेद डरता है कि यह मुझको ठगेगा ।।६७।। इन प्रमाणों से इतिहास पुराण अति प्राचीन सिद्ध होते हैं । वेद के उपबृंहणरूप पूर्वचरित कथा प्रसङ्गात्मक वाल्मीकि, वेदव्यास आदि ऋषियों के प्रकाशित श्रीरामायण और महाभारत इतिहास हैं ।।सप्तद्वीपा।। इस महाभाष्य की प्रदीप टीका में लिखा है **पूर्वचरितसंकीर्तनमितिहास ।।** (प्रदीप०) पूर्वचरित जिसमें संकीर्तन हो उसको इतिहास कहते हैं । इतिहासों में श्रीरामायण श्रेष्ठ है । क्योंकि लिखा है— **इतिहासश्रेष्ठेन श्रीरामायणेन कारागृहवासकर्त्र्या वैभव उच्यते ।।** (श्रीवचनभूष० सू० ५) इतिहासों में श्रेष्ठ श्रीवाल्मीकि रामायण से कारागार में निवास करने वाली महालक्ष्मी जी का वैभव कहा जाता है ।।५।। **नास्ति रामायणात्परम् ।।** (स्कन्दपु० उत्तरखं० रामायणमा० अ० ५ श्लोक २१) श्री रामायण से श्रेष्ठ कोई इतिहास नहीं

है ॥२१॥ **वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे । वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥** (मूलरामा० श्लो० १०) जैसे वेद से जानने योग्य परमात्मा संसारी चेतनों की रक्षा के लिये दशरथ महाराज के पुत्र रूप से मनुष्यावतार धारण करते हैं वैसे ही श्रीरामावतार के गुण चेष्टितों के कथन द्वारा श्रीरामभद्र में प्रेम कराने के लिये वेद रामायणावतार वाल्मीकि महर्षि से धारण करता है ॥१०॥ इससे सिद्ध होता है कि सब इतिहासों में श्रीरामायण श्रेष्ठ है। महाभारत के विषय में लिखा है **वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ॥** पाँचवें महाभारत वेद को पढ़ाया ॥ **महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥**(महाभारत आदि प० १ अ० १ श्लो० ७४) सबसे महान् होने से और भारवाला होने से इसको सब लोग महाभारत करते हैं ॥७४॥ पुराण के विषय में ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ कुछ मैं नहीं लिखता हूँ। जिसको जानना हो वह मेरी बनायी हुई "श्रीवचनभूषण" के पहले सूत्र की "चिन्तामणि" टीका को देख ले। वेदों का वेद यानी व्याकरण को मैं जानता हूँ। पूर्व समय में विद्या का भी नाम वेद था। पदार्थों का ज्ञान हो जिससे उसे वेद कहते हैं। विद्या के द्वारा शीघ्र पदार्थों का बोध होता है। अतः वेद नाम विद्या का है। और अनन्त शब्दों का सुगम उपाय से तथा थोड़े समय में व्याकरण के द्वारा बोध हो जाता है। और अधीत व्याकरण मनुष्य का अन्य शास्त्रों में शीघ्र प्रवेश होता है। अतः वेद नाम व्याकरण का भी है। क्योंकि विद्याओं का भी शीघ्र बोध कराने वाला व्याकरण है इस कारण 'वेदानां वेद" व्याकरण को कहते हैं। व्याकरण के विषय में लिखा है— **लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् ॥** (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आ० १) लक्ष्य तथा लक्षण में व्याकरण होता है ॥ १ ॥ **वर्णाक्षरपदार्थानां सन्धिलिङ्गं प्रकीर्तितम् । नामधातु विवेकार्थं पुरा व्याकरणं स्मृतम् ॥** (महाभार० आश्वमेधिकप० अध्या० १०८ श्लो० ६३)वर्णाक्षर पदार्थों सन्धि और लिङ्ग को कहने वाला नाम तथा धातुके विवेक के लिये पहले व्याकरण कहा गया है ॥६३॥ अर्थात् वैदिक और लौकिक शब्दों के अनुशासन का प्रकृति प्रत्यय विभाग पूर्वक शब्द साधन की प्रक्रिया शब्दार्थ बोध के प्रकार की रीति को बताने वाले पाणिनि आदि मुनियों के रचित वेद का मुखाङ्ग व्याकरण है। और

मृतक पितरों के श्राद्ध कल्प को मैं जानता हूँ। मृतक श्राद्ध के विषय में जिसको जानना हो वह मेरे बनाये हुए 'वैदिकश्राद्धदर्पण" ग्रन्थ का अवलोकन करे। और राशि यानी गणित विद्या को मैं जानता हूँ। तथा दैव यानी उत्पात विद्या को मैं जानता हूँ। और निधिदर्शनोपाय प्रतिपादक महाकालादि निधिविद्या को मैं जानता हूँ। और वाक्योवाक्य यानी तर्कशास्त्र को मैं जानता हूँ। अथवा उक्ति प्रत्युक्तिरूपग्रन्थ को मैं जानता हूँ क्योंकि ॥ **वाकोवाक्यम्** ॥ (महाभाष्य.अ. १ पा.१ आ.१) की प्रदीप व्याख्या में लिखा है कि – **वाकोवाक्यशब्देनोक्तिप्रत्युक्तिरूपो ग्रन्थ उच्यते यथा "किं स्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महद्" इति ॥** (प्रदीप०) वाकोवाक्य शब्द के उक्ति प्रतियुक्तिरूपग्रन्थ कहा जाता है,जैसे "कौन सा महान् आवपन है" इस उक्ति के प्रति भूमि महान् आवपन है "यह प्रत्युक्ति है।" इसी के समान को वाकोवाक्य कहते हैं। और एकायन यानी पाञ्चरात्र आगम को मैं जानता हूँ। यहाँ एकायन शब्द महोपनिषद् पाञ्चरात्र तंत्र वाचक है। क्योंकि लिखा है ॥ **शृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्** ॥ (ईश्वरसंहि० अ० १ श्लो० १) हे सब मुनि गण तुम लोग एकायन नाम वाले वेद को सुनो ॥१॥ **मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते। तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥** (१९) **एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतोभुवि। दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च प्रतिबुद्धै र्निषेवितः** ॥ (४३ ईश्व० सं० अ० १) निश्चय करके मोक्ष प्राप्ति के लिये इस पांचरात्रतंत्र से अन्य कोई मार्ग नहीं है इसीकारण से मनीषि लोग पांचरात्र को ही एकायन के नाम से कहते हैं। यह पांचरात्र एकायन नाम के दुर्विज्ञेय और दुष्कर वेद पृथ्वी में सर्वत्र विख्यात है और महाज्ञानियों से अत्यन्त सेवित है ॥१॥ **पुरा तोताद्रिशिखरे शाण्डिल्योऽपि महामुनिः ॥३८॥ समाहितमना भूत्वा तपस्तप्त्वा सुदारुणम् ॥३८½॥ द्वापरस्य युगस्यान्त आदौ कलियुगस्य च। साक्षात् सङ्कर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्** ॥ (ई०सं० अ० १) पहले तोताद्रि के शिखर पर शाण्डिल्य नाम के महामुनि ने समाहित मन होकर अत्यन्त कठिन तपस्या करके। द्वापर युग के अन्त में और

कलियुग के आदि में साक्षात् संकर्षण भगवान् से एकायन नाम के वेद को प्राप्त किया ॥१॥ **आद्यमेकायनं वेद सद्ब्रह्मप्रतिपादकम् । तेनैव संस्कृता विप्रा मुख्यकल्पाधिकारिणः ।** (पाद्मसं० चर्यापा० सिद्धान्त भेद निरूप० श्लोक १) सद्ब्रह्मप्रतिपादक आद्य एकायन वेद को जाना । निश्चय करके उस एकायन तन्त्रानुसार संस्कार के संस्कृत विप्र मुख्यकल्प के अधिकारी होते हैं ॥ १ ॥ **वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम् । तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम् ॥** (श्रीप्रश्नसंहि०) एकायन नाम का वेद सब वेदों के शिर पर स्थित है । एकायन अर्थ का ही पर्याय वाचक पाञ्चरात्र शब्द है । वह एकायन शाखा के अनुसार क्रिया वालों को मोक्ष देने वाला है ॥ **ऋग्वेदं पूर्वदिग्भागे यजुर्वेदं तु दक्षिणे । पश्चिमे सामवेदं स्यादाथर्वं चोत्तरे भवेत् । एकायनीयशाखोत्थमन्त्रान्सर्वासु दिक्षु च ॥**(महाकालसंहि०) ऋग्वेद को पूर्व दिशा में और यजुर्वेद को दक्षिण दिशा में तथा सामवेद को पश्चिम दिशा में और अथर्ववेद को उत्तर दिशा में विनियोग करे ॥ **ततः प्रीतमना नाथ साक्षात्स ब्रह्मसंज्ञकम् । वेदमेकायनं ब्रह्म व्याकर्तुमकुतोभयम् ॥** (महाकालसंहि०) हे नाथ उसके बाद प्रसन्न मनवाला वह साक्षात् परब्रह्म नारायण व्यापक ब्रह्म संज्ञक एकायन नाम के वेद को भय रहित होकर करने के लिये प्रस्तुत हुआ ॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मोक्ष के लिए सबसे श्रेष्ठ एकायन शाखा है । इसी को पाञ्चरात्र और महोपनिषद् भी कहते हैं । क्योंकि लिखा है—**इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् । सांख्ययोगकृतान्तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम् ॥** (महाभारत शान्तिप० अ० ३३८ श्लोक १११) यह महान् सबसे श्रेष्ठ परब्रह्म नारायण के पास में निश्चय करके पहुँचाने वाला यह महोपनिषद् चार वेदों से युक्त और सांख्ययोग कृतान्त से समन्वित पञ्चरात्रशब्द से कहा जाताहै ॥१११॥ **पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् ॥** (महाभारत शान्तिप० मोक्ष०अ० ३५० श्लो० ६७) समस्त पञ्चरात्र के वक्ता स्वयं परब्रह्म नारायण हैं ॥ ६७॥ **श्वेतद्वीपे पुरा विष्णुं क्षीरसागरशायिनम् । ब्रह्माद्याः देवताः सर्वे**

मुनयश्च तपोधनाः ॥ (शाण्डिल्य संहि० अंश० १ अ० ४ श्लो० ५४) समाराध्य महात्मनो भक्त्या परमया विभुम् । ऋचां च यजुषां चापि साम्नामाङ्गिरसामपि ॥ (५५) सांख्यानामपि योगानां सर्वोपनिषदां गिराम् । सर्वेषामपि शास्त्राणां सारभूतं हरेः प्रियम् ॥ (५६) रहस्यं पञ्चरात्राख्यं काले कालेऽभिलेभिरे ॥ (५७) ब्रह्मादिक समस्त देवता और तपोधन सब मुनि लोग पहले श्वेत द्वीप में क्षीरसागर में सोनेवाले विष्णु भगवान् को ॥५४॥ पराभक्ति से वे महात्मा सब सम्यक् आराधन करके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ॥५५॥ और सांख्य के तथा योग के और समस्त उपनिषदों की सूक्तियों के तथा सम्पूर्ण शास्त्रों के सारभूत और परब्रह्म नारायण के प्रिय ॥ ५६ ॥ पञ्चरात्र नाम के रहस्य ग्रन्थ को समय समय पर प्राप्त किये ॥५७॥ नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत्पुनः ॥ (महाभारत शान्तिप० अ० ३३९) नारायण के मुखारविन्द से गाया हुआ पञ्चरात्र तन्त्र को नारद ने फिर सिद्ध महानुभावों से सुनाया ॥३३९॥ पञ्चरात्र के विषय में लिखा है-पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः ॥ मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्चयोगिनः ॥ (५१९) पञ्चापि पृथगेकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभुः । अध्यापयामासयतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः ॥ (५३२) शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते (५३२½) ॥ (ईश्व० सं० अ० २१) पञ्चायुध के अंश वे पाँच शाण्डिल्य १, औपगायन २, मौञ्जायन ३, कौशिक ४ और भारद्वाज ५ योगी अपने कठिन तप से वासुदेव भगवान् को सन्तुष्ट किये । तदनन्तर जगत् प्रभु भगवान् वासुदेव ने उन पूर्वोक्त पाँचों योगियों को अलग अलग एक एक दिन रात पढ़ाया, इसी कारण से लोक में इस भगवत् शास्त्र को सब जन पञ्चरात्र इस नाम से कहते हैं । २१॥ पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि । तत्सन्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्तते ॥ (पाद्म सं० ज्ञा० अ० १) जिसकी सन्निधि में सांख्य १, योग २, न्याय ३, वैशेषिक ४, मीमांसा ५ ये पाँच महान् शास्त्र रात के समान आचरण करते हैं उसी कारण से उस भगवत् शास्त्र को लोक में पंचरात्र ऐसा नाम होता है ॥१॥ रात्रयो गोचराः पञ्चशब्दा-

दिविषयात्मिकाः । महाभूतात्मिका वात्र पञ्चरात्रमिदं ततः ॥ अवाप्य तु परं तेजो यत्रैता पञ्चरात्रयः । नश्यन्ति पञ्चरात्रं तत् सर्वाज्ञानविनाशनम् ॥ (विष्णुसंहि०) इन्द्रियों में ग्रहण करने योग्य शब्द १, रूप २, रस ३, गन्ध ४, स्पर्श ५ ये पाँच विषय अथवा पृथ्वी १, जल २, तेज ३, वायु ४, आकाश ५ ये पाँच महाभूत यहाँ रात के समान हो जाते हैं इससे यह एकायनवेद पञ्चरात्र कहा जाता है। जहाँ पर ये शब्दादि विषयरूप पाँचरात अथवा महाभूत पृथ्वी आदिक पाँचरात पर तेज को पा कर नष्ट हो जाते हैं उस सब अज्ञान के विनाश करने वाले को पञ्चरात्र ऐसा महर्षि गण कहते हैं ॥

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं तु कथ्यते ॥ (महाभा० शान्तिप० मोक्ष० अ० ३३९ श्लो० ८१) सांख्य और योग तथा वेद और आरण्यक ये परस्पर अङ्गभूत एकतत्त्वप्रतिपादन परक होने से एकीभूत इस प्रकार के एकपञ्चरात्र ऐसा कहा जाता है ॥ ८१ ॥

पञ्चरात्रोदितेन वा ॥ (जमदग्निस्मृ०) पांचरात्र में कहे हुए मंत्र से श्री हरि की पूजा करे ॥ पुराणैश्चैव वेदैश्च पाञ्चरात्रैस्तथैव च ॥ (उत्तररामाय०) पुराणों से तथा वेदों से और पाँचरात्र की संहिताओं से परब्रह्म जाना जाता है ॥ आचार्ये पाञ्चरात्राणां सहस्रगुणितं भवेत् ॥ (वराहपु०) पाञ्चरात्र जानने वाला आचार्य में हजार गुणा फल होगा ॥ ऋगाद्या भारतं शास्त्रं पञ्चरात्रमथाखिलम् ॥ (ब्रह्मपु०) ऋगादिक चारों वेद तथा महाभारत इतिहास और सम्पूर्ण पंचरात्र शास्त्र है ॥ वेदेन पाञ्चरात्रेण भक्त्या यज्ञेन च द्विज ॥ (कूर्मपु०) हे द्विज वेद से या पञ्चरात्र से अथवा भक्ति से या यज्ञ से भगवदाराधन करे ॥ शास्त्रं च वेदाः स्मृतयः पुराणं च तदात्मकम् । इतिहासः पाञ्चरात्रं भारतं च महामते ॥ (स्कन्दपु०). हे महामते समस्तशास्त्र और चारों वेद तथा संपूर्ण स्मृतियाँ और सब पुराण तथा श्रीरामायण इतिहास और पञ्चरात्रतन्त्र तथा महाभारत आदिक सब ब्रह्मात्मक हैं ॥

मूलवेदानुसारेण प्रोक्तानि हितकाम्यया ॥ (ईश्व०सं०अ०१ श्लो० ६५)

चेतनों के कल्याण की कामना से नारायण ने मूल वेद के अनुसार दिव्य शास्त्र पाञ्चरात्र को कहा ॥६५॥ जैसे अपौरुषेय वेद ऋग्, यजुः, साम, अथर्व भेद से चार प्रकार के विभक्त हैं, वैसे ही परब्रह्म नारायण के मुखारविन्द से विनिःसृत पाञ्चरात्र के आगम १, मन्त्र २, तन्त्र ३, तंत्रान्तर ४ चार प्रकार के भेद हैं ॥

चतुर्धाभेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः ॥ (ईश्व० सं० अ० २१ श्लो० ५६०) **पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम् । तृतीयं तन्त्रमित्युक्तमन्यत्तन्त्रान्तरं भवेत् ॥** (५६१) यह पाञ्चरात्र नाम का आगम चार प्रकार के भेद से भिन्न है ॥५६०॥ पहला आगम सिद्धान्त है और दूसरा मत्र है, तथा तीसरा तन्त्र ऐसा कहा गया है और चौथा तंत्रान्तर है ॥५६१॥ जैसे परब्रह्म से निश्वसित वेद की पातञ्जल महाभाष्य के पस्पशाह्निक के अनुसार एक हजार एक सौ ईकतीस शाखाएँ हैं वैसे ही नारायण मुखोद्‌गीत पाञ्चरात्रतंत्र की एक सौ आठ संहिताएँ हैं । क्योंकि लिखा है— **तन्त्रेऽप्यष्टोत्तरशते पारमेश्वरसंहिता । पौष्करार्थविवृत्यर्था व्याख्यारूपावतारिता ॥** (जयासंहि० पा० १ श्लो० ६) एक सौ आठ संहिता वाले पाञ्चरात्रतंत्र में पौष्करसंहिता के अर्थ विवरण करने के लिये व्याख्या रूप से पारमेश्वर संहिता उत्पन्न हुई है ॥ ६ ॥ एक सौ आठ संहिताओं का नाम 'पाद्मसंहिता' के कण्व सम्बर्त सवाद में स्पष्ट लिखा है-

पाद्मं पद्मोद्भवं मायावैभवं नकूलवरं त्रैलोक्यमोहनं विष्णुतिलकं परमाह्वयम् । (पाद्मसंहि०) **नारदीयं धनदीयं वाशिष्ठं पौष्कराह्वयम् । सनत्कुमारं सनकं सत्याख्यं कण्वसंहिता** (२) **सनन्दाख्यमहीप्रश्नं श्रीप्रश्नं पुरुषोत्तमम् । माहेन्द्रसंहिता पञ्चप्रश्नाख्यं तत्त्वसागरम् ॥** (३) **वागीशं शाश्वतं तेजो द्रविणं श्रीकराह्वयम् । सांवर्तं विष्णुसद्भावं सिद्धान्तां विष्णुपूर्वकम् ॥** (४) **विष्णुतत्त्वं च कौमारं रहस्यं विष्णुपूर्वकम् । विष्णुवैभविकं सौरं सौम्यमीश्वरसंहिता ॥** (५) **अनन्ताख्यं भागवतं जयाख्यं मूलसंहिता । पुष्टितन्त्रं शौनकीयं मारीचं दक्षसहिता ॥** (६) **औपेन्द्रं योगहृदयं हारीतं पारमेश्वरम् । आत्रेयं मन्दरं विष्वक्सेनमौशनसाह्वयम् ॥** (७) **वैहायसं विहगेन्द्रं**

भार्गवं परपुरुषम् । याज्ञवल्क्यं गौतमीयं पौलस्त्यंशाकटाह्वयम् । (८) ज्ञानार्णवं जामदग्न्यं याम्यं नारायणात्मकम् । पाराशर्यञ्च जाबालं कापिलं वामनाह्वयम् ॥ (९) जयोत्तरं बार्हस्पत्यं जैमिनं सात्वताह्वयम् । कात्यायनं वाल्मीकमौपगायनसंहिता ॥ (१०) हैरण्यगर्भमागस्त्यं कार्ष्णयं बौधायनाह्वयम् । भारद्वाजं नारसिंहं गार्ग्यमुत्तरपूर्वकम् ॥ (११) शातातपमाङ्गिरसं काश्यपं पैङ्गलाह्वयम् । त्रैलोक्यविजयं योगवित्ताख्यम् चैव वारुणम् ॥ (१२) कृष्णाचामरमाग्नेयं मार्कण्डेयस्य संग्रहः । महासनत्कुमाराख्यं व्यासाख्यं विष्णु संहिता ॥ (१३) संहिता चाहिर्बुध्नस्य ब्रह्मनाद्यैव संहिता । संवादं शुकरुद्राभ्यामुमामाहेश्वराह्वयम् ॥ (१४) दत्तात्रेयश्च शर्वाख्यं वाराहमिहिराह्वयम् । सङ्कर्षणाख्यं प्रद्युम्नसंहिता कर्कसंहिता। (१५) प्राचेतासाख्यामित्येताः शतमष्टोत्तर स्मृतम्॥ (१६)

पाद्मसंहिता १, पद्मोद्भवसंहिता २, मायावैभवसंहिता ३, नकूलवरसंहिता ४, त्रैलोक्यमोहनसंहिता ५, विष्णुतिलकसंहिता ६, परमासंहिता ७, ॥ १ ॥ नारदीयसंहिता ८, धनदीयसंहिता ९, वाशिष्ठसंहिता १०, पौष्करसंहिता ११, सनत्कुमारसंहिता १२, सनकसंहिता १३, सत्यसंहिता १४, कण्वसंहिता १५, ॥ २ ॥ सनन्दसंहिता १६, महीप्रश्नसंहिता १७, श्रीप्रश्नसंहिता १८, पुरुषोत्तमसंहिता १९, माहेन्द्रसंहिता २०, पञ्चप्रश्नसंहिता २१, तत्त्वसागरसंहिता २२, ॥ ३ ॥ वागीशसंहिता २३ शाश्वतसंहिता २४, तेजसंहिता २५, द्रविणसंहिता २६, श्रीकरसंहिता २७, सांवर्त संहिता २८, विष्णुसद्भावसंहिता २९, सिद्धान्तसंहिता ३०, विष्णुपूर्वकसंहिता ३१ ॥ ४ ॥ और विष्णुतत्त्वसंहिता ३२, कौमारसंहिता ३३, रहस्यसंहिता ३४, विष्णुपूर्वसंहिता ३५, विष्णुवैभविकसंहिता ३६, सौरसंहिता ३७, सौम्यसंहिता ३८, ईश्वर संहिता ३९ ॥ ५ ॥ अनन्तसंहिता ४०, भागवतसंहिता ४१, जयासंहिता ४२, मूल संहिता ४३, पुष्टितन्त्रसंहिता ४४, शौनकीयसंहिता ४५, मारीचसंहिता ४६, दक्ष संहिता ४७ ॥ ६ । औपेन्द्रसंहिता ४८, योगहृदयसंहिता ४९, हारीतसंहिता ५०, पारमेश्वरसंहिता ५१, आत्रेयसंहिता, ५२, मन्दरसंहिता ५३, विष्वक्सेनसंहिता ५४, औशनससंहिता ५५ ॥७॥ वैहायससंहिता ५६, विहगेन्द्रसंहिता ५७, भार्गवसंहिता

संहिता ५८, परपुरुषसंहिता ५६, याज्ञवल्क्यसंहिता ६०, गौतमीयसंहिता ६१, पौलस्त्यसंहिता ६२, शाकटसंहिता ६३, ॥ ८ ॥ श्रीनारायणसंहिता ६४, जामदग्न्यसंहिता ६५, याम्यसंहिता ६६, नारायणात्मकसंहिता ६७ पाराशर्यसंहिता ६८, जाबालसंहिता ६६, कापिलसंहिता ७०, वामनसंहिता ७१, ॥६॥ अयोत्तरसंहिता ७२ बार्हस्पत्यसंहिता ७३, जैमिनिसंहिता ७४, सात्वतसंहिता ७५, कात्यायनसंहिता ७६, वाल्मीकसंहिता ७७, औपगायनसंहिता ७८, ॥ १० ॥ हैरण्यगर्भसंहिता ७६, आगस्त्यसंहिता ८०, काण्वर्यसंहिता ८१, बौधायनसंहिता ८२, भारद्वाजसंहिता ८३ नारसिंहसंहिता ८४, गार्ग्यसंहिता ८५, उत्तरगार्ग्यसंहिता या उत्तरपूर्वसंहिता ८६ ॥११॥ शातातपसंहिता ८७, आङ्गिरससंहिता ८८, काश्यपसंहिता ८६, पैङ्गलसंहिता ६०, त्रैलोक्यविजयसंहिता ६१, योगविज्ञसंहिता ६२ और वारुणसंहिता ६३ ॥१२। कृष्णचामरसंहिता ६४, आग्नेयसंहिता ६५, मार्कण्डेयसंग्रहसंहिता ६६, महासनत्कुमारसंहिता ६७, व्याससंहिता ६८, विष्णुसंहिता ६६, ॥ १३ ॥ और अहिर्बुध्न्यसंहिता १०० तथा हे ब्रह्मण ! शुक और रुद्र के संवादरूप उमा माहेश्वर नामवाली आद्यसंहिता १०१ ॥ १४ ॥ और दत्तात्रेयसंहिता १०२, शर्वसंहिता १०३, वाराहमिहिरसंहिता १०४, सङ्कर्षणसंहिता १०५, प्रद्युम्नसंहिता १०६, कर्कसंहिता १०७ ॥ १५ ॥ और प्राचेतसंहिता १०८ ये एक सौ आठ पाञ्चरात्र की संहिताएँ कही गयी हैं ॥ १६ ॥ पाञ्चरात्र के विषय में जिनको अधिक जानना हो 'आगमप्रामाण्य' को और श्रीभाष्य के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के आठवें 'उत्पत्त्य सम्भवाधिकरण' को अवलोकन करें और देवविद्या यानी देवतोपासन प्रकार की विद्या को मै जानता हूँ तथा ब्रह्मविद्या यानी वेदाङ्ग भूत शिक्षा निरुक्त कल्प छन्द आदिक विद्या को मैं जानता हूँ। शिक्षा के विषय में लिखा है—

यूपवेद्यध्वरार्थन्तु प्रोक्षणश्रपणाय तु। यज्ञदैवतयोगार्थं शिक्ष ज्ञानं प्रकल्पितम् ॥ (महाभा० आश्वमेधिकप० अ० १०८ श्लो० ६४) यूप वेदी और अध्वर के लिए तथा प्रोक्षण और श्रपण के लिये तथा यज्ञ और दैवत के संयोग के लिये शिक्षा को ज्ञान कहा गया है ॥६४॥ वेदों के यथार्थ उच्चारण आदि की रीति बताने वाले याज्ञवल्क्य आदि मुनियों के रचित वेद की घ्राणाङ्ग शिक्षा है। और कल्प के विषय में लिखा है— **यः पात्र पवित्रार्थं द्रव्यसंभारणाय च। सर्वयज्ञविकल्पाय पुराकल्पं प्रकीर्तितम्** ॥ (महाभार० आश्वमे०

अ० १०८ श्लो० ६५) यज्ञपात्रों के पवित्र के लिये और द्रव्य सम्भार के लिये तथा सब यज्ञों के विकल्प के लिये पहले कल्प कहा गया है ॥६५॥ वेद में कहे हुए कर्म का अनुष्ठान करने की रीति को बताने वाले कात्यायन बोधायन आदि ऋषियों के निर्मित वेद का हस्ताङ्ग कल्प है। तथा निरुक्त के विषय में लिखा है—**नामधातुविकल्पानां तत्त्वार्थनियमाय च। सर्ववेदनिरुक्तानां निरुक्तमृषिभिः कृतम् ॥** (महाभा० आश्वमेधिकप० अ० १०८ श्लो० ६६) नाम तथा धातु और विकल्प के तत्त्वार्थ नियम के लिये सब वेद के निरुक्तों के ऋषियों ने निरुक्त को बनाया ॥६६॥ वेद के अप्रसिद्ध पदों के अर्थ का बोधक यास्क मुनि प्रणीत वेद का श्रोताङ्ग निरुक्त है। और छन्द के विषय में लिखा है—**ऋग्यजुः साममंत्राणां श्लोकतत्त्वार्थचिन्तनात्। प्रत्यापत्तिविकल्पानां छान्दोज्ञानं प्रकल्पितम् ॥** (महाभा० आश्वमे० अ० १०८ श्लो० ६२) ऋग्, यजु, सामवेद के मन्त्रों के तथा विकल्प प्रत्यापत्ति के श्लोक तत्त्वार्थ चिन्तन से छन्द का ज्ञान कहा गया है ॥६२॥ **मृत्युभीतैः पुरा देवैरात्मनश्छादनाय च। छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमराः ॥** (बृहत्पाराशर स्मृ० अ० ३६) **छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी कृत्तिरेव च। छन्दोभिरावृत्तं सर्वं विद्यात्सर्वत्र नान्यतः ॥** (४०) पहले मृत्यु के भय से अपने को ढकने के लिये देवताओं ने छन्दों का स्मरण किया, उसके बाद सब देवता छन्द से आच्छादित हुए ॥ ३६ ॥ छान्दन करने से छन्द कहा जाता है। कृत्ति वस्त्र है। छन्द से ही सब देवता आच्छादित हैं दूसरे से नहीं ॥४०॥ वेद तथा लोक में गायत्री अनुष्टुप् आदि छन्दों का बोधक पिङ्गल मुनि विरचित वेद का पादाङ्ग छन्द है। और भूतविद्या यानी वशीकरण विद्या को मैं जानता हूँ अथवा भूतविद्या के विषय में लिखा है- **भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाच नागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म बलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम् ॥** (सुश्रुत सूत्रस्थान० ११) भूतविद्या नाम से प्रसिद्ध वह है कि देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि ग्रहों करके व्याप्तचित्त वाले पुरुषों की ग्रह-शान्ति करने के लिये शान्ति-कर्म बलिप्रदान आदिक है ॥११॥ तथा क्षत्रियों की विद्या राजनीति और धनुर्विद्या को मैं जानता हूँ। और अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धी विद्या ज्योतिष को मैं जानता हूँ। ज्योतिष के विषय में

लिखा है— **तिथिनक्षत्रयोगानां मुहूर्तकरणात्मकम् । कालस्य वेदनार्थन्तु ज्योतिर्ज्ञानं पुरानघ ॥** (महाभारत आश्वमेधिकप० अ० १०८ श्लो० ६१) हे अनघ तिथि, नक्षत्र, योग, मुहूर्तकरण और काल के ज्ञान के लिये ज्योतिष का ज्ञान पहले कहा गया है ॥६१॥ ग्रह नक्षत्रों की स्थिति गति और वैदिक कर्म के अनुष्ठान का काल आदि बताने वाला आदित्य गर्ग, भृगु आदि का कहा हुआ वेद का नेत्राङ्ग ज्योतिष है। और सर्प विद्या यानी गारुड़ मन्त्र विद्या को मैं जानता हूँ तथा देव विद्या यानी गान्धर्व विद्या—नृत्य सङ्गीत वाद्य आदि को मैं जानता हूँ और जनविद्या यानी आयुर्वेद को मैं जानता हूँ। हे पूज्यपाद भगवन् लीला विभूति की समस्त विद्या को मैं जानता हूँ। प्रकृत श्रुति में सर्वविद्यास्थान प्रतिपादन किया गया है। विद्यासागर भगवद्रामानुजाचार्य ने—**विप्रतिषेधाच्च** ॥ (शा० मी० २।२।४२) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक के पहले खण्ड की दूसरी श्रुति के "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥२॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति । तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (सः) वह वेदादि को जाननेवाला (अहम्) मैं (मंत्रवित्) शब्द ब्रह्मनिष्ठ केवल मन्त्रवेत्ता (एव) निश्चय करके (अस्मि) हूँ (आत्मवित्) परब्रह्म को जाननेवाला (न) नहीं हूँ (हि) क्योंकि (भगवद्दृशेभ्यः) पूज्य आपके समान महान् तत्त्ववेत्ताओं से (एव) निश्चय करके (मे) मैं (श्रुतम्) सुना हूँ कि (आत्मवित्) परब्रह्म को जानने वाला (शोकम्) शोक संसार को (तरति) तर जाता है (इति) परन्तु (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (सः) वह परब्रह्म को नहीं जानने वाला (अहम्) मैं (शोचामि) शोक कर रहा हूँ अर्थात् शोकार्णव में पड़ा हूँ अब (भगवान्) पूज्यपाद आप (तम्) उस शोकार्णव में गिरे हुए (मा) मुझको (शोकस्य) शोकसागर के (पारम्) पार (तारयतु)

उतार दीजिये (इति) यह दास की प्रार्थना है। इस बात को सुनकर (ह) प्रसिद्ध योगिराज सनत्कुमार महर्षि ने (तम्) उस देवर्षि नारद से (उवाच) कहा कि (वै) निश्चय करके (यत्) जो (किं+च) कुछ भी (एतत्) यह (अध्यगीष्ठाः) तुमने अध्ययन किया है (नाम) नाम (एव) ही (एतत्) यह है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—देवर्षि परम वैष्णव नारद ने अपने गुरुदेव योगिवर्य सनत्कुमार भगवान् से कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् सम्पूर्ण विद्या के प्रस्थान को जानता हुआ भी मैं केवल मन्त्रवेत्ता यानी शब्दब्रह्मनिष्ठ ही हूँ परब्रह्म नारायण को जानने वाला नहीं हूँ। यहाँ आत्मा शब्द साक्षात् मुख्य रूप से परब्रह्म का ही वाचक है। क्योंकि लिखा है— **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** ॥ [ऐतरेयोप० अ० १ खं० १ श्रु० १] यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जङ्गम स्वरूप जगत् सृष्टि के पहले एकमात्र प्रसिद्ध हेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था ॥१॥ इस श्रुति में स्पष्ट परब्रह्म नारायण वाचक आत्मा पद का प्रयोग हुआ है। क्योंकि श्रीमान् के सदृश योगीश्वरों से मैंने सुना है कि—परब्रह्मवेत्ता जन ही शोक सागर को पार करता है। परन्तु हे पूज्य देशिकेन्द्र शब्दब्रह्मनिष्ठ होता हुआ भी मैं परब्रह्म के ज्ञान का अभाव होने से शोक सागर में गिरा हूँ। इससे दया करके शोकार्णव में पड़े हुए आत्मज्ञान हीन मुझको आप शोक सागर से पार कर दीजिये। यह मेरी प्रार्थना है। इस आर्त वचन को सुनकर विश्वविख्यात योगीन्द्र सनत्कुमार भगवान् ने उस नारद देवर्षि से कहा कि हे नारद ! जो कुछ ऋग्वेदादि यह तुमने जाना है यह सब कुछ नाम है और नाम ही आत्मा है। शोकार्णव-पारकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ [शा० मी० १।३।७] के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिद्' के सप्तमप्रपाठक के पहले खण्ड की तीसरी श्रुति "श्रुतं ह्येव मे भगवद् दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्" इस वाक्य को उद्धृत किया है। और **विप्रतिषेधाच्च** ॥ [शा० मी० २।२।४२] के श्रीभाष्य में 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि' इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥३॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ

इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशि दैवो निधि वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्याः। नामैवैतत् नामोपास्स्वेति ॥४॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ऋग्वेदः) ऋग्वेद (यजुर्वेदः) यजुर्वेद (सामवेदः) सामवेद और (चतुर्थः) चौथा (आथर्वणः) अथर्ववेद (नाम) नाम है और (पञ्चमः) पाँचवाँ वेद (इतिहासपुराणः) श्रीरामायण तथा महाभारतादि इतिहास और विष्णु, पद्म, श्रीमद्भागवतादि पुराण तथा (वेदानाम्) वेदों के यानी प्रकृति प्रत्यय के विभागों के (वेदः) जनाने वाला व्याकरण (पित्र्यः) श्राद्धकल्प (राशिः) गणित (दैवः) उत्पातज्ञान (निधिः) निधि दर्शन के उपाय प्रतिपादकशास्त्र (वाकोवाक्यम्) तर्कशास्त्र अथवा उक्ति प्रत्युक्तिरूप ग्रन्थ (एकायनम्) एकायनशाखा-पञ्चरात्र आगम और (देवविद्या) देवतोपासन प्रकार की विद्या (ब्रह्मविद्या) वेद ङ्गभूत शिक्षा निरुक्त कल्प छन्द आदिक विद्या (भूतविद्या) वशीकरणविद्या (क्षत्रविद्या) क्षत्रियों की विद्या नीतिशास्त्र और धनुर्विद्या (नक्षत्रविद्या) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धी ज्योतिष और (सर्पदेवजनविद्याः) सर्पविद्या यानी गारुड़मन्त्र विद्या तथा देवविद्या यानी नृत्य वाद्य संगीत आदि गन्धर्वशास्त्र और जनविद्या यानी आयुर्वेद (एतत्) यह सब (नाम) नाम (एव) ही है। हे नारद (नाम) नाम ब्रह्म है (इति) इस प्रकार के (उपास्स्व) तुम उपासना करो ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हे नारद! ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद नाम ही हैं। और श्रीरामायण महाभारत आदिक इतिहास तथा विष्णु, पद्म, श्रीमद्भागवत आदि पुराण पाँचवाँ वेद नाम ही है। पुराण के विषय में लिखा है— **वंशाद्यनुकीर्तनं पुराणम्** ॥ [प्रदीप०] वंशादि के अनुकीर्तन को पुराण कहते हैं॥ वेदों का वेद यानी व्याकरण और मरे हुए पितरों के श्राद्धकल्प तथा राशि यानी गणित विद्या और दैव यानी उत्पात विद्या तथा निधिदर्शनोपाय प्रतिपादक महाकालादि निधिविद्या और

वाकोवाक्य यानी तर्कशास्त्र अथवा उक्ति प्रत्युक्तिरूप ग्रन्थ तथा एकायन यानी पञ्चरात्र आगम नाम ही है। पञ्चरात्र के विषय में लिखा है— **रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्। तेनेदं पञ्चरात्रं च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥** (नारद पाञ्चरा० रा० १ अ० १) रात्र का अर्थ है ज्ञान और वह ज्ञान पाँच प्रकार के शास्त्र में कहा गया है। इस कारण से मनीषी लोग इसको पञ्चरात्र कहते हैं ॥१॥ महाभारत में— **गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। य इच्छेत्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ॥** (महाभा० शान्तिप० मोक्ष० अ० ३३५ श्लो० १) ब्रह्मचारी अथवा गृहस्थ या वानप्रस्थी अथवा संन्यासी जो सिद्धि को प्राप्त करने की इच्छा करे तो वह पुरुष किस देवता की पूजा करे ॥ १ ॥ यहाँ से महान् प्रबन्ध द्वारा पञ्चरात्रशास्त्र की प्रक्रिया को कहकर ॥ **इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात्। आविध्य मति मन्थानं दध्नो घृतमिवोद्धृतम्।** (महाभार० शान्तिप० मोक्ष० अ० ३४४ श्लो० ११) निश्चय करके एक लाख श्लोक वाले बड़े विस्तृत महाभारत इतिहास से मति रूपी मथनी से विलोडन करके दधि से घृत के समान यह पञ्चरात्रतन्त्र निकाला गया है ॥ ११ ॥ **इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम्। ऋग्यजुस्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा। भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम् ॥** (महाभा० शान्तिप० मोक्ष० अ० ३३६ श्लो० ३२) यह पञ्चरात्रतन्त्र कल्याण कारक है। यह तन्त्र एकायन वेद है और यह पञ्चरात्र सबसे श्रेष्ठ हित है और यह तन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद से युक्त है। निश्चय करके यही पञ्चरात्रशास्त्र अन्तमें प्रमाण होगा ॥३२॥ **ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः। अर्चनीयश्च सेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः ॥** (महाभारत भीष्मप० अ० ६६ श्लो० ३९) चक्रांकित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से लक्ष्मीनाथ अर्चना करने योग्य तथा सेवा करने योग्य और पूजा करने योग्य हैं ॥३९॥ **अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते। यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥** (श्रीमद्भा० स्क० १० पूर्वार्ध० अ० ४० श्लो० ७) अन्य नारद, शाण्डिल्य, भारद्वाज आदिक पंचरात्र को मानने वाले पंचसंस्कार से संस्कृत आत्मा वाले

भगवन्मय होकर विहित विधि से निश्चय करके बहुत मूर्तिवाले या एक मूर्तिवाले परब्रह्म नारायण आपको पूजते हैं ।।७।। इन प्रमाणों से अतिमान्य सर्वतोग्राह्य नारायण मुखोद्गीत पंचरात्र तन्त्र है और देव विद्या यानी देवतोपासन प्रकार की विद्या तथा ब्रह्मविद्या यानी वेदाङ्गभूत शिक्षा निरुक्त कल्प छन्द आदिक विद्या और भूतविद्या यानी पशु पक्षी सरीसृप आदिक प्राणियों के वशीकरण की विद्या तथा क्षत्रविद्या यानी क्षत्रियों की विद्या राजनीति शास्त्र और धनुर्विद्या तथा नक्षत्र विद्या यानी अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धी विद्या ज्योतिष और सर्पदेवजन विद्या यानी सर्पविद्या देवविद्या जनविद्या अर्थात् सर्पविद्या माने गारुडमन्त्रविद्या और देवविद्या माने नृत्यवाद्य सङ्गीत आदि गान्धर्व विद्या तथा जनविद्या माने आयुर्विद्या ये सब नाम ही हैं, क्योंकि नाम रूपमय प्रपंच है । हे नारद ! नाम ब्रह्म है इस प्रकार की तुम उपासना करो ।।४।।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति । यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते । अस्तिभगवो नाम्नो भूय इति । नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।५।। ।।५।।

।। इति सप्तमप्रपाठके प्रथमखण्डः ।।

अन्वयार्थ (सः) वह (यः) जो उपासक (नाम) नाम (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसी (उपास्ते) उपासना करता है (नाम्नः) नाम की (गतम्) गति (यावत्) जहाँ तक है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस नाम ब्रह्मोपासक पुरुष का (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है । किसको होता है, वह पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (नाम) नाम (ब्रह्म) परब्रह्म है (इति) ऐसी (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (नाम्नः) नाम से (भूयः) बड़ा (अस्ति) कुछ पदार्थ है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (नाम्नः) नाम से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (तत्) उस बड़ी वस्तु को (भगवान्) पूज्यपाद आप (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके कहें (इति) नारद ने इस प्रकार की प्रार्थना की ।। ५ ।।

विशेषार्थ—अब नाम ब्रह्मोपासक पुरुष का फल कहा जाता है कि—वह जो नामोपासक नाम ब्रह्म है ऐसा मानकर उपासना करता है तो नाम की जहाँ तक गति होती है वहाँ तक उस नाम ब्रह्मोपासक की स्वेच्छानुसार गति हो जाती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से वर्णन किया है कि जो उपासक नाम परब्रह्म है ऐसा मानकर उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर देवर्षि नारद पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन्! क्या नाम से भी अधिक श्रेष्ठ कुछ है ? इस बात को सुनकर योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि हाँ, नाम से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु अवश्य है। इस बात को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् नाम से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा निर्हेतुक कृपा करके मुझको दीजिये। अकारणकरुणावरुणालय भगवद्रामानुजाचार्य ने— **तत्तु समन्वयात् ॥** (शा० मी० १।१।४) **अत एव च स ब्रह्म ॥** (१।२।१६) **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥** (१।३।७) **न प्रतीके नहि सः ॥** (४।१।४) **विशेषञ्च दर्शयति ॥** (शा० मी० ४।३।१५) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक के पहले खण्ड की पाँचवीं श्रुति के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का पहला खण्ड समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथ द्वितीयखण्डः ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी। वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति। यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं

चाहृदयज्ञं च । यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यत् । न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ— (वाक्) वाणी (वाव) प्रसिद्ध है कि (नाम्नः) नाम से (भूयसी) बड़ी है क्योंकि (वाग्) वाणी (वै) निश्चय करके (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को (विज्ञापयति) बतलाती है (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद को (सामवेदम्) सामवेद को और (चतुर्थम्) चौथे आथर्वणम्) अथर्ववेद को तथा (पंचमम्) पाँचवाँ वेद (इतिहासपुणम्) श्रीरामायण तथा महाभारतादि इतिहास को और विष्णु, पद्म, श्रीमद्भागवतादि पुराण को (वेदानाम्) वेदों के यानी प्रकृति प्रत्यय के विभागों को (वेदम्) ज्ञान कराने वाले व्याकरण को (पित्र्यम्) श्राद्धकल्प को (राशिम्) गणित को (दैवम्) उत्पातज्ञान को (निधिम्) निधि दर्शन के उपाय प्रतिपादक शास्त्र को (वाकोवाक्यम्) तर्कशास्त्र को अथवा उक्ति-प्रत्युक्ति रूप ग्रन्थ को (एकायनम्) एकायन शाखा को (देवविद्याम्) देवतोपासन प्रकार की विद्या को (ब्रह्मविद्याम्) वेदाङ्गभूत शिक्षा निरुक्त कल्प छन्द आदिक विद्या को (भूतविद्याम्) वशीकरण विद्या को (क्षत्रविद्याम्) क्षत्रियों की विद्या यानी नीति शास्त्र को और धनुर्विद्या को (नक्षत्रविद्याम्) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धी ज्योतिष को और (सर्पदेवजनविद्याम्) सर्प विद्या को यानी गारुड़मन्त्रविद्या को तथा देवविद्या को यानी नृत्य वाद्य सङ्गीत आदि गान्धर्वशास्त्र को और जनविद्या को यानी आयुर्वेद को (च) और (दिवम्) द्युलोक को (च) तथा (पृथिवीम्) पृथ्वी को (च) और (वायुम्) वायु को (च) तथा (आकाशम्) आकाश को (च) और (आपः) जल को (च) तथा (तेजः) तेज को (च) और (देवान्) ब्रह्मा आदिक समस्त देवताओं को (च) तथा (मनुष्यान्) सब मनुष्यों को (च) और (पशून्) गौ भैंस, घोड़ा आदिक पशुओं को (च) तथा (वयांसि) पक्षियों को और (तृणवनस्पतीन्) घास तथा वनस्पतियों को (श्वापदानि) हिंस्र जन्तुओं को और (आकीटपतङ्गपिपीलिकम्) कीट, पतङ्ग, पिपीलिका पर्यन्त सब क्षुद्रजन्तु को (च) और (धर्मम्) धर्म को (च) तथा (अधर्मम्) अधर्म को (च) और (सत्यम्) सत्य को (च) तथा

(असत्यम्) झूठ को (च) और (साधु) अच्छे को (च) तथा (असाधु) बुरे को (च) और (हृदयज्ञम्) हृदय के अप्रिय को, इन सब को वाणी ही बोधित करती है (यत्) यदि (वै) निश्चय करके (वाक्) वाणी (न) नहीं (अभविष्यत्) होती तो वेदाध्ययनादि के अभाव होने से (न) न (धर्मः) धर्म और (न) न (अधर्मः) अधर्म (व्यज्ञापयिष्यत्) विज्ञात होता। इसी प्रकार (न) न (सत्यम्) सत्य और (न) न (अनृतम्) असत्य तथा (न) न (साधु) अच्छा और (न) न (असाधु) बुरा और (न) न (हृदयज्ञः) हृदय के प्रिय तथा (न) न (अहृदयज्ञः) हृदय के अप्रिय ज्ञात हो सकता है (वाक्) वाणी (एव) ही (एतत्) इन (सर्वम्) सबों को (विज्ञापयति) विस्तार रूप से विज्ञापित करती है (इति) इस कारण से तुम (वाचम्) वाणी को ब्रह्म मानकर [उपास्स्व] उपासना करो ऐसा योगीन्द्र सनत्कुमार भगवान् ने कहा ॥१॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि हे नारद! प्रसिद्ध है कि—वाणी नाम से बढ़कर है। क्योंकि वाणी ही ऋग्वेद को विज्ञापित करती है। इसी प्रकार यजुर्वेद को तथा सामवेद को और चौथे अथर्ववेद को तथा पंचमवेद श्रीरामायण तथा महाभारतादि इतिहास को और विष्णु, पद्म, श्रीमद्भागवतादिक पुराण को भी वाणी ही विज्ञापित करती है। तथा वेदों के वेद यानी व्याकरण को और मरे हुए पितरों के श्राद्धकल्प को तथा राशि यानी गणितविद्या को और दैव यानी उत्पात विद्या को तथा निधि दर्शनोपाय प्रतिपादक महाकालादि निधिविद्या को और वाकोवाक्य यानी तर्क शास्त्र को तथा उक्ति प्रत्युक्तिरूप ग्रन्थ को तथा एकायनवेद पांचरात्र को वाणी ही विज्ञापित करती है। पांचरात्र के विषय में लिखा है— **सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदारण्ये च पञ्चकम्। प्रोच्यते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात् ॥** (शाण्डिल्यसंहि० अं० १ अ० ४ श्लो० ७७) **पञ्चनामीप्सितोयोऽर्थः स यत्र समवाप्यते। परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मनः ॥** (७८) **प्रमाणपञ्चकैः पूर्णं पञ्चकार्थोपदेशनम्। प्रपञ्चातीतसद्धर्मं पञ्चरात्रमुदाहृतम् ॥** (७९) हे प्रिये सांख्यशास्त्र १, योगशास्त्र २, शैवतंत्र ३, वेद ४ और आरण्यक ५ ये पाँच आत्मानन्द समर्पण करने से रात्रि कहे जाते हैं ॥ ७७ ॥ पूर्वोक्त सांख्यादि पाँचों का जो ईप्सित अर्थ है वह जहाँ पर भलीभाँति प्राप्त हो

जाता है। इस एकायन वेद से परमात्मा का परमानन्द प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥ पाँचों प्रमाणों से पूर्ण और अर्थपंचक का उपदेश देनेवाले प्रपंच से रहित सच्चे मोक्ष धर्म को पंचरात्र कहते हैं ॥७६॥ और देव विद्या को यानी देवतोपासन प्रकार की विद्या को तथा ब्रह्म विद्या को यानी वेदाङ्गभूत शिक्षा निरूक्त कल्प छन्द आदिक विद्या को और भूत विद्या को यानी मनुष्य पशु पक्षी सर्पसृप आदिक प्राणियों के वशीकरण विद्या को तथा क्षत्र विद्या को यानी क्षत्रियों की विद्या राजनीतिशास्त्र को और धनुर्विद्या को और नक्षत्र विद्या को यानी अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धिनी विद्या ज्योतिष को तथा सर्पदेवजन विद्या को अर्थात् सर्प विद्या का अर्थ गारुड़ विद्या को और देव विद्या को यानी नृत्य, वाद्य, संगीत आदि गान्धर्व विद्या को तथा जनविद्या को यानी आयुर्वेद को और द्यु लोक को तथा पृथ्वी और वायु को तथा आकाश को जल और तेज को तथा देवताओं तथा मनुष्यों को और गौ, भैंस, हाथी घोड़ा आदि पशुओं को तथा तोता मैना आदि पक्षियों को और तृणवनस्पतियों को भी वाणी ही विज्ञापित करती है। वनस्पति के विषय में लिखा है- **अपुष्पाः फलवन्तोये ते वनस्पतयः स्मृताः ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ४७) जिसमें बिना फूल के फल हो जाय उस गूलर आदिक पेड़ को वनस्पति कहते हैं ॥४७॥ और हिंस्र जन्तुओं को तथा कीट पतङ्ग पिपीलिकापर्यन्त सब क्षुद्र जन्तुओं को धर्म को और अधर्म को तथा सत्य को और असत्य का तथा अच्छा का और बुरा को तथा हृदय के प्रिय को और हृदय के अप्रिय को वाणी ही विज्ञापित करती है। यदि वाणी न होती तो न धर्म का और न अधर्म का ही ज्ञान होता तथा न सत्य न असत्य न मङ्गल न अमङ्गल न मनोज्ञ न अमनोज्ञ का ही ज्ञान हो सकता है। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है। इस कारण से नारद तुम वाक् ब्रह्म की उपासना करो। सत्य के विषय में लिखा है- **सत्यं वद ॥** (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ११ श्रु० १) सत्य बोलो ॥ १ ॥

सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन। सतां हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ॥ (तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६२) सत्य सबसे श्रेष्ठ है, सत्य सबसे पर है, सत्य से स्वर्गलोक से कभी नहीं गिरता है। सज्जनों के लिये सत्य ही प्रतिष्ठा है। इससे सबलोग सत्य में रमण करते हैं॥६२॥

चक्षुरादीन्द्रियै दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथाभवेत् ॥ (जाबालदर्शनोप० खं० १ श्रु० ६) हे मुनीश्वर नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा जो जिस रूप में देखा सुना सूँघा और समझा हुआ विषय है उसको उसी रूप वाणी द्वारा प्रकट करना सत्य है। हे विप्र इसके सिवा सत्य का और कोई प्रकार नहीं है ॥ ६ ॥ धर्म के विषय में लिखा है— **धर्मं चर।** (तैत्ति० उ० व० १ अनुवा० ११ श्रु० १) धर्म को तुम करो ॥१॥ **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति** ॥ (तैत्ति० आरण्य० प्र० १० अनुवा० ६३) धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा है सब जन धर्मिष्ठ के समीप में जाते हैं। लोक में सबलोग धर्म से पाप को दूर करते हैं। धर्म में सब प्रतिष्ठित हैं। इससे धर्म को सबलोग सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६३ ॥ **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** ॥ (पूर्वमीमां० अ० १ पा० १ सू० २) प्रेरणा लक्षण अर्थ धर्म है ॥२॥ **यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिस्सः धर्मः** ॥ (वैशेषि० अ० १ आह्नि० १ सू० २) जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हो वह धर्म है ॥२। **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्** ॥ (नारदपरिव्राजकोप० उपदेश ३ श्रु० २४ ॥ मनु० अध्या० ६ श्लो० ९२) धीरता १, क्षमा २, मन रोकना ३, अन्याय से दूसरे का धन न लेना ४, पवित्रता ५, इन्द्रियों को रोकना ६, बुद्धि ७, आत्मज्ञान ८, सच बोलना ९ और क्रोध नहीं करना १० ये दस धर्म के लक्षण हैं ॥ २४ ॥ ॥ ९२ ॥ सर्वविद्याप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने— **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक के दूसरे खण्ड की पहली श्रुति के "वाग्वाव नाम्नो भूयसी" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति। यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति। वाचो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे

भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (यः) जो कोई उपासक (वाचम्) वाणी को (ब्रह्म) परब्रह्म है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (वाचः) वाणी की (गतम्) गति (यावत्) जहाँ तक है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस वाग् ब्रह्मोपासक पुरुष का (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है, किसको होता है सो पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता हैं कि (यः) जो उपासक (वाचम्) वाणी को (ब्रह्म) परब्रह्म है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (वाचः) वाणी से (भूयः) बड़ी (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (वाचः) वाणी से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (तत्) उस बड़ी वस्तु को (भगवान्) पूज्यपाद आप (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके कहें (इति) इस प्रकार से नारद ने प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब वाग्ब्रह्मोपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक वाणी ब्रह्म है ऐसा मानकर वाणी की उपासना करता है तो वाणी की जहाँ तक गति होती है वहाँ तक उस वाग्ब्रह्मोपासक की गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक वाणी परब्रह्म है ऐसा मानकर वाणी की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर परम वैष्णव नारद पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन् क्या वाणी से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है ? इस बात को सुनकर योगीश्वर सनत्कुमार ने कहा कि—हाँ, वाणी से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु अवश्य है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् वाणी से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा निर्हेतुक कृपा करके मुझे आप दीजिये। विद्यावाचस्पति भगद्रामानुजाचार्यने- **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥** (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक के दूसरे खण्ड की दूसरी श्रुति के "अस्ति भगवो वाचो भूयः" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ तृतीयखण्डः ॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वाऽऽमलके द्वे वा कोले द्वौवाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनु भवति । स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथा-धीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छेये-त्यथेच्छत इमं च लोकमुंचेच्छेयेत्यथेच्छते । मनो ह्यात्मा मनोहिलोको मनो हि ब्रह्म। मन उपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(मनः) संकल्पविकल्पात्मकमन (वाव) प्रसिद्ध है कि (वाचः) वाणी से (भूयः) बडा उत्कृष्ट है (यथा) जैसे (वै) निश्चय करके (मुष्टिः) मुट्ठी (द्वे) दो (आमलके) आँवले के फलों को (वा) अथवा (द्वे) दो (कोले) बेर के फलों को (वा) अथवा (द्वौ) दो (वा) ही (अक्षौ) बहेड़े के फलों को (अनुभवति) अनु-भव करता है (सः) वह पुरुष (यदा) जब (मनसा) मन से (मंत्रान्) मंत्रों को (अधीयीय) उच्चारण करूँ (इति) ऐसा (मनस्यति) मनन करता है तब (अथ) तत्पश्चात् (अधीते) पढ़ता है और (कर्मणि) कर्मों को (कुर्वीय) करूँ (इति) ऐसा जब विचार करता है (अथ) तब (कुरुते) काम करता है (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (च) तथा (पशून्) गौ, भैंस, हाथी घोड़ा आदि पशुओं को (इच्छेय) इच्छा करूँ (इति) ऐसा जब विचार करता है (अथ) तदनन्तर (इच्छते) इच्छा करता है (च) और (इमम्) इस (लोकम्) लोक को (च) तथा (अमुम) परलोक को (इच्छेय) इच्छा करूँ (इति) ऐसा जब मनन करता है (अथ) तत्पश्चात् [इच्छते] इच्छा करता है अर्थात् मनन लक्षण मनोव्यापाराधीन वागादि की प्रवृत्ति होने से मन वाणी से श्रेष्ठ है [हि] निश्चय करके [मनः] मन ही [आत्मा] आत्मा है क्योंकि मन के रहने पर ही आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है [मनः] मन [हि] ही [लोकः] लोक है क्योंकि मन की स्थिति से हीं लोक होता है और तत्प्राप्त्युपाय का अनुष्ठान भी होता है और [मनः] संकल्प विकल्पात्मक मन [एव] ही [ब्रह्म] ब्रह्म है क्योंकि वागादि इन्द्रियों की अपेक्षा मन बृहत् है [इति] इस कारण से हे

नारद तुम [मनः] मन ब्रह्म की [उपास्स्व] उपासना करो ॥१॥

विशेषार्थ—योगीश्वर सनत्कुमार भगवान् कहते हैं कि—हे नारद ! मन ही वाणी से श्रेष्ठ है । क्योंकि लिखा है— **इन्द्रियेभ्यः परंमनः ॥** (गी० अ० ३ श्लो० ४२) इन्द्रियों से प्रबल मन है ॥४२॥ मन की श्रेष्ठता को अनेक दृष्टान्तों से दिखलाते हैं । जिस प्रकार दो आँवले या दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्ठी में आ जाते हैं । उसी प्रकार वाक् और नाम का मन में अन्तर्भाव हो जाता है । पुनः आगे वही विषय उपपादान किया जाता है कि—यह पुरुष जिस समय मन में विचार करता है कि—"मैं मंत्रों का पाठ करूँ" तभी पाठ करता है और जिस समय सोचता है कि "मैं काम करूँ" तभी काम करता है और जब विचारता है कि—"पुत्र तथा पशुओं की इच्छा करूँ" तभी उनकी इच्छा करता है । तथा जब ऐसा संकल्प करता है –"मैं इस लोक और परलोक की कामना करूँ" तभी उनकी कामना करता है । मन ही आत्मा हैं, क्योंकि मन के रहने पर ही आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है । मन ही लोक है, क्योंकि मन की स्थिति से ही लोक होता है और तत्प्राप्त्युपाय का अनुष्ठान भी होता है और वागादि इन्द्रियों की अपेक्षा बृहत् होने से मन ही ब्रह्म है । इस कारण से तुम मन ब्रह्म की उपासना करो । मंत्र के विषय में लिखा है— **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२) प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ॥३२॥ कर्म के विषय में लिखा है— **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥** (गी० अ० ८ श्लो० ३) मनुष्यादि भूतों की सत्ता को उत्पन्न करने वाले विसर्ग का नाम कर्म है ॥३॥ **नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।** (गी० अ० १८ श्लो० २३) जो शास्त्र नियत कर्म कर्तापन के सम्बन्ध से रहित बिना राग द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कहलाता है ॥२३॥ **यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः । क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥** (गी० अ० १८ श्लो० २४) परन्तु जो कर्म फलाकाँक्षी पुरुष के द्वारा अहङ्कार के साथ और बहुत प्रयास के किया जाता है, वह राजस कहलाता है ॥ २४ ॥ **अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म**

यत्तत्तामसमुच्यते ।। (गी० अ० १८ श्लो० २५) अनुबन्ध क्षय हिंसा और पौरुष को न देखकर जो कर्म मोह से किया जाता है वह तामस कहलाता है ।।२५।। पुत्र के विषय में लिखा है— **पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।।** (महाभार० आदिप० १ अ० ७४ श्लो० ३९) पुम् नाम नरक का है उस नरक से सुत पिता की रक्षा करता है इस कारण से स्वयं स्वयंभू ने पुत्र ऐसा कहा है ।।३९।।श्रीशमानसमराल भगवद्रामानुजाचार्यने **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्।।** (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक के तीसरे खण्ड की पहली श्रुति के "मनो वाव वाचो भूयः" इस वाक्य को उद्धृत किया है ।। १ ।।

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य कामचारो भवति । यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो-मनसो भूय इति । मनसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।२।।

।। इति सप्तमप्रपाठके तृतीयखण्डः ।।

अन्वयार्थ - (सः) वह (यः) जो कोई उपासक (मनः) मन को (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (मनसः) मन की (गतम्) गति (यावत्) जहाँ तक है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस मनो ब्रह्मोपासक के (यथाकाम-चारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। किसको होता है, वह पुनः उपसं-हार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (मनः) मन को (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (मनसः) मन से (भूयः) बड़ी श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (मनसः) मन से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) देवर्षि नारद ने इस प्रकार प्रार्थना की ।। २ ।।

विशेषार्थ—अब मनो ब्रह्मोपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई

उपासक मन ब्रह्म है ऐसा मानकर उपासना करता है तो मन की गति जहाँ तक जाती है वहाँ तक उस मनोब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया है कि- जो कोई उपासक मन ब्रह्म है ऐसा मानकर मन की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर महाभागवत नारद जी पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन्! क्या मन से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है? इस बात को सुनकर योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि – हाँ, मन से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुन कर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि – हे पूज्यपाद भगवन् मन से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा निर्हेतुक कृपा करके मुझको दीजिये। चञ्चलमनोनिग्रहकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अत एव च स ब्रह्म ॥** (शा० मी० १।२।१६)के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक के तीसरे खण्ड की दूसरी श्रुति के 'मनो ब्रह्म' इस खण्ड को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्'के सप्तमप्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ चतुर्थखण्डः ॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

अन्वयार्थ—(सङ्कल्प) सङ्कल्प (वाव) निश्चय करके (मनसः) मन से (भूयान्) बड़ा है (यदा) जब (वै) निश्चय करके (सङ्कल्पयते) यह करने योग्य है ऐसा मनुष्य सङ्कल्प करता है (अथ) तदनन्तर तब यह करने योग्य है ऐसा (मनस्यति) वह मानता है (अथ) मनन करने के बाद (वाचम्) वागिन्द्रिय को (ईरयति) शब्दोच्चारण विषय में प्रेरणा करता है और (उ) निश्चय करके (ताम्) उस वाणी को (नाम्नि) नाम में (ईरयति) प्रेरित करता है तब (मन्त्राः) मन्त्र (नाम्नि) नाम में (एकम्) एक (भवन्ति) होते हैं और (कर्माणि) वेदविहित कर्म (मन्त्रेषु) मन्त्रों में एक होते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—निश्चय करके सङ्कल्प, मन से बढ़कर श्रेष्ठ है। जब यह करने योग्य है ऐसा मनुष्य सङ्कल्प करता है तभी वह यह करने योग्य है ऐसा मानता

है। सङ्कल्प अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष है। अर्थात् कर्त्तव्य अकर्तव्य विषयों को पृथक् पृथक् करके समर्थन करने का नाम सङ्कल्प है। विभाग पूर्वक जब विषय विचारित होते हैं तब ही बुद्धिमानों को करने की इच्छा होती है। मनन करने के बाद वाणी को प्रेरित करता है और उस वाणी को शब्दोच्चारण के विषय में प्रेरित करता है। तब नाम में सब मन्त्र एक हो जाते हैं। और मन्त्रों में वेद विहित कर्म एक हो जाते हैं। मन्त्र के विषय में लिखा है-**तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥** [पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२] प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मन्त्र है॥३२॥ मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि— **मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि ॥** (मुण्डको० मुं० १ खं० २ श्रु० १) अतीन्द्रिय अर्थों के साक्षात्कार करने में समर्थ बुद्धिमान् ऋषियों ने जिन कर्मों को वेद के मन्त्रों में देखा था। वे ही कर्म त्रेता में बहुत प्रकार के विस्तृत हैं ॥१॥ इस कारण से मन्त्र में सब कर्म एक होते हैं ऐसा कहा गया है ॥१॥

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि। समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समसंकल्पन्तापश्च तेजश्च। तेषां संक्लृप्त्यै वर्षं संकल्पते। वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नं संकल्पते। अन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते। प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः सङ्कल्पन्ते। मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि सङ्कल्पन्ते। कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः सङ्कल्पते। लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं सङ्कल्पते। स एष सङ्कल्पः। सङ्कल्पमुपास्स्वेति ॥२॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तानि) वे (एतानि) ये नाम आदिक (संकल्पैकायनानि) संकल्परूप एक अयन यानी मार्ग वाले हैं और (संकल्पात्मकानि) संकल्परूप कर्ता वाले हैं अथवा संकल्प व्याप्त हैं और (संकल्पे)

संकल्प में (प्रतिष्ठितानि) प्रतिष्ठित हैं अर्थात् संकल्प के अधीन सत्ता वाले हैं (द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा पृथ्वी (समक्लृपताम्) निश्चल हम हैं ऐसा संकल्प किये हैं (वायुः) वायु (च) और (आकाशम्) आकाश ने (च) भी (समकल्पेताम्) अपने अपने रूप से हम सब अपने अपने कार्य को करते हैं ऐसा संकल्प किया है (च) और (आपः) जल (च) तथा (तेजः) अग्नि को (समसङ्कल्पन्त) अपने अपने रूप से अपने अपने कार्य का करते हैं ऐसा भलीभाँति सङ्कल्प किया है (तेषाम्) उन जल तेज आदिकों की (संक्लृप्त्यै) भलीभाँति सिद्धि के लिये (वर्षम्) वृष्टि (संकल्पते) सङ्कल्प करती है और (वर्षस्य) वृष्टि की (संक्लृप्त्यै) सम्यक् सिद्धि के लिये (अन्नम्) अन्न (संकल्पते) संकल्प करता है और (अन्नस्य) अन्न की (संक्लृप्त्यै) समृद्धि के लिये (प्राणाः) प्राण (सङ्कल्पन्ते) सङ्कल्प करते हैं तथा (प्राणानाम्) प्राणों की (संक्लृप्त्यै) सम्यक् सिद्धि के लिये (मन्त्राः) मन्त्र (संकल्पन्ते) संकल्प करते हैं ओर (मन्त्राणाम्) मन्त्रों की (संक्लृप्त्यै) सम्यक् सिद्धि के लिये (कर्माणि) अग्निहोत्रादिक कर्म (संकल्पन्ते) संकल्प करते हैं और (कर्मणाम्) अग्निहोत्र कर्मों की (संक्लृप्त्यै) सिद्धि के लिये (लोकः) स्वर्गादिलोक भी (संकल्पते) संकल्प करता है और (लोकस्य) स्वर्गादि लोक की (संक्लृप्त्यै) सिद्धि के लिये (सर्वम्) सब भूत जात (संकल्पते) संकल्प करता है (सः) वह ऐसी महिमा वाला (एषः) यह (संकल्पः) संकल्प है (इति) इस कारण से हे नारद तुम [संकल्पम्] संकल्प ब्रह्म की [उपास्स्व] उपासना करो ॥२॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् कहते हैं कि—हे नारद ! वे प्रसिद्ध ये नाम आदिक सङ्कल्प रूप एक अयन यानी मार्ग वाले हैं अर्थात् सङ्कल्पानुसारी हैं। ये नाम आदिक सङ्कल्प रूप कर्तावाले हैं अथवा सङ्कल्प व्याप्त हैं तथा सङ्कल्प में प्रतिष्ठित हैं अर्थात् सङ्कल्प के अधीन सत्ता वाले हैं। सङ्कल्प अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष है। अर्थात् कर्त्तव्य अकर्त्तव्य विषयों को पृथक्-पृथक करके समर्थन करने का नाम सङ्कल्प है। परब्रह्म नारायण की सृष्टि में प्रायः सब पदार्थ सङ्कल्प से हैं क्योंकि सङ्कल्प बिना कोई कार्य नहीं होता हैं। यद्यपि संकल्प चेतन का धर्म है तथापि यहाँ पर अचेतन में चेतन का अध्यारोप करके श्रुति प्रतिपादन करती है कि—द्युलोक और पृथ्वी ने निश्चलरूप से हम वर्त्तमान हैं ऐसा सङ्कल्प किया है। और ऐसे ही जल तेज वायु तथा आकाश भी अपने-अपने रूप से रहते हुए अपने-अपने कार्य को करते हैं ऐसा सङ्कल्प किये हैं, क्योंकि यदि द्युलोकआदिक

संकल्प नहीं किये होते तो इस प्रकार की प्रवृत्ति कभी सम्भव नहीं होती। इस कारण से उन पूर्वोक्त ने अवश्य संकल्प किया है। जल और तेज के अधीन वृष्टि होने से वर्षा, वे जल तथा तेज अपने कार्य में समर्थ हों इस प्रकार उन जल और तेज की सिद्धि के लिये संकल्प करती है। क्योंकि जल और तेज के सन्निपात से ही वृष्टि होती है। और वर्षा के अधीन अन्न के होने से वृष्टि की संसिद्धि के लिये अन्न संकल्प करता है। अन्न के विषय में लिखा है— **अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्न तदुच्यते ॥** [तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १] जीवन दशा में प्राणियों से भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में खाता है उससे वह अन्न इस नाम से कहा जाता है ॥ १ ॥ और अन्न के अधीन प्राण के होने से अन्न की समृद्धि के लिये प्राण संकल्प करते हैं। क्योंकि खाद्य वस्तु न मिले तो प्राण नहीं रह सकता है। और प्राण के अधीन मन्त्रोच्चारण के होने से प्राणों की सिद्धि के लिये ऋग्यजुःसामाथर्व वेद के मन्त्र संकल्प करते हैं। क्योंकि प्राण के बिना कोइ भी मन्त्रोच्चारण नहीं हो सकता है। और अग्निहोत्र आदिक कर्मों की मन्त्रजन्य स्मृति के अधीन अनुष्ठान होने से मन्त्रों की सम्यक् सिद्धि के लिये अग्निहोत्र आदिक कर्म संकल्प करते हैं और स्वर्गादि लोककी कर्माधीन सिद्धि होने से अग्निहोत्र आदिककर्मों की सिद्धि के लिये स्वर्गादि लोक संकल्प करते हैं। और सब भूत जात के लोकाधीन होने से सब प्राणी समुदाय स्वर्गादि लोक की सिद्धि के लिये संकल्प करता है। एतादृशमहिमाशाली यह संकल्प है। इस कारण से संकल्प ब्रह्म की उपासना तुम करो। यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ बड़ा होता है। आकाश के विषय में लिखा है- **त आकाशे न विद्यन्ते ॥**[वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ५]**निष्क्रमणं प्रवेशनमिति ॥**[२०] **परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥** [२७] वे रूप रस गन्ध स्पर्श आकाश में नहीं हैं ॥५॥ निकलना और प्रवेश करना यह आकाश का लिङ्ग है ॥ २७ ॥ परिशेष शब्द गुणक आकाश का लक्षण है ॥२७॥ **शब्दश्चाकाश एव च ॥** [महाभारत वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ७] आकाश में एक शब्द गुण ही कहा गया है ॥ ७ ॥ वायु के विषय में लिखा है- **स्पर्शवान् ॥** [वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ४] रूप न हो और स्पर्श वाली हो वही वायु है ॥४॥ **शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु ॥** [महाभारत

वनप० अ० २११ श्लो० ७] शब्द और स्पर्श ये दो गुण वायु में कहे गये हैं ॥७॥ तेज के विषय में लिखा है- **रूपरसस्पर्शवत्** ॥ [वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ३] लोहित रूपवाला और उष्ण स्पर्शवाला जो हो, वही तेज है ॥ ३ ॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः** ॥ [महाभा० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ७] शब्द स्पर्श और रूप ये तीन गुण तेज के हैं ॥७॥ जल के विषय में लिखा है— **रूपरसस्पर्शवत्यः द्रवाः स्निग्धाः** ॥ [वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० २] शुक्लरूप मधुररस और शीतस्पर्श वाला द्रव तथा स्निग्ध हो वही जल है ।२॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्चापि द्विजोत्तम । अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत** ॥ [महाभा० वनप० उत्तर खं० अ० २११ श्लो० ६) हे सुव्रत ब्राह्मण ! शब्द १, स्पर्श २, रूप ३ और रस ४ ये चार गुण जल का मैंने तुमसे कहा ॥ ६ ॥ पृथ्वी के विषय में लिखा है— **रूपरसगन्धस्पर्शवती** ॥ [वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० १]रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाली जो हो यही पृथ्वी है ॥ १ ॥ **शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः । एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः** ॥ [महाभार० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ५] शब्द १, स्पर्श २, रूप ३, रस ४ और गन्ध ५ ये सबसे श्रेष्ठ पाँच गुण पृथ्वी के हैं ॥५॥ प्राण के विषय में लिखा है— **हृदि प्राणः स्थितो नित्यम्** ॥ (योगचूडामण्युप० श्रु० २४) हृदय में सर्वदा प्राण रहता है॥२४॥**मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते** ॥ (प्रश्नोप० प्र० ३ श्रु० ५) अपने आप प्राण मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित होता है ॥५॥ और मन्त्र कर्म तथा लोक के विषय में मैं पहले ही लिख चुका हूँ ॥२॥

स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते । संक्लृप्तान्वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति । यावत् सङ्कल्पस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः

सङ्कल्पाद्भूय इति । सङ्कल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे-भगवान् ब्रवीत्विति ॥३॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (यः) जो कोई उपासक (संकल्पम्) संकल्प को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (वै) निश्चय करके (संक्लृप्तान्) सकल्पसिद्ध (ध्रुवान्) नित्य (प्रतिष्ठितान्) भोग के उपकरणों से प्रतिष्ठित (अव्यथमानान्) शत्रु पीड़ा आदि से रहित (लोकान्) लोकों को स्वयं (ध्रुवः) ध्रुव होकर और (प्रतिष्ठितः) स्वयं भोगोपकरणों से प्रतिष्ठित होकरत था (अव्यथमानः) स्वयं शत्रु आदि से व्यथा न पाता हुआ (अभिसिध्यति) सब प्रकार से प्राप्त करता है (यावत्) जहाँ तक (संकल्पस्य) संकल्प की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस संकल्प ब्रह्मोपासक के (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। किसको होता है, वह पुनः उपसंहार से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (संकल्पम्) संकल्प को (ब्रह्म) ब्रह्म यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (संकल्पात्) संकल्प से (भूयः) बड़ा श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (संकल्पात्) संकल्प से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार से देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥३॥

विशेषार्थ—अब संकल्प ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक संकल्प ब्रह्म है यानी सबसे बड़ा है ऐसा मानकर उपासना करता है तो वह उपासक निश्चय करके संकल्प से सिद्ध तथा नित्य और भोग के उपकरणों से प्रतिष्ठित तथा शत्रु पीड़ा आदि से रहित लोकों को स्वयं ध्रुव होकर तथा स्वयं भोग के उपकरणों से प्रतिष्ठित होकर और स्वयं शत्रु आदि से पीड़ा न पाता हुआ सब प्रकार से प्राप्त करता है, जहाँ तक संकल्प की गति जाती है वहाँ तक उस संकल्प ब्रह्मोपासक को अपनी इच्छानुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही

उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक संकल्प ब्रह्म है ऐसा मानकर संकल्प की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर महाभागवत नारद जी पूछते हैं कि-हे पूज्यपाद भगवन् क्या संकल्प से भी कोई अधिक श्रेष्ठ वस्तु है ? इस बात को सुनकर योगेश्वर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ, संकल्प से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् संकल्प से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का चौथा खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यति। अथवाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

अन्वयार्थ (चित्तम्) चित्त (वाव) निश्चय करके (संकल्पात्) संकल्प से (भूयः) बड़ा है (यदा) जब (वै) निश्चय करके (चेतयते) यह ग्रहण करने योग्य है ऐसा मनुष्य चिन्तन करता है (अथ) तत्पश्चात् (संकल्पयते) संकल्प करता है और (अथ) संकल्प के पश्चात् तब यह ग्रहण करने योग्य है ऐसा (मनस्यति) वह मानता है (अथ) मनन करने के बाद (वाचम्) वागिन्द्रिय को उच्चारणार्थ (ईरयति) प्रेरणा करता है और (उ) निश्चय करके (ताम्) उस वाणी को (नाम्नि) नाम में (ईरयति) प्रेरित करता है तब (मंत्राः) मंत्र (नाम्नि) नाम में (एकम्) एक (भवन्ति) होते हैं और (कर्माणि) वेदविहित कर्म मन्त्रेषु) मंत्रों में एक होते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—सनत्कुमार भगवान् कहते हैं कि—हे नारद ! निश्चय करके चित्त संकल्प से बढ़कर श्रेष्ठ है। प्राप्त काल के अनुरूप अतीत और अनागत के विषय प्रयोजन की चिन्ता के अनुरूप प्रवृत्ति विशिष्ट मन को ही चित्त कहते हैं। क्योंकि ॥ **हस्तादयस्तुस्थितेऽतो नैवं** ॥ [शा०मी० अ० २ पा० ४ सू० ५] के श्रीभाष्य में लिखा है कि – **अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्ध्यहंकारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत इति** ॥ [सप्तगत्यधिकर० २]

अध्यवसाय तथा अभिमान और चिन्ता की वृत्ति भेद से मन ही बुद्धि तथा अहंकार और चित्त शब्द से व्यपदेश किया जाता है ॥ २ ॥ जब निश्चय करके यह ग्रहण करने योग्य है ऐसा मनुष्य चिन्तन करता है, तभी वह संकल्प करता है। और संकल्प करने के बाद वह मनन करता है। और मनन करने के पश्चात् वागिन्द्रिय को शब्दोच्चारण करने के लिये वह प्रेरित करता है और निश्चय करके उसी वाणी को नाम में प्रेरित करता है। तब नाम में सब मन्त्र एक हो जाते हैं और मन्त्रों में वेदविहित कर्म एक हो जाते हैं ॥१॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि। तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादिति। अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते। चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥२॥

अन्वयार्थ - (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तानि) वे (एतानि) ये नाम आदिक (चित्तैकायनानि) चित्तरूप एक अयन यानी मार्ग वाले हैं और (चित्तात्मानि) चित्तरूप कर्तावाले हैं अथवा चित्त व्याप्त हैं और (चित्ते) चित्त में (प्रतिष्ठितानि) प्रतिष्ठित हैं अर्थात् चित्त के अधीन सत्ता वाले हैं (तस्मात्) इस कारण से (यद्यपि) यद्यपि कोई पुरुष (बहुवित्) बहुत वेद शास्त्रादिकों को जानने वाला भी हो परन्तु (अचित्तः) विषय प्रयोजन निरूपण लक्षण चित्तहीन यदि (भवति) होता है तो (एव) निश्चय करके (एनम्) इस चित्तरहित पुरुष के प्रति (इति) इस प्रकार के (आहुः) लौकिक जन कहते हैं कि (अयम्) यह चित्तहीन पुरुष (न) नहीं (अस्ति) है अर्थात् अचित्त पुरुष रहता हुआ नहीं के बराबर है और (अयम्) यह चित्तहीन पुरुष (यत्) जो कुछ (वेद) जानता है वह भी व्यर्थ ही है क्योंकि (वै) निश्चय करके (यत्) यदि (अयम्) यह पुरुष (विद्वान्) शास्त्रों का ज्ञाता होता तो (इत्थम्) ऐसा (इति) यह (अचित्तः) चित्तरहित) (न) नहीं (स्यात्) होता (अथ) और (यदि) यदि कोई पुरुष (अल्पवित्) अल्पज्ञ भी

(चित्तवान्) अच्छा चित्तवाला (भवति) है (उत) तो (एव) निश्चय करके (तस्मै) उसी पुरुष से (शुश्रूषन्ते) सबलोग वचन श्रवण करना चाहते हैं। इस कारण से (हि) निश्चय करके (चित्तम्) चित्त (एव) ही (एषाम्) इन सबों का (एकायनम्) प्रधान आश्रय है और (चित्तम्) चित्त ही (आत्मा) आत्मा है क्योंकि चित्त के रहने पर ही आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है और (चित्तम्) चित्त ही (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा है (इति) इसी कारण से हे नारद (चित्तम्) चित्त ब्रह्म की (उपास्स्व) उपासना तुम करो ॥२॥

विशेषार्थ—सनत्कुमार भगवान् कहते हैं कि—हे नारद ! निश्चय करके वे ये पूर्वोक्त प्रसिद्ध नाम आदिक चित्तरूप एक अयन यानी मार्ग वाले हैं और चित्तरूप आत्मा यानी कर्तावाले हैं अथवा चित्त व्याप्त हैं और चित्त में प्रतिष्ठित हैं अर्थात् चित्त के अधीन सत्ता वाले हैं। इसी कारण से यद्यपि कोई मनुष्य बहुत वेद शास्त्रादिकों को जानने वाला भी हो तो भी यदि वह विषय प्रयोजन निरूपण लक्षण चित्तहीन होता है तो निश्चय करके इस अचित्त पुरुष के प्रति लोग कहते हैं कि—यह नहीं है अर्थात् अचित्त पुरुष रहता हुआ नहीं के समान है और यदि यह चित्तहीन पुरुष जो कुछ जानता है वह भी व्यर्थ ही है। क्योंकि यदि वह पुरुष विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त नहीं होता और यदि कोई पुरुष अल्पज्ञ होने पर भी अच्छा चित्तवाला हो तो उसी से सबलोग कुछ श्रवण करना चाहते हैं। अतः चित्त ही इन सबों का प्रधान आश्रय है। और चित्त ही आत्मा है, क्योंकि चित्त के रहने पर ही आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है और चित्त ही प्रतिष्ठा है। इस कारण से तुम चित्त ब्रह्म की उपासना करो ॥ २ ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते। चित्तान्वै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति। यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति। चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥३॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके पञ्चमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (यः) जो कोई उपासक (चित्तम्) चित्त को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (वै) निश्चय करके (चित्तान्) चिन्तन किये हुए (ध्रुवान्) नित्य (प्रतिष्ठितान्) भोग के उपकरणों से प्रतिष्ठित (अव्यथमानान्) शत्रुपीड़ा आदि से रहित (लोकान्) लोकों को स्वयं (ध्रुवः) ध्रुव होकर और (प्रतिष्ठितः) स्वयं भोगोपकरणों से प्रतिष्ठित होकर तथा (अव्यथमानः) स्वयं शत्रु आदि से व्यथा न पाता हुआ (अभिसिध्यति) सब प्रकार से प्रकार से प्राप्त करता है और (यावत्) जहाँ तक (चित्तस्य) चित्त की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस चित्त ब्रह्मोपासक के (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है, किसको होता है सो पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (चित्तम्) चित्तको (ब्रह्म) ब्रह्म यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (चित्तात्) चित्तसे (भूयः) बड़ी श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (चित्तात्) चित्त से (वाव) (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार से देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥३॥

विशेषार्थ—अब चित्त ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक चित्त ब्रह्म है यानी सबसे बड़ा है ऐसा मानकर चित्त ब्रह्म की उपासना करता है तो वह उपासक निश्चय करके चिन्तन किये हुए तथा नित्य और भोग के उपकरणों से प्रतिष्ठित तथा शत्रुपीड़ा आदि से रहित लोकों को स्वयं ध्रुव होकर तथा स्वयं भोग के उपकरणों से प्रतिष्ठित होकर और स्वयं शत्रु आदि से पीड़ा न पाता हुआ सब प्रकार से प्राप्त करता है। जहाँ तक चित्त की गति जाती है वहाँ तक उस चित्त ब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक चित्त ब्रह्म है ऐसा मानकर चित्त ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर परम वैष्णव नारद जी पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन् क्या चित्त से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है? इस बात को सुनकर योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ, चित्त से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—

हे पूज्यपाद भगवन् चित्त से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है, उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का पाँचवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ षष्ठखण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौ ध्यायतीवाऽऽपो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः। तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तांप्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ – (ध्यानम्) ध्यान (वाव) निश्चय करके (चित्तात्) चित्त से (भूयः) बड़ा है। आगे ध्यान का माहात्म्य कहा जाता है (पृथिवी) पृथ्वी (ध्यायति) ध्यान करती हुई के (इव) समान निश्चल है और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक (ध्यायति) ध्यान करते हुए के (इव) समान अचल है तथा (द्यौः) द्युलोक (ध्यायति) ध्यान करते हुए के (इव) समान स्थिर है और (आपः) जल (ध्यायन्ति) ध्यान करते हुए के (इव) समान अपने स्वरूप में स्थिर स्थित हैं तथा (पर्वताः) पहाड़ (ध्यायन्ति) ध्यान करते हुए के (इव) समान निश्चल हैं और (देवमनुष्याः) देवता तथा मनुष्य (ध्यायन्ति) ध्यान करते हुये के (इव) समान अपने कार्य में स्थिर हैं (तस्मात्) इस कारण से (मनुष्याणां) मनुष्य के मध्य में (ये जो लोग (इह) इस लोक में (महत्ताम्) विद्या, धन, पुत्र, शिष्य आदिक से महत्त्व को (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त करते हैं (ते) वे लोग (एव) निश्चय करके (ध्यानापादांशाः) ध्यानापन्नध्याताओं के सदृश के (इव) बराबर (भवन्ति) निश्चल होते हैं (अथ) और (ये) जो ध्यान से हीन (अल्पाः) क्षुद्रपुरुष हैं (ते) वे लोग (कलहिनः) कलहशील होते हैं और (पिशुनाः) दूसरे के दोषों को ही देखने वाले होते हैं और (उपवादिनः) समीप में तो दोष को भी गुण कहने वाले और परोक्ष में दूसरों के समीप निन्दा करने वाले होते हैं अर्थात् ध्याता के सादृश्य के लेश को

भी नहीं प्राप्त करते हैं (अथ) और (ये) जो (प्रभवः) महान् सामर्थ्यवान् हैं (ते) वे लोग (एव) निश्चय करके (ध्यानापादांशाः) ध्यानापन्नध्याताओं के सदृश के (इव) बराबर अजलाक (भवन्ति) होते हैं (इति) इस कारण से हे नारद तुम (ध्यानम्) ध्यान ब्रह्म की उपासना करो ॥१॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् कहते हैं कि—हे नारद! निश्चय करके ध्यान चित्त से बड़ा श्रेष्ठ है। ध्यान के विषय में लिखा है—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम्। (जाबालदर्शनो० खं० ६ श्रु० १) **ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम्। सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥२॥**

अब मैं संसार बन्धन को नाश करने वाले ध्यान का प्रकार बतलाता हूँ। समस्त संसार रूपी रोग के एकमात्र औषध एवं ऋत तथा सत्य यानी निरुपाधिक सत्ता योगी परब्रह्म नारायण हैं ॥ १ ॥ ऊर्ध्वरेता विश्वरूप विरूपाक्ष सबसे बड़ा महान् ईश्वर एवं योगीश्वरों के भी ईश्वर उस परमात्मा को, वही निन्दित कर्म करने वाला मैं हूँ इस प्रकार अपनी बुद्धि में निश्चय करके अत्यन्त आदरपूर्वक ध्यान करे ॥२॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ (योग० अ० १ पा० ३ सू० २) उस धारणा में प्रतीत वस्तु की एकतानता को ध्यान कहते हैं ॥२॥ और **ध्यानाच्च ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ८) के श्रीभाष्य में लिखा है कि—

ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनमिति ॥ (आसीनाधिकर० ५) निश्चय करके विजातीय प्रतीती के बिना व्यवधान रहित एक परब्रह्म के चिन्तन को ही ध्यान कहते हैं ॥५॥ ध्यान बैठ कर ही करना चाहिये। क्योंकि लिखा है— **आसीनस्सम्भवात् ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ७) आसीन हो ध्यान करे। आसीन को ही एकाग्रचित्तता सम्भव है। स्थिति और गत काल में प्रयत्नसापेक्ष होने से तथा शयन काल में निद्रा के संभव होने से। आसीन को ही ध्यान होता है। क्योंकि— **स्मरन्ति च ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० १०) के श्रीभाष्य में लिखा है— **शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्**

।। (गी० अ० ६ श्लो० ११) तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रिय-क्रियः । उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।। (१२) शुद्ध स्थान में न अत्यन्त ऊँचा न अत्यन्त नीचा अपना स्थिर आसन स्थापित करके उस पर शुद्ध वस्त्र मृगछाला और कुश एक के ऊपर एक बिछाकर ।। ११ ।। उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर मन को एकाग्र कर के आत्म-शुद्धि के लिये योग का साधन करे ।। १२ ।। और अन्यत्र लिखा है— समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवातश्रयणे प्रयोजयेत् ।। (श्वेता० उ० अ० २ श्रु० १०) समतल सब प्रकार से शुद्ध कंकड़ अग्नि और बालू से रहित तथा शब्द जल और आश्रय आदि की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल और नेत्रों को पीडा न देनेवाले गुहा आदि वायु शून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिये ।। १० ।। जहाँ पर मन की एकाग्रता हो वहाँ ध्यान करे । क्योंकि लिखा है— यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।। (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ११) एकाग्रता से अतिरिक्त देश काल विशेष के श्रवण नहीं होने से जहाँ पर एकाग्रता के अनुकूल देश और काल हो वहाँ ही ध्यान करे ।। ११ ।। कैसे बैठ कर ध्यान करना चाहिये, इस विषय में लिखा है— समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् । संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। (गी० अ० ६ श्लो० १३) प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।(१४) काया शिर और गले को सम – सीधा अचल एवं स्थिरता पूर्वक धारण करके अन्य दिशाओं को न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर ।। १३ ।। प्रशान्त मनवाला भय रहित और ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित होकर मन को रोककर मुझमें चित्त लगा कर सावधान एवं मेरे परायण होकर बैठे ।। १४ ।। जैसे योगी ध्यान करता हुआ निश्चल बैठा रहता है वैसे ही मानो पृथ्वी ध्यान करती हुई निश्चल है । यह ध्यान का माहात्म्य कहा जाता है । अन्तरिक्ष लोक मानो ध्यान करता हुआ स्थिर है । लोक के विषय में लिखा है— भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।। (योग० अ० १ पा० ३ सू० २४) तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति

मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ॥ व्यासभाष्यः ॥ (सूर्य में सयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥२४॥ इस सूत्र के व्यासभाष्य में लिखा है कि– इस भुवन का विस्तार सात लोक है। अवीचि नाम के स्थल से सुमेरु पर्वत के पीठ तक भूलोक है १ और सुमेरु पर्वत के पीठ से लेकर ध्रुव पर्यन्त नक्षत्र तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्ष लोक है २ तथा उससे परे पाँच प्रकार का स्वर्ग लोक है ३ और तृतीय माहेन्द्र लोक है तथा प्रजापति का चौथा महर्लोक है ४ और तीन प्रकार ब्रह्मलोक है—जनलोक ५ तपलोक ६ और सत्यलोक ७ ये सात लोक हैं। और जल मानो ध्यान करता हुआ अपने स्वरूप में स्थिर है। पर्वत मानो ध्यान करते हुए निश्चल है। ब्रह्मा रूद्र इन्द्र आदिक देवता तथा ब्राह्मण आदिक मनुष्य मानो ध्यान करते हुए अपने कार्य में स्थिर हैं। इस हेतु से मनुष्यों के मध्य जो कोई इस भूलोक में विद्या, धन, पुत्र, शिष्य आदिक से महत्त्व प्राप्त करते हैं, वे लोग निश्चय करके ध्यानापन्न ध्याताओं के समान ही मानो निश्चल होते हैं। और जो ध्यान से रहित क्षुद्र मनुष्य हैं वे कलहशील – उपद्रव करने वाले होते हैं और चुगलखोर दूसरे के दोषों को देखनेवाले होते हैं। तथा समीप में तो दोष को भी गुण बतलाने वाले हैं और परोक्ष में दूसरों के समीप निन्दा करने वाले होते हैं। अर्थात् ध्याता के सादृश्य के लेश को भी नहीं प्राप्त करते हैं वे बहुत ही क्षुद्र होते हैं। और जो मनुष्य महान् सामर्थ्यवान् हैं वे लोग निश्चय करके ध्यानापन्न ध्याताओं के समान ही निश्चल हो जाते हैं। इस कारण से तुम ध्यान ब्रह्म का उपासना करो। योगीश्वर भगवद्रामानुजाचार्य ने— **अचलत्वं चापेक्ष्य ॥** (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० ९) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के छठवें खण्ड की पहली श्रुति के "ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौः ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वताः" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते। यावद् ध्यानस्य गतं तत्रास्य

यथाकामचारो भवति । यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति । ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ – (सः) वह (यः) जो कोई उपासक (ध्यानम्) ध्यान को (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है तो (यावत्) जहाँ तक (ध्यानस्य) ध्यान की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस ध्यान ब्रह्मोपासक के (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। किसको होता है, वह पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (ध्यानम्) ध्यान को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (ध्यानात्) ध्यान से (भूयः) बड़ी श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (ध्यानात्) ध्यान से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ा वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपाकरके उपदेश करें (इति) देवर्षि नारद ने इस प्रकार प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब ध्यान ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि–जो कोई उपासक ध्यान ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर ध्यान ब्रह्म की उपासना करता है तो जहाँ तक ध्यान की गति होती है वहाँ तक उस ध्यान ब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि जो कोई उपासक ध्यान ब्रह्म है ऐसा मानकर ध्यान ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर महाभागवत् नारदजी पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन् क्या ध्यान से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है ? इस बात को सुनकर सनत्कुमार ने कहा कि हाँ, ध्यान से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु अवश्य है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् ध्यान से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझको दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का छठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं साधु च चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति । विज्ञानमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(विज्ञानम्) प्रमाणजन्यज्ञानरूप विज्ञान (वाव) निश्चय करके (ध्यानात्) ध्यान से (भूयः) अधिक श्रेष्ठ है (वै) निश्चय करके (विज्ञानेन) प्रमाण जन्य ज्ञानरूप विज्ञान से पुरुष (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को (विजानाति) जानता है और (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद को तथा (सामवेदम्) सामवेद को और (चतुर्थम्) चौथे (अथर्वणम्) अथर्ववेद को तथा (पञ्चमम्) पाँचवाँ वेद (इतिहासपुराणम्) श्रीरामायण और महाभारतादि इतिहास को तथा विष्णु, पद्म, श्रीमद्भागवतादि पुराण को और (वेदानाम्) वेदों के यानी प्रकृति प्रत्यय के विभागों के (वेदम्) जनाने वाले व्याकरण को तथा (पित्र्यम्) श्राद्ध कल्प को और (राशिम्) गणित को तथा (दैवम्) उत्पात ज्ञान को और (निधिम्) निधि दर्शन के उपाय प्रतिपादक शास्त्र को तथा (वाकोवाक्यम्) तर्कशास्त्र को अथवा उक्ति प्रत्युक्तिरूप ग्रन्थ को और (एकायनम्) एकायन शाखा पञ्चरात्र को तथा (देवविद्याम्) देवतोपासन प्रकार की विद्या को और (ब्रह्मविद्याम्) वेदाङ्गभूत शिक्षा निरुक्त कल्प छन्द आदिक विद्या को तथा (भूतविद्याम्) वशीकरण विद्या को और (क्षत्रविद्याम्)

क्षत्रियों की विद्या को यानी नीतिशास्त्र को तथा धनुर्विद्या को और (नक्षत्रविद्याम्) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धी ज्योतिष को तथा (सर्पदेवजनविद्याम्) सर्पदेवजनविद्याम्) सर्पविद्या को यानी गारुड़ मन्त्र विद्या को तथा देवविद्या को यानी नृत्य वाद्य सङ्गीत आदि गान्धर्वशास्त्र को और जनविद्या को यानी आयुर्वेद को (च) और (दिवम्) द्युलोक को (च) तथा (पृथिवीम्) पृथ्वी को (च) और (वायुम्) वायु को (च) तथा (आकाशम्) आकाश को (च) और (आपः) जल को (च) तथा (तेजः) तेज को (च) और [देवान्] ब्रह्मा आदिक समस्त देवताओं को (च) तथा (मनुष्यान्) ब्राह्मणादि सब मनुष्यों को (च) और (पशून्) गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं को (च) तथा (वयांसि) तोता मैना आदि पक्षियों को और (तृणवनस्पतीन्) तृणवनस्पतियों को तथा (श्वापदानि) हिंस्र जन्तुओं को और (आकीटपतङ्गपिपीलकम्) कीट पतङ्ग पिपीलिका पर्यन्त सब क्षुद्र जन्तुओं को (च) तथा (धर्मम्) धर्म को (च) तथा (अधर्मम्) अधर्म को (च) और (सत्यम्) सत्य को (च) तथा (अनृतम्) असत्य को (च) और (साधु) अच्छा को (च) तथा (असाधु) बुरे को (च) और (हृदयज्ञम्) हृदय के प्रिय को (च) तथा (अहृदयज्ञम्) हृदय के अप्रिय को (च) और (अन्नम्) अन्न को (च) तथा (रसम्) रस को (च) और (इमम्) इस (लोकम्) लोक को (च) तथा (अमुम्) उस परलोक को (एव) निश्चय करके (विज्ञानेन) प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान से (विजानीति) भलीभाँति जानता है (इति) इस कारण से तुम (विज्ञानम्) प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान को ब्रह्म यानी बड़ा मानकर (उपास्स्व) उपासना करो ॥१॥

विशेषार्थ—योगीन्द्र सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि हे नारद ! प्रसिद्ध है कि—प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान ध्यान से बढ़कर है। क्योंकि प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान से ही मनुष्य ऋग्वेद को विशेषरूप से जानता है। इसी प्रकार यजुर्वेद को तथा सामवेद को और चौथे अथर्ववेद को तथा पाँचवें वेद श्री रामायण तथा महाभारतादि इतिहास को और विष्णु, पद्म, श्रीमद्भागवतादि पुराणों को विज्ञान से ही मनुष्य जानता है। और वेदों के वेद को यानी व्याकरण को तथा मरे हुए पितरों के श्राद्धकल्प को और राशि को यानी गणित विद्या को तथा दैव को यानी उत्पात विद्या को और निधिदर्शनोपाय प्रतिपादक महाकालादि निधिविद्या को तथा वाकोवाक्य को यानी तर्कशास्त्र को अथवा उक्ति प्रत्युक्तिरूप

रूप ग्रन्थ को और एकायन वेद पञ्चरात्र को विज्ञान से ही पुरुष जानता है। यहाँ एकायन शब्द महोपनिषद् पाञ्चरात्रतन्त्र वाचक है। क्योंकि लिखा है— **शृणुध्व मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम् ॥** [ईश्वरसं० अ० १] हे सब मुनिगण तुमलोग एकायन नामवाले वेद को सुनो ॥१॥ **मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते। तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः ॥** [ईश्वरसं० अ० १] निश्चय करके मोक्ष प्राप्ति के लिये इस पाञ्चरात्रतन्त्र से अन्य कोई मार्ग नहीं है, इसी कारण से मनीषि लोग पाञ्चरात्र को ही एकायन नाम से कहते हैं ॥१॥ **आद्यमेकायनं वेद सद्ब्रह्म प्रतिपादकम्। तेनैव संस्कृता विप्रा मुख्यकल्पाधिकारिणः ॥** [पाद्मसं० चर्यापा०] सद्ब्रह्म प्रतिपादक आद्य एकायन वेद को जानो। निश्चय करके उस एकायन तन्त्रानुसार संस्कार से संस्कृत विप्र मुख्य कल्प के अधिकारी होते हैं ॥ **वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्। तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम् ॥** [श्रीप्रश्न० सं०] एकायन नाम का वेद सब वेदों के शिर पर स्थित है। एकायन अर्थ का ही पर्यायवाचक पाञ्चरात्र शब्द है। वह एकायन शाखा के अनुसार क्रिया वालों को मोक्ष देनेवाला है और देवविद्या को यानी देवतोपासन प्रकार का विद्या को तथा ब्रह्मविद्या को यानी वेदाङ्गभूत शिक्षा निरूक्त कल्प छन्द आदिक विद्या को और भूतविद्या को यानी मनुष्य पशु पक्षी सरीसृप आदिक प्राणियों के वशीकरण विद्या को तथा क्षत्र विद्या को यानी क्षत्रियों की विद्या राजनीति शास्त्र को और धनुर्विद्या को तथा नक्षत्र विद्या को यानी अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धिनी विद्या ज्योतिष को और सर्पदेव जनविद्या को यानी सर्पविद्या को तथा देवविद्या को और जनविद्या को अर्थात् सर्पविद्या के माने गारुड़ मन्त्र विद्या को और देव विद्या के माने नृत्य वाद्य सङ्गीत आदि गान्धर्व विद्या को तथा जनविद्या के माने आयुर्वेद को और द्युलोक को तथा पृथ्वी को और वायु को तथा आकाश को और जल को तथा तेज को और ब्रह्मा आदिक सब देवताओं को तथा ब्राह्मण आदिक सब मनुष्यों को और गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा आदिक सब पशुओं को तथा तोता मैना आदिक सब पक्षियों को और तृण तथा गूलर आदिक वनस्पतियों को और हिंस्र बाघ आदि जन्तुओं को तथा कीट पतङ्ग पिपीलिका पर्यन्त सब क्षुद्र

जन्तुओं को और धर्म को तथा अधर्म को और सत्य को तथा असत्य को और साधु को तथा असाधु को और हृदय के प्रिय को तथा हृदय के अप्रिय को और अन्न को तथा रस को और इस लोक को तथा परलोक को भी प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान से ही मनुष्य विशेषरूप से जानता है। इस कारण से तुम विज्ञान ब्रह्म की उपासना करो ॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते। विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति। यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्ययथाकामचारो भवति। यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्तिभगवो विज्ञानाद्भूय इति। विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके सप्तमखण्डः ॥

अन्वयार्थ – (सः) वह (यः) जो कोई उपासक (विज्ञानम्) प्रमाणजन्य ज्ञानरूपविज्ञान को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है(सः) वह उपासक (वै) निश्चय करके (विज्ञानवतः) विशेषज्ञान वाले और (ज्ञानवतः) सामान्य ज्ञानवाले (लोकान्) लोकों को (अभिसिध्यति) सब प्रकार से प्राप्त करता है और (यावत्) जहाँ तक (विज्ञानस्य) विज्ञान की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस विज्ञान ब्रह्मोपासक के (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। किसको होता है, वह पुनः उपसंहार से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (विज्ञानम्) प्रमाण जन्यज्ञान रूप विज्ञान को (ब्रह्म) ब्रह्म यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (विज्ञानात्) प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान से (भूयः) बड़ा श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (विज्ञानात्) प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार से देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ – अब विज्ञान ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि – जो

कोई उपासक प्रमाणजन्यज्ञानरूपविज्ञान को ब्रह्म है यानी सबसे बड़ा है ऐसा मानकर विज्ञान ब्रह्म की उपासना करता है, वह उपासक निश्चय करके विशेष ज्ञान वाले और सामान्य ज्ञान वाले लोकों को सब प्रकार से प्राप्त करता है, जहाँ तक विज्ञान की गति जाती है वहाँ तक उस विज्ञान ब्रह्मोपासक को अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक प्रमाणजन्यज्ञानरूपविज्ञान को ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर विज्ञान ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर महाभागवत नारद जी पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन्! क्या विज्ञान से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है? इस बात को सुनकर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ प्रमाणजन्यज्ञानरूपविज्ञान से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् विज्ञान से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। ज्ञान और विज्ञान के विषय में लिखा है— **ज्ञानं परावरतत्त्वयाथात्म्यज्ञानम्। विज्ञानं परतत्त्वगतासाधारणविशेषविषयं ज्ञानम्॥** (गीतारामानुजभाष्य अ० १८ श्लो० ४२) पर और अपर तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने का नाम 'ज्ञान' है। और परमतत्त्व के विषय में असाधारण विशेष ज्ञान का नाम 'विज्ञान' है॥४२॥ यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया॥२॥

॥ अथाष्टमखण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथिवी तिष्ठति। बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनु-

ष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति। बलमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(बलम्) वाव निश्चय करके (विज्ञानात्) प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान से (भूयः) अधिक श्रेष्ठ है (ह) यह बात प्रसिद्ध है कि (शतम्) सौ (विज्ञानवताम्) विशेष ज्ञानवाले मनुष्यों को (अपि) भी (एकः) एक (बलवान्) बलवान् गज (आकम्पयते) सब प्रकार से कँपा डालता है (सः) वह साधक पुरुष (यदा) जब (बली) बलवान् (भवति) होता है (अथ) तब (उत्थाता)आचार्यादिके देखने पर उठने वाला (भवति) होता है और (उत्तिष्ठन्) उठने वाला होने पर तो (परिचरिता) गुरु की परिचर्या करने वाला (भवति) होता है तथा (परिचरन्) सेवा करता हुआ (उपसत्ता) गुरु के समीप बैठने योग्य (भवति) होता है और (उपसीदन्) गुरूपसदन करता हुआ (द्रष्टा) आचार्य को देखने वाला (भवति) होता है द्रष्टा होने पर तो (श्रोता) गुरु की सब बातों को सुनने वाला (भवति) होता है और श्रवण करने वाला होने पर तो (मन्ता) मनन करने वाला (भवति) होता है तथा मनन करने वाला होने पर तो (बोद्धा) निदिध्यासन करने वाला (भवति) होता है और (कर्ता) सब कर्म के अनुष्ठान करने वाला (भवति) होता है तथा (विज्ञाता) विशेष रूप से कृत विषय को जानने वाला (भवति) होता है और (बलेन) बल से (वै) निश्चय करके (पृथिवी) भूलोक (तिष्ठति) स्थित है तथा (बलेन) बल से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक स्थित है और (बलेन) बल से (द्यौः) द्युलोक स्थित हैं तथा (बलेन) बल से (पर्वताः) हिमालयादिक पर्वत स्थित हैं और (बलेन) बल से (देवमनुष्याः) ब्रह्मा आदिक सब देवता तथा ब्राह्मण आदिक सब मनुष्य स्थित हैं और (बलेन) बल से (पशवः) गौ भैंस हाथी घोड़ा आदि पशु स्थित हैं (च) और बल से (वयांसि) तोता मैना आदि पक्षी स्थित हैं (च) और बल से (तृणवनस्पतयः) तृण तथा वनस्पति स्थित हैं तथा बल से (आकीटपतङ्गपिपीलकम्) कीट पतङ्ग पिपीलिका पर्यन्त सब क्षुद्र जन्तु स्थित हैं और (बलेन) बल से (लोकः) अवशिष्ट सब लोक यानी दीखने वाला पदार्थ (तिष्ठति) स्थित है (इति) इस कारण से तुम (बलम्) बल को ब्रह्म यानी बड़ा मानकर

(उपास्स्व) उपासना करो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—योगिपुङ्गव सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि हे नारद प्रसिद्ध है कि—बल प्रमाणजन्य ज्ञानरूप विज्ञान से अधिक उत्कृष्ट है, क्योंकि सौ विज्ञान वाले पुरुषों को एक बलवान हाथी हिला देता है। जिस समय यह पुरुष बलवान् होता है तभी गुरु आदिक को देखकर आसन से उठने वाला भी होता है और उठने वाला होने पर ही गुरु की परिचर्या करने वाला होता है तथा आचार्य की परिचर्या करने वाला होने पर तो गुरूपसदन करने वाला होता है। गुरूपसदन करने पर ही श्रवण करने वाला होता है तथा श्रवण करने पर तो मनन करने वाला होता है और मनन करने पर तो निदिध्यासन करने वाला होता है तथा निदिध्यासन करने पर तो आत्म साक्षात्कार होता है। इससे विज्ञान की अपेक्षा बल श्रेष्ठ है। बल से ही समस्त कर्म के अनुष्ठान करने वाला और विशेष रूप से कृत विषय को जानने वाला मनुष्य होता है। बल से ही पृथ्वी स्थित है और बल से ही अन्तरिक्ष लोक स्थित है तथा बल से ही द्युलोक स्थित है। बल से ही हिमालयादि पहाड़ स्थित हैं तथा बल से ही ब्रह्मा आदिक देवता और ब्राह्मणादिक सब मनुष्य स्थित हैं। बल से ही गौ भैंस हाथी घोड़ा आदिक पशु और तोता मैना आदिक सब पक्षी स्थित हैं और बल से ही तृण तथा वनस्पति आदिक वृक्ष और हिंसक व्याघ्र आदिक जन्तु भी स्थित हैं तथा बल से ही कीट पतङ्ग पिपीलिका पर्यन्त समस्त क्षुद्र प्राणी स्थित हैं और बल से ही लोक यानी दृश्यमान सब पदार्थ स्थित है। इस कारण से तुम बल ब्रह्म की उपासना करो ॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते। यावद् बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति। बलाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठकेऽष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (यः) जो कोई उपासक (बलम्) बल को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है तो

(यावत्) तक जहाँ (बलस्य) बल की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस बल ब्रह्मोपासक के (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है, किसको होता है सो पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (बलम्) बल को (ब्रह्म) ब्रह्म यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (बलात्) बल से (भूयः) बड़ी श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (बलात्) बल से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार से देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब बल ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक बल ब्रह्म है यानी सबसे बड़ा है ऐसा मानकर बल ब्रह्म की उपासना करता है तो जहाँ तक बल की गति जाती है वहाँ तक उस बल ब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक बल ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर परम वैष्णव नारद जी पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन् क्या बल से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है? इस बात को सुनकर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ, बल से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि-हे पूज्यपाद भगवन् बल से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है, उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का अठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ नवमखण्डः ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दश रात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याऽऽये द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति।

अन्नमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अन्नम्) अन्न (वाव) निश्चय करके (बलात्) बल संपादक होने के द्वारा बल से (भूयः) अधिक श्रेष्ठ है (तस्मात्) इसी कारण से (यदि) यदि कोई (ह) प्रसिद्ध बलवान् पुरुष (उ) निश्चय करके (दश) दस (रत्रीः) दिन रात (न) नहीं (अश्नीयात्) भोजन करे तो वह बलहानि से मर जायेगा (अथवा) अथवा (यद्यपि) यद्यपि वह पुरुष कष्ट से (जीवेत्) जीवित रहे तो भी (अद्रष्टा) नहीं साक्षात्कार करने वाला और (अश्रोता) नहीं श्रवण करने वाला तथा (अमन्ता) नहीं मनन करने वाला और (अबोद्धा) नहीं निदिध्यासन करने वाला तथा (अकर्ता) नहीं कर्म का अनुष्ठान करने वाला और (अविज्ञाता) नहीं विशेष रूप से कृत विषय को जानने वाला (भवति) हो जाता है अर्थात् मृतक के समान हो जाता है (अथ) अनन्तर फिर (अन्नस्य) खाद्य अन्न के (आये) प्राप्त होने पर वही पुरुष (द्रष्टा) साक्षात्कार करने वाला (भवति) होता है और (श्रोता) श्रवण करने वाला (भवति) होता है तथा (मन्ता) मनन करने वाला (भवति) होता है और (बोद्धा) निदिध्यासन करने वाला (भवति) होता है तथा (कर्ता) सब कर्म का अनुष्ठान करने वाला (भवति) होता है और (विज्ञाता) विशेष रूप से कृत विषय को जानने वाला (भवति) होता है (इति) इस कारण से तुम (अन्नम्) अन्न को ब्रह्म यानी बड़ा मानकर (उपास्स्व) उपासना करो ॥१॥

विशेषार्थ—योगीन्द्र सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि हे नारद ! प्रसिद्ध हैं कि बल सम्पादक होने से अन्न ही बल से अधिक श्रेष्ठ है। इसी कारण से यदि कोई बलवान् पुरुष भी दस दिन रात भोजन न करे तो वह बलहीन होकर मर जायगा। अथवा यदि कोई बलिष्ठ प्रसिद्ध मनुष्य जीवित भी रह जायगा तो भी वह नहीं दर्शन करने वाला होता है और नहीं श्रवण करने वाला होता है तथा नहीं मनन करने वाला होता है और नहीं निदिध्यासन करने वाला होता है और नहीं कर्म का अनुष्ठान करने वाला होता है तथा नहीं विशेष रूप से कृत विषय को जानने वाला ही होता है। अर्थात् मरे के समान हो जाता है। और फिर खाद्य अन्न की प्राप्ति होने पर वही पुरुष देखने वाला होता है और सुनने वाला होता है तथा मनन करने वाला होता है और निदिध्यासन करने वाला होता है तथा सब कर्म का अनुष्ठान करने वाला होता है और विशेष रूप से कृत

विषय को जानने वाला होता है। इस अन्वय व्यतिरेक से बल की अपेक्षा अन्न उत्कृष्ट है। अन्यत्र भी अन्न के विषय में लिखा है— **अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) अन्न ही सब भूतों में श्रेष्ठ है। इसीसे अन्न सब का औषध कहा जाता है। सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए सब प्राणी अन्न से बढ़ते हैं। वह जीवन दशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में खाता है। इससे अन्न इस नाम से कहा जाता है ॥१॥ इस कारण से तुम अन्न ब्रह्म की उपासना करो ॥१॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति। यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इति। अन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके नवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ— (सः) वह (यः) जो कोई उपासक (अन्नम्) अन्न को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (वै) निश्चय करके (अन्नवतः) अन्नवाले और (पानवतः) प्रचुर पेयवाले (लोकान्) लोकों को (अभिसिध्यति) सब प्रकार से प्राप्त करता है और (यावत्) जहाँ तक (अन्नस्य) अन्नकी (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस अन्न ब्रह्मोपासक के (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। किसको होता है, वह पुनः उपसहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (अन्नम्) अन्न को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (अन्नात्) अन्न से (भूयः) बड़ी श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (अन्नात्) अन्न से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपाकरके उपदेश करें (इति) देवर्षि नारद ने इस प्रकार प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब अन्न ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक अन्न ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर अन्न ब्रह्म की उपासना करता है। वह उपासक निश्चय करके अन्नवान् और प्रचुर पानवान् लोकों को सब प्रकार से प्राप्त करता है और जहाँ तक अन्न की गति होती है वहाँ तक उस अन्न ब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक अन्न ब्रह्म है ऐसा मानकर अन्न ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर महाभागवत नारदजी पूछते हैं कि—हे पूज्यपाद भगवन् क्या अन्न से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है? इस बात को सुनकर सनत्कुमार ने कहा कि-हाँ, अन्न से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु अवश्य है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् अन्न से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझको दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का नवाँ खण्ड समाप्त हो गया॥ २॥

॥ अथ दशमखण्डः॥

आपो वा अन्नाद्भूयस्य स्तस्माद्यदा सुवृष्टि र्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीति। आप एवेमा मूर्ताः येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति॥१॥

अन्वयार्थ—(आपः) जल (वै) निश्चय करके (अन्नात्) अन्न से (भूयस्यः) अधिक श्रेष्ठ है (तस्मात्) इसी कारण से (यदा) जब (सुवृष्टिः) शस्यहितकारी अच्छी वृष्टि (न) नहीं (भवति) होती है तब (प्राणाः) सब प्राणी (व्याधीयन्ते) दुःखी होते हैं (इति) कि (अन्नम्) अन्न (कनीयः) बहुत थोड़ा (भविष्यति) होगा

और (यदा) जब (सुवृष्टिः) अच्छी वृष्टि (भवति) होती है तब (अन्नम्) अन्न (बहु) बहुत (भविष्यति) होगा (इति) इस कारण से (प्राणाः) सब प्राणी (आनन्दिनः) आनन्दवाले प्रसन्न (भवन्ति) होते हैं (इमाः) ये वक्ष्यमाण पृथ्वी आदि (मूर्ताः) मूर्तभेदाकार परिणत (आपः) जल (एव) ही हैं (या) जो (इयम्) यह (पृथिवी) पृथ्वी है और (यत्) जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक है तथा (यत्) जो (द्यौः) द्युलोक है और (यत्) जो (पर्वताः) हिमालयादिक पर्वत हैं तथा (यत्) जो (देवमनुष्याः) ब्रह्मा आदिक देवता और ब्राह्मण आदि मनुष्य हैं तथा (यत्) जो (पशवः) गौ भैंस हाथी घोड़ा आदि पशु हैं (च) और (वयांसि) जो तोता मैना आदि पक्षी हैं (च) और (तृणवनस्पतयः) जो तृण तथा वनस्पति हैं तथा (श्वापदानि) जो हिंसक जन्तु व्याघ्र आदि हैं और (आकीटपतङ्गपिपीलिकम्) जो कीट पतङ्ग पिपीलिका पर्यन्त सकल क्षुद्र जन्तु हैं (इमाः) ये सब (मूर्ताः) मूर्तभेदाकारपरिणत [आपः] जल [एव] ही हैं [इति] इस कारण से तुम [अपः] जल को ब्रह्म यानी बड़ा मानकर (उपास्स्व) उपासना करो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद ! प्रसिद्ध है कि जल अन्न से अधिक श्रेष्ठ है। इसीसे जब शस्य हितकारी सुन्दर वृष्टि नहीं होती है तब अन्न बहुत थोड़ा होगा इस कारण से सब प्राणी दुखी हो जाते हैं। और जब वृष्टि अच्छी होती है तब अन्न खूब होगा यह सोचकर सब प्राणी अधिक प्रसन्न हो जाते हैं। जल से ही अन्न उत्पन्न होता। क्योंकि लिखा है— **पर्जन्यादन्नसंभवः** ॥ [गी० अ० ३ श्लो० १४] अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है ॥१४॥ **वृष्टेरन्नम्** ॥ [मनु० अ० ३ श्लो० ७६] वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है ॥ ७६ ॥ ये वक्ष्यमाण पृथ्वी आदिक मूर्तभेदाकार परिणत जल ही हैं। जो यह पृथ्वी लोक है और जो अन्तरिक्ष लोक है तथा जो द्युलोक है और जो विन्ध्य हिमालयादि पहाड़ हैं तथा जो ब्रह्मा आदि देवता और ब्राह्मणादि मनुष्य हैं तथा जो गौ भैंस हाथी घोड़ा आदि पशु हैं और जो तोता मैना आदि पक्षी हैं तथा जो तृण और गूलर आदि वनस्पति हैं तथा जो हिंसक बाघ आदिक जन्तु हैं और जो कीट पतङ्ग पिपीलिका पर्यन्त समस्त क्षुद्र जन्तु हैं ये सब निश्चय करके मूर्तभेदाकारपरिणत जल ही हैं। इस कारण से तुम जल ब्रह्म की उपासना करो ॥१॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाँस्तृप्तिमान्भवति। यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इति। अद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (यः) जो कोई उपासक (अपः) जल को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है वह उपासक (सर्वान्) समस्त (कामान्) कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है और (तृप्तिमान्) तृप्तिमान् (भवति) होता है और (यावत्) जहाँ तक (अपाम्) जलों की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस जल ब्रह्मोपासक का (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। किसको होता है, वह पुनः उपसंहार से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (अपः) जल को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (अद्भ्यः) जल से (भूयः) बड़ा श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (अद्भ्यः) जल से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार से देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब जल ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक जल को ब्रह्म है यानी सबसे बड़ा है ऐसा मानकर जल ब्रह्म की उपासना करता है, वह उपासक निश्चय करके सब कामनाओं को पाता है और तृप्तिमान् हो जाता है। तथा जहाँ तक जल की गति जाती है वहाँ तक उस जल ब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक जल को ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर महाभागवत नारद ने पूछा कि—हे पूज्यपाद भगवन्! क्या

जल से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है ? इस बात को सुनकर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ जल से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् जल से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का दशवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथैकादशखण्डः ॥

तेजो वा अद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहु र्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते। तेज उपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(तेजः) तेज (वै) निश्चय करके (अद्भ्यः) जल से (भूयः) अधिक श्रेष्ठ है (तत्) उस जल के कारण होने से (वै) निश्चय करके (एतत्) यह तेज जिस समय में (वायुम्) वायु को (आगृह्य) अपनी आत्मा से निश्चल कर (आकाशम्) आकाश को (अभितपति) व्याप्त होकर सब ओर से सन्तप्त करता है (तदा) उस समय में लौकिक मनुष्य (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं कि (निशोचति) अत्यन्त गर्मी हो रही है (नितपति) यह तेज जगत् को सन्तप्त करता है (वर्षिष्यति) इससे अवश्य वर्षा होगी (वै) निश्चय करके (तेजः) तेज (एव) ही (इति) इस प्रकार के (पूर्वम्) वर्षा से पहले (तत्) उस अपने स्वरूप को (दर्शयित्वा) दिखलाकर (अथ) (अपः) जल को (सृजते) उत्पन्न करता है (च) और (तत्) वह (एतत्) यह तेज इस कारण से आज कल भी (ऊर्ध्वाभिः) ऊपर जाने वाली (च) और (तिरश्चीभिः) तिरछी गति वाली (विद्युद्भिः) बिजलियों करके (आह्रादाः) मेघ के घोर गर्जन शब्द (चरन्ति) होते हैं (तस्मात्) इस कारण से (आहुः) लौकिक लोग कहते हैं कि (विद्योतते) बिजली चमकती है और (स्तनयति) मेघ गरजता है (वै) निश्चय करके (वर्षिष्यति) वर्षा होगी (तेजः) तेज

(एव) हो (इति) इस प्रकार के (पूर्वम्) वर्षा से पहले (तत्) उस अपने स्वरूप को (दर्शयित्वा) दिखलाकर (अथ) पश्चात् (अपः) जल को (सृजते) उत्पन्न करता है (इति) इस कारण से तुम (तेजः) तेज को ब्रह्म यानी बड़ा मानकर (उपास्स्व) उपासना करो ।।१।।

विशेषार्थ—सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद ! प्रसिद्ध है कि तेज जल से अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि तेज का कारण जल ही है। यह अन्यत्र भी लिखा है— **अग्नेरापः ।।** [तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १] तेज से जल उत्पन्न हुआ ।।१।। जल के कारण होने से निश्चय करके यह तेज जब वायु को अपनी आत्मा से निश्चल कर आकाश को व्याप्त होकर सब ओर से सन्तप्त करता है, अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में तेज वायु को लेकर आकाश में फैलकर जगत् को तपाना प्रारम्भ करता है तब लौकिक सब मनुष्य कहने लगते हैं कि—अत्यन्त गर्मी हो रही है। यह तेज जगत् के प्राणियों को सन्तप्त करता है। इससे मालूम पड़ता है कि अवश्य वर्षा होगी। इस प्रकार से तेज ही वर्षा से पहले अपने अद्भुत स्वरूप को दिखलाकर तदनन्तर जल को उत्पन्न करता है। वह यह तेज ऊपर जाने वाली और तिरछी गतिवाली बिजलियों के साथ मेघ की गड़गड़ाहट का शब्द फैला देता है। इसी से सबलोग कहते हैं कि—बिजली चमकती है, बादल गर्जता है, वर्षा अवश्य होगी। इस प्रकार से तेज ही वर्षा से पहले अपने उस अद्भुत स्वरूप को दिखलाकर तत्पश्चात् जल को उत्पन्न करता है। इस कारण से तुम तेज ब्रह्म की उपासना करो ।।१।।

स यः तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति । यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारोभवति। यः तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः तेजसो भूय इति । तेजसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।२।।

।। इति सप्तमप्रपाठके एकादशखण्डः ।।

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (तेजः) तेज को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी

बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (वै) निश्चय करके (तेजस्वी) तेजस्वी होता है और (तेजस्वतः) तेज सम्पन्न (भास्वतः) प्रकाशमान (अपहततमस्कान्) अन्धकार रहित (लोकान्) लोकों को (अभिसिध्यति) भलीभाँति प्राप्त करता है और (यावत्) जहाँ तक (तेजसः) तेज की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस तेज ब्रह्मोपासक का (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है, किसको होता है सो पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो उपासक (तेजः) तेज को (ब्रह्म) ब्रह्म यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (तेजसः) तेज से (भूयः) बड़ा श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (तेजसः) तेज से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब तेज ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक तेज ब्रह्म है यानी सबसे बड़ा है ऐसा मानकर तेज ब्रह्म की उपासना करता है। वह उपासक निश्चय करके स्वयं तेजस्वी होकर तेज से सम्पन्न देदीप्यमान अन्धकार रहित लोकों को प्राप्त करता है। और जहाँ तक तेज की गति जाती है वहाँ तक उस तेज ब्रह्मोपासककी अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक तेज को ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर परम वैष्णव नारद ने पूछा कि—हे पूज्यपाद भगवन् क्या तेज से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है? इस बात को सुनकर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ, तेज से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि-हे पूज्यपाद भगवन् तेज से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है, उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ द्वादशखण्डः ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(आकाशः) आकाश (वाव) ही (तेजसः) तेज से (भूयान्) अधिक श्रेष्ठ है (आकाशे) आकाश में (वै) निश्चय करके (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (उभौ) ये दोनों तथा (विद्युत्) बिजली और (नक्षत्राणि) समस्त नक्षत्र मण्डल तथा (अग्निः) अग्नि स्थित है (आकाशेन) आकाश के द्वारा (आह्वयति) एक दूसरे को पुकारता है और (आकाशेन) आकाश से (शृणोति) सुनता है तथा (आकाशेन) आकाश से ही (प्रतिशृणोति) प्रतिश्रवण करता है और (आकाशे) आकाश में (रमते) सब जन क्रीड़ा करते हैं तथा (आकाशे) आकाश में (न) नहीं (रमते) क्रीड़ा करता है अर्थात् शोच करता है और (आकाशे) आकाश में (जायते) सब पदार्थ उत्पन्न होता है तथा (आकाशम्) आकाश की ओर (अभिजायते) सब जीव एवं अंकुर आदिक बढ़ता है (इति) इस कारण से तुम (आकाशम्) आकाश को ब्रह्म यानी बड़ा मानकर (उपास्स्व) उपासना करो ॥१॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हेनारद ! निश्चय करके आकाश तेज से अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि पूर्वखण्डोक्त वायु सहित तेज का कारण आकाश ही है। यह शास्त्र सिद्ध बात है। जो पदार्थ जिसका कारण होता है वह उससे अधिक बड़ा होता है। जैसे घट आदि का कारण मृत्तिका घट आदि से बड़ा है। और सूर्य चन्द्र बिजली नक्षत्र आदि समस्त ज्योतिमण्डल तथा आकाश के अन्तवर्ती हैं यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि अन्तवर्ती वस्तु छोटी होती है जैसे गृह के अन्तवर्ती घट गृह से छोटा होता है। वैसे ही आकाश के अन्तवर्ती सूर्य चन्द्र आदिक समस्त ज्योतिर्मण्डल आकाश से छोटा होता है। और आकाश के द्वारा ही सब कोई सुनता है और आकाश से ही सब कोई प्रतिश्रवण करता है। आकाश

में ही सब कोई क्रीड़ा करता है। आकाश में रमण नहीं करता है अर्थात् शोच करता है। आकाश में ही सब पदार्थ उत्पन्न होता है तथा आकाश की ओर ही सब जीव एवं अंकुर आदिक बढ़ता है। इस कारण से तुम आकाश ब्रह्म की उपासना करो ॥१॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति। यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इति। आकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके द्वादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (यः) जो कोई उपासक (आकाशम्) आकाश को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (वै) निश्चय करके (आकाशवतः) विस्तार युक्त अतएव (असंबाधान्) अन्योन्यपीडालक्षण संबाधाशून्य (प्रकाशवतः) तेजस्वी (उरुगायवतः) बड़ा कीर्तिवाले (लोकान्) लोकों को (अभिसिध्यति) सब प्रकार से प्राप्त करता है और (यावत्) जहाँ तक (आकाशस्य) आकाश की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस आकाश ब्रह्मोपासक के (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। किसको होता है, वह पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (आकाशम्) आकाश को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (आकाशात्) आकाश से (भूयः) बड़ी श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (आकाशात्) आकाश से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपाकर के उपदेश करें (इति) देवर्षि नारद ने इस प्रकार प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब आकाश ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक आकाश ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर आकाश ब्रह्म की उपासना करता है। वह उपासक अवश्य ही आकाश के समान विस्तारयुक्त अत-

एव अन्योन्यपीडालक्षण सबाधा से रहित प्रकाशवान् बड़ी कीर्तिवाले लोकों को प्राप्त करता है और जहाँ तक आकाश की गति होती है वहाँ तक उस आकाश ब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि-जो कोई उपासक आकाश ब्रह्म है ऐसा मानकर आकाश ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर महाभागवत नारद ने पूछा कि—हे पूज्यपाद भगवन् क्या आकाश से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है ? इस बातको सुनकर सनत्कुमार ने कहा कि-हाँ, आकाश से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु अवश्य है। गुरुदेव के इस बचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् आकाश से भी जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझको दीजिये। आकाश तथा वायु और तेज का लक्षण मैं पहले लिख चुका हूँ। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का बारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ त्रयोदशखण्डः ॥

स्मरो वा आकाशाद्भूय स्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्। यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथमन्वीरन्नथ विजानीरन्। स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्मरः स्मरण (वै) निश्चय करके (आकाशत्) आकाश से (भूयः) अधिक श्रेष्ठ है (तस्मात्) उसी कारण से (यद्यपि) यद्यपि (न) नहीं (स्मरन्तः) स्मरण करते हुये (बहवः) बहुत आदमी (आसीरन्) एक स्थान में बैठे हों तो (ते) वे सब आदमी (एव) निश्चय करके (न) नहीं (कञ्चन) किसी शब्द को (शृणुयुः) सुन सकेंगे (न) नहीं (मन्वीरन्) मनन कर सकेंगे (न) नहीं (विजानीरन्) जान ही सकेंगे परन्तु (ते) वे (वाव) प्रसिद्ध आदमी (यदा) जब (स्मरेयुः) स्मरण कर सकेंगे (अथ) तदनन्तर (मन्वीरन्) मनन कर सकेंगे और

(अथ) तदनन्तर (विजानीरन्) विशेष रूप से जान सकेंगे। और (स्मरेण) स्मरण करने से (वै) ही (पुत्रान्) मनुष्य पुत्रों को (विजानीति) भलीभाँति जानता है और (स्मरेण) स्मरण से ही (पशून्) गौ भैंस घोड़ा हाथी आदि पशुओं को जानता है (इति) इस कारण से तुम (स्मरम्) स्मरण को ब्रह्म यानी बड़ा मान कर (उपास्स्व) उपासना करो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—योगीश्वर सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद निश्चय करके स्मरण आकाश से अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि आकाश का गुण शब्द है, यह प्रसिद्ध है। और शब्द के स्मरण के द्वारा ही सुना जाता है। इसीसे यद्यपि बहुत से लोग एक स्थान पर बैठे हों तो भी स्मरण न करने पर वे न कुछ सुन सकते हैं और न मनन कर सकते हैं और न जान ही सकते हैं। जिस समय वे पुरुष स्मरण करते हैं उसी समय सुन सकते हैं उसी समय मनन कर सकते हैं और उसी समय विशेष रूप से जान सकते हैं। और स्मरण करने से ही मनुष्य पुत्रों को पहचानता है। तथा स्मरण से ही गौ भैंस घोड़ा हाथी आदि पशुओं को पहचानता है। इस श्रुति में 'स्मर' का अर्थ स्मरण यानी स्मृति है। स्मृति के विषय में लिखा है— **अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः** ॥ [योग अ० १ पा० १ सू० ११] अनुभव किये हुए विषय का चित्त में आरोहण होना ही स्मरण है ॥११॥ स्मरण आकाश से श्रेष्ठ है इस कारण से तुम स्मरण ब्रह्म की उपासना करो ॥१॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति । 'यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति। स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके त्रयोदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (स्मरम्) स्मरण को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (सः) वह उपासक (यावत्) जहाँ तक (स्मरस्य) स्मरण की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस स्मरण ब्रह्मोपासक का (यथाकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है

किसको होता है, वह पुनः उपसंहार से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (स्मरम्) स्मरण को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मानकर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (स्मरात्) स्मरण से (भूयः) बड़ा श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (स्मरात्) स्मरण से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार से देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ—अब स्मरण ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक स्मरण को ब्रह्म है यानी सबसे बड़ा है ऐसा मानकर स्मरण ब्रह्म की उपासना करता है, वह उपासक जहाँ तक जल की गति जाती है वहाँ तक उस स्मरण ब्रह्मोपासक की अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वासार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक स्मरण को ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मानकर ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुनकर परम वैष्णव नारद ने पूछा कि—हे पूज्यपाद भगवन्! क्या स्मरण से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है? इस बात को सुनकर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ, स्मरण से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् स्मरण से जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है, उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ चतुर्दशखण्डः ॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मंत्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छत इमं च लोक-ममुंचेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(वाव) प्रसिद्ध (आशा) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा (स्मरात्) स्मरण से (भूयसी) अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि (वै) निश्चय करके (आशेद्धः) आशा यानी फल की इच्छा से इद्ध यानी दीपित

अर्थात् उत्पादित (स्मरः) इष्ट विषयक स्मरण वाला ही (मन्त्रान्) मन्त्रों को (अधीते) अध्ययन करता है तत्पश्चात् (कर्माणि) कर्मों को (कुरुते) मनुष्य करता है (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (च) तथा (पशून्) गौ भैंस घोड़ा हाथी आदि पशुओं को (इच्छते) इच्छा करता है (च) और (इमम्) इस (लोकम्) भूलोक को (च) तथा (अमुम्) उस परलोक को (इच्छते) इच्छा करता है (इति) इस कारण से तुम आशाम्) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा को ब्रह्म यानी बड़ा मान कर (उपास्स्व) उपासना करो ॥१॥

विशेषार्थ—योगीन्द्र सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद निश्चय करके इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा ही स्मरण से अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि आशा से यानि फल की इच्छा से इद्ध यानी प्रदीप्त अर्थात् वर्धित इष्ट साधनत्वादि विषयक स्मरण करने वाला होता है। यदि आशा न हो तो किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा भी व्यक्ति नहीं करेगा और आशा से ही मन्त्रों का पाठ करता है।मंत्र के विषय में लिखा है— **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या** ॥ (पूर्व० मी० अ० २ पा० १ सू० ३२) प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मन्त्र है ॥३२॥ मनन करने वालों की रक्षा करता है इसीसे मन्त्र कहा जाता है। आशा से ही पुरुष कर्मानुष्ठान करता है। तत्पश्चात् कर्म के फलभूत पुत्रादिकों को और गौ भैंस घोड़ा हाथी आदि पशुओं की इच्छा करता है और इस भूलोक तथा परलोक की कामना करता है। इस कारण से तुम इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा को ब्रह्म यानी बड़ा मान कर उपासना करो ॥१॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा ह्यास्याशिषो भवन्ति। यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते ऽस्ति भगव आशाया भूय इति। आशाया वाव भूयो-ऽस्तीति। तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके चतुर्दशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह (यः) जो कोई उपासक (आशाम्) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मान कर (उपास्ते) उपासना करता है तो (अस्य) इस आशा ब्रह्मोपासक की (सर्वे) सब (कामाः) कामनाएँ (आशया) उपासना की हुई आशा से (समृध्यन्ति) सम्यक् वृद्धि को प्राप्त होती हैं और (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस आशा ब्रह्मोपासक की (आशिषः) प्रार्थनाएँ (अमोघाः) सफल पूर्ण (भवन्ति) होती हैं और (यावत्) जहाँ तक (आशायाः) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा की (गतम्) गति है (तत्र) वहाँ तक (अस्य) इस आशा ब्रह्मोपासक का (यथाकामचारः) स्वच्छानुसार गमन (भवति) होता है किसको होता है सो पुनः उपसंहार रूप से वर्णन किया जाता है कि (यः) जो कोई उपासक (आशाम्) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा को (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी बड़ा है (इति) ऐसा मान कर (उपास्ते) उपासना करता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवान् (आशायाः) आशा से (भूयः) बड़ी श्रेष्ठ (अस्ति) कुछ वस्तु है (इति) ऐसा नारद ने पूछा तब (आशायाः) आशा से (वाव) प्रसिद्ध (भूयः) बड़ी (अस्ति) अन्य वस्तु है (इति) ऐसा उत्तर सनत्कुमार भगवान् ने दिया (भगवान्) पूज्यपाद आप (तत्) उस बड़ी वस्तु को (मे) मेरे लिये (ब्रवीतु) कृपा करके उपदेश करें (इति) इस प्रकार देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥२॥

विशेषार्थ- अब आशा ब्रह्म की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा को ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मान कर उपासना करता है, तो इस आशाब्रह्मोपासक की सब कामनाएँ उपासना की हुई आशा से समृद्ध होती हैं और इस आशा ब्रह्मोपासक की सब आशाएँ या प्रार्थनाएँ सफल होती हैं और जहाँ तक इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा की गति जाती है वहाँ तक उस आशा ब्रह्मोपासक को अपनी इच्छा के अनुसार गति होती है। पुनः उक्त अर्थ को ही उपसंहार रूप से उपासक के विश्वसार्थ वर्णन किया जाता है कि—जो कोई उपासक इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा को ब्रह्म है यानी बड़ा है ऐसा मान कर आशा ब्रह्म की उपासना करता है। इस उपदेश को सुन कर महाभागवत नारद ने पूछा कि—हे पूज्यपाद भगवान् क्या आशा से भी अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु है। इस बात को सुन कर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि—हाँ आशा से भी अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। गुरुदेव के इस वचन को सुन कर पुनः देवर्षि नारद ने

सविनय प्रार्थना की कि-- हे पूज्यपाद भगवान् आशा से जो अधिक श्रेष्ठ वस्तु है उसकी शिक्षा आप निर्हेतुक कृपा करके मुझे दीजिये। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम प्रपाठक का चौदहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ पञ्चदशखण्डः ॥

प्राणो वा आशाया भूयान् । यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम् । प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति । प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥१॥

अन्वयार्थ – (प्राणः) प्राण सहचारी प्रत्यगात्मा (वै) निश्चय करके (आशायाः) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा से (भूयान्) अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि (यथा) जैसे (वै) निश्चय करके (अराः) रथचक्र के अरे यानी छोटे छोटे तीरछे काष्ठ खण्ड (नाभौ) रथचक्र की नाभि में (समर्पिताः) लगे हुए रहते हैं (एवम्) वैसे ही (सर्वम्) समस्त अचेतन भूत जात (अस्मिन्) इस (प्राण) प्राण सहचारी चेतन जीवात्मा में (समर्पितम्) समर्पित यानी संबद्ध है (प्राणः) प्राणशब्द निर्दिष्ट जीव देवदत्तादिक (प्राणेन) प्राण शब्दवाच्य अश्व आदि से (याति) जाता है (प्राणः) प्राण शब्दनिर्दिष्ट जीव हरिदत्तादि (प्राणम्) प्राण शब्दवाच्य जीव गौ आदिक को (ददाति) देता है तथा (प्राणाय) प्राण शब्दवाच्य जीव ब्राह्मणादि के लिये (ददाति) देता है और (पिता) पिता (प्राणः) प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव (ह) प्रसिद्ध है (माता) माता (प्राणः) प्राण शब्दवाच्य जीव ही प्रसिद्ध है तथा (भ्राता) भाई (प्राणः) प्राण सहचारी जीव प्रसिद्ध है और (स्वसा) बहन (प्राणः) प्राणशब्दवाच्य जीव ही प्रसिद्ध है तथा (आचार्यः) आचार्य (प्राणः) प्राणशब्द निर्दिष्ट जीव प्रसिद्ध है और (ब्राह्मणः) ब्राह्मणत्व जातिविशिष्ट ब्राह्मण (प्राणः) प्राण शब्दवाच्य जीव प्रसिद्ध ही है ॥१॥

विशेषार्थ – योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद निश्चय करके प्राण सहचारी जीवात्मा इच्छित पदार्थ

की प्रार्थना रूप आशा से अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि जिस प्रकार रथचक्र के अरे यानी छोटे छोटे तिरछे काठ के खण्ड रथचक्र की नाभि में समर्पित रहते हैं उसी प्रकार समस्त अचेतन भूत जात इस प्राणसहचारी चेतन जीवात्मा में समर्पित है। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है— **यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः ॥** (कौषीतकि ब्राह्मणो०अ० ३ श्रु० ६)जैसे रथ की नेमि अरों में और अरें रथ की नाभि में आश्रित हैं वैसे ही ये भूत मात्राएँ प्रज्ञामात्राओं में समर्पित हैं ।।६।। प्रकृत श्रुति में प्राण शब्द जीव वाचक है। इससे यह अर्थ होता है कि—गमन करने वाला – गन्ता देवदत्तादि भी जीव ही है और गमन करणभूत अश्वादि भी जीव ही है। दाता भी जीव ही है और दान करने योग्य धेनु आदि भी जीव ही है। सम्प्रदानभूत ब्राह्मणादि भी जीव ही है। अर्थात् प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव देवदत्तादि प्राण शब्दवाचय अश्व आदि जीव से जाता है। प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव हरिदत्तादि प्राण शब्दवाच्य जीव गौ आदिक को प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव ब्राह्मणादि के लिये देता है। दान के विषय में लिखा है—**दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥** (गी० अ० १७ श्लोक० २०) देना कर्तव्य है ऐसा समझ कर जो दान देश काल और पात्र में अनुपकारी को दिया जाता है वह दान सात्त्विक बतलाया गया है ।।२०।। **यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥** (गी० अ० १७ श्लोक २१) जो प्रत्युपकार के लिये या पुनः फल के उद्देश्य से दिया जाता है तथा जो अशुभ द्रव्य से युक्त होता है वह दान राजस बतलाया गया है ।।२१।। **अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥** (गी० अ० १७ श्लोक २२) जो दान बिना देश काल के बिना सत्कार और बिना आदर के अपात्रों को दिया जाता है वह दान तामस बतलाया गया है ।।२२।। और पिता भी चेतन जीव ही प्रसिद्ध है तथा माता भी जीव ही प्रसिद्ध है। भाई भी जीव ही प्रसिद्ध है। बहन भी जीव ही प्रसिद्ध है और आचार्य भी जीव ही प्रसिद्ध है। आचार्य के विषय में लिखा है—**स्वयमाचरते यस्मादा-**

चारं स्थापयत्यपि । आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते ।। (ब्रह्माण्ड पु० पूर्वभा० अनुषङ्गपा० २ अ० ३२ श्लोक ३२) स्वयं जो शास्त्रानुसार आचरण करता है और आचरण करवाता है तथा शास्त्रों को एकत्रित करता है उसको आचार्य कहते हैं।३२। और ब्राह्मणत्व जाति विशिष्ट ब्राह्मण भी जीव ही प्रसिद्ध है। मीमांसामार्तण्ड भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ।। (शा०मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की पहली श्रुति के "प्राणो ह पिता प्राणो माता" इन पदों को उद्धृत किया है ।।१।।

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ।।२।।

अन्वयार्थ—(सः) वह पुरुष (यदि) अगर (पितरम्) सजीव (पितरम्) पिता को (वा) अथवा (मातरम्) माता को (वा) अथवा (भ्रातरम्) भाई को (वा) अथवा (स्वसारम्) बहन को (वा) अथवा (आचार्यम) आचार्य को (वा) अथवा (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (वा) अथवा भागवत को (भृशम्) अनुचित (इव) सा (किञ्चीत्) कुछ वचन (प्रत्याह) कहता है तो (एनम्) इस अनुचित वक्ता को (त्वा) तुझको (धिक्) धिक्कार (अस्तु) हो (इति) ऐसा (एव) निश्चय करके (आहुः) सब लोग कहते हैं और (वै) निश्चय करके (पितृहा) पिता को मारने वाला (त्वम्) तू (असि) है (वै) निश्चय करके (मातृहा) माता को हनन करने वाला (त्वम्) तू (असि) है (वै) निश्चय करके (भ्रातृहा) भाई को मारने वाला (त्वम्) तू (असि) है (वै) निश्चय करके (स्वसृहा) बहन को मारने वाला (त्वम्) तू (असि) है (वै) निश्चय करके (आचार्यहा) आचार्य को हनन करने वाला (त्वम्) तू (असि) है (वै) निश्चय करके (ब्राह्मणहा) ब्राह्मण को मारने वाला (त्वम्) तू (असि) है और निश्चय करके भागवत को हनन करने वाला तू है (इति) ऐसा सब लोग कहते हैं ।।२।।

विशेषार्थ—पहली श्रुति में पित्रादि शब्दवाच्य जीव ही है ऐसा कहकर अब परिदृश्यमान मांसपिण्ड विशेष ही पित्रादि शब्दवाच्य है ऐसा मानने वाले के प्रति श्रुति आदेश देती है कि—यदि कोई पुरुष अपने सजीव माता पिता भाई बहन आचार्य अथवा ब्राह्मण भागवत के लिये कोई अनुचित बात कहता है तो उससे सब लोग कहते हैं कि—तुझे धिक्कार है तू निश्चय ही पिता का हनन करने वाला है, तू तो माता का बध करने वाला है, तू तो भाई को मारने वाला है, तू तो बहन की हत्या करने वाला है, तू तो आचार्य का घात करने वाला है, तू निश्चय ही ब्राह्मण तथा भागवत को मारने वाला है। मर्यादादेशिकोत्तम भगवद्रामानुजाचार्यने—**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के "पितृहा······मातृहा" इन पदों को उद्धृत किया है ॥२॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषंदहेन्नैवेनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाऽऽचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यद्यपि) यद्यपि (उत्क्रान्तप्राणान्) निकले हुये जीव वाले (एनान्) इन माता पिता आदि के देहों को (शूलेन) शूल से छिन्न भिन्न करके और (समासम्) इकट्ठा करके (व्यतिषंदहेत्) उसके पुत्र आदि सम्बन्धी जला देते हैं तो भी (एव) निश्चय करके (एनम्) इस जलाने वाले पुरुष को (पितृहा) पिता को मारनेवाला (असि) तू है (इति) ऐसा (न) नहीं (ब्रूयुः) कहते हैं (मातृहा) माता को हनन करने वाला (असि) तू है (इति) ऐसा (न) नहीं कोई कहते हैं (भ्रातृहा) भाई को मारनेवाला (असि) तू है (इति) ऐसा (न) नहीं कोई कहते हैं (स्वसृहा) बहन को हनन करने वाला (असि) तू है (इति) ऐसा (न) नहीं कोई कहते हैं (आचार्यहा) आचार्य को मारने वाला (असि) तू है (इति) ऐसा (न) नहीं कोई कहते हैं (ब्राह्मणहा) ब्राह्मण को हनन करने वाला (असि) तू है (इति) ऐसा (न) नहीं कोई कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पित्रादि शब्दवाच्य जीव ही है ॥३॥

विशेषार्थ—अब जिनके जोव निकल गये हैं। उन पिता आदि के जीव हीन शरीर को यदि वह पुत्रादिसंबन्धी शूल से एकत्रित और छिन्न भिन्न करके जला दें तो भी उस जलाने वाले पुरुष को "तू पिता की हत्या करने वाला है" इस प्रकार कोई नहीं कहता। तू माता को मारने वाला है ऐसा कोई नहीं कहता। तू भाई का वध करने वाला है, इस प्रकार कोई नहीं कहता। तू बहन की हत्या करने वाला है ऐसा कोई नहीं कहता। तू आचार्य का वध करने वाला हैं, इस प्रकार कोई नहीं कहता। तू ब्राह्मण को मारने वाला है ऐसा कोई नहीं कहता। निर्जीव में "पितृहा" आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता है इससे सिद्ध होता है कि पित्रादिशब्दनिर्दिष्ट जीव ही है। इस श्रुति में भी "प्राण" शब्द का अर्थ प्राणसहचारी प्रत्यगात्मा यानी जीव ही है ॥३॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥४॥

॥ इतिसप्तमप्रपाठके पञ्चदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ--(हि) क्योंकि (एतानि) ये (सर्वाणि) सब पिता माता भाई बहन आचार्य ब्राह्मण आदि (एव) निश्चय करके (प्राणः) प्राण-सहचारी जीव (भवति) है आगे फल कहा जाता है (वै) निश्चय करके (सः) पूर्ववाक्य में प्राणशब्द से निर्दिष्ट वह (एषः) यह जीव (एवम्) इस उक्त प्रकार से (मन्वानः) अपनी आत्मा को मनन का विषय करता हुआ और (एवम्) इस प्रकार से (विजानन्) विशेषरूप से जानता हुआ अर्थात् उपासना करता हुआ (एवम्) इस प्रकार से (पश्यन्) साक्षात्कार करता हुआ (अतिवादी) अतिक्रान्त स्वोपास्य सर्वोत्कृष्ट वस्तु वादी (भवति) होता है (तम्) उस स्वोपास्य सर्वोत्कृष्टवस्तुभाषण शील पुरुष को (चेत्) यदि कोई (इति) ऐसा (ब्रूयुः) कहे कि (अतिवादी) अतिक्रान्त स्वोपास्य सर्वोत्कृष्ट वस्तुवादी (असि) तू है तो वह उपासक (अतिवादी) नाम से लेकर आशापर्यन्त को अतिक्रमण करके प्राणसहचारी जीव तत्त्ववादी (अस्मि) मैं हूँ (इति) ऐसा (ब्रूयात्) उत्तर देवे इस बात को कदापि (न) नहीं (अपह्नुवीत) छिपावे ॥४॥

विशेषार्थ पूर्व में कहा गया है कि—पिता जीव है। माता जीव है। भ्राता जीव है। भगिनी जीव है। आचार्य जीव है। ब्राह्मण जीव है। इसी विषय का उपसंहार इस प्रकृत श्रुति के पहले वाक्य में किया जाता है कि— प्रसिद्ध ये सब माता पिता भाई बहन आचार्य ब्राह्मण निश्चय करके प्राणसहचारी जीव ही हैं। अब आगे प्राणशब्दनिर्दिष्ट जीव की उपासना का फल कहा जाता है कि—जो कोई उपासक आशा से बड़ा जीव को मानकर जीव की उपासना करता है तो निश्चय करके प्राण शब्द से निर्दिष्ट वह यह जीव इस पूर्वोक्त प्रकार से अपनी आत्मा को मनन का विषय करता हुआ और इस प्रकार से स्वस्वरूप को विशेष रूप से जानता हुआ अर्थात् अपनी आत्मा की उपासना करता हुआ इस प्रकार से आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ अतिवादी होता है। अर्थात् साक्षात्कारप्रीतस्वोपास्यदेवता के अनुग्रह से ईदृश नाम से लेकर आशा-पर्यन्त को अतिक्रमण करके यानी त्याग करके जीवात्मा का भाषण शील हो जाता है। उस स्वोपास्य नामादिसर्वोत्कृष्ट जीव वस्तु भाषण शील पुरुष को यदि कोई कहे कि तुम अतिवादी हो तो उपनिषद् शिक्षादेती है कि-दृढ़तापूर्वक यह उत्तर देवे कि हाँ अतिवादी मैं हूँ। इस बात को कभी न छिपावे। क्योंकि सची बात के छिपाने से देश में पाप फैलजाता है। इस श्रुति में भी "प्राण" शब्द का अर्थ प्राणसहचारी प्रत्यगात्मा ही है। नाम से वाणी अधिक है और वाणी से मन अधिक है तथा मनसे सकल्प बड़ा है और सकल्प से चित्त श्रेष्ठ है तथा चित्त से ध्यान अधिक है और ध्यान से विज्ञान बड़ा है तथा विज्ञान से बल श्रेष्ठ है और बल से अन्न बड़ा है तथा अन्न से जल श्रेष्ठ है और जल से तेज अधिक है तथा तेज से आकाश बड़ा है और आकाश से स्मरण श्रेष्ठ है तथा स्मरण से आशा बड़ी है, इत्यादि भाषणशील पुरुष को अतिवादी कहते हैं। क्योंकि "अति" नाम अतिक्रमण का है तब वह उसका त्याग करता जाय और उससे दूसरे दूसरे को उत्तम बतलाता जाय उसे अतिवादी कहते हैं। प्रकृत श्रुति में प्राण यानी जीव वेत्ता को अतिवादी कहा गया है। बृहद्ब्रह्मसंहिताप्रतिपादित भगवद्रामानुजाचार्यने—**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ (शा.मी.अ. १ पा. ३ सू. ७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तमप्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की चौथी श्रुति के "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इस वाक्य को

उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तमप्रपाठक का पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ षोडशखण्डः ॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति। सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके षोडशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई उपासक (सत्येन) उपास्य सत्य परब्रह्म नारायण के निमित्त से (अतिवदति) सबको अतिक्रमण करके भाषण करता है (एषः) यह निरतिशय पुरुषार्थ रूप से उपास्य परब्रह्मातिवादी उपासक (वै) निश्चय करके पहले कहे हुए प्राणशब्द-निर्दिष्ट जीवातिवादी से (तु) विशेष (अतिवादी) अतिवादी होता है (भगवः) हे पूज्यपाद भगवान् (सः) वह परब्रह्म नारायण को नहीं जानने वाला (अहम्) मैं (सत्येन) सत्य शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के निमित्त से (अतिवदानि) सबको अतिक्रमण करके भाषण करने वाला होऊँ (इति) इस प्रकार के शिष्य नारद ने प्रार्थना की तब (सत्यम्) सत्य शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण (एव) हो (तु) तो (विजिज्ञासितव्यम्) विशेष रूप से जिज्ञासा करने योग्य हैं अर्थात् उपास्य परब्रह्म नारायण ही हैं (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (सत्यम्) उपास्य सत्य परब्रह्म नारायण को (विजिज्ञासे) मैं विशेष जिज्ञासा करता हूँ अर्थात् उपासना करता हूँ (इति) ऐसा पुनः देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥१॥

विशेषार्थ—प्राण शब्द निर्दिष्ट प्रत्यगात्मा ही सबसे अतिशय है और उसी में सब पदार्थ समर्पित हैं। अतः यहाँ ही आत्मोपदेश समाप्त है ऐसा मानकर शिष्य नारद ने "हे भगवन् प्राणशब्दवाच्य जीव से भी बड़ी कोई वस्तु है" ऐसा पूर्ववत् प्रश्न नहीं किया तौभी परम दयालु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य योगिवरिष्ठ सनत्कुमार भगवान् ने विधिवत् उपसन्न जिज्ञासु शिष्य के लिये जीव से भी पर तत्त्व का उपदेश देना प्रारम्भ किया कि—हे नारद जो कोई उपासक सत्य यानी परब्रह्म नारा-

यण के निमित्त से सबको अतिक्रमण करके भाषण शील अतिवादी होता है। यह निरतिशय पुरुषार्थ रूप उपास्य परब्रह्मातिवादी उपासक पुरुष निश्चय करके पहले कहे हुए प्राण शब्द निर्दिष्ट जीवातिवादी से भी विशेष अतिवादी होता है। आचार्य के इस सदुपदेश को सुन कर महाभागवत नारद ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् आप ऐसी शिक्षा देवें कि—परब्रह्म नारायण को नहीं जानने वाला मैं सत्य शब्दवाच्य परब्रह्म के कारण ही सबको अतिक्रमण करके भाषण करने वाला अतिवादी होऊँ। शिष्य की इस बात को सुनकर सनत्कुमार भगवान् ने कहा कि-यदि सत्य शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के निमित्त अतिवादी होना चाहते हो तो सत्य यानी परब्रह्म नारायण की ही विशेष रूप से उपासना करनी चाहिये। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् सत्य शब्दवाच्य उस उपास्य परब्रह्म नारायण को विशेष रूप से जिज्ञासा यानी उपासना मैं करता हूँ। इस प्रकृत श्रुति में "तु" शब्द से प्राण शब्द से निर्दिष्ट पहले जो जीव है, उस जीवातिवादी से अन्य परब्रह्मातिवादी प्रतीत होता है। इससे 'तु" शब्द विशेष प्रदर्शक है। और यहाँ "सत्य" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है—**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्** ॥ (ईशोप० श्रु० १५ बृहदा० उ० अ० ५ ब्रा० १५ श्रु० १ ॥ यजु०अ० ४० मं० १७) ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल रूप पात्र से सत्य का यानी परब्रह्म नारायण का श्रीमुखारविन्द ढँका हुआ है ॥१५॥१॥१७॥ **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० १ श्रु० १) सत्य यानी निरुपाधिक सत्तायोगी ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार और अनन्त यानी देश काल तथा वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ॥१॥ **तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति** ॥ (छां० उ० प्र० ८ खं० ३ श्रु० ४) उस इस परब्रह्म नारायण का निश्चय करके प्रसिद्ध नाम सत्य है ॥४॥ **ते देवाः सत्यमेवोपासते** ॥ (बृह० उ० अ० ५ ब्रा०५ श्रु० १)वे सब देवता सत्य यानी परब्रह्म नारायण की ही उपासना करते हैं ॥१॥ **सत्त्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः** ॥ (महाभारत अनुशासनप०विष्णु स० श्लो० १०६) सत्त्ववान् १, सात्त्विक २, सत्य ३, सत्यधर्मपरायण ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥१०६॥

हरिवंशपर्वनिगदित भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥**(शा.मी. १।३।३७) **भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥** (शा०मी० ३।३।५५) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में तथा **अनियमस्सर्वेषामविरोधश्शब्दानुमानाभ्याम् ॥** (शा०मी० ३।३।३२) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक के सोलहवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक का सोलहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

यदा वै विजनात्यथ सत्यं वदति । नाविजानन्सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति । विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके सप्तदशखण्डः ॥

अन्वयार्थ— (यदा) जब (वै) निश्चय करके (विजानाति) विशेष रूप से साक्षात्कार करता है (अथ) तब (सत्यम्) उपास्य सत्य परब्रह्म नारायण के निमित्त (वदति) सबको अतिक्रमण करके भाषण शील अतिवादि होता है (अविजानन्) विशेष रूप से साक्षात्कार नहीं करता हुआ (सत्यम्) सत्य यानी परब्रह्म नारायण के निमित्त (न) नहीं (वदति) अतिवादी होता है और (एव) निश्चय करके (विजानन्) विशेष रूप से साक्षात्कार करता हुआ पुरुष (सत्यम्) सत्य यानी परब्रह्म नारायण के निमित्त (वदति) सबको अतिक्रमण करके भाषण शील अतिवादी होता है (तु) तो इस कारण से (विज्ञानम्) साक्षात्कार रूप विज्ञान (एव) निश्चय करके (विजिज्ञासितव्यम्) विशेष रूप से सम्पादन करने योग्य है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन्! (विज्ञानम्) अतिवादित्व निमित्त साक्षात्कार रूप विज्ञान को (विजिज्ञासे) विशेष रूप से मैं सम्पादन करना चाहता हूँ (इति) ऐसा प्रार्थना पुनः देवर्षि नारद ने की ॥१॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने ब्रह्म साक्षात्कार निमित्त अतिवादिता की सिद्धि के लिये परब्रह्म के साक्षात्कार में उपाय भूत परब्रह्म नारायण की उपासना को सोलहवें खण्ड में उपदेश देकर

अपने शिष्य से कहा– हे नारद जिस समय पुरुष निश्चय करके ब्रह्म साक्षात्कार करता है तभी सत्य शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के निमित्त सबको अतिक्रमण करके भाषण शील अतिवादी होता है। परब्रह्म को साक्षात्कार नहीं करता हुआ कोई भी पुरुष सत्य शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के निमित्त नहीं अतिवादी होता है। और निश्चय करके परब्रह्म नारायण को साक्षात्कार करता हुआ पुरुष सत्य शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के निमित्त सबको अतिक्रमण करके भाषण शील अतिवादी होता है। इस कारण से ब्रह्म साक्षात्कार रूप विज्ञान हो विशेष रूप से सम्पादन करना चाहिये। गुरुदेव के इस वचन को सुन कर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् अतिवादित्व निमित्त परब्रह्म नारायण के साक्षात्कार रूप विज्ञान को मैं सम्पादन करना चाहता हूँ। इस श्रुति में भी—**ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते ॥** (बृह० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १५) और जो ये उपासक वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य यानी परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं ॥१५॥ इस श्रुति के प्रमाण से सत्य का अर्थ परब्रह्म नारायण है। प्रकृत श्रुति में परब्रह्मोपासन के अतिवादित्व में हेतुता परब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा है यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है। भविष्यपुराण प्रतिपादित भगवद्रामानुजाचार्य ने **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥** (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक के सतरहवें खण्ड की पहली श्रुति के "यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति", इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक का सतरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथाष्टादशखण्डः ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति। नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति। मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

॥ इति सप्तमप्रपाठकेऽष्टादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (वै) निश्चय करके (मनुते) पुरुष मनन करता है (अथ) तब (विजानाति) परब्रह्म को साक्षात्कार करता है (अम-

त्वा) नहीं मनन करके (न) नहीं (विजानाति) कोई पुरुष परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है (मत्वा) मनन करके (एव) ही (विजानाति) परब्रह्म को साक्षात्कार करता है इस कारण से (मतिः) मनन (एव) निश्चय करके (तु) तो (विजिज्ञासितव्या) विशेष रूप से सम्पादन करने योग्य है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (मतिम्) परब्रह्मोपासन में उपायभूत मनन को (विजिज्ञासे) विशेष रूप से मैं सम्पादन करना चाहता हूँ (इति) ऐसा पुनः देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥ १ ॥

विशेषार्थ—योगेश्वर सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद ! जिस समय उपासक मनन करता है तभी वह परब्रह्म नारायण को साक्षात्कार करता है। बिना मनन किये कोई नहीं परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता, मनन करने पर ही परब्रह्म नारायण को साक्षात्कार करता है। इस कारण से परब्रह्म नारायण को मनन ही विशेष रूप से सम्पादन करना चाहिये। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की—हे पूज्यपाद भगवन् परब्रह्म नारायण की उपासना में उपायभूत मनन को विशेष रूप से मैं सम्पादन करना चाहता हूँ। मनन के उपदेश से श्रवण अर्थ सिद्ध होता है। स्कन्दपुराण प्रतिपादित भगवद्रामानुजाचार्य ने— **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥** (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के अठारहवें खण्ड की पहली श्रुति के "मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथैकोनविंशखण्डः ॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते। नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते। श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके एकोनविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (वै) निश्चय करके (श्रद्दधाति) पुरुष परब्रह्म में श्रद्धा करता है (अथ) तब (मनुते) मनन करता है (अश्रद्दधत्) श्रद्धा न करता

हुआ (न) नहीं (मनुते) कोई पुरुष परब्रह्म को मनन कर सकता है (श्रद्दधत्) परब्रह्म में श्रद्धा करता हुआ (एव) ही (मनुते) परब्रह्म को मनन करता है इस कारण से (श्रद्धा) ब्रह्मश्रवणविषयिणी श्रद्धा (एव) ही (तु) तो (विजिज्ञासितव्या) विशेष रूप से संपादन करने योग्य है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (श्रद्धाम्) श्रवण में उपायभूत श्रद्धा को (विजिज्ञासे) विशेष रूप से मैं संपादन करना चाहता हूँ (इति) ऐसा पुनः देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ।।१।।

विशेषार्थ—योगीन्द्र सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद ! जिस समय उपासक परब्रह्म नारायण में श्रद्धा करता है, तभी वह मनन करता है। बिना श्रद्धा किये कोई पुरुष परब्रह्म नारायण को नहीं मनन कर सकता है। परब्रह्म नारायण में श्रद्धा करने वाला ही परब्रह्म नारायण को मनन करता है। इस कारण से परब्रह्म श्रवणविषयिणी श्रद्धा ही विशेष रूप से संपादित करनी चाहिये। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की—हे पूज्यपाद भगवन् श्रवणोपायभूत परब्रह्म नारायण की श्रद्धा को विशेष रूप से मैं संपादन करना चाहता हूँ। श्रद्धा के विषय में लिखा है— **श्रद्धा हि "स्वाभिमतं साधयति एतत्" इति विश्वासपूर्विका साधने त्वरा ।।** (गीतारामानुजभाष्य अ० १७ श्लो० २) निश्चय "अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा" इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसका नाम श्रद्धा है ।।२।। **त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।** (गी० अ० १७ श्लो० २) सभी प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी—ऐसे तीन प्रकार की होती है, उसको तू सुन ।।२।। **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।** (गी० अ० १७ श्लो० ३) हे भारत अन्तःकरण के अनुरूप सब की श्रद्धा हुआ करती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जो जिस श्रद्धावाला है वह वही होता है ।।३।। **यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसाः जनाः ।।**

(गी० अ० १७ श्लो० ४) सात्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसों को और तामस लोग प्रेतों और भूतों के समुदाय को पूजते हैं ॥४॥ ब्रह्माण्डपुराणप्रतिपादित भगवद्रामानुजाचार्य ने-**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ (शा० मी० १।३।७) **अनियमस्सर्वेषामविरोधश्शब्दानुमानाभ्याम्** ॥ (शा० मी० ३।३।३२) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के उन्नीसवें खण्ड की पहली श्रुति के "श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्या" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का उन्नीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ १ ॥

॥ अथ विंशखण्डः ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति । नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति । निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके विंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (वै) निश्चय करके (निस्तिष्ठति) कोई पुरुष निष्ठा करता है (अथ) तब (श्रद्दधाति) वह परब्रह्म में श्रद्धा करता है (अनिस्तिष्ठन्) निष्ठा न करता हुआ (न) नहीं (श्रद्दधाति) कोई पुरुष परब्रह्म में श्रद्धा करता है (निस्तिष्ठन्) निष्ठा करता हुआ (एव) ही (श्रद्दधाति) उपासक परब्रह्म में श्रद्धा करता है, इस कारण से (निष्ठा) श्रद्धा की उपायभूत निष्ठा (एव) ही (तु) तो (विजिज्ञासितव्या) विशेष रूप से संपादन करने योग्य है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (निष्ठाम्) श्रद्धा के उपायभूत निष्ठा को (विजिज्ञासे) विशेष रूप से मैं सम्पादन करना चाहता हूँ (इति) ऐसा पुनः देवर्षि नारद ने प्रार्थना की ॥१॥

विशेषार्थ—योगिपुङ्गव सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद ! जिस समय उपासक परब्रह्म नारायण ही श्रवण करने योग्य है दूसरा नहीं इस प्रकार का व्यवसाय रूप निष्ठा करता है तभी वह परब्रह्म नारायण में श्रद्धा करता है। बिना निष्ठा किये कोई पुरुष परब्रह्म नारायण में श्रद्धा नहीं कर सकता है। इस कारण से श्रद्धा की उपायभूत निष्ठा का ही विशेष रूप से संपादन

करना चाहिये। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन्! श्रद्धा के उपायभूत निष्ठा को विशेष रूप से मैं संपादन करना चाहता हूँ। निष्ठा के विषय में लिखा है—**निष्ठा स्थितिः स्थीयते अस्मिन् इति स्थितिः ॥** (गीता रामानुजभा० अ० १७ श्लो० १) निष्ठा स्थिति का पर्याय है—जिसमें स्थित हुआ ठहरा जाय, उसे स्थिति कहते हैं ॥ १ ॥ सहस्रगीतिभाषित भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥** (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के बीसवें खण्ड की पहली श्रुति के "निष्ठा-त्वेव विजिज्ञासितव्या" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का बीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ १ ॥

॥ अथैकविंशखण्डः ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके एकविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(यदा) जब (वै) निश्चय करके (करोति) मनुष्य क्रिया करता है (अथ) तब (निस्तिष्ठति) श्रद्धा के उपायभूत निष्ठा करता है (अकृत्वा) क्रिया न करके (न) नहीं (निस्तिष्ठति) कोई पुरुष निष्ठा करता है (कृत्वा) क्रिया करके (एव) ही (निस्तिष्ठति) उपासक श्रद्धा के उपायभूत निष्ठा करता है, इस कारण से (कृतिः) निष्ठा के उपायभूत उद्योग प्रयत्नरूप कृति (एव) ही (तु) तो (विजिज्ञासितव्या) विशेष रूप से संपादन करने योग्य है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (कृतिम्) निष्ठा के उपायभूत उद्योग प्रयत्न रूप कृति को (विजिज्ञासे) विशेषरूप से मैं संपादन करना चाहता हूँ (इति) ऐसा पुनः महाभागवत नारद ने प्रार्थना की ॥१॥

विशेषार्थ—योगिनायक सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा हे नारद! जिस समय उपासक भगवद्व्यतिरिक्त विषयों में हेयत्वानुसंधान से मन के

नियमन रूप क्रिया को करता है तभी श्रद्धा के उपायभूत निष्ठा करता है। बिना क्रिया किये कोई पुरुष निष्ठा नहीं कर सकता है। मन के नियमन रूप क्रिया को करके ही उपासक श्रद्धा के उपायभूत निष्ठा करता है। इस कारण से निष्ठा के उपायभूत उद्योगप्रयत्नरूप कृति को ही विशेष रूप से संपादन करना चाहिये। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन्! निष्ठा के उपायभूत उद्योग प्रयत्न रूप कृति को विशेष रूप से मैं संपादन करना चाहता हूँ। कवि चक्रवर्ती भगद्रामानुजाचार्य ने—**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के इक्कीसवें खण्ड की पहली श्रुति के "कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का इक्कीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ द्वाविंशखण्डः ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके द्वाविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ –(यदा) जब (वै) निश्चय करके (सुखम्) उपासक परब्रह्म नारायण के अत्यन्तानुकूल रूप सुख को (लभते) जानता है (अथ) तब (करोति) मन के नियमन रूप क्रिया करता है (असुखम्) प्राप्य सत्य शब्द से अभिहित परब्रह्म के सुख को नहीं (लब्ध्वा) जानकर (न) नहीं (करोति) उपासक क्रिया करता है (सुखम्) परब्रह्म के अत्यन्तानुकूलरूप सुख को (एव) ही (लब्ध्वा) जानकर (करोति) मन के नियमन रूप क्रिया करता है इस कारण से श्रवण करने योग्य परब्रह्म नारायण में (सुखम्) अत्यन्तानुकूल रूप सुख (एव) ही (तु) तो (विजिज्ञासितव्यम्) विशेष रूप से जानने योग्य है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (सुखम्) परब्रह्म नारायण के अत्यन्तानुकूल रूप सुख को (विजिज्ञासे) मैं विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ (इति)

ऐसा पुनः श्री वैष्णव नारद ने प्रार्थना की ॥ १ ॥

विशेषार्थ—योगिवर्य सनत्कुमार ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद ! जिस समय उपासक परब्रह्म नारायण के अत्यन्तानुकूल सुखरूप को जानता है तभी मन के नियमन रूप क्रिया को वह करता है। बिना प्राप्य परब्रह्म नारायण के अत्यन्तानुकूल सुख जाने कोई उपासक मन के नियमन रूप क्रिया को नहीं करता है। परब्रह्म नारायण के अत्यन्तानुकूल सुख को ही जानकर उपासक मन के नियमनरूप क्रिया को करता है। इस कारण से श्रोतव्य परब्रह्म नारायण में अत्यन्तानुकूल सुख निश्चय करके विशेष रूप से जानने योग्य है। अर्थात् श्रवणादि उपक्रमरूप कृति की सिद्धि के लिये प्राप्यभूत सत्य शब्दाभिहित परब्रह्म नारायण की सुखरूपता जानने योग्य है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् ! परब्रह्म नारायण के अत्यन्तानुकूल सुख को विशेष रूप से मै जानने की इच्छा करता हूँ। सुख के विषय में लिखा है— **सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥** (गी० अ० १८ श्लो० ३६) हे भरत श्रेष्ठ अब तीन प्रकार का सुख भी तू मुझसे सुन। जिसमें मनुष्य अभ्यास से रमता है और दुःख के अन्त को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ **यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥** (गी० अ० १८ श्लो० ३७) वह जो सुख पहले तो विष के समान और परिणाम में अमृत तुल्य होता है और आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥ **विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥** (गी० अ० १८ श्लो० ३८) इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न वह सुख जो कि पहले अमृत तुल्य और परिणाम में विष के सदृश होता है वह राजस कहलाता है॥३८॥ **यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥** (गी० अ० १८ श्लो० ३९) जो सुख पहले एवं परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है तथा निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥ मीमांसा महोदधि भगवद्रामानुजाचार्य ने—

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।। (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के बाईसवें खण्ड की पहली श्रुति के "सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है । यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का बाईसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।१।

।। अथ त्रयोविंशखण्डः ।।

योवै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ।।१।।

।। इति सप्तमप्रपाठके त्रयोविंशखण्डः ।।

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (यः) जो (भूमा) विपुल यानी बहुत गुणोत्कर्ष है (तत्) वही (सुखम्) अत्यन्तानुकूल सुख है (अल्पे) अल्प प्रत्यागम सुख में (सुखम्) निरतिशय विपुल प्रशस्त सुख (न) नहीं (अस्ति) है (भूमा) बहुत विपुल गुणोत्कृष्ट (एव) ही (सुखम्) अत्यन्तानुकूल सुख है इस कारण से (भूमा) उस सुख रूप परब्रह्म नारायण के निरतिशय विपुलता (एव) ही (तु) तो (विजिज्ञासितव्यः) विशेष रूप से जानने योग्य है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा, तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (भूमानम्) परम पुरुषार्थ स्वरूप परब्रह्म नारायण के विपुल गुणोत्कृष्ट को (विजिज्ञासे) विशेष रूप से मैं जानने की इच्छा करता हूँ (इति) ऐसा पुनः महाभागवत नारद ने प्रार्थना की ।।१।।

विशेषार्थ—योगिवर सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद ! जो भूमा है यानी विपुल गुणोत्कर्ष है वही अत्यन्तानुकूल सुख है । अल्प प्रत्यागम सुख में निरतिशय विपुल सुख नहीं है । बहुत विपुल गुणोत्कृष्ट ही अत्यन्तानुकूल सुख है । इस कारण से परम पुरुषार्थ स्वरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म नारायण की निरतिशय विपुलता ही विशेष रूप से जानने योग्य है । गुरुदेव के इस वचन को सुनकर पुनः देवर्षि नारद ने सविनय प्रार्थना की कि—हे पूज्यपाद भगवन् ! परम पुरुषार्थ स्वरूप परब्रह्म नारायण के विपुल गुणोत्कृष्ट को विशेष रूप से मैं जानने की इच्छा करता हूँ । बहु शब्द से— **पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ।।**

(पाणि० व्या० अ० ५ पा० १ सू० १२२) इस सूत्र से इमनिच् प्रत्यय करने पर **बहोर्लोपोभू च बहोः** ।। (पा० व्या० अ० ६ पा० ४ सू० १५८) इस सूत्र से प्रकृति प्रत्यय में विकार होने पर 'भूमा सिद्ध होता है । "अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः" जो अल्प या विपुल जिस श्रुत का उपकार करता है । यहाँ पर जैसे बहु का विपुल अर्थ होता है वैसे ही यहाँ 'भूमा' का विपुल अर्थ होता है । और **अपशवो वान्ये गोऽश्वेभ्यः** ।। गौ और अश्व से व्यतिरिक्त अजादिक पशु प्रशस्त नहीं है । यहाँ पर जैसे पशुत्व निषेध परक है वैसे ही अल्प प्रत्यगात्म सुख में सुखत्व निषेध प्रशस्त सुख के निषेध परक है । बोधायन वृत्ति में लिखा है- **भूमा त्वेवेति भूमा ब्रह्म नामादिपरम्परया आत्मन ऊर्ध्वमस्योपदेशात्** ।। (बोधायन वृत्ति०) निरतिशय विपुल गुणोत्कर्ष ही भूमा है । भूमा ब्रह्म नाम आदिक परम्परा से आत्मा के ऊपर इसके उपदेश होने से ।। भूमाविद्यानिष्णात भगवद्रामानुजाचार्य ने — **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ।। शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्पनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के तेईसवें खण्ड की पहली श्रुति के 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः" इस वाक्य को उद्धृत किया है । यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक का तेईसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।१।।

।। अथ चतुर्विंशखण्डः ।।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । स्वे महिम्नि । यदि वा न महिम्नीति ।।१।।

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस वस्तु के देख लेने पर (अन्यत्) अन्य वस्तु को (न) नहीं (पश्यति) उपासक देखता है जिस वस्तु के सुन लेने पर (अन्यत्) अन्य वस्तु को (न) नहीं (शृणोति) उपासक सुनता है और जिस वस्तु के जान लेने पर (अन्यत्) अन्य वस्तु को (न) नहीं (विजानाति) उपासक जानता है (सः)

वह (भूमा) भूमा है यानी विपुल गुणोत्कर्ष है (अथ) और (यत्र) जिस वस्तु के अनुभव करने पर (अन्यत्) अन्य वस्तु को (पश्यति) उपासक देखता है तथा (अन्यत्) अन्य वस्तु को (शृणोति) सुनता है और (अन्यत्) अन्य वस्तु को (विजानाति) उपासक जानता है (तत्) वह (अल्पम्) अल्प है (वै) निश्चय करके (य) जो उक्तलक्षण (भूमा) भूमा है यानी विपुल गुणोत्कृष्ट है (तत्) वही (अमृतम्) अमृत है अर्थात् जन्म मरणादि शून्य नित्याविभूत अनन्याधीन अपहत पाप्मत्वादिगुणाष्टक है (अथ) और (यत्) जो (अल्पम्) अल्प है (तत्) वह (मर्त्यम्) मरने योग्य है ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा। तत्पश्चात् (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (सः) वह भूमा (कस्मिन्) किस में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है (इति) ऐसा महाभागवत नारद ने पूछा। तब सनत्कुमार भगवान् ने (स्वे) अपनी (महिम्नि) महिमा में (यदि+वा) अथवा (महिम्नि) अपनी महिमा में भी (न) नहीं ॥१॥

विशेषार्थ—योगिवर्य सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से निरतिशय विपुल सुखरूप परब्रह्म नारायण का लक्षण कहा कि—हे नारद ! जिस अनवधिकातिशय सुखरूप वस्तु के अनुभव करने पर उससे अन्य वस्तुओं को उपासक नहीं अनुभव करता है अर्थात् जिस वस्तु के देखने पर उपासक उससे अन्य और कुछ नहीं देखता है तथा जिस वस्तु के सुनने पर उपासक उससे अन्य और कुछ नहीं सुनता है और जिस वस्तु के जानने पर उपासक उससे अन्य और कुछ नहीं जानता है। वही भूमा है यानी विपुल गुणोत्कर्ष है। यहाँ तक भूमा का लक्षण बतलाकर अल्प का लक्षण कहा कि—जिस वस्तु के देखने पर उपासक अन्य वस्तु को देखता है तथा अन्य वस्तु के सुनने पर उपासक अन्य वस्तु को सुनता है और जिस वस्तु के जानने पर उपासक अन्य वस्तु को जानता है, वही अल्प है। यहाँ तक अल्प का लक्षण समझाया। फिर भूमा और अल्प का अर्थ स्पष्ट कहा कि—निश्चय करके जो उक्त लक्षण भूमा है वही स्वाभाविक अमृत है अर्थात् जन्म मरण आदि-रहित नित्याविभूत अनन्याधीन अपहत पाप्मत्वादिगुणाष्टक है। और जो अल्प है, वही मरने योग्य है। गुरुदेव के इस वचन को सुनकर मुमुक्षु नारद ने अपने मन में विचार किया कि सब वस्तु आधार सापेक्ष है तो भूमा का भी कुछ आधार होगा परन्तु मुझे ज्ञात नहीं होता है। अतः देशिकेन्द्र से ही पूछ लूँ। इस प्रकार निश्चय करके पुनः पूछा कि—हे पूज्यपाद भगवन् भूमा किसके आधार पर

प्रतिष्ठित है। शिष्य के नव्य प्रश्न को सुनकर तुरन्त ही ब्रह्मनिष्ठ सनत्कुमार भगवान् ने उत्तर दिया कि—स्वस्वरूप महिमा धारक है। अर्थात्— **स्वयं दासास्तपस्विनः** ॥ स्वयं सेवक तपस्वी हैं॥ इसके समान अनन्याधार है। परम दयालु आचार्य ने विचार किया कि जैसे अतिशिक्षित भी नटराज अपने कन्धा पर चढ़कर कभी नृत्य नहीं कर सकता है। और अनाधार भी नृत्य नहीं कर सकता है। इससे शिष्य की बुद्धि हटानी चाहिये। ऐसा विचार कर कहा कि—अथवा अपनी महिमा में भी वह प्रतिष्ठित नहीं है। देशिकसार्वभौम भगवद्रामानुजाचार्य ने— **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ (शा० मी० १।३।७) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के चौबीसवें खण्ड की पहली श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है। और— **धर्मोपपत्तेश्च** ॥ (शा० मी० १।३।३८) के श्रीभाष्य में ॥ **अमृतम्** ॥ **स्वे महिम्नि** ॥ इन उत्तरार्ध के पदों को उद्धृत किया है॥ १॥

गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाच अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके चतुर्विंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ - (इह) इस संसार में (गो अश्वम्) गौ और घोड़ा (हस्तिहिरण्यम्) हाथी तथा सोना (दासभार्यम्) सेवक और स्त्री (क्षेत्राणि) क्षेत्र और (आयतनानि) घर (इति) इस नाम से (आचक्षते) कहते हैं और वसन भूषण आयुध आदिक को (महिमा) महिमा (इति) इस नाम से (आचक्षते) कहते हैं, उस गौ अश्व आदि महिमा भूमा प्रतिष्ठित है (एवम्) ऐसा (अहम्) मैं (न) नहीं (ब्रवीमि) कहता हूँ (हि) क्योंकि (अन्यः) अन्य पदार्थ (अन्यस्मिन्) अन्य वस्तु में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित होती है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध (उवाच) सनत्कुमार भगवान् ने कहा ॥२॥

विशेषार्थ—पहली श्रुति में कहा गया है कि—वह भूमा स्व महिमा में प्रतिष्ठित है। इसके बाद पुनः कहा गया है कि—अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है। यहाँ ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होते हैं। इस कारण से

परम दयालु सनत्कुमार भगवान् स्वतः महिमा शब्द का अर्थ विवरण करते हैं कि—इसलोक में गौ अश्व आदि को महिमा कहते हैं तथा हाथी सुवर्ण दास भार्या क्षेत्र घर वसन भूषण आयुध आदि का नाम भी महिमा है। "गो अश्वम्" यहाँ पर द्वन्द्वै कवद्भाव और ॥ सर्वत्र विभाषा गोः ॥ पा० व्या० अ० ६ पा० सू० ११२ ॥ इस सूत्र से प्रकृतिभाव होता है। उस गौ अश्व आदि महिमा में भूमा प्रतिष्ठित है ऐसा मैं नहीं कहता हूँ। क्योंकि अन्य पदार्थ अन्य में प्रतिष्ठित होता है अर्थात् अपने आप स्वमहिमा में प्रतिष्ठित होने की संभावना नहीं है। यह शास्त्रानुसार बात मैं कहता हूँ। इस प्रकार से सुप्रसिद्ध सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य नारद से स्पष्ट कहा। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक का चौबीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ २ ॥

॥ अथ पञ्चविंशखण्डः ॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्सः पश्चात्सः पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति। अथातोऽहंकारादेशः। अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥१॥

अन्वयार्थ—(सः) वही भूमा नारायण (एव) निश्चय करके (अधस्तात्) नीचे है और (सः) वही नारायण (उपरिष्टात्) ऊपर स्थित है तथा (सः) वही भूमा (पश्चात्) पीछे है और (सः) वही भूमा परमात्मा (पुरस्तात्) आगे है तथा (सः) वही भूमा (दक्षिणतः) दक्षिण भाग में है और (सः) वही भूमा (उत्तरतः) उत्तर भाग में है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ भोग्यरूप सब जगत् (एव) निश्चय करके (सः) वही है अर्थात् सर्वात्मक है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने उपदेश दिया और (अथ) अब (अतः) इसके आगे (अहंकारादेशः) अहंबुद्धि के ग्रहण के द्वारा भूमा परब्रह्म नारायण की उपासना का प्रकार उपदेश किया जाता है (अहम्) जीव शरीरक मैं ही (उपरिष्टात्) ऊपर स्थित हूँ तथा (अहम्) जीव शरीरक मैं ही (पश्चात्) पीछे हूँ और (अहम्) जीव शरीरक मैं ही (पुरस्तात्) आगे हूँ तथा (अहम्) जीव शरीरक मैं ही (दक्षिणतः)

दक्षिण भाग में हूँ और और (अहम्) जीव शरीरक मैं ही (उत्तरतः) उत्तर भाग में हूँ (इदम्) यह (सर्वम्) सब चेतनाचेतन समुदाय (अहम्) मैं (एव) ही हूँ (इति) इस प्रकार से परमात्मा का जीवात्मा शरीर है। इस ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिये अहंग्रह से उपासना करनी चाहिये ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा ॥१॥

विशेषार्थ—योगीश्वर सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य नारद से कहा कि हे प्रिय देवर्षे! वही भूमा नारायण नीचे है और वही भूमा ऊपर है तथा वही भूमा पीछे है और वही भूमा नारायण आगे है। वही भूमा दायीं ओर है और वही भूमा नारायण बायीं ओर है। इस सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम रूप जगत् की आत्मा वही भूमा परब्रह्म नारायण है। शरीरात्मभाव इस श्रुति में प्रतिपादन किया गया है और अन्यत्र भी लिखा है- **ऊर्ध्वं च नारायण । अधश्च नारायणः। अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम् ॥** (नारायणोप० श्रु० २) ऊपर नारायण हैं और नीचे भी नारायण हैं और भीतर बाहर नारायण हैं। जो कुछ भूत भविष्य वर्तमान यह चराचर सब जगत् है सो नारायणात्मक है ॥ २ ॥ अब इसके आगे अहं बुद्धि के ग्रहण के द्वारा भूमा परब्रह्म नारायण की उपासना के प्रकार का उपदेश किया जाता है कि—जीव शरीरक मैं ही नीचे हूँ और जीव शरीरक मैं ही ऊपर हूँ तथा जीव शरीरक मैं ही पीछे हूँ और जीव शरीरक मैं ही आगे हूँ तथा जीव शरीरक मैं ही दायीं ओर हूँ और जीव शरीरक मैं ही बायीं ओर हूँ। यह सब स्थावर जङ्गमरूप शरीर मैं ही हूँ। इस प्रकार से परब्रह्म नारायण का जीव शरीर है इस ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिये अहं ग्रह से उपासना करनी चाहिये। सब चराचर परब्रह्म नारायण का शरीर है। क्योंकि लिखा है— **यस्य पृथिवी शरीरम् ॥** (बृह० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ३) **यस्यापः शरीरम् ॥४॥ यस्याग्निः शरीरम् ॥५॥ यस्यान्तरिक्षं शरीरम् ॥६॥ यस्य वायुः शरीरम् ॥७॥ यस्य द्यौः शरीरम् ॥८॥ यस्यादित्यः शरीरम् ॥९॥ यस्य दिशः शरीरम् ॥१०॥ यस्य चन्द्रतारकं शरीरम् ॥११॥ यस्याकाशः शरीरम् ॥१२॥ यस्य तमः शरीरम् ॥१३॥ यस्य तेजः शरीरम् ॥१४॥**

यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् ॥१५॥ यस्य प्राणः शरीरम् ॥१६॥ यस्य वाक् शरीरम् ॥१७॥ यस्य चक्षुः शरीरम् ॥१८॥ यस्य श्रोत्रं शरीरम् ॥१९॥ यस्य मनः शरीरम् ॥२०॥ यस्य त्वक् शरीरम् ॥२१॥ यस्य विज्ञानं शरीरम् ॥२२॥ यस्य रेतः शरीरम् ॥२३॥ पृथ्वी जिस परब्रह्म नारायण का शरीर है ॥३॥ जिसका जल शरीर है ॥४॥ जिसका अग्नि शरीर है ॥५॥ जिसका अन्तरिक्ष शरीर है ॥६॥ जिसका वायु शरीर है ॥७॥ जिसका दिव् लोक शरीर है ॥८॥ जिसका आदित्य शरीर है ॥९॥ जिसका दिशा शरीर है ॥१०॥ जिसका चन्द्रमा और तारा शरीर है ॥११॥ जिसका आकाश शरीर है ॥१२॥ जिसका तम शरीर है ॥१३॥ जिसका तेज शरीर है ॥१४॥ जिसका सब भूत शरीर है ॥१५॥ जिसका प्राण शरीर है ॥१६॥ वाणी जिसका शरीर है ॥१७॥ जिसका नेत्र शरीर है ॥१८॥ जिसका श्रोत्र शरीर है ॥१९॥ जिसका मन शरीर है ॥२०॥ जिसका त्वक् शरीर है ॥२१॥ जिस परब्रह्म नारायण का विज्ञान यानी जीव शरीर है ॥२२॥ जिस नारायण का वीर्य शरीर है ॥२३॥ और सुबालोपनिषद् में भी लिखा है— यस्य पृथिवी शरीरम् ॥ यस्यापः शरीरम् ॥ यस्य तेजः शरीरम् ॥ यस्य वायुः शरीरम् ॥ यस्याकाशः शरीरम् ॥ यस्य मनः शरीरम् ॥ यस्य बुद्धिः शरीरम् ॥ यस्याहङ्कारः शरीरम् ॥ यस्य चित्तं शरीरम् ॥ यस्याऽव्यक्तं शरीरम् ॥ यस्याक्षरं शरीरम् ॥ यस्य मृत्युः शरीरम् ॥ [सुबा० उ० खं० ७] जिस परब्रह्म नारायण का पृथ्वी शरीर है। जिसका जल शरीर है। जिसका तेज शरीर है। जिसका वायु शरीर है। जिसका आकाश शरीर है। जिसका मन शरीर है। जिसका बुद्धि शरीर है। जिसका अहङ्कार शरीर है। जिसका चित्त शरीर है। जिसका अव्यक्त शरीर है। जिस नारायण का अक्षर यानी जीवात्मा शरीर है। जिसका मृत्यु शरीर है ॥७॥ जगत्सर्वं शरीरं ते ॥ [वाल्मीकिरा० युद्धकां० ६ सर्ग १२१] समस्त संसार आप का शरीर है ॥ १२१ ॥ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः ॥ [विष्णुपु० अं० १ अ० २२ श्लो० ३८] निश्चय करके वह सब चराचर जगत् नारायण का शरीर है ॥३८॥ तानि सर्वाणि तद्वपुः ॥ विष्णुपु० अं० १ अ० २२ श्लो० ८६] वे सब स्थावर जङ्गम वस्तु परब्रह्म

नारायण के शरीर हैं ॥८६॥ **यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा । पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता ॥** [विष्णुपु० अं० २ अ० १२ श्लो० ३७] विष्णु भगवान् का शरीर जो जल है हे विप्र उसी जल का परिणाम भूत यह कमल के फूल के आकार की पृथ्वी पहाड़ और समुद्र आदि से संयुक्त उत्पन्न हुई । ॥३७॥ इन प्रमाणों से समस्त चिदचिद्वर्ग परब्रह्म नारायण का शरीर सिद्ध होते हैं । न्यायभास्कर भगवद्रामानुजाचार्य ने— **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥** [शा० मी० १।३।७] **धर्मोपपत्तेश्च ॥** [शा० मी० १।३।८] इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के पचीसवें खण्ड की पहली श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥१।

अथात आत्मादेशः । आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके पञ्चविंशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब (अतः) इसके आगे (आत्मादेशः) आत्मा का उपदेश किया जाता है कि सबकी आत्मा रूप से उपदिश्यमान भूमा ही स्तोपासक की आत्मा है (आत्मा) वही भूमा आत्मा (एव) निश्चय करके (अधस्तात्) नीचे है और (आत्मा) वही भूमा आत्मा (उपरिष्टात्) ऊपर है तथा (आत्मा) भूमा आत्मा ही (पश्चात्) पीछे है और (आत्मा) भूमा आत्मा ही (पुरस्तात्) आगे है तथा (आत्मा) भूमा आत्मा ही (दक्षिणतः) दक्षिण भाग में है और (आत्मा) भूमा आत्मा ही (उत्तरतः) उत्तर भाग में है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्)

भोक्तृ भोग्य रूप सब जगत् (आत्मा) ब्रह्मात्मक (एव) ही है (इति) ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने उपदेश दिया (वै) निश्चय करके (सः) वह (एषः) यह उपासक (एवम्) इस प्रकार के पूर्वोक्त गुण विशिष्ट भूमा को (पश्यन्) देखता हुआ और (एवम्) इस प्रकार के (मन्वानः) मनन करता हुआ तथा (एवम्) इस प्रकार के (विजानन्) विशेष रूप से जानता हुआ अर्थात् निदिध्यासन करता हुआ (आत्मरतिः) आत्मा ही रति यानी स्रक् चन्दनादिजन्य प्रीति है जिसको वह आत्म रति होता है और (आत्मक्रीडः) आत्मा ही क्रीडा यानी उद्यानादिजन्य क्रीडा है जिसको वह आत्मक्रीड होता है तथा (आत्ममिथुनः) आत्मा ही मिथुन यानी स्त्री संभव प्रीति है जिसको वह आत्ममिथुन होता है और (आत्मानन्दः) आत्मा ही आनन्द यानी विभूतिजन्य प्रीति है जिस को वह आत्मानन्द होता है और (सः) वह उपासक (स्वराट्) अकर्मवश्य अर्थात् विधि निषेध के अयोग्य (भवति) होता है (तस्य) उस अकर्म प्रतिहत ज्ञानवाले मुक्त को (सर्वेषु) सब (लोकेषु) लोकों में (कामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है अर्थात् ब्रह्मविभूतिभूत विकारयुक्त लोकों को नहीं अनुभव करके मुक्त सर्वदा तृप्त रहता है (अथ) और (ये) जो लोग (अतः) इस उक्त प्रकार से (अन्यथा) विपरीत (विदुः) परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं (ते) वे विपरीतोपासक (अन्यराजानः) कर्मवश्य यानी विधिनिषेधकिंकर और (क्षय्यलोकाः) क्षय होने वाले प्राकृत लोकोंको प्राप्त होनेवाले (भवन्ति) होते हैं (तेषाम्) उन लोगों की (सर्वेषु) संपूर्ण (लोकेषु) लोकों में (अकामचारः) स्वेच्छानुसार नहीं गति (भवति) होती है। और उक्त प्रकार से परमात्मा की उपासना करने वालों के अक्षय्य भगवान् का लोक प्राप्त होता है॥ २॥

विशेषार्थ—योगिवर सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद! अहं ग्रह बुद्धि के द्वारा परब्रह्म नारायण भूमा की उपासना कहने के बाद अब आत्मा का उपदेश किया जाता है। वह भूमा आत्मा ही नीचे है और वह भूमा आत्मा ही ऊपर है तथा वह भूमा आत्मा ही पीछे है और वह भूमा आत्मा ही आगे है। वह भूमा आत्मा ही दायीं ओर है और वह भूमा आत्मा ही बायीं ओर है। यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त संपूर्ण स्थावर जङ्गम जगत् ब्रह्मात्मक ही है। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है— **सर्वं ब्रह्मैवेदं स ॥**

यह सब चराचर जगत् ब्रह्मात्मक ही है । वह उपासक इस प्रकार के पूर्वोक्त गुणविशिष्ट भूमा परब्रह्म नारायण को श्रवण मनन और निदिध्यासन करके आत्म साक्षात्कार कर लेता है । और आत्मा ही रति यानी माला चन्दनादिजन्य प्रीति है जिसको वह आत्म रति होता है तथा आत्मा ही क्रीडा यानी उद्यानादि-जन्य क्रीडा है जिसको वह आत्म क्रीडा होती है । और आत्मा ही मिथुन यानी स्त्रीसंभव प्रीति है जिसको वह आत्ममिथुन होता है । तथा आत्मा ही आनन्द यानी विभूतिजन्य प्रीति है जिसको वह आत्मानन्द होता है । वह उपासक अकर्मवश्य-विधि निषेध के अयोग्य हो जाता है । तथा उस अकर्म प्रतिहत ज्ञानवाले मुक्त का समस्त लोकों में स्वेच्छानुसार गमन होता है अर्थात् ब्रह्मविभूतिभूत विकारयुक्त लोकों को नहीं अनुभव करके मुक्त सर्वदा तृप्त रहता है । जो लोग इस उक्त प्रकार से विपरीत भूमा परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं वे विपरीतोपासक कर्मवश्य-विधिनिषेध किंकरहोते हैं तथा विनश्वर लोक प्राप्त करने वाले होते हैं । उन विप-रीत उपासना करने वाले लोगों की समस्त लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार गति नहीं होती है । और उक्त प्रकार से भूमा परब्रह्म नारायण को उपासना करने वालों को अविनश्वर भगवान् का लोक प्राप्त होता है । यतिशेखर भगवद्रामानुजाचार्य ने-**भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।।** [शा० मी० १।३।७] **धर्मोपपत्तेश्च ।।** [१।३।८] **स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।।** [३।२।६] **उभय-व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।।** [३।२।२६] **अनेन सर्वगतत्वमायामश-ब्दादिभ्यः ।।** [३।२।३६] **उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धे र्लोकवत् ।।** [३।३।३०] **भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ।।** [३ ३५६[**अत एव चानन्याधिपतिः ।।** [४।४।६] **प्रत्यक्षोपदेशादिति चैन्ना-धिकारिक मण्डलस्योक्तेः ।।** [३।४।१०] **विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ।।** (४।४।१६) इन दस सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तम प्रपाठक के पचीसवें खण्ड की दूसरी श्रुति के पदों को उद्धृत किया है । यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्, के सप्तम प्रपाठक का पचीसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।२।।

॥ अथ षड्विंशखण्डः ॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥१॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध है कि (तस्य) उस (एतस्य) इस उपासक को (एवम्) इसप्रकार के (पश्यतः) साक्षात्कार करते हुये तथा (एवम्) इस प्रकार के (मन्वानस्य) मनन करते हुये और (एवम्) इस प्रकार के (विजानतः) निदिध्यासन करते हुये साधक के (आत्मतः) अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से (प्राणः) प्राण उत्पन्न होता है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से (आशा) इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा होती है तथा (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म से (स्मरः) स्मरण होता है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से (आकाशः) आकाश उत्पन्न होता है तथा (आत्मतः) साधक के अन्तर्यामी रूप अवस्थित परमात्मा से (तेजः) तेज उत्पन्न होता है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से (आपः) जल होता है तथा (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से (आविर्भावतिरोभावौ) सब वस्तुओं का आविर्भाव और तिरोभाव होता है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमेश्वर से (अन्नम्) खाद्य अन्न उत्पन्न होता है तथा (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से (बलम्) बल होता है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से (विज्ञानम्) प्रमाणजन्य ज्ञान रूप विज्ञान उत्पन्न होता है तथा (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमेश्वर से (ध्यानम्) ध्यान

होता है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से (चित्तम्) चित्त होता है तथा (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से (संकल्पः) संकल्प होता है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से (मनः) मन होता है तथा (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से (वाक्) वाणी उत्पन्न होती है और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमेश्वर से (नाम) नाम होता है तथा (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से (मन्त्राः) सब मंत्र उत्पन्न होते हैं और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से (कर्माणि) समस्त कर्म उत्पन्न होते हैं और (आत्मतः) उपासक के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म से (एव) ही (इदम्) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त (सर्वम्) भोक्तृ भोग्यरूप सब जगत् उत्पन्न होता है, इति ऐसा सनत्कुमार भगवान् ने कहा ॥१॥

विशेषार्थ - योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि—हे नारद निश्चय करके यह प्रसिद्ध है कि उस पूर्वोक्त आत्मा की उपासना करने वाला इस उपासक के इस प्रकार के श्रवण तथा मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्म साक्षात्कार करते हुये प्रपन्न के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म नारायण से प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव उत्पन्न होता है। और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से ही इच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा उत्पन्न होती है। तथा उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से स्मरण यानी स्मृति उत्पन्न होती है। स्मृति के विषय में लिखा है— **अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥** (योग० अ० १ पा० १ सू० ११) अनुभव किये हुए विषय का चित्त में आरोहण होना ही स्मरण है ॥११॥ और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से आकाश उत्पन्न होता है। तथा उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से तेज उत्पन्न होता है। उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से जल उत्पन्न होता है। उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से ही सब वस्तुओं का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म से ही खाद्य अन्न उत्पन्न होता है। अन्न के विषय में लिखा है—**अद्यते अत्ति च भूतानि**

तस्मादन्नं तदुच्यत इति ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) वह जीवन दशामें प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयंभी नाशदशा में खाता है इससे अन्न इस नाम से कहा जाता है ॥१॥ उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से बल उत्पन्न होता है और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से ही प्रमाणजन्यज्ञान रूप विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान के विषय में लिखा है—**विज्ञानं परतत्त्वगतासाधारणविशेषविषयं ज्ञानम्** ॥ (गीतारामानुजभाष्य०अ० १८ श्लो० ४२) परमतत्त्व के विषय में असाधारण विशेषज्ञान का नाम "विज्ञान" है ॥४२॥ तथा उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से ही ध्यान उत्पन्न होता है। ध्यान के विषय में लिखा है—**ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनमिति** ॥(श्रीभाष्य०अ० ४ पा० १ सू० ८ अधिकर०५) निश्चय करके विजातीय प्रतीति के विना व्यवधान रहित एक परब्रह्म नारायण के चिन्तन करने को ही ध्यान कहते हैं ॥५॥ **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्** ॥ (योग०अ० १ पा० ३ सू० २) उस धारणा में प्रतीत वस्तु की एकतानता को ध्यान कहते हैं॥२॥ और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म से चित्त उत्पन्न होता है। चित्त के विषय में लिखा है—**अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मनएव बुद्ध्यहंकार चित्तशब्दै र्व्यपदिश्यत इति** ॥ (श्रीभाष्य० अ० २ पा० ४ सू० ५ अधिकर० २) अध्यवसाय तथा अभिमान और चिन्ता की वृत्ति भेद के मन ही बुद्धि तथा अहंकार और चित्त शब्द से व्यपदेश किया जाता है ॥२॥ तथा उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से संकल्प उत्पन्न होता है। कर्तव्य अकर्तव्य विषयों को पृथक् पृथक् करके समर्थन करने का नाम संकल्प है। और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से मन उत्पन्न होता है तथा उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से वाणी उत्पन्न होती है। और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म से नाम उत्पन्न होता है। तथा उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से मूलमंत्र आदिक मंत्र उत्पन्न होते हैं। मंत्र के विषय में लिखा है—**तच्चोदकेषु मन्त्राख्या** ॥

(पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२) प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ॥३२॥ और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परमात्मा से ही संपूर्ण कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्म के विषय में लिखा है—**फलं विनाप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम्। काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु। नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम्। क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते॥ अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते। नित्यां क्रियां तथा चान्ये आनुषङ्गिकफलंविदुः॥** (भविष्यपु.) बिना फल के नित्यकर्मो का अनुष्ठान निश्चय करके इच्छित है और अपने फलके लिये तथा दोष घात के लिये काम्यकर्मों का अनुष्ठान होता है और नैमित्तिक कर्म के करने पर तीन प्रकार के फल होते हैं। कोई कोई प्राप्त पाप का नाश कहते हैं। और अन्यलोग प्रत्यवाय की उत्पत्ति को नहीं मानते हैं। तथा अन्य सब नित्य क्रिया और आनुषङ्गिक फल जानते हैं। और उपासक को अन्तर्यामी रूप से अवस्थित नारायण से ही यह ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त समस्त भोक्तृभोग्य रूप जगत् उत्पन्न होता है। इस श्रुति में आत्मा शब्द से सर्वान्तिर्यामी परब्रह्म नारायण अर्थ होता है। इसीसे लिखा है— **नारायणात्प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणिच। खं वायु र्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥** (नारायणोप० श्रु० १) परब्रह्म नारायण से प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव उत्पन्न होता है और मन तथा सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है॥१॥ आदि जगदाधारशेष भगवद्रामानुजाचार्य ने॥ **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्॥** (शा० मी० १।३।७) **धर्मोपपत्तेश्च॥** (१।३।८) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक के छबीसवें खण्ड को पहली श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किया है॥१॥

तदेव श्लोकः। न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा

चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। तस्मै मृदित-कषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः। तं स्कन्द इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते ॥२॥

॥ इति सप्तमप्रपाठके षड्विंशखण्डः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकः समाप्तः ॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस पूर्वोक्त ब्रह्मदर्शी के विषय में (एषः) यह आगे कहे जाने वाला (श्लोकः) मंत्ररूप श्लोक प्रमाण है (पश्यः) भूमा ब्रह्म को यथार्थ प्रकार से देखने वाला पुरुष (मृत्युम्) मरण को (न) नहीं (पश्यति) देखता है और (रोगम्) दुखः के साधन रोग को (न) नहीं देखता है (उत) और (दुखःताम्) आध्यात्मिक तथा आधिदैविक ओर आधिभौतिक दुखः के भाव को (न) नहीं देखता है (पश्यः) भूमा ब्रह्म को यथार्थ प्रकार से साक्षात्कार करने वाला उपासक (ह) प्रसिद्ध (सर्वम्) सब वस्तु को (पश्यति) देखता है (इति) इस कारण से संकल्प मात्र से अपने संकल्पित (सर्वम्) सब अर्थ को (सर्वशः) सब प्रकार से सब काल में (आप्नोति) प्राप्त करता है (सः) वह ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला पुरुष (एकधा) संकल्प से परिगृहीत एक प्रकार के शरीर वाला (भवति) होता है (त्रिधा) तीन प्रकार के शरीर वाला (भवति) होता है (पञ्चधा) पाँच प्रकार के देह वाला होता है (सप्तधा) सात प्रकार के देह वाला होता है (च) और (एव) निश्चय करके (नवधा) नौ प्रकार के देह वाला होता है (च) और पुनः फिर वही (एकादशः) ग्यारह (स्मृतः) कहा गया है (च) और (शतम्) वही सौ (च) तथा (दश) दस (च) और (एकः) एक तथा (सहस्राणि) हजार (च) और (विंशतिः) बीस शरीर वाला होता है (आहारशुद्धौ) सात्त्विक आहार सेवन करने पर (सत्त्वशुद्धिः) अन्तः करण की निर्मलता होती है (सत्त्वशुद्धौ) अन्तः करण के नैर्मल्य होने पर (ध्रुवा) निश्चल (स्मृतिः) स्मृति होती है अर्थात् अविच्छिन्नस्मृति

सतानरूपात्मध्यान सिद्ध होता है (स्मृतिलम्भे) निश्चलस्मृति की प्राप्ति होने पर यानी अविच्छिन्नस्मृति सतानरूपात्मध्यान सिद्ध होने पर (सर्वग्रन्थीनाम्)दुर्मोच ग्रन्थिशब्दवाच्य समस्त अविद्या रागद्वेष आदिकों का (विप्रमोक्ष:) सर्वथा नाश होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण भूमविद्या का वर्णन करके अब इस प्रस्तुत आख्यायिका को समाप्त करते हैं (भगवान्) पूज्यपाद भगवान् (सनत्कुमार:) सर्वदा कुमार अवस्था में स्थित सनत्कुमारजी ने (मृदितकषायाय) इस प्रकार परिशुद्ध अन्त: करण वाले (तस्मै) उस महाभागवत नारद के लिये (तमस:) संसार या अज्ञानरूपअन्धकार से (पारम्) पार उपासना गोचर परब्रह्म नारायण को (दर्शयति) स्पष्ट उपदेश दिया या दिखलाया (तम्) उस सनत्कुमार भगवान् को (स्कन्द:) ब्रह्मप्राप्त करने से और कामादि को शोषण करने से स्कन्द (इति) ऐसा (आचक्षते) भगवदुपासक लोग कहते हैं (तम्) उस सनत्कुमार भगवान् को (स्कन्द:) ब्रह्मप्राप्त करने से और कामादिको शोषण करने से स्कन्द (इति) ऐसा (आचक्षते) भगवदुपासक लोग कहते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—योगिराज सनत्कुमार भगवान् ने अपने शिष्य से कहा कि– हे नारद उस पूर्वोक्त परब्रह्म को साक्षात्कार करने वालेके विषय में यह वक्ष्यमाण मंत्ररूप श्लोक प्रमाण है। पूर्वोक्त भूमाब्रह्म को यथार्थ प्रकार से साक्षात्कार करने वाला उपासक मरण को नहीं देखता है। तथा दुख: के साधन कोई रोग को नहीं देखता है और आध्यात्मिक तथा आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन दु:खों के भावको भी नहीं देखता है। तो क्या ब्रह्मदर्शीपुरुष कुछ भी देखता है या नहीं सो आगे कहा जाता है कि—सुप्रसिद्ध भूमाब्रह्म को यथार्थ प्रकार से साक्षात्कार करने वाला उपासक सब वस्तुओं को देखता है। इस कारण से ब्रह्मदर्शीपुरुषसंकल्पमात्र से अपने संकल्पित सब अर्थ को सब प्रकार से सब काल में प्राप्त करता है। अर्थात् अपहत पाप्मत्वादिगुणाष्टक आविर्भाव हो जाता है। अखिललोक विजयी भगवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा० मी० १।१।१) **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥** (१।३।७) **ज्ञोऽत-एव ॥** (२।३।१९) **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्** (२।३।३१) **स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्य: ॥** (३।२।९) इन पाँच सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तमप्रपाठक के छबीसवें खण्ड

की दूसरी श्रुति के पूर्वखण्ड को उद्धृत किया है। और ॥ **स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि** ॥ (४।४।१६) के श्रीभाष्य में 'सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः' इस वाक्य को उद्धृत किया है। और आत्मा के निरवयव होने से तीन प्रकार या पाँच प्रकार इत्यादि होना सम्भव नहीं है। अतः आत्मसाक्षात्कार करने वाला उपासक संकल्प मात्र से अनेक प्रकार के शरीर सम्बन्धयुक्त होता है, अर्थात् वही ब्रह्मदर्शी अपने संकल्प से एक प्रकार से तथा तीन प्रकार के और पाँच प्रकार के तथा सात प्रकार के देह से युक्त हो जाता है तथा फिर वही ब्रह्मदर्शी ग्यारह देह परिग्रह करने से ग्यारह कहा गया है। और वही परब्रह्म को साक्षात्कार करने वाला उपासक एक तथा दस और बीस तथा सौ और हजार भी संकल्प से हो जाता है। अखिल भूमण्डलमण्डन भगवद्रामानुजाचार्य ने— **भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्** ॥ (शा० मी० २।१।१४) **उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्** ॥ (३।३।३०) **भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्** ॥ (४।४।११)इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के सप्तमप्रपाठक के छबीसवें खण्ड की दूसरी श्रुति के 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इस वाक्य को उद्धृत किया है। पूर्वोक्त मोक्षसाधन भूत इस ब्रह्मोपासना के प्रकार को कहकर अब अन्तःकरण शुद्धि के लिये सात्त्विक आहार सेवन करना चाहिये, यह उपदेश किया जाता है। सात्त्विक आहार सेवन करने पर अन्तःकरण की निर्मलता होती है। क्योंकि लिखा है— **जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात्कायशुद्धिर्विवेकः** ॥ (बोधायनवृत्ति०) जाति और आश्रय के निमित्त से अदुष्ट अन्न से शरीर की शुद्धि होती है और देह शुद्धि का ही नाम विवेक है ॥ तथा अन्तःकरण के नैर्मल्य होने पर ध्रुवा स्मृति होती है। अर्थात् सतत के तेल की धारा के समान अविच्छिन्नस्मृति संतानरूपात्मध्यान सिद्ध होता है और निश्चल स्मृति की प्राप्ति होने पर यानी तैल धारा के समान अविच्छिन्नस्मृति संतानरूपात्मध्यान सिद्ध होने पर दुर्मोचग्रन्थिशब्दवाच्य संपूर्ण अविद्या रागद्वेष आदिकों का सर्वथा विनाश हो जाता है। इस श्रुति में ध्रुवास्मृति के अपवर्गोपायता प्रतिपादित की गयी है। और यहाँ ध्रुवास्मृति में ॥ **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** ॥

(मुण्डको० मुं० २ खं० २ श्रु० ८) उस सर्वोत्कृष्ट पर अवर शरीर वाले सर्वात्मभूत परब्रह्म नारायण के देख लेने पर इस साधक मुमुक्षु पुरुष के अन्तःकरण की गाँठ के समान दुर्मोच रागद्वेषादिक छूट जाता है और समस्त संदेह कट जाते हैं तथा प्रारब्ध से व्यतिरिक्त अनेक जन्मार्जित समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥८॥ इस श्रुति से ऐकार्थ्य होने से दर्शन समानाकार ग्रहण किया जाता है। 'आहार' शब्द यहाँ रथाकाराधिकरण न्याय से भोजन वाचक है। आहार के विषय में लिखा है—**आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥** (गी० अ० १७ श्लो० ८) आयु ज्ञान बल आरोग्य सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले रसदार चिकने स्थायी और चित्त को रमणीय लगने वाले आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं ॥८॥ **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥** (गी० अ० १७ श्लो० ९) कड़वे खट्टे नमकीन बहुत गरम तीखे रूखे और जलन पैदा करने वाले तथा जो दुःख शोक और रोग उत्पन्न करने वाले हैं, ऐसे आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ॥९॥ **यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥** गी० अ० १७ श्लो० १० ॥ जो बहुत देर का रखा हुआ रसहीन दुर्गन्धित बासी जूठा और अमेध्य आहार है वह तामस मनुष्यों को प्रिय होता है ॥१०॥ जो खाया जाय उसे भोजन कहते है। अतः भोजन आहार का ही नाम है। इसलिये हित चाहने वाले मनुष्यों को सत्त्वगुण को बढ़ाने के लिये सात्त्विक आहार का ही सेवन करना चाहिये। और निम्नलिखित आहार द्विजातियों के अभक्ष्य हैं — **लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥** (मनु० अ० ५ श्लो० ५) **लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥६॥ वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च। अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥७॥ अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा। आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः**

पयः ॥ ॥८॥ **आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥** (६) **यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते । मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत ॥** (१५) लहसुन गजरा प्याज धरतो के फूल और अशुद्ध जगह से उत्पन्न होनेवाले शागादिक ये सब द्विजातियों के भोजन करने योग्य नहीं हैं ॥५॥ लाल रंग के पेड़ों के गोंद हिंगु और काटने से उत्पन्न रस ताड़ी आदिक तथा शेलुफल और नई बिआई हुई गौ के फेनुस इन सबों को यत्न से परित्याग करे ॥६॥ केवल अपने लिये तिल चावल मिलाकर किया हुआ भात तथा अपने लिये घी दूध गुड़ और गेहूँ के आटा से की हुई लपसी और दूध चावल से बनाया हुआ खीर तथा पूआ वृथापक्व इस सबों को वर्जित करे और अनुपाकृतमांस तथा देवता के लिये किये हुये अन्न भोग लगाने से पहले और हविष्य आदिक वर्जित करे ॥७॥ दस दिन से भीतर बिआई हुई गौ का दूध तथा ऊँट का और एकखुर वाली घोड़ी आदिका तथा भेड़ी का और उठी हुई गौ का दूध न पिये और जिसका बछड़ा मर गया है ऐसी गौ का तथा जिसका बछड़ा पास में नहीं है उस गौ का भी दूध न पिये ॥ ८ ॥ भैंस को छोड़कर हाथी आदि सब जंगली पशुओं का दूध और स्त्री का दूध तथा सांशुक्त ये सब वर्जित हैं ॥६॥ जो जिसके मांस को खाता है वह उसके मांस को खानेवाला कहा जाता है, मछली को खाने वाला सब प्रकार के मांस को खाने वाला कहने योग्य है, इससे मछलियों को न खाय ॥१५॥ और बृद्धहारीत स्मृति में लिखा हे—**भावदुष्टं क्रियादुष्टं कालदुष्टंतथैव च । संसर्गदुष्टं च तथा वर्जयेद्यज्ञकर्मणि ॥** (वृद्धहा० स्मृ.अ. ११ श्लो. ११२) भावदुष्ट १ क्रियादुष्ट २ तथा कालदुष्ट ३ और संसर्गदुष्ट ४ पदार्थों को यज्ञ कर्म में बरा देना चाहिये ॥११२॥ जिस में भावदुष्ट को कहा है—**रूपतो गन्धतो वापि यच्चाभक्ष्यैः समं भवेत् भावदुष्टं च तत्प्रोक्तं मुनिभिर्धर्मपारगैः ॥**(वृद्धहा०स्मृ०अ० ११ श्लो. १२३) रूप से या गन्ध से जो अभक्ष्य के तुल्य हो उसको धर्मपारग मुनि लोग भावदुष्ट कहते हैं ॥१२३॥ और क्रिया दुष्ट को कहाहै—**आरनालं च मद्यं च करनिर्मथितं दधि ॥** (वृद्धहा० स्मृ० अ० ११ श्लो० १२४)

हस्तदत्तं च लवणं क्षीरं घृतपयांसि च हस्तेनोद्धृत्य तोयं च पीतं वक्त्रेण वैकदा ॥ (१२५) शब्देन पीतं भुक्तं च गव्यं ताम्रेण संयुतम् । क्षीरं च लवणोन्मिश्रं क्रियादुष्टमिहोच्यते (१२६) आरनाल और मदिरा तथा हाथ से महा हुआ दही ।।१२४।। और हाथ से हाथ में दिया हुआ नमक, दूध घी और जल तथा हाथ से निकाल कर मुख में पात्र लगाकर एक कालमें पिया हुआ जल ।।१२५।। और शब्द करते हुए पीना या खाना तथा ताम्बे के पात्र में संयुक्त गव्य और नमक मिला हुआ दूध इन सबों को यहाँ पर मुनि लोग क्रियादुष्ट कहते हैं। (१२६) तथा कालदुष्ट को कहा है ॥ **एकादश्यां तु यच्चान्नं यच्चान्नं राहुदर्शने । सूतके मृतके चान्नं शुष्कं पर्युसितं तथा** ॥ (वृद्धहा०स्मृ० अ० ११ श्लो० १२७) **अनिर्दशाहगोः क्षीरं षष्ठ्यां तैल तथापि च । नदीष्वसमुद्रगासु सिंहकर्कटयोर्जलम्** (१२८) **निःशेषजलवाप्यादौ यत्प्रविष्टं नवोदकम् । नातीतपञ्चरात्रं तत्कालदुष्टमिहोच्यते** ॥ (१२९) एकादशीव्रत का जो अन्न हो तथा सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण का जो अन्न हो और सूतक या मृतक का जो अन्न हो तथा सूखा हुआ या वासी जो अन्न हो ।।१२७।। और नई बिआई हुई गौ के दस दिन के भीतर का दूध तथा छठी के तेल और छोटी छोटी नदियों के जो समुद्र में नहीं मिलने वाली हैं उनके कर्क तथा सिह मास का जल । १२८।। और सूखे हुए तालाव बावड़ी आदि में नया आया हुआ पाँच रात के भीतर का जो जल है इन सबों को यहाँ परकालदुष्ट ऋषि लोग कहते हैं ।।१२९।। और संसर्गदुष्ट को कहा है कि— **शैवपाषण्डपतितैर्विकर्मस्थैर्निरीश्वरैः । अवैष्णवैर्द्विजैः शूद्रैर्हरिवासरभोक्तृभिः** ॥ (वृद्धहा० स्मृ० अ० ११ श्लो० १३०) **श्वकाकमूकरोष्ट्राद्यैरुदक्यासूतिकादिभिः । पुंश्चलीभिश्च नारीभिर्वृषलीपतिभिस्तथा** (१३१) **दृष्टं स्पृष्टं च दत्तं च भुक्तशेषं तथैव च । अभक्ष्याणां च संयुक्तं संसर्गदुष्टमुच्यते** ॥ (१३२) शैव और पाषण्डी तथा पतित शाक्त वाममार्गियोंसे और विधर्मी ईसाई मुसलमानों से तथा निरीश्वर वादी जैन, वौद्ध, चर्बाकमतावलम्बियों से और हरिदिन के भोजन करने वाले, अवैष्णव ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों से ।।१३०।। और कुत्ता, कौआ,सूअर,ऊँट, गदहा आदि से तथा रजस्वला, सूतिका और परपुरुष से रमण करने वाली व्यभिचारिणी स्त्रियों से तथा शूद्रों के पतियों से ।।१३१।। देखा हुआ, छूआ हुआ, दिया हुआ और भोजन से बचा हुआ तथा नहीं भोजन करने योग्य पदार्थ से संयुक्त हुआ इन पूर्वोक्त सबों को मुनिलोग संसर्ग दुष्ट कहतेहैं।।१३२।। **बिम्बं शिग्रुं च कालिङ्गं तिलपिष्टं च मूलकम् । कोशातकीमलाबुं च तथा कट्फलमेव च ।।** (वृद्धहा० स्मृ० अ० ११) श्लो० १३३) **वालिका नारिकेल्यादि जातिदुष्टमिहोच्यते । एवं सर्वाण्यभक्ष्याणि तत्सङ्गान्यपि संत्यजेत् ।।** (१३४) नारुण का फल, शिग्रु, शलगम, कालिङ्ग, पिसाहुआतिल और मुरई,कोशातको, तितलौकी और कट्फल, तालफल ।।१३३।। और कुवांर विना जोरन का दही, कोबी, नारिका कुद्रुन आदिक को यहाँ पर महर्षि लोग जाति दुष्ट कहते हैं इस प्रकार के समस्त अभक्ष्य पदार्थों को और उनके संगों को भी महात्मा परित्याग करे ।।१३४।। ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ अधिक नहीं लिखता हूँ । शुद्धमाधुकरी भिक्षान्नानुयागकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने ।। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।** (शा० मी० १।१।१) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तमप्रपाठक के छब्बीसवें खण्ड की दूसरी श्रुति के 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इस वाक्य को उद्धृत किया है । इस प्रकार संपूर्ण भूमविद्या का वर्णन करके अब इस प्रस्तुत आख्यायिका को समाप्त करते हैं— पूज्यपाद भगवान् सनत्कुमार जी ने इस प्रकार परिशुद्ध अन्तः करण वाले उस देवर्षि नारद के लिये संसार या अज्ञानरूप अन्धकार से पार उपासना गोचर परब्रह्म नारायण को उपदेश दिया या दिखलाया है। परब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकार से परे हैं । क्योंकि लिखा है— **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।** (श्वे०उ०अ० ३ श्रु० ८) अज्ञानरूप अन्धकार से अतीत तथा सूर्य की भाँति वर्णवाले इस महान् पुरुष परब्रह्म नारायण को मैं जानता हूँ ।।८।। उस देशिकेन्द्र सनत्कुमार भगवान्को परब्रह्म नारायणको प्राप्त करनेसे और कामादिको सुखाने से "स्कन्द" इस नाम से भगवदुपासक लोग कहते हैं। इस श्रुतिमें "तं स्कन्द इत्याचक्षते" इस वाक्य का दो बार उच्चारण सप्तमप्रपाठक की समाप्ति

का सूचन करताहुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। "छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक के पहले खण्ड में पाँच मन्त्र और दूसरे, तीसरे, छठवें, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, चौबीसवें, पचीसवें तथा छबीसवें खण्ड में दो दो मन्त्र हैं। और चौथे तथा पाँचवें खण्ड में तीन तीन मन्त्र हैं। और पन्द्रहवें खण्ड में चार मन्त्र हैं। तथा शेष आठ खण्डों में एक एक मन्त्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से इस सातवें प्रपाठक में इक्कावन मन्त्र हैं। यहाँ पर 'छान्दोग्योपनिषद्" के सप्तम प्रपाठक का छबीसवाँ खण्ड और सप्तम प्रपाठक भी समाप्त हो गया ।।२।।

।। अथाष्टमप्रपाठकः ।।

।। अथ प्रथमखण्डः ।।

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म । दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।१।।

अन्वयार्थ—(अथ) सप्तमप्रपाठक में भूमविद्या कहने के अनन्तर अब दहर विद्याका प्रारम्भ होता है (अस्मिन्) उपास्यतया सन्निहित इस (ब्रह्मपुरे) परब्रह्म के स्थान नवद्वारवाले उपासक के शरीर में (यत्) जो (इदम्) यह (पुण्डरीकम्) कमलाकार (दहरम्) अल्प परिमाण वाला हृदय नाम का (वेश्म) परब्रह्म नारायण का घर है (अस्मिन्) इस पुण्डरीकाकार गृह में (अन्तः) भीतर जो (दहरः) अत्यन्त सूक्ष्म (आकाशः) अच्छी तरह प्रकाश करने वाला सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् आश्रितवात्सल्यैकजलधि परब्रह्म नारायण है (तस्मिन्) उस परब्रह्म नारायण में (यत्) जो (अन्तः) अन्तर्वर्ती अपहतपाप्मत्वादि तथा स्वाभाविक अनधिकातिशय असख्येय कल्याण गुण समूह है (तत्) वे दोनों अर्थात् परब्रह्म और परब्रह्म का गुण (अन्वेष्टव्यम्) श्रवण और मनन के द्वारा जानने योग्य हैं और (वाव) प्रसिद्ध (तत्) वे दोनों अर्थात् परब्रह्म नारायण और परब्रह्म नारायण के गुण जात (विजिज्ञासितव्यम्) विशेष रूप से ध्यान करने योग्य है (इति) ऐसा श्रुति का आदेश है ।।१।।

विशेषार्थ—सप्तम प्रपाठक में भूमविद्या कहने के बाद अब दहर विद्या का आरम्भ होता है। उपास्यतया सन्निहित परब्रह्म नारायण के

स्थानरुप नवद्वार वाला उपासक के इस शरीर में जो यह पुण्डरीकाकार स्वल्प परिमाण वाला हृदय नाम का परब्रह्म नारायण का स्थान है। इस कमलाकार हृदय नाम के स्थान में भीतर जो अत्यन्त सूक्ष्म भली भाँति प्रकाश करने वाला सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् आश्रितवात्सल्यैकजलधि परब्रह्म नारायण है। और उस परब्रह्म नारायण में जो अन्तर्ववर्ती अपहतपाप्मत्वादि तथा स्वाभाविक अनवधिकातिशयासंख्येयकल्याण गुणगण हैं। वे दोनों अर्थात् हृदय में स्थित परब्रह्म नारायण और परब्रह्म नारायण के दिव्य सत्यकामादिगुण समूह श्रवण तथा मनन के द्वारा जानने योग्य हैं। और वे दोनों अर्थात् परब्रह्म नारायण तथा परब्रह्म नारायण के दिव्य गुणगण विशेष रूप से ध्यान करने योग्य हैं। और अन्यत्र भी लिखा है कि— **दह्रं विपापं वरवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्। तत्रापि दह्रे गगनं विशोकं तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्॥** (तैत्तिरोयारण्य० प्रपा० १० अनु० १० श्रु० २२) उपासक के शरीर रुप ग्राम के मध्य में स्थित जो कमलाकार अत्यंत सूक्ष्म हृदय नाम के परब्रह्म नारायण का श्रेष्ठ स्थान है उस अत्यंत सूक्ष्म स्थान में पाप और शोक से रहित अच्छी तरह प्रकाश करने वाला परब्रह्म नारायण है उस परमात्मा के अन्तर्ववर्ती जो सत्यकामादि गुण समूह है वे दोनों अर्थात् परमात्मा और परमात्मा का गुण उपासना करने योग्य हैं ॥२२॥ हृदय कमल के विषय में लिखा है— **पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्। अधोनिष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत्॥**(तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० ८) अधोमुख पद्मकोश के समान अत्यन्त सूक्ष्म नाभि से ऊपर एक बिता के भीतर हृदय रहता है। उसी हृदय को परब्रह्म नारायण का श्रेष्ठ स्थान उपासक विशेष रुप से जाने।।८॥**सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः॥** (गी० अ० १५ श्लोक १५) मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ ॥१५॥ **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति॥**(गी० अ० १८ श्लोक ६१) हे अर्जुन परमेश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है ॥६१॥ और क्षुरिकोपनिषद् में लिखा है— **ततो रक्तोत्पलाभासं पुरुषायतनं महत्। दहरं पुण्डरीकं तद्वेदान्तेषु**

निगद्यते ॥ (क्षुरिकोप० श्रु० १०) उसके बाद लाल कमल के समान अति सूक्ष्म हृदय नाम का पुण्डरीक परब्रह्म नारायण का बड़ा श्रेष्ठ स्थान है। वही उपनिषदों में निश्चय करके कहा जाता है ॥१०॥ यहाँ 'ब्रह्मपुर' शब्द से उपासक के शरीर का ग्रहण होता है। यद्यपि ईश्वर की वर्तमानता सर्वत्र विद्यमान है तौभी उपासनासौकर्यार्थ इस मानुष शरीर के अभ्यंतर हृदय के मध्य ब्रह्मध्यान का उपदेश किया गया है। इस हेतु से इस शरीर का नाम ब्रह्मपुर है। मूकान्ध मोक्षप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य ने— **दहरउत्तरेभ्यः** ॥ (शा० मी० १।३।१३) **इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात्** ॥ (१।३।१७) **श्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्** ॥ (१।३।२०) **अन्यार्थंतु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके** ॥ (१।४।१८) **दर्शयति च** ॥(३।३।४)**कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः** ॥(शा०मी०३।३।३८) **आदरादलोपः** (३।३।३९) इन सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के पहले खण्ड की पहली श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥ १ ॥

तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥२॥

अन्वयार्थ—(तम्) पूर्वोक्त उपदेश को सुन कर उस उपदेष्टा आचार्य से (चेत्) यदि (इति) ऐसा (ब्रूयुः) शिष्य गण पूछें कि (अस्मिन्) उपास्यतया सन्निहित इस (ब्रह्मपुरे) परब्रह्म का स्थान नवद्वार वाला उपासक के शरीर में (यत्) जो (इदम्) यह (पुण्डरीकम्) कमल सदृश (दहरम्) अल्पपरिमाण वाला हृदय नाम का (वेश्म) परब्रह्म नारायण का गृह है और (अस्मिन्) इस पुण्डरीकाकार हृदय गृह में (अन्तः) भीतर (दहरः) अत्यन्त सूक्ष्म (आकाशः) अच्छी तरह प्रकाश करने वाला परब्रह्म नारायण है (अत्र) इस दहराकाशवाच्य परब्रह्म नारायण में (किम्) कौन सी (तत्) वह वस्तु (विद्यते) विद्यमान है (यत्) जो (अन्वेष्टव्यम्) श्रवण और मनन के द्वारा जानने योग्य है और (वाव) निश्चय करके (यत्) जो (विजिज्ञासितव्यम्) विशेष रूप

विशेषार्थ- परब्रह्म नारायण को और परब्रह्म नारायण के गुण गण को नहीं जानने वाले शिष्य गण आठवें प्रपाठक की पहली श्रुति के उपदेश को सुनकर असम्भव सा मानते हुये उस उपदेष्टा सदाचार्य से यदि इस प्रकार का प्रश्न करें कि—उपास्यतया सन्निहित इस परब्रह्म नारायण के स्थान नव द्वार वाले उपासक के शरीर में जो यह कमल के समान अल्प परिमाण वाला हृदय नाम के नारायण का स्थान है और उस कमलाकार हृदय स्थान के मध्यवर्ती अत्यन्त सूक्ष्म अच्छी तरह प्रकाश करने वाला परब्रह्म नारायण है। यहाँ पर 'आ' समन्तात्काशते प्रकाशते'' भली भाँति जो प्रकाश सबको करता है उसको आकाश कहते है। इस व्युत्पत्ति से आकाश शब्द का अर्थ परमात्मा होता है। और **कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ७ श्रु० १) यदि यह आकाश की भाँति व्यापक पर ब्रह्म नारायण अपरिच्छिन्न आनन्द रस नहीं होता तो कौन पुरुष निश्चय करके जीवित रह सकता या सांसारिक सुख को प्राप्त कर सकता और कौन पुरुष प्राणों की चेष्टा कर सकता या आपवर्गिक सुख को प्राप्त कर सकता ॥१॥ **सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते ॥** (छाँ० उ० प्र० १ ख० ९ श्रु० १). निश्चय करके प्रसिद्ध ये सब भूत आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण से ही उत्पन्न होते हैं ॥१॥ इन श्रुतियों में परब्रह्म नारायण वाचक आकाश शब्द का प्रयोग हुआ है। उस अत्यन्त सूक्ष्म आकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के भीतर क्या वस्तु है जो श्रवण और मनन के द्वारा जानने योग्य है और विशेष रुप से ध्यान करने योग्य है। यतिपुरन्दर भगवद्रामानुजाचार्य ने **दर्शयति च ॥** (शा० मी० ३।३।४) के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के अष्टम प्रपाठक के पहले खण्ड की दूसरी श्रुति के "किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥२॥

स ब्रूयाद् यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि। यच्चा स्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहित

मिति ॥३॥

अन्वयार्थ— (सः) वह उपदेष्टा आचार्य उन प्रश्न करनेवाले जिज्ञासु शिष्यों से (इति) इस प्रकार के ब्रूयात्) कहे कि (यावान्) जितना बड़ा (वै) निश्चय करके (अयम्) यह (आकाशः) भौतिक आकाश है (तावान्) उतना बड़ा (एषः) यह (हृदये) हृदय पुण्डरीक के (अन्तः) मध्यवर्ती (आकाशः) आकाश शब्द निर्दिष्ट परमात्मा है (अस्मिन्) इस दहराकाश के (अन्तः) भीतर में (एव) निश्चय करके (उभे) दोनों (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथ्वी लोक अर्थात् भोग्य भोगस्थान भोगोपकरण (समाहिते) सम्यक् प्रकार से स्थित हैं (च) और (उभौ) दोनों (अग्निः) अग्नि (च) तथा (वायुः) वायु इस दहराकाश के भीतर में ही स्थित हैं और (उभौ) दोनों (सूर्याचन्द्रमसौ) सूय तथा चन्द्रमा अर्थात् भोक्तृवर्ग इस दहराकाश में ही स्थित हैं और (विद्युन्नक्षत्राणि) विद्युत् और अश्विनी आदि नक्षत्र गण इस दहराकाश के भीतर में ही स्थित हैं (च) और (अस्य) इस उपासक का (इह) इस लोक में (यत्) जो भोग्य जात (अस्ति) है (च) और (यत्) जो मनोरथ मात्र गोचर भोग्य (न) इस लोक में नहीं (अस्ति) है (तत्) वह (सर्वम्) समस्त भोग्यजात (अस्मिन्) इस दहराकाश में (समाहितम्) अच्छे प्रकाश से स्थित है अर्थात् दहराकाश निरतिशय भोग्य है ॥३॥

विशेशार्थ—वह उपदेशक आचार्य "उपासक के शरीर में जो यह कमलाकार अल्पपरिमाण वाला हृदय नाम का परमात्मा का गृह है उस पुण्डरीककार गृह में भीतर जो अत्यन्त सूक्ष्म सबको प्रकाश करने वाला दहराकाश है उसमें कौन सी वस्तु विद्यमान रह सकती है जो जानने योग्य है और विशेष रुप से ध्यान करने योग्य है" इस प्रकार प्रश्न करने वाले जिज्ञासु शिष्यों से कहे कि-जितना बड़ा यह बाह्य भौतिक आकाश है उतना बड़ा यह हृदय पुण्डरीकान्तवर्ती दहराकाश कहा गया है। यहाँ "दहराकाश" का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्म नारायण है। यहाँ तक प्रकृत श्रुति में दहराकाश की अत्यन्त महत्ता प्रतिपादित की गयी है। जैसे लोक में कहा जाता है कि "इषुवद्गच्छति सविता" बाण के समान सूर्य चलता है॥ तो यह वचन गतिमान्द्य निवृत्तिपरक सब लोग मानते हैं वैसे ही इस श्रुति में दहराकाश के हृदय पुण्डरीक मध्यवर्तित्व प्राप्त अल्पत्वनिवृत्तिपरक अर्थ वैदिक लोग यहाँ मानते हैं। और द्युलोक तथा

पृथ्वी ये दोनों लोक अर्थात् भोग्य भोगस्थान भोगोपकरण सम्यक् प्रकार से इस दहराकाश के भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु ये दोनों इस दहराकाश के भीतर ही सम्यक् प्रकार से स्थित हैं। तथैव सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों अर्थात् भोक्तृवर्ग इस दहराकाश के भीतर ही स्थित हैं और विद्युत् तथा नक्षत्र यानी तारा गण भी इस दहराकाश के भीतर ही सम्यक् प्रकार से स्थित हैं। यहाँ तक इस श्रुति में दहराकाश को सब जगत् का आधार प्रतिपादित किया गया है। और इस उपासक के इस मृत्युलोक में जो भोग्यजात है तथा जो मनोरथमात्र गोचर भोग्य वस्तु इस लोक में नहीं है वह संपूर्ण भोग्य जात इस दहराकाश में अच्छे प्रकार से स्थित है। इस वाक्य से दहराकाश के निरतिशय भोग्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। दहराकाश देह के अवयवभूत हृदय के मध्यवर्ती होने पर भी देह के जरा मरणादि होने पर परम कारण स्वरूप अति सूक्ष्म होने से निर्विकार ही सदा रहता है। इसी अक्षर ब्रह्म में बाह्य भौतिक आकश ओत प्रोत है। क्योंकि लिखा है—**तस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥** (बृ०उ०अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० ११) अरे गार्गि उसी अविनाशी परब्रह्म नारायण में निश्चय करके यह बाह्य भौतिक आकाश ओत प्रोत है॥ ११॥ सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोपदेष्टा भगवद्रामानुजाचार्य ने—**श्रुतत्वाच्च** । (शा०मी० १।१।१२) **दहर उत्तरेभ्यः** । (१।३।१३) **सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः** ॥(३।३।२३) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के पहले खण्ड की तीसरी श्रुति के वाक्यों को उद्धृत किया है॥ ३॥

तं चेद् ब्रूयुरस्मिँश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरा वाऽऽप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥४॥

अन्वयार्थ—(तम्) उस उपदेष्टा आचार्य से (चेत्) यदि (इति) ऐसा (ब्रूयुः) शिष्य गण कहें कि (चेत्) यदि (अस्मिन्) उपास्यतया सन्निहित इस (ब्रह्मपुरे) परब्रह्म के पुर नव द्वार वाले उपासक के शरीर में (इदम्) यह दृश्यमान (सर्वम्) सब (समाहितम्) अच्छे प्रकार से स्थित है (च) और (सर्वाणि) संपूर्ण (भूतानि) द्युलोक भूलोक अर्थात्

भोग्य, भोगस्थान, भोगोपकरण और अग्नि, वायु तथा सूर्य, चन्द्रमा अर्थात् भोक्तृवर्ग तथा विद्युत् नक्षत्र आदि भूत सम्यक् प्रकार से स्थित हैं (च) और (सर्वे) समस्त (कामः) निरतिशयभोग्यजात अच्छे प्रकार से स्थित हैं तो (यदा) जब (जरा) वृद्धावस्था (एनत्) इस शरीर का (आप्नोति) प्राप्त होती है (वा) तो (प्रध्वंसते) यह शरीर नष्ट हो जाता है (ततः) उसके बाद नष्ट होने पर (वा) निश्चय करके (किम्) क्या (अतिशिष्यते) अवशेष बाकी रह जाता है अर्थात् शरीर के नाश से देहमध्यवर्ती पुण्डरीक का नाश हो जायेगा और उसके नाश से दहराकाश के नाश का भी प्रसंग हो जायेगा ॥४॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त उपदेश को सुनकर उस महोपदेशक आचार्य से यदि शिष्यगण ऐसा कहे—यदि उपास्यतया सन्निहित इस परब्रह्म नारायण के स्थान नवद्वार वाले उपासक के शरीर में यह सब सम्यक् प्रकार से स्थित है और समस्त द्युलोक तथा पृथ्वी लोक अर्थात् भोग्य भोगस्थान, भोगोपकरण और अग्नि, वायु तथा सूर्य, चन्द्रमा अर्थात् भोक्तृवर्ग तथा बिजली नक्षत्र आदिक भूत समुदाय अच्छे प्रकार से स्थित हैं और इस लोक में जो भोग्य जात है तथा जो मनोरथ मात्र गोचर भोग्यवस्तु इस लोक में नहीं है वह सम्पूर्ण भोग्यजात अर्थात् निरतिशय भोग्यजात सम्यक् प्रकार से स्थित है। तो जिस समय वृद्धावस्था इस शरीर को प्राप्त होती है तो यह शरीर निश्चय करके विनष्ट हो जाता है। क्योंकि लिखा है— **अन्तवन्त इमे देहाः** (गी० अ०२।१८) ये सब देह अन्त वाले विनाश शील हैं ॥१८॥ तो शरीर के नष्ट होने पर क्या शेष रह जाता है अर्थात् जैसे घर के जल जाने से घर में के सब अशन, वसन, भूषण, आयुध आदिक जलकर नष्ट हो जाते हैं वैसे शरीर के विनाश होने पर शरीर की सब वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं ॥४॥

स ब्रूयात्। नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्। अस्मिन्कामाः समाहिताः। एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः। यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा

भवन्ति यं जनपदं चेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥५॥

अन्वयार्थ — (सः) वह महोपदेशक आचार्य (ब्रूयात्) उन प्रश्न करने वाले जिज्ञासु शिष्यों सेकहे कि (अस्य) इस शरीर की (जरया)वृद्धावस्था से (एतत्) यह दहराकाश (न) नहीं (जीर्यति) जीर्ण होता है और (अस्य) इस शरीर के (वधेन) वध से (न) नहीं (हन्यते) दहराकाश नष्ट होता है क्योंकि (एतत) यह (ब्रह्मपुरम्) ब्रह्म हीं पुर यानी दहराकाश (सत्यम्) निर्विकार है (अस्मिन्) इस दहराकाश में (कामाः) संपूर्ण कल्याणगुण (समाहिताः) सम्यक् प्रकार से स्थित हैं (एषः) यह समीपतर-वर्ती दहराकाश (आत्मा) परब्रह्म नारायण है (अपहतपाप्मा) सुकृत दुष्कृत शून्य विशुद्ध है (विजरः) और वृद्धावस्थाहीन (विमृत्युः) मरण रहित (विशोकः) शोकहीन (विजिघत्सः) जोवनेच्छारहित (अपिपासः) पीने की इच्छाशून्य है और (सत्यकामः) भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान-रुप नित्य कल्याण गुण वाला है तथा (सत्यसंकल्पः) सत्यसंकल्प है अर्थात् अप्रतिहत संकल्प है (हि) निश्चय करके (इह) इस लोक में (यथा) जैसे (एव) ही (प्रजाः) प्रजाएँ (यथानुशासनम्) राजा की आज्ञा के अनु-सार (अन्वाविशन्ति) अनुसरण करती हैं तो (यम्) जिस (यम्) जिस (अन्तम्) फल को तथा (यम्) जिस (जनपदम्) देश को या (यम्) जिस (क्षेत्रभागम्) क्षेत्रभाग को (अभिकामाः) कामना करने वाली (भवन्ति) होती हैं (तम्) उसी (तम्)उसी को (एव) निश्चय करके राजा की कृपा से पाकर (उपजीवन्ति) जीविका निर्वाह करती हैं वैसे ही लोग पर लोक में परब्रह्मनारायण के परतंत्र भगवदाश्रित जीवन धारण करते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—वह महोपदेशक आचार्य इस खण्ड की चौथी श्रुति में प्रश्न करने वाले जिज्ञासु शिष्यों से बोले— हे शिष्यगण इस देह की वृद्धावस्था से यह दहराकाश शब्दवाच्यपरब्रह्म नारायण जीर्ण नहीं होता है और इस देह के वध से दहराकाश शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण का हनन नहीं होता है। क्योंकि यह ब्रह्म ही पुर यानी दहराकाश सत्य यानी निर्विकार है। यहाँ ब्रह्मपुर शब्द का अर्थ 'ब्रह्मैव पुरम' ब्रह्मपुरम् इस प्रकार के समास होने से केवल ब्रह्म ही पुर है। इस प्रकार के मध्य में प्रसक्त आक्षेपका समाधान करके अब दूसरी श्रुति में किया हुआ जो यह प्रश्न — **किं तदत्र विद्यते ॥** (छां० उ प्र० ८ खं १ श्रु० २)

इस दहराकाश में कौन सी वस्तु विद्यमान है ॥२॥ इसका उत्तर आचार्य कहे कि —इस दहराकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में समस्त कल्याणगुण अच्छे प्रकार से स्थित हैं। यह शरीर के भीतर समीपतरवर्ती दहराकाश आत्मा है यानी परब्रह्म नारायण है। यहाँ आत्माशब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। क्योंकि लिखा है - **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** ॥ (ऐतरेयोप० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जंगम स्वरुप जगत सृष्टि से पहले एक मात्र प्रसिद्ध संपूर्ण हेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था ॥१॥ **नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् । दिव्यो देव एको नारायणः** ॥ (सुबालोप० खं० ६) सृष्टि से पहले यहां कुछ भी नहीं था। दिव्यदेव एक नारायण ही थे ॥६॥ **एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः** ॥ (महोप० अध्या० १ श्रु० १) सृष्टि के आदि समय निश्चय करके सुप्रसिद्ध एक नारायण ही थे न ब्रह्मा थे न रुद्र थे ॥१॥ **शुद्धोदेव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्** ॥ (नारायणो प० श्रु० २)शुद्धदेव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं हैं ॥२॥ जगत्कारणवादिनी श्रुतियों का यथार्थ विवेचन करने से और व्याप्तिबोधक "आप" भक्षणार्थक "अद्" अथवा संतत गमन बोधक "अत्" धातु से 'आत्मा' पद निष्पन्न होने से आत्मा का अर्थ परब्रह्म नारायण है। यह दहराकाश शब्द वाच्य परमात्मा धर्माधर्म से शून्य विशुद्ध है तथा जरा अवस्था रहित हैं और मरण रहित है तथा शोक रहित है और भोजनेच्छा रहित है तथा पिपासा हीन है। यहाँ पर प्राकृत हेय छः गुणों से रहित परमात्मा का प्रतिपादन करके 'निर्गुण' शब्द का अर्थ भी परम करुणामयी श्रुति ने स्पष्ट वर्णित किया है। तदनन्तर परमात्मा के कल्याण गुणों को प्रतिपादन करती है कि .. परमात्मा सत्यकाम है अर्थात् भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान रुप नित्य कल्याण गुण वाला है। और सत्य संकल्प है यानी अप्रतिहतसंकल्प वाला है। ऐसा लक्षणयुक्त परब्रह्म नारायण का ध्यान हृदय में करना चाहिये। और जिस प्रकार इस लोक में प्रजा राजा की आज्ञा के अनुसार अनुवर्तन करती है तो वह जिस-जिस फल को इच्छा करती है तथा जिस-जिस देश या क्षेत्रभाग की इच्छा

करती है उसी उसी जनपद क्षेत्रादि को राजा की कृपा से पाकर अपनी जीविका का निर्वाह करती है उसी प्रकार कर्मसाध्य परलोक में सब लोग परतंत्र जीवन धारण करते हैं। सगुण परब्रह्मोपासक भगवद्रामानुजाचार्य ने ।। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (शा० मी० १।१।१) तत्तु समन्वयात् ॥ (१।१।४) ॥ श्रुतत्वाच्च । (१।१।१२) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥(१।१।२१) ॥ दहर उत्तरेभ्यः ॥(१।३।१३) ॥ परिणामात्॥ (१।४।२७) अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ (२।१।८) ॥ अश्मादिवच्चतदनुपपत्तिः ॥ (२।१।२३) ॥ सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ (२।१।३०) न स्थानतोऽपि परस्योभयंलिङ्गसवत्र हि ॥ (३।२।११) प्रतिषेधाच्च॥ (३।२।२६) ॥ आदरादलोपः । (३।३।३६) । प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ (३।३।४२) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।। (३।४।८) इन चौदहो सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के पहले खण्ड की पाँचवीं श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥५॥

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकःक्षीयते। तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान्कामाँस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति। अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान्कामाँस्तेषां सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति ॥६॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस परलोक के विषय में दृष्टान्त कहा जाता है कि (यथा) जैसे (इह) इस लोक में (कर्मचितः) राजा की सेवा आदि कर्मों से उपार्जित (लोकः) लोक यानी देश क्षेत्रभागादि (क्षीयते) कुछ दिनों के अनन्तर क्षीण हो जाता है (एवम्) इसी प्रकार (एव) निश्चय करके (अमुत्र) परलोक में भी (पुण्यचितः) पुण्य अग्निहोत्रादि कर्मों से उपार्जित (लोकः) स्वर्गादि भोग्यलोक (क्षीयते) कुछ दिनों के अनन्तर क्षीण हो जाता है (तत्) उस कारण से (ये) जो लोग (इह) इस कर्म

भूमि में (आत्मानम्) पूर्वोक्त दहराकाश शब्दवाच्य परमात्मा को और (एतान्) इन अपहतपाप्मत्वादिकों को (च) तथा (सत्यान्) नित्य (कामान्) काम्यमान कल्याण गुणों को (अननुविद्य) नहीं उपासना करके (व्रजन्ति) यहाँ से परलोक में प्रस्थान करते हैं (तेषाम्) उन अज्ञानी पुरुषों के (सर्वेषु) संपूर्ण (लोकेषु) लोकों में (अकामचारः) स्वेच्छानुसार गमन नहीं (भवति) होता है अर्थात् पारतन्त्र्य रहता है अथ) और (ये) जो उपासक (इह) इस कर्मभूमि अपने शरीर में (आत्मानम्) पूर्वोक्त दहराकाश शब्दवाच्य परमात्मा को तथा (एतान्) परमात्मा के इन अपहत पाप्मत्वादिकों को (च) और (सत्यान्) नित्य (कामान्) काम्यमान कल्याण गुणों को (अनुविद्य) उपासना करके (व्रजन्ति) यहाँ से प्रस्थान करते हैं (तेषाम्) उन ज्ञानी पुरुषों के (सर्वेषु) समस्त (लोकेषु) लोकों में (कामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है ॥६॥

विशेषार्थ — पाँचवीं श्रुति में कर्मसाध्य परलोक में पारतन्त्र्य कह कर अब परलोक को दृष्टान्त के द्वारा विनश्वर श्रुति प्रतिपादन करती है। जिस प्रकार इस लोक में राजा के सेवादि कर्मों से प्राप्त किया हुआ लोक यानी जनपद क्षेत्रभाग आदिक कुछ दिनों के बाद क्षीण हो जाता है उसी प्रकार परलोक में भी पुण्य अग्निहोत्र दानादि कर्मों से उपार्जित स्वर्गादि लोक कुछ दिनों के अनन्तर क्षीण हो जाता है। क्योंकि लिखा है— **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन॥** (गी० अ० ८ श्लोक १६) हे अर्जुन ब्रह्मा के लोक से लेकर सभी लोक पुनरावृत्ति शील है ॥१६॥ **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकंविशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥** (गी० अ० ९ श्लोक २१) वे यज्ञादि पुण्य कर्म करने वाले मरने के बाद उस विशाल स्वर्गलोक को भोग कर पुण्य के क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं ॥२१॥ जिस कारण से सुकृत साध्य परलोक में पारतन्त्र्य और विनश्वरता है उस कारण से जो लोग यहाँ पर अपने शरीर में दहराकाश शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण को और परमात्मा के अपहत पाप्मत्वादिकों तथा नित्य कामना करने योग्य कल्याण गुणों को बिना उपासना किये हुएही यहाँ से परलोकमें जाते हैं तो उन अज्ञानी पुरुषों का सब लोकों में स्वच्छन्द गमन नहींहोता हैं अर्थात् उनलोगों की परतन्त्रता रहती है। और जो उपासक यहाँ पर अपने शरीर में दहराकाश शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण को और परब्रह्म नारायण के अपहत

पाप्मत्वादि छः गुणों को तथा नित्य कामना करने योग्य अनन्त कल्याण गुणों को उपासना करके यहाँ से जाते हैं, उन उपासक पुरुषों कोस्वेच्छा-नुसार सब लोकों में गमन होता है। अर्थात् ब्रह्मोपासक मुक्त जीव स्वतंत्रता पूर्वक सर्वदा तृप्त होकर भ्रमण करता है। अखिलहेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान परब्रह्मोपदेष्टा भगवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा**। (शा० मी० १।१।१) **दहर उत्तरेभ्यः**। (१।३।१०) **आदरा-दलोपः**॥ (३।३।३९) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'छान्दोग्योपनिषद्' के अष्टम प्रपाठक के पहले खण्ड की छठवीं श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ 'छान्दोग्योपनिषद्' के अष्टम प्रपाठक का पहला खण्ड समाप्त हो गया॥२॥

। अथ द्वितीयखण्डः॥

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति। तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते॥१॥

अन्वयार्थ — (सः) वह मुक्त जीव (यदि) यदि (पितृलोककामः) प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी पितरों के दर्शन की कामना वाला अथवा पितृलोक की कामना वाला (भवति होता है तो (अस्य) उस मुक्त जीव के (संकल्पात्) संकल्प मात्र से (एव) निश्चय करके (पितरः) प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी पितर (समुत्तिष्ठन्ति) सम्यक् उपस्थित होते हैं और (तेन) उस (पितृलोकेन) पितृलोक के (सम्पन्नः) सहित (महीयते) वह पूजित होता है॥१॥

विशेषार्थ — वह मुक्त पुरुष यदि प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी पितृवर्ग के दर्शन की इच्छा वाला होता है। अथवा पितृलोक की कामना वाला होता है तो उस मुक्त जीव के संकल्प मात्र से ही प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी पितृगण सम्यक् उपस्थित हो जाते हैं और उस पितृलोक के सहित वह मुक्त जीव पूजित होता है। पितृ और पितृलोक के विषय में लिखा है– **तिर इव हो पितरो मनुष्येभ्यः**॥ (शतपथ ब्रा० २।३।४। २) पितर निश्चय करक मनुष्यों से अलग हैं॥२॥ **अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिः**। (शतपथ २।४।२।२) पितर अपसव्य हो बाईं जाँघ झुका कर बैठे। प्रजापति ने कहा महीने-महीने

यज्ञ तुम्हारा अन्न मन के समान वेग और चन्द्रमा ज्योति होगी ॥ २ ॥ **अपराह्णः पितृणां तस्मादपराह्णे ददाति ॥** (शतपथ २।४।२।८) तीसरा पहर पितरों के भोजन का है इसलिये पितरों के लिये तीसरे पहर में देता है ॥८॥ **ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः ॥** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ८ श्रु० २) वे पूर्वोक्त जो देवजातीय गन्धर्वों के एक सौ आनन्द हैं वह चिरस्थायी पितृलोक में रहने वाले पितरों का एक आनन्द है ॥ **तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ।** (अथर्व वे० कां० १८ सू० २ मं० ४८) सबके ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्यादि के प्रखर प्रकाश वाला होने से प्रद्यौ कहलाता है, यहाँ पितरों का लोक है, जिसमें पितर रहते हैं। ॥४८॥ इससे सिद्ध होता है कि पितृगण मनुष्य से अलग हैं। पिता के अन्त्येष्टिकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने—**भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥** (शा० मी० २।१।१४) **संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ॥**(४।४।८) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्ठम प्रपाठक के दूसरे खण्ड की पहली श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥१॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) और वह मुक्त जीव (यदि) यदि (मातृलोककामः) प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी माताओं के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) उस मुक्त जीव के (सङ्कल्पात) सङ्कल्प मात्र से (एव) निश्चय करके (मातरः) प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी माताएँ (समुत्तिष्ठन्ति) सम्यक् उपस्थित होती हैं और (तेन) उस (मातृलोकेन) मातृलोक के (सम्पन्नः) सहित (महीयते) वह मुक्त पूजित होता है ॥२॥

विशेषार्थ—और वह मुक्त पुरुष यदि प्राचीन अनेक जन्म संबन्धी मातृवर्ग के दर्शन की इच्छा वाला होता है। अथवा मातृलोक की कामना वाला होता है तो उस मुक्त जीव के सङ्कल्प मात्र से ही प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी माताएँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। अथवा मुक्त के सङ्कल्प मात्र से सोलह मातृकाएँ वहाँ सम्यक् उपस्थित हो जाती हैं। षोडश मातृका के विषय में लिखा है— **गौरी पद्मा शची मेधा**

सावित्री विजया जया देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥ हृष्टिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मनः कुलदेवताः । गणेशेनाधिकाह्येता वृद्धौ पूज्याश्च षोडश ॥ (पुराण) गौरी देवी १, पद्मा देवी २, शची देवी ३, मेधा देवी ४, सावित्री देवी ५, विजया देवी ६, जया देवी ७, देवसेना देवी ८, स्वधा देवी ९, स्वाहा देवी १०, मातृ देवी ११, लोकमातृ देवी १२' हृष्टि देवी १३, पुष्टि देवी १४, तुष्टि देवी १५ और आत्मकुल देवता देवी १६ ये सोलह माताएँ वृद्धि कर्म में गणेश से भी अधिक पूजा करने योग्य हैं। ये सोलह माताएँ मुक्त के सङ्कल्प मात्र से वहाँ उठ कर आ जाती हैं और उस मातृलोक के सहित वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥२॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥

अन्वयार्थ—(अथ) और वह मुक्त जीव (यदि) यदि भ्रातृलोककामः) प्राचीने अनेक जन्म सम्बन्धी भ्राता के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) उस मुक्त जीव के (सङ्कल्पात्) सङ्कल्प मात्र से (एव) निश्चय करके (भ्रातरः) प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी भ्रातृवर्ग (समुतिष्ठन्ति) सम्यक् उपस्थित होते हैं और (तेन) उस (भ्रातृलोकेन्) भ्रातृलोक के (सम्पन्नः) सहित (महीयते) वह मुक्त पूजित होता हैं ॥३॥

विशेषार्थ—और वह मुक्ति पुरुष यदि प्राचीन अनेक जन्म संबन्धी भ्रातृवर्ग के दर्शन की इच्छा वाला होता है अथवा भ्रातृलोक की कामना वाला होता है तो उस मुक्त जीव के सङ्कल्प मात्र से ही प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी भ्रातृगण वहाँ सम्यक् उपस्थित हो जाते हैं और उस भ्रातृलोक के सहित वह मुक्त जीव पूजित होता है या महिमा को प्राप्त होता है ॥३॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति । तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) और वह मुक्त जीव (यदि) यदि (स्वसृलोककामः) प्राचीन अनेक जन्मसंबन्धी बहनों के दर्शन को कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस मुक्त जोव के (संकल्पात्) संकल्प मात्र से (एव) निश्चय करके (स्वसारः) बहनें प्राचीन अनेक जन्म संबन्धी (समुत्तिष्ठन्ति) सम्यक् उपस्थित होती हैं और (तेन) उस (स्वसृलोकेन) भगिनी लोक के (सम्पन्नः) सहित (महीयते) वह मुक्त पूजित होता है ॥४॥

विशेषार्थ—और वह मुक्त पुरुष यदि प्राचान अनेक जन्म सम्बन्धी बहनों के दर्शन की इच्छा वाला होता है। अथवा भगिनी लोक की कामना वाला होता है तो उस मुक्त जीव के संकल्पमात्र से ही प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी बहनें सम्यक् उपस्थित होती हैं। और उस भगिनी लोक के सहित वह मुक्त जीव पूजित होता या महिमा को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति। तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) और वह मुक्त जीव (यदि) यदि (सखिलोककामः) प्राचीन अनेक जन्म सबन्धी सखाओं के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) उस मुक्त जीव के (सङ्कल्पात्) संकल्प मात्र से (एव) निश्चय करके (सखायः) प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी सखा लोग (समुत्तिष्ठन्ति) सम्यक् उपस्थित होते हैं और (तेन) उस (सखिलोकेन) सखाओं के लोक के (सम्पन्नः) सहित (महीयते) वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—और वह मुक्त पुरुष यदि प्राचीन अनेक जन्म सम्बन्धी सखाओं के दर्शन की इच्छा वाला होता है। अथवा सखि लोक की कामना वाला होता है तो उस मुक्त जीव के संकल्प मात्र से ही प्राचीन अ.क जन्म सम्बन्धी सखागण वहाँ सम्यक् उपस्थित हो जाते हैं। और उस सखाओं के लोक के सहित वह मुक्त जोव पूजित होता है अथवा महिमा को प्राप्त होता है ॥५॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य

गन्धमाल्ये समुत्तिष्टतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥६॥

अन्वयार्थ —(अथ) और वह मुक्त जीव (यदि) यदि (गन्धमाल्यलोककामः) गन्ध और माल्य के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) उस मुक्त जीव के (सङ्कल्पात्) संकल्पमात्र से (एव) निश्चय करके [गन्धमाल्ये] गन्ध और माल्य [समुत्तिष्ठतः] सम्यक् उपस्थित होते हैं और (तेन) उस (गन्धमाल्यलोकेन) गन्धमाल्यलोक से (सम्पन्नः) सम्पन्न होकर (महीयते) वह मुक्तजीव पूजित होता है ॥६॥

विशेषार्थ—और वह मुक्तजीव यदि गन्ध और माल्य के दर्शन की इच्छा वाला होता है। तो उस मुक्त जीव के संकल्पमात्र से ही गन्ध और माल्य वहाँ सम्यक् उपस्थित हो जाते हैं। और उस गन्ध तथा माल्य के दर्शन से सम्पन्न होकर वह मुक्त जीव पूजित होता है। "लोकृ दर्शने" इस धातु से लोक शब्द निष्पन्न होता है। इससे यहाँ "लोक" शब्द का अर्थ दर्शन होता है ॥६॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥७॥

अन्वयार्थ —(अथ) और वह मुक्त जीव (यदि) यदि (अन्नपानलोककामः) अन्न और पीने योग्यपान के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) उस मुक्तजीव के (सङ्कल्पात्) संकल्पमात्र से (एव) निश्चय करके (अन्नपाने) अन्न और पान (समुत्तिष्ठतः) सम्यक् उपस्थित होते हैं और (तेन) उस (अन्नपानलोकेन) अन्न तथा पान के दर्शन से (सम्पन्न) संपन्न हो कर (महीयते) वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥७॥

विशेषार्थ—और वह मुक्त पुरुष यदि अन्न और पान के दशन की इच्छा वाला होता है तो उस मुक्त जीव के संकल्पमात्र से ही अन्न और पान उसके पास में सम्यक् उपस्थित होते हैं। यहाँ 'लोक' शब्द का अर्थ दर्शन है। अन्न के विषय में लिखा है— ॥ **अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति** ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० २ श्रु० १) वह जीवन दशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है और सब प्राणियों को स्वयं भी नाश दशा में खाता है इससे अन्न इस नाम से कहा

जाता है ॥१॥ और उस अन्न तथा पान के दर्शन से सम्पन्न होकर वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥७॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥८॥

अन्वयार्थ—[अथ] और वह मुक्त जीव [यदि] यदि [गीतवादित्रलोककामः) गीत और वाद्य के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो [अस्य] उस मुक्त जीव के (संकल्पात्) संकल्पमात्र से [एव] निश्चय करके (गीतवादित्रे) गीत और बाजा (समुत्तिष्ठतः) सम्यक् वहाँ उपस्थित होते हैं और (तेन) उस (गीतवादित्रलोकेन) गीत और वाद्यके दर्शन से (सम्पन्न) सम्पन्न होकर (महीयते) वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥८॥

विशेषार्थ—और वह मुक्त पुरुष यदि गाना और बाजे के दर्शन की इच्छा वाला होता है तो उस मुक्त जीव के संकल्प मात्र से ही गीत और वाद्य उसके पास में सम्यक् उपस्थित हो जाते हैं और उस गाना और बाजे के दर्शन से संम्पन्न होकर वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥८॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति । तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥९॥

अन्वयार्थ—(अथ) और यह मुक्त जीव (यदि) यदि (स्त्रीलोककामः) स्त्रियों के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) उस मुक्त जीव के (सङ्कल्पात्) सङ्कल्पमात्र से (एव) निश्चय करके (स्त्रियः) स्त्रियाँ (समुत्तिष्ठन्ति) वहाँ सम्यक् उपस्थित हो जाती हैं और (तेन) उस (स्त्रीलोकेन) स्त्रियों के दर्शन से (सम्पन्नः) संपन्न होकर (महीयते) वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥९॥

विशेषार्थ—और वह मुक्त पुरुष यदि स्त्रियों के दर्शन की इच्छा वाला होता है तो उस मुक्त जीव के संकल्प मात्र से ही स्त्रियाँ उसके पास में सम्यक् उपस्थित हो जाती हैं । स्त्री के विषय में लिखा है—**स्तनकेशवती स्त्रीस्यात्** ॥ (महाभाष्य०) स्तन और केश वाली जो योनि विशिष्ट हो उसे स्त्री कहते हैं ॥ उन स्त्रियों के दर्शन से सम्पन्न हो कर

वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥९॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥१०॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—और वह मुक्त जीव (यम्) जिस (यम्) जिस (अन्तम्) प्रदेश या फल के (अभिकामः) भलीभाँति कामना करने वाला (भवति) होता हैं और (यम्) जिस (कामम्) शब्दादिविषयभोग को (कामयते) चाहता है तो (अस्य) उस मुक्त जीव के (सङ्कल्पात्) सङ्कल्पमात्र से (एव) निश्चय करके (सः) वह सब भोग (समुत्तिष्ठति) वहाँ सम्पन्न होकर (महीयते) वह मुक्त जीव पूजित होता है ॥१०॥

विशेषार्थ—और वह मुक्त पुरुष जिस जिस प्रदेश अथवा फल की भली भाँति कामना करने वाला होता है और पूर्वोक्त कामनाओं के अतिरिक्त जिस शब्दादिविषयभोग की इच्छा करता है तो उस मुक्त जीव के सकल्पमात्र से ही वह सबभोग उसके पास में सम्यक् उपस्थित हो जाता है। काम के विषय में लिखा है ॥ **काम्यन्ते इति कामाः शब्दादयो विषयाः** ॥ (गी० रामानु० अ० २ श्लो० ७१) जिनकी कामना की जाय उनका नाम काम है इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दादि विषयों—भोगों को काम कहते हैं ॥ ७१ ॥ उस फल और शब्दादि विषय भोग से सम्पन्न होकर वह मुक्त जीव पूजित होता है। सर्वमनोरथपूर्णकर्त्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ **दहर उत्तरेभ्यः** ॥ (शा० मी० १।३।१२) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक के दूसरे खण्ड की दसवीं श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥१०॥

॥ अथ तृतीयखण्डः ॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्। यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥१॥

अन्वयार्थ —(ते) वे परमात्मनिष्ठ (इमे) ये (सत्याः) सत्य अपहत-पाप्मत्वादि (कामाः) काम्यमान हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानगुण (अनृता-पिधानाः) ब्रह्मप्राप्तिविरोधी सांसारिक फल कर्म अनृत आच्छादन से युक्त हैं (तेषाम्) उन परमात्मनिष्ठ (सत्यानाम्) सत्य अपहतपाप्मत्वादि हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानगुण (सताम्) परब्रह्म में विद्यमान रहने पर (अमृतम्) ब्रह्मप्राप्ति विरोधी सांसारिक फलवाला कर्म (अपिधानम्) आच्छादक है, अर्थात् स्वात्मभूत परमात्मगण अपहत पाप्मत्वादिधर्म कर्मरूप अविद्या से तिरोहित होने से प्रकाशित नहीं होते हैं (ह) निश्चय करके (अस्य) इस उपासक पुरुष के (यः) जो (यः) जो सम्बन्धी बन्धुवर्ग (इतः) इस लोक से (प्रैति) मरकर लोकान्तर में जाता है (तम्) उस मरे हुए बन्धुवर्ग को (दर्शनाय) फिर देखने के लिपे (इह) यहाँ पर (न) नहीं (लभते) मिलता है ॥१॥

विशेषार्थ —वे परब्रह्म नारायण के ये सत्य अपहतपाप्मत्वादि हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानगुण ब्रह्मप्राप्तिविरोधी सांसारिक फलवाला कर्मरूप अनृत से ढके हुए हैं। परब्रह्म का गुण कहा गया है ॥ **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः** ॥ (छां० उ० प्र० ८ खं० १ श्रु० ५) यह परमात्मा सुकृत दुष्कृत शून्य विशुद्ध है तथा जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य है और सत्यकाम यानी भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान रूप नित्य कल्याणगुण वाला है तथा सत्यसंकल्प यानी अप्रतिहत संकल्प है ॥५॥ प्रकृतश्रुति में "अनृतापिधानाः" यहाँ पर ऋतेतरविषय अनृत शब्द है। और "ऋत" शब्द कर्मवाची है। क्योंकि लिखा है— ॥ **ऋतं पिबन्तौ** ॥ (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० १) सत्य-पदवाची अवश्यंभावी कर्मफल को अनुभव करते हुए-या भोगते हुए ॥१॥ इस प्रकार के वचन होने से "ऋत" शब्द का अर्थ होता है कर्मफलाभि-सन्धिरहित परमपुरुषाराधनवेषरूप भगवत्प्राप्ति फल और उससे व्यति-रिक्त सांसारिक फल वाला कर्म अनृत ब्रह्मप्राप्तिविरोधी कहा जाता है। परब्रह्म नारायण में उन पूर्वोक्त सत्य अपहतपाप्मत्वादि हेयप्रत्यनीक कल्याणकतानगुणों के विद्यमान रहने पर भी वे गुण हृदय में प्रकाशित नहीं होते हैं। क्योंकि—ब्रह्मप्राप्ति विरोधी सांसारिक फल वाला कर्म आच्छादक है। अर्थात् स्वात्मगत परमात्मगत अपहतपामत्वादिधर्म

कर्मरूप अविद्या से तिरोहित होने से प्रकाशित नहीं होते हैं। निश्चय करके इस उपासक पुरुष का जो जो सम्बन्धी बन्धुवर्ग यहाँ से मरकर लोकान्तर में जाता है उस उस गये हुए बन्धुवर्ग को दर्शनार्थ इच्छा करता हुआ भी उनका दर्शन नहीं पाता है। अनिर्वचनीयख्यातिप्रत्याख्याता भगवद्रामानुजाचार्य ने —।। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ।। (शा० मी० १।१।१) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक के तीसरे खण्ड की पहली श्रुति के "तेषां सत्यानांसतामनृतमपिधानम्" इस वाक्य को उद्धृत किया है ।।१।।

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते। अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः। तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ।२।

अन्वयार्थ—(अथ) और (अस्य) इस उपासक के (ये) जो इष्ट मित्र पुत्र भार्या माता पिता आदिक बन्धुवर्ग (इह) इस लोक में (जीवाः) जीते हुए हैं (च) और (ये) जो बन्धुवर्ग (च) निश्चय करके (प्रेताः) मर गये हैं (च) और (यत्) जो (अन्यत्) अन्यपदार्थों को (इच्छन्) इच्छा करता हुआ यह पुरुष (न) नहीं (लभते) पाता है तत्) उस (सर्वम्) सब वस्तु को (अत्र) इस दहराकाश परमात्मा को (गत्वा) पाकर (विन्दते)यह उपासक प्राप्त कर लेता है (हि) क्योंकि (अस्य) इस उपासक के (एते) ये (सत्याः) सत्य (कामाः) काम्यमान भोग्यभूत अपहतपाप्मत्वादिक (अनृतापिधानाः) ब्रह्मप्राप्ति विरोधी सांसारिक फलवाले कर्म से ढँके हुए रहते हैं इससे प्रकाशित नहीं होते हैं और (अत्र) इस दहराकाश के प्राप्त होने पर वह अपहतपाप्मत्वादि गुण आविर्भाव होकर प्रकाशित हो जाता है वही जीवात्मा की निरतिशय भोग्य वस्तु है (तत्) इस विषय में यह दृष्टान्त है (यथा) जैसे (निहितम्) अपने खेत के भीतर गड़े हुए (हिरण्यनिधिम्) सुवर्णके कोश को (अक्षेत्रज्ञाः) अपने खेतको निधि वाला

नहीं जानने वाले पुरुष (उपरि) सुवर्णकोश के ऊपर (उपरि) उपर (संचरन्तः) विचरते हुए भी सुवर्ण के कोश को (न) नहीं (विन्देयुः) पाते हैं (एवम) वैसे ही (एवं) निश्चय करके (इमाः) ये (सर्वाः) समस्त (प्रजाः) प्रजाएं सुषुप्तिकाल में (अहः) रोज (अहः) रोज (गच्छन्त्यः) ब्रह्म के समीप जाती हुई (एतम्) इस दहराकाशनाम के (ब्रह्मलोकम्) परब्रह्मरूप लोक को (न) नहीं (विन्दन्ति) जानती हैं हि) क्योंकि सब प्रजाओं के स्वभाव (अनृतेन) ब्रह्मप्राप्तिविरोधी सांसारिक फल वाला कर्म से (प्रत्यूढ़ाः) प्रतीप नीत हैं अर्थात् परिहृत ढंका हुआ है ॥२॥

विशेषार्थ—और इस उपासक के जो सम्बन्धी इष्ट, मित्र, पुत्र, भार्या, माता, पिता आदिक बन्धुवर्ग इस लोक में जीवित हैं और जो सम्बन्धी बन्धुवर्ग निश्चय करके मर गये हैं और इन दोनों से अन्य जो पदार्थ हैं जिन पदार्थों को यह इच्छा करते हुए भी प्राप्त नहीं करता है उन सब वस्तुओं को इस दहराकाश शब्दवाच्य परब्रह्मनारायण में जाकर यह उपासक प्राप्त कर लेता है। क्योंकि इस उपासक के ये सत्य काम्यमानभोग्यभूत अपहतपाप्मत्वादिक सांसारिक फलवाला ब्रह्मप्राप्ति-विरोधी कर्म से आच्छादित रहते हैं इससे प्रकाशित नहीं होते हैं। और अपने शरीर के भीतर इस दहराकाश शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण के प्राप्त होने पर उस परब्रह्म के अपहत पाप्मत्वादि गुण आविर्भाव होकर प्रकाशित हो जाते हैं। वे ही जीवात्मा के निरतिशय भोग्य पदार्थ हैं। इस विषय में यह दृष्टान्त है कि — जिस प्रकार पृथ्वी में गड़े हुए सुवर्ण के खजाने को उस स्थान के अनभिज्ञ पुरुष उपर उपर विचरते हुए भी नहीं जानते, हैं इसी प्रकार यह सारी प्रजा सुषुप्तिकाल में नित्यप्रति पर-ब्रह्म नारायण में संयोग करती हुई इसदहराकाश नाम के परब्रह्मरूपलोक को नहीं पाती है। क्योंकि लिखा है — ॥ **एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सतिसंपद्य विदुः** । (छां० उ० प्र० ६ खं० ९ श्रु० २ हे सोमाहं प्रियदर्शन निश्चय करके ये संपूर्ण जन ठीक इसी प्रकार सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण कोसुषुप्तिसमय में प्राप्त होकरयह नही जानते हैं कि हम पर ब्रह्म को प्राप्त किये हैं ॥२॥ समस्त जन क्यों नहीं जानते हैं कि हम परब्रह्म नारायण को प्राप्त किये हैं इसमें साक्षात् श्रुति ही हेतु कहती है कि—क्योंकि सब प्रजाओं के स्वभाव ब्रह्म प्राप्ति विरोधी सांसारिक फलवाले कर्म से प्रतीप नीत हैं अर्थात् हर लिये गये हैं। 'ब्रह्मलोकम्' यहाँ

पर 'निषादस्थपतिन्याय' से कर्मधारय समास है। इससे अर्थ यह होता है कि ब्रह्मरूप लोक को और "अनृतेन" यहां पर ऋतेतर विषय अनृत-शब्द है। और "ऋत" शब्द कर्म वाचक है। क्योंकि लिखा है — **ऋतं पिबन्तौ** ॥ (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० १) सत्यपदवाची अवश्यंभावी कर्मफल को अनुभव करते हुए—या भोगते हुए ॥१॥ इस प्रकार के श्रौतवचन होने से "ऋत" शब्द का अर्थ होता है—कर्मफलाभिसन्धि रहित परमपुरुषाराधनवेषरूप भगवत्प्राप्ति फल और उससे व्यतिरिक्त सांसारिक फलवाला कर्म अनृत-ब्रह्मप्राप्तिविरोधी कहा जाता है। अथवा प्रकृत दृष्टान्त को श्रुति में सुषुप्तिविषय का गमन नहीं प्रतिपादन किया गया है। बल्कि निम्नलिखित विषय का वर्णन किया गया है — जैसे अपने खेत को अच्छे प्रकार से नहीं जानने वाले और ऊपर उपर जोतना बोना आदि व्यापार करते हुए गृहस्थ अपने खेत के भीतर गड़े हुए सुवर्णकोश को नहीं पाते हैं, वैसे ही ये सब प्रजाएं सबके अन्तर्यामी रुप से सर्वदा वर्तमान परमपुरुषार्थभूत दहराकाश शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण के ऊपर सर्वदा वर्तमान रहती हुई भी उस हिरण्मय निधि को भली भाँती नहीं जानने के कारण से नहीं पाती हैं। अन्तर्यामी रूप से परमात्मा के रहने पर भी सब जीव उस प्रभु को नहीं जानते हैं। क्योंकि लिखा है—॥ **यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति** । (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० २२) जो विज्ञान यानो जीवात्मा में रहने वाला जीवात्मा के भीतर है जिसे जीवात्मा नहीं जानती। जीवात्मा जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जीवात्मा का नियमन करती है ॥२॥ **यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यमक्षरं न वेद** ॥ सुबालो० खं०७) जिस नारायण का अविनाशी जीव शरीर है जो परब्रह्म नारायण जीवात्मा के भीतर रहता है परन्तु जिस अन्तर्यामी परमात्मा को जीव नहीं जानता है ॥७॥ **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति** ॥ शतपथ ब्रा०) जो परमात्मा जीवात्मा में रहने वाला जीवात्मा के भीतर है जिसे जीवात्मा नहीं जानती जीवात्मा जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है। मायावादविध्वंसक भगवद्रामानुजाचार्य ॥ **अथातो ब्रह्म**

जिज्ञासा ।।(शा०मी०१।१।१)।। गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टंलिङ्गं च ।। (१।३।१४) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्ठम प्रपाठक के तीसरे खण्ड की दूसरी श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ।।२।

स वा एष आत्मा हृदि । तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयम् । अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति।।३।।

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (सः) वह पूर्वोक्त (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा(हृदि) हृदय कमलमें है (तस्य) उस हृदय की (एतत) यही (एव) निश्चय करके (निरुक्तम्) निर्वचन यानी व्युत्पत्ति है क्या है सो कहते हैं (हृदि हृदय में (अयम्) यह परमात्मा है (इति) यही निर्वचन है (तस्मात्) इसी कारण से (हृदयम्) हृदय कहलाता है (अहः+अहः) प्रतिदिन मरण पर्यन्त (एवंवित्) इस प्रकार के दहराकाशोपसना में निष्ठ पुरुष (वै) निश्चय करके (स्वर्गम्) सुखरूप (लोकम्) लोक्यमान परब्रह्म नारायण को (एति) प्राप्त करता है ।।३।।

विशेषार्थ—निश्चय करके वह पूर्वोक्त यह परमात्मा हृदय पुण्डरीक में वर्तमान् है । "हृदि अयम्" हृदय में यह है, यही इस हृदय शब्द का निर्वचन यानी व्युत्पत्ति है । हृदय के भीतर परमात्मा रहता है, इसी कारण से इसका हृदय यह नाम है । क्योंकि लिखा है—**एषः प्रजापतिं यद्धृदयमेतद्ब्रह्मै तत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरंहृदयमिति** ।। (बृह० उ० अ० ५) ब्रा० ३ श्रु० १) जो हृदय है वह प्रजापति है । यह ब्रह्म है । यह सर्व है । यह हृदय तीन अक्षर वाला नाम है ।।१।। प्रतिदिन मरणपर्यन्त इस प्रकार हृदयकमल में दहराकाश शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण का उपासना-निष्ठ पुरुष निश्चय करके सुखरूप लोक्यमान प्रकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण को प्राप्त करता है। इस श्रुति में"स्वर्गं लोकम्"का अर्थ सुखरूप प्रकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण है । क्योंकि लिखा है- **स्वर्गे लोके ज्येयेप्रतितिष्ठति** ।। (केनोप० खं० ३ श्रु० ६) सबसे श्रेष्ठ सुखरूप प्रकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण में सदा के लिये प्रतिष्ठित हो जाता है ।।६।। **एति स्वर्गं लोकं य एवं वेद** ।। (बृह० उ० अ० ५ ब्रा० ३ श्रु० १) जो इस प्रकार की उपासना करता है वह उपासक सुखरूप लोक्यमान प्रकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण को प्राप्त करता है ।।१।।इन श्रुतियों में "स्वर्ग" का अर्थ सुखरूप

और "लोक" शब्द का अर्थ लोक्यमान प्रकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण है ॥३॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ।४॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (एषः) यह (यः) जो (संप्रसादः) जीवात्मा है वह (अस्मात्) इस हेय परिदृश्यमान (शरीरात्) शरीर से (समुत्थाय) उठकर (अर्थात्) इस शरीर को त्याग कर (परम्) देशविशेषनिष्ठ परमात्मारूप (ज्योतिः) प्रकाश को (उपसंपद्य) प्राप्त हो कर (स्वेन) अपने (रूपेण) स्वरूप से (अभिनिष्पद्यते) भली भाँति युक्त हो जाता है (एषः) यह हृदय कमल मध्यवर्ती (आत्मा) परमात्मा है (इति) ऐसा (ह) स्पष्ट (उवाच) आचार्य ने शिष्यों से कहा और (एतत्) यह (अमृतम्) मरणशून्य अमृत है तथा यह (अभयम्) भयरहित है और (एतत्) यही हृदय पुण्डरीक मध्यवर्ती दहराकाश शब्द वाच्य (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है (इति) ऐसा आचार्य ने कहा (वै) निश्चय करके (तस्य) उस (ह) प्रसिद्ध (एतस्य) इस (ब्रह्मणः) परब्रह्म नारायण के (सत्यम्) सत्य (इति) यह (नाम) नाम है ॥४॥

विशेषार्थ—हृदय की व्युत्पत्ति कह कर अब परब्रह्म की प्राप्ति कैसे होती है इत्यादिक प्रतिपादन किया जाता है कि—नित्यप्रति मरणपर्यन्त दहराकाश की उपासना में निष्ठ जो यह जीवात्मा है। वह इस हेय परिदृश्यमान शरीर से उत्थान कर अर्थात् इस देह को त्याग कर देशविशेषनिष्ठ परब्रह्म नारायण के प्रकाश को पाकर अपने स्वरूप से युक्त हो जाता है। यह हृदयपुण्डरीकमध्यवर्ती परमात्मा है तथा यही मरण रहित अमृत है और यही भयरहित अभय है तथा यही परब्रह्म नारायण है ऐसा शिष्यों से आचार्य ने उपदेश दिया। और यह कहा कि—हे शिष्यों उस सुप्रसिद्ध इस परब्रह्म नारायण का "सत्य" यह नाम है। और अन्यत्र भी लिखा है—**सत्त्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः** ॥ (महाभा० अनुशासनप० विष्णुसह० श्लो० १९६)

सत्त्ववान् १ सात्त्विक २ सत्यधर्मपरायण ३ सत्य ४ ये नारायण के नाम हैं ॥१०६॥ चेतनोद्धारकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥ (शा० मी० १।३।१७)उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ (१।३।१८) ॥ अन्यार्थश्च परामर्शः ॥(१।३।१९) ॥ उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥ (१।४।२१) ॥ स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ (३।२।९) कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ (३।३।३८) ॥ उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ (३।३।४०) ॥ दर्शनाच्च ॥ (४।३।१२) ॥ अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॥ (४।३।१४) ॥ इन नौ सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के तीसरे खण्ड की चौथी श्रुति के वाक्यों को उद्धृत किया है ॥ ४ ॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति । तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यम् । अथ यद्यं तेनोभे यच्छति । यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यम् । अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥५॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके तृतीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (ह)प्रसिद्ध परब्रह्म के सत्यनाम के (तानि) वे (एतानि) ये (सत्तियम्) सत् यानि सकार तथा ति यानी तकार और यम् (इति) इस प्रकार के (त्रीणि) तीन (अक्षराणि) अक्षर हैं (तत्) उन तीनों अक्षरों में (यत्) जो (सत्) सकार अक्षर है (तत्) वह (अमृतम्) मरण रहित जीवात्मा है (अथ) और (यत्) जो (ति) तकार अक्षर है (तत्) वह (मर्त्यम्) मर्त्य यानी अचेतन है (अथ) और (यत्) जो (यम्)यम् अक्षर है (तेन) उस यम् अक्षर से (उभे) पूर्वोक्त दोनों अक्षरों को (यच्छन्ति) यह नाम अपने वश में करता है (यत्) जिस कारण से (अनेन) इस य अक्षर से (उभे) दोनों सकार और तकार के (यच्छति) नियमन करता है (तस्मात्) इसी कारण से (यम्) यम् कहलाता है (वै) निश्चय करके (अहः+अहः) रोज रोज (एवंवित्) इस प्रकार के सत्य

नाम के निर्वचन को जानने वाला पुरुष (स्वर्गम्) सुखरूप (लोकम्) लोक्यमान प्रकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण को (एति) प्राप्त करता है ।।५।।

विशेषार्थ – निश्चय करके परब्रह्म नारायण के "सत्य" इस नाम के "स" "त" और "य" ये तीन अक्षर हैं। उन तीनों अक्षरों में जो पहला अक्षर "स" है वह अमृत जीवात्मा है और जो दूसरा अक्षर "त" है वह मर्त्य यानी अचेतन है और जो तीसरा अक्षर "य" वह पूर्वोक्त दोनों अक्षरों को नियमन करता है। जिस हेतु से "य" अक्षर से दोनों सकार और तकार संयत नियमबद्ध होते हैं उसी से यम कहलाता है। अर्थात् "स" अमृत जीवात्मा "त" परिणामशील प्रकृति इन दोनों को जो "य" अपने नियम में रखने वाला है उसे "सत्य" कहते हैं। मूल में "सत्" में तकार और "ति" में इकार उच्चारण के लिये कहा गया है। और "यम" अक्षर में "म" यह विभक्ति का चिह्न है। यम धातु से "य" सिद्ध हुआ है। इस प्रकार से सत्य नाम का निर्वचन कहकर अब इस निर्वचन को जानने वाले का माहात्म्य प्रतिपादन किया जाता है कि .. निश्चय करके मरणपर्यन्त प्रतिदिन इस प्रकार के "सत्य" नाम के निर्वचन को जानने वाले पुरुष सुखरूप लोक्यमान प्रकाश स्वरूप परब्रह्म नारायण को प्राप्त करता है। और इस श्रुति के समान ही अन्यत्र लिखा है— **॥ ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्य भूयमेव भवति नैनं विद्वांसमनृतं हिनस्ति ॥** (बृह० उ० अ० ५ श्रु० १) वे देवगण सत्य की ही उपासना करते हैं। वह यह "सत्य" तीन अक्षर वाला नाम है। "स" यह एक अक्षर है "ति" यह एक अक्षर है और "यम" यह एक अक्षर है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्यका अनृत है। वह यह अनृत दोनों ओर से सत्य से परिगृहीत है। इसलिए यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को अनृत नहीं मारता है ।।१।। प्रकृत छान्दोग्य की श्रुति में 'स्वर्ग लोकम्" का अर्थ सुखरूप प्रकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है ॥ **स्वर्गलोके ज्येये-प्रतितिष्ठति ॥** (केनो० खं० ४ श्रु० ९) सबसे श्रेष्ठ सुखरूप प्रकाश-

स्वरूप परब्रह्म नारायण में सदा के लिये प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ६ ॥
। अहरह र्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ (छां०प्र० ८ खं० ३ श्रु०३) प्रतिदिन मरण पर्यन्त इस प्रकार के दहराकाशोपासना में निष्ठ पुरुष निश्चय करके सुखरूप लोक्यमान परब्रह्म नारायण को प्राप्त करता है॥३। ॥ एतिस्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ (बृ० उ० अ० ५ ब्रा० ३ श्रु० १) जो इस प्रकार की उपासना करता है वह उपासक सुखरूप लोक्यमान परब्रह्म नारायण को प्राप्त करता है ॥१॥ इन श्रुतितों में "स्वर्ग" का अर्थ सुखरूप और "लोक" शब्द का अर्थ लोक्यमान प्रकाशस्वरूप परब्रह्म नारायण होता है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥ ५ ॥

। अथ चतुर्थखण्डः ॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय। नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्यु र्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्। सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते। अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥१॥

अन्वयार्थ –(अथ) और (यः) जो (आत्मा) परमात्मा पूर्वखण्ड में अपहतपाप्मा विजर विमृत्यु विशोक भोजनेच्छारहित पिपासाशून्य सत्यकाम सत्यसंकल्पादि विशेषणयुक्त कहा गया है (सः) वह परब्रह्म परमात्मा (एषाम्) इन सम्पूर्ण (लोकानाम्) लोकों के (असंभेदाय) पारस्परिक असंकर के लिये (सेतुः) सेतुके सदृश (विधृतिः) विशेष रूप से धारण करने वाला है (एतत्) इस परब्रह्म नारायण (सेतुम्) सेतु को (अहोरात्रे) दिन और रात परिच्छेदक रूप से (न) नहीं (तरतः) प्राप्त कर सकते और (न) नहीं (जरा) बृद्धावस्था (न) नहीं (मृत्युः) मरण (न) नहीं (शोकः) शोक (न) नहीं (सुकृतम्) पुण्य (न) नहीं (दुष्कृतम्) पाप इस परमात्मसेतु को प्राप्त कर सकते हैं (सर्वे) समस्त (पाप्मानः) पाप (अतः) इस पूर्वोक्त लक्षणयुक्त परमात्मा से (निवर्तन्ते) निवृत्त हो जाते हैं (हि) क्योंकि (एषः) यह (ब्रह्मलोकः) परब्रह्म नारायणरूप लोक यानी दर्शन (अपहतपाप्मा) पाप रहित है ॥१॥

विशेषार्थ—और जो परब्रह्म परमात्मा अष्टमप्रपाठक के प्रथम खण्ड में अपहतपाप्मा, जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम, सत्यसंकल्पादि विशेषणयुक्त कहा गया है वह परब्रह्म नारायण इन समस्त लोक लोकान्तरों के पारस्परिक असंकर के लिये सेतु के सदृश विशेष रुप से धारण करने वाला है। आत्मा के विषय में लिखा है— **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** ॥ (ऐत० उ० अ० १ खं०१ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जंगम स्वरूप जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र प्रसिद्ध संपूर्णहेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था ॥१॥ ॥ **एको ह वै नारायण आसीत्** ॥ (महोप० अध्या० १ श्रु० १) सृष्टि से आदि समय निश्चय करके प्रसिद्ध एक नारायण ही थे ॥१॥ **यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्तोभावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते** (लिङ्गपु० १।७०।९६) जो यह सबको व्याप्त करता है तथा ग्रहण करता है और इस लोक में अपनी इच्छा से सब विषयों को भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है इस कारण से यह आत्मा कहलाता है ॥९६॥ और लोक के विषय में लिखा है—॥ **स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भोमरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः** । (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० २) उस परब्रह्म परमात्मा ने अम्भ यानी द्युलोक तथा उसके ऊपर के लोक मरीचि यानी अन्तरिक्ष तथा मर यानी मर्त्यलोक और पृथ्वी के नीचे के जललोक इन सब लोकों की रचना की। स्वर्गलोक से पर ऊपर के लोक तथा उनका आधारभूत द्युलोक यह सब अम्भलोक है। और अन्तरिक्षलोक ही मरीचिलोक है तथा यह पृथ्वी ही मर यानी मृत्युलोक है। और जो पृथ्वी के नीचे पतलादिलोक है वे आप यानी जललोक है ॥२॥ सेतु के विषय में लिखा है— ॥ **सिनोति बध्नाति स्वस्मिंश्चिदचिद्वस्तुजातमसंकीर्णमिति सेतुरुच्यते** ॥ (श्रीभाष्य० अ०३पा० २ सू० ३१ अधिकार० ७) समस्त चेतन और अचेतन वस्तु समुदाय को अपने में भली भाँति बान्धता है इससे परब्रह्म नारायण सेतु कहा जाता है ॥७॥ यदि परमात्मा अपने शासन से जगत को नहीं धारण करता तो सब धर्म

में सांकर्य ही हो जाती। अब आगे सेतु का विषय कहा जाता है कि इस परब्रह्म नारायण रूप सेतु को दिन और रात परिच्छेदकरूप से नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जैसे "वेदान्तं तरति" वेदान्त को प्राप्त करता है। यहाँ पर "तरति" प्राप्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही इस श्रुति में प्राप्ति अर्थ में "तृ" धातु का प्रयोग किया गया है। और इस सेतु को न जरा न मृत्यु न शोक और न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त कर सकते हैं। संपूर्ण पाप इस पूर्वोक्तलक्षण युक्त परब्रह्म नारायण से निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि यह परब्रह्म नारायणरूप लोक पापरहित है। इस श्रुति के समान अन्यत्र भी लिखा है—**एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन** ॥ (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० २२) इन संपूर्णलोकों को पारस्परिक सांकर्य नहीं होने के लिये सेतु के समान विशेषरूप से धारण करने वाला यह परब्रह्म नारायण है। उपनिषदों में जिसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है उस इस परमात्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय यज्ञ दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं॥ २२॥ भवसागरसेतु भगवद्रामानुजाचार्य ने—॥ **धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः** ॥ (शा० मी० १।३।१५)॥ **परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः** ॥ (३।२।३०) । **सामान्यात्तु** ॥ (३।२।३१)। **इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पातेतु** ॥ (४।१।१४) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक के चौथे खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है॥ १॥

तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति। तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥२॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (तस्मात्) इसी कारण से (एतम्) इस परमात्मा लक्षण (सेतुम्) सेतु को (तीर्त्वा) पाकर (अन्धः) अन्धा

(सन्) होता हुआ उपासक (अनन्धः) दिव्य नेत्र वाला अनन्ध (भवति) होता है (विद्धः) आयुध से विद्ध (सन्) होता हुआ भी उपासक (अविद्धः) दिव्य देह युक्त अविद्ध (भवति) होता है और (उपतापी) ज्वरादि रोग से उपताप वाला देह (सन्) होता हुआ भी उपासक (अनुपतापी) ज्वरादि रोग से रहित अनुपताप वाला दिव्य देह युक्त (भवति) होता है। (तस्मात्) इसी कारण से (वै) निश्चय करके (एतम्) इस परमात्मा लक्षण (सेतुम्) सेतु को (तीर्त्वा) पाकर (नक्तम्) अज्ञानान्धकार रूप रात्रि (अपि) भी (अहः) दिन (एव) ही (अभिनिष्पद्यते) भली भाँति हो जाती है (हि) क्योंकि (एषः) यह पूर्वोक्त (ब्रह्मलोकः) परब्रह्म नारायण रूप लोक (सकृत्) सर्वदा (विभातः) प्रकाशमान (एव) ही है। अर्थात् ब्रह्मस्वरूप प्रकाश के अनावृत होने से सदाभासमान ही रहता है ॥२॥

विशेषार्थ—जिस कारण से यह परमात्मा समस्त पाप से रहित है, इसी कारण से निश्चय करके इस परब्रह्म नारायण रूप सेतु को पाकर उपासक नेत्र से अन्धा होने पर भी दिव्य नेत्र से युक्त अनन्ध हो जाता है और आयुध से शरीर विद्ध होने पर भी उपासक परब्रह्म नारायण रूप सेतु को पाकर दिव्य देह युक्त अविद्ध हो जाता है तथा ज्वरादिरोग से उपताप वाला होने पर भी उपासक परब्रह्म नारायण रूप सेतु को पाकर दिव्य देह युक्त ज्वरादि ताप रहित हो जाता है। इसी हेतु से निश्चय करके इस परब्रह्म नारायण रूप सेतु को पाकर भगवदुपासक का अज्ञानान्धकार रूप रात्रि भी दिन ही हो जाती है। क्योंकि यह पूर्वोक्त परब्रह्म नारायण रूप लोक सर्वदा प्रकाशमान ही रहता है। अर्थात् परब्रह्मनारायण के प्रकाश स्वरूप के अनावृत होने से सदा भासमान ही रहता है। धातु के अनेक अर्थ होने से **वेदान्तं तरति** ॥ वेदान्त को प्राप्त करता है। इस वाक्य में जैसे "तरति" प्राप्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही इस श्रुति में "तृ" धातु का प्रयोग प्राप्ति अर्थ में किया गया है। सेतु के विषय में लिखा है— **सिनोति बध्नाति स्वस्मिंश्चिदचिद्वस्तुजातमसङ्कीर्णमिति सेतुरुच्यते** ॥ (श्रीभाष्य० अ० ३ पा० २ सू० ३१ अधिक० ७) असंकीर्ण रूप से समस्त जड़ चेतन वस्तु समुदाय को अपने में भली भाँति बाँधता है इससे परब्रह्म नारायण सेतु कहा जाता है ॥७॥ आसेतु सिताचल विमल पताका भगवद्रामानुजाचार्य ने—**परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः॥** (शा० मी० ३।२।३०) **सामान्यात्तु** ॥ (शा० मी० ३।२।३१) इन दोनों

सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठ के चौथे खण्ड की दूसरी श्रुति के "एतं सेतुं तीर्त्वा" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥२॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥३॥

। इत्यष्टमप्रपाठके चतुर्थखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तत) इसलिये (एव) निश्चय करके (ये) जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष (एतम्) इस सेतु सदृश (ब्रह्मलोकम्) परब्रह्म नारायण रूप लोक को (ब्रह्मचर्येण) स्त्री विषय तृष्णा त्याग रूप ब्रह्मचर्य से तथा शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से (अनुविन्दन्ति) जानते हैं (तेषाम्) उन्हीं ब्रह्मचर्य निष्ठ उपासकों के (एव) निश्चय करके (एषः) यह पूर्वोक्त अपहतपाप्मत्वादियुक्त (ब्रह्मलोकः) परब्रह्म नारायण रूप लोक मिलता है और (तेषाम्) उन्हीं ब्रह्मचर्यनिष्ठ उपासकों के (सर्वेषु) सपूर्ण (लोकेषु) लोकों में (कामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है। अर्थात् सब लोक का अनुभव होता है ॥३॥

विशेषार्थ — सवदा परमात्मा के प्रकाशमान होने के कारण जो ब्रह्मवेत्ता उपासक निश्चय करके इस सेतु सदृश परब्रह्म नारायण रूप लोक को स्त्री विषय तृष्णात्याग रूप ब्रह्मचर्य से और शास्त्र एवं सदाचार्य के उपदेश से जानते हैं। निषादस्थपति न्याय से "ब्रह्मलोकम्" इस पद में कर्मधारय समास होता है। षष्ठीतत्पुरुष नहीं होता है। इससे ब्रह्म ही लोक को यह अर्थ होता है। ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा है— **कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्। ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ॥** (जाबालद० उ० खं० १ श्रु० १३) मन वाणी और शरीर के द्वारा स्त्रियों के सहवास का परित्याग तथा ऋतुकाल में धर्मबुद्धि से केवल अपनी ही पत्नी से सम्बन्ध — यही ब्रह्मचर्य कहा गया है ॥१३॥ **॥ ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम् ॥** (गीतारामानुजभाष्य० अ० १७ श्लो० १४) स्त्रियों में भोग्यबुद्धि करके उनका दर्शन आदि न करना ब्रह्मचर्य है ॥१४॥ **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥** (योग० अ० १ पा० २ सू० ३८) ब्रह्मचर्यसिद्ध होने पर

वीर्यलाभ होता है ॥ ३८॥ उन ब्रह्मचर्यनिष्ठउपासकों को ही यह अखिल हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान परब्रह्म नारायण प्राप्त होता है और उन ब्रह्मचर्यनिष्ठ उपासकों को ही सब लोकों का अनुभव होता है या स्वेच्छानुसार सब लोकों में विहार होता है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का चौथा खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ पञ्चमखण्डः ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेवतत्। ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तंविन्दते। अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद् ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब इसलोक में (यत्) जिस पाकयज्ञ हविर्यज्ञादिक कर्म को वैदिक पुरुष (यज्ञः) यज्ञ (इति) ऐसा (आचक्षते) कहते हैं (तत्) वह (एव) निश्चय करके (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्यपुरःसर (एव) ही (यः) जो (ज्ञाता) ब्रह्मवेत्ता होता है वही महात्मा (तम्) उस परब्रह्म नारायण को (विन्दते) पाता है (अथ) और इस लोक में (यत्) जिस दर्शपूर्णमासादिक कर्म को वैदिक पुरुष (इष्टम्) इष्ट (इति) ऐसा (आचक्षते) कहते हैं (तत्) वह (एव) निश्चय करके (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्यपुरःसर [एव]ही [इष्ट्वा] परब्रह्म नारायण की पूजा करके पुरुष (आत्मानम्) परमात्मा को (अनुविन्दते) प्राप्त करता है ॥१॥

विशेषार्थ—अब ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन इस खण्ड में कहा जाता है कि—इस लोक में जिस पाकयज्ञ हविर्यज्ञादिक कर्म को वैदिक महानुभाव "यज्ञ" ऐसा कहते हैं वह ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्यपुरःसर ही जो ब्रह्म ज्ञान वाला होता है वही पुरुष उस परब्रह्म नारायण को पाता है। यज्ञ के विषय में लिखा है—**यज्ञः फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम्** ॥(गीता रामनुजभा० अ० १६ श्लो० १) फलाभिसन्धिरहित भगवदाराधन के रूप में किये जाने वाले महायज्ञादि के अनुष्ठान का नाम 'यज्ञ' है ॥ १ ॥ और ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा है— **ब्रह्मचर्यं 'योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिर**

हितत्वम् । (गीतारामानुजभा० अ०१७श्लो० १५) स्त्रियों में भोग्यबुद्धि करके उनका दर्शन आदि न करना ब्रह्मचर्य है ॥१४॥ **स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥** (अत्रिस्मृ०) स्त्री का स्मरण १ कीर्तन २ केलि करना ३ देखना ४ गुह्यभाषण ५ संकल्प ६ अध्यवसाय ७ धातुपतन ८ ये आठ अङ्ग मैथुन के हैं ऐसा मनीषी लोग कहते हैं । और सर्वदा जो मैथुन को परित्याग करना है उसी को बुधजन ब्रह्मचर्य कहते हैं । तथा अथर्ववेद में लिखा है— ॥ **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥** (अथर्व० कां० ११ प्र० २४ अ० ३ सू० ७ मं० १८) ब्रह्मचर्य से जवान हुए पति को कन्या प्राप्त करती है और बैल तथा घोड़ा ब्रह्मचर्य से घास को खाने की इच्छा करते हैं ॥१८॥ और इस लोक में जिस दर्शपूर्णमासादि कर्म को अथवा अग्निहोत्रादि कर्म को वैदिक पुरुष 'इष्ट" ऐसा कहते हैं वह ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्यपुरःसर ही पुरुष परब्रह्म नारायण की पूजा करके परमेश्वर को प्राप्त करता है । इष्ट के विषय में लिखा है— ॥ **अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम् ॥ आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते ॥** (अत्रिसंहि० श्लो० ४३) अग्निहोत्र तपस्या सत्यभाषण वेदपाठ अतिथिसत्कार और वैश्वदेव कर्म इष्ट कहलाता है ॥४३॥ संपूर्णयज्ञ ब्रह्मचर्य को ही प्रतिपादन करते हैं । जैसे "यज" धातु से "यज्ञ" शब्द की सिद्धि मानते हैं । और "जानातीति ज्ञः" जानने वाले को 'ज्ञः" कहते हैं । 'यो ज्ञाता' शब्द के एकदेश "ज्ञ" शब्द तथा "यज्ञ" शब्द के एकदेश "ज्ञ" शब्द इन दोनों की समता होने से ब्रह्मचर्य का ही नामान्तर यज्ञ है । इसी प्रकार इष्ट भी ब्रह्मचर्य का नाम है । यज्ञ के भेद के विषय में लिखा है– ॥ **अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥** (गी० अ० १७ श्लो० ११) फलकामना से रहित पुरुषों के द्वारा—यज्ञ करना ही कर्तव्य है इस भाव से मन का समाधान करके जो शास्त्रविधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक होता है ॥११॥ **अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः ।**

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विधि राजसम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १२) परन्तु हे भरतश्रेष्ठ जो फल को लक्ष्य बना कर और दम्भ के लिए भी किया जाता है उस यज्ञ को तू राजस जान ॥ १२ ॥ **विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते** ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १३) विधिहीन शास्त्रविहितअन्न से रहित मंत्रहीन दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञ को तामस कहते हैं ॥१३॥ इस प्रकार का वर्णन किया गया है ॥१॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते । अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर इस लोक में (यत्) जिस कर्म को वैदिक पुरुष (सत्त्रायणम्) सत्त्रायण इति ऐसा (आचक्षते) कहते हैं (तत्) वह (एव) निश्चय करके (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य साध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य रूप साधन से (एव) ही (सतः) सर्वदा विद्यमान (आत्मनः) जीवात्मा की (त्राणम्) रक्षा (विन्दते) पाता है (अथ) और इस लोक में (यत्) जिस वाणी के नियमन रूपतप को वैदिक जन (मौनम्) मौन (इति) ऐसा (आचक्षते) कहते हैं (तत्) वह (एव) निश्चय करके (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य साध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यपुरःसर (एव) ही (आत्मानम्) परमात्मा को (अनुविद्य) अच्छे प्रकार से जानकर अर्थात् श्रवण करके पश्चात् (मनुते) पुरुष मनन करता है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—और इस लोक में जिस गौओं के अयनादिक बहु यजमानक कर्म को वैदिक महानुभाव "सत्त्रायण" ऐसा कहते हैं। वह ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही परब्रह्म नारायण से अपना त्राण प्राप्त करता है। सत्त्रायण यह एक यज्ञ विशेष का नाम है। "सत्+त्रायण" ये दो शब्द हैं। सत् यानी सर्वदा विद्यमान जीवात्मा और त्रायण यानी

रक्षा। आत्मा की रक्षा जिससे हो उसे "सत्त्राण" कहते हैं। यथार्थ में ब्रह्मचर्य से ही उस आत्मा की रक्षा होती है इससे ब्रह्मचर्य का ही नाम "सत्त्रायण" भी है। और इसलोक में जिस वाणी के नियमन लक्षणरूप तप को वैदिकजन "मौन" ऐसा कहते हैं। वह ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही परब्रह्म नारायण को गुरुमुख से भली भाँति सुन कर पुरुष परमात्मा को मनन करता है। मौन के विषय में लिखा है— ॥ **मौनं मनसा वाक्प्रवृत्तिनियमनम्** ॥ (गीतारामानुभा० अ० १७ श्लो० १६) मन के द्वारा वाणी की प्रवृत्ति का संयम करना मौन है ॥१६॥ अथवा साधक जिससे मनन करे उसे "मौन" कहते हैं। यथार्थ में ब्रह्मचर्य से ही उस आत्मा का मनन करता है इससे ब्रह्मचर्य का ही नाम "मौन" है ॥२॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ-यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि । तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनः । तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः । प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ —(अथ) और इस लोक में (यत्) जिस कर्म को (अनाशकायनम्) नाश नहीं होने वाला अनाशकायन (इति) ऐसा (आचक्षते) वैदिक लोग कहते हैं (तत्) वह (एव) निश्चय करके (ब्रह्मचयम्) ब्रह्मचर्य साध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (एषः) यह (आत्मा) आत्मा (न) नहीं (नश्यति) नष्ट होती है (यत्) जिस आत्मा को (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के द्वारा (अनुविन्दते) साधक प्राप्त करता है (अथ) और इस लोक में (यत) जिसको (अरण्यायनम्) अरण्यायन (इति) ऐसा (आचक्षते) वैदिक लोग कहते हैं (तत्) वह (एव) निश्चय करके (ब्रह्मचयम्) ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है (च) और (इतः) इस-भूलोक से (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (तृतीयस्याम्) तीसरे (दिवि) द्युलोकशब्दित (ब्रह्मलोके) परब्रह्मनारायण के लोक में (तत्) वह (अरः)

अर (च) और (ण्यः) ण्य (अर्णवौ) दो समुद्र हैं (तत्) और उस परब्रह्म के लोक में (ऐरंमदीयम्) अमृतमय ऐरंमदीय नाम का (सरः) सरोवर है और (तत्) वहाँ (सोमसवनः) चन्द्रमा के समान आह्लाद करने वाला सोमसवन नाम का (अश्वत्थः) एक अश्वत्थ वृक्ष है और (तत्) वहाँ (अपराजिता) जिसको कोई जीत नहीं सकता अथवा अज्ञानियों से नहीं प्राप्त होने योग्य अपराजिता नाम के (ब्रह्मणः) परब्रह्म नारायण की (पूः) पुरी है और उस पुरी में (प्रभुविमितम्) प्रभु परब्रह्म नारायण के द्वारा स्वभोगभूमिरूप से विशेष करके निर्माण किया हुआ यानी परिग्रहण किया हुआ (हिरण्यम्) सुवर्णमय महामण्डप है ।।३।।

विशेषार्थ—और इस लोक में जिसको वैदिक महानुभाव "अनाश-कायन" ऐसा कहते हैं वह ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जिस आत्मा को उपासक ब्रह्मचर्य केद्वारा प्राप्त करता है वह आत्मा नष्ट नहीं होती है। "अनाशकायन" इसके दो अर्थ हैं। उनमें एक "अनशना-यन" यानी उपवासविधान अर्थ होता है। और दूसरा यह निम्नलिखित है कि नाश काहीनाम नाशक है। नाशकोप्राप्त होता है जिसके द्वारा उसे नाशकायन कहते हैं। जो नाशकायन न हो वही अनाशकायन है। ब्रह्म-चर्य के द्वारा यह आत्मा नाश यानी अधोगति को प्राप्त नहीं होती किन्तु उच्चगति को दिन दिन लाभ करती जाती है, इस कारण से ब्रह्मचर्य ही का नाम अनाशकायन है और इस लोक में जिस को वैदिकलोग "अरण्यायन" ऐसा कहते हैं। वह ब्रह्मचर्यसाध्य होने से ब्रह्मचर्य ही है। "अरण्यायन" इसके दो अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ यह होता है कि — अरण्य यानी वन को प्राप्त होता है जिसके द्वारा उसे अरण्यायन कहते हैं। और दूसरा यह निम्नलिखित प्रकार का है। "अरण्यायन" में "अर+ण्य—अयन" ये तीन शब्द हैं। "अर" नाम मर्मकांड का है। क्योंकि गमनार्थक "ऋ" धातु से "अर" शब्द सिद्ध होता है। जिसमें अधिक प्रवृति हो। अथवा जिसके द्वारा ज्ञान की ओर गति हो उसे "अर" कहते हैं। और "ण्य" नाम ज्ञानकाण्ड का है। क्योंकि "ण्य" दो धातु से सिद्ध होता है। "णश्" जिसका अर्थ नाश करना है और "या" जिसका अर्थ प्राप्ति करना है इन दोनों से बना है अर्थात् अविद्या का नाश करके जो परब्रह्म की उपासना को प्राप्त करावे उसे "ण्य" कहते हैं। ओर 'अर' को तथा 'ण्य' को प्राप्त होता है जिसके द्वारा उसे "अरण्यायन" कहते हैं। और निश्चय करके इसभूलोक से

तीसरा द्यु लोकशब्दित सुप्रसिद्ध परब्रह्म नारायण के लोक में "अर" नाम के और "ण्य" नाम के दो समुद्र हैं। अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिये जब तक "अर" यानी कर्मकाण्ड और "ण्य" यानी ज्ञानकाण्ड, इन दोनों महासमुद्रों का उपासक अन्त नहीं करता है तबतक परब्रह्म प्राप्ति दुःसाध्य है। और उस परब्रह्मनारायण के दिव्यलोक में अमृतमय "ऐरंमदीय" नामक दिव्यसरोवर है। 'इरया अमृतेन माद्यन्ते यस्मिंस्तदैरंमदीयम्" इस व्युत्पत्ति के द्वारा इरा यानी अमृत से अत्यंत हर्ष जहाँ पर सब जीव प्राप्त करते हैं उसे "ऐरंमदीय" कहते हैं। और उस परब्रह्म नारायण के दिव्यलोक में अमृत स्राव करता हुआ अथवा चन्द्रमा के समान आह्लाद करने वाला "सोमसवन" नाम का दिव्य एक अश्वत्थ वृक्ष है। "श्वयति-गच्छति वर्द्धते च श्वत्थः न श्वत्थःअश्वत्थः एकरस इति यावत् इसव्युत्पत्ति से जो गति और वृद्धि से रहित हो अर्थात् जो सर्वदा एक रस हो उसे "अश्वत्थ" कहते हैं। और उस परब्रह्म के दिव्यलोक में जिस को कोई कभी जीत नहीं सकता है अथवा भगवदुपासनारहित अज्ञानी पुरुषों से नहीं प्राप्त होने योग्य "अपराजिता" नाम वाली परब्रह्म नारायण की दिव्य पुरी है। उस अपराजिता नाम की पुरी में प्रभु परब्रह्म नारायण के द्वारा स्वभोग भूमि रूप से विशेष करके निर्माण किया हुआ यानी परिग्रहण किया हुआ सुवर्ण-मय दिव्य महामण्डप है। और अन्यत्र भी लिखा है— **तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्यारो ह्रदो मुहूर्ता येष्टिहा विरजा नदी तिल्यो वृक्षः सायुज्यं सस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ विभु प्रमित विचक्षणासन्द्यमितौजाः पर्यङ्कः।** (कौषीतकिब्रा० उ० अ० १ श्रु० ३) उस सुप्रसिद्ध परब्रह्म नारायण के लोक में "आर" नाम से प्रसिद्ध अमृतमय एक महान् जलाशय है। और वहाँ "मुहूर्ता" नाम की येष्टिहा है। उस परब्रह्म के लोक में "विरजा" नाम की नदी है। चन्द्रमा के समान आह्लाद करने वाला "तिल्य" नाम का एक वृक्ष है और वहाँ "सायुज्य" नाम का प्रसिद्ध स्थान है। वहाँ पर "अपराजिता नाम का परब्रह्म का नगर है और परब्रह्म नारायण के मन्दिर के द्वार-रक्षक देवराज इन्द्र और प्रजापति ब्रह्मा हैं। अपराजित नगर में प्रभु से निर्माण किया हुआ सुवर्णमय "विभुप्रमित" नाम

का दिव्य सभा मण्डप है उस महामण्डप के मध्यभाग में "विचक्षणा" नामक वेदी प्रसिद्ध है और वहां पर जिसके बल का कोई माप नहीं है वह "अमितौजा" नाम का सिंहासन या पलङ्ग सुप्रसिद्ध है ॥३॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति। तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति ॥४॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके पञ्चमखण्डः ॥

अन्वयार्थ— (तत्) इस कारण से (ये) जो कोई पुरुष (ब्रह्मलोके) द्यु शब्दित परब्रह्म नारायण के लोक में (एतौ) ये पूर्व वर्णित (अरं) अर नाम के (च) और (ण्यम्) ण्य नाम के (च) भी (अर्णवौ) दोनों महा समुद्रों को (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मप्राप्ति में साधन ब्रह्मचर्य के द्वारा (एव) निश्चय करके (अनुविन्दन्ति) प्राप्त करते हैं (तेषाम्) उन ब्रह्मचर्य साधन सम्पन्न पुरुषों का (एव) ही (एषः) यह पूर्वमन्त्र में कहा हुआ (ब्रह्मलोकः) परब्रह्म नारायण का लोक प्राप्त होता है और (तेषाम्) उन्हीं ब्रह्मचर्यनिष्ठ उपासकों के (सर्वेषु) संपूर्ण (लोकेषु) लोकों में (कामचारः) स्वेच्छानुसार गमन (भवति) होता है अर्थात् सब लोकों का अनुभव होता है ॥४॥

विशेषार्थ—इस कारण से जो कोई उपासक द्यु शब्दित परब्रह्म नारायण के लोक में ब्रह्मप्राप्ति में साधन ब्रह्मचर्य के द्वारा पूर्वोक्त "अर" और "ण्य" नाम के इन दोनों समुद्रों को प्राप्त करते हैं। "अर" नाम कर्मकांड का है। क्योंकि गमनार्थक "ऋ" धातु से "अर" शब्द निष्पन्न होता है। जिसमें अधिक प्रवृत्ति हो। अथवा जिसके द्वारा ज्ञान की ओर गति हो उसे "अर" कहते हैं। और "ण्य" नाम ज्ञानकांड का है। क्योंकि "ण्य" दो धातु से निष्पन्न होता है। "णश्" जिसका अर्थ नाश करना है और "या" जिसका अर्थ प्राप्ति करना है इन दोनों से बना है "अविद्यां नाशयित्वा यः ब्रह्मोपासनां प्रापयति स ण्यो ज्ञानकांडः" अविद्या को नाश करके ब्रह्म की उपासना को जो प्राप्त करवावे उसे "ण्य" कहते हैं। उन ब्रह्मचर्य साधन सम्पन्न पुरुषों को ही पहले तीसरे में कहा हुआ परब्रह्म नारायण का लोक प्राप्त होता है और उन्हीं ब्रह्मचर्य निष्ठ उपासकों के सब लोकों में स्वेच्छाचार गति हो जाती है अर्थात् सब लोक का अनुभव हो जाता है और जो लोग स्त्री आदि विषम भोग में लोलुप हैं

ब्रह्मचर्य के माहात्म्य को नहीं जानते हैं और न उसका पालन करते हैं वे कदापि भी परब्रह्म नारायण को प्राप्त नहीं कर सकते हैं और न तो उनका कहीं स्वेच्छा गमन हो सकता है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का पांचवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ षष्ठखण्डः ॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति। असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एषः पीत एष लोहितः ॥१॥

अन्वयार्थ — (अथ) अब मूर्धन्य नाडी का गमन वर्णन किया जाता है कि (याः) जो (एताः) ये वक्ष्यमाण (हृदयस्य) हृदय पुण्डरीक की (नाड्यः) नाड़ियां हैं (ताः) वे हृदय सम्बन्धिनी नाड़ियाँ (पिङ्गलस्य) पिङ्गल वर्ण वाले (अणिम्नः) अति सूक्ष्म अन्न के रस से तिष्ठन्ति) पूर्ण हैं (इति) इस प्रकार शुक्लस्य) श्वेतवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं और (नीलस्य) कृष्ण वणवाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं तथा (पीतस्य पोतवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूण हैं और (लोहितस्य रक्तवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं, सूर्य की किरण के सम्बन्ध से ही अन्न के रस नानारूप के होते हैं इस कारण से अब सूर्य का रङ्ग कहा जाता है कि (वै) निश्चय करके (असौ) यह (आदित्यः) सूर्य (पिङ्गलः) पिङ्गलवर्ण है (एषः) यह सूर्य (शुक्लः) श्वेत वर्ण है (एषः) यह सूर्य (नीलः) कृष्ण वर्ण है (एषः) यह सूर्य (पीतः) पीतवर्ण है और एषः) यह सूर्य (लोहितः) रक्तवर्ण है अर्थात् सूर्य में ही सब वर्ण है उसी की किरण के द्वारा सर्वत्र वर्ण प्राप्त होता है ॥१॥

विशेषार्थ —अब मूर्धन्य नाड़ी से जो जीवात्मा का गमन होता है उसका वर्णन किया जाता है कि—ये जो हृदय की बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं वे नाना रूप के अति सूक्ष्म अन्न के रस से परिपूर्ण हैं। अथात् कुछ हृदय की नाड़ियाँ पिङ्गल वर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं। और कतिपय नाड़ियाँ शुक्लवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं तथा कुछ नाड़ियाँ नील यानी कृष्णवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के

रस से पूर्ण हैं और कतिपय नाड़ियाँ पीतवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं तथा कुछ नाड़ियाँ लालवर्ण वाले अति सूक्ष्म अन्न के रस से पूर्ण हैं। सूर्य की किरण के सम्बन्ध से ही अन्न का रस नाना रूप का होता है। इस कारण से अब सूर्य का वर्ण कहा जाता है। मधुविद्या में प्रसिद्ध है और प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है कि— यह सूर्य पिङ्गलवर्ण है, और शुक्लवर्ण है तथा यह नील वर्ण है और यह पीत वर्ण है तथा यह सूर्य लालवर्ण है। अर्थात् सूर्य में ही सब वर्ण हैं। उसी की किरण के द्वारा सर्वत्र वर्ण प्राप्त होता है। सब नाड़ियों में दस नाड़ियाँ प्रधान हैं क्योंकि लिखा है—**प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः। इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा॥**(योगचूडामण्युप० श्रु०१६) **गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी। अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता॥** (१७) **एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा। इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥** (१८) **सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि। दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे॥** (१९) **यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा। कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी॥** (२०) **एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात्॥** (२१)उन सब नाड़ियों में प्राणवाहिनी प्रधान दस नाड़ियाँ कही गयी हैं, वे ये निम्नलिखित हैं— इडा १ तथा पिङ्गला २ और तीसरी सुषुम्ना ३ ॥१६॥ गान्धारी४हस्तिजिह्वा ५ और पूषा ६ तथा यशस्विनी ७ अलम्बुसा८ कुहू ९ और दसवीं शङ्खिनी १० कही गयी है ॥१७॥ यह नाड़ियों का महाचक्र योगियों से सदा जानने योग्य है। वाम नासिका में इडा नाड़ी रहती है और दक्षिण नासिका में पिङ्गला नाड़ी रहती है ॥१८॥ वाम और दक्षिण नासिका के मध्य देश में सुषुम्ना नाड़ी स्थित रहती है। और वाम नेत्र में गान्धारी नाड़ी रहती है तथा दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्वा नाड़ी रहती है और दक्षिण कान में पूषा नाड़ी रहती है ॥१९॥ वाम कर्ण में यशस्विनी नाड़ी रहती है और मुख में अलम्बुसा नाड़ी रहती है तथा लिङ्गदेश में कुहू नाड़ी रहती है और गुदा मार्ग में शङ्खिनी नाड़ी स्थित रहती है ॥ २० ॥ इस प्रकार शरीर के नव द्वारों को सम्यक् आश्रयण करके क्रम से पूर्वोक्त

दस नाड़ियाँ सर्वदा स्थित रहती हैं ॥ २१ ॥ प्रधान दस नाड़ियों के विषय में ऐसा प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च । अमुष्मादादित्यात्प्रतिन्यन्ते ता आसु नाडीषुसृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतिन्यन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥२॥

अन्वयार्थ—(तत्) इस विषय में यह दृष्टान्त है कि (यथा) जैसे (आततः) बहुत दूर व्याप्त (महापथः) महान् विस्तीर्ण मार्ग (इमम्) इस समीपस्थ (च) और (अमुम्) उस दूरस्थ (च) भी (उभौ) दोनों (ग्रामौ) ग्रामों को (गच्छति) जाता है (एवम्) वैसे (एव) ही (आदित्यस्य) सूर्य की (एताः) ये (रश्मयः) किरणें (इमम्) इस भूलोक (च) और (अमुम्) उस सूर्यलोक में (च) भी (उभौ) इन दोनों (लोकौ) लोकों को (गच्छन्ति) प्राप्त करती हैं (ताः) वे सूर्य की किरणें (अमुष्मात्) उस (आदित्यात्) सूर्य से निरन्तर निकल कर (प्रतिन्यन्ते) चारो तरफ विस्तीर्ण होती हैं और (आसु) इन (नाडीषु) नाड़ियों में (सृप्ताः) गत प्रविष्ट होती हैं और (ते) वे किरणें (आभ्यः) इन (नाडीभ्यः) हृदय की नाड़ियों से निकलकर (प्रतियन्ते) बाहर चारो तरफ विस्तीर्ण होती हैं और (अमुष्मिन्) उस (आदित्ये) सूर्य में (सृप्ताः) प्रविष्ट होती हैं ॥२॥

विशेषार्थ—अब दूरस्थ सूर्य का हृदयस्थ नाड़ियों से कैसे सम्बन्ध होता है । इस विषय में यह दृष्टान्त बतलाया जाता है-जिस प्रकार कोई वहुत दूर तक व्याप्त बड़ा विस्तीर्ण मार्ग इस समीपवर्ती और उस दूरवर्ती दोनों गाँवों को जाता है, उसी प्रकार ये सूर्य की किरणें इस पुरुष में और उस आदित्य मण्डल में दोनों लोकों में प्रविष्ट हैं । वे सूर्य की किरणें इस अदितिपुत्रसूर्य से ही निरन्तर निकलती हैं और इन हृदय की नाड़ियों में प्रविष्ट होती हैं तथा जो किरणें इन नाड़ियों से निरन्तर निकलती हैं वे किरणें पुनः सूर्य में ही प्रविष्ट हो जाती हैं । यद्यपि लौटती हुई नहीं दीखतीं और असंभव प्रतीत होती हैं तथापि अलौकिक दृष्टि से विदित होता है कि संपूर्ण उष्णता सूर्य से आकर पुनः

उसी में लौट जाती है अन्यथा वह मरने पर उष्णता कहाँ गई इसका निर्णय होना कठिन होगा। इस श्रुति में सूर्य की रश्मि और हृदय की नाड़ियों का सर्वदा अन्योन्य सम्बन्ध वर्णन किया गया है। नाड़ी चक्र-चिन्तामणि भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ **रश्म्यनुसारी** । (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० १७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्ठमप्रपाठक के छठवें खण्ड की श्रुति को उद्धृत किया है ॥ २ ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति । तंन कश्चन पाप्मा स्पृशति । तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥३॥

अन्वयार्थ—(तत्) वहां ऐसा होने पर (यत्र) जिस समय में (एतत्) यह चेतन (सुप्तः) सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त (समस्तः) सकल इन्द्रियमण्डल को जिसने अपने में उपसंहार कर लिया है अतएव (संप्रसन्नः) बाह्यविपयसंपर्कजनितकालुष्यशून्य पुरुष (स्वप्नम्) स्वप्न को (न) नहीं (विजानाति) देखता है (तदा) तब (आसु) इन (नाडीषु) नाड़ियों में परब्रह्म प्राप्ति के लिये (सृप्तः) जीव प्रविष्ट (भवति) हो जाता है उस समय (कश्चन) कोई भी (पाप्मा) पाप अर्थात् सुखदुःखादिद्वन्द्व (तम्) उस सोये हुये पुरुष को (न) नहीं (स्पृशति) स्पर्श करता है (हि) क्योंकि तदा) तब (तेजसा) प्रकाशक परब्रह्म से (सम्पन्नः) जीव देहेन्द्रियाधिष्ठातृत्वरहित संयुक्त (भवति) हो जाता है ॥३॥

विशेषार्थ – वहाँ ऐसा होने पर जिस काल में यह जीवात्मा सोया हुआ संपूर्ण इन्द्रियमण्डल को जिसने अपने में उपसंहार कर लिया है अतएव बाह्यविषयसंबन्धजनितकालुष्यरहित पुरुष स्वप्न को नहीं देखता है। तब उस समय में इन हृदय की नाड़ियों में परब्रह्म नारायण की प्राप्ति के लिये जीव प्रविष्ट हो जाता है। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है—

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा च न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो-वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ (बृह० उ०अ० २

ब्रा० १ श्रु० १९) इसके पश्चात् जब यह गाढ़ी निद्रा में होता है और जिस समय वह जीव किसी के कुछ भी विषय को नहीं जानता है उस समय में हिता नाम की जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित हैं उनके द्वारा सब इन्द्रियों के साथ जीव आनन्द प्राप्ति के लिये शरीर में व्याप्त होकर शयन करता है। जिस प्रकार कोई बालक अथवा महाराज किंवा महाब्राह्मण आनन्द की दुःखनाशिनी अवस्था को प्राप्त होकर शयन करे उसी प्रकार यह जीव शयन करता है ॥१९॥ ॥ **यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति** ॥ (बृ० उ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० १९) जहाँ सोने पर यह जीव किसी भोग की इच्छा नहीं करता न कोई स्वप्न ही देखता है॥१९॥ जिस समय जीव नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाता है उस सुषुप्ति समय में कर्म का फलजनन सामर्थ्य नहीं रहता है। इससे कोई भी पाप अर्थात् सुखदुःखादि द्वन्द्व उस सोये हुए पुरुष को स्पर्श नहीं करता है क्योंकि सुषुप्तिकाल में तेज यानी प्रकाशक परब्रह्म नारायण से जीवात्मा देहेन्द्रियाधिष्ठातृत्व-रहित संयुक्त हो जाता है। यहाँ "तेजः" शब्द प्रकाशकत्वगुणयोग से परब्रह्म का वाचक है। क्योंकि लिखा है कि— ॥ **सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति** ॥ (छा० उ० प्रा० ६ खं० ८ श्रु० १) उस स्वापकाल में हे सोमार्ह प्रियदर्शन सत् शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण से सम्मिलित जीव होता है ॥१॥ ॥हृदयकमलविकासक भगवद्रामानुजाचार्य ने॥ । **तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च** ।(शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ७) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक के छठवें खण्ड की तीसरी श्रुति के पूर्वार्द्ध को उद्धृत किया है ॥३॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति । तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर अब अर्थान्तर प्रस्ताव किया जाता है कि (यत्र) जिसकाल में (एतत्) यह जीव (अबलिमानम्) जरा रोगादिकृत शरीर की दुर्बलता को (नीतः) प्राप्त (भवति) होता है तब (तम्)

दौर्बल्य प्राप्त उसके (अभितः) चारों तरफ (आसीनाः) बैठे हुए बन्धुजन क्या (माम्) मुझ को (जानासि) तुम जानते हो (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं (सः) वह मनुष्य (यावत्) जबतक (अस्मात्) इस (शरीरात्) शरीर से (अनुत्क्रान्तः) नहीं उत्क्रमण (भवति) होता है (तावत्) तबतक (जानाति) उन्हें जानता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—अनन्तर अब अर्थान्तर प्रस्ताव किया जाता है कि—जिस समय में यह जीवात्मा जरा रोगादि कृत मृत्यु जनक शरीर की दुर्बलता को प्राप्त होता है उस समय में दौर्बल्यप्राप्त उस पुरुष की चारों ओर बैठे हुए बन्धुगण कहते हैं कि—क्या तुम मुझे जानते हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ? वह मरणापन्न जीवात्मा जब तक इस शरीर से नहीं निकलता है तब तक उन्हें जानती है । और अन्यत्र लिखा है—**॥ स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपतो वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥** (बृ० उ०अ० ४ ब्रा० ३श्रु० ३६) वह यह देह जिस समय कृशता को प्राप्त होता है। वृद्धावस्था अथवा ज्वरादिरोग के कारण कृश होजाता है उस समय जैसे आम गूलर अथवा पिप्पल फल बन्धन से छूट जाता है वैसे ही यह पुरुष इन अङ्गों से छूट कर फिर जिस मार्ग से आया था उसी से प्रत्येक योनि में प्राण की विशेष अभिव्यक्ति के लिये ही चला जाता है ॥३६॥ इन प्रकार का वर्णन किया गया है ॥४॥

अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामदथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वाऽऽहोद्वा मीयते । स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति । एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यत्र) जिस काल में जीवात्मा (एतस्मात्) इस मरणापन्न (शरीरात्) शरीर से (उत्क्रामत्) उत्क्रमण करती है (अथ) तब (एतैः) इन पूर्वोक्त (रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से (एव) ही (उर्ध्वम्) ऊपरकी ओर (आक्रमते) जाती है [सः] वह विद्वान् भगवदुपासक [ओम्] ओम् [वा] अथवा [उत्] उत् [इति] इस परमात्मा के

नाम को (आह्) उच्चारण करता हुआ (वा) निश्चय करके (मीयते) रश्मियों के द्वारा ऊर्ध्वलोक को जाता है (सः) वह उपासक (यावत्) जितनी देर में (मनः) मन (क्षिप्येत्) जाता है (तावत्) उतनो ही देर में (आदित्यम्) सूर्य को (गच्छति) प्राप्त करता है (वै) निश्चय करके (एतत्) यह सूर्य (विदुषाम्) विद्वान् (भगवदुपासकों के (लोकद्वारम्) परब्रह्मके लोक काद्वार (प्रपदनम्, प्राप्ति का साधन है और (अविदुषाम्) अज्ञानियों का (खलु) निश्चय करके (निरोधः) सूर्य ही निरोध रुकावट का स्थान है ॥५॥

विशेषार्थ—अनन्तर फिर जिस समय में यह जीवात्मा इस शरीर से उत्क्रमण करती है उस समय में इन पूर्वोक्त सूर्य की किरणों से ही उपर की ओर चढ़ती है। वह विद्वान् भगवदुपासक मरण समय में परब्रह्म नारायण के "ओम्" अथवा "उत्" इस दिव्य नाम को उच्चारण करता हुआ तथा परमात्मा का स्मरण करता हुआ निश्चय करके सूर्य की किरणों से ऊध्वलोक को जाता है । वह भगवदुपासक मन के समान वेग वाला जितनी देर में मन जाता है उतनो ही देर में सूर्य को प्राप्त कर लेता है । निश्चय करके ज्ञानी भगवदुपासकों से परब्रह्म के लोक के द्वार प्राप्ति का साधन यह सूर्य है । और अज्ञानियों का निश्चय करके सूर्य ही ब्रह्मलोक के निरोध यानी रुकावट का स्थान है । परब्रह्म नारायण का "ओम्" नाम है । क्योंकि लिखा है॥ **ओं खं ब्रह्म** । [यजुर्वे.अ.४०श्रु.१८] ओं ख ब्रह्म पद वाच्य पर ब्रह्म नारायण हैं ॥१८॥ **ओं क्रतो स्मर** ॥ (ईशोप० श्रु० १७) हे ओं पद वाच्य परब्रह्म नारायण हे ! क्रतो पदवाच्य भगवन् मुझ अकिंचन भक्त को आप स्मरण करें ॥१७॥ । **ओमित्येवं ध्यायथात्मानं स्वस्ति वः** ॥ (मुण्डको० मु० २ खं०२ श्रु० ५) ओम् इस नाम के द्वारा परब्रह्म नारायण का ध्यान करो इस प्रकार के ध्यान के लिये प्रवृत्त तुम लोगों के लिये कल्याण हो ॥६॥ ॥ **ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति** ॥ (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ८ श्रु० १] ओम् इस नाम को उच्चारण करता हुआ ब्राह्मण कहता है कि—मैं पर-ब्रह्म नारायण को प्राप्त करूँ ॥ १ ॥ । **तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्रमिति** ॥ (मैत्रायण्यु० प्रपाठ० ५ श्रु० ४) उस कारण से ओम् इस नाम के द्वारा सर्वदा परब्रह्म नारायण की उपासना करे ॥ ४ ॥

ओङ्कारं यो न जानाति ब्रह्मणो न भवेत्तु सः ॥(ध्यानविन्दु प० श्रु० १४) जो ओङ्कार नाम को नहीं जानता है वह परब्रह्म का दास नहीं होता है ॥१४॥ **ओमित्यात्मानं युञ्जीत** ॥ नारायणो० श्रु० ७६) तै० त्तिरीयारण्य० प्रपाठ० १० अनुवा० ६३) ओम् इस नाम से आत्मा को समर्पण करे ॥७०।६३॥ **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म** ॥ (सूर्योप०) ओम् यह एक अक्षर का बड़ा नाम है ॥ **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्** ॥(गी० अ० ८ श्लोक १३) ओम् इस एक अक्षर रूपदिव्य मेरे नाम को उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है वह परम गति को प्राप्त होता है ॥१३॥ **ओम् तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः** ॥ (गीता अध्याय १७ श्लोक २३) ओम् तत् सत् यह तीन प्रकार का परब्रह्म का नाम कहा गया है ॥२३॥ **तस्य वाचकः प्रणवः**॥ (योग० अ० १ पा० १ सू० २७) **तज्जपस्तदर्थभावनम्** । (२८) उस परमात्मा का वाचक प्रणव है ॥२७॥ उस ओम् का जप करना चाहिये और उसका अर्थानुसंधान करना चाहिये ॥२८॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि—परमात्मा का "ओम्" नाम है। और **तस्योदिति नाम** ॥ (छां० उ० प्र० १खं०६ श्रु०७) उस परब्रह्म का "उत्" यह नाम है ॥७॥ इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि परब्रह्म का "उत्" यह और नाम है। ब्रह्मसूत्र के प्रणवाकारभाष्यनिर्माता भगवद्रामानुजाचार्य ने **रश्म्यनुसारी** (शा० मी० ४।२।१७) **अर्चिरादिना तत्प्रथितेः** ॥ (शा० मी० ४।३।१) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के छठवें खण्ड की पांचवीं श्रुति के "अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥५॥

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥६॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके षष्ठखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस नाड़ी के विषय में (एषः) यह आगे कहे जानेवाला (श्लोकः) मन्त्ररूप श्लोक है (हृदयस्य) हृदय की (शतम्) सौ (च) और (एका) एक (च) भी (नाड्यः) प्रधान नाड़ियाँ हैं (तासाम्) उन नाड़ियों के मध्य में (एका) एक सुषुम्ना नाड़ी (मूर्धानम्) मस्तक की ओर (अभिनिःसृता) निकली हुई है (तया) उस सुषुम्ना ब्रह्मनाड़ी के द्वारा (ऊर्ध्वम्) ऊपर ब्रह्मलोक को (आयन्) प्राप्त करता हुआ (अमृतत्वम्) परब्रह्म प्राप्तिपूर्वक स्वस्वरूप आविर्भाव लक्षण अमृत मुक्ति को (एति) प्राप्त कर लेता है (अन्याः) दूसरी एक सौ नाड़ियाँ (उत्क्रमणे) मरण काल में बाहर जाने के समय (विष्वङ्) जीव को नाना प्रकार की योनियों में ले जाने के हेतु (भवन्ति) होती हैं (उत्क्रमणे) मरण काल में बाहर जाने के समय कारण (भवन्ति) होती हैं ॥६॥

विशेषार्थ— उस पूर्वोक्त नाड़ी के विषय में यह आगे कहे जाने वाला मन्त्र रूप श्लोक है कि—हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं। उनमें सुषुम्ना नामक एक ब्रह्मनाड़ी मस्तक की ओर हृदय से गयी है। भगवान के परम धाम में जाने का अधिकारी उस सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकल कर सबसे ऊपर भगवान् के परम धाम में अर्चिरादिमार्ग से जाकर परब्रह्म प्राप्तिपूर्वक स्वस्वरूप आविर्भाव लक्षण मुक्ति को उपासक प्राप्त करता है। क्योंकि लिखा है— **तस्य हैतस्यहृदयस्याग्रं प्रद्योत ते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नोवाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ॥** (बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० २) उस उपासक के इस हृदय का अग्र यानी बाहर जाने का मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है उसी से यह आत्मा नेत्र से या मस्तक से अथवा शरीर के किसी अन्य कान आदिक भाग से बाहर निकलती है ॥२॥ और हृदय से चारो ओर को फैली हुई दूसरी सौ नाड़ियों के द्वारा मरणकाल में शरीर से बाहर निकल कर जीव अपने अपने कर्म के अनुसार नाना योनियों को प्राप्त होता है। यह श्रुति कठोप० अ० २ व० ३ श्रु० १६) में भी है। और लिखा है— **हृदिह्येष आत्मा । अत्रैकशतं नाडीनां तासांशतं शतमेकैकस्यांद्वासप्ततिर्द्वासप्ततिःप्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति । तासु व्यानश्चरति ॥** (प्रश्नोप०प्रश्न०३ श्रु०६) **अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति । पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य-**

लोकम् ॥ (७) निश्चय करके यह आत्मा हृदय देश में रहती है। इस हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक एक सौ शाखा नाड़ियाँ और प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं। इन सब नाड़ियों में व्यान वायु विचरती है। इसका हिसाब इस प्रकार है (१०१+१००×७२०००)+(१००×१०१)=७२, ७२, १०, २०१ अर्थात् बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ एक नाड़ियाँ हैं ॥६॥ इसके अनन्तर सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वमुख उदान वायु ऊपर की ओर विचरती है और वह पुण्य कर्म करके पुण्य यानी स्वर्गलोक को ले जाती है तथा पाप कर्म करके पाप यानी नरकादि लोक को ले जाती है और पुण्य तथा पाप इन दोनों प्रकार के कर्मो करके मनुष्यलोकको ले जाती है ॥७ ।**हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते** ॥ (बृह० उ०अ० २ ब्रा० १ श्रु०१०) सुषुप्ति समय में हितकरनेवाली हिता नाम की बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित हैं ॥१६॥ **तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः** ॥(योगचूड़ामण्यु० श्रु० १५) उस हृदय प्रदेश में बहत्तर हजार नाड़ियाँ सम्यक् उत्पन्न होकर रहती हैं ॥१५॥ इस प्रकार के उपनिषद् ने नाड़ी की स्थिति कही है। इस श्रुति में "उत्क्रमणे भवन्ति" इस वाक्य का दो बार उच्चारण इस छठवें खण्ड और दहरविद्या की समाप्ति का सूचना करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का छठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥६॥

॥ अथ सप्तमखण्डः ॥

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजनातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥१॥

अन्वयार्थ— (यः) जो (आत्मा) परमात्मा (अपहतपाप्मा) सुकृत दुष्कृत शून्य विशुद्ध है (विजरः) और वृद्धावस्थाहीन (विमृत्युः) मरण रहित (विशोकः) शोकहीन (विजिघत्सः) भोजनेच्छारहित (अपिपासः) पीने की इच्छा शून्य है और (सत्यकामः) भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान रूप नित्य कल्याण गुण वाला है तथा (सत्यसंकल्पः) सत्य सङ्कल्प है अर्थात् अप्रतिहत सङ्कल्प है (सः) वह हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान परब्रह्म नारायण (अन्वेष्टव्यः) श्रवण और मनन के द्वारा जानने योग्य है और (सः) वह परब्रह्म नारायण (विजिज्ञासितव्यः) विशेष रूप से ध्यान करने योग्य है (च) और (यः) जो उपासक (तम्) उस पूर्वोक्त जरादिरहित (आत्मानम्) परमात्मा को (अनुविद्य) जान कर (विजानाति) विशेष रूप से ध्यान करता है (सः) वह भगवदुपासक (सर्वान्) संपूर्ण (लोकान्) लोकों को (च) और (सर्वान्) समस्त (कामान्) काम्यमान कल्याण गुणों को (आप्नोति) प्राप्त करता है (इति) ऐसा (प्रजापतिः) प्रजापति ने (ह) स्पष्ट (उवाच) अपने शिष्यों से कहा ॥१॥

विशेषार्थ— दहर विद्या को समाप्त करके अब दहर के अङ्ग भूत प्रत्यगात्म विद्या का प्रारम्भ किया जाता है — जो परब्रह्म नारायण सुकृत दुष्कृत से शून्य विशुद्ध है तथा जरा अवस्था रहित है और मरण रहित है तथा शोक रहित है और भोजनेच्छारहित है तथा पिपासाहीन है। यहाँ पर प्राकृत हेय छः गुणों से रहित परमात्मा का प्रतिपादन करके "निर्गुण" शब्द का अर्थ परम दयालु प्रजापति ने स्पष्ट वर्णन किया है। तदनन्तर परमात्मा के कल्याण गुणों का प्रतिपादन किया है कि—परब्रह्म नारायण सत्यकाम है, अर्थात् भोग्य भोगोपकरण भोगस्थान रूप नित्य कल्याण गुण वाला है। और सत्य सङ्कल्प है यानी अप्रतिहत सङ्कल्प वाला है। वह हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान परब्रह्म नारायण श्रवण और मनन के द्वारा जानने योग्य है। और वही परब्रह्म परमात्मा विशेष रूप से ध्यान करने योग्य है। जो उपासक पूर्वोक्त प्राकृत जरादि छः गुणों से रहित और दिव्य सत्य कामादि गुण विशिष्ट परब्रह्म नारायण को शास्त्र और सद्गुरु के उपदेशानुसार जान कर विशेष रूप से ध्यान करता है वह भगदुपासक समस्त लोकों को प्राप्त कर लेता है। और संपूर्ण काम्यमान दिव्य गुणों को भी प्रात कर लेता है। इस प्रकार के सुप्रसिद्ध प्रजापति ने अपने शिष्यों से स्पष्ट कहा। यहाँ पर व्याप्ति

बोधक "आप्" भक्षणार्थक "अद्" अथवा सतत गमन बोधक "अत्" धातु से "आत्मा" पद निष्पन्न होने से आत्मा का अर्थ परब्रह्म नारायण है। आत्मदर्शी भगवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥** (शा०मी० १।१।१) **तत्तु समन्वयात् ॥** (१।१।४) **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥** (१।३।१८) **अतोऽत एव ॥** (२।३।१९) ॥ **मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥** (४।४।२) ॥ **आत्मा प्रकरणात् ॥** (४।४।३) **ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥** (४।४।५) **चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥** (४।४।६) ॥ **एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥** (४।४।७) इन नौ सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के सातवें खण्ड की पहली श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥१॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे। ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानिति। इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्। तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥२॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (तत्) प्रजापति के उस वचन को (देवासुरः) देवता और असुर (उभये) दोनों ने ही (अनुबुबुधिरे) ऐतिह्य रूप से सुन लिया (ह) प्रसिद्ध (ते) वे देवता और असुर (ऊचुः) अपनी अपनी सभा में परस्पर कहने लगे कि (हन्त) यदि सबों की सम्मति हो तो (तम्) उस (आत्मानम्) परमात्मा को (अन्विच्छामः) हम लोग श्रवण मनन के द्वारा प्राप्त करें (यम्) जिस (आत्मानम्) परमात्मा को (अन्विष्य) जानकर जीव (सर्वान्) सम्पूर्ण (लोकान्) लोकों को (च) और (सर्वान्) समस्त (कामान्) विषय भोगों को (च) भी (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (इति) ऐसा निश्चय करके (देवानाम्) देवताओं में से (ह) प्रसिद्ध (इन्द्रः) देवराज इन्द्र और (वै) निश्चय करके (असुराणाम्) असुरों में से (विरोचनः) विरोचन राजा ने (अभिवव्राज) प्रजापति के समीप में विद्याध्ययन के लिये प्रस्थान किया

(ह) प्रतिद्ध (तौ) वे दोनों इन्द्र और विरोचन (असंविदानौ) परस्पर-की असूया से परस्पर संमंत्रण नहीं करते हुए (एव) ही और(समित्पाणी) हाथ में समिधा लेकर (प्रजापतिसकाशम्) प्रजापतिके निकट (आजग्मतुः) आये ॥२॥

विशेषार्थ—पहली श्रुति में उपदेश दिये हुए प्रजापति के उस वाक्य को देवता और असुर दोनों ने ही ऐतिह्यरूप से परंपरा द्वारा सुन लिया। देवता के विषय में "ईशोपनिषद्" की चतुर्थ श्रुति की व्याख्या में मैं लिख चुका हूँ। असुर योनि के विषय में लिखा है— ॥ **ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात्** । (यजुर्वे० अ० २ मं० ३०) पितरों के अन्न श्राद्ध में भक्षण करने की इच्छा से अपने रूपों को पितरों के सामने करते हुए जो असुर पितृस्थान में विचरते हैं तथा जो असुर स्थूल और सूक्ष्म देहों को अपना अपना असुरत्व छिपाने के लिये धारण करते हैं उल्मुकरूप अग्नि उन असुरों को इस पितृयश स्थान से हटा दे ॥३०॥ ॥ **यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान्** ॥ (मनु० अ० १ श्लो० ३७) यक्ष राक्षस पिशाच गन्धर्व अप्सरा असुर नाग सर्प गरुड़ और पितृगणों को भी प्रजापति ने उत्पन्न किया ॥३७॥ ॥ **भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्ष रक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्** । (सुश्रुतसूत्रस्थान ११) भूतविद्या नाम से प्रसिद्ध वह है कि — देव असुर गन्धर्व यक्ष राक्षस पितर पिशाच नाग आदि ग्रहों करके व्याप्तचित्त वाले पुरुषों की ग्रह-शान्ति करने के लिये शान्तिकर्म बलिप्रदान आदिक है ॥११॥ ॥ **तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु** ॥ (गी० अ० १६ श्लोक १९) ॥ **आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततोयान्त्यधमां गतिम्** । २०॥ उन मुझ से द्वेष करने वाले क्रूर अशुभ नराधमों को मैं संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ ॥ १९ ॥ हे अर्जुन आसुरी योनि को प्राप्त होकर मूढ वे लोग मुझको न

पाकर जन्म जन्म में और भी नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ।।२०।। इन प्रमाणों से स्पष्ट असुरयोनि सिद्ध होती है। प्रसिद्ध वे देवता और असुर अपनी अपनी सभा में परस्पर कहने लगे कि यदि आप लोगों की आज्ञा हो तो हम लोग उस आत्मा को श्रवण मनन के द्वारा प्राप्त करें। जिसे जानने पर पुरुष संपूर्ण लोगों को और समस्त विषय भोगों को प्राप्त कर लेता है—ऐसा निश्चय करके देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन—ये दोनों परस्पर की असूया से परस्पर भाषण न करते हुए हाथों में समिधा पुष्प फल आदिक भेंट लेकर विद्या अध्ययन करने के लिए आचार्य प्रजापति की सन्निधि में आये। इन्द्र के विषय में "केनोपनिषद्" के तृतीय खण्ड की ग्यारहवीं श्रुति की व्याख्या में और समिधा के विषय में "प्रश्नोपनिषद्" के प्रथम प्रश्न की पहली श्रुति की व्याख्या में मैं लिख चुका हूँ। प्राचीन काल में सभी सज्जन समिधा पुष्प फलादिक हाथ में लेकर आचार्य की सन्निधि में जाते थे। इसी सेउपनिषदों मेंजहाँ जहाँ गुरूपसदन की चर्चा आई है वहाँ वहाँ प्रायः "समित्पाणि" शब्द का प्रयोग देखने में आता है। जैसे कि लिखा है— ॥ **समित्पाणयो भगवन्तं पिप्लादमुपसन्नाः** ॥ (प्रश्नोप० प्रश्न० १ श्रु० १) हाथ में समिधा लिये हुए वे सुकेशा सत्यकाम प्रभृति छः प्रसिद्ध ऋषि शास्त्रदृष्टिविधि से पूज्य भगवान पिप्पलाद महर्षि के समीप में गये ।।१।। ॥ **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** ॥ (मुण्डको० मु० १ खं० २ श्रु० १२) वह हाथ में समिधा आदि लिये हुए उस परब्रह्म नारायण को जानने के लिये वेद—वेदान्त को भली भाँति जानने वाले और ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले गुरु की ही शरण में विनयपूवक जाय ।।१२।। ॥ **समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे** ॥ (छां० उ० प्र० ५ खं० ११ श्रु० ७) प्राचीनशाल आदि ऋषि समिधा हाथ में लेकर पूर्वाह्ण समय में राजा अश्वपति के निकट पहुँचे ।।७।। ॥ असुराभिमानमर्दनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **तदुपर्यपि** ॥ **बादरायणस्सम्भवात्** ॥ (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० २५) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्राठक के सातवें खण्ड की दूसरी श्रुति को उद्धृत किया है ।।२।।

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः । तौ ह प्रजा-

पतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति । तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावावास्तमिति ॥३॥

अन्वयार्थ – (ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों इन्द्र और विरोचन (द्वात्रिंशतम्) बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष शुश्रूषा तत्पर होकर (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य पालन करते हुए (ऊषतुः) प्रजापति के निकट निवास करते रहे तब (ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजापतिदेव ने (तौ) उन दोनों से (उवाच) कहा कि (किम्) किस पदार्थ को (इच्छन्तौ) चाहते हुए (अवास्तम्) तुम दोनों ने मेरे निकट वास किया है (इति) ऐसा प्रजापति के पूछने पर (ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों (ऊचतुः) बोले कि (यः) जो (आत्मा) आत्मा (अपहतपाप्मा) पापरहित (विजरः) जराहित (विमृत्युः) मृत्युरहित (विशोकः) शोकरहित (विजिघत्सः) क्षुधारहित (अपिपासः) पिपासा रहित (सत्यकामः) भोग्य भोगोपकरण भोगस्थानरूप नित्य कल्याण गुण वाला है और (सत्यसंकल्पः) सत्यसंकल्प है यानी अप्रतिहत सकल्प है (सः) वह हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतान परब्रह्म नारायण (अन्वेष्टव्यः) श्रवण और मनन के द्वारा जानने योग्य है और (सः) वह परब्रह्म नारायण (विजिज्ञासितव्यः) विशेषरूप से ध्यान करने योग्य है (च) और (यः) जो उपासक (तम्) उस पूर्वोक्त जरादिरहित (आत्मानम्) परमात्मा को (इति) इस प्रकार के (अनुविद्य) जान कर (विजानाति) विशेष रूप से ध्यान करता है (सः) वह भगवदुपासक (सर्वान्) संपूर्ण (लोकान्) लोकों को (च) और (सर्वान्) समस्त (कामान्) काम्यमान कल्याणगुणों को (आप्नोति) प्राप्त करता है (इति) ऐसा (भगवतः) पूज्यपाद आपके (ह) प्रसिद्ध (वचः) वाक्य को (वेदयन्ते) ऐतिह्यरूप से सब जन जानते हैं इति (इन) बात को सुनकर (तम्) उसी परमात्मा को (इच्छन्तौ) जानने की इच्छा करते हुए (अवास्तम्) हम दोनों यहाँ ब्रह्मचर्य पालन करते हुए रहे हैं ॥३॥

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन वे दोनों आचार्य प्रजापति के समीप समिधा पुष्प फल आदिक हाथ में लेकर गये। और वह भेट उनको समर्पण कर श्रीचरणों में नित्यप्रति साष्टाङ्ग प्रणिपात करते हुए बत्तीस वर्ष शुश्रूषातत्पर होकर ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरुकुल में निवास किये। क्योंकि लिखा है— **आचार्यवान् पुरुषो वेद** ॥ (छां० उ० प्र० ६ खं० १४ श्रु० २) आचार्यवाला पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ॥२॥ ॥ **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** । (गी० अ० ४ श्लो० ३४) उस ब्रह्मज्ञान को साष्टाङ्ग प्रणाम करने से तथा जिज्ञासुभाव से प्रश्न करने से और सेवा करने से तुम जानो ॥३४॥ तब एक दिन परमदयालु आचार्य प्रजापति ने उन दोनों से कहा कि—तुम दोनों यहाँ किस इच्छा से रहे हो। इस वचन को सुन कर वे दोनों बोले कि—जो परब्रह्म नारायण सुकृतदुष्कृत से शून्य विशुद्ध है तथा जर अवस्था रहित है और मरण रहित है तथा शोक रहित है और भोजनेच्छा रहित है तथा पिपसाहीन है और सत्याकाम है अर्थात् भोग्य भोगोपकरण भोगस्थानरूप नित्यकल्याणगुणवाला है और सत्यसंकल्प है यानी अप्रतिहतसंकल्प वाला है । वह हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतान परब्रह्म नारायण श्रवण और मनन के द्वारा जानने योग्य है। और वही परमात्मा विशेषरूप से ध्यान करने योग्य है। जो उपासक उस पूर्वोक्त जरादिरहित और सत्यकामादिगुण विशिष्ट परब्रह्म नारायण को शास्त्र और सद्गुरु के उपदेशानुसार जानकर विशेष रूप से ध्यान करता है वह भगवदुपासक संपूर्णलोकों को और समस्त काम्यमान कल्याण गुणों को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के पूज्यपाद श्रीमान् के वाक्य को ऐतिह्यरूप से शिष्टजन कहा करते हैं। इस बात को सुन कर उसी परमात्मा को जानने की इच्छा से हम दोनों ने ब्रह्मचर्यपालन करते हुए यहाँ श्रीचरणों में निवास किया है। अवाप्तसमस्तकाम भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (१।१।१)॥ **तत्तु समन्वयात्** ॥ (१।१।४) ॥ **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु** ॥ (१।३।१८) ॥ **तदुपर्यपि बादरायणस्सम्भवात्** ॥ (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० २५) ॥ **ज्ञोऽत एव** ॥ (२।३।१९) ॥ **मुक्तः प्रतिज्ञानात्** ॥ (४।४।२) ॥ **आत्मा प्रकरणात्** ॥

(४।४।३) ॥ **ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः** ॥ (४।४।५) । **चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः** । (४।४।६) ॥ **एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः** ॥ (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ७) इन दस सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के सातवें खण्ड की तीसरी श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥३॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इति । एष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥४॥

॥ **इत्यष्टमप्रपाठके सप्तमखण्डः** ।

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) आचार्य प्रजापति ने (तौ) उन दोनों इन्द्र और विरोचन से (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) पुरुष (अक्षिणि) नेत्र में (दृश्यते) दीखता है (एषः) यह (आत्मा) प्रत्यगात्मा है और (इति) ऐसा (ह) स्पष्ट (उवाच) पुनः कहा कि (एतत्) यह प्रत्यगात्म स्वरूप (अमृतम्) अमृत है यानी निरातिशय सुखरूप है तथा (अभयम्) भय रहित है यानी दुःख से असंभिन्न है और (एतत्) यह प्रत्यगात्म स्वरूप (ब्रह्म) असंकुचित विज्ञानता के द्वारा बड़ा है (अथ) अनन्तर वे दोनों इन्द्र और विरोचन (इति) ऐसा प्रजापति से पूछे कि (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (यः) जो (अयम्) यह (अप्सु) जल में (च) और (यः) जो (अयम्) यह (आदर्शे) दर्पण में (परिख्यायते) सर्वत्र दीखता है (कतमः) उनमें कौन सा (एषः) यह आत्मा है (इति) इस वचन को सुन कर (ह) प्रसिद्ध प्रजापति ने (उवाच) उन दोनों से कहा कि (उ)निश्चय करके मैंने जो नेत्र में पुरुष वर्णन किया है (एषः) वही (एव) निश्चय करके (एषु) इन (सर्वेषु) सबों के (अन्तेषु) भीतर में (परिख्यायते) सब ओर प्रतीत होता है ॥४॥

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध आचार्य प्रजापति ने उन दोनों से स्पष्ट कहा कि—हे देवराज इन्द्र तथा हे असुरराज विरोचन यह जो पुरुष नेत्रों में

दिखायी देता है यही प्रत्यगात्मा है। और फिर भी स्पष्ट उन दोनों शिष्यों से कहा कि—हे इन्द्र ! हे विरोचन ! यह प्रत्यगात्मस्वरूप अमृत है यानी निरतिशय सुखरूप है तथा भय रहित है यानी दुःख से असंभिन्न है और यह प्रत्यगात्मा असंकुचित विज्ञानता कर के बड़ा है। इस प्रकार से प्रजापति ने प्रत्यगात्मा का उपदेश किया परन्तु वे दोनों शिष्य यथार्थ नहीं समझ कर बोले कि—हे पूज्यपाद भगवन् गुरुदेव यह जो जलों में प्रतिबिम्ब सर्वत्र दिखायी देता है और यह जो दर्पण में दिखायी देता है और उनमें कौन सा यह आत्मा है। शिष्यों के वचन को सुन कर प्रजापति ने जान लिया कि ये मेरे शिष्य भ्रान्ति के द्वारा "छाया पुरुष आत्मा है" ऐसा समझे हैं, सो ठीक नहीं है। तौ भी इसका अभी उत्तर न दूँ, आगे इस विषय को समझाऊँगा ऐसा विचार कर अपने शिष्यों से कहा कि—हे देवराज इन्द्र ! हे असुरराज विरोचन ! मैंने जो उपदेश दिया है कि—नेत्र में पुरुष है निश्चय करके वही इन सब जलादि स्थानों में सर्वत्र दिखायी देता है। "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का सातवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

। अथाष्टमखण्डः ॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति । तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाचकिंपश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥१॥

अन्वयार्थ—(उदशरावे) जल से भरे हुये मृत्तिका के पात्र शकोरे में (आत्मानम्) आत्मा को (अवेक्ष्य) देख कर (आत्मनः) आत्मा के (यत्) जिस अंश को (न) नहीं (विजानीथः) तुम दोनों सम्यक् जान सको तब (तत्) उस आत्म सम्बन्धी अनवगत अंश को (मे) मुझसे (प्रब्रूतम्) तुम दोनों कहो (इति) ऐसा प्रजापति ने कहा तब उस वचन को सुन कर (ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों इन्द्र और विरोचन (उदशरावे) जल से भरे हुये मिटी के पात्र शकोरे में (अवेक्षाञ्चक्राते) अपने प्रतिबिंब को देखे परन्तु दोष की स्फुरणा नहीं होने से मौन होकर चुपचाप रह गये

तब पुनः (ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) सब जनों के रक्षक परब्रह्म नारायण ने (तौ) उन दोनों से (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि (किम्) क्या (पश्यथः) तुम दोनों देखते हो। आचार्य के इस वचन को सुन कर (ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों इन्द्र और विरोचन (ऊचतुः) प्रजापति से बोले कि (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् (आवाम्) हम दोनों जैसे शिखावान् और शरीर के अवयववान् हैं ठीक वैसे ही (आलोमभ्यः) शिर से लेकर (आनखेभ्यः) पैर के नख पर्यन्त (सर्वम्) सब (इदम्) यह (प्रतिरूपम्) शरीर का प्रतिबिम्ब (आत्मानम्) आत्मा को (इति) इस प्रकार के (पश्यावः) हम दोनों देखते हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ—जल से भरे हुये मिट्टी के पात्र शकोरे में आत्मा को देख कर आत्मा के जिस अंश को नहीं तुम दोनों भलीभाँति जानसको उस आत्मसम्बन्धी अनवगत अंश को मुझसे तुम दोनों आकर कहो ऐसा प्रजापति ने कहा। तब उस आचार्य के वचन को सुन कर सुप्रसिद्ध उन दोनों इन्द्र और विरोचन ने जल से पूर्ण मिट्टी के पात्र शकोरे में अपने प्रतिबिम्ब को देखा। परन्तु उसमें दोष की स्फुरणा नहीं होने से मौन हो वे चुपचाप रह गये। तब सुप्रसिद्ध परम दयालु सब जनों के रक्षक प्रजापति ने उन दोनों से कहा कि—क्या तुम दोनों जल पूर्ण मिट्टी के पात्र शकोरे में देखते हो। आचार्य के इस वचन को सुन कर वे दोनों देवराज और असुरराज प्रजापति से बोले कि—हे पूज्यपाद भगवन् हम दोनों जैसे शिखावान् और शरीर के अवयववान् हैं ठीक वैसे ही शिर के लोम से लेकर पैर के नख तक सब यह शरीर का प्रतिबिम्ब आत्मा को हम दोनों देखते हैं। इस श्रुति में प्रतिबिम्ब आत्मा को स्पष्ट इन्द्र और विरोचन उद्घाटन किये हैं। यहाँ सब जनों के रक्षक होने से "प्रजापति" शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है क्योंकि लिखा है— **प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः ॥** (यजु० अ० ३१ मं० १९) प्रजा की रक्षा करने वाला नारायण गर्भ के भीतर चलता है ॥१९॥ **सह यज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥** (गी० अ० ३ श्लोक १०) प्रजारक्षक नारायण ने पहले यज्ञ के सहित प्रजा को रच कर कहा ॥१०॥ **वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥** (गी० अ० ११ श्लोक ३९) आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह हैं ॥ ३९ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः ॥ (महाभारत अनुशासनप० विष्णुस० श्लोक २१) ज्येष्ठ १ श्रेष्ठ २ प्रजापति ३ ये भगवान के नाम हैं॥२१॥इन श्रुति स्मृति इतिहास के प्रमाणों से प्रजापति शब्द नारायणवाचक है ॥१॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥२॥

अन्वयार्थ—(अ) प्रसिद्ध (प्रजापति) सब जनों के रक्षक प्रजापति ने पुनः (तौ) उन दोनों इन्द्र और विरोचन से (उवाच) कहा कि तुम दोनों (साध्वलंकृतौ) अच्छे प्रकार अलंकृत होकर (सुवसनौ) तथा सुन्दर वस्त्र धारण कर और (परिष्कृतौ) सर्वथा परिष्कृत (भूत्वा) होकर (उदशरावे) जल मे भरे हुये मृत्तिका के पात्र शकोरे में (अवेक्षेथाम्) आत्मा को देखो (इति) इस प्रकार के प्रजापति का वचन सुनकर (ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों देवराज और असुरराज (साध्वलंकृतौ) अच्छे प्रकार अलंकृत होकर (सुवसनौ) तथा सुन्दर वस्त्रधारण कर और (परिष्कृतौ) सुन्दरपरिष्कृत (भूत्वा) होकर (उदशरावे) जल से पूर्ण मिट्टी के पात्र शकोरे में (अवेक्षाञ्चक्राते) अपने प्रतिबिम्ब को देखे, परन्तु दोष की स्फुरणा नहीं होने से मौन होकर चुपचाप रह गये तब पुनः (ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) सबजनों के रक्षक परब्रह्म नारायण ने (तौ) उन दोनों इन्द्र और विरोचन से (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि इसमें (किम्) क्या (पश्यथः) तुम दोनों देखते हो ॥२॥

विशेषार्थ—सुप्रसिद्ध सब जनों के रक्षक प्रजापति ने पुनः उन दोनों देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन से कहा कि—तुम दोनों अच्छी तरह अलंकृत होकर तथा सुन्दर वस्त्र पहन कर और सर्वथा परिष्कृत होकर जल स पूर्ण मिट्टी के पात्र शकोरे में आत्मा को देखो और देख कर आत्मा के जिन अंश को नहीं तुम दोनों भली भाँति जान सको उस आत्मा सम्बन्धी अनवगत अंश को मुझसे तुम दोनों आकर कहो। इस प्रकार के आचार्य प्रजापति के वाक्य को सुनकर प्रसिद्ध उन दोनों इन्द्र और विरोचन ने अच्छी तरह अलंकृत होकर तथा सुन्दर

वस्त्र धारणकर और सुन्दर परिष्कृत होकर जल से परिपूर्ण मिट्टी के पात्र शकोरे में अपने प्रतिबिम्ब को देखा। परन्तु दोष की स्फुरणा नहीं होने से मौन हो वे चुपचाप रह गये। तब सुप्रसिद्ध परमदयालु सब जनों के रक्षक प्रजापति ने उन दोनों देवराज और असुरराज से कहा कि—क्या तुम दोनों जलपूर्ण मिट्टी के पात्र शकोरे में देखते हो। प्रक्षीणकल्मष नहीं होने से इन्द्र और विरोचन का द्वितीय बार में भी प्रतिबिम्बात्मभ्रम दूर नहीं हुआ है। यह स्पष्ट आगे के कहे जाने वाले मन्त्र से ज्ञात होता है॥ २॥

तौ होचतु र्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौपरिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति। एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥३॥

अन्वयार्थ—(ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों इन्द्र और विरोचन (उचतुः) प्रजापति से बोले कि (भगवः) हेपूज्यपादभगवन् (यथा) जैसे (एव) निश्चय करके (इदम्) यह शरीर पहले था वैसे ही इसको देखते हैं जैसे (आवाम्) हम दोनों (साध्वलंकृतौ) अच्छे प्रकार अलंकृत होते है (सुवसनौ) सुन्दरवस्त्रधारी होते हैं और (परिष्कृतौ) परिष्कृत विमल (स्वः) होते हैं (एवम्) वैसे (एव) ही (भगवः) हेपूज्यपाद भगवन् (इमौ) ये दोनों हम दोनों के शरीर का प्रतिबिम्ब (साध्वलंकृतौ) अच्छी तरह अलंकृत हैं तथा (सुवसनौ) सुन्दरवस्त्रधारी हैं और (परिष्कृतौ) सुन्दर परिष्कृत हैं (इति) इस वचन को सुनकर (एषः) यही (आत्मा) आत्मा है (इति) ऐसा (ह) स्पष्ट (उवाच) प्रसिद्ध प्रजापति ने कहा और पुनः यह भी कहा कि (एतत्) यह प्रत्यगात्मस्वरूप (अमृतम्) अमृत है यानी निरतिशयसुखरूप है तथा (अभयम्) भयरहित है यानी दुःख से असंभिन्न है और (एतत्) यह प्रत्यगात्मकस्वरूप (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी असंकुचित विज्ञानता के द्वारा बृहत्वगुणयुक्त बड़ा है (इति) इस प्रकार आचार्यप्रजापति के वचन को सुन कर (ह) प्रसिद्ध (तौ) वे दोनों इन्द्र और विरोचन (शान्तहृदयौ) निवृत्त आकाँक्षा वाले शान्त हृदय हो (प्रवव्रजतुः) वहाँ से चले गये॥ ३॥

विशेषार्थ—प्रसिद्ध वे दोनों इन्द्र और विरोचन प्रजापति से बोले

कि—हे पूज्यपाद भगवन् जिस प्रकार हम दोनों का शरीर उत्तम अलङ्कार से अलंकृत सुन्दर वस्त्र धारण किये और परिष्कृत हैं उसी प्रकार हे पूज्यपाद भगवन् गुरुदेव ये दोनों हम दोनों के शरीर का प्रतिबिम्ब अच्छे प्रकार अलंकृत तथा सुन्दर वस्त्रधारी और सुन्दर परिष्कृत हैं। तब इस वचन को सुन कर पुनः प्रजापति ने स्पष्ट यह कहा कि—यही आत्मा है और यह प्रत्यगात्मस्वरूप भय रहित है यानी निरतिशय सुखरूप है। तथा यह प्रत्यगात्मस्वरूप भय रहित है यानी दुःख से असंभिन्न है। और यह प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म है यानी असंकुचित विज्ञानता के द्वारा बृहत्व गुणयुक्त बड़ा है। इस प्रकार आचार्य प्रजापति के वाक्य को सुन कर प्रसिद्ध वे दोनों देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन निवृत्त आकाँक्षा वाले शान्त हृदय वाले हो प्रजापति के यहाँ से चले गये ॥ ३ ॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच। अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति। स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाच। आत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति॥४॥

अन्वयार्थ—(ह) सुप्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रजापति ने (तौ) उन दोनों इन्द्र ओर विरोचन को (अन्वीक्ष्य) दूर गया देख कर (इति) इस वक्ष्यमाण वचन को (उवाच) कहा कि (आत्मानम्) आत्म स्वरूप को (अनुपलभ्य) नहीं पाकर और (अननुविद्य) श्रवण ओर मनन से नहीं जान कर (व्रजतः) ये दोनों इन्द्र और विरोचन जाते हैं इस कारण (यतरे) जो (देवाः) देवता (वा) अथवा (असुराः असुर (वा) निश्चय करके (एतदुपनिषदः) इन दोनों इन्द्र और विरोचन के उपदेश से भ्रान्ति गृहीत अर्थ विषयक निश्चय वाले (भविष्यन्ति) होवेंगे (ते) वे देव अथवा असुर (पराभविष्यन्ति) परास्त होंगे अर्थात् नित्य संसारी होंगे (ह) प्रसिद्ध (सः) वह असुरराज (विरोचनः विरोचन (शान्तहृदयः) निवृत्त आकाँक्षा वाला शान्त हृदय होकर (एव) निश्चय करके (असुरान्) असुरों

के निकट (जगाम) पहुँचा और (ह) प्रसिद्ध (तेभ्यः) उन असुरों से (एताम्) इस (उपनिषदम्) उपनिषद् को यानी उपदेश को (प्रोवाच) प्रकर्ष रूप से कहा (च) और (इह) इस लोक में (आत्मा) शरीर (एव) ही (महय्यः) पूजनीय है और (आत्मा) शरीर ही (परिचर्यः) सेवनीय है और (इह) इस लोक में (आत्मानम्) शरीर को (एव) निश्चय करके (महयन्) पूजता हुआ और (आत्मानम्) शरीर को ही (परिचरन्) सेवा करता हुआ (इमम्) इस लोक को (च) और (अमुम्) उस परलोक को (इति) यह मनुष्य (उभौ) दोनों(लोकौ) लोकों को (अवाप्नोति) प्राप्त कर लेता है अर्थात् सर्व लोक सुखानुभव शरीरगत ही है ॥४॥

विशेषार्थ—प्रजाओं के रक्षक सुप्रसिद्ध प्रजापति ने उन दोनों इन्द्र तथा विरोचन को शान्त हृदय होकर जाते हुए देख कर इस आगे कहे जाने वाले वाक्य को कहा कि—ये दोनों आत्मस्वरूप को उपलब्ध किये बिना और श्रवण तथा मनन से आत्मस्वरूप को साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं। देवता हों या असुर हों जो कोई निश्चय करके इन दोनों इन्द्र और विरोचन के उपदेश से भ्रान्तिगृहीत अर्थ विषय निश्चय वाले होंगे तो वे देवता अथवा असुर अवश्य पराभूत होवेंगे अर्थात् नित्य संसारी होवेंगे। सुप्रसिद्ध वह असुरराज विरोचन निवृत आकाँक्षावाला शान्त हृदय होकर ही असुरों के पास पहुँचा। और उन असुर लोगों से इस उपनिषद् को यानी उपदेश को प्रकषरूप से कहा कि— इस लोक में शरीर ही पूजनीय है। और शरीर ही सेवनीय है। और शरीर को ही पूजता हुआ और सेवा करताहुआ मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों लोकों को पाता है। अर्थात् सर्वलोक सुखानुभव शरीरगत ही है। इस श्रुति में "उपनिषद्" शब्द का उपदेश अर्थ होता है और उत्तरार्ध में "आत्मा" पद का देह अर्थ होता है ॥४॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषद्। प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥५॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठकेऽष्टमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्) इस कारण से (इह) इस लोक में (अद्य)

आजकल (अपि) भी (अददानम्) दान नहीं देने वाले को तथा (अश्रद्धानम्) परलोक विषय में श्रद्धा नहीं करने वाले को और (अयजमानम्) यज्ञ को नहीं करने वाले पुरुष को (वत) खेद के साथ (आसुरः) असुर सम्बन्धी यह आसुरी स्वभाव वाला है (इति) ऐसा (आहुः) शिष्टजन कहते हैं (हि) क्योंकि (एषा) यह याग दान श्रद्धा के वैधुर्य में हेतुभूत (उपनिषद्) नास्तिक्यबुद्धिलक्षणयुक्त उपदेश (असुराणाम्) असुरों का ही है वे असुर लोग (प्रेतस्य) मृतक पुरुष के (शरीरम्) देह को (भिक्षया) गन्ध माल्य अन्नादि लक्षणस्वरूप भिक्षा से और (वसनेन) विविध सुन्दरवस्त्र से और (अलंकारेण) विविध भूषण से (इति) इस प्रकार के अन्य अन्य पदार्थ से भी (संस्कुर्वन्ति) संस्कृत करते हैं यानी सुसज्जित करते हैं और (एतेन) इस कुणपसंस्कार से (हि) निश्चय करके (अमुम्) उस (लोकम्) परलोक को (जेष्यन्तः) हम जीत लेवेंगे (मन्यन्ते) ऐसा मानते हैं ।।५।।

विशेषार्थ—जिस कारण से असुरों से ही यह उपनिषद् प्रवृत्त हुई है इस कारण से आजकल भी उन आसुरों का संप्रदाय आ रहा है। इसी को आगे दिखाते हैं कि—इस लोक में जो दान न देने वाला तथा श्रद्धा न करने वाला और यजन न करने वाला पुरुष होता है उसे शिष्टजन अरे यह तो आसुर यानी आसुरी स्वभाव वाला ही है ऐसा कहते हैं। आसुर लोग के विषय में लिखा है कि—॥**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापिचाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥** (गी० अ० १६ श्लो० ७) ॥ **असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्** ॥(८) ॥ **एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः** ॥ (९) ॥ **काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः** ॥ (१०) ॥ **चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः** ॥ (११) ॥ **आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।** (१२) **इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्** ॥ (१३) ॥ **असौ**

मयाहतः शत्रुर्हनिष्येचापरानपि । ईश्वरोऽहमहंभोगीसिद्धोऽहंबलवा-न्सुखी ॥(१४) । आढ्योऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्तिसदृशो मया । यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ (१५)। अनेकचित्तविभ्रान्तामोहजालसमावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ (१६)। आत्मसंभाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।(१७)। अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ (१८)॥ तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्र-मशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ (१९) ॥ आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ (२०) आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृति को नहीं जानते हैं और उनमें न शौच न आचार और न सत्य ही होता है ।।७।। वे आसुर लोग कहते हैं कि—जगत् असत्य अप्रतिष्ठ और ईश्वर रहित है, अपरस्पर स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है काम के अतिरिक्त इसका दूसरा हेतु क्या हो सकता है ।।८।। इसप्रकार की दृष्टि का सहारा लेकर वे उग्र कर्म करने वाले नष्टात्मा अल्पबुद्धि और बुरा करने वाले मनुष्य जगत् के नाश के लिये ही उत्पन्न होते हैं ।।९।। दम्भ मान और मद से युक्त अशुद्ध आचरण वाले लोग दुष्पूरणीय यानो कठिनता से पूर्ण होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर मोह से असत् परिग्रहों का संग्रह करके बर्तते हैं ।।१०।। प्रलय काल में ही जिनका अन्त होता है ऐसी अपरिमित चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले तथा भोगों के उपभोग को ही श्रेष्ठ मानने वाले और इतना ही परम पुरुषार्थ है ऐसा निश्चय करने वाले मनुष्य होते हैं ।।११।। सैकड़ों आशापाशों से बँधे हुए और काम क्रोध के परायण हुए भोगों को भोगने के लिये अन्यायपूर्वक अर्थ सञ्चय की चेष्टा किया करते हैं ।।१२।। यह मुझे आज मिल गया और इस मनोरथ को मैं कल प्राप्त करूँगा यह धन तो मेरा है और यह धन भी फिर मेरा ही हो जायगा ।।१३।। अमुक शत्रु तो मुझसे मार डाला गया और दूसरों को भीमैं मारडालूँगा,मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ तथा मैं सिद्ध हूँ और मैं बलवान् तथासुखी हूँ ।।१४।। मैं धनवान हूँ, मैं कुलीन हूँ, मेरे

समान दूसरा कौन है मैं यज्ञ करूँगा मैं दान करूँगा और मैं आनन्द लूटूँगा अज्ञान से मोहित लोग इस प्रकार समझते हैं ॥१५॥ अनेक सकल्पों से जिनका चित्त अत्यन्त भ्रमित है ऐसे मोहजाल से घिरे हुए भोगों के उपभोग में फँसे हुए मनुष्य घोर नरक में गिरते हैं ॥१६॥ अपने आप महान बने हुए कुछ भी न करने वाले धनमान के मद से युक्त मनुष्य नाममात्र के यज्ञ को दम्भ से और अविधि पूर्वक किया करते हैं ॥१७॥ अहंकार बल दर्प काम और क्रोध का आश्रय लिये रहते हैं तथा वे मेरी निन्दा करने वाले अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ ईश्वर से द्वेष करते हैं ॥१८॥ उन मुझसे द्वेष करने वाले क्रूर अशुभ नराधमों को मैं संसार में निरन्तर आसुरीयोनियोंमेंही डालता हूँ ॥१९॥ हे अर्जुन आसुरी योनि को प्राप्त होकर वेमूढ लोग मुझको न पाकर जन्म जन्म में और भी नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ॥२०॥ इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। निश्चय करके यह यज्ञ दान श्रद्धा के वैधुर्य में हेतुभूत नास्तिक्य बुद्धिलक्षण युक्त उपदेश असुरों के ही हैं। वे असुर लोग दान आदि कर्म नहीं करते हैं। वे असुर लोग मृतक पुरुष के शरीर को गंध-माल्य अन्नादिलक्षण स्वरूप भिक्षा से तथा अनेक प्रकार के सुन्दरवस्त्र से और विविध भूषणों से संस्कृत करते हैं और इस कुणप संस्कार के द्वारा निश्चय करके हम उस परलोक को भी जीत लेवेंगे ऐसा असुर लोग मानते हैं। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का आठवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथ नवमखण्डः ॥

अथ हैन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः। एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) परन्तु (ह) प्रसिद्ध (इन्द्रः) देवराज इन्द्र ने

(देवान्) देवताओं को (अप्राप्य) नहीं प्राप्त करके (एव) निश्चय करके प्रतिबिम्बात्मा में (एतत्) इस वक्ष्यमाण (भयम्) भय को यानी दोष को (ददर्श) देखा किस दोष को देखा सो आगे बतलाया जाता है कि (खलु) निश्चय करके (यथा) जैसे (एव) ही (अस्मिन्) इस (शरीरे) शरीर के (साध्वलंकृते) अच्छे प्रकार अलंकृत होने पर (अयम्) यह देह प्रतिबिम्ब भी (साधु) अच्छी तरह (अलंकृतः) अलंकृत (भवति) होता है और (सुवसने) इस शरीर के सुन्दर वस्त्रधारी होने पर (सुवसनः) यह देह प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रधारी होता है तथा (परिष्कृते) इस देह के परिष्कृत निर्मल होने पर (परिष्कृतः) देह प्रतिबिम्ब भी परिष्कृत निर्मल होता है (एवम्) वैसे (एव) ही (अस्मिन्) इस शरीर के (अन्धे) अन्धे होने पर (अन्धः) यह देह प्रतिबिम्ब भी अन्धा (भवति) होता है तथा (स्रामे) नासिका से सर्वदा नेटा गिरने पर(स्रामः) यह देह प्रतिबिम्ब भी सर्वदा नासिका से नेटा गिरने वाला हो जाता है और (परिवृक्णे) इस शरीर के हाथ पैर आदि छिन्न होने पर (परिवृक्णः) यह देह प्रतिबिम्ब भी पाणिपाद आदि से छिन्न होता है और (एव) निश्चय करके (अस्य) इस (शरीरस्य) शरीर का (नाशम्) नाश होने पर (अनु) पश्चात् (एषः) यह देह प्रतिबिम्ब भी (नश्यति) नष्ट हो जाता है (इति) इस कारण से (अहम्) मैं (अत्र) इस देह प्रतिबिम्ब दर्शन में (भोग्यम्) भोग करने योग्य अमृत अभय आदि को (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ ॥१॥

विशेषार्थ—परन्तु उस सुप्रसिद्ध देवराज इन्द्र ने देवताओं के पास बिना पहुँचे ही मध्यमार्ग में निश्चय करके प्रतिबिम्बात्मा में इस आगे कहे जाने वाले दोष को देखा। किस दोष को देखा यह आगे साक्षात् श्रुति ही प्रतिपादन करती है कि—निश्चय करके जिस प्रकार इस शरीर के अच्छे प्रकार से अलंकृत होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी अच्छी तरह अलंकृत होता है। तथा इस शरीर के सुन्दर वस्त्रधारी होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रधारी होता है। और इस शरीर के नख लोमादिक परिष्कृत निर्मल होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी नखलोमादिक से परिष्कृत निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार इस शरीर के अन्धे होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी अन्धा हो जाता है। और इस शरीर के काण होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी काना हो जाता है। नासिका से सर्वदा जल तथा नेटा बहने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी नासिका से सर्वदा जल तथा नेटा बहने वाला हो जाता है तथा

इश शरीर के हाथ पैर आदि छिन्न होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी हाथ पैर आदि से छिन्न हो जाता है। इस शरीर के नाश होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है। इस कारण से मैं इस देहप्रतिबिम्बदर्शन में भोग्य अमृत अभय आदिक को नहीं देखता हूँ। गुरूपदिष्टविषय में मैं स्वयं संशयग्रस्त हो रहा हूँ देवों को क्या समझाऊँगा। इस कारण से गृह न जाकर पुनः आचार्य के निकट जाना चाहिये। ऐसा मन में विचार कर वह देवराज इन्द्र प्रजापति के निकट चले ॥१॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तं ह प्रजापतिरुवाच। मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन्पुनरागम इति। स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

अन्वयार्थ – (सः) वह देवराज इन्द्र (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लिये हुए (पुनः) फिर (एयाय) आचार्य प्रजापति के समीप में आये (ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रजापति ने (तम्) उस इन्द्र से (उवाच) कहा कि (मघवन्) हे प्रियदर्शन इन्द्र (विरोचनेन) असुरराज विरोचन के (सार्धम्) साथ (शान्तहृदयः) निवृत्त आकाँक्षा वाला शान्त हृदय होकर (यत्) जो (प्राव्राजीः) तुम चले गये थे तो अब (किम्) क्या (इच्छत्) इच्छा करते हुए (पुनः) फिर (आगमः) आप यहाँ आये (इति) इस आचार्य के वचन को सुन कर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस इन्द्र ने (उवाच) कहा कि (भगवः हे पूज्यपाद भगवन् (खलु) निश्चय करके (यथा) जैसे (एव) ही (अस्मिन्) इस (शरीरे) शरीर के (साधु) अच्छी तरह (अलंकृते) अलंकृत होने पर (अयम्) यह देह प्रतिबिम्ब भी (साधु) अच्छी तरह (अलंकृतः) अलंकृत (भवति) होता है और (सुवसने) इस शरीर

के सुन्दर वस्त्रधारी होने पर (सुवसनः) यह देह प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रधारी होता है तथा [परिष्कृते] इस शरीर के नख केशादि परिष्कृत निर्मल होने पर (परिष्कृतः) यह देह प्रतिबिम्ब भी परिष्कृत निर्मल होता है [एवम्] वैसे [एव] ही [अस्मिन्] इस शरीर के [अन्धे] अन्धे होने पर [अयम्] यह देह प्रतिबिम्ब भी [अन्धः] अन्धा [भवति] होता है तथा [स्रामे] नासिका से सर्वदा नेटा गिरने पर [स्रामः] यह देह प्रतिबिम्ब भी नासिका से सर्वदा नेटा गिरने वाला हो जाता है और [परिवृक्णे] इस शरीर के हाथ पैर आदि छिन्न होने पर [परिवृक्णः] यह देह प्रतिबिम्ब भी हाथ पैर आदि से छिन्न होता है और [एव] निश्चय करके (अस्य) इस (शरीरस्य) शरीर के (नाशम्) नाश होने पर (अनु) पश्चात् (एषः) यह देत प्रतिबिम्ब भी (नश्यति) नष्ट हो जाता है (इति) इस कारण से (अहम्) मैं (अत्र) इस देह प्रतिबिम्ब दर्शन में (भोग्यम्) भोग करने योग्य अमृत अभय आदिक को (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वे देवराज इन्द्र हाथ में समिधा पुष्प फलादिक लेकर फिर भी अपने आचार्य प्रजापति के समीप में लौट कर आये। और श्रीचरणों में **साष्टाङ्ग** प्रणिपात करके खड़ा रहे। क्योंकि लिखा है—॥ **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** ॥(मुण्डको० मुं० १ खं० २ श्रु० १२)परब्रह्म को जानने के लिये वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि लिये हुए वेदवेत्ता ब्रह्मविचार में मग्न गुरु की शरण जाय ॥१२॥ ॥ **आचार्यवान् पुरुषो वेद** ॥ (छां० प्र० ६ खं०१४ श्रु० २) आचार्य वाला पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ।२। ॥ **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** ॥ (गी०अ० ४ श्लो०३४) उस आत्मविषयक **ज्ञान को** साष्टाङ्ग प्रणाम करने तथा जिज्ञासुभाव से प्रश्न करने से **और सेवा करने** से तुम जानो ॥३४॥ इन श्रुति स्मृति के नियमानुसार इन्द्र **भगवान्** प्रजापति के पास आये। आये हुए उस देवराज को देखकर परमदयालु प्रजापति ने पूछा कि—हे प्रियदर्शन देवराज इन्द्र **तुम तो असुरराज** विरोचन के साथ निवृत्त आकाँक्षा वाला शान्तहृदय होकर चले गये थे, अब किस इच्छा से पुनः आये हो। आचार्य के इस **वचन को** सुनकर सविनय देवराज ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् **निश्चय करके** जिस प्रकार इस शरीर के अच्छी तरह

अलंकृत होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी अच्छी तरह अलंकृत हो जाता है। तथा इस शरीर के सुन्दर वस्त्रधारी होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी अच्छी तरह सुन्दर वस्त्रधारी हो जाता है। और इस शरीर के नखलोमादिक परिष्कृत निर्मल होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी नखलोमादिक से परिष्कृत निर्मल हो जाता है और उसी प्रकार इस शरीर के अन्धे होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी अन्धा हो जाता है। तथा इस सरीर के काण होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी काना हो जाता है अथवा नासिका में सर्वदा जल तथा नेटा पोंटा बहने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी नासिका से सर्वदा जल तथा नेटा पोंटा बहने वाला हो जाता है। तथा इस शरीर के हाथ पैर आदि छिन्न होने पर यह देह प्रतिबिम्ब भी हाथ पैर आदि से छिन्न हो जाता है। और इस शरीर के नाश होने पर यह देहप्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है। इस कारण से मैं इस देह प्रतिबिम्ब दर्शन में भोग्य अमृत अभय आदिक को नहीं देखता हूँ। इससे फिर भी श्रीचरणों के पास मैं आया हूँ ॥२॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥३॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके नवमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(मघवन्) हे देवराज इन्द्र (एषः) यह तुमसे कहा हुआ वाक्य (एवम्) ऐसा (एव) ही है अर्थात् सत्य है (इति) ऐसा (ह) सुप्रसिद्ध प्रजापति ने (उवाच) इन्द्र से कहा कि (एव) निश्चय करके (एतम्) इस उक्त आत्मा को (तु) ही (ते) तुझ से (भूयः) फिर भी (अनुव्याख्यास्यामि) दोषशून्य मैं आगे प्रतिपादन करूँगा इससे अन्तःकरण शुद्धि के लिये (अपराणि) अन्य और (द्वात्रिंशतम्) बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (वस) ब्रह्मचर्यपालन करते हुए यहाँ निवास करो (इति) इस आचार्य की आज्ञा को पाकर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस देवराज इन्द्र ने (अपराणि) अन्य और (द्वात्रिंशतम्) बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (उवास) प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य से निवास किया तब (ह) प्रसिद्ध प्रजापति ने (तस्मै) उस इन्द्र से (उवाच) आगे के खण्ड में कहे जाने वाले वाक्य को कहा ॥३॥

विशेषार्थ—हे देवराज इन्द्र यह तुमसे कहा हुआ वाक्य ऐसा ही है अर्थात् जैसा तुमने तर्क किया है वह सर्वथा ठीक है ऐसा सुप्रसिद्ध प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि—इस उक्त आत्मा को ही निश्चय करके फिर भी मैं तुझसे दोष रहित अनुव्याख्यान करूँगा। इससे अन्तःकरण शुद्धि के लिये हे इन्द्र अब तुम बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्य पालन करते हुए यहाँ रहो। आचार्य की इस आज्ञा को पाकर सुप्रसिद्ध उस देवराज इन्द्र ने वहाँ प्रजापति के पास में बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्य से निवास किया। तब प्रजापति ने उस इन्द्र से वक्ष्यमाण दसवें खण्ड के वचन को कहा। आचार्य कुलकमलदिवाकर भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० २)के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के नवें खण्ड की तीसरी श्रुति के "एत त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इस वाक्य को उद्धृत किया है "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का नवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥ ३ ॥

॥ अथ दशमखण्डः ॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदं शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति। यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (एषः) यह (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (महीयमानः) स्त्री पुत्र धन धान्यादि से पूजित होता हुआ (चरति) विचरता है (एषः) यह स्वप्नद्रष्टा (आत्मा) भोग्यतादिलक्षणयुक्त आत्मा है (इति) ऐसा (ह) स्पष्ट (उवाच) प्रसिद्ध प्रजापति ने इन्द्र से कहा और पुनः यह भी कहा कि (एतत्) यह प्रत्यगात्मस्वरूप (अमृतम्) अमृत है यानी निरतिशय सुखरूप है तथा (अभयम्) यह प्रत्यगात्मस्वरूप भय रहित है यानी दुःख से असंभिन्न है और (एतत्) यह प्रत्यगात्मस्वरूप (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी असंकुचित विज्ञानता के द्वारा बृहत्वगुणयुक्त बड़ा है (इति) इस प्रकार आचार्य प्रजापति के वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (सः) वह

देवराज इन्द्र (शान्तहृदयः) निवृत आकाँक्षा वाला शान्त हृदय होकर (प्रवव्राज) वहाँ से चला परन्तु (ह) प्रसिद्ध (सः) उस देवराज इन्द्र ने (देवान्) देवताओं को (अप्राप्य) नहीं प्राप्त करके (एव) निश्चय करके (एतत्) इस वक्ष्यमाण (भयम्) भय को यानी दोष को (ददर्श) देखा कि (तत्) वह (इदम्) यह वाह्य (शरीरम्) शरीर (यद्यपि) यद्यपि (अन्धम्) अन्धा (भवति) रहता है तौ भी (सः) वह स्वप्नात्मा (अनन्धः) अन्धो नहीं (भवति) होती है और (यदि) यदि यह बाह्य शरीर (स्रामम्) नासिका से सर्वदा नेटा पोंटा गिरने वाला रहता है अथवा काना रहता है तथापि वह स्वप्नात्मा (अस्रामः) नासिका से सर्वदा नेटा पोंटा गिरने वालो नहीं होती है या कानी नहीं होती है और (अस्य) इस वाह्य शरीर के (दोषेण) दोष से (एषः) यह आत्मा (न) कभी नहीं (एव) निश्चय करके (दुष्यति) दूषित होती है ॥१॥

विशेषार्थ—जो यह आत्मा स्वप्न में स्त्री पुत्र धन धान्यादि से पूज्यमान होती हुई विचरती है। वह यह स्वप्नद्रष्टा भोग्यतादिलक्षण युक्त आत्मा है इस प्रकार सुप्रसिद्ध प्रजापति ने देवराज इन्द्र से स्पष्ट कहा। और पुनः यह भी कहा कि—यह प्रत्यगात्मस्वरूप अमृत है यानी निरतिशय सुखरूप है। तथा यह प्रत्यगात्मस्वरूप भय रहित यानी दुःख से असंभिन्न है। और यह प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म है यानी असंकुचित विज्ञानता के द्वारा वृहत्व गुणयुक्त बड़ा है। इस प्रकार के प्रजापति के वचन को सुनकर सुप्रसिद्ध वह देवराज इन्द्र निवृत आकाँक्षा वाला शान्त हृदय होकर वहाँ से चला गया। किन्तु सुप्रसिद्ध वह देवराज इन्द्र देवताओं के पास बिना पहुँचे ही मध्य मार्ग से ही निश्चयकरके इस वक्ष्यमाणभय को यानी दोष को देखा कि उस स्वप्नावस्था में यह बाह्य शरीर यद्यपि अन्धा रहता है तथापि वहस्वप्नात्मा अन्धी नहीं होती है। और उस स्वप्नावस्था में यह वाह्यशरीर यदि नासिका से नेटा पोंटा आदि गिरने वाला रहता है तथापि वह स्वप्नात्मा नासिका से नेटा पोंटा आदि गिरने वाली नहीं होती है। अथवा यह बाह्य शरीर यद्यपि काना रहता है तौ भी वह स्वप्नात्मा कानी नहीं होती है। इस प्रकार इस वाह्य शरीर के दोष से कभी नहीं यह आत्मा दूषित होती है ॥१॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामः। घ्नन्तित्वेवैनं विच्छादयन्तीव। अप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदि-

तीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

अन्वयार्थ—(अस्य) इस शरीर के (वधन) वध से यह स्वप्नात्मा (न) नहीं (हन्यते) मारा जाती है और (अस्य) इस शरीर की (स्राम्येण) काणत्वादि विकलता से यह स्वप्नात्मा (न) नहीं (स्रामः) विकल होती है (तु) किन्तु (एनम्) इस स्वप्नात्मा को (आ+इव) अच्छे प्रकार से मानो (घ्नन्ति) कोई मार रहे हैं और (इव) माना इस स्वप्नात्मा को (विच्छादयन्ति) कोई स्वप्न से भगा रहे हैं तथा (अप्रियवेत्ता) स्वयं यह बन्धुजनमरणादि अप्रियवेत्ता के (इव) समान (भवति) हो रही है (अपि) और (रोदिति) रोता हुआ (इव)सा प्रतीत यह स्वप्नात्मा होती है (इति) इस कारण से (अहम्) मैं (अत्र) इस स्वप्नात्मदर्शन में (भोग्यम्) भोग करने योग्य अमृत अभय आदिक को (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ ।।२॥

विशेषार्थ—इस देह के वध से यह स्वप्नात्मा नहीं मारी जाती है। और इस देह के काणत्वादि रुग्णता से यह स्वप्नात्मा रुग्ण नहीं होती है। परन्तु इस स्वप्नात्मा को मानो अच्छी तरह से कोई मार रहे हैं। तथा इस स्वप्नात्मा को मानो कोई स्वप्न में भगा रहे हैं। और यह मानो स्वयं बन्धुजन मरणादि अप्रिय का अनुभव करती हो तथा स्वयं रुदन करती हो ऐसाप्रतीत होता है। इस कारण से इस स्वप्नात्मदर्शन में मैं भोग्य अमृत अभय आदिक को नहीं देखता हूँ। स्वप्न के सत्य प्रतिपादक भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ **श्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्** । (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० २०) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के दसवें खण्ड की दूसरी श्रुति के "घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्ति" इस वाक्य को उद्धत किया है ।।२॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तं ह प्रजापतिरुवाच । मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति। स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति । यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥३॥

अन्वयार्थ—(सः) वह देवराज इन्द्र (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लिये हुए (पुनः) फिर (एयाय) आचार्य प्रजापति के समीप में आये (ह)

प्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रजापति ने (तम्) उस इन्द्र से (उवाच) कहा कि (मघवन्) हे प्रियदर्शन इन्द्र (शान्तहृदयः) निवृत्त आकाँक्षा वाला शान्त हृदय होकर (यत्) जो (प्राव्राजीः) तुम चले गये थे तो अब (किम्) क्या (इच्छन्) इच्छा करते हुए (पुनः) फिर (आगमः) आप यहाँ लौट आये (इति) इस आचार्य के वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस इन्द्र ने (उवाच) प्रजापति से कहा कि (भगवः) हे पूज्य-पाद भगवन् (तत्) वह (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (यद्यपि) यद्यपि (अन्धम्) अन्धा (भवति) रहता है तौभी (सः) वह स्वप्नात्मा (अनन्धः) अन्धा नहीं (भवति) होती है और (यदि) यदि यह शरीर (स्रामम्) नासिका से सर्वदा नेटा पोंटा गिरने वाला रहता है अथवा काना रहता है तथापि वह स्वप्नात्मा (अस्रामः) नासिका से सर्वदा नेटा पोंटा गिरने वाली नहीं होती है अथवा कानी नहीं होती है और (अस्य) इस शरीर के (दोषेण) दोष से (एषः) यह स्वप्नात्मा (एव) निश्चय करके (न) कभी नहीं (दुष्यति) दूषित होती है ॥३॥

विशेषार्थ – वे देवराज इन्द्र हाथ में समिधा पुष्प फलादिक लेकर फिर भी अपने आचार्य **प्रजापति के समीप** लौट कर आये और श्रीचरणों में भेंट समर्पण कर साष्टाङ्ग प्रणिपात करके नतमस्तक हाथ जोड़ कर खड़ा रहे। तब आये हुए **उस देवराज** को देख कर परमदयालु प्रजापति ने पूछा कि--हे प्रियदर्शन देवराज इन्द्र तुम तो निवृत्त आकाँक्षा वाला शान्तहृदय होकर यहाँ से चले गये थे, अब किस इच्छा से पुनः आये हो। आचार्य प्रजापति के इस वचन को सुनकर सविनय देवराज ने कहा कि हे पूज्यपाद भगवन् उस स्वप्नावस्था में यह बाह्यशरीर यद्यपि अन्धा रहता है तथापि वह स्वप्नात्मा अन्धी नहीं होती है। और उस स्वप्नावस्था में यह बाह्यशरीर **यदि नासिका** से नेटा पोंटा आदि गिरने वाला रहता है अथवा काना रहता है तथापि वह स्वप्नात्मा नासिका से नेटा पोंटा आदि गिरने **वाली नहीं** होती है अथवा कानी नहीं होती है इस प्रकार इस बाह्य शरीर के **दोष से** कभी नहीं यह स्वप्नात्मा निश्चय करके दूषित होती है ॥३॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामः । घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीव । अप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति । एवमेवैष मघवन्निति

होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके दशमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अस्य) इस शरीर के [वधेन] वध से यह स्वप्नात्मा (न) नहीं (हन्यते] मारी जाती है और [अस्य] इस शरीर की (स्राम्येण) काणत्वादि विकलता से यह स्वप्नात्मा (न) नही (स्रामः) विकल होती है [तु] किन्तु (एनम्) इस स्वप्नात्मा को (आ+इव) अच्छो प्रकार से मानो (घ्नन्ति) कोई मार रहे हैं इव) मानो इस स्वप्नात्मा को (विच्छादयन्ति) कोई स्वप्न में भगा रहे हैं तथा (अप्रियवेत्ता) स्वयं यह बन्धुजन मरणादि अप्रियवेत्ता के [इव) समान (भवति) हो रहा है और (रोदिति) रोते हुए के (इव) समान (अपि) भी यह स्वप्नात्मा प्रतीत होती है (इति) इस कारण से (अहम्) मैं (अत्र) इस स्वप्नात्मदर्शन में (भोग्यम्) भोग करने योग्य अमृत अभय आदिक को न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ (मघवन्) हे देवराज इन्द्र (एषः) यह तुमसे कहा हुआ वाक्य (एवम्) ऐसा (एव) ही है अर्थात् सत्य है (इति) ऐसा (ह) सुप्रसिद्ध प्रजापति ने (उवाच) इन्द्र से कहा कि (एव) निश्चय करके (एतम्) इस उक्त आत्मा को (तु) ही (ते तुझसे (भूयः) फिर भी (अनुव्याख्यास्यामि) दोष शून्य मैं आगे प्रतिपादन करूँगा। इससे अन्तःकरण शुद्धि के लिये (अपराणि) अन्य और (द्वात्रिंशतम्) बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (वस) ब्रह्मचर्य पालन करते हुए यहाँ निवास करा (इति) इस आचार्य की आज्ञा को पाकर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस देराज इन्द्र ने (अपराणि) अन्य और (द्वात्रिंशतम्) बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (उवास) प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य से निवास किया तब (ह) प्रसिद्ध,प्रजापति ने (तस्मै) उस इन्द्र से (उवाच) आगे के खण्ड में कहे जाने वाले वाक्य को कहा ॥४॥

विशेषार्थ—इस देह के वध से यह स्वप्नात्मा नहीं मारी जाती है। और इस देह के काणत्वादि रुग्णता से यह स्वप्नात्मा रुग्ण नहीं होती है। परन्तु इस स्वप्नात्मा को मानो अच्छी तरह से कोई मार रहे हैं। तथा इस स्वप्नात्मा को मानो कोई स्वप्न में भाग रहे हैं और यह मानो स्वयं बन्धुजन मरणादि अप्रिय का अनुभव करता हो तथा स्वयं रुदन

करता हो ऐसा प्रतीत होता है। इस कारण से इस स्वप्नात्मदर्शन में मैं भोग्य अमृत अभय आदिक को नहीं देखता हूँ। यह वाक्य "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के दशवें खण्ड की दूसरी श्रुति में भी है। सर्वश्रुतिसमन्वयकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ श्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ (शा०मी० १।१।२०)के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के दशवें खण्ड की चोथी श्रुति के "घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्ति" इस वाक्य को उद्धृत किया है। हे देवराज इन्द्र यह तुझसे कहा हुआ वाक्य ऐसा ही है अर्थात् सर्वथातुम्हारा कहा हुआ ठीक है। ऐसा सुप्रसिद्ध प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि—इस उक्त आत्मा को ही निश्चय करके फिर भी मैं तुमसे दोष रहित अनु व्याख्यान करूँगा। इससे अन्तःकरण शुद्धि के लिये हे इन्द्र अब तुम बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्य पालन करते हुये यहाँ रहो। आचार्य की इस आज्ञा को पाकर सुप्रसिद्ध उस देवराज इन्द्र ने वहाँ प्रजापति के पास में बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्य से निवास किया। तब प्रजापति ने उस इन्द्र से वक्ष्यमाण ग्यारहवें खण्ड के वचन को कहा। यह उत्तरार्ध वाक्य "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक के नवें खण्ड की तीसरी श्रुति में भी है। शरणागति प्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **मुक्तः प्रतिज्ञानात्** ।(शा० मी० ४।४।२) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के दसवें खण्ड की चौथी श्रुति के "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का दसवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथैकादशखण्डः ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस सुषुप्ति अवस्था में (तत्) वह (एतत्) यह आत्मा (सुप्तः) सोयी हुई (समस्तः) उपसंहृतकरण ग्राम यानी अपने में अवस्थित (सम्प्रसन्नः) बाह्यविषय संपर्कजनित कालुष्यरहित (स्वप्नम्) स्वप्न को (न) नहीं (विजानाति) अनुभव करती है (एषः) यह (आत्मा) प्रत्यगात्मा है (इति) ऐसा (ह) स्पष्ट (उवाच) प्रसिद्ध प्रजापति ने कहा और पुनः यह भी कहा कि (एतत्) यह प्रत्यगात्मस्वरूप (अमृतम्) अमृत है यानी निरतिशय सुखरूप है तथा (अभयम्) भयरहित है यानी दुःख से असंभिन्न है और (एतत्) यह प्रत्यगात्मस्वरूप (ब्रह्म) ब्रह्म है यानी असंकुचित विज्ञानता के द्वारा बृहत्वगुणयुक्त बड़ा है (इति) इस प्रकार आचार्य प्रजापति के वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (सः) वह इन्द्र (शान्तहृदयः) निवृत्त आकाँक्षावाला शान्तहृदय होकर (प्रवव्राज) वहाँ से चला गया परन्तु (ह) प्रसिद्ध (सः) उस देवराज इन्द्र ने (देवान्) देवताओं को (अप्राप्य) नहीं प्राप्त करके (एव) निश्चय करके सुषुप्तात्मा में (एतत) इस वक्ष्यमाण [भयम्] भय को यानी दोष को (ददर्श) देखा किस दोष को देखा वह आगे बतलाया जाता है कि (अह) आश्चर्य है (खलु) निश्चय करके (अयम्) यह सुषुप्त पुरुष (संप्रति) अवस्था सुषुप्ति में (अयम्) यह [अहम्] मैं (अस्मि) हूँ (एवम्) इस प्रकार के (इति) इस (आत्मानम्) अपने को (न) नहीं (जानाति) जानता है और (एव) निश्चय करके (इमानि) इन (भूतानि) प्राणियों को भी (नो) सुषुप्त पुरुष नहीं जानता है इससे विदित होता है कि सुषुप्ति काल में (विनाशम्) विनाश को (आ+इव) अच्छे प्रकार से मानो (अपीतः) प्राप्त (भवति) होता है (इति) इस कारण से (अहम्) मैं (अत्र) इस सुषुप्तात्मा दर्शन में (भोग्यम्) भोग करने योग्य अमृत अभय आदिक को (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ ॥१॥

विशेषार्थ — जिस सुषुप्ति अवस्था में वह यह सोयी हुई आत्मा स्वप्न को न देखती हुई उपसहृत करण ग्राम यानी अपने में अवस्थित और बाह्यविषयसंपर्क जनितकालुष्यरहित पुरुष स्वप्न को नहीं जानती है। यही प्रत्यगात्मा है ऐसा स्पष्ट सुप्रसिद्ध प्रजापति ने इन्द्र से कहा और पुनः यह भी कहा कि यह प्रत्यगात्म स्वरूप अमृत है यानी निरतिशय सुखरूप है। तथा यह प्रत्यगात्म स्वरूप भयरहित है यानी दुःख से असंभिन्न है और यह प्रत्यगात्म स्वरूप ब्रह्म है यानी असंकुचित विज्ञानता के द्वारा बृहत्व गुणयुक्त बड़ा है। इस प्रकार आचार्य प्रजापति

के वाक्य को सुनकर वह सुप्रसिद्ध देवराज इन्द्र निवृत आकाँक्षावाला शान्तहृदय होकर प्रजापति के यहाँ से चला गया। परन्तु सुप्रसिद्ध उस देवराज इन्द्र ने देवताओं के पास बिना पहुँचे ही मध्यमार्ग में निश्चय करके सुषुप्तात्मा में इस आगे कहे जाने वाले दोष यानी भय को देखा। किस दोष को देखा यह आगे साक्षात् श्रुति ही प्रतिपादन करती है— आश्चर्य है कि सुषुप्तपुरुष सुषुप्ति अवस्था में निश्चय करके "यह मैं हूँ" इस प्रकार अच्छी तरह से अपने को नहीं जानता है। और अन्य "इन प्राणियों को" भी नहीं जानता है। इससे विदित होता है कि सुषुप्ति अवस्था में यह आत्मा मानो विनाश को हीप्राप्त हो जाती है। इस कारण से मैं सुषुप्तात्मदर्शन में भोग्य अमृत अभय आदिक को नहीं देखता हूँ। आचार्योपदिष्ट विषय में मैं स्वयं संशय ग्रस्त हो रहा हूँ, देवों को क्या समझाऊँगा। इस कारण से गृह न जाकर पुनः आचार्य के निकट जाना चाहिये। ऐसा मन में विचार कर वे देवराज इन्द्र प्रजापति के निकट चले। प्रत्यगात्मस्वरूपोपदेष्टा भगवद्रामानुजाचार्य ने॥**ज्ञोऽत एव** ॥(शा० मी० २।३।१९) **स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः** ॥ (शा०मी०३। २।९) **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृत हि।** (४।४।१६) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की पहली श्रुति के "नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाह-मत्र भोग्यं पश्यामि" इस वाक्य को उद्धृत किया है ॥१॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तं ह प्रजापतिरुवाच। मघव-न्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति। स होवाच नाहखल्वयं भगव एवं संप्रत्यात्मानं जाना-त्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्रभोग्यं पश्यामीति ॥२॥

अन्वयार्थ (सः) वह देवराज इन्द्र (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लिये हुए (पुनः) फिर (एयाय) आचार्य प्रजापति के समीप में आये (ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रजापति ने (तम्) उस

इन्द्र से (उवाच) कहा कि (मघवन्) हे प्रियदर्शन इन्द्र (शान्तहृदयः) निवृत आकाँक्षा वाला शान्त हृदय होकर (यत्) जो (प्राव्राजीः) यहाँ से तुम चले गये थे तो अब (किम्) क्या (इच्छन्) इच्छा करते हुए (पुनः) फिर (आगमः) आप यहाँ आये (इति) इस आचार्य के वचन को सुनकर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस इन्द्र ने (उवाच) कहा कि (भगवः) हे पूज्यपाद भगवन् अह) आश्चर्य है (खलु) निश्चय करके (अयम्) यह सुषुप्त (संप्रति) सुषुप्ति अवस्था में (अयम्) यह (अहम् मैं (अस्मि) हूँ (एवम्) इस प्रकार के (इति) इस (आत्मानम्) अपने को (न) नहीं (जानाति) जानता है और (एव निश्चय करके (इमानि) इन (भूतानि) प्राणियों को भी (नो) सुषुप्त पुरुष नहीं जानता है इससे विदित होता है कि सुषुप्तिकाल में (विनाशम्) विनाश को (आ + इव) अच्छे प्रकार से मानो (अपीतः) प्राप्त (भवति) होता है (इति) इस कारण से (अहम्) मैं (अत्र) इस सुषुप्तात्मदर्शन में (भोग्यम्) भोग करने योग्य अमृत अभय आदिक को (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ ॥२॥

विशेषार्थ—वे देवराज इन्द्र हाथ में समिधा पुष्प फलादिक ले कर फिर भी अपने आचार्य प्रजापति के समीप में लौट कर आये और श्रीचरणों में भेंट समर्पण कर साष्टाङ्ग प्रणिपात करके नत मस्तक हाथ जोड़ कर खड़ा रहे। तब आये हुए उस देवराज को देख कर परम दयालु प्रजापति ने पूछा कि—हे प्रियदर्शन देवराज इन्द्र तुम तो निवृत्त आकाँक्षा वाला शान्त हृदय होकर यहाँ से चले गये थे तो अब किस इच्छा से पुनः मेरे पास आये हो। आचार्य प्रजापति के इस वचन को सुन कर सविनय देवराज ने कहा कि—हे पूज्यपाद भगवन् आश्चर्य है कि सुषुप्त पुरुष सुषुप्ति अवस्था में निश्चय करके "यह मैं हूँ" इस प्रकार अच्छी तरह से अपने को नहीं जानता है। और अन्य "इन प्राणियों को" भी नहीं जानता है। इससे विदित होता है कि सुषुप्ति अवस्था में यह आत्मा मानो विनाश को ही प्राप्त हो जाती है। इस कारण से मैं इस सुषुप्तात्मदर्शन में भोग्य अमृत अभय आदिक को नहीं देखता हूँ। इस प्रकृत श्रुति का पूर्वार्ध "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के दसवें खण्ड की तीसरी श्रुति में भी पठित है और उत्तरार्ध इस खण्ड की पहली श्रुति में भी पठित है। जीव नित्यवादी भगवद्रामानुजाचार्य ने

ज्ञोऽत एव ॥(शा० मी० २।३।१६) स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधि-

भ्यः ॥ (३।२।९) ॥ स्वाध्यायसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ (४।४।१९) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥२॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति । स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतं संपेदुः । एतत्तद्यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास । तस्मै होवाच ॥३।

॥ इत्यष्टमप्रपाठके एकादशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(मघवन्) हे देवराज इन्द्र (एषः) यह तुमसे कही हुई सुषुप्तात्मा (एवम्) ऐसी (एव) ही है अर्थात् सत्य है (इति) ऐसा (ह) सुप्रसिद्ध प्रजापति ने (उवाच) इन्द्र से कहा कि (एव) निश्चय करके (एवम्) इस उक्त आत्मा को (तु) हो (ते) तुझसे (भूयः) फिर भी (अनुव्याख्यास्यामि) दोषशून्य मैं आगे प्रतिपादन करूँगा (एतस्मात्) इस उक्त आत्मा से (अन्यत्र) दूसरे का (एव) निश्चय करके (नो) नहीं व्याख्यान करूँगा इससे अन्तः करण शुद्धि के लिये (अपराणि) अन्य और (पञ्च) पाँच (वर्षाणि) वर्ष (वस) ब्रह्मचर्य पालन करते हुए यहाँ निवास करो (इति) इस आचार्य की आज्ञा को पाकर (ह) प्रसिद्ध (सः) उस देवराज इन्द्र ने (अपराणि) अन्य और (पञ्च) पाँच (वर्षाणि) वर्ष (उवास) प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य से निवास किया (तानि) वे सब मिल कर (एकशतम्) एक सौ एक वर्ष (संपेदुः) ब्रह्मचर्य के सम्पन्न हुए (तत्) इस कारण से (एतत्) इसको (आहुः) लोक में शिष्ट लोग कहते हैं (यत्) कि (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (मघवान्) देवराज इन्द्र ने (एकशतम्) एक सौ एक वर्ष (प्रजापतौ) आचार्य प्रजापति के निकट (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य पालन करते हुए (उवास) निवास किया तब (ह) प्रसिद्ध प्रजापति (तस्मै) उस निर्मल अन्तःकरण वाले इन्द्र के लिये (उवाच) शुद्धात्मस्वरूप का उपदेश वक्ष्यमाण प्रकार से देने लगे ॥३॥

विशेषार्थ—हे देवराज इन्द्र यह तुम से कहा हुई सुषुप्तात्मा के

विषय में वाक्य ऐसा ही है अर्थात् सर्वथा तुम्हारा कहा हुआ ठीक है। और ऐसा सुप्रसिद्ध प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि—इस उक्त आत्मा को ही निश्चय करके फिर भी मैं तुझ से दोष रहित पश्चात् व्याख्या करूँगा। इससे अन्य का निश्चय करके नहीं व्याख्यान करूँगा किन्तु उसी आत्मा का अनुव्याख्यान करूँगा। इससे अन्तःकरण शुद्धि के लिये हे इन्द्र तुम और पाँच वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करते हुए यहाँ रहो। आचार्य की इस आज्ञा को पाकर सुप्रसिद्ध उस देवराज इन्द्र ने वहाँ प्रजापति के पास में और पाँच वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करते हुए निवास किया। ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा — ॥ **ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादि-रहितत्वम्** ॥ (गीतारामानुजभा०अ० १ १७ श्लो० १४)स्त्रियों में भोग्य बुद्धि करके उनका दर्शन आदि नहीं करना ब्रह्मचर्य कहा जाता है ॥१४॥ वे सब मिल कर एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य के सम्पन्न हुए। इसी लोक में शिष्ट लोग कहते हैं कि देवराज इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य पालन करते हुए एक सौ एक वर्ष निवास किया, तब सुप्रसिद्ध प्रजा-पति ने उस निर्मल अन्तःकरण वाले इन्द्र से वक्ष्यमाण बारहवें खण्ड के वचन को कहा – इस आख्यायिका से यह सूचित होता है कि—बहुत काल तक ब्रह्मचर्य पालन करने से परिशुद्ध अन्तःकरण वाले शिष्य की परीक्षा करके शुद्धात्मस्वरूप का उपदेश देना चाहिये। जीवजीवातु भगवद्रामानुजाचार्य ने—॥ **मुक्तः प्रतिज्ञानात्** । (शा०मी० ४।४।२)के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के ग्यारहवें खण्ड की तीसरी श्रुति के "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ द्वादशखण्डः ॥

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्या-शरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रिया-भ्याम्। न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिर-स्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥१॥

अन्वयार्थ—(मघवन्) हे देवराज इन्द्र (इदम्) यह दृश्यमान (शरीरम्) शरीर (वै) निश्चय करके (मर्त्यम्) मरण धर्म वाला है और यह शरीर (मृत्युना) मृत्यु से (आत्तम्) व्याप्त है अर्थात् सतत विनाशशील है (तत्) एवंभूत वह यह शरीर (अशरीरस्य) कर्मकृतशरीरराहित्यलक्षण (अमृतस्य) अमृतस्वरूप (अस्य) इस (आत्मनः) जीवात्मा का (अधिष्ठानम्) भोगाधिष्ठान है अर्थात् कर्मवश्य जीव से भोगार्थ परिगृहीत है इसी से (वै) निश्चय ही (सशरीरः) शरीर सहित जीवात्मा (प्रियाप्रियाभ्याम्) सुख और दुःख से (आत्तः) व्याप्त है अर्थात् गृहीत है क्योंकि (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध है कि (सशरीरस्य) कर्मारब्धशरीर के संयोग रहते हुए (सतः) सदा विद्यमान जीवात्मा के (प्रियाप्रिययोः) प्रिय और अप्रिय का (अपहतिः) विनास (न) कदापि नहीं (अस्ति) होता है और (वाव) प्रसिद्ध या निश्चय है कि (अशरीरम्) कर्मकृत शरीर रहित होने पर (सन्तम्) विद्यमान जीवात्मा को (प्रियाप्रिये) सुख और दुःख (न) कदापि नहीं (स्पृशतः) स्पर्श करते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—प्रजापति ने देवराज से कहा कि—हे इन्द्र निश्चय करके यह दृश्यमान शरीर मरण धर्म वाला है। केवल मरणधर्मशील ही नहीं है किन्तु यह शरीर मृत्यु से व्याप्त है अर्थात् सतत विनाशशील है। क्योंकि लिखा है— ॥ **अन्तवन्त इमे देहाः** ॥ (गी० अ० २ श्लो० १८) ये सब कर्मानुसार प्राप्त होने वाले शरीर अन्त वाले यानी विनाशशील हैं ॥१८॥ शरीर के विषय में लिखा है— **इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते** ॥ (गी० अ० १३ श्लो० १) हे कोन्तेय अर्जुन यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है ॥१॥ । **महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः** ॥ (गी०अ० १३श्लो० ५) महाभूत अहंकार बुद्धि और अव्यक्त ये शरीर को उत्पन्न करने वाले द्रव्य हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों का नाम महाभूत है । भूतों के आदि कारण का नाम अहङ्कार है । महत्तत्त्व का नाम बुद्धि है और प्रकृति का नाम अव्यक्त है । दस इन्द्रियाँ एकमन पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय ये सोलह शरीर के आश्रित रहने वाले तत्त्व हैं। श्रोत्र, त्वचा चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । वाक्, हाथ, पैर गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । ये दस हैं और एक मन है तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं । इन सब

समुदाय को शरीर कहते हैं ।। ५ ।। एवं भूत विनाशशील वह यह शरीर कर्मकृत शरीरराहित्य लक्षग अमृतस्वरूप इस जीवात्मा की भोगाधिष्ठान है। अर्थात् कर्मवश्य जीव से भोगार्थ परिगृहीत है। यहाँ पर शरीर की अधिष्ठानता तथा आत्मा की अधिष्ठातृता और अशरीर की अमृतत्व-स्वरूपता का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण से निश्चय करके कर्म-कृत शरीर सहित जीवात्मा सुख और दुःख से व्याप्त है अर्थात् गृहीत है। क्योंकि निश्चय यह प्रसिद्ध है कि—कर्मारब्ध शरीर के संयोग रहते हुए सदा विद्यमान जीवात्मा के प्रिय और अप्रियका निवास कभी नहीं होता है। और यह निश्चय करके प्रसिद्ध है कि—कमकृत शरीर से रहित होने पर सदा विद्यमान जिवात्मा को सुख और दुःख कभी नहीं स्पर्श करते हैं और भी लिखा है— **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये** ।। (छां० प्र० ६ खं० १४ श्रु० २) ब्रह्मात्मक अपनी आत्मा को अनुसंधान करने वाले उपासक के मोक्ष होने में तब ही तक देर है कि जब तक प्रारब्ध कर्मारब्ध इस शरीर से छुट नहीं जाता ।। २ ।। प्रकृत श्रुति में स्पष्ट जीवन्मुक्ति का खण्डन किया गया है। जीवन्मुक्ति प्रत्याख्या-नकर्त्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने—**तत्तु समन्वयात्** ।। (शा० मी० १।१।४) **आनन्दमयोऽभ्यासात्** ।। (१।१।१३) **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु** ।। (१।३।१८) **भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्** ।।(२।१।१४) **साम्प-राये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये** ।। (३।३।२७) **अभावं बादरिराह ह्येवम्** ।। (४।४।१०) इन छः सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के बारहवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है ।। १ ।।

अशरीरो वायुः । अभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्ये-तानि । तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योति-रुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्त एवमेवैष संप्रसा-दोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ॥२॥

अन्वयार्थ – (वायुः) वायु (अशरीरः) शिर हस्त पाद आदि लक्षण शरीर शून्य है (अभ्रम्) और अभ्र (विद्युत्) तथा बिजली (स्तनयित्नुः) और मेघगर्जन (एतानि) ये सब (अशरीराणि) शिर पाणि आदिकलक्षण शरीर शून्य हैं (तत्) वह (यथा) जैसे (एतानि) ये वायु अभ्र बिजली और मेघ गर्जन (अमुष्मात्) उस (आकाशत्) आकाश से (समुत्थाय) उठ कर यानी अपने कार्य को करने के लिये ऊर्ध्व देश में अभिवृद्धि को पाकर (परम्) स्वकारण रूप उत्कृष्ट (ज्योतिः) कारण के कार्योत्पादन द्वारा तदभिव्यक्ति हेतु ज्योति को (उपसंपद्य) पाकर कार्यावस्था को छोड़ कर (स्वेन) अपने कारण सदृश (रूपेण) स्वरूप से (अभिनिष्पद्यन्ते) भलीभाँति विशिष्ट हो जाते हैं (एवम्) वैसे ही (एव) निश्चय करके (एषः) यह (संप्रसादः) प्रत्यगात्मा (अस्मात्) इस दृश्यमान (शरीरात्) कर्मकृत शरीर से (समुत्थाय) निकल कर (परम्) मार्ग विशेष से देश विशेष विशिष्ट पर (ज्योतिः) ज्योति परमात्मा को (उपसंपद्य) पाकर संसारी अवस्था को परित्याग करके (स्वेन) अपना यानी परमात्मा के तुल्य (रूपेण) स्वरूप से अभिनि॰ष्पद्यते) आविर्भूत हो जाती है अर्थात् मुक्त हो जाती है ॥ ॰ ॥

विशेषार्थ—वायु हस्त पाद शिर आदिक अवयव वाले शरीर से रहित है। क्योंकि वायु के विषय में लिखा है— **स्पर्शवान्** । (वैशेषि० अ०२आह्नि० १ सू० ४) रूप न हो और स्पर्शवाला हो वही वायु है॥४॥ **शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु** ॥ (महाभारत० वनप० अ० २११ श्लोक ७) शब्द और स्पर्श ये दो गुण वायु में कहे गये हैं ॥ ७ ॥ और अभ्र तथा बिजली और मेघध्वनि ये सब हाथ पैर शिर आदिक अवयव वाले शरीर से रहित हैं। इस श्रुति में "अभ्र" का मेघ अर्थ नहीं है। क्योंकि लिखा है— **अभ्रं भूत्वा मेघो भवति** ॥ (छा० प्र० ५ खं० १० श्रु० ६) अभ्र होकर मेघ होता है॥६॥ अभ्र शब्द से जल धारणावस्था कही जाती है। और मेघ शब्द से वर्षोन्मुखावस्था कही जाती है। इस प्रकार से अभ्र और मेघ में अवस्था भेद है। जिस प्रकार वायु १ अभ्र २ बिजली ३ मेघगर्जन ४ ये चार आकाश से उठ कर स्वकार्य करने के लिये ऊर्ध्व देश में अभिवृद्धि को पाकर स्वकारण रूप उत्कृष्ट कारण के कार्योत्पादन द्वारा तदभिव्यक्तिहेतु ज्योति को पाकर कार्यावस्था को छोड़ कर अपने

कारण सदृश स्वरूप से भलीभाँति विशिष्ट हो जाते हैं। अर्थात् वायु अपने कारण द्रव्य को पाकर आवह प्रवह आदिक सात प्रकार के कार्यावस्था को छोड़ कर केवल वायुत्व मात्र से अवस्थित हो जाती है अभ्र अपने कारण द्रव्य को पाकर अभ्र मेघ आदिक कार्यावस्था को छोड़ कर स्वकारणभूतस्वरूप से अवस्थित हो जाता है। विद्युत् अपने कारण द्रव्य को पाकर चमक दमक विद्युत्त्व आदिक कार्यावस्था को छोड़ कर स्वकारणभूत तेज रूप से अवस्थित हो जाता है तथा मेघगर्जन अपने कारण द्रव्य को पाकर गड़गड़ाहट मेघगर्जनत्व आदिक कार्यावस्था को छोड़कर स्वकारणभूतस्वरूप से अवस्थित हो जाता है उसी प्रकार यह जीवात्मा इस पाञ्चभौतिक दृश्यमान कर्मकृत शरीर से बाहर निकल कर अर्चिरादिमार्गविशेष से देशविशेषविशिष्ट सबसे उत्कृष्ट सर्वप्रकाशक परब्रह्म नारायण को पाकर परमात्मा के सदृश अपने स्वरूप से आविर्भाव हो जाता है यानी मुक्त हो जाती है अर्थात् संसारी अवस्था को परित्याग करके निवृत्त अविद्यातिरोधान हो जाता है। 'परं ज्योतिः' पद से सर्वत्र परब्रह्म नारायण कहा जाता है। क्योंकि लिखा है— **अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते** ।।(छा०प्र०३खं० १३ श्रु० ७) अनन्तर इस अप्राकृतस्थान विशेष द्युलोक के ऊपर जो उत्कृष्ट ज्योति परब्रह्म देदीप्यमान हो रहा है ।।७।।**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** ।। (कठो० अ० २ व० २ श्रु० १५।। मुण्ड० मु० २ खं० २ श्रु० १०।।श्वे० उ० अ० ६ श्रु० १४) उसी परमात्मा के प्रकाश से यह सब जगत् भलीभाँति प्रकाशित होता है ॥१५॥१०॥१४॥ **तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः।** (बृ०उ०अ०६ ब्रा० ४ श्रु० १६) देवताओं ने उस ज्योतियों की परज्योति परमात्मा की उपासना की ।।१६।। मुक्त जीव परमात्मा के समान होता है। क्योंकि लिखा है—**निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति** ।। (मुण्डको० मु० ३ खं० १ श्रु० ३) प्रकृति निर्लेप निर्मल हुआ अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टक लक्षण परब्रह्म को परम समता को प्राप्त कर लेता है ।।३।।**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च** ।। (गी० अ० १४ श्लोक २) इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरी समता को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि काल में उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय काल में व्यथित भी नहीं होते हैं ।। २ ।।

प्रकृत श्रुति में चार दृष्टान्त कहे गये हैं। ये चारों परस्पर भिन्न हैं। ये चारों शरीर रहित इस हेतु कहे गये हैं कि जैसे हम लोगों के हाथ पैर सिर आदिक अवयव जुदा जुदा विदित होते हैं वैसे वायु आदिकों के अवयव ज्ञात नहीं होते हैं। वायु केवल त्वचा के स्पर्श से प्रतीत होती है अन्य इन्द्रियों से नहीं। किन्तु जब उसके वेग से वृक्ष कम्पमान होता है तब उसकी गति नयनगोचर होती है और वृक्ष के शब्द होने पर वायु कर्णगोचर भी होती है ऐसा कह सकते हैं। वायु ही शब्द को भी एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाती है। अन्नादिवत् वायु को खाते हैं। परन्तु प्रतिक्षण खाद्यमान होने पर भी किसी को कुछ स्वाद ज्ञात नहीं होता। इत्यादि विविध गुणों से युक्त वायु है परन्तु अस्मदादिवत् उसका शरीर नहीं दीखता। अज्ञ अविवेकीजन "इसका क्या प्रयोजन है यह कौन पदार्थ है" इत्यादि इसके विषय में अन्वेषण नहीं करते हैं। अभ्र जब आकाश में एकत्रित होता है तो उस समय सावयव पर्वताकार दीख पड़ता है तब फिर इसको अशरीर कैसे कह सकते हैं। जैसे गौ भैंस आदि शरीरधारी पैर से चलते हैं मुख से पीते हैं, नासिका से सूँघते हैं, इत्यादि कर्म शरीर रहते हुए करते हैं तद्वत् वह अभ्र शरीरधारी नहीं है और जब वाष्प हो जाता है तब शरीरवत् प्रतीत नही होता है। इस कारण से इसको अशरीर कहा है। बिजली प्रकाशित तो होती है परन्तु उसका शरीर नहीं दिखता किन्तु उसके पतनादि से उसकी विद्यमानता प्रतीत होती है। इसी प्रकार मेघध्वनि भी कर्णगोचर तो होती है, अन्य इन्द्रिय गोचर नहीं और उसका शरीर भी नहीं दीखता, इस हेतु से ये सब अशरीरी कहे गये हैं। जैसे वायु अभ्र बिजली मेघध्वनि ये चारों अपने कारण को पाकर कहाँ अवस्थित रहते हैं परन्तु उनका अस्तित्व सदा भिन्न ही बना रहता है। अर्थात् उनका स्वरूप किसी न किसी दशा में विद्यमान रहता है। वैसे ही जीवात्मा भी परब्रह्म को पाकर निज-रूप के साथ वर्तमान रहते हुए ही मुक्त हो जाते हैं। परमपुरुषधाम-प्रापक भगवद्रामानुजाचार्य ने ॥ **भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्** ॥ (शा० मी० १।३।४१) । **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु** ॥(१।३।१८) ॥ **ज्योतिर्दर्शनात्** ॥ (१।३।४१) **स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः** ॥(३।२।९)**साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये** ॥ (३।३।२७) ॥ **उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्** ॥ (३।३।३०) ॥ **सम्पद्यावि-**

र्भावः स्वेन शब्दात् ॥ (४।४।१) । मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ (४।४।२) ॥ अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ (४।४।१०) इन नौ सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के बारहवें खण्ड की दूसरी श्रुति के पदों को उद्धृत किया है ॥२॥

स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति । जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा । नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् । स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३॥

अन्वयार्थ— (सः) वह उपसंपदनीय (उत्तमः) उत्तम (पुरुषः) पुरुष परब्रह्म नारायण है (सः) वह उपसपत्ता मुक्तजीव (तत्र) उस परमात्मा में (पर्येति) सब ओर से उसको अनुभव करता है। अथवा सर्वत्र विचरता है (वा) अथवा वह मुक्तजीव (जक्षत्) ब्रह्म की प्राप्ति से हँसता हुआ (वा) अथवा अपने संकल्पमात्र से प्राप्त (स्त्रीभिः) स्त्रियों से (वा) अथवा (यानैः) विविधयानों से और (ज्ञातिभिः) बन्धु बान्धव आदिक ज्ञातियों से (क्रीडन्) क्रीड़ा करता हुआ और (रममाणः) रमण करता हुआ यथेष्ट भोगों को प्राप्त करता है और (उपजनम्) स्त्री और पुरुष के अन्योन्य उपगम से उत्पन्न (इदम्) इस (शरीरम्) प्राकृत शरीर को (न) नहीं (स्मरन्) स्मरण करता हुआ चारो तरफ भ्रमण करता है (यथा) जैसे (आचरणे) गाड़ी में (प्रयोग्यः) घोड़ा या बैल (युक्तः) पाश से युक्त रहता है (एवम्) वैसे ही (एव) निश्चय करके (सः) वह (अयम्) यह (प्राणः) प्राण सहचारी जीवात्मा संसार दशा में (अस्मिन्) इस (शरीरे) शरीर में (युक्तः) कर्मपाशवश से युक्त रहती है ॥३॥

विशेषार्थ—जिसको पाकर मुक्त जीव पूर्णानन्द को प्राप्र करते हैं। वह उपसंपदनीय उत्तम पुरुष परब्रह्म नारायण है। भगवान् ही उत्तम पुरुष हैं। क्योंकि लिखा है—॥ **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥** (गी० अ० १५) श्लो० १७) उत्तम पुरुष तो दूसरा है जो परमात्मा नाम से कहा गया है। और जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण

पोषण करता है। ॥१७॥ **अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य ह्यनादिमध्यान्तमजस्य विष्णोः** ॥ (विष्णुपु० अंश० ५ अध्याय० १७ श्लो० ३३) आदि मध्य और अन्त से रहित एवं जन्म रहित पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् का यह अंशावतार है ॥३३॥ इत्यादि वाक्यों में नारायण पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं। वह उपसंपत्ता मुक्त जीव उस परमात्मा में सब ओर से उसको अनुभव करता है और वह मुक्त जीव परब्रह्म नारायण को पाकर हँसता हुआ तथा अपने संकल्पमात्र से प्राप्त निजधर्मपत्नियों से तथा अनेक प्रकार के यानों से और बन्धु बान्धव आदिक अपनी जातियों से क्रीड़ा करता हुआ और स्मरण करता हुआ यथेष्ट भोगों को प्राप्त करता हैं और स्त्री तथा पुरुष के परस्पर संयोग से उत्पन्न हेय इस दृश्यमान शरीर को अथवा बन्धुजनों के समीप में सोया हुआ कुणप इस शरीर को नहीं स्मरण करता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है। जिस प्रकार घोड़ा या बैल रथ अथवा गाड़ी में पाश से जुता रहता है उसी प्रकार निश्चय करके यह प्राण सहचारी जीवात्मा संसार दशा में कर्मपाशवश से इस शरीर में जुता हुआ है। इस युग्य और शकट के दृष्टान्त से यहाँ पर देह और आत्मा का व्यतिरेक दृढ़ किया गया है। पुरुषोत्तमक्षेत्र में आचार संस्थापक भगवद्रामानुजाचार्य ने— **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु** ॥ (शा० मी० १।३।१८) ॥ **अन्यार्थश्च परामर्शः** ॥ (१।३।१९) ॥ **भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्** ॥ (२।१।१४) ॥ **ज्ञोऽत एव**। (२।३।१९) ॥ **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्** ॥ (२।३।३१) ॥ **स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः** ॥ (३।२।९) ॥ **उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्** ॥ (३।३।३०) ॥ **संकल्पादेव तच्छ्रुतेः** ॥ (४।४।८) इन आठ सूत्रों के श्रीभाष्य में तथा ॥ **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** ॥ (शा० मी० १।१।१) के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के बारहवें खण्ड की तीसरी श्रुति के वाक्यों को उद्धृत किया है ॥३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा

गन्धाय घ्राणम्। अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वाक्। यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर (यत्र) जिसमें (एतत्) यह उपकरण रूप से (अनुविषण्णम्) निबद्ध (चक्षुः) नेत्र (आकाशम्) भली भाँति आलोक को अथवा रूप को प्रकाशित करता है (सः) वह (चाक्षुषः) नेत्रोप करणक (पुरुषः) आत्मा है (दर्शनाय) उस आत्मा के देखने के लिये चक्षुः नेत्र करण मात्र है (अथ) और (यः) जो कोई (इदम्) इस वस्तु को (जिघ्राणि) मैं सूँघूँ (इति) ऐसा (वेद) जानता है (सः) वह (आत्मा) आत्मा है (गन्धाय) उस आत्मा के गन्धग्रहण के लिये (घ्राणम्) घ्राणेन्द्रिय है (अथ) और (यः) जो कोई (इदम्) इस वाक्य को (अभिव्याहराणि) मैं अच्छी तरह बोलूँ (इति) ऐसा (वेद) जानता है (सः) वह (आत्मा) आत्मा है (अभिव्याहाराय) उस आत्मा के अच्छी तरह भाषण के लिये (वाक्) वागिन्द्रिय है (अथ) और (यः) जो कोई (इदम्) इस वचन को (शृणवानि) मैं सुनूँ (इति) ऐसा (वेद) जानता है (सः) वह (आत्मा) आत्मा है (श्रवणाय) उस आत्मा के सुनने के लिये (श्रोत्रम्) श्रोत्रेन्द्रिय है ॥४॥

विशेषार्थ—अब आत्मा का स्वरूप वर्णन किया जाता है कि जिस स्थान में यह उपकरण रूप से निबद्ध नेत्रेन्द्रिय भली भाँति आलोक को अथवा रूप को प्रकाशित करती है वह नेत्रोपकरणक चाक्षुष आत्मा है। उस आत्मा के देखने के लिये नेत्र होता है। यहाँ नेत्रोपकरण उद्देश्य करके पुरुष शब्द से आत्मत्व विधान किया गया है। नेत्र तो आत्मा के देखने के लिये करण मात्र है और जो कोई ऐसा अनुभव करता है कि मैं इस वस्तु को सूँघूँ वह आत्मा है। उस आत्मा के गन्ध लेने के लिये घ्राण होता है और जो कोई ऐसा समझता है कि मैं इस शब्द को बोलूँ वही आत्मा है। उस आत्मा के शब्दोच्चारण के लिये वाणी होती है। और जो कोई ऐसा जानता है कि मैं इस वचन को सुनूँ वह आत्मा है। उस आत्मा के श्रवण करने के लिये श्रोत्र होता है और अन्यत्र लिखा है— **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः** ॥(प्रश्नो० प्र० ४ श्रु० ९) निश्चय करके यह जीवा-

त्मा देखने वाला स्पर्श करने वाला सुनने वाला सूँघने वाला स्वाद लेने वाला मनन करने वाला जानने वाला कर्म करने वाला विज्ञानस्वरूप शरीर में शयन करने वाला पुरुष है ॥६॥ प्रकृत श्रुति में नेत्रादिक का करणत्व तथा रूपादिक का ज्ञेयत्व और आत्मा का ज्ञातृत्व प्रतिपादन किया गया है। मुक्तामुक्तात्मस्वरूपोपदेष्टा भगवद्रामानुजाचार्य ने-- **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु** ॥ (शा० मी० १।३।१८)॥ **ज्ञोऽत एव** ॥(२।३।१९) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के बारहवें खण्ड की चौथी श्रुति को उद्धृत किया है ॥४॥

अथ यो वेदेदंमन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः। स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैता न्कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) अनन्तर अब (यः) जो कोई (इदम्) इस तत्त्व को (मन्वानि) मैं मनन करूँ (इति) ऐसा (वेद) जानता है (सः) वह (आत्मा) आत्मा है (अस्य) इस जीवात्मा के सकलेन्द्रिय विषय मनन साधन होने से (मनः) इन्द्रियों का राजा मन ही (दिव्यम्) दिव्य (चक्षुः) नेत्र है (वै) निश्चय करके (सः) विधूतकर्मनिमित्त शरीरेन्द्रिय वाला वह (एषः) यह जीवात्मा (ब्रह्मलोके) परब्रह्म नारायण के लोक में यानी दहराकाश में (यै) जो (एते) ये पूर्व निर्दिष्ट विषय भोग हैं (एतान्) इन दहराकाश निर्दिष्ट (कामान्) समस्त विषय भोगों को (एतेन) इस (मनसा) मनः शब्द से अभिहित (दिव्येन) स्वाभाविक (चक्षुषा) ज्ञान से (पश्यन्) अनुभव करता हुआ (रमते) रमण करता है यानी क्रीड़ा करता है ॥५॥

विशेषार्थ—और जो कोई ऐसा जानता है कि मैं इस तत्त्व को मनन करूँ वही आत्मा है। इस जीवात्मा के सकलेन्द्रिय विषय मनन साधन होने से मन ही दिव्यनेत्र कहा जाता है। निश्चय करके शरीरेन्द्रिय ग्रामविलक्षण विधूत कर्म निमित्त शरीरेन्द्रिय वाली वह मुक्तात्मा ब्रह्मलोक शब्दित दहराकाशनिष्ठ सम्पूर्ण कामाना करने योग्य विषय भोगों को इस मनः शब्दाभिहित स्वाभाविक ज्ञान से अनुभव करते हुए सर्वदा परब्रह्म नारायण के लोक में रमती है। इस श्रुति में मुक्त जीवात्मा के स्वाभाविक ज्ञान से सर्वकामानुभव का प्रतिपादन किया गया है। अवाप्त

समस्त काम भगवद्रामानुजाचार्य ने—॥ **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु** ॥ (शा० मी० १।३।१८)। **ज्ञोऽत एव**॥ (२।३।१९)॥ **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्** ॥ (२।३।३१)॥ **स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि** ॥ (४।४।१६) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के बारहवें खण्ड की पाँचवीं श्रुति के वाक्यों को उद्धृत किया है ॥५॥

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः। सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति। इति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके द्वादशखण्डः ।

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (देवाः) अग्नि वायु सूर्य आदि सब देवगण (तम्) उसी पूर्वोक्त (एतत्) इस (आत्मानम्) आत्मा की (उपासते) उपासना करते हैं (तस्मात्) उसी कारण से (तेषाम्) उन देवगणों के (सर्वे) संम्पूर्ण (लोकाः) लोक (च) और (सर्वे) समस्त (कामाः) कामनाएँ आत्ताः) प्राप्त होती हैं और (च) चकार से परब्रह्मानुभव प्राप्त होता है (च) और आजकल भी (यः) जो उपासक (तम्) उस (आत्मानम्) आत्मा को (अनुविद्य) शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार जान कर अर्थात् सुन कर (विजानाति) विशेष रूप से उपासना करता है वह उपासक (सर्वान्) संपूर्ण (लोकान्) लोकों को (च) और (सर्वान्) समस्त (कामान्) कामनाओं को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (इति) ऐसा (ह) प्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रजापति ने (उवाच) इन्द्र से कहा (प्रजापतिः) प्रजा के रक्षक प्रजापति ने (उवाच) इन्द्र से कहा ॥६॥

विशेषार्थ—निश्चय करके एतादृश उस आत्मस्वरूप को इन्द्र से सुन कर देवता लोग इस आत्मा की उपासना करते हैं। देवता के विषय में लिखा है— **अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता। वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता**

विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।। (यजु० अ० १४ मं० २०) अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, उन्चास मरुत्देव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव हैं ।।२०।। देवता के विषय में "वार्त्तामाला" की "चूडामणि" टीका में विशेष मैंने लिखा है, अतः यहाँ विशेष मैं नहीं लिखता हूँ। आत्मोपासना के प्रभाव से देवताओं के संपूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त होते हैं और परब्रह्म का अनुभव भी प्राप्त होता है। असुरों को नहीं प्राप्त होता है। आजकल भी जो उपासक उस आत्मा को गुरुमुख से सुन कर विशेषरूप से उपासना करता है वह भक्त सम्पूर्ण लोकों को और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सुप्रसिद्ध प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश दिया। इस श्रुति में "प्रजापतिरुवाच" वाक्य का दो बार उच्चारण प्रत्यगात्मविद्या की और बारहवें खण्ड की समाप्ति की सूचना करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादित करता है। दहरब्रह्मविद्याङ्गभूत प्रत्यगात्मविद्याप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।** (शा० मी० १।१।१) **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।।** (१।३।१८) **अन्यार्थश्च परामर्शः ।।** (१।३।१९) इन तीन सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के बारहवें खण्ड की छठवीं श्रुति के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक का बारहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।७।।

। अथ त्रयोदशखण्डः ।।

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये । अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति ।१।।

।। इत्यष्टमप्रपाठके त्रयोदशखण्डः ।।

अन्वयार्थ—(श्यामात्) श्यामविग्रहविशिष्टस्वरूप परब्रह्म की उपा-

सना करके (शबलम्) चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म की (प्रपद्ये) मैं उपासना करता हूँ और (शबलात्) चेतनविशिष्ट परब्रह्म की तथा अचेतनविशिष्ट परब्रह्म की उपासना करके (श्यामम्) श्यामविग्रहविशिष्टस्वरूप परब्रह्म नारायण की (प्रपद्ये) मैं उपासना करता हूँ इसप्रकार परब्रह्म नारायण की तीन प्रकार की उपासना मैं करता हूँ (अश्वः) घोड़ा (इव) जैसे (रोमाणि) रोओं को झाड़कर निमल हो जाता है वैसे होमैं (पापम्) पाप को (विधूय) परित्याग करके तथा (राहोः) तमः स्वरूप राहु के (मुखात्] मुख से (प्रमुच्य) छूट कर (चन्द्रः) चन्द्रमा के (इव) समान (शरीरम्) प्राकृत शरीर को (धूत्वा) त्याग कर (इति) इस प्रकार के (कृतात्मा) कृतार्थात्मा हो (अकृतम्) नित्य (ब्रह्मलोकम्) परब्रह्म नारायण के लोक को (अभिसंभवामि) मैं भली भाँति प्राप्त होता हूँ (इति) इस प्रकार कृतार्थात्मा हो नित्य परब्रह्म के लोक को (अभिसंभवामि) मैं भली भाँति प्राप्त होता हूँ ॥१॥

विशेषार्थ— "श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छयामं प्रपद्ये" विद्याङ्गभूत ये मन्त्र विद्वानों से जपने योग्य हैं **जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यावाश्रितत्वादिह तद्योगात्** ॥(शा० मी० १।१।३२) के श्री भाष्य में तीन प्रकार के परब्रह्म नारायण की उपासना कही गयी है। उनमें निखिलकारणभूत परब्रह्म के स्वरूप से अनुसन्धान करना। यह एक प्रकार की उपासना है। जैसे कि— **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** ॥ (तैत्ति० उ० व० १ अनु० १ श्रु० १) सत्य यानी निरुपाधिकसत्तायोगी ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार अनन्त यानी देश काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ॥१॥ **आनन्दो ब्रह्म** ॥(तैत्ति० उ० व० ३ अनु० ६ श्रु० १) आनन्दगुण वाला परमात्मा ही ब्रह्म है ॥१॥ इत्यादि स्थलों में स्वरूपानुसंधानरूप ब्रह्म को उपासना है। और निखिलकारणभूत परब्रह्म नारायण के भोक्तृ वर्ग को शरीरकत्वानुसन्धान करना। यह दूसरे प्रकार की उपासना है तथा निखिलकारण भूत परब्रह्म नारायण के भोग्य भोगोपकरण शरीरकत्वानुसंधान करना। यह तीसरे प्रकार की उपासना है। जैसे—**तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं**

च सत्यमभवत् ॥ (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ६ श्रु० १) उस जगत् को रच कर वह परब्रह्म नारायण निश्चय करके पीछे से स्वयं उसी में प्रवेश कर गया। वह परब्रह्म नारायण उस स्थावर जङ्गम जगत् में पीछे से प्रवेश कर के निर्विकार सर्वदा एक रूप रहने वाला चेतन और पूर्व पूर्व अवस्था त्याग करने वाला विकारास्पद अचेतन भी स्वयं ही हो गया। तथा जातिगुणाभिधायिशब्दवाच्य अचेतन और जातिगुणादिकशून्य चेतन तथा अचेतन वर्ग के आधार भूत चेतन और आश्रित अचेतन तथा अजडस्वरूप और जडस्वरूप तथा निर्विकार होने से सत्य चेतन और सर्वथा विकार होने से अनृत अचेतन वर्ग भी वह अजहन्निर्विकारत्व लक्षण स्वस्वभाववाला परब्रह्म ही सत्य हो गया है॥१॥ इत्यादि स्थलों में भोक्तृशरीरकत्वानुसंधानरूप और भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वानुसधान रूप परब्रह्म की उपासना है। प्रकृत छान्दोग्य की श्रुति यहाँ पर स्पष्ट प्रतिपादन करती है कि—श्याम सुन्दर मङ्गलमयविग्रहविशिष्टस्वरूप परब्रह्म को उपासना करके चिदचिद्विशिष्टपरब्रह्मनारायण की मैं उपासना करता हूँ। तथा चेतनविशिष्ट परब्रह्म की और अचेतनविशिष्ट परब्रह्म की उपासना करके श्यामसुन्दरमङ्गलमयविग्रहविशिष्टस्वरूप परब्रह्मनारायण की मैं उपासना करता हूँ। इस प्रकार परब्रह्म नारायण के तीन प्रकार की उपासना मैं करता हूँ। श्यामविग्रहविशिष्टस्वरूप परमात्मा का है क्योंकि लिखा है—**नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा** ॥ (तैत्तिरीयार० प्रपा० १० अनु० ११ श्रु० १२) स्वान्तर्निहितनीलतोयदाभ परमात्मस्वरूप स्वान्तर्निहितनीलतोयदा विद्युत् के समान भास्वर है ॥१२॥ इस श्रुति से स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्याम जलधर के समान विग्रह परमात्मा का है। और चेतन तथा अचेतन परब्रह्म नारायण के शरीर हैं। क्योंकि लिखा है—**यस्य पृथिवी शरीरम्** ॥ (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ३) **यस्यापः शरीरम्** ॥ (४) **यस्याग्निः शरीरम्** (५) **यस्यान्तरिक्षं शरीरम्** ॥ (६) **यस्य वायुः शरीरम्** ॥ (७) **यस्य द्यौः शरीरम्** ॥ (८) **यस्यादित्यःशरीरम्** (९) **यस्य दिशः शरीरम्** ॥ (१०) **यस्य चन्द्रतारकं शरीरम्**। (११) **यस्याकाशः शरीरम्** ॥ (१२) **यस्य तमः शरीरम्** ॥ (१३ **यस्य तेजः शरीरम्** ॥ (१४) **यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्** ॥

(१५) ॥ **यस्य प्राणः शरीरम्** ॥ (१६) ॥ **यस्य वाक् शरीरम्** ॥ (१७) ॥ **यस्य चक्षुः शरीरम्** ॥ (१८) ॥ **यस्य श्रोत्रं शरीरम्** ॥ (१९) ॥ **यस्य मनः शरीरम्** ॥ (२०) ॥**यस्य त्वक् शरीरम्** ॥ (२१) ॥ **यस्य विज्ञानं शरीरम्** ॥ (२२) ॥ **यस्य रेतः शरीरम्** ॥ (२३) जिस परब्रह्म नारायण का पृथ्वी शरीर है ॥५॥ जिसका जल शरीर है ॥४॥ जिसका अग्नि शरीर है ॥५॥ जिसका अन्तरिक्ष शरीर है ॥ ६ ॥ जिसका वायु शरीर है ॥७॥ जिसका दिव्लोक शरीर है ॥ ८ ॥ जिसका आदित्य शरीर है ॥९॥ जिसका दिशा शरीर है ॥१०॥ जिसका चन्द्रमा और तारा शरीर हैं ॥११॥ जिसका आकाश शरीर है ॥ १२ ॥ जिसका तम शरीर है ॥१३॥ जिसका तेज शरीर है ॥१४॥ जिसका सब भूत शरीर हैं ॥१५॥ जिसका शरीर प्राण है ॥१६॥ जिसकी वाणी शरीर है ॥१७॥ जिसका नेत्र शरीर है ॥ १८ ॥ जिसका श्रोत्र शरीर है ॥ १९ ॥ जिसका मन शरीर है ॥२०॥ जिसका त्वक् शरीर है ॥ २१ ॥ जिसका विज्ञान आत्मा शरीर है ॥२२॥ जिस नारायण का वीर्य शरीर है ॥२३॥ और भी लिखा है कि—॥ **यस्य पृथिवी शरीरम् । यस्यापः शरीरम् । यस्य तेजः शरीरम् । यस्य वायुः शरीरम् । यस्याकाशः शरीरम् । यस्य मनः शरीरम् । यस्य बुद्धिः शरीरम् । यस्याहङ्कारः शरीरम् । यस्य चित्तं शरीरम् । यस्याव्यक्तं शरीरम् । यस्याक्षरं शरीरम् । यस्य मृत्युः शरीरम्** ॥ (सुबालोप० खं० ७) जिस परब्रह्म नारायण का पृथ्वी शरीर है । जिसका जल शरीर है । जिसका तेज शरीर है । जिसका वायु शरीर है । जिसका आकाश शरीर है । जिसका मन शरीर है । जिसका बुद्धि शरीर है । जिसका अहङ्कार शरीर है । जिसका चित्त शरीर है । जिसका अव्यक्त शरीर है । जिस नारायण का अक्षर-जीवात्मा शरीर है । जिसका मृत्यु शरीर है ॥७॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि—भोक्तृवर्ग चेतन और भोग्य भोगोपकरण अचेतन परमात्मा के शरीर हैं । "श्यामात्" और "शबलात्" इन पदों में ल्यप् लोप में पञ्चमी विभक्ति है । इस प्रकार तीन प्रकार की उपासना मैं निरन्तर करता हूँ यह इस श्रुति के पहले खण्ड में प्रतिपादन किया गया है । अब आगे शेष श्रुति का अर्थ कहा जाता है कि—घोड़ा जिस प्रकार

अपने रोएँ कँपाने से श्रम और धूलि आदिक को अपने रोम पर से झाड़ कर निमल हो जाता है उसी प्रकार मैं पापों को परित्यागकर यानी झाड़कर तथा तमः स्वरूप राहु के मुख से निकले हुए चन्द्रमा के समान प्राकृत शरीर को त्याग कर कृतार्थात्मा हो नित्य परब्रह्म नारायण के लोक को प्राप्त होता हूँ। इस श्रुति में "राहु" शब्द का अर्थ तमः स्वरूप यानी छाया रूप राहु अर्थ होता है। क्योंकि "सूर्य सिद्धान्त" आदि ग्रन्थों में विस्पष्टरूप से छायाकृत ग्रहण कहा गया है। जैसे कि लिखा है— ॥ **छादको भास्करस्येन्दुरधस्थो घनवद्भवेत् । भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ** । सूर्य सिद्धान्त ॥ सूर्य ग्रहण में चन्द्रमा नीचे स्थित बादल के सदृश सूर्य को ढँक लेता है और चन्द्र ग्रहण में चन्द्र पूर्व की ओर जाता हुआ पृथ्वी की छाया में आ जाता है इससे चन्द्रग्रहण होता है **भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः ॥ प्रग्रहणमतः पश्चान्नेन्दोर्भानोश्च पूर्वाधीत्** ॥ बृहत्संहि० अ० ५ ॥ चन्द्रमा अपने ग्रहण में भूमि की छाया में और सूर्य ग्रहण में सूर्य और पृथ्वी के मध्य में आ जाता है इससे चन्द्रग्रहण और सूर्य ग्रहण होते हैं ॥ ५ ॥ **पूर्वाभिमुखो गच्छन् भूच्छायान्तर्यतः शशी । विशति तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः** । सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय० ॥ जब चन्द्रमा पूर्व की ओर जाता हुआ भूमि की छाया में चला जाता है तब ग्रहण लगता है और जब छाया से निकलता है तब मोक्ष या उग्रहण होता है ॥ **छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः** ॥ (ग्रहलाघव) चन्द्रग्रहण में भूमि की छाया चन्द्रमा को और सूर्य ग्रहण में चन्द्रमा सूर्य को ढँक लेते हैं ॥ अथवा "राहोः शिरः" इस महाभाष्य के प्रयोग से देखने से तथा महापुराणों के परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि नवग्रह में पठित "राहु" नाम का एक असुर है जो सूर्य और चन्द्रमा को समय पर ग्रसित कर ग्रहण का कारण होता है। क्योंकि लिखा है कि—**स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसा विध्यत् । स न व्यरोचत तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपाहन् । स व्यरोचत यद्वै तद्भा अभवत्तद्भासस्य भासत्वम्** ॥ (ताण्ड्य० ब्राह्म० अ० १४ खं० ११ श्रु० १४) निश्चय करके राहु नाम के असुर ने सर्गवाले तम से सूर्य को बेध

क्षिया तत्र सूर्य दीप्ति हीन हो गया। उस प्रकाशरहित सूर्य के तम को अग्नि ने अपने तेज से नष्ट कर दिया। तब वह सूर्य फिर भी विशेष दीप्तमान् हुआ निश्चय करके जो वह सूर्य का प्रकाश हुआ वही भास का भासत्व है ॥१४॥ **॥ स्वर्भानु ह वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध। स तमसा विद्धो न व्यरोचत तस्य सोम रुद्रावेवैतत्तमोऽपाहताम् ॥** (शतपथ ब्राह्म०) निश्चय करके सुप्रसिद्ध असुर सर्गवाले राहु ने तम से सूर्य को वेध दिया। तब तम से विद्ध वह सूर्य कान्तिहीन हो गया। उस दीप्तिहीन सूर्य के तम का विनाश सोम और रुद्रदेव ने ही किया ॥ और भी लिखा है—**राहुः सिंहलदेशजश्च निऋ्ऱतिः कृष्णाङ्ग-शूर्पासनो यः पैठीनसिगोत्रसम्भवसमिद्दूर्वामुखो दक्षिणः। यः सर्पाद्यधिदैवते च निऋ्ऱतिः प्रत्याधिदेवः सदा षट्त्रिस्थः शुभकृच्च सिंहिकसुतः कुर्यात्सदा मङ्गलम् ॥** (नवग्रहमङ्गलस्तो० श्लोक ८) निऋ्ऱति कोण में स्थित सिंहल देश में उत्पन्न काला शरीरवाला काले सूप के आसन पर दक्षिणाभिमुख बैठा हुआ पैठीनसिगोत्र में उत्पन्न सिंहिका का पुत्र दूर्वा समिधा वाला और सर्प अधिदेवता वाला तथा निऋ्ऱति प्रत्यधिदेवता वाला और छठवें तीसरे स्थान में रह कर शुभ करने वाला जो राहु वह है गह सर्वदा सबका मङ्गल करे ॥८॥ प्रकृत इस श्रुति में "अभिसंभवामीति" वाक्य का दो बार उच्चारण खण्ड की समाप्ति का सूचान करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितताका भी प्रतिपादन करता है। त्रिविध उपासनाप्रवर्तकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ने**आकाशोऽर्थान्त-रत्वादि व्यपदेशात् ॥** (शा०मी० १।३।४२) **हानौ तूपायनशब्दशेषत्वा त्कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥** (३।३।२६) **तदापीतेस्संसार व्यपदेशात्।** (४। ।८)**न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ॥** (४।३।१३) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के तेरहवें खण्ड की पहली श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योप-निषद्" के अष्टम प्रपाठक का तेरहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ चतुर्दशखण्डः ॥

आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरात-

द्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा। प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये। यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम्। यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः। श्वेतमदत्कमदत्कं श्वेतं लिन्दु माऽभिगां लिन्दुमाऽभिगाम् ॥१॥

॥ इत्यष्टमप्रपाठके चतुर्दशखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके श्रुतियों में (आकाशः) आकाश नाम से (ह) प्रसिद्ध परमात्मा (नामरूपयोः) नाम और रूप का (निर्वहिता) व्याकर्ता है (यत्) जो आकाश शब्दित पर ब्रह्म के (अन्तरा) मध्य में वर्तमान (ते) वे नाम रूप हैं परन्तु नाम और रूप से अस्पृष्ट यानी अर्थान्तरभूत परमेश्वर है (तत्) वह (ब्रह्म) निरुपाधिक बृहत्त्वगुणयुक्त होने से ब्रह्म है और (तत्) वह (अमृतम्) निरतिशय सुखस्वरूप अमृत है (सः) वही (आत्मा) सर्वव्यापक परमात्मा है (प्रजापतेः) सब प्रजाओं के पालक परब्रह्म नारायण के (सभाम्) सभा (वेश्म) मण्डप को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त होता हूँ (यशः) यशः साधनभूत आत्मा (अहम्) मैं (भवामि) होऊँ (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के (यशः) यश के साधनभूत आत्मा मैं हूँ तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों के (यशः) यश के साधनभूत आत्मा मैं हूँ और (विशाम्) वैश्यों के (यशः) यश के साधनभूत आत्मा मैं हूँ (अहम्) मैंने (यशः) यशोरूप परमात्मा को (अनुप्रापत्सि) उपासना के पश्चात् प्राप्त किया है अर्थात् साक्षात्कार किया है इससे (सः) वह परमात्मरूप (अहम्) मैं (ह) प्रसिद्ध [यशसाम्) यशस्वरूप जावात्माओं के (यशः) यश यानी आत्मा हूँ (श्वेतम्) शुक्लधातु को (अदत्कम्) दन्तहीन होता हुआ भी (श्वेतम्) शुक्ल सत्त्वगुण को (अदत्कम्) भक्षण करने वाला (लिन्दु) स्त्रीलिङ्ग योनि को (मा) मत [अभिगाम्) मैं प्राप्त होऊँ (लिन्दु) स्त्री चिह्नयोनि को (मा) मत (अभिगाम्) मैं प्राप्त होऊँ ॥१॥

विशेषार्थ—निश्चय करके श्रुतियों में आकाश नाम से सुप्रसिद्ध परब्रह्म नारायण नाम और रूप का व्याकर्ता है। क्योंकि लिखा है—

॥ अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥

[छां० उ० प्र० ६ खं० ३ श्रु० २) मैं इस जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश

करके नाम और रूप को विशेष रूप से प्रकाशित करूँ ॥२॥ ॥ **तस्मादेतद ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते** । (मुण्डको० मु० १ श्रु० १०) उस सृष्टि के सन्मुख परब्रह्म से यह भोग्य भोक्तृरूप चेतनाचेतन संघात लक्षण अव्याकृत ब्रह्म साक्षात् उत्पन्न होता है और तद्द्वारा हरि नारायणादि नाम तथा श्याम गौर इत्यादिरूप उत्पन्न होता है तथा नाम रूप के समान अन्न यानी भोग्य भोक्तृ रूप उत्पन्न होता है ॥१०॥ ॥ **सर्वाणि रूपाणि विचित्यधीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते** ॥ (तैत्तिरीयपुरुषसूक्त० मं० १६, महावाक्योपनि० पारमात्मिकोपनि०, चित्युपनिष०) सबकी बुद्धि में रमण करने वाला वह परब्रह्म नारायण सृष्टि के आरम्भ में समस्त रूपों की रचना करके उनका नाम रखता है और उन्हीं नामों से व्यवहार करता हुआ सर्वत्र जो विराजमान होता है ॥१६॥ इन श्रुतियों में सकल जगन्निर्माण धुरन्धर परमेश्वर का ही नाम और रूप के निर्वोढत्वका प्रतिपादन किया गया है। "आकाशो ह वै" के स्थान में "आकाशो वै नाम" ऐसा भी पाठ भेद है। अर्थ दोनों का ही लगभग समान है। जो आकाश शब्दित परब्रह्म नारायण नाम और रूप के मध्य में वर्तमान है तौभी नाम तथा रूप से स्पृष्ट नहीं हैं, अर्थात् अर्थान्तरभूत परब्रह्म नारायण है। वही नाम और रुप काव्याकर्ता निरुपाधिक बृहत्व गुणयुक्त होने से ब्रह्म है। वही अमृत है यानी निरतिशय सुखस्वरुप है। वही सर्वव्यापक परमात्मा है। सब प्रजाओं के रक्षक के सभामण्डप को मैं प्राप्त होता हूँ। यहाँ प्रजापति शब्द परब्रह्म नारायण का वाचक है। और भी सभामण्डप के विषय में लिखा है— । **प्रभुविमितं हिरण्मयम्** ॥ (छां० उ०) प्र० ८ खं० ५ श्रु० ३) प्रभु-भगवान करके विशेष रूप से स्वभोगभूमि रूप से परिगृहीत सुवणमय मण्डप है।।३।। **स आगच्छति विभुप्रमितम्** ॥ (कौषीतकिब्राह्मणोप० अध्या० १ श्रु० ५) वह मुक्तात्मा "अपराजित" महानगर में "विभुप्रमित" नाम के सभामण्डप को अच्छी तरह प्राप्त करता है ॥५॥ "सभा" शब्द का अर्थ यह होता है कि— ॥ **भातीति भा** ॥ जो सर्वदा द्योतित हो उसे "भा" कहते हैं। अर्थात् प्रकाश तेज आदिक का नाम "भा" है। "भया सह वर्तत इति "सभा" उस "भा" के साथ जो रहे उसे "सभा" कहते हैं। अथवा

"सम्यग् भातीति सभा" जो अच्छी तरह से भासित हो उसे "सभा" कहते हैं। या "सह भान्ति यत्र सा सभा" जिसमें सब मुक्त जीव साथ शोभित हों उसे सभा कहते हैं। इत्यादि इसकी अनेक व्युत्पत्ति है। उस श्रुति के आगे के वाक्य में "यशः" पद से यश का साधनभूत आत्मा कही जाती है। और "अहम्" पद से स्वान्तर्यामी परमात्मा कहा जाता है। यश के साधनभूत आत्मा मैं सर्वान्तर्यामी होऊँ। ब्राह्मणों के यश का साधनभूत आत्मा मैं सर्वान्तर्यामी होऊँ। क्षत्रियों के यश का साधनभूत आत्मा मैं सर्वान्तर्यामी होऊँ और वश्योंके यश का साधनभूत आत्मा मैं सर्वान्तर्यामी होऊँ। मैंने यशः स्वरूप परब्रह्म नारायण को आत्मयतया अहं बुद्धि करके प्राप्त किया है अर्थात् परब्रह्म का साक्षात्कार किया है। इस कारण से वह परमात्मरूप सर्वान्तर्यामी मैं यशः स्वरूप जीवात्माओं का यश यानी आत्मा हूँ। इस प्रकार कहता हुआ प्रभु से प्रार्थना करे कि हे भगवन् आपकी कृपा से शरीर के श्वेत धातु को दन्त रहित तथापि श्वेत यानी निर्मल सत्त्वगुण को भक्षण करने वाला स्त्रीलिङ्ग-योनि को मैं न प्राप्त होऊँ। इस श्रुति में पहला "श्वेत" शब्द शरीर का शुक्ल धातु वाचक है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि रेतस् दधि के समान चिकना और सफेद होता है। और पहला "अदत्क" शब्द दन्त शब्द से निष्पन्न होता है जो "दत्क" न हो वह "अदत्क" अर्थात् दन्तहीन यह अर्थ होता है। तथा दूसरा "श्वेत" शब्द शुक्लसत्त्वगुण वाचक है। सत्त्वगुण ही सफेद होता है। क्योंकि लिखा है—॥ **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्** ॥ (तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनु० १० श्रु० ५) अपने समान बहुत सन्तति को उत्पन्न करने वाली लाल सफेद काले रङ्ग वाली त्रिगुणमयी एक अजन्मा प्रकृति को ॥ ५ ॥ ॥ **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः** ॥ (श्वे० उ० अ० ४ श्रु० ५) अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय बहुत से भूत समुदायों को रचने वाली तथा लाले सफद और काले रंग की अर्थात् त्रिगुणमयी एक अजन्मा अनादि प्रकृति को ॥५॥ ॥ **तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्** ॥ (गी० अ० १४ श्लो० ६) उन तीन गुणों में सत्त्वगुण निर्मल होने के

कारण प्रकाशक है और रोग रहित है ।।६।। इससे सिद्ध होता है कि—सत्त्वगुण श्वेत होता है। और दूसरा "अदत्क" शब्द अद भक्षणे धातु से बना है। इससे इसका भक्षण करने वाला अर्थ होता है। इस श्रुति में "लिन्दु माऽभिगाम्" वाक्य का दो बार उच्चारण जप करने योग्य इस प्रकार के मन्त्र का और चौदहवें खण्ड की समाप्ति का सूचना करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है। जपयज्ञकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य ने—॥ **आकाशस्तल्लिङ्गात्** ।। (शा०मी०अ०१पा०१ सू० २३) ॥ **आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्** ।।(१।३।४२) ।। **विशेषितत्वाच्च** ।(४।३।७) ।। **न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः** ॥ (४।३।१३) इन चार सूत्रों के श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के चौदहवें खण्ड की पहली श्रुति के पदों को उद्धृत किया है। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक का चौदहवाँ खण्ड समाप्त हो गया ।।१।।

।। अथ पञ्चदशखण्डः ।।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः । आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेण । अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः । धार्मिकान्विदधत् । आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः । स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते । न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।।१।।

अन्वयार्थ – (ह) प्रसिद्ध (ब्रह्मा) चतुर्मुख ब्रह्मा ने (तत्) उस (एतत्) इस पूर्वोक्त उपनिषद् सम्बन्धी ब्रह्मविज्ञान को (प्रजापतये) कश्यप नाम के प्रजापति के लिये (उवाच) उपदेश दिया और (प्रजापतिः) प्रजापालक कश्यप ऋषि ने (मनवे) मनु के लिये उपदेश दिया तथा (मनुः) मनु ने (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये उपदेश दिया (गुरोः) गुरु की (कर्मातिशेषेण) शुश्रूषा गोचारण आदि कर्तव्य कर्म से अवशिष्ट-काल करके (यथाविधानम्) विधि पूर्वक (आचार्यकुलात्) आचार्यकुल

से (वेदम्) वेद को (अधीत्य) पढ़कर (अभिसमावृत्य) आचार्य की आज्ञा से समावर्तन संस्कार करके गुरुकुल से लौटकर न्याय से विवाह कर (कुटुम्बे) अपने कुटुम्ब में स्थित होकर गृहस्थोचित विहितकर्मनिष्ठ रहता हुआ (शुचौ) पवित्र (देशे) स्थान में (स्वाध्यायन्) स्वाध्याय वेद को (अधीयानः) पढता हुआ और नित्य कर्मो का अनुष्ठान करता हुआ तथा (धार्मिकान्) पुत्र शिष्य आदिक मनुष्यों को धार्मिक (विदधत्) करता हुआ (सर्वेन्द्रियाणि) सब इन्द्रियों को अनात्मविषयों से निग्रह कर (आत्मनि) आत्मा में (संप्रतिष्ठाप्य) भली भाँति स्थापित कर (तीर्थेभ्यः) शास्त्र की आज्ञा से (अन्यत्र) अन्यत्र (सर्वभूतानि) समस्त स्थावर जङ्गम प्राणियों की (अहिंसन्) हिंसा न करता हुआ जो प्रपन्न (यावदायुषम्) आयुकी समाप्तिपर्यन्त (एवम्) इस पूर्वोक्त इस पूर्वोक्त प्रकार से (वर्तयन्) बरतता हुआ रहता है (सः) वह प्रपन्न जन अन्त में (खलु) निश्चय करके (ब्रह्मलोकम्) परब्रह्म नारायण के लोक को (अभिसम्पद्यते) भली भाँति प्राप्त होता है (च) और (पुनः) फिर (न) नही (आवर्तते) वहाँ से वह मुक्त जीव लौटता है (च) और पुनः) फिर (न) नहीं (आवर्तते) परब्रह्म के लोक से वह मुक्त जीव लौटता है ॥१॥

विशेषार्थ—अब इस ब्रह्मविज्ञान की परम्परा को प्रतिपादन करती हुई इस उपासना के फल को साक्षात्करुणामयी श्रुति कहती है कि–सुप्रसिद्ध चतुर्मुखब्रह्मा ने इस पूर्वोक्त छान्दोग्योपनिषद् संबन्धी ब्रह्मविज्ञान को कश्यप नाम के प्रजापति से कहा और कश्यप नामक प्रजापति ने इस से इस रहस्य विज्ञान को कहा। इस प्रकार सत्संप्रदाय परम्परा ब्रह्मविज्ञान को मनु से कहा तथा मनु ने अपनी प्रजाओं से कहा इसतरह आता हुआ यह विज्ञान आचार्यों के द्वारा आज तक भी प्रचार किया जाता है। ब्रह्मा के विषय में लिखा है **ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् श्येनोगृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्** ॥ (ऋ० अष्ट० ६ अध्या०) ६८ वर्ग० ६ ॥ कृष्णय० तैत्तिरीयार० प्रपा० १० अनु० १० श्रु० ४॥ देवताओं के सर्वदेवनियन्तृत्वशक्ति विशिष्ट चतुर्मुख ब्रह्मा तथा कवियों के मार्ग तथा विप्रों के तप की महिमा से सर्व विप्रातिशायि विलक्षण शक्ति संपन्न ऋषि तथा मृगों के महिष और गृध्रों के श्येन तथा वनों के वज्र सोम यानी परब्रह्म नारायण पवित्र माने सुदर्शन को अधिक प्राप्त करते हैं ॥६॥४॥ **भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा**

स्पर्धितुंकः । (अथर्व० कां० १९सू० २३ मं० ३०) सब प्राणियों में ब्रह्मा सबसे पहले उत्पन्न हुआ है उस ब्रह्मा से स्पर्धा करने के लिये कौन समर्थ है ।।३०।। **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव** ।। (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० १) चतुर्मुख ब्रह्मा इन्द्रादि सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ ।।१।। **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्** ।। (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ४) जो परब्रह्म नारायण सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है ।।४।। **हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्** ।। (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० १८) परब्रह्म नारायण ने सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया ।।१८।। **नारायणाद्ब्रह्मा जायते** ।। (नारायणो० श्रु० १)नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होता है ।।१।। **तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः** ।। (मनु० अ० १ श्लोक ९) वह बीज सुवर्ण के सदृश पवित्र और सूर्य के समान प्रभाववाला नारायण की इच्छा से अण्डाकार हो गया उसमें स्वयं सब लोक का पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ।।९।। ब्रह्मा चक्राङ्कित हैं और परब्रह्म नारायण के शिष्य हैं । क्योंकि लिखा है— **एवमुक्त्वा विधातारं देवदेवो हरिः पिता । स्वचक्रेणाङ्कयित्वा तु तस्मै मन्त्रं ददौस्वयम्** ।।(पद्मपु० खं० ६ अ० २२३ श्लोक ६८) इस प्रकार कहकर देवाधिदेव परम पिताश्रीमन्नारायण देवने ब्रह्मा को अपने चक्र से अङ्कित कर उस चतुर्मुख ब्रह्मा के लिये मन्त्ररत्न को स्वयं निर्हेतुक दया से दिया ।।६८।। **तेने ब्रह्म हृदाय आदिकवये** ।। (श्रीमद्भा०स्कं० १ अ० १ श्लो० १) जिस नारायणने हृदयसे आदि कविब्रह्माकेलियेब्रह्मविज्ञानका विस्तार किया ।।१।। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि–लक्ष्मीनाथ से ही ब्रह्मविज्ञान की परम्परा प्रारम्भ होती है । इस प्रकार इस रहस्य की परम्परा वर्णन करके अब विद्या के अङ्गभूत कर्म अनुष्ठान करने योग्य है इस विषय का प्रस्ताव किया जाता है । गुरु की शुश्रूषा गोचारणादि कर्तव्य कर्म से अवशिष्ट काल करके नियमानुसार विधिपूर्वक आचार्य कुल से वेद का अध्ययन करके तत्पश्चात् गुरु को आज्ञासे समावर्तन संस्कार कर गुरुकुल से लौट कर शास्त्रानुसार विवाह कर अपने कुटुम्ब के साथ गृहस्थोचित विहित कर्म करता हुआ गृहस्थाश्रम में स्थित होता है । क्योंकि लिखा है-

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ॥ (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ११ श्रु० १) आचार्य के लिये प्रिय धन को लाकर दो फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करकेसन्तान परम्पराको तुम मत तोड़ना ॥१॥ फिर पवित्र स्थान में वेदों को पढ़ता हुआ तथा नित्य कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ पुत्र एवं शिष्य आदिक मनुष्यों को सदुपदेश से धार्मिक बना कर अपने समस्त इन्द्रियों को अनात्म विषयों से निग्रह कर आत्मा में अच्छी तरह से स्थापित करे। और शास्त्र का आज्ञा से अन्यत्र सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम प्राणियों को हिंसा न करता हुआ जोभक्त आयु की समाप्ति पर्यन्त इस पूर्वोक्त प्रकार से इस संसार में बरतता हुआ रहता है तो देहान्त में वह प्रपन्ननिश्चयही परब्रह्म नारायण के लोक को प्राप्त होता है और फिर वहाँ से वह कभी नहीं लौटता है। क्योंकि लिखा है— **मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥**(गी० अ० ८ श्लोक १५)**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥** १६) मुझको प्राप्त होकर परमसंसिद्धि को पाये हुए महात्मा लोग दुःखों के घररूप अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते ॥१५॥ हे अर्जुन ब्रह्मभुवन से लेकर सभी लोक पुनरावृत्ति शील हैं। हे कुन्तीपुत्र मुझे पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता है ॥१६॥ **अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात् ॥** (शा० मी० ४।४।२२)मुक्तात्मा फिरनहीं लौटती है, शब्द प्रमाण से जाना जाता है मुक्तजीव फिर नहीं लौटता है, शब्द प्रमाण से जाना जाता है ॥२२॥ आचार्य और गुरु के विषय में लिखा है— **आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तोविमत्सरः । योगज्ञोयोगनिष्ठश्चसदा योगात्मकः शुचिः । गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः । एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ गशब्दस्त्वन्धकारःस्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकार निरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ गुरुरेव परं ब्रह्मगुरुरेव परा गतिः । गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परायणम् ॥ गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम् । यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ॥** (अद्वयतारको-पनि०) जो वेद पढ़ा हो तथा विष्णु का भक्त हो और मत्सर रहित हो तथा योग को जानने वाला हो और योगनिष्ठ हो तथा सर्वदा योगात्मक

हो और पवित्र हो। तथा अपने गुरु का भक्त हो और पुरुष को विशेष रूप से जानने वाला हो तो इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं। 'गु' कहते हैं अन्धकार को तथा 'रु' कहते हैं प्रकाश को तो जो अविद्या रूप अन्धकार को ज्ञानरूप सदुपदेश के प्रकाश से दूर करता है उसको गुरु कहते हैं। गुरु ही परब्रह्म हैं तथा गुरु ही परागति है। गुरु ही परा विद्या हैं और गुरु ही श्रेष्ठ स्थान हैं। गुरु ही पराकाष्ठा हैं और गुरु हो श्रेष्ठ धन हैं क्योंकि तत्त्वज्ञान को उपदेश देने वाले वे हैं, इससे सबसे श्रेष्ठ गुरु ही हैं॥ **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाच्युतः। न गुरोरधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते।** (योगशिखोप० अ० ५ श्रु० ५६) **दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्॥ पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्** (५७) **यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः। पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥**(५८) गुरु ब्रह्मा हैं गुरु विष्णु हैं गुरुदेव सदा अच्युत हैं। तीनों लोकों में गुरु से अधिक कोई नहीं है॥५६॥ दिव्य ज्ञान के उपदेश देने वाले परमेश्वररूप आचार्य की जो पराभक्ति सेपूजाकरता है, उसकोज्ञान का फल प्राप्त होता है॥५७॥ जैसा गुरु वैसा ही परमात्मा और जैसा परमात्मा वैसा ही गुरु अर्थात् गुरु और परमात्मा इन दोनों में भेद नहीं है इससे बड़ी भक्ति से श्रीगुरुदेवजी की पूजा करनी चाहिये॥५८॥ **कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद्दृढम्। अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्॥** (योगशिखोप० अ० ६ श्रु० ७९) कर्णधार गुरु को पाकर और गुरु के वाक्य को दृढ़ जहाज करके अभ्यास की वासना की शक्ति से संसार सागर को मुमुक्षु लोग पार कर जाते हैं॥७९॥ **गुरुः साक्षादादिनारायणः पुरुषः** (त्रिपाद्विभूतिमहानारा० उ० अ० ८) गुरु साक्षात् आदि नारायण पुरुष हैं॥८॥ **तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह। शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि॥** (ब्रह्मविद्योप० श्रु० २७) **तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः॥** (२८) **गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः॥** (३०)**गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥** (३१) गुरु की सेवकता परा प्रज्ञा के साथ सर्वदा शिष्य करे। पृथ्वी

में गुरु जो शुभ या अशुभ कुछ भी कहे ॥ २७ ॥ सन्तोष से संयुक्त शिष्य उसको बिना बिचारे करे ॥२८॥ मनुष्य अधिक कल्याण के लिये गुरु की भक्ति सदा करे ॥३०॥ गुरु ही साक्षात् परब्रह्म नारायण हैं अन्य नहीं हैं ऐसा श्रुति कहती है ॥३१॥ **दण्डवत्प्रणमेदभूमावुपेत्य गुरुमन्वहम् । दिशे चापि नमस्कुर्याद्यत्रासौ वसति स्वयम् ॥** (भारद्वाजसं० अ० ३ श्लोक ८२) **आचार्यायाहरेदर्थानात्मानं च निवेदयेत् । तदधीनश्च वर्तेत साक्षान्नारायणो हि सः ॥** (८३) **प्रक्षाल्य चरणौ पात्रे प्रणिपत्योपयुज्य च । नित्यं विधिवदर्घ्याद्यैरादतोऽभ्यर्चयेद् गुरुम् ॥** (८६) नित्य ही अपने गुरु को पृथ्वी में स्वयं दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम किया करे यदि आचार्य किसी अन्य स्थान में हों तो उस स्थान की दिशा को दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम नित्य प्रति स्वयं करना चाहिये ॥ ८२ ॥ आचार्य के लिये धन लावे और आत्मसमर्पण करे तथा उन्ही के अधीन होकर रहे क्योंकि आचार्य साक्षात् नारायण हैं ॥८३॥ नित्य प्रति श्रीगुरु के चरणारविन्द को पात्र में धोकर श्रीपादतीर्थ पान करे और श्रीचरणों को साष्टाङ्ग प्रणिपात करके आदर के सहित अर्घ्य पाद्य आदि उपचारों के द्वारा पूजन करे ॥८६॥ **योऽसौमंत्रवरं प्रादात्संसारोच्छेदसाधनम् प्रतीच्छेद्गुरुवर्यस्य तस्योच्छिष्टं सुपावनम् ।** (भारद्वाजसं० अ० ३ श्लोक ९३ जिन आचार्यों ने संसार के बन्धन को छुड़ा देने वाले श्रेष्ठ मन्त्ररत्न का उपदेश दिया है उन श्रेष्ठ आचार्यों के अत्यन्त पवित्र उच्छिष्ट भोजन की प्रतीच्छा करे, दूसरे का उच्छिष्ट भोजन कभी न करे ॥९३॥ **गुरुणामन्तिमतिथौ जन्मर्क्षे श्रवणेऽपि वा । हरिमभ्यर्चयेद्भक्त्या तद्भक्तांश्च विशेषतः ॥** (भारद्वाजसं०अ०४श्लोक८९) आचार्य के मरण की तिथि के दिन और आचार्य के जन्म नक्षत्र के दिन भक्ति से लक्ष्मीनारायण भगवान् का और भागवतों का पूजन विशेष रूप से भलीभाँति करना चाहिये ॥८९॥ **आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ।** श्रीमद्भा०स्क०११ अ० १७ श्लोक २७) आचार्य को परब्रह्म नारायण समझे कभी असूया न करे क्योंकि सर्वदेवमय गुरु हैं । ॥ २७ ॥ प्रकृत

श्रुति में "तीर्थ" शब्द शास्त्रविधि वाचक है। क्योंकि लिखा है—॥ **तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु।** (कोश) तीर्थ शब्द शास्त्र १ यज्ञ २ क्षत्र ३ उपाय ४ उपाध्याय ५ और मंत्री ६ में प्रयुक्त होता है॥ वैदिकसार्वभौम भगवद्रामानुजाचार्य ने— ॥ **तद्वतो विधानात्** ॥ (शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ६) ॥ **अध्ययनमात्रवतः** ॥ (३।४।१२) **कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः** ॥ (३।१।४७) ॥ **आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्** ॥(४।१।१२)॥ **अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्।** (४।४।२२) इन पाँच सूत्रोंके श्रीभाष्य में "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की पहली श्रुति के पदों को उद्धृत किया है। इस श्रुति में "न च पुनरावर्तते" वाक्य का दो बार उच्चारण साङ्ग ब्रह्मविद्या की समाप्ति का सूचना करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन करता है॥१॥

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथोबलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम्। मा मा ब्रह्मनिराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥२॥

इत्यष्टमप्रपाठके पञ्चदशखण्डः॥

॥ इतिच्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमप्रपाठकः समाप्तः॥

॥ इतिच्छान्दोग्योपनिषद् समाप्ता।

अन्वयार्थ—(मम) मेरे (अङ्गानि) संपूर्ण अङ्ग (वाक्) वाणी (प्राणः) प्राण (चक्षुः) नेत्र (श्रोत्रम्) कान (च) और (सर्वाणि) सब (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (अथो) तथा (बलम्) बल (आप्यायन्तु) परिपुष्टि एवं वृद्धि को प्राप्त हों (सर्वाम्) समस्त (ब्रह्मोपनिषदम्) परब्रह्म प्रतिपादिका उपनिषद् के प्रति (अहम्) मैं (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण को (मा) नहीं (निराकुर्याम्) अस्वीकार करूँ और (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण (मा) मुझको (मा) नहीं (निराकरोत्) परित्याग करे (अनिराकरणम्) पर-

मात्मा का और मेरा परस्पर अटूट सम्बन्ध (अस्तु) हो (उपनिषत्सु) उपनिषदों में प्रसिद्ध (ये) जो शान्ति दान्ति आदिक (धर्माः) धर्म हैं (ते) वे सब (तदात्मनि) उस आत्मज्ञान में (निरते) लगे हुए (मयि) मुझ में (सन्तु) हों (ते) वे सब (मयि) मुझमें (सन्तु) हों ॥२॥

विशेषार्थ—गुरु और शिष्य के शास्त्रीय नियम प्रमाद से अतिलंघन करने के द्वारा होने वाले दोष की शान्तिकेलिये यह शान्तिपाठश्रुतिस्वतः उपदेश देती है कि—हे श्रीमन्नारायण मेरे सारे अङ्गवाणी नेत्र श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियां प्राण समूह शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धि को प्राप्त हों। इन्द्रियों के विषय में लिखा है—॥ **ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः ॥** (वराहोप० अ० १ श्रु० २)॥ **कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्रयादयः क्रमात् ॥३॥** श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥२॥ और वाणी, पाणि, पाद पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥३॥ प्राणादिक के विषय में लिखा है—। **प्राणादयस्तु पञ्चैव पञ्च शब्दादयस्तथा ॥**(वराहो०अ० १श्रु० ३)**मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥ ४॥** प्राण, अपान, उदान और व्यान ये प्राणादिक पाँच हैं और, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श येपाँच मात्रायें हैं ॥३॥ मन, बुद्धि अहङ्कार और चित्त ये अन्तःकरण चतुष्टय हैं ॥४॥ संपूर्ण उपनिषदोंमें जो परब्रह्म नारायण का स्वरूप वर्णित है उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह परब्रह्म नारायण भी मेरा कभी प्रत्याख्यान न करे। मुझे सदा अपनाये रखे। मेरे साथ परब्रह्म नारायण का और परब्रह्म नारायण के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषद् के विषय में लिखा है—

॥ उपनिभ्यां सदेर्धातोः क्विपि चोपनिषन्मता। अनया ब्रह्मसामिप्यमुपवेष्टुं हि साधकाः अर्हाभवन्ति क्षिप्रं यत् तेनैवोपनिषन्मता ॥

"षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" धातु के पहले "उप" और "नि" ये दो उपसर्ग और अन्त में "क्विप्" प्रत्यय लगाने से "उपनिषद्" शब्द बनता है। "उपनिषद्यते ब्रह्म प्राप्यते अनया इति उपनिषद्" इस व्युत्पत्ति से इसका यह अर्थ है कि — परब्रह्म के पास में, निश्चय करके साधक जिससे जा सके वह उपनिषद् है। उपनिषद् को ही वेदान्त या अध्यात्म-

विद्या अथवा ब्रह्मविद्या या रहस्य कहते हैं। अथवा "उप" समीप "निषद्" निषीदति—बैठने वाला। जो उस परब्रह्म के समीप बैठाकर चुपचाप स्वयं भी बैठ जाता है वह उपनिषद् है। अथवा शब्दस्तोम महानिधि कहता है "उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति। उप+नि+षद्+क्विप्" ब्रह्मविद्या जिससे प्राप्त हो उसे उपनिषद् कहते हैं। अथवा "य इमां ब्रह्म विद्यामुपयन्त्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराःसन्तस्तेषां गर्भ-जन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति अविद्यादि संसारकारणञ्चात्यन्तमवसादयति विनाशयत्युपनिषद्। उप नि पूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्" । **यद्वा सामीप्यमायातां सर्वभावेन वै नृणाम्। शिथिलयति दुःखानां समूहं प्रथमं यतः॥ अविद्याहेतुकान् क्लेशान् निषादयति तत्क्षणात्। ततो गमयति ब्रह्म तेन सोपनिषन्मता॥**

जो मनुष्य श्रद्धा और भक्ति से संयुक्त होकर अत्यन्त प्रेम के साथ इस ब्रह्मविद्या के निकट आते हैं उनके गर्भ जन्म जरा रोगादि अनर्थ समूहों को यह शिथिल करती है अथवा उनको परब्रह्म में मिलाती है और उनके अविद्यादि संसार कारण को अत्यन्त विनष्ट कर देती है। इस कारण से इस ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् है। अर्थात् "उप" शब्द का अर्थ समीप। "नि" का अर्थ अत्यन्त और "षद्" धातु के विशरण= शिथिल करना, गति=गमन, अवसदन=नाश करना ये तीन अर्थ हैं। अतः सम्पूर्ण उपनिषद् शब्द का यह अर्थ हुआ कि जो जिज्ञासु (उप) इस ब्रह्मविद्या के समीप श्रद्धा और भक्ति से पहुँचता है। उसके क्लेशों को (निषादयति) अत्यन्त शिथिल कर देती है अथवा (उप) जो इसके समीप आता है उसको (ब्रह्म+गमयति) ब्रह्म के समीप ले जाती है और अविद्यादि संसार कारण को (नि) अत्यन्त (अवसादयति) विनष्ट कर देती है। यह पूर्वोक्त वाक्य का भाव है। अथवा **उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः। निहन्त्यविद्यां तज्जश्च तस्मादुपनिषन्मता।** जो परब्रह्म नारायण के समीप में इस जीवात्मा को पहुँचा कर अविद्या को तथा अविद्यामूलकतापों को नाश करे उसे उपनिषद् कहते हैं॥ उपनिषद् की संख्या मैं पहले लिख चुका हूँ। उपनिषद्रों में जिन प्रसिद्ध शान्ति दान्ति आदिक धर्मों का पतिपादन किया गया है वे सारे धर्म उस आत्मविज्ञान में निरन्तर लगे हुए मुझ प्रपन्न जन में सदा निरन्तर

वने रहें। "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की अन्तिम दूसरी श्रुति केवल इसी उपनिषद् का शान्ति पाठ नहीं है वल्कि "मुक्तिकोपनिषद्" में लिखा है— **केनच्छान्दोग्यारुणिमैत्रायणिमत्रेयीवज्रसूचिकायोगचूडामणिवासुदेवमहत्संन्यासाव्यक्तकुण्डिकासावित्रीरुद्राक्षजाबालदर्शनजाबालीनां सामवेदगतानां षोडशसंख्याकानामुपनिषदामाप्यायन्त्विति शान्तिः॥** (मुक्तिको० अ० १ श्रु० ५४) केनोपनिषद् १, छान्दोग्योपनिषद् २, आरुणिकोपनिषद् ३, मैत्रायण्युपनिषद् ४, मैत्रेय्युपनिषद् ५ वज्रसूचिकोपनिषद् ६, योगचूडामण्युपनिषद् ७, वासुदेवोपनिषद् ८, महोपनिषद् ९, संन्यासोपनिषद् १०, अव्यक्तोपनिषद् ११, कुण्डिकोपनिषद् १२, सावित्र्युपनिषद् १३, रुद्राक्षजाबालोपनिषद् १४, जाबालदर्शनोपनिषद् १५, और जाबाल्युपनिषद् १६, ये सामवेद के सोलह उपनिषद् हैं। इनके शान्तिपाठ के मन्त्र—"**आप्यायन्तु ममाङ्गानि ।** (छां० उ० प्र० ८ खं० १५ श्रु० २) है। इससे पूर्वोक्त सोलह उपनिषदों के पढ़ने वालों को चाहिये कि—"छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के पन्द्रहवें खण्ड की अन्तिम दूसरी श्रुति को आदि और अन्त में अवश्य शान्ति पाठ करें ॥ ५४ ॥ इस श्रुति में "ते मयि सन्तु" इस अन्तिम वाक्य को दो बार कह कर प्रकृत पन्द्रहवें खण्ड तथा अष्टम प्रपाठक और "छान्दोग्योपनिषद्" की समाप्ति सूचित की गयी है। और उक्त उपदेश की निश्चितता का भी प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि लिखा है— **अवधारणार्थं सर्वस्याप्युक्तस्याध्यायमूलतः। द्विरुक्तिं कुर्वते प्राज्ञा अध्यायान्ते विनिर्णये॥** (वाराहसं० अ० १ पा० ४ सू० २९) अध्याय के मूल से लेकर अन्त तक कहे हुए समस्त उपदेश की निश्चितता सूचन करने के लिये प्राज्ञ जन अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण करते हैं ऐसा श्रौत सिद्धान्त का विशेष रूप से निर्णय है ॥२९॥ **अध्यायान्ते द्विरुक्तिःस्याद्वेदे वा वैदिकेऽपि वा। विचारो यत्र सज्जेत पूर्वोक्तस्यावधरणे॥ अनुक्तानां प्रमाणानां स्वीकारश्च कृतो भवेत्। विनिन्द्य चेतरान्मार्गान्सम्पूर्णफलता तथा॥**(गारुडसंहि० अ० २ पा० ४ सू० २३) वेद और वेदानुसार ग्रन्थों में अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण होना चाहिये। पहले कहे हुए अर्थ के निर्धारण में भी विचार जहाँ पर प्रवृत्त होता है वहाँ पर दोबार उच्चारण होता है। और जहाँ पर

नहीं कहे हुए प्रमाणों को स्वीकार किया जाता है तथा वेद विरुद्ध मार्गों की निन्दा करके सपूर्णता रूप फल प्राप्त होता है वहाँ पर भी अन्तिम वाक्य दो बार कहा जाता है ॥२३॥ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक के पहले तथा छठवें और बारहवें खण्ड में छः छः मन्त्र हैं, दूसरे खण्ड में दस मन्त्र हैं, तीसरे तथा आठवें खण्ड में पाँच पाँच मन्त्र हैं, चौथे, नवें तथा ग्यारहवें खण्ड में तीन तीन मन्त्र हैं, पाँचवें, सातवें और दसवें खण्ड में चार चार मन्त्र हैं, तेरहवें तथा चौदहवें खण्ड में एक एक मन्त्र हैं, और पन्द्रहवें खण्ड में दो मन्त्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टम प्रपाठक में तिरसठ मन्त्र हैं। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" के अष्टमप्रपाठक का पन्द्रहवाँ खण्ड और अष्टम प्रपाठक समाप्त हो गया। इस उपनिषद् के प्रथम प्रपाठक में तेरह खण्ड हैं, द्वितीय प्रपाठक में चौबीस खण्ड हैं, तृतीय प्रपाठक में उन्नीस खण्ड हैं चतुर्थ प्रपाठक में सतरह खण्ड हैं, पञ्च प्रपाठक में चौबीस खण्ड हैं, षष्ठ प्रपाठक में सोलह खण्ड हैं, सप्तम प्रपाठक में छब्बीस खण्ड हैं और अष्टम प्रपाठक में पन्द्रह खण्ड हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से "छान्दोग्योपनिषद्" में एक सौ चौवन खण्ड हैं। क्योंकि लिखा है— **छान्दोग्योपनिषच्छ्रेष्ठा ताण्ड्यब्राह्मणनिःसृता अष्टौ प्रपाठकाः खण्डः समुद्रभूतभूयुताः।** सामवेदीय ताण्ड्यब्राह्मणान्तर्गत छान्दोग्य ब्राह्मण से निकली हुई छान्दोग्योपनिषद् श्रेष्ठ है यह उपनिषद् आठ प्रपाठकों से और एक सौ चौवन खण्डों से युक्त है। इस उपनिषद् में छः सौ तैंतीस मन्त्र हैं। यहाँ "छान्दोग्योपनिषद्" समाप्त हो गयी ॥२॥

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रं श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम्।
श्रीरङ्गवेङ्कटगुरूत्तमलब्धबोधं, भक्त्या भजामि गुरुवर्य्यमनन्तसूरिम् ॥

इति श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डिस्वामिविरचिता 'गूढार्थदीपिका' समाख्या सामवेदीयतलवकारशाखांतर्गता'छान्दोग्योपनिषद्'भाषा व्याख्या समाप्ता।

पुस्तक प्राप्ति स्थान :-

१. श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर

चरित्र-वन, बक्सर

जिला-बक्सर (बिहार)

२. श्रीसुदर्शनाचार्य ब्रह्मचारी स्वामीजी

अध्यक्ष

श्रीविजयराघव मन्दिर

बीरन-बीघा, डेहरी

जिला-रोहतास (बिहार)

-: मुद्रक :-

मगध शुभंकर प्रेस

नई सड़क, विष्णुपद, गयाधाम ।

दूरभाष—४३०६३८

एवं

आकांक्षा प्रिन्टर्स

मंगलागौरी, गया